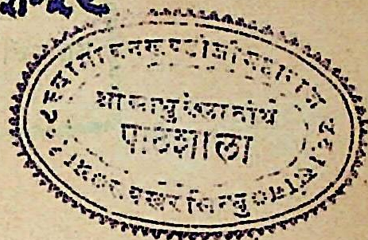


# श्रौतमुनिचरितामृतम्



श्रीमदुदासीनवर्य्यस्वामिरामानन्दभगवत्पादशिष्यषड्दर्शनाचार्य्य
श्रीगङ्गेश्वरानन्दश्रौतमुनिविरचितम् ।



श्री नाथुतेलाकाम्
२५२ भदैनी
काशी






# श्रौतमुनिचरितामृतम्

श्रीमदुदासीनवर्य्यस्वामिरामानन्दभगवत्पादशिष्यवेददर्शनाचार्य्य
श्रीगङ्गेश्वरानन्दश्रौतमुनिविरचितम् ।

भगवद्भक्त वकील श्रीफूलशङ्कर सुन्दरलाल देसाई (अहमदाबाद)
द्वारा प्रकाशितम् ।

सम्वत् १९८९ मार्गशीर्ष.

प्रथम संस्करण १००० मू० ५)

मिलने का पता :—

१. उदासीन संस्कृतविद्यालय, काशी,

२ राजनगर टाइप फाउण्डरी

२५६१, गोजारिया पोळ के पीछे, शाहपुर.

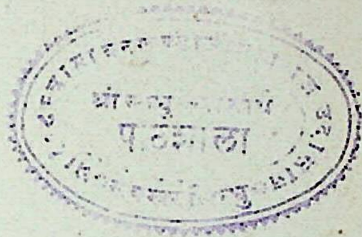
अहमदाबाद.



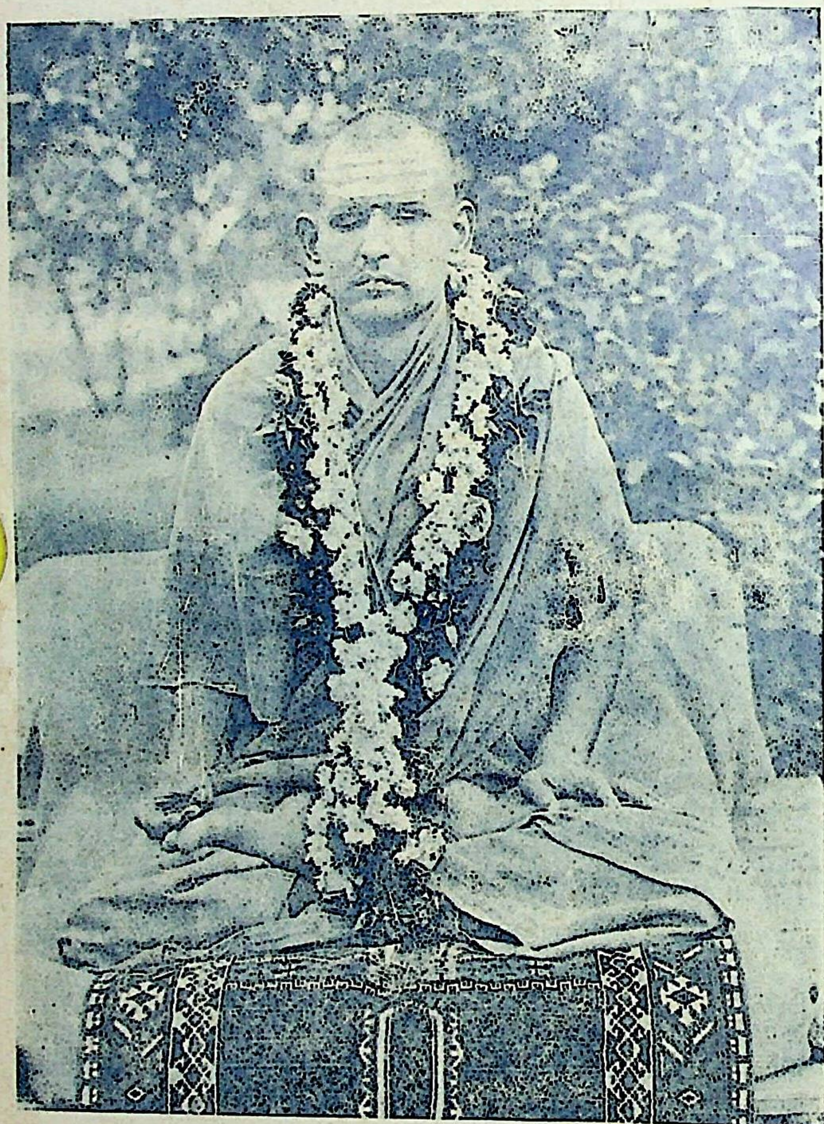
मुद्रक :

पूर्वार्ध—पुरुषोत्तमदास शंकरदास पटेल,
" उत्कृष्ट मुद्रण यन्त्रणालये "
अहमदाबाद.

उत्तरार्ध—मूलचन्द त्रिकमलाल पटेल,
" सूर्यप्रकाश प्रिंटिंग प्रेस, "
अहमदाबाद.



सनातनधर्मरहस्यों के सुप्रसिद्धव्याख्याता



वेददर्शनाचार्य्य श्रीमदुदासीन पण्डित गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलीश्वर ।

॥ ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥







## जीव का परमध्येय.

यह संसार सङ्कल्प का ही विस्तार है। प्रत्येक प्राणी में इच्छारूप में वह सङ्कल्प विद्यमान् है। यही इच्छा अपने आधार मन को कर्म की प्रेरणा करती है और इसी ने मन का स्वभाव चञ्चल बना रक्खा है। जीव की वह इच्छा या सङ्कल्प क्या है? इसका पता मानव-सृष्टि की स्वाभाविकप्रवृति से लग सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, दुःख की सम्भावना भी उसे अभीष्ट नहीं है। इसी स्वाभाविकप्रवृत्ति के आधार पर शास्त्रकारों ने निश्चय किया है कि जीव का परम-उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। सुखकी चरमसीमा मुक्ति है, अतः जीव उसी की खोज में सदैव रहता है।

किसी वस्तु की खोज करने वाले मनुष्य के सामने सर्वप्रथम उस वस्तु का स्वरूप और प्राप्त करने के उपाय का प्रश्न ही पैदा होता है। यहाँ पहुँचकर सुखेच्छु को दो मार्ग दिखाई देते हैं। यदि सुख अपने से भिन्न किसी दूसरी वस्तु का गुण है तो उस वस्तु पर अधिकार प्राप्त करना और यदि सुख की प्रतीति का कारण अपनी ही कोई विशेष अवस्था है तो उस अवस्था को पैदा करने के लिये अपने अन्दर ही परिवर्तन करना, यही दो मार्ग हैं। इस उद्देश्य को सम्मुख रख कर जिन शास्त्रकारों ने जगत् के पदार्थों की छान बीन की है वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस दृश्य अथवा अदृश्य जगत् में परमकारण-ब्रह्मतत्त्व के सिवा दूसरी कोई वस्तु तो सत्य है नहीं। जो लोग मनबुद्धि-अगोचर, सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर और परमकारण-ब्रह्मतत्त्व को खोज निकालने में सफल हुए हैं वे किसी दूसरी सुखकी साधन वस्तु को खोजने का यत्न भी अवश्य करते। काल और द्रव्य के माप-तोल में जो उन्नति आज विज्ञान कर रहा है वही इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि उसकी गृध्रदृष्टि से कोई वस्तु छिपी रह नहीं सकती। फिर भी हमारे शास्त्रकार इस खोज में इतने गहरे पहुँचे हुए हैं कि अब तक यही निश्चय नहीं हो सका कि वर्तमान् विज्ञानवादियों को वहाँ तक पहुँचने में कितना समय लगेगा और पहुँच सकेंगे भी या नहीं। वर्तमान विज्ञान काल के विभाग-सेकण्ड का समय निश्चित करने और द्रव्यों के जोड़ तोड़ से आगे नहीं बढ़ सका, पर हमारे ऋषियों ने तो काल के अन्तिमविभाग-क्षण को माप और भौमिकपदार्थों के अन्तिम अँश-परमाणु को खोल कर रखदिया हुआ है। क्षणक्षण में परिवर्तनशील मन की गति को बाँधने में वेदान्त ने और भौतिक-पदार्थों का विश्लेषण करते हुए परमाणु के अन्दर तक झाँकने में वैशेषिक ने जो उन्नति की है वह वर्तमान् विज्ञान भी कर सकेगा, इसमें अभी तक सन्देह बना ही हुआ है।

यदि जगत में कोई दूसरी वस्तु सुखमूलक होती तो इस सावधानी के साथ जगत् के पदार्थों की तलाशी करने वालों की दृष्टि से वह बची रह न सकती थी। पर खोज करनेवालों का कथन है कि वेदान्त के परमतत्त्व के सिवा दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यह जगत् कल्पना का ही फैलाव है। यही कारण है कि इस कल्पना का जितना पीछा किया जाए अपनी छाया की भाँति उतनी आगे ही आगे भागती है और खोज की अन्तिमसीमा तक पहुँच कर जीव परमसूक्ष्मस्थिति अर्थात् शून्य में विलीन होजाता है। क्योंकि जो आँख सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को देखने में सफलता प्राप्त कर रही है, वह अपनी उस शक्ति को नहीं देख सकती जो दूसरे पदार्थों को देखने का काम करती है। जब दूसरी वस्तु की कल्पना ही भ्रममात्र है तो उसमें सुख की सम्भावना भ्रम से अधिक कुछ नहीं।

तब तो जगत् के इस कल्पनाजाल का नहीं किन्तु सुख की खोज के लिये दूसरे मार्ग का ही अवलम्बन लेना पड़ेगा। जीव स्थाई सुख की इच्छा रखता है। सांसारिकपदार्थों से प्राप्त होनेवाला क्षणिकसुख उसका ध्येय नहीं है। क्योंकि सांसारिकपदार्थों से सुख प्राप्ति के अनन्तर भी सुख की इच्छा बनी ही रहती है। इस क्षणिकसुख का कारण भी तो उस इच्छा की निवृत्ति ही है जो विषयाभ्यास से सांसारिकपदार्थों के लिये पैदा होती रहती है। यदि इन पदार्थों में ही सुख होता तो इच्छितपदार्थ की प्राप्ति पर सुख की इच्छा निवृत्त हो जानी चाहिये थी। पर वह सुख की इच्छा तो निरन्तर बनी ही रहती है-जीव बारबार असफल रहने पर भी उसकी आशा नहीं छोडता क्योंकि न केवल वह स्वयं उस सुख को कभी कभी अनुभव किया करता है यह भी जानता है कि कई लोग उस सुख को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

## संसार की वर्तमान् अवस्था.

जिनलोगों की दृष्टि इस क्षणिकसुख से आगे नहीं बढ़ सकी उनका कथन है कि मनुष्य दिनप्रतिदिन अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ रहा है। पर उन्नति और अवनति को परखनेवाली कसौटी तो सुख और दुःख ही है। यदि संसार में सुख बढ़ रहा है तो निःसन्देह हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं और अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ते जा रहे हैं। यदि सुख के लिये निरन्तर यत्न करते रहने पर भी दुःख ही बढ़ता जाता है तो इस अवस्था को उन्नति कैसे माना जा सकता है? औषधि का प्रभाव रोगी को बढ़ या घट रही शक्ति से ही जाना जा सकता है। शक्ति बढ़ रही है तो निःसन्देह वैद्य का आश्वासन रोगी की सुधर रही अवस्था को ही प्रकट करता है। यदि बढ़ने के स्थान में शक्ति क्षीण होती जा रही है तो निश्चय ही आश्वासन देते समय वैद्य के सामने रोगी की अवस्था नहीं बल्कि वह लाभ है जो रोगी की चिकित्सा से वैद्य स्वयं उठा रहा है।

यदि सुख और दुःख के अर्थ बदल नहीं गये तो संसार की वर्तमान् अवस्था को अनुभव करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना सङ्कोच कह सकता है कि सुख कहलाने वाली वस्तु पत्थर के कोयले की भाँति दिनप्रतिदिन मिटती जा रही है। दुःखियों

के लिये सहानुभूति का भाव रखने वालों को सदैव चिन्ता बनी रहती है कि किसी दिन संसार पर दुःखरूप अमावस्या का अन्धकार छा जायगा।

लोग यत्न करते हैं सुख के लिये परन्तु बढ़ रहा है दुख। यत्न का यह उलटा फल सिद्ध करता है कि हम न केवल ध्येय की ओर जानेवाला मार्ग भूल गये हैं बल्कि भूल से उलटे मार्ग पर चले जा रहे हैं। आनन्द और शान्ति के विकास के केन्द्र तथा उपजभूमि-मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या, क्षोभ और द्वेष के भाव इतने बढ़ रहे हैं कि हिंसक पशु तथा मनुष्य के स्वभाव में अन्तर जानना दुष्कर हो गया है। विपत्ति के समय ही सही, हिंसक जन्तु एक स्थान पर इकट्ठे रह सकते हैं परन्तु धर्म और ज्ञान का अभिमानी मनुष्य दूसरे के साथ मिल कर एक स्थान पर शान्ति से नहीं बैठ सकता। पारस्परिक अविश्वास को उखाड़ फेंकने के लिये जितने यत्न किये जाते हैं उतना ही वह झटके पा कर और अधिक अन्दर धँसता जाता है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है। व्यक्ति व्यक्ति में अविश्वास है। संसार को धर्म का मार्ग बताने वाले शान्तिपथप्रदर्शक धार्मिकसम्प्रदायों में तो वह विशेषरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। उसी अविश्वास ने बढ़ते बढ़ते अब शत्रुता का रूप धारण कर रक्खा है। एक राष्ट्र का दूसरा राष्ट्र, एक जाति की दूसरी जाति, एक सम्प्रदाय का दूसरा सम्प्रदाय, व्यक्ति का व्यक्ति, भाई का भाई, पिता का पुत्र, गुरु का चेला, अधिक क्या, मनुष्य का मनुष्य शत्रु बना हुआ है। परस्पर संघर्ष हो रहा है। अमीर ग़रीब में, स्वामी नौकर में और राजा प्रजा में युद्ध ठना हुआ है। स्वार्थ ने सब की बुद्धियों पर अधिकार जमा रक्खा है। एक का अधिकार दबा जाने के लिये दूसरा हर समय घात लगाए रहता है। दूसरों के स्वत्त्व दबाने के लिये ऐसे ऐसे घातक यन्त्रों का आविष्कार हो रहा है कि जिनके कौतुक सुनकर भी मानवसमाज का दिल दहल जाता है। युद्धों की भयानक गर्जना से काँप रहे संसार के स्तम्भों को गिरने से बचाने का जो यत्न किया जाता है वही युद्ध की नई दहाड़ बन जाता है। मानवसमाज का संहार करने के लिये युद्धसामग्री के रूप में तैयार किये जा रहे अस्त्रशस्त्रों में कमी करने के उद्देश्य से स्थापित समिति का हर अधिवेशन प्रत्येक बलवान देश में नई तोपों और जङ्गीजहाज़ों की तैयारी का कारण होता है। जगत् की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के यत्न ही उनमें अधिक पेच डालते चले जाते हैं। शान्ति की दोहाई में घबराहट, आशङ्का, क्षोभ और क्रोध बढ़ रहा है। इन्हें देखकर किसी भावी प्रलयङ्करी युद्ध की आशङ्का में वसुन्धरा की छाती सदैव धड़कती रहती है। एक को दुःखी देखकर दूसरे की आँखों में आँसू नहीं आते। हज़ारों को भूख से तड़पते देखकर भी दस बीस को ऐश्वर्य भोगते लज्जा अनुभव नहीं होती। गिरने वाले निर्बल को सहारा देना तो दूर रहा दूसरे उसे रौंदते हुए निकल जाते हैं और उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर चिथड़े गये निर्बलों के ख़ून के छींटों से अपने बूट साफ करने के लिये उनके फटे पुराने चीथड़े भी नोच ले जाते हैं। कहाँ तक कहा जाए, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। यदि सुख इसी को कहते हैं जिसकी ओर इस उन्नति के युग में संसार सरपट दौड़ा जा रहा है तो मालूम नहीं दुःख का नाम क्या रक्खा गया है।

## इतिहास का महत्त्व.

औषधि करने पर भी रोग घटने के स्थान में बढ़ता ही जाए तो औषधि के प्रभाव पर विश्वास रखने वाले लोग इसका कारण यही समझते हैं कि रोग की ठीक ठीक परीक्षा नहीं हुई या औषधि कोई दूसरी दी जा रही है। रोग क्या और किस अवस्था में है? औषधि ठीक हो रही है? यदि नहीं तो क्या होनी चाहिये? संसार या राष्ट्र की बीमारियों के विषय में ऐसे प्रश्नों का उत्तर इतिहास से ही मिल सकता है। इतिहास संसार के राष्ट्रों, जातियों तथा व्यक्तियों को भूला हुआ मार्ग बतलाता है। इतिहास ही मानवसमाज को हानि से बचाता और खतरों से सावधान करता है। क्योंकि वही शताब्दियों के पुराने अनुभवों को नई सन्तान के आगे रखता है, ताकि वह अपने सफल पुरखाओं के अनुभव से लाभ उठाए उनके ऐश्वर्य, बल तथा कीर्ति को बढ़ाने वाले कृत्यों का अनुकरण करे और असफल लोगों की भूलों से बची रहे। इतिहास में वर्णित बलिदानों के चित्र लोगों में उत्साह और त्याग के भाव पैदा करते हैं। अधिक क्या, इतिहास भूत और वर्तमान्काल को एक कर देता है और भविष्यकाल के लिये मार्ग निश्चित करने में सहायता करता है। इसीवास्ते इतिहास संसार की सबसे अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है।

## धर्म और वर्तमान् इतिहास.

पर आजकल लोगों ने उस इतिहास को दो भागों में बाँट रक्खा है। यही कारण है कि उससे संसार को यथोचित लाभ नहीं पहुँचता। लोगों में यह विचार जड़ पकड़ता जा रहा है कि धर्म को राजनीति से पृथक् रखने में ही संसार का कल्याण है। इसीवास्ते इतिहास को भी राजनैतिकइतिहास तथा धार्मिकइतिहास, इन दो भागों में बाँट दिया गया है। अन्य अनेक ऐसे ही आविष्कारों के साथ योरुप के भौतिकवादियों का ही यह भी एक आविष्कार है। पाश्चात्यसभ्यता का अनुकरण करने वाले भारतवासी जहाँ योरुप की अनेक और बातें सीख रहे हैं वहाँ धर्म को राजनीति से पृथक् रखने की पुकार भी मचाने लग गये हैं। पर भारत में न पहले कभी धर्म को राजनीति से पृथक् किया गया है और नही अब ऐसा हो सकता है। इस देश में राजनीति सदैव धर्म का ही एक अङ्ग रही है। योरुप का इतिहास तो चारहज़ार वर्ष से इधर का ही मिलता है, उससे पूर्व उन्हें, अन्धकार के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता। इस थोड़े से समय में भी वे धर्म के नाम पर ख़ूब लताड़े गये हैं। उन देशों में जितनी नरहत्याएं धर्म के नाम पर हुई हैं उतनी राजनैतिकयुद्धों में भी न हुई होंगी। इसवास्ते धर्म शब्द ही उनके वास्ते भयानक हो चुका है और वे इस शब्द को सुनते ही काँप उठते हैं। परन्तु भारतवासी धर्म के मर्म को समझते रहे हैं। यहाँ सदैव धर्म का ही राज्य रहा और राजनीति दासी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती रही है। योरुपवालों की देखादेखी जो भारतवासी धर्म को राजनीति से पृथक् रखने की दोहाई देने लग गये हैं वे भी यातो योरुप में धर्म के नाम पर हो चुके अत्याचारों को देखकर ऐसा कह रहे हैं या भारत में योरुप से आए हुए मतों का परिणाम देखकर ऐसी

धारणा बना बैठे हैं। ऐसी धारणा बनाते समय वे लोग अपने धर्म के स्वरूप और धर्मराज्य के इतिहास को भूल जाते हैं। हमारा इतिहास बतलाता है कि इस देश में धर्म के बिना राजनीति वैसे ही निस्तत्त्व समझी जाती रही है जैसे सुगन्धी के बिना फूल और प्राण के बिना शरीर। सच्ची बात तो यह है कि इस देश पर भी उसी समय से दुःखों की घटा छाई है जब से धर्म की जगह राजनीति को मुख्य-स्थान दिया जाने लगा है।

## भारत का प्राण.

योरुप के देशों ने धर्म की भयानकता से घबरा कर ही धर्म को प्राण मानने से इन्कार किया है। इसी वास्ते फ्राँसने विलासता को, इंगलैंड ने कुटिलनीति को, अमेरिका और जर्मनी ने कलाकौशल को और रूस ने साम्यवाद को ही अपना प्राण समझ रक्खा है। परन्तु भारत का प्राण सदैव धर्म ही रहा है। इसीवास्ते इस देश को धर्मप्राण देश माना जाता है। आज भी इस देश में यदि कोई आवाज़ प्रभाव डाल सकती है तो वह धर्म की ही आवाज़ है। इस देश में प्रत्येक काम धर्म की आज्ञा से होता है। हम जन्म धारण करते हैं तो इस वास्ते कि पूर्वकृत कर्मों का हिसाब चुकाया जाय। पढ़ते हैं ऋषिऋण चुकाने के लिये, यज्ञयागादि देवऋण और गृहस्थ पितृऋण चुकाने के लिये ही करते हैं, किसी अपने स्वार्थ के लिये नहीं। भोजन करते हैं अपने वास्ते नहीं बल्कि—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देह माश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

उस भगवान् को भोग लगाने के लिये जो हमारे अन्दर वैश्वानर रूप में विराजमान् हैं। पिता तथा गुरु की पूजा करते हैं तो इसवास्ते कि वही भगवान् हमारी पूजा ग्रहण करने के लिये पिता के रूप में अवतार धारण किये हुए हैं। माता की पूजा करते हैं तो इसवास्ते कि वही साक्षात् लक्ष्मी हैं। बड़ों की सेवा करते हैं उन्हें भगवान् की दिव्यशक्तियों के निदर्शन जानकर। छोटों से प्यार करते हैं इसवास्ते कि स्वयं भगवान् कृष्ण ही बालरूप में अवतीर्ण होकर बाललीला कर रहे हैं। किसी से मित्रता करते हैं तो इस भाव से कि हमारा धर्म—प्राणी-मात्र से प्रेम करने की आज्ञादेता है। हम किसी से घृणा करते हैं तो इसवास्ते कि राक्षसीगुणों को दबाने की धर्म आज्ञा देता है। पाप का विरोध करने के लिये लड़ते हैं। अहिंसा धर्म का पालन करने के लिये अत्याचार सहन करते हैं। सारांश यह कि हमारे गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक सोलह सँस्कार, मानसिक वाचिक और कायिक कर्म तथा जीवन मृत्यु सब धर्म की आज्ञा से ही होते हैं। धर्म हमारा बल है, धर्म हमारा अस्तित्व है और धर्म ही हमारा सर्वस्व प्राण है। अधिक कहने से क्या, हमारा संसार रूप वृक्ष धर्मरूप बीज से ही उत्पन्न हुआ और धर्म के आधार पर ही स्थित है। यही कारण है कि संसार में अनेक जातियाँ आईं और चली गईं परन्तु यह धर्मवृक्ष अभी तक विद्यमान् है। क्योंकि धर्म सत्य है। उसका कभी नाश नहीं हो सकता। यह वह ग्रन्थ है जिसकी कोई मात्रा घट बढ़ नहीं सकती। इसमें हस्ताक्षेप करना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है।

जब इस देश की प्रत्येकवस्तु और उस वस्तु की प्रत्येक क्रिया में धर्म विद्यमान् है तो उसको राजनीति से कैसे पृथक् किया जासकता है जो धर्म का विशेष अङ्ग मानी जाती रही है ? धर्म से राजनीति को अलग करनेवालों को यही सोचना चाहिये कि इस देश में इस समय भी ऐसा कोई आन्दोलन सफल नहीं हो सकता जिसे धर्म की सहायता प्राप्त न हो। इस समय राजनैतिक आन्दोलन करनेवाली सब से बड़ी संस्था काँग्रेस है, पर धर्म का आश्रय ग्रहण करने से पूर्व उसकी वक्तृताओं तथा प्रस्तावों का भी किसी नाटक के खेल से अधिक कभी मूल्य नहीं समझा गया। उसमें जान उसी समय आई जब महात्मा तिलक और गाँधी जैसे नेताओं ने धर्म का आश्रय ग्रहण किया। कहने का प्रयोजन यह कि इस धर्मप्राण देश में धर्म को भुला कर कोई आन्दोलन भी सफल नहीं हो सकता। आज क्या, सदैव ही इस देश में सफलता का आधार धर्म रहा है। फिर धर्म के इतिहास को अलग करके हम उन्नति या सुख का मार्ग कैसे पा सकते हैं? सिद्ध हुआ कि धर्म ही हमें सच्चा मार्ग बतला सकता है। यदि सुखप्राप्ति का मार्ग ढूँढना चाहते हैं तो धार्मिकइतिहास में से ही खोज करनी चाहिये।

## सात्त्विक सृष्टि की उत्पत्ति.

हमारे धार्मिक इतिहास से पता चलता है कि एकवार धर्म के घर में उस नारायण का भी जन्म हो चुका है जिसके " एकोऽहं बहुस्यांप्रजायेय " संकल्प रूप बीज से सृष्टिकर्ता कमलासन उत्पन्न हुए थे। भगवान् का संकल्प रूप बीज अंकुरित हो कर कमल के रूप में प्रकट हुआ। इसी वास्ते कमल का नाम पङ्कज भी है जिस का अर्थ संकल्परूप पङ्क से उत्पन्न होनेवाला है। कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए जो भगवान् की आज्ञानुसार सृष्टि सर्जन में लग गये। उन्होंने सर्वप्रथम जगत् प्रपञ्च में प्रवृत्त करने वाली अन्धतामिस्र आदि अविद्यावृत्तियों और उनके आधार प्राणियों की सृष्टि की। परन्तु उस पापबहुल और नाशोन्मुखी निपटतामसी सृष्टि को देख कर ब्रह्माजी का चित्त प्रसन्न न हुआ। तब कुछ देर भगवद्ध्यान में समाधिस्थ रहने के अनन्तर उन्हों ने शुद्ध सात्त्विक कुमारों को उत्पन्न किया। शुद्ध सात्विक होने के कारण कुमार निष्क्रिया और ऊर्द्ध्वरेतः थे, अतः उन पर अविद्या वृत्तियों का कुछ प्रभाव न पड़ा और उन्होंने सृष्टिसर्जन के धन्धे में फँसने से अरुचि प्रकट की। इस पर ब्रह्माजी ने सत्वतममिश्रित राजसवृत्तिवाले मरीच्यादि नौ पुत्र उत्पन्न किये। तब कहीं सृष्टि का चर्खा चला।

संकल्प या क़ल्पना की कोई सीमा नहीं है। इसीवास्ते उसका कार्य–जगत् असीम और जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। यही कारण है कि जीव ईश्वरीयज्ञान वेद को भी पुरुषार्थ से ही सीख सकता है। इसमें पूर्वसँस्कार भी सहायक होते हैं पर वे सँस्कार उसके अपने पूर्वपुरुषार्थ से ही बनते हैं। कर्म स्वतंत्रता और अज्ञान मिलकर मन में चञ्चलता उत्पन्न करते हैं। वही चञ्चलता पुरुषार्थ में जोड़े रखती है। जगत् में आते ही पुरुषार्थरूप घोड़े पर सवार जीव के सामने दो सड़कें आजाती हैं। किसी भूली हुई वस्तु को खोजनेवाले व्यक्ति के ध्यान में दो पदार्थ ही होते हैं—एक भूली हुई वस्तु और दूसरे वे पदार्थ जिनमें उसवस्तु की

खोज करता है। इसी प्रकार जीव के सामने भी दो वस्तुएं है-एक अदृश्य निजात्मस्वरूप और दूसरा संकल्प का कार्य-दृश्यजगत। वे दो सड़कें इन दोनों वस्तुओं की ओर ले जाने वाली हैं। जिस सड़क पर उसकी इच्छा हो चल सकता है, यही जीव की कर्म करने में स्वतंत्रता हैं। जीव को सुख की खोज है। सुखकी चरमसीमा है आत्मज्ञान या मुक्ति अर्थात् काल्पनिकजगत् का अभाव। वह जिस ओर चलेगा उसका पुरुषार्थ उस ओर ही उसे आगे बढ़ा ले जायगा। आत्मस्वरूप की खोज में आगे बढ़ेगा तो जगत् उससे दूर होता जायगा अर्थात् जगत् का मिथ्यात्व अनुभव होने लग जायगा। दृश्य जगत् की ओर बढ़ेगा तो उसके मोह में फँस कर आत्मस्वरूप की स्मृति को भी खो बैठेगा। जीव जितना जगत् प्रपञ्च में फँसता है उतने ही क्लेश बढ़ते जाते हैं और वे क्लेश ही जगत्बन्धनों को दृढ़ करते जाते हैं।

## शान्तियुग.

जगत् प्रपञ्च में फँसाने के लिये तो विषय ही पर्याप्त आकर्षण शक्ति रखते हैं जो मन को अपनी ओर खेंचते रहते हैं। यही देख कर ब्रह्मा जी को तामसीसृष्टि की उत्पत्ति पर प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हों ने सोचा, यदि अविद्यावृत्तियों के आधार प्राणियों की ही सृष्टि हुई तो इस जगत् के दुःखसागर का कहीं किनारा न मिलेगा। इसी परिणाम को देख कर आपने सत्वतममिश्रित राजससृष्टि उत्पन्न की। तमोगुण का परिणाम राक्षस उत्पन्न कर दिये और सतोगुण का परिणाम सात्विक कुमारादि। ताकि जीव परिणाम पर दृष्टि रख कर जिस ओर चाहे स्वतन्त्रतापूर्वक जा सके। मनुष्य पर संगत का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। यही कारण है कि प्रारम्भकाल में दृश्यजगत् पर लोभायमान होकर लोग कुमारों के जीवन को व्यर्थ समझने लगे। पर तमोगुण का अभी बाहुल्य नहीं हुआ था, लोगों ने जहाँ कुमारों को निजात्मानन्द में मग्न और क्लेशविमुक्त देखकर उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण की वहाँ सात्विकगुण के प्रभाव से स्वयं भी अनुभव किया कि वस्तुतः सुख विषयासक्ति के त्याग में ही है। उन्हों ने देखा कि किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न होने पर जो दुःख होता है वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति अर्थात् इच्छानिवृत्ति पर दूर हो जाता है। तब तो इच्छा ही दुःख की जड़ है। इसीवास्ते निरिच्छित कुमार सदैव आनन्दमग्न रहते हैं। बस, वे लोग भी कुमारों का अनुकरण करने लगे। कहने का प्रयोजन यह कि आरम्भकाल में निवृत्तिधर्मानुयायी तथा प्रवृत्तिधर्मानुयायी इन दो दलों में जो विरोध झलकने लगा था वह शीघ्र ही सात्विक कुमारों के प्रभाव से दूर हो गया। प्रवृत्तिधर्मानुयायियों ने निवृत्तिधर्मानुयायी महात्माओं के प्रभाव को स्वीकार किया और समझ गये कि उनका अपना श्रेय भी, जहाँतक हो सके, कुमारों के आचरण का अनुकरण करने में ही है। अब वे भी, पहले नहीं तो अन्तिम अवस्था में पहुँचकर, निवृत्तिधर्म का ही अनुसरण करने लगे। इसीवास्ते जहाँ पहली अवस्था में प्रवृत्तिशिक्षणार्थ ब्रह्मचर्य का चलन हुआ वहाँ आधी आयु भोग चुकने पर अर्थात् गृहस्थ के अनन्तर तृतीयावस्था में निवृत्तिशिक्षणार्थ वानप्रस्थाश्रम का निर्माण हुआ। इस प्रकार चार आश्रमों का निर्माण हो चुकने पर दोनों दल एक दूसरे के सहायक बन गये। निवृत्तिधर्मानुयायी उदासीनमहात्मा निजा-

त्मानन्द में मग्न रहते हुए संसार के कल्याणार्थ अपने उच्चजीवनद्वारा जीवों को उनके परम उद्देश्य का स्मरण कराते रहते थे और प्रवृत्तिधर्मानुयायी सांसारिक व्यवहार में रहते हुए भी निवृत्तिधर्मानुयायियों का अनुकरण करने की चेष्टा किया करते थे। इस विषय का विवेचन ग्रन्थ में विस्तार सहित करदिया गया है।

## सुखशान्ति में वाधा.

जब तक यह प्रवन्ध ठीक बना रहा कोई अड़चन पैदा नहीं हुई। परन्तु—

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै राक्षितं ध्यायतां मनः।
चेतना हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥
भ्रश्यस्तनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मा पह्नव मात्मनः॥

अर्थात् विषयाकृष्ट इन्द्रियाँ मन को विषयासक्त कर देती हैं और विषयासक्त मन बुद्धि को निस्तत्त्व बना देता है। सदसद्विवेकात्मिकाबुद्धि के निस्तत्त्व हो जाने पर पूर्वपरानुसन्धानात्मिकास्मृति का नाश हो जाता है। इसप्रकार ज्ञानभ्रष्ट होकर मनुष्य पतित होने लग जाता है। विषयों के अभ्यास से अहंभाव आ जाने पर त्यागरूप ध्येय की ओर से मन हटने लग गया और स्वार्थ के भाव बल पकड़ गये। धर्म के एक अङ्ग त्याग में शिथिलता आगई। एक पाए में निर्बलता आजाने पर जगत्रूप सिंहासन डोलने लगा। सुखशान्ति में वाधा पड़ गई। रजोगुण में से सत्वांश घटने और तमोगुण बढ़ने लगा।

लोग प्रजापति के पास शिकायत करने गये। प्रजापति ने उन्हें सलाह दी कि इस समय स्वार्थ पाँव जमा रहा है। वह सुखशान्ति का शत्रु है। पहले राजसी-वृत्ति सतोगुणप्रधान थी अब तमोगुणप्रधान हो रही है। पहले धर्माधर्म का निश्चय करने में लोगों का विवेक ही समर्थ था जो विषयाभ्यास से निर्बल हो गया है। अब लोगों को मनमानी से रोकने के लिये उपदेश और ताड़ना की भी आवश्यकता है। महात्मा लोग तो जगत् को मिथ्या जान कर निजात्मानन्द में ही लीन रहते हैं। तुम लोग मनु को अपना राजा बना लो, उसके अनुरोध या ताड़ना से लोगों का स्वार्थ दबा रहेगा। पहले जहाँ देवताओं तथा महात्माओं के आचरण का ही लोगों पर राज्य था अब मनुष्य पर मनुष्य का राज्य भी आरम्भ हो गया। त्याग, तप, भजन और दान ये दैवी अर्थात् सात्त्विकगुण हैं। स्वार्थ, अहङ्कार नास्तिकता और परवित्तापहरण ये राक्षसी या तामसी। जबतक दोनों पलड़े बराबर रहे शान्ति बनी रही। त्याग में कमी और स्वार्थ में वृद्धि होने पर दैवीशक्ति का प्रभाव घटने और राक्षसी शक्ति का प्रभाव बढ़ने लगा। इसी परिवर्तन ने राजा की ओर से ताड़ना किये जाने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी। राजा ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति को ही चुना जाता था जिसके उपदेश अथवा ताड़नामात्र से लोग महात्माओं के आचरण का अनुकरण करते रहें। पर दूसरी ओर विषय भी तो अपना काम

बराबर किये जा रहे थे। त्याग ही तप का सहायक है, त्याग के बिना तप हो नहीं सकता। त्याग के शिथिल होजाने पर तप का रङ्ग भी फीका पड़ने लगा। पहले जहाँ राजा की व्यवस्था से ही काम चल जाता था अब दण्ड की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी। मनु आदि धर्मशास्त्रों की रचना हुई। जैसे जैसे अवस्था बिगड़ती गई कानून कड़े बनते गये। कुछ दिन यों ही काम चला। उधर विषय भी अपने पाँव फैलाते जा रहे थे। तप की निर्बलता ने आस्तिकता को भी हिला दिया। तप के आश्रय ही यह संसार स्थित और क्रियाशील है। तप के निर्बल होजाने पर अकर्मण्यता ने आसन जमाया। लोग परिश्रम से जी चुराने और दूसरों के स्वत्व पर अधिकार जमाने लग गये। राजा पर भी अधिकारमद सवार हो गया और उसके सुखऐश्वर्य मान तथा प्रतिष्ठा को देख कर दूसरे लोग ईर्ष्या करने लगे। पहले लोग किसी से राजा बनने की प्रार्थना किया करते थे, अब वे स्वयं राज्यसुख का लोभ करने लगे। उन्हों ने देखा, दूसरों के परिश्रम से पैदा हुई सम्पत्ति को बिना हाथपाँव हिलाए राजा भोगता है। एक मनुष्य को जो अधिकार प्राप्त है वह दूसरे को भी हो सकता है। राजा दूसरों के परिश्रम का फल खा सकता है तो अन्य मनुष्य ऐसा क्यों नहीं कर सकते। बलवान् लोग अलग अलग प्रदेशों पर अधिकार जमाने लग गये। जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति चल गई। एक की जगह अनेक राजा बन गये। स्वार्थ ने वसुन्धरा को कई टुकड़ों में विभक्त कर दिया। दुःख और अशान्ति की घटाएं चारों ओर मण्डराने लगीं।

## चतुर्थाश्रमियों का कर्तव्य.

मालूम होता है, लोग दुखों से घबराकर कभी कभी कुमारों से इन दुखों से मुक्ति का उपाय पूछा करते थे। परन्तु निष्क्रिया कुमार संसार के साथ कोई लगाव न होने के कारण कोई ऐसा क्रियात्मक उपाय बतला न सकते थे जो संसारीजीवों को शान्ति दे सके। इसी वास्ते उन्होंने ब्रह्माजी से और फिर भगवान् हंस से चित्त तथा विषयों के पृथक्करण की जिज्ञासा की। भगवान् सनत्कुमारजी को इस कथन से कि "हमलोगों में तो ऐसी कोई निर्बलता नहीं परन्तु लोगोंद्वारा चित्त और विषयों के पृथक्करण का उपाय पूछे जाने पर विषयों के बढ़ रहे प्रभाव को देखकर मौन रहना पड़ता है" और फिर भगवान् हंसद्वारा आत्मज्ञानोपदेश तथा अपना परिचय दिये जाने के बाद "युष्मद्धर्म विवक्षया" कथन से प्रकट होता है कि इस से पूर्व सनत्कुमारादि कुमार निष्क्रिया का भाव कर्म का सर्वथात्याग ही समझते थे और निष्कामबुद्धि से भी जगत् के उद्धारकार्य में भाग नहीं लेना चाहते थे। परन्तु जब भगवान् हंस ने चतुर्थाश्रमदीक्षा देने के बाद बतलाया कि जैसे हम निरिच्छित होते हुए तुम्हारा धर्म बतलाने के लिये आए हैं वैसे हो तुम्हें भी लोगों को कर्तव्यधर्म का उपदेश करते रहना चाहिये। तब उन्होंने धर्मोपदेश का काम सम्भाल लिया। इस के अनन्तर भगवान् सनत्कुमार न केवल शरण में आए हुए जिज्ञासुओं को ही धर्मोपदेश करते रहे बल्कि स्वयं भी पृथु आदि राजाओं के दरबार में पहुँच कर धर्मोपदेश करते देखे जाते हैं। यही नहीं, भगवान् कृष्ण के दरबार में पहुँच कर आपने ऋषियों को जो उपदेश किया है उस से तो प्रकट होता है कि आप उपदेश करने का कोई अवसर हाथ से जाने ही नहीं देते थे। आपने

बलपूर्वक ऋषियों को कहा कि तुम्हारा काम केवल तप में लगे रहना ही नहीं, धर्मप्रचार भी करना होगा ।

इस से सिद्ध है कि पहले लोग ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के आचरण से ही शिक्षा ग्रहण किया करते थे या स्वयं भगवान् को धर्मोपदेश का काम करना पड़ता था जैसे संसार को वैदिकज्ञान और कुमारों को आत्मज्ञान का उपदेश करके किया। विषयों को बल पकड़ते देखकर ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं ने भगवान् की आज्ञा से धर्मोपदेश के काम को अपने हाथ में ले लिया। वे महात्मा न केवल जनता में धर्मप्रचार ही करते थे कर्तव्याकर्तव्य को भूल रहे राजाओं पर भी अपना अंकुश रखते थे। नारदजीद्वारा नहुष की इन्द्रपद पर नियुक्ति से तो प्रकट होता है कि वे लोग केवल राजाओं के कृत्यों पर ही दृष्टि न रखते थे योग्यायोग्य का विचार कर राजाओं को नियुक्त भी किया करते थे। यदि उन्हें राजा नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार न होता तो देवताओं का राजा एक मनुष्य-नहुष कदापि न बन सकता था। नहुष की इन्द्रपद पर नियुक्ति सिद्ध करती है कि इन महात्माओं द्वारा किये गये निर्णय का मनुष्य तो क्या कोई देवता भी विरोध न कर सकता था।

## भगवान् के अवतारधारणकरने का उद्देश्य.

कहने का प्रयोजन यह कि ब्रह्मनिष्ठ महात्मा संसार को धर्म और कल्याण का मार्ग ही नहीं बतलाते थे राजनैतिकप्रबन्ध पर भी पूरी पूरी निगरानी रखते थे। इसीवास्ते धर्मप्रचार का कार्य उनके हाथों में सौंप कर भगवान् भी निश्चिन्त हो गये। यही कारण है कि हंसावतार के बाद केवल किसी का धर्म बताने के लिये भगवान् को अवतार धारण करना नहीं पड़ा। यद्यपि उसके अनन्तर भी भगवान् के अनेक अवतार हुए हैं, जिनमें दश मुख्य माने जाते हैं। पर वे सब अवतार भगवान् कृष्ण के कथनानुसार ब्रह्मनिष्ठ साधुमहात्माओं की रक्षा और दुष्टों का नाश करके धर्म की स्थापना के लिये ही होते रहे हैं। जब तक लोगों पर साधु महात्माओं का प्रभाव रहता है अर्थात् लोग महात्माओं के उपदेशानुसार चलते हैं, शान्ति बनी रहती है। जब विषयों के वशीभूत हो उनके उपदेश की ओर से कान बन्द कर लेते हैं, नास्तिकता फैल जाती है। उद्दण्डलोग अथवा राजा, राक्षसीशक्ति के मद में धर्म का तिरस्कार करने के लिये महात्माओं को सताने लग जाते हैं। तब महात्माओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और इसप्रकार धर्मस्थापना के लिये भगवान् अवतार धारण करते हैं। हिरण्याक्ष ने पृथिवी को जलमग्न करके पृथिवी के आधार धर्म और धर्मरक्षक महात्माओं का तिरस्कार किया तो भगवान् वराहरूप में प्रकट हुए। हिरण्यकशिपु ने नारदजी के प्रियशिष्य प्रह्लाद को कष्ट देकर महात्माओं के दिल पर आघात पहुँचाया तो भगवान् नृसिंहरूप में आए। रावण ने महात्माओं का रुधिर बहाया तो रामरूप में अवतीर्ण हुए। अधिकारमद में चूर क्षत्रिय राजाओं ने जमदग्नि जैसे महात्मा का वध किया तो परशुधारी परशुरामरूप में अवतार धारण किया। कंस आदि दैत्यों ने साधुओं पर अत्याचार किये तो कृष्ण बलराम रूप में आविर्भूत हुए।

इस लम्बे समय में कई परिवर्तन हुए पर एक बात इस से स्पष्ट विदित होती है कि जब तक लोगों के आचरण और राजाओं के शासन पर साधु महा-

त्माओं का प्रभाव रहा सुखशान्ति बनी रही। ज्यों ही लोगों ने महात्माओं के उपदेश को ठुकराया, दुःखों के पहाड़ गिरने लग गये और लोगों में क्षोभ, अशान्ति तथा शत्रुता के भाव फैल गये। ऐसी अवस्था में ही भगवान् साधुओं की रक्षा के लिये आते हैं ताकि वे धर्म की रक्षा कर सकें।

पाठक इसी ग्रन्थ में अनेक अवतारों के चरित्र पढ़ेंगे। उनमें अधिक ऐसे ही मिलेंगे जिन्होंने देव तथा साधुसमाज की रक्षा के साथ साधुसमाज का संगठन किया है, ताकि साधु लोग संसार में धर्म की मर्यादा को बनाए रक्खें। सनतकुमार, नारद, व्यास और श्रीचन्द्र सदैव इसी यत्न में लगे रहे हैं। क्योंकि सृष्टि के आदि काल से ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के प्रभाव और उपदेश से ही सुखशान्ति की रक्षा होती रही है। संसार के सुखशान्ति और धर्म की रक्षा साधुमहात्मा और महात्माओं की रक्षा अवतार धारण करके स्वयं भगवान् करते रहे हैं।

## सुखशान्ति में बाधा.

हमारे धार्मिकइतिहास से प्रकट होता है कि द्वापर के अन्त तक यही प्रबन्ध बना रहा है। उसी समय साधुओं पर अत्याचार होने पर भगवान् ने कृष्णरूप में अवतार धारण किया था। पर इस में सन्देह नहीं कि कलियुग में महात्मा लोगों का प्रभाव दिन प्रतिदिन घटता ही चला गया है और संगठन का बल भी क्षीण हो गया है। अतः भगवान् श्रीचन्द्र आदि अवतार धर्मप्रचार के साथ साधुसंगठन की ओर ही अधिक ध्यान देते रहे हैं। आत्मनिष्ठ महात्माओं का प्रभाव कम हो जाने का ही यह परिणाम है कि दिनप्रतिदिन क्लेशों में वृद्धि होती जा रही है। अब तो अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि संसार भक से उड़ जानेवाला बम बना हुआ है। क्षोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास और अशान्ति बढ़ती जा रही है। प्रत्येक मनुष्य को भय रहता है कि मालूम नहीं किस समय ऐसी आग भड़क उठे जो देखते देखते सारे प्रपञ्च को राख का ढेर बना दे।

यह तो मालूम हो गया कि इतिहास दुःखवृद्धि का कारण क्या बतलाता है। अब थोड़ा इस पर भी विचार करना चाहिये कि इस दुःखवृद्धि को रोकने के लिये हम यत्न क्या करते हैं? जीव अपने परमध्येय—परमानन्द के केन्द्र को खो देता है तो उसकी पुनःप्राप्ति का उपाय ज्ञात न होने के कारण सांसारिकपदार्थों में ही खोज करता रहता है। कभी सम्पदा में सुख मान कर उसे एकत्र करने लग जाता है कभी विषय भोगों के पीछे भागता है। पर विषयाभ्यास से विषयासक्ति ही बढ़ती जाती है, जो अपने साथ ध्येय की ओर जानेवाले मार्ग को भी लम्बा करती है। यदि विषय भी सुखकारक होते तो शिशु को जन्मकाल से ही उनमें सुख अनुभव होना चाहिये था। पर देखा यह जाता है कि बालक जितना छोटा होता है उतनी ही विषयों की ओर से उसे अरुचि होती है। यदि आयु बढ़ने के साथ बालक में विषयभोगलालसा भी बढ़ जाती है तो इसका कारण यह नहीं कि विषयों में भी कोई सुख है, बल्कि इसका कारण है विषयाभ्यास और भ्रम। पहले दिन किसी मादकद्रव्य का सेवन करनेवाले को वह कष्टदायक प्रतीत होता है। जब अभ्यास करते करते उसी में सुख की सम्भावना करने लग जाता है तब ही नशा उसके गले का हार बनता है। इसीप्रकार लोग सुखशान्ति का मार्ग भूलकर अट-

कलपच्च उपायों से उसे पुनः प्राप्त करने का यत्न किया करते हैं। राजनैतिक अशान्ति को ही लीजिये। कौन नहीं जानता कि यह संसार धर्म के सहारे ही खड़ा है। वह सहारा हिल जाने पर पृथिवी डगमगाने लग जाती है। राजा स्वयं धर्म और कर्तव्य को भूल जाए तो प्रजा के धर्मविश्वास में भी शिथिलता अवश्य आयगी। बस राजनैतिक अशान्ति का कारण यही होता है। पर लोग शान्ति की खोज कभी राजनैतिक परिषदों में करते हैं कभी बहुमत का अनुकरण करने में। लोगों के हाथ पाँच बाँधने के लिये कानून कड़े किये जाते हैं और भयभीत रखने के लिये भयानक अस्त्रशस्त्र तैयार किये जाते हैं। पर विषयप्रेम की भाँति इन यत्नों से भी अशान्ति ही बढ़ती है। कारण, यत्न करनेवालों का उद्देश्य भी तो यही होता है कि लूटनेवालों का कोई हाथ न रोक सके।

## राजनैतिकयुद्धों का परिणाम.

आजकल के इतिहासकार युद्ध को भी मानवसमाज की उन्नति का साधन बतलाया करते हैं। लूटनेवालों की उन्नति का साधन वह भले ही हो, पर लुटनेवालों के तो नाश का साधन ही है। कहते हैं युद्ध से राष्ट्र में उत्साह और आन्दोलन की शक्ति पैदा होती है। पर कौन नहीं जानता कि युद्धों से रागद्वेषादि क्लेश, कामक्रोधादि विकार और उत्तेजना के भाव ही बढ़ते हैं। फिर क्लेशवृद्धि में सुख-शान्ति कहाँ? शास्त्र बतलाते हैं कि यह सृष्टि जल से उत्पन्न हुई है। प्रारम्भ में यह पृथिवी जलमग्न थी और प्रलयकाल में अग्निदेव इसका अन्त करेंगे। इसीवास्ते रुद्ररूप तमोगुणप्रधान है। इस वैदिकथ्यूरी को अन्य बड़े बड़े मतों ने भी स्वीकार किया है। ईसाइयों की पैदायश की किताब में लिखा है कि प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही था और उस जल पर प्रतिबिम्ब की भाँति खुदा की रूह हिलती थी। इस्लाम मत ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उसने प्रलयकाल में फरिश्तोंद्वारा अग्निवर्षा करना भी माना है, पर वह आग धार्मिक लोगों के लिये नहीं पापियों के लिये होगी। उनके इस निश्चय का आधार यह वैदिकसिद्धान्त ही मालूम होता है कि धर्म और धार्मिकजनों का कभी नाश नहीं होता। कहना यह है कि यह पृथिवी जल से उत्पन्न हुई और अग्निदेव इसका नाश करेंगे। इसीवास्ते वैदिक-धर्मियों में वेद की "भस्मान्त ँ शरीरम्" आज्ञानुसार मृतशव को भस्म करने की प्रथा जारी है। कहना न होगा कि यह दृश्यजगत् अग्निद्वारा ही नाश को प्राप्त होगा। जल का गुण शीतलता और स्निग्धता है, अग्नि का गुण है ऊष्णता और विभक्त करना। युद्धों से शान्तिदायक शीतलता पैदा नहीं हो सकती। युद्ध तो जगत् को छिन्नभिन्न करनेवाली अग्नि की वर्षा ही किया करते हैं। द्वेषाग्नि को प्रचण्ड करनेवाले युद्ध जगत् के नाश का कारण हो हो सकते हैं, उन्नति और स्थिरता का नहीं। फिर युद्धों से सुखशान्ति के लाभ की आशा कैसे की जा सकती है? मानना होगा कि संसार के इन विक्षेपकारी कार्यों तथा ऐन्द्रिकविषयों में सुखशान्ति नहीं है बल्कि यह विषय सुखशान्ति से दूर लिये जा रहे हैं।

## कल्याण का मार्ग.

ऊपर बतलाया गया है कि मायारूप नदी के प्रवाह में बहे जा रहे जीव के लिये केवल दो ही मार्ग हैं। तरङ्गों की थपेड़ों और पदपद पर अपने चक्र में

लपेटनेवाले भँवरों की पर्वाह न करते हुए, उन दो मार्गों में से ध्येय की ओर ले जानेवाले एक मार्ग का निश्चय कर लेने का नाम ही विवेक है। ऐसा निश्चय दोनों मार्गों के फलाफल पर विचार करने से हो सकता है। उस विचार को ही पूर्वपरानुसन्धानात्मिका बुद्धि कहते हैं। जब जगद्बन्धनों में क्लेश बढ़ते ही जाते हैं तब जितना अधिक इस जगत् के अन्दर जीव धँसेगा उतने ही क्लेश भी बढ़ते ही जायँगे और ये क्लेश ही दुःख तथा अशान्ति की जड़ हैं। तब तो निश्चय ही यह मार्ग सुख का साधन नहीं है।

जब मार्ग दो ही हैं तो दूसरे मार्ग की भी परीक्षा करनी चाहिये। हम संसार-क्षेत्र में रह कर भी जो सुख अनुभव करते हैं उसका कारण भी सतोगुण ही है। कौन कर्म ग्राह्य और कौन त्याज्य है? इसका निश्चय कर्म के सुख दुःख रूप फल से ही किया जा सकता है और ऐसा निश्चय करने में अन्य ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा सत्वगुणप्रधान बुद्धि ही समर्थ है। बुद्धि में वह शक्ति सत्पुरुषों की संगत से पैदा होती है। हमें प्रकाश सुखकारक और अन्धकार दुःखकारक क्यों प्रतीत होता है? इसवास्ते कि प्रकाश सत्व का और अन्धकार तम का कार्य्य है। किसी वस्तु की इच्छा पैदा होने पर दुःख और वस्तु की प्राप्ति से इच्छा निवृत्त हो जाने पर सुख प्रतीत होता है। तब तो यही निश्चय करना होगा कि इच्छा का सङ्कोच करते हुए सतोगुण की ओर आगे बढ़ते जाना ही दूसरा मार्ग है और यही हमें सुख की ओर आगे बढ़ा सकता है।

सारांश यह कि चित्तरूप नदी के दो ही प्रवाह हैं। एक सात्विक अर्थात् विवेकभूमि में बहता हुआ कैवल्य अर्थात् कल्याण की ओर लेजाता है दूसरा तामस अर्थात् रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्शादि विषयों की भूमि पर बहता हुआ जगत्रूप भँवर में घुमाता है। जब चित्त की वृत्तियाँ इन तामसिक विषयों में फँसजाती हैं तब अधिक विषयाभ्यास से आत्मा के अन्दर भी मन बुद्धि और चित्त के लिये अहम् भाव पैदा हो जाता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अज्ञानवश क्लेशों की ओर ही बढ़ता जाता है। वही चित की वृत्तियाँ जब सात्विकविवेक के अधीन रहती हैं तब मनुष्य में चित्त के दोनों प्रवाहों के परिणाम जानने की शक्ति जागरित रहती है और उसकी गति पर अधिकार होता जाताहै। चित्त सदा किसी न किसी उधेड़बुन में लगा ही रहता है, कभी बेकार नहीं बैठता! महर्षि पतञ्जलि ने चित्त का स्वभाव तीन प्रकार का प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति बतलाया है। देखे सुने पदार्थों का ध्यान करते रहना प्रख्या है। "यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते" मनुष्य जिस विषय का ध्यान करता है उसे ही वाणीद्वारा बोलता और जो बोलता है उसी को क्रिया में लाता है "ध्यायतो विषयान्पुंसा संगस्तेषूपजायते" विषयों का ध्यान ही उनकी लालसा बढ़ाता है। बस ध्यान किये हुए विषयों के साथ सम्बन्ध जोड़ना प्रवृत्ति और फिर उनमें ही खचित हो जाना स्थिति है। चित्तकी वृत्तियाँ हैं तो अनन्त, पर महर्षि पतञ्जलि ने अन्य सब वृत्तियों को प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति इन पाँच के अन्तर्गत ही माना है। प्रमाण के-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-तीन भेद बतलाए हैं। स्वयं देख सुन कर निश्चय करना प्रत्यक्ष, कारण को

देखकर कार्य या कार्य को देख कर कारण की अटकल लगाना अथवा सदृशविसदृश वस्तु को देख कर किसी विशेषवस्तु के विषय में धारणा बनाना अनुमान और श्रद्धास्पद आप्त पुरुषों के वचन अगम प्रमाण हैं। विपरीत या मिथ्या ज्ञान विपर्यय. वन्ध्यापुत्र, या आकाशपुष्प आदि शब्दमात्र से अभाव में भाव की प्रतीति विकल्प, "ऐसे सुख से सोए कि कुछ सुध न रही" इस प्रकार की स्मृति का कारण जो वृत्ति है वह निद्रा और अनुभूतविषय के स्मरण को स्मृति वृत्ति कहते हैं। यही पाँच वृत्तियाँ चित्त के स्वभाव का कारण हैं। महर्षि पतञ्जलि ने इन वृत्तियों को वश में करना ही सफलता की कुञ्जी बतलाया है। चित्तकी अवस्थाएं पाँच हैं, वृत्तियों का निरोध किस अवस्था में होता है? यह भी जान लेना चाहिये। वे पाँच अवस्थाएं मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध हैं। मूढ़ावस्था में तमोगुण प्रधान रहने से चित्त का कर्तव्याकर्तव्यज्ञान नष्ट हो जाता है। क्षिप्तावस्था में चित्त वैसे ही चञ्चल रहता है जैसे वायु में दीपक। विक्षिप्तावस्था में कभी कभी सत्वांश भी झलक दिखला जाता है, जैसे आँधी का झक्खड़ निकलजाने पर क्षणभर केलिये दीपक ज्योति स्थिर भी हो जाती है। एकाग्र-अवस्था में सतोगुण की प्रधानता रहती है तमोगुण बिलकुल दब जाता है। निरुद्धावस्था में सब चेष्टाएं रुक जाती हैं और चित्त स्वयं भी अपने कारण में लयोन्मुख हो जाता है। यही वह अवस्था है जिसका उपदेश "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" में भगवान् ने भी अर्जुन को किया है।

## स्वतंत्रताप्राप्ति का उपाय.

इस से प्रकट हुआ कि मूढ़ावस्था में तमोगुण की प्रधानता के कारण ही काम क्रोधादि विकार और राग द्वेषादि क्लेश चित्त पर अधिकार जमाते हैं। जीव अपने को चित्तधर्मी मान कर विवेक को खो बैठता और विषयों में खचित हो जाता है। यदि पूर्वपुण्यप्रभाव से किसी महात्मा के दर्शन या उपदेश से ज्ञानदीपक जल गया तो क्षिप्तावस्था में पहुँच जाता है। अब भी विषयों में खचित तो है। पर महात्मा के दर्शन उपदेश की स्मृति कभी कभी पश्चाताप का भाव भी पैदा किया करती है। विषयों में खचित रहने पर पश्चाताप करने के कारण वह दूसरे मार्ग पर चलने का भी यत्न करता है, जिससे कभीकभी सत्यसुख की झलक भी दिखाई देजाती है। यही चित्त की विक्षिप्तावस्था है। ज्यों ज्यों सत्यसुख का आनन्द अनुभव करता है विषयों से घृणा और चित्त में एकाग्रता पैदा होती जाती है। इस अवस्था में चित्त का विषयों की ओर झुकाव भी मनुष्य को असह्य होने लग जाता है और उसको रोकने के लिये वह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि द्वारा चित्त पर पूर्ण अधिकार जमाने का यत्न करता है। यही योग के आठ अंग और चित्तवृत्ति के निरोध का उपाय हैं।

इसके उलटे क्रम से जीव गिरने लगता है। जगत् के विषयों को देखते देखते उनका चिन्तन करने लगजाता है, ध्यान से इच्छा उत्पन्न होती है। बस वही इच्छा बन्धन का कारण बनजाती है। महर्षि पतञ्जलि ने गिरावट से बचने या चित्तवृत्तियों को रोकने का उपाय "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" अभ्यास और वैराग्य बतलाया है। भगवान् कृष्ण ने भी मन को वश करने का उपाय यही अभ्यास

तथा वैराग्य ही कहा है। वे कहते हैं इस संकल्पविकल्पात्मक मन में जितनी वासनाएं उत्पन्न होती हैं वैराग्यद्वारा उन्हें रोक कर इन्द्रियों को कछुए के समान अन्तर्मुख करो और फिर धीरे धीरे चित्त को आत्मा में स्थिर करने का यत्न करो। इस प्रकार अभ्यास करते हुए यह चञ्चल और वायु के समान दुर्निवारवेग मन भी वश में आ जायगा।

चित्त की वृत्तियाँ ही सुख और दुःख का कारण होती हैं। उन पर अधिकार जमा लेनेवाले मनुष्य को विषय अपनी ओर खेंच नहीं सकते क्योंकि वह उनके दोषों को जानने लग जाता है। जो विषयों के दोषों को जानता है उसे उनकी इच्छा तो क्या होगी उलटी घृणा होने लग जाती है। मनुष्य में बन्धन से मुक्त होने की स्वाभाविकप्रवृत्ति पाई जाती है। यहाँ तक कि इसका परमध्येय ही जन्ममरण के बन्धन से छूटना है। वही स्वाभाविकप्रवृत्ति उसे निरन्तर परिश्रम में लगाए रहती है। आज संसार में राजनैतिक स्वतंत्रता की धूम है। यह भी तो मनुष्य की उस स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही एक चमत्कार है। राजनैतिक इतिहास ऐसे अगणित वीरों के खून से रंगे हुए हैं जिन्होंने परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये अपने प्राणों की ही आहुति डाल दी है। इतिहास के पृष्ठों से कितने ऐसे नवयुवकों का खून टपक रहा है जिन्होंने गेंदके साथ खेलने के समय गोलियों के साथ खेलना और झूला झूलने के समय फाँसी के साथ झूलना पसन्द किया। जिन युवकों को देखकर प्रत्येकव्यक्ति का दिल भाई के समान प्यार करने को ललचा उठता है, उन्होंने सांसारिकसुख पर लात मार कर जेलों के कष्टों का स्वागत किया। यह बन्धन से मुक्ति की तड़प ही तो है जो सुख के पीछे पागल हुए फिरनेवाले मनुष्य को ऐसे बलिदान के लिए तैयार कर देती है। पर विषयासक्त हो कर मनुष्य न केवल उस तड़प को खो देता है बन्धन में ही सुख मानने लग जाता है। देश की स्वतंत्रता के लिए बलिदान करनेवाले अधिक नवयुवक ही क्यों निकलते हैं? कारण यही है कि उनके मनपर अभी विषयों का पूर्ण अधिकार नहीं हुआ होता। आयु बढ़ने पर ज्यों ज्यों विषयाभ्यास होता है त्यों त्यों वह बन्धन में ही सुख अनुभव करने लग जाता है।

पर विषयासक्ति में तो सुख है नहीं, इसीवास्ते घोर परिश्रम करने पर भी संसार में दुःख ही बढ़ रहा है! जो लोग वर्तमान् अवस्था को उन्नतियुग बतलाते हैं वे भी यही अनुभव करते हैं कि संसार में सुख के स्थान में दुःख ही बढ़ रहा है। संसार के परिश्रम पर एक सरसरीदृष्टि डाल कर देखिये। बिजली ने मनुष्य की गति में अपने जैसी तेज़ी पैदा करदी है। वर्षों के काम दिनों में और महीनों के काम घण्टों में होते हैं। मेशीन की आश्चर्यजनक फुर्ती ने मनुष्यजीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की तैयारी में कितनी सुविधा पैदा करदी है। पर आश्चर्य यह है कि मनुष्य यह सब पापड़ बेलता है सुख के लिये और बढ़ता है दुःख। कारण यही है कि इन भौतिकविषयों में सुख नहीं। जिस वस्तु में जो पदार्थ है ही नहीं उसमें से निकल कैसे जाएगा?

शास्त्र बतलाते हैं सांसारिकसुख भी सतोगुण का ही कार्य्य है। मनुष्य तमोगुण को दबाकर जितना सतोगुण की ओर आगे बढ़ेगा उतना ही उसका सत्यसुख

बढ़ता जायगा। जगत् में रहते हुए भी हम इच्छानिवृत्ति पर ही सुख की झलक देखते हैं। इच्छानिवृत्ति होते ही स्वार्थ अपने आप दब जाता है। इतिहास से पता चलता है कि जबतक निरिच्छित ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के आचरणों और उपदेशों का अनुकरण करते रहे तब तक संसार में सुख शान्ति का ही साम्राज्य रहा। जब विषयों में फँस कर उन्हें आदर्श मानना भूल गये, दुःख और अशान्ति ने डेरा जमा लिया। क्योंकि मन चञ्चल किसी न किसी उधेड़बुन में लगा ही रहता है। यदि हम इसको बलपूर्वक रोक कर कल्याण के मार्ग की ओर न लगाएंगे तो वह दूसरा मार्ग ही ग्रहण करेगा, कभी बेकार तो बैठ नहीं सकता। हम ऊपर बतला चुके हैं कि चित्तरूप नदी के दो ही प्रवाह हैं। एक विवेकभूमि में बहता हुआ कल्याण की ओर ले जाता है। दूसरा विषयों की भूमि पर बहता हुआ पाप-दुःखपङ्क में फँसा देता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं चित्त को दुःख के मार्ग-विषयों की ओर से रोक कर कल्याण के मार्ग की ओर ले जाने के लिये अभ्यास और वैराग्य की ही आवश्यकता है और वह वैराग्य विषय दोषदृष्टि तथा ईश्वरभक्ति से ही हो सकता है।

कुछ लोग वैराग्य, निवृत्ति और वृत्ति-निरोध आदि शब्दों से घबरा जाया करते हैं। उनका कहना है कि ये शब्द मानवसमाज की क्रियाशीलता को नष्ट करनेवाले हैं। मनुष्य को अदृष्ट के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने की प्रेरणा करते हैं। अकर्मण्यता का पाठ पढ़ाते हैं। इस वास्ते वे लोग इन शब्दों की चर्चा भी पसन्द नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि जीव का परमउद्देश्य कैवल्य-प्राप्ति ही है। पर वैराग्य का अर्थ वह नहीं जो उन लोगों ने समझ रक्खा है। जब ब्रह्मनिष्ठमहात्मा भी लोकोपकार के कार्य्यों में रत रहते हैं तो वैराग्य का अर्थ अकर्मण्यता कैसे हो सकता है? वस्तुतः वैराग्य, विषयदोषदृष्टि और ईश्वर-उपासना भी तो मानसिकक्रिया ही है। "परोपकाराय सतां विभूतयः" और "सन्तःस्वयं परहिते सुकृताभियोगः" आदि वाक्य महात्माओं की धुन को भी प्रकट करते हैं। फिर वैराग्य आदि शब्दों का अर्थ निपटबेकारी कैसे हो सकता है? मनुष्य को कैसा जीवन बिताते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना चाहिये? इसका जो उत्तर ईशोपनिषद् ने दिया है वह वैराग्य आदि शब्दों पर किये जाने वाले सब सन्देहों को दूर करनेवाला है। जैसे—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथे तोस्ति न कर्मलिप्यते नरे॥

स्थावर-जङ्गम जगत् के रूप में जो कुछ भी विद्यमान् है उस सब में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है और वही ईश्वर इस जगत् का स्वामी है। स्वामी ने कृपा करके जो कुछ तुझे दिया है सन्तोषपूर्वक उसीको भोग, उससे अधिक की कभी इच्छा भी न कर। क्योंकि दूसरे के अधिकार की ओर सतृष्णदृष्टि से देखने का भी तुझे अधिकार नहीं।

भगवान् की इस आज्ञा का पालन करते हुए उसका चिन्तन करना ही उपासना है। स्वार्थ ही मनुष्य को विषयजाल में फँसाता है। भगवान् की इस आज्ञा का पालन करते हुए हम स्वार्थ से बचे रहेंगे और उसका चिन्तन करने से उसके गुणों को ग्रहण करेंगे। वस्तुतः आत्मा तो सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। मन और विषयों के साथ तादात्म्य अध्यास होने से जीव अपने स्वरूप को भूलकर मनबुद्धि में ही अहम् धारणा बना लेता है। भगवान् का वह चिन्तनीयस्वरूप क्या है? इसका उत्तर शास्त्र देते हैं—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित विशेषपुरुष ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इनमें अन्य क्लेशों की जननी अविद्या ही मुख्य है। अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्म में आत्मबुद्धि का नाम अविद्या है। आत्मज्ञानविरहित अहंभाव अर्थात् अपने को ही कर्त्ता भोगता मानना अस्मिता, सुखकारकवस्तुओं से प्रीति राग, दुःखकारकवस्तुओं से घृणा द्वेष और मृत्युभय अभिनिवेश है। कर्म-पुण्यात्मक और पापात्मक-दो प्रकार के हैं। उन कर्मों का शुभाशुभफल विपाक और कर्मों की वासना आशय है। ये अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय ही जीव के बन्धन का कारण हैं। क्लेश जीव को कर्मबन्धन में फँसाते हैं कर्मों से विपाक—जन्म, आयु और भोग-मिलते हैं और फिर उनके अनुसार ही आशय अर्थात् वासना उत्पन्न होती है। परन्तु ईश्वर इनसे सर्वथा विरहित है। जीव ईशावास्योपनिषद् में दी गई भगवान् की आज्ञानुसार जब अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ भगवान् का चिन्तन करता है तब उसे अपने स्वरूप और जगत् की असद्रूपता का ज्ञान होने लग जाता है। सांसारिकपदार्थों का मोह जाता रहता है। किसी वस्तु की इच्छा ही न रहेगी तो स्वार्थ का भाव कैसे जाग सकता है। पद्मपत्र मिवाम्भसा निरिच्छितभाव से जगद्व्यवहार में रहता हुआ भी निर्लेप रहता है। दूसरे के अधिकार को देखकर ललचाना ही दुःखों का बीज है। जो मनुष्य सब कर्म यहाँ तक कि खाना पीना सोना जागना चलना बैठना आदि व्यवहार भी ईश्वरार्पण करता है उसको दूसरे की वस्तु पर मोह कैसे हो सकता है? जो लोग वैराग्य आदि शब्दों पर घबरा जाते हैं उन्हें समझ लेना चाहिये कि निवृत्ति वैराग्य और त्याग आदि शब्दों का अर्थ ऊपरलिखित कथनानुसार विषयासक्तिवर्धक कर्मों तथा लोकोपकारार्थ किये जा रहे कर्मों की फलाशा का त्याग ही है, सर्वथा संसार का या कर्मों का ही त्याग नहीं। यह वह त्याग है जिसकी शिक्षा भगवान् सनत्कुमार, नारद, बाभ्रव्य, भ० श्रीचन्द्र आदि महात्माओं और राम कृष्णादि अवतारों के जीवन से मिलती है जो जगदुपकार के कार्य्यों में ही सदैव लगे रहे हैं, यद्यपि जगत् के बन्धनों से सदैव अलिप्त और स्वतंत्र रहे हैं।

## कुमारों का आदर्शजीवन.

कहना न होगा कि सुखशान्ति के लिये मनुष्य को इस निवृत्तिधर्म का ही अनुसरण करना होगा, क्योंकि सात्विकपन्थ यही है। इस मार्ग को ग्रहण किये

विना वह अपने परमध्येय अर्थात् परमसुखप्राप्ति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। यहाँ पहुँच कर मनुष्य के सामने यही प्रश्न आता है कि जगत् के मोहजाल में फँसा हुआ जीव उस मार्ग को ग्रहण कैसे करे? जो जीव विषयों के पङ्क में फँस चुका है उसपर तो भगवान् की ही कृपा हो तो वहाँ से निकल कर स्वतंत्र वायुमण्डल का आनन्द अनुभव करे, अन्यथा निकले कैसे? जब कि वह अज्ञान से ही सही, उसी में सुख मानने लग गया है। मालूम होता है अन्धतामिस्रादि तामसवृत्तियों के आधार प्राणियों की सृष्टि करके ब्रह्माजी को भी यही अड़चन देख कर चिन्ता हुई थी। इसीवास्ते उन्हों ने सात्विककुमारों को उत्पन्न करने के वाद राजसीसृष्टि की रचना की। ताकि लोग उनके उच्च जीवनों से शिक्षा ग्रहण करते रहें और उनमें परमोद्देश्य की आकांक्षा वनी रहे। क्योंकि मनुष्य विना सीखे कुछ जान नहीं सकता। जिसप्रकार जगद्व्यवहार की शिक्षा किसी व्यवहारकुशलव्यक्ति का अनुकरण करके ही मनुष्य प्राप्त कर सकता है वैसे ही सात्विकमार्ग की शिक्षा सात्विकमहात्माओं का अनुकरण करने से ही मिल सकती है। जवतक सात्विकजीवनवाले महात्माओं का वाहुल्य रहा और लोग उनका अनुकरण करके सुखशान्ति का लाभ करते रहे, तव तक कोई अड़चन पैदा नहीं हुई। पर जब ऐसे जीवनवाले महात्माओं में कमी आने लगी तव इतिहासरूप में पुराने महात्माओं के जीवन संग्रह किये जाने लगे। इसी वास्ते इतिहास का वड़ा महात्म्य समझा जाता है। क्योंकि वह ऐसे लोगों के जीवन सदैव हमारे सामने उपस्थित रखता है जिनके पदचिन्हों पर चल कर हम अपने अभीष्ट की ओर आगे वढ़ सकते हैं। इसी लाभ को सम्मुख रखकर महाराज युधिष्ठिर ने "पन्थ क्या है?" यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में "महाजनो येन गतः स पन्थः" कहा था।

## इतिहास का महत्व.

लोगों की यह धारणा व्यर्थ नहीं है कि उन्नति के मार्ग पर आगे वढ़ने केलिये इतिहास प्रकाशस्तम्भ का काम देता है। उसमें लिखेहुए भूतकालीन सफललोगों के जीवन हमें आगे वढ़ने का उत्साह दिलाते हैं और असफललोगों की त्रुटियाँ भूलों से सावधान करती रहती हैं। पर इतिहास भी हमें वही कुछ दे सकता है जो उसके पास है। जो वस्तु उसके अपने पास ही नहीं हमें कहाँ से देगा? इस समय इतिहास कहलाने वाली जो वस्तु हमारे सामने आती है वह दूसरों के स्वत्व पर अधिकार जमाने के लिये स्वयं आक्रमण करने या ऐसे आक्रमणों से अपनी रक्षा करनेवाले व्यक्तियों की कहानियों के सिवा कुछ नहीं है। मालूम होता है भौतिकवाद को ही सब कुछ जाननेवाले इतिहासकार संस्कृतसाहित्य में से इतिहास की खोज करते समय भी अध्यात्मवाद की ओर से इस विचार से आँखें वन्द कर लेते रहे हैं कि यह केवल भक्तों की भावना का ही प्रकाश है। यही कारण है कि वर्तमान् इतिहास युद्धों के वर्णनों से ही भरा हुआ है। इसी इतिहास की यह शिक्षा है कि प्रत्येक देश में युद्ध सामग्री वढ़ रही है। अव तो ऐसे ऐसे गैस तैयार हुए हैं कि यदि वह गैस किसी देश में छोड़ दिया जाए तो थोड़ी ही देर में उस देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और घासफूँस तक भस्म हो सकता है। इसी इतिहास से पता चलता है कि पहले स्वार्थ के कारण पाशिवकवृत्ति वढ़ने पर लोग मल्लयुद्ध करने लगे। कुटिलता ने

वृद्धि की तो धनुष बाण तैयार हुए। कुटिलता के साथ निर्दयता ने भी सिर निकाला तो भाला तलवार आदि बनाए गये। ज्यों ज्यों स्वार्थ और निर्दयता ज़ोर पकड़ते गये अस्त्रशस्त्रों की :भयानकता भी बढ़ती गई। बन्दूक, तोप, मेशीनगन, बम, जङ्गीजहाज़ ऐसे ऐसे नाशकारी सामान तैयार हो चुके हैं कि उनके भय से पृथ्वी की मट्टी भी दिनप्रतिदिन निर्बल होती जा रही है। साथ ही मनुष्यसमाज में वैमनस्य, अविश्वास और द्वेष के भाव यहाँतक उन्नति कर रहे हैं कि उनकी गर्मी से भौतिक प्रमाणुओं की आकर्षणशक्ति ही मिटती जा रही है। आकर्षणशक्ति के मिट जाने का भी कोई भय न था, अब तो वही शक्ति उस गैस का रूप धारण कर रही है जो घड़ी दो घड़ी में किसी भूभाग को ही नष्ट कर सकती है। कारण यही है कि इतिहास हमारे सामने ऐसे लोगों के ही वृत्तान्त रखता है जो राक्षसी बल से दूसरों को मिटाते या स्वयं मिटते रहे हैं। हम भी उससे वही शिक्षा ग्रहण करते हैं। समस्तसंसार पर दृष्टि डाल जाइये, सब जगह दूसरों पर आक्रमण करने या दूसरों के आक्रमण से बचने के उपायों में ही मानवसमाज लगा हुआ दिखाई देगा। मनुष्यमात्र का सारा परिश्रम इसी उपाय में खर्च हो रहा है। भूमि का दिल हर समय इसी चिन्ता में धड़कता रहता है। अन्यथा प्रशान्त महासागर में इतनी लहरें उठने का दूसरा कारण ही क्या है? युद्धाग्नि में दग्ध हो जाने का भय मानवसमाज को ऐसा कीड़ा लग गया है कि जिसने मनुष्यशरीर को असँख्य रोगों का घर बना रक्खा है। नहीं तो आत्मा सुखस्वरूप और शरीर जड़, यह दुःख कहाँ से आ घुसा? निश्चय ही वर्तमान इतिहासरूप दुःखगाथा हमें सुख का पाठ नहीं पढ़ाती।

## मानवसमाज का कल्याण और अध्यात्मवाद.

आज संसार जिस बहाव में बहा जा रहा है यह सुख की ओर ले जानेवाला नहीं। सुखप्राप्ति के लिये तो "आत्मवत् सर्वभूतेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।" समझने वाले और "सर्वभूतहिते रतः" आत्मानन्दी ब्रह्मनिष्ठमहात्माओं का ही अनुकरण करना होगा। क्योंकि मनुष्य को कभी न भूलना चाहिये कि उसका परमोद्देश्य परमसुख अर्थात् जन्ममरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही है। इन विषयों से दुःख में ही वृद्धि होती है। यही कारण है कि योरुप के भौतिकवादी लोग भी सुख के लिये यत्न करते रहने पर भी दुःख में वृद्धि देखकर घबरा गये हैं और अपनी भूल को अनुभव करके अध्यात्मवाद की ओर ध्यान देने लगे हैं। योरुप के कैंट, हेगेल, शोपेनहार जैसे दार्शनिकों और टालस्टाय जैसे मानवसमाज हितचिन्तक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है कि यदि संसार सुखशान्ति चाहता है तो उसे भारत के अध्यात्मवाद की ही शरण ग्रहण करनी होगी। फ्राँस, अमेरिका, तथा रूस आदि देशों में वेदान्त की शिक्षा के लिये जो उत्साह बढ़ रहा है वह प्रकट करता है कि उन लोगों का भौतिकवाद पर से विश्वास उठ रहा है और आध्यात्मिकशिक्षा के महत्व को समझने लग गये हैं।

यह तो निर्विवाद है कि परमध्येय की प्राप्ति के लिये मानवसमाज को इसी ओर आना पड़ेगा। आज नहीं तो कुछ दिन भड़क कर आना पड़ेगा। आज तक के

अनुभव ने यही सिद्ध किया है कि मनुष्य जिस परमोद्देश्य की सिद्धि के लिये यत्न करता है वह भौतिकवाद से सिद्ध नहीं हो सकता। आजतक जिस किसी भाग्यवान् ने भी उस अक्षयसुख की झलक देखी है उसे आत्मवाद की शरण में आने पर ही सफलता हुई है। सब परमानन्दी महात्मा इसी पथ के पथिक हुए हैं। पर खेद से कहना पड़ता है कि आधुनिक इतिहास उन महात्माओं के जीवनों से रिक्त करदिया गया है। इसी भूल का फल मानवसमाज दुःख के रूप में भोग रहा है। कारण, इस भूल के कारण समाज उस कल्याणकारी शिक्षा से वंचित रह गया जो उन महात्माओं के सात्त्विकजीवन से ग्रहण कर सकता था। शास्त्र तो केवल सिद्धान्त ही बतलाया करते हैं उन की क्रियात्मिकशिक्षा उन लोगों के जीवन ही देते हैं जिन्होंने अपने जीवनों को उन सिद्धान्तों के सांचे में ढाल दिया है। ऐसे जीवनों से इतिहास का रिक्त रहना समाज के दुर्भाग्य का ही प्रमाण है।

आधुनिक इतिहास की इसी त्रुटि को अनुभव करके यह छोटा सा निवन्ध लिखा गया है। इसमें उन वीतराग ब्रह्मनिष्ठमहात्माओं के पुनीत जीवनचरित्र संग्रह किये गये हैं जिन्होंने न केवल स्वयं परमानन्द का रसास्वाद किया अपने उच्च और अनुकरणीय जीवन से संसार को भी परम सुखप्राप्ति के मार्ग पर चलना सिखाया। हमारा विश्वास है कि आज भी उन महात्माओं के चरणचिन्हों पर चलनेवाले लोग अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। यदि हम उनके उच्च आदर्श को समझ नहीं सकते तो यही समझना चाहिये कि इसका कारण या तो हमारा दुर्भाग्य है या चिरकाल से विषयों में खचित रहने के कारण बुद्धियों में आ चुकी निर्बलता। अन्यथा उन महात्माओं के जीवन भवसागर में बहे जा रहे मानवसमाज की रक्षा के लिये प्रकाशस्तम्भ से कम महत्व नहीं रखते। यदि उनके महत्व को नहीं समझते, तब भी यही सोचकर श्रद्धा, भक्ति और दृढ़तापूर्वक उनके पावनजीवन तथा कल्याणकारी उपदेशों का अनुकरण करना चाहिये कि कुछ तो बात थी जो सर्वसुखों और ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए वे महात्मा सांसारिकसुखों पर लात मार कर तप तथा त्याग का व्रत लेते थे और संसार का उपकार करने में ही आनन्द मानते थे। वह आनन्द अवश्य ही विचित्रता रखता है जिसके लिये वे लोग संसार के भोगों को तुच्छ जान कर ठुकरा देते और परोपकार को ही अपनी विभूति मानने लग जाते थे। जिस प्रकार चिरकाल तक दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए लोग स्वतंत्रता के गुण को भूल जाते हैं और वर्षों तक पिञ्जरे में बन्द रहनेवाले पक्षी की उड़ने की तरङ्ग ही मर जाती है और वे दासता तथा पिञ्जरे में ही सुख मानने लग जाते हैं वैसे ही सांसारिकभोगों में ही सुख मान कर हम उस परमानन्द का अनुमान करने में भी असमर्थ हो चुके हैं। पर जिस प्रकार परतंत्र देश के कुछ लोगों को यही बात उत्साहित कर सकती है कि जिस स्वतंत्रता के लिये स्वतंत्रदेशों के लोग जानें लड़ाया करते हैं उसमें कुछ तो आनन्द अवश्य है, उसी प्रकार हमें भी यह सोच कर इधर ध्यान देना चाहिये कि जिस आनन्द के लिये वे महात्मा भौतिकसुखों पर लात मार देते थे वह अवश्य सांसारिकसुखों की अपेक्षा विलक्षण और महत्त्वपूर्ण है।

## इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय

वे महात्मा किसप्रकार गुरु से शिक्षा ग्रहण कर तपश्चरणद्वारा उस स्थिति को प्राप्त करते थे? किसप्रकार जगत् में रहते हुए कमलपत्रमिवाम्भसा निर्लेप रहते थे? किसप्रकार संसार में सुखशान्ति फैलाते थे? और उनके जीवन तथा उपदेशों से जनता को क्या लाभ पहुँचता था? इस निबन्ध में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर मिलेगा। यदि थोड़े सज्जन भी उन महात्माओं के उच्च जीवन से शिक्षा ग्रहण करेंगे तो लेखक अपने श्रम को सफल समझेगा।

इस ग्रन्थ में त्रुटियाँ भी अवश्य रही हैं। पर त्रुटियाँ रहने का एक कारण पहले ऐसे किसी इतिहास का अभाव ही है। इस छोटे से ग्रन्थ को लिखने के लिये भी हमें कितने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी ग्रन्थों की छान वीन करनी पड़ी है, इसका अनुमान ग्रन्थ में दिये गये प्रमाणों से सहज ही में लग सकता है। सच पूछो तो हमने इस आशा से इधर उधर से खोज कर सामग्री इकट्ठी कर दी है कि कोई योग्य सज्जन इस काम को अपने हाथ में लेकर पूर्ण करेंगे। अल्पज्ञ जीव त्रुटियों का तो घर ही है फिर यह ग्रन्थ त्रुटियों से रहित कैसे हो सकता है? फिर भी हमें आशा है कि पाठकमहानुभाव इस ग्रन्थ का पाठ करते हुए हमारे उस भाव को ही सन्मुख रक्खेंगे जिससे प्रेरित होकर यह ग्रन्थ लिखा गया है, त्रुटियों की ओर अधिक ध्यान न देंगे। क्योंकि—

कुतो वा गृह्णते दोषं सूरयो मद्विधोक्तिषु।
नेष्यते यः परस्थोऽपि स स्वयं गृह्यते कथम्॥
न चात्रातीव कर्तव्य दोष दृष्टि परं मनः।
दोषोह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥

यद्यपि यह ग्रन्थ सात प्रवाहों में विभक्त हुआ है पर प्रतिपादितविषय के अनुसार इसे तीन भागों में ही विभक्त किया जा सकता है। पहले दो प्रवाहों को तो उपोद्घात ही समझना चाहिये। इसी भाग के अन्त में भगवान् सनत्कुमार से भगवान् श्रीचन्द्रजी तक १६५ उदासीनमुनियों की सूची दी गई है। खेद का विषय है कि घोरपरिश्रम करने पर भी सब मुनियों का जीवनचरित्र नहीं मिल सका। फिर भी जितने महात्माओं का जीवनवृत्तान्त मिला है उससे उपस्थित विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन मुनियों के चरितसोपान की खोज में जो परिश्रम हमारे साथ हमारे सहायक महानुभावों को करना पड़ा है उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। ये चरित खोजने के लिये न केवल सारे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और कुछ अंग्रेज़ी साहित्य का ही अवगाहन करना पड़ा है अनेक ऐसी अप्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों को देखने के लिये भी बड़ी दौड़धूप करनी पड़ी है जो धार्मिक स्थानों में शताब्दियों से सुरक्षित पड़ी हैं। दूसरा भाग है भगवान् सनत्कुमार और नारदजी का जीवन। इन महापुरुषों के चरित्रों और उपदेशों का तो कोई अन्त नहीं परन्तु हमने उनका वही अंश दिया है जिससे आदिकाल में चतुर्थाश्रम के

स्वरूप, स्थिति तथा सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। ताकि आदिकाल और वर्तमानकाल के चतुर्थाश्रम में सहज ही तुलना की जा सके। इस भाग में भगवान् सनत्कुमार तथा नारदजी के जीवनचरित्रों के साथ सनातन धर्म के सिद्धान्तोंपर भी संक्षिप्त विचार किया गया है।

तीसरा भाग है वाभ्रव्यमुनि से भगवान् श्रीचन्द्रमुनि तक मुनियों के संक्षिप्त जीवनचरित्र। इस भाग से मुनियोंद्वारा संसार पर किये गये उपकार के साथ ही यह भी पता चलता है कि किस समय चतुर्थाश्रम की क्या अवस्था थी और समय के परिवर्तनों का उसपर क्या प्रभाव पड़ता रहा। इसमें एक विशेषता यह भी है कि समय समय पर पैदा हुए धार्मिक सम्प्रदायों और राजनैतिक परिवर्तनों का भी साथ साथ परिचय दिया गया है।

## भगवान् श्रीचन्द्रजी के गुरु.

पहले दो भागों का आधार तो सँस्कृतसाहित्य ही है। इस वास्ते हमने भी वही सामग्री इस पुस्तक में रखदी है जो संस्कृतसाहित्य से मिल सकी है। सिद्धान्तपक्ष में सम्भव है हमारे विचारों से किसी का मतभेद हो, पर जहाँ तक इतिहास का सम्बन्ध है किसी का मतभेद हो नहीं सकता। हाँ, अन्तिमभाग का आधार आधुनिकइतिहास भी है। यह उस समय का इतिहास है जिसमें अनेक वैदिकधर्मविरोधी और उनके उत्तर में अनेक वैदिकधर्मी नवीनमतों की सृष्टि हुई है और लोगों ने न केवल संस्कृत साहित्य में ही मिलावट करने का यत्न किया है पश्चाद्भावी इतिहासकारों ने भी नये रचे गये ग्रन्थों को प्रमाणिक मान कर इतिहास लिखे हैं। गत पाँच छः शताब्दियों में तो अन्धाधुन्द ही मची रही है। जो जिसके मन में आया लिख दिया और दूसरे उसी को देख कर मक्खी पर मक्खी मारते रहे। किसीने सत्यासत्य की जाँच का कष्ट नहीं उठाया। इसलिये इतिहास के इस भाग में से सत्यांश की खोज के लिये भी हमें अधिक परिश्रम करना पड़ा है। इस समय में उदासीनधर्मावलम्बी महात्माओं का ध्यान अधिकतर पञ्जाब की ओर ही रहा है। क्योंकि भारत पर मुसलमानों के आक्रमण पञ्जाब के रस्ते से ही होते थे। जिनको रोकने की शक्ति हिन्दुओंकी पारस्परिकफूट ने ही छिन्नभिन्न कर रक्खी थी। हिन्दुओं में नवजीवन का सञ्चार करके यवन आक्रमणों को रोकने का यत्न करना ही उस समय देश और धर्म की सब से बड़ी सेवा थी। इस वास्ते उस समय उदासीमहात्माओं की शक्ति अधिक पञ्जाब में ही खर्च हो रही थी। दूसरे जिस प्रकार आवश्यकतानुसार पहले मगध और फिर यू. पी. को धार्मिककेन्द्र बनाया गया था वैसे ही आवश्यकता देखकर इन दिनों में पञ्जाब को धार्मिककेन्द्र बना लिया गया था।

यही कारण है कि उनदिनों में हिन्दु धर्म और जाति की रक्षा के लिये सिक्ख दल नाम से हिन्दुओं का जो स्वयंसेवक दल तैयार हुआ उसकी अधिक सहायता करने वाले भी उदासीनमहात्मा ही थे। वे न केवल उसदल का सदैव उत्साह बढ़ाते रहे, उसका संगठन करने में भी उनका ही हाथ था। जब तक सिक्खों ने अपनी शक्ति को हिन्दुजाति से अलग करने का यत्न आरम्भ नहीं किया तबतक उदासीन महात्मा भी प्राणपण से उनकी सहायता करते रहे हैं। यही कारण था

कि आवश्यकता पड़ने पर महात्मा कृपालदास और वीरवैरागी जैसे विरक्त महात्माओं को भी उनका उत्साह बढ़ाने के लिये युद्धक्षेत्र में उतरना पड़ा। पर इतना होने पर भी एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि जहाँ उदासीनमहात्मा धर्म और जाति की रक्षा के लिये समाधि को छोड़कर युद्धक्षेत्र में उतरने तक सदैव तैयार रहते थे वहाँ निवृत्तिधर्म की रक्षा का भी उन्हें पूरा ध्यान रहता था। जिसका प्रमाण यही है कि धर्मरक्षा के लिये तैयार किये गये सिक्खदल का नेता सिक्खों में से ही नियत किया जाता रहा है किसी महात्मा ने यह पद कभी स्वीकार नहीं किया।

इस परिस्थिति की ओर से आँखें बन्द करनेवाले इतिहासकारों ने ऐसी ऐसी भूलें की हैं कि उन्हें पढ़कर हँसी आए बिना नहीं रहती। शिक्षादाता को गुरु कहते हैं। नेता भी शिक्षादाता ही होता है इसवास्ते उन दिनों में नेता के लिये भी गुरुशब्द का ही प्रयोग होता था। इसीवास्ते हिन्दूजाति में से तैयार हुए स्वयंसेवक दल के नेता गुरु नानकजी तथा उनके उत्तराधिकारियों के लिये गुरुशब्द प्रयुक्त होकर रूढ़ हो गया। श्रीनानकदेवजी भगवान् श्रीचन्द्रजी के पिता थे। मालूम नहीं यह पिता का सम्बन्ध भूल का कारण हुआ है या उन दिनों की साम्प्रदायक आचार्यों के गुरुओं का नाम छिपाने की परिपाटी; कुछ लोगों ने भगवान् श्रीचन्द्रजी के दीक्षादाता गुरु भी नानकजी को ही प्रसिद्ध करने का यत्न किया है। ऐसे लोगों में सिक्ख तो इस विचार से क्षम्य भी हो सकते हैं कि अपने बज़ुर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ाने का विचार सबलोगों में रहता ही है। ऐसा विचार रखने वालों में बहुत कम उदाराशयलोग होते हैं जो झूठ से बचे रहते हैं। पर दूसरे लोगों को भी इस झूठ का प्रचार करते हुए यह सिद्धान्त मालूम नहीं रहा कि किसी चतुर्थाश्रमी का गुरु पिता नहीं बन सकता, वह पिता चाहे ब्रह्मा भी क्यों न हो। हम मानते हैं कि जातिसंगठन के लिये हिन्दूजाति के नेता गुरुनानक की प्रतिष्ठा बढ़ाने की आवश्यकता थी और उदासीनमहात्माओं ने इस आवश्यकता को पूर्ण करने में कम भाग नहीं लिया, पर झूठ तो झूठ ही है। जो बात ज्ञानवान् लोगों में तीनकाल मानी नहीं जा सकती उससे किसी की प्रतिष्ठा बढ़ने के स्थान में घटने की ही अधिक सम्भावना रहती है। ऐसी निराधार बातें ही इतिहास की भूलों का कारण बन जाती हैं क्योंकि इतिहास लिखने वालों को सत्यासत्य की जाँच का अवकाश ही नहीं होता; जो कुछ सुनते पढ़ते हैं लिख देते हैं।

सँस्कृत का अधिक प्रचार न रहने के कारण प्रत्येकउदासीन के हरसमय स्मरण रखने के लिये भगवान् श्रीचन्द्र ने हिन्दी भाषा में जो मात्रा कहा है उसमें उन्हों ने स्पष्ट कथन किया है कि—

**गुरु अविनाशी खेल रचाया, अगमनिगम का पन्थ बताया।**

अर्थात् अगमनिगम का पन्थ बतानेवाले गुरु अविनाशी मुनिजी महाराज ने ही इस धर्मप्रचारकदल उदासीनसम्प्रदाय का संगठन किया है। सब साधुसम्प्रदायों में चिरकाल से यह परिपाटी चली आ रही है कि जब किसी साधु की किसी अन्य अपरिचित साधु से भेंट होती है तो उससे परिचयार्थ उसके गुरु, वेद तथा उपनिषद् का नाम पूछा जाता है। किसी ग्रन्थ को लिखने या कोई आन्दोलन

चलाने के समय भी उच्च आश्रम अथवा सम्प्रदाय के महात्मा स्वयं अपना ऐसा परिचय दिया करते हैं, ताकि लोग उनका परिचय पाकर स्वयं ही उस आन्दोलन की सहायता करने लग जाएं। भगवान् श्रीचन्द्रजी ने भी अपने मात्रे में ऐसा परिचय दिया है! जैसे—

## गुरु अविनाशी सूक्ष्म वेद, निर्वाणविद्या अपार भेद।

अर्थात् गुरु हमारे अविनाशी मुनि हैं, वेद सूक्ष्म अर्थात् साम और निर्वाण उपनिषद् है। इस कथन के रहते यह कैसे माना जा सकता है कि उन्हों ने चतुर्थाश्रमदीक्षा वेदशास्त्रमर्यादा के विरुद्ध अपने पिता से ग्रहण की थी?

इसीप्रकार श्रीअलिमत्तजी, वालहासजी, गोविन्दसाहिबजी और पुष्पदेवजी का गुरुदित्ताजी से दीक्षाग्रहण करना भी निराधार और सिक्ख इतिहासकों की कल्पनामात्र है। पाठक इसी पुस्तक में पढ़ेंगे कि अविनाशीमुनिजी सम्वत १५७५ में काश्मीर पहुँचे थे। उस समय भगवान् श्रीचन्द्रजी विद्याध्ययन समाप्त कर चुके थे। चतुर्थाश्रमदीक्षा लेकर शीघ्र ही आपने धर्मप्रचार का काम सम्भाल लिया। श्रीअलिमत्तजी के भाई वालहासजी काश्मीर के उसी विद्यालय में पढ़ते थे जिसमें भगवान् श्रीचन्द्र पढ़चुके थे। इससे प्रकट होता है कि ये दोनों भाई पहले से ही भगवान् श्रीचन्द्र पर श्रद्धा रखते थे और भगवान् श्रीचन्द्र चतुर्थाश्रमदीक्षा लेने के बाद जब दूसरी, या तीसरीवार काश्मीर गये, उसी समय इनकी शरण में आगये थे। उन्हीं दिनों में गोविन्ददेवजी तथा पुष्पदेव को भी उनके माता पिता ने भेंट कर दिया था। क्योंकि भगवान् के धूने की सेवा यही चारों महात्मा सदैव करते रहे हैं। सिक्ख इतिहासिकों के कथनानुसार गुरुदित्ताजी अपने पिता के साथ भगवान् के दर्शनों के लिये सम्वत १६८१ में आए हैं। उस समय गुरुदित्ताजी की अवस्था बहुत छोटी—११ वर्ष की—थी और बाबा अलिमत्तजी आदि चारों महात्माओं में से किसी की भी अवस्था उस समय अस्सी नव्वे वर्ष से कम न थी। इतने वृद्ध और अनुभवी बजुर्गों को एक नवागंतुक बालक का चेला बनाना कैसे सम्भव हो सकता था? फिर इस वृद्ध अवस्था तक बिना चतुर्थाश्रमदीक्षा के अपने साथ रखकर अन्त में एक बालक के शिष्य बनाने का कोई कारण भी तो होना चाहिये। कहना न होगा कि सिक्ख इतिहासकारों ने गुरुपुत्र के महत्व को बढ़ाने के लिये ही उस से इन महात्माओं का दीक्षाग्रहणकरना लिख दिया है। अन्यथा वे भगवान् श्रीचन्द्रजी के ही शिष्य थे और उनके साथ रहकर ही सदैव धूने की सेवा किया करते थे।

हमारा यह निश्चय कोरांकल्पना के आधार पर ही नहीं, पुरातनमहात्माओं के विचार भी इसकी पुष्टि करते हैं। "दस्तूरुल अमल उदासियाँ" नामक हस्तलिखित ग्रन्थ जो उदासीनसम्प्रदाय में एक आदरणीय और प्रमाणिकग्रन्थ माना जाता है (यह ग्रन्थ उदासीनसम्प्रदाय के कर्णधार प्रातःस्मरणीय निर्वाण श्री प्रीतमदासजी महाराज की रचना है) इस ग्रन्थ में साफ लिखा है कि गुरु अलिमत्तजी, वालहासजी, गोविन्ददेवजी तथा पुष्पदेवजी ने भगवान् श्रीचन्द्रजी से ही चतुर्थाश्रमदीक्षा ग्रहण की थी और ये चारों महात्मा सनकादि के अवतार थे। सम्प्रदाय के नियमोपनियम और अध्यात्मविद्या के अनेक गुप्तरहस्य लिखे रहने

के कारण इस ग्रन्थ को प्रकाशित नहीं कराया गया। पिछले महात्मा तो इस ग्रन्थ को दिखाते भी न थे। हमने भी वड़ी कठिनाई से इस ग्रन्थ के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया। यदि यह ग्रन्थ छप जाता तो इतिहासविषयक अनेक भूलों का सहज ही सुधार हो सकता था। उस ग्रन्थ में भी लिखा है कि अलिमत्तजी आदि चारों महात्मा सनकादि के अवतार थे। इस वात को तो दाक्षणात्यमहात्मा गुरुदासजी ने भी माना है जो भगवान् श्रीचन्द्रजी के पाँचवें स्थान पर १७ वीं शताब्दि में हुए हैं। वे अपनी कविताओं में लिखते हैं—

श्री अलमस्त औ बाल्हसना, गोइन्द फूल जानो सुख बसना।
ये चारों सनकादिक रूपा, प्रकट कीन कलियुग सुखरूपा।
यही चार धूने कहलाए, सनकादिक अवतार कहाए।

येहां वे चारों महात्मा हैं जिनके रूप में सनकादि ने काश्मीर में अवतार धारण किया था।

इसका सवृत वावा काशीदासजी के मात्रे से भी मिलता है जैसे—

सनकादिक चारों अवतारा, श्रीनगर काश्मीर में धारा।
श्री अलमस्त औ बालू हसना, गौड़विप्रसुत जानो जसना।
गोइन्दफूल क्षत्रीसुत जानो, श्रीनगर के साहु बखानो।

इन कविताओं का आधार एक कथा ही मालूम होती है जो कुछ स्थानों में सुरक्षित हस्तलिखितपुस्तकों में मिलती है। वहाँ यह भी लिखा है कि यह कथा किसी पुराण से ली गई है। पर इसका मूल कहाँ है? खोज करने पर भी इसका अभी तक पता नहीं चला। संक्षेप में कथा इसप्रकार है कि—

यवनराज्य के समय जब वैदिकधर्म पर आपत्ति आई तो एक दिन देवताओं की सभा में भी इसकी चर्चा चल गई। सनत्कुमारजी ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि भगवन्! इस समय तो भारत में वड़े वड़े अनर्थ हो रहे हैं, आपको धर्मरक्षा का कोई प्रवन्ध करना चाहिये। भगवान् शंकर बोले, हम अकेले क्या क्या करेंगे क्या धर्म की रक्षा करना तुमलोगों का कर्तव्य नहीं? सनत्कुमारजी ने कहा, हमारे योग्य जो सेवा हो हमें भी वतलाइये। शंकर बोले, तुमलोग भी चलो तो हम भी चलने के लिये तैयार हैं। ऐसा निश्चय करके श्रीचन्द्ररूप में भगवान् शंकर ने अवतार धारण किया और अलिमत्त, वालहास, गोविन्ददेव और पुष्पदेव रूप में सनकादि ने। इस से भी यही सिद्ध होता है कि ये चारों महात्मा भ० श्रीचन्द्रजी के ही शिष्य हो सकते हैं, गुरुदित्ताजी के नहीं।

## अन्य विचारणीय बातें

सिक्ख इतिहासलेखकों पर ही क्या निर्भर है अन्य इतिहासकार भी कहांतक खोज करते रहे हैं, इसका भी थोड़ा नमूना देख लीजिये। अनेक इतिहासकारों ने

लिखा है कि हल्दीघाटी के युद्ध के वाद राणाप्रताप निराश से हो गये और अपने कुछ साथियों को लेकर सिन्ध की ओर चले जाने का निश्चय किया। पर उनके सिन्ध की ओर जाने का कारण क्या था, इसवात को जानने का किसी ने भी यत्न नहीं किया। आश्चर्य है कि इतनी महत्वपूर्ण घटना पर किसी ने विचार करने का भी कष्ट नहीं उठाया, यद्यपि थोड़ा विचार करने पर भी इसप्रश्न का उत्तर जान लेना कठिन न था। राणा का सिन्ध की ओर जाने का विचार तो सव ने लिखा है। पर उस निराशाकाल में उन्हें आशा दिलानेवाली कौनसी शक्ति थी जिसके पास वे सिन्ध में जा रहे थे? जव कि सिन्ध के धार्मिककेन्द्र ठठ्ठा पर अकवर का ससुर मोहम्मदवाकी शासन कर रहा था और राजनैतिककेन्द्र रोड़ी में खानखाना सूवा था। वह प्रान्त तो राणा के लिये और भी अधिक भयानक होना चाहिये था।

वात सीधी है, सांसारिक झंजटों से निराश होकर मनुष्य ऐसे गुरु की खोज में ही निकलता है जिस पर उसे पूर्ण भरोसा हो कि वह उसकी विगड़ी को वना सकेगा या आत्मशान्ति प्रदान कर सकेगा। कहना न होगा कि उस समय ऐसी दैवीशक्ति के भण्डार भगवान् श्रीचन्द्रजी ही थे। राणाप्रताप ने उनकी दिव्यशक्तियों का चमत्कार उसी समय देखलिया था जव उसे उदयपुर में उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसने उसी समय निश्चय करलिया था कि देश की अध्यात्मिक शक्ति के केन्द्र यही मुनिमहाराज हैं। इतिहास वतलाता है कि जिनदिनों राणाप्रताप निराश होकर सिन्ध की ओर जाने लगे थे उनदिनों भगवान् श्रीचन्द्र सिन्ध में ही थे। उनके उपदेशों से सिन्ध के हिन्दुओं में जो जीवन और उत्साह आ रहा था उसकी खवरें भी देश में फैल रही थीं। इससे यही निश्चय होता है कि राणाप्रताप ने सहायता के लिये याचनार्थ उनकी सेवा में पहुँचने के उद्देश्य से ही सिन्ध की ओर जाने का विचार किया था। दूसरे, सिन्ध की ओर जाने का विचार करते ही राणा के कष्ट दूर होजाना और उसमें नवीन उत्साह और शक्ति का आना भी सिद्ध करता है कि यह परिवर्तन किसी अध्यात्मिकशक्ति का ही प्रसाद था। क्या कोई वतला सकता है कि भगवान् श्रीचन्द्र के सिवा उससमय ऐसी दैवीशक्ति का स्वामी दूसरा कौन था? आशा है कि इस प्रश्न पर जितना अधिक विचार किया जायगा उतनी ही अधिक हमारे मत की पुष्टि होती जायगी।

यहाँ थोड़े शब्द भगवान् श्रीचन्द्रजीद्वारा समर्थ रामदासजी को किये गये उपदेश के विषय में लिखना भी आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि पहले किसी इतिहासकार ने इस आवश्यकघटना का भी उल्लेख नहीं किया। इससे सम्भव है कुछ लोगों को यह घटना हमारी कल्पना होने का ही भ्रम हो। पर ऐसा भ्रम करने से पूर्व उनलोगों को विचारना चाहिये कि भगवान् श्रीचन्द्रजी से भेंट होने के वाद तुरन्त समर्थजी का तीर्थाटन के लिये चल देना, इसी भ्रमण में कई मास तक काश्मीर में रहकर उदासीनमहात्माओं से धर्मशिक्षा प्राप्त करना और वहाँ भगवान् श्रीचन्द्रजी की प्रतीक्षा में ही वैठे रहना अवश्य कुछ कारण रखता है। भगवान् श्रीचन्द्रजी तीर्थमहात्म्य का प्रचार करते हुए उससमय स्वयं तीर्थयात्रा कर रहे थे और रामेश्वर से लौटते हुए ही आपने समर्थजी को दर्शन दिये थे। ऐसी अवस्था में निश्चय ही उन्हों ने समर्थजी को भी तीर्थाटन की प्रेरणा की होगी

और समर्थजी के पुनःदर्शनों की इच्छा प्रकट करने पर बताया होगा कि आप अमुक दिन वेदपूजा के अवसर पर काश्मीर पहुँचते हैं। इसीवास्ते समर्थजी तुरन्त तीर्थाटन के लिये चल दिये और काश्मीर पहुँच कर उनकी प्रतीक्षा करते रहे। इससे सिद्ध हुआ कि उदासीनमञ्जरी आदि ग्रन्थों में इस घटना सम्बन्धी जो बातें लिखी हैं वे निराधार नहीं किन्तु महात्माओं ने पूर्णखोज के बाद लिखी हैं।

## सहायकमहानुभावों का धन्यवाद.

सम्भव है ऐसी ही और भी अनेक बातें पाठकों को नवीन प्रतीत हों, पर वे यदि इसीप्रकार पूर्वापर घटनाओं को मिला कर उनपर विचार करेंगे तो निश्चय हो जायगा कि इस ग्रन्थ में किसी ऐतिहासिक घटना अथवा धार्मिकसिद्धान्त का उल्लेख निराधार नहीं किया गया। यह भूमिका पहले ही बहुत बढ़ गई है अतः यहाँ उनका उल्लेख उचित न होगा। हाँ भूमिका को समाप्त करने से पूर्व कुछ पंक्तियाँ इस इतिहास के इतिहास पर भी लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। सम्वत १९८५ वि० की बात है, उनदिनों हमारी मण्डली सिन्धप्रान्त में प्रचार कर रही थी, सिन्ध के महात्मा उडेरालालजी का जीवनवृत्तान्त सुनकर यह देखने की इच्छा हुई कि इतिहासिकों ने इस महापुरुष के जीवन को किस रंग में वर्णन किया है? पर यह देख कर आश्चर्य हुआ कि इतिहासलेखकों ने महात्मा उडेरालाल जैसे जातिरक्षक महापुरुष के जीवन को भी कोई महत्व नहीं दिया। एक महान् जाति रक्षक व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार देखकर हमने उस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ डाला। पर यह जान कर खेद और भी बढ़ा कि बौधकाल के बाद और विशेषतया यवन आक्रमणों के समय जितने महापुरुषों ने भी धर्मध्वजा फहरा कर जाति में नवजीवन का सञ्चार करने का यत्न किया उन सब के साथ नवीन इतिहासलेखकों का यही व्यवहार रहा है। कारण यही मालूम हुआ कि या तो सँस्कृत न जानने के कारण इन इतिहासलेखकों को यह मालूम ही नहीं रहा कि तप का जीवन बिताने वाले महापुरुषों में कितनी आध्यात्मिकशक्ति होती है या मालूम रहने पर भी उस शक्ति पर उन्हें विश्वास नहीं रहा और जहाँ भी उनके आलौकिक चमत्कारों का वर्णन आया उसे बिना पढ़े यह समझ कर छोड़ देते रहे कि यह केवल भक्तों की श्रद्धा का ही प्रकाश है।

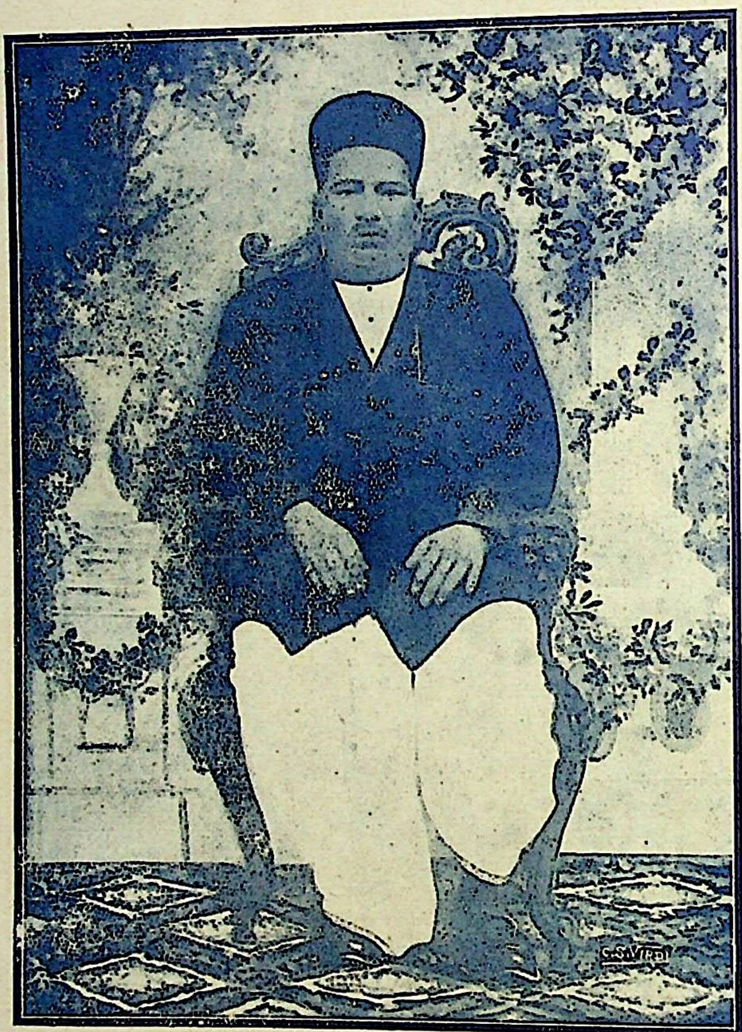
इतिहास की सामग्री कैसे एकत्र की जाती है और फिर उससे इतिहार तैयार कैसे किया जाता है, इसकी अटकल तो थी नहीं, फिर भी उसी समय हमने यह निश्चय कर लिया कि नवीन इतिहासकारों के इस भ्रम से धार्मिक इतिहासकी रक्षा करनी ही होगी। दैवयोग से उन्हीं दिनों में एक पर्व पर मण्डली को हरिद्वार आना पड़ा। हरिद्वार में एकत्र हुए विद्वानों से इस निश्चय की चर्चा चलाई तो न केवल सब ने हमारा उत्साह बढ़ाया कई एक सज्जनों ने इस कार्य में सहयोग देना भी स्वीकार किया। फिर क्या था, भगवती भागीरथी के तट पर बैठ कर ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया। इस कार्य में हमारी सहायता करनेवाले श्रीस्वामी असङ्गानन्द वेदान्ताचार्य काशी, श्रीस्वामी शान्तानन्द दर्शनरत्न पुराणभास्कर, श्रीस्वामी रत्नदास प्राचीननवीनन्यायाचार्य विहार, वीतराग स्वामी अर्जुनदेव, स्वामी अर्जुनमुनि हिन्दीप्रभाकर, स्वामी सर्वानन्द, स्वामी सुदर्शनमुनि,

स्वामी धर्मावतार और पं० हंसराज शास्त्री आदि महानुभाव थे। श्रीस्वामी रत्नदास ने तो एक मास तक बड़े परिश्रम से काम किया। प्रथम प्रवाह के प्रमाण अधिकतर उनके ही संग्रह किये हुए हैं। इसके बाद उन्हें हरिद्वार से बाहिर जाना पड़ गया। इन सज्जनों के अतिरिक्त श्रद्धेय पं० विष्णुदास लताला तथा श्रीस्वामी रामस्वरूप शास्त्री सम्पादक सन्तसमाचार ने भी बहुत सहायता की। जो समय समय पर ग्रन्थ का संशोधन करने और प्रामर्श देने का भी कष्ट उठाते रहे हैं।

यद्यपि यह अच्छे अच्छे विद्वान महात्मा दिनरात श्रम कर रहे थे पर यह मण्डली थी तो विरक्तमहात्माओं की ही। इतिहास की सामग्री एकत्र करने के लिये छकड़े के छकड़े पुस्तकें चाहियें। काम करने वालों, मण्डली के अन्य चालीस के लगभग साधुओं तथा विद्यार्थियों के लिये खर्च चाहिये। हम लोग तो केवल उत्साह को लेकर ही ग्रन्थ लिखने बैठ गये थे, यह समस्या कैसे सुलझे? ऐसे समय हम लोगों का उत्साह बढ़ानेवाले ब्रह्मलीनमहात्मा स्वामीआत्मस्वरूपजी महाराज ही थे। उनकी ओर से सहायता और जैसे भी हो इस कार्य को पूर्ण करो का, आज्ञा तथा उत्साह पूर्ण, आग्रह न होता तो सम्भव था इस कार्य्य को किसी अन्य समय पर स्थगित करके हम लोग हरिद्वार से चल देते। खेद है कि आप इस ग्रन्थ को देख न सके, ग्रन्थ छपने से पहले ही ब्रह्मलीन हो गये। उत्साह दिलाने वाले और भी कईएक महन्त सन्त महानुभाव थे जिनके उत्साह और प्रामर्श के लिये हम कृतज्ञ हैं।

पर भगवान् अच्छे कामों में सदैव सहायता करते हैं। हमारी उस स्थिति का जब श्रीमहन्त हरिनारायणदासजी महाराज बागबाबाहजारा लखनऊ को पता लगा तो वे हम सब को अपने मकान पर-लखनऊ-ले गये और सारे खर्च का भार अपने कन्धों पर उठा कर हमें निश्चिन्त कर दिया। महन्तजी ने न केवल मण्डली का खर्च ही बड़ी उदारता से चलाया और प्रत्येकव्यक्ति की प्रत्येक आवश्यकता को बिना विलम्ब पूरा किया, जिस ग्रन्थ की भी आवश्यकता होती जहाँ से मिलता तुरन्त मंगा देते थे यहाँ तक कि उनकी कृपा से ही ऐसे अंग्रेज़ी के विद्वान भी मिले जो अंग्रेज़ीपुस्तकों में से इतिहास की खोज करने में हमारी सहायता करते थे। लगभग साढ़ेचार मास तक अनेक विद्वानों तथा मण्डली के साधुओं का आसन वहीं डटा रहा। इस समय में महन्तजी के हजारों ही रुपये खर्च हो गये होंगे। यदि महन्तजी इतनी उदारता न दिखाते तो हमारा उत्साह क्या कर सकता था। सम्भव है काम वहीं रुक जाता और फिर मालूम नहीं इतने विद्वानों का योग होता या न।

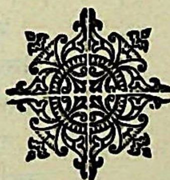
प्रयाग का कुम्भ आ रहा था। कुछ सज्जनों का अनुरोध था कि इसी अवसर पर ग्रन्थ छप जाना चाहिये। इसवास्ते उतावल में जैसा हो सका प्रयागकुम्भ तक ग्रन्थ तैयार कर लिया गया। पर ग्रन्थ तो लिखा ही गया था, इस वास्ते प्रयाग कुम्भ के बाद सब सहयोगी सज्जन अपने अपने धर्मप्रचार, कथा उपदेश और पठनपाठन के धन्धे में लग गये और हमें भी प्रेमीभक्तों के अनुरोध से धर्मप्रचारार्थ गुजरात प्रान्त की ओर चले जाना पड़ा। ग्रन्थ को छपवाने का काम कौन सम्भा-



भगवद्भक्त सेठ राधाकृष्ण नारायणदास क्षत्रिय—शिकारपुर।

लता। उधर लोगों में ग्रन्थ लिखे जाने की चर्चा फैल गई थी। प्रेमी लोगों की ओर से वारवार अनुरोध होने लगा कि ग्रन्थ शीघ्र छपवाना चाहिये। तीन वर्ष वीत गये, आग्रह करनेवालों को इस ग्रन्थ का वात न भूली। वल्कि ज्यों ज्यों इसके छपने में देर हो रही थी त्यों त्यों उनकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी। जिस सिन्ध-प्रान्त में इस ग्रन्थ को लिखने का विचार पैदा हुआ था, जब पिछलेदिनों उसी-प्रान्त में फिर मण्डली पहुँची तो श्रीस्वामी हरिनामदासजी महन्त साधुवेलातीर्थ सक्खर ने भी ग्रन्थ को छपवाने की चर्चा चलाई। उनका आग्रह ऐसा था कि उसे टालना कठिन हो गया। जब छपाई आदि के लिये रुपये का प्रश्न आया तो कई प्रेमी भक्त रुपया देने के वास्ते भी तैयार हो गये, जिनमें विशेष उल्लेखनीय नाम श्रीमती माता सन्मुखीदेवी धर्मपत्नी स्वर्गीय सेठ राधाकृष्ण क्षत्रिय शिकारपुर सिन्ध का भी है।

अब शेष यही प्रश्न रह गया कि इस ग्रन्थ को छपवाया कहाँ जाए। कहने को तो यह प्रश्न साधारण प्रतीत होता है पर है बड़ा विकट। हमारा ग्रन्थ तो किस गिनती में है, अच्छे प्रवन्ध के विना प्रेस के चँगुल में आकर अच्छे अच्छे ग्रन्थों का हुलिया विगड़ जाया करता है। इसी वास्ते हम किसी ऐसी जगह की खोज करने लगे जहाँ अपना काम छोड़कर भी इस ग्रन्थ की चिन्ता करने वाले प्रेमी सज्जन मिल जाएं। यद्यपि अहमदावाद में गुजराती का ही अधिकप्रचार होने के कारण हिन्दी प्रेस का उतना अच्छा प्रवन्ध नहीं, पर ऐसे सज्जन वहाँ ही मिल सकते थे। यह आशा पर्याप्त से भी अधिक पूर्ण हुई। श्रीमान् वकील फूलशंकर-सुन्दरलाल देसाई, श्रीमान् डा० जमियतराय और भाई पुरुषोत्तमदासजी ने इसकाम को अपना ही समझ कर कराया है। यद्यपि प्रेस प्रवन्ध के दोष इस ग्रन्थ में भी झलकते हैं पर अहमदावाद जैसे शहर में इस ग्रन्थ का इस रूप में भी छप जाना इन सज्जनों के उद्योग का ही फल है। सहायकों के नाम लिखते समय वह सहायता और सेवा भी भुलाई नहीं जा सकती जो इस कार्य में श्रीमती वहन ललितागौरी सामराय ने की है। यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों के सम्वन्ध में जुम्मेवारी केवल हमारी ही है। फिर भी ऊपरलिखित एक एक महानुभाव ने इस ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने से छप कर पुस्तकाकार में तैयार होने तक जो सहायता की है, यदि उनमें से एक सज्जन भी हृदय से इस काम में योग न देते तो यह ग्रन्थ छपकर पाठकों के हाथों में पहुँच जाना कठिन था। अतःहम अपनी ओर से, जो सज्जन इस ग्रन्थ को छपवाने का अनुरोध करते रहे हैं उनकी ओर से और यदि पाठक भी इसमें सहमत हों तो उनकी ओर से भी उन सर्व सहायक सज्जनों का हार्दिकधन्यवाद करते हैं।



# विषयानुक्रमणिका.

## प्रथमप्रवाह—चतुर्थाश्रम.

## चतुर्थ प्रवाह

## महामुनि नारद

# शुद्धाशुद्धिपत्र.

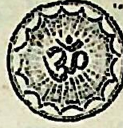
## पूर्वार्ध

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
|---|---|---|---|
| २१ | २१ | सन्याश्रमान्तराणि | सन्त्याश्रमान्तराणि |
| १०४ | ६ | भगवद्भक्ति | भगवदुक्ति |
| ९६ | ३ | उदासीनसाधु गृहस्थियोंके भेद | साधु और गृहस्थों में भेद |
| ११६ | २९ | शतेगों द्धा | शतेगो द्धां |
| ११७ | ७ | स्कन्ध ३—श्लो० ३ | स्कन्ध०३-अध्याय १२-श्लो०३ |
| ,, | १० | ब्रह्मसंस्थस्तस्थौ | ब्रह्मसंस्थस्तस्य |
| १२३ | २६ | सू० ८८ | सू० १८ |
| १२६ | ६ | ऽस्तज्ञात् | ऽस्तभ्रात् |
| ,, | २९ | प्रससार | प्रससाद |
| १२७ | ३२ | इन्द्रवरूणो अशिक्षतम् | इन्द्रवरूणावशिक्षतम् |
| १२९ | १५ | दासाव्वृत्रा | दासा च वृत्रा |
| ,, | ३० | अवनम्= | अवतम्= |
| १३० | ८ | वृहत्पशु | वहत्परशु |
| ,, | १४ | महर्पिनिमद | महर्षि विमद |
| ,, | १७ | न्यूहथूराघवाय याभि | न्यूहथूरा घ वा याभि |
| ,, | २४ | श्रवन | अवन |
| १३१ | ३० | भवप्रसादात् | भवत्प्रसादात् |
| १३५ | ३३ | मं० १७ | मं० ७ |
| २३१ | २२ | निधि वांक्रो | निधि |
| ,, | २३ | वाक्य | वांको वाक्य |
| ,, | २४ | गारुडविद्या | गारुडविद्या गन्धर्वविद्या |
| ,, | २५ | गन्धर्वविद्या | ० |
| २५१ | १५ | अथकंसादिवधार्थ १५ पंक्तिसे आगे | २४ पंक्ति में पाठ समझना |
| २५६ | २९ | कुवलयानन्द | कुवलयापीड |
| २५७ | १ | [1]शताः ॥ [2]नियुक्ताः | [1]शता युक्ता=नियुक्तानि |
| ,, | ३ | वीर्य और शौर्यादि विशेषणों से | वीर्यादि सामर्थ्य विशेषोंसे |
| ,, | ९ | सथस्थं | सधस्थं |
| ,, | १० | मं० १५ | मं० १८ |
| ,, | १९ | जो[1]—[2]करता हुआ | जिसने[1]—[2]कर |
| ,, | २० | मापता हुआ | मापते हुए |
| ,, | २२ | अ० ४—मं० १४ | अ० ५ मं० १५ |
| ,, | ३३ | होते हुए | होते ही |
| ,, | ३४ | डगमगाता हुआ सोई परमेश्वर | डगमगाया उस परमेश्वर ने |
| २५८ | १ | करते हुए | ० |
| ,, | ३ | कृष्ण | कृष्णं |
| ,, | ४ | पद प्रवीता | यद प्रवीता |
| ,, | १७ | देवकी गर्भ में धारण करती हुई | देवकी ने गर्भ में धारण कीया |
| ,, | ३० | हिंसा | क्रूर |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
|---|---|---|---|
| २५९ | १ | धारिण्यो | धारिण्यः |
| ,, | १० | समर्प्यत् | सपर्यत् |
| ,, | ११ | नमन्ता | नभन्ता |
| ,, | १७ | भ्रियन्तां | म्रियन्तां |
| ,, | १८ | समर्प्यत् | सपर्यत् |
| २६० | १२ | करनेसिद्ध हुआ | करने को सन्नद्ध हुआ |
| २६१ | ११ | अ० १ में लिखाहै | अ० ३ में लिखाहै |
| २६२ | १९ | १९–२०–२१–पंक्ति के स्थान में | पंक्ति ३०-३१-३२-३३-टिप्पणीमूल है |
| २६३ | ३३ | जौर वह | और वह |

## उत्तरार्ध

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
|---|---|---|---|
| १७ | ३४ | पुनर्जातिवित | पुनर्जीवित |
| २४ | ७ | अपरिच | अपरिचित |
| ३४ | २६ | वास्तोष्यते | वास्तोष्पते |
| ३५ | ७ | पृथकस्त्वि | पृथगस्तित्व |
| ३७ | २८ | स्मार्त्तखाखा | स्मार्त्तशाखा |
| ३९ | २९ | वादुकी | वाकी |
| ४७ | १५ | पाकर | पाकर |
| ५२ | २० | कमी | कभी |
| ६१ | २९ | इन्प्रद्रस्थ | इन्द्रप्रस्थ |
| १०४ | ९ | शवों | शैवों |
| ११० | ३१ | मनोविदार्थ | मनोविनोदार्थ |
| ११७ | १८ | शाह गयासुद्दीन वल | शाह गयासुद्दीन बलवन के गुलाम मलिक तुगलक का बेटा था |
| ११७ | २२ | फीरोज | फीरोज़शाह का पोता था |
| ११७ | २३ | मोहम्मदशाह का बेटा | मोहम्मदशाह फीरोज़शाह का बेटा |
| ११७ | २५ | नासिरुद्दीन | नासिरुद्दीन मोहम्मदशाह का बेटा |
| ११७ | ३३ | शाह का | शाह का बेटा |
| १२२ | ३० | तव | नव |
| १४५ | ३२ | पण्ति | पण्डित |
| १५२ | ९ | लोल | खोल |
| १५४ | ३२ | कुच | कुछ |
| १६५ | २२ | घर्म | धर्म |
| १६८ | १८ | प्रवे | प्रवेश |
| १७६ | २५ | धर्मचारार्थ | धर्मप्रचारार्थ |
| १८४ | २७ | अठ्ठ | अड्डे |
| १९३ | २३ | चेतक तव वाहिर तय्यार खड़ा था | चेतक नितान्त स्वामिभक्त था |
| १९४ | १८ | जातिकी का | जाति का |
| २११ | १८ | पवी | रावी |
| २१३ | ५ | शैवशव | शशव |



श्री गणेशाय नमः

# श्रौतमुनिचरितामृत

वन्दे रामं रमानाथं विनयोत्साहदानतः ।
सत्यसन्धं महाधीरं हिन्दुभावनिदर्शनम् ॥१॥
कृष्णावसनविस्तारिकृष्णं कृष्णसखं भजे ।
कल्पद्रुमं प्रपन्नानां सात्वन्मानसमन्दिरम् ॥२॥
विश्ववन्द्यपदो वन्दे विबुधान्वेदविश्रुतान् ।
पञ्च हेरम्बवैकुण्ठशक्तिशंकरभास्करान् ॥३॥
उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् ॥
औदास्यप्रथमाचार्य्यं कुमारं वैधसम्भजे ॥४॥
वशीचक्रे चक्रे भवविजयिकामं त्रिजगतः,
प्रकामं यो वक्रे सुरपतिशिरोऽभ्यार्चितपदः ।
तपश्चर्याचेताः शमदमयुतो योगकलितः,
मुनीन्द्रः श्रीचन्द्रः पुरहरवपू रक्षतुतराम् ॥५॥
विध्वस्तभेदज्वरदीनबन्धुमानन्दपृष्टेचररामसंज्ञम् ।
लोकाभिरामं विपदां विरामं ग्रामं गुणानां गुरुमाश्रयामः॥६॥
प्राच्योक्तिसागरोद्भूतं सद्भावरसनिर्भरम् ।
निपीयतां बुधाः श्रौतमुनीनां चरितामृतम् ॥७॥

# प्रथम प्रवाह

## चतुर्थाश्रमविधान

### (प्रथम तरङ्ग)

भारतवर्ष धर्म प्राण देश है। प्रत्येक भारतवासी का प्रत्येक मानसिक वाचिक तथा कायिक कर्म धर्मके आधारपर ही सदा रहा और अब भी है। हज़ारों नहीं लाखों भारतीयों ने धर्म के लिये अपने जीवन उत्सर्ग कर दिये पर आश्चर्य है कि इस देश का धार्मिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। धर्म के लिये जीवन उत्सर्ग करने-वाले तो अन्य श्रेणियों में भी मिलते हैं परन्तु वर्णोंमें सर्वोच्च ब्राह्मण वर्ण और आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त चतुर्थाश्रम तो समष्टिरूप में ही धर्मबलिवेदीपर जीवन चढ़ाने के लिये सदा तैयार रहा है। कारण इसका इस धर्मप्राण देशकी-इन दोनों धर्म प्रधान श्रेणियों की धर्मरक्षाविषयक तल्लीनता है अथवा गौरव-सूचक चरित्रों को भी लोकैषणा कोटिमें समझनेवाले चतुर्थाश्रमी उदासियों की लोक संमानविषयक सर्वथा उदासीनता, चाहे जो हो, यह देखकर कमसे कम हमारे हृदयपर तो चोट सी लगती है कि इन दोनों ही श्रेणियों का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता। यत्किञ्चित ही सही, नैतिक इतिहास की छानबीन करने पर, ब्राह्मणवर्ण के कुछ एक गर्वपूर्ण कृत्योंका उल्लेख फिर भी प्रसङ्गवश-कहीं कहीं मिलजाता है। पर चतुर्थाश्रमी उदासीन महात्मा तो, मालूम होता है, जगत प्रपञ्च के समान इतिहास को भी बन्धन का कारण समझकर उससे बचते ही रहे हैं। यदि सँस्कृत साहित्य में उनके धर्मप्रचार सम्बन्धी उपदेशों का भी उल्लेख न होता तो सम्भव है उन महापुरुषों के नाम लेकर भी आज हम जीवन-ज्योति प्राप्त न कर सकते, जिन्होंने अपने अमूल्य जीवन की आहुति डालकर धर्मयज्ञ को सदा प्रचण्ड रक्खा है। इसलिये चतुर्थाश्रमियों के पुनीत चरित्रों की खोजकेलिये हमें अधिक धार्मिक साहित्य की शरणमें ही जाना पड़ा। इस साहित्यसागर के अवगाहन से जो थोड़ा बहुत मुनिचरित्र अमृत प्राप्त हुआ इस निबन्धद्वारा वही हम पाठकों को भेंट करना चाहते हैं।

जब हम चतुर्थाश्रम के इतिहासका आधार धार्मिक साहित्य को ही बतलाते हैं तो स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि "क्या वर्णव्यवस्था की भाँति आश्रम व्यवस्था भी वेदशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है? यदि उत्तर "हाँ" है तो वैदिक साहित्य में कितने आश्रमों का विधान पाया जाता है? क्या विचारा-

स्पद आश्रम–चतुर्थाश्रम की पुष्टिमें भी वेदादि सच्छास्त्रों में प्रमाण मिलते हैं? इस आश्रम का अधिकारी कौन है? अर्थात् बिना वर्ण तथा जातिभेद के सबको इस आश्रम में प्रवेश होनेका अधिकार है या किसी विशेष वर्ण, जाति अथवा व्यक्ति को?

चतुर्थाश्रम का इतिहास आरम्भ करने से पूर्व इन प्रश्नों का निर्णय करना इस वास्ते भी अत्यावश्यक है कि कुछ समय से यही प्रश्न विवाद का विषय बने हुए हैं। वैदिकधर्मानुयायियों में अन्य मतमतान्तरों की भांति ऐसी शंकाओं को अनुचित नहीं समझा जाता। वैदिक धर्म वैज्ञानिक धर्म है या यों कहिये कि वेद ही संसार के समस्त विज्ञान, विद्याओं तथा धर्मोंका आधार है। अतः वैदिक धर्मियों के लिये वही सिद्धान्त मान्य हो सकता है जो वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाण और युक्तिद्वारा सिद्ध हो। जिसके लिये शास्त्र का प्रमाण नहीं वह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि संसार में हज़ारों मतमतान्तर पैदा होकर लुप्त हो गये; परन्तु वैदिक धर्म वैसा ही अटल है जैसा सृष्टि उत्पत्ति के समय था। इसके किसी एक सिद्धान्त में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। क्योंकि वैदिक धर्मी प्रत्येक सिद्धान्त को सदा वेद की कसौटी पर परखते रहते हैं। वेद की आज्ञाओं को स्मरण रखने के लिये भी यह एक उत्तम ढङ्ग है। वेदविद्या से अनभिज्ञता के कारण ही किसी सिद्धान्त में शंका उत्पन्न हो सकती है, उसकी निवृत्ति के लिये वेद का स्वाध्याय करनेवालों को वेदकी आज्ञाओं का ज्ञान होगा ही। वैदिक धर्मियों में तो यह पुरानी परिपाटी चली आ रही है और वे किसी सिद्धान्तकी चर्चा चलाते समय सर्व प्रथम यही देखते हैं कि विचारास्पद सिद्धान्त का समर्थन वेदादि सच्छास्त्रों से होता है या नहीं। यदि वह सिद्धान्तशास्त्र द्वारा प्रमाणित है तब तो उसका निरूपण अथवा अनुसन्धान समीचीन ही है, अन्यथा व्यर्थ परिश्रम मात्र। दूसरे, किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही उसमें प्रवृत्ति होती है, इस विचार से भी सर्व प्रथम चतुर्थाश्रम उदासीन धर्म के स्वरूप को वर्णन करना उचित होगा।

कारण चाहे शास्त्रज्ञान का अभाव हो चाहे चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म के इतिहास का, कुछ लोगों को चतुर्थाश्रम के प्रामाणिक होने में भी सन्देह है। जबतक उनकी शंकाओंका समाधान न होजाए तबतक न आगे चलना उचित प्रतीत होता है और न ही यह आशा की जा सकती है कि उन लोगों की शंकाओं का समाधान केवल इतिहास से ही हो जायगा।

यह सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि-जन्मजन्मान्तर के शुभ कर्मों द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जो वैराग्य, विवेक षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता (मोक्षकी इच्छा) से सम्पन्न हैं, पुत्र, वित्त और लोक सम्बन्धी तीनों एषणाओं से निर्मुक्त हैं वही परम सौभाग्यशाली मनुष्य, सर्व दुःख निवृत्ति और निरतिशय सुखस्वरूप मोक्षके साधन प्रव्रज्या रूप, औदासीन्याश्रम के अधिकारी हैं।

# चतुर्थाश्रम विषयक शंका.

चतुर्थाश्रम के अधिकारी मनुष्य की इस स्थिति को देखकर ही कुछ लोग शंका करते हैं कि उन तीनों एषणाओं से तो कोई मनुष्य कभी मुक्त हो नहीं सकता। जैसे पुत्र एषणाको ही लीजिये "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" (तै० १, ११, १) प्रजा तन्तुको कभी मत तोड़ो। इस वैदिक प्रमाण से तो सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम के विना दूसरा कोई आश्रम हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रजा तन्तु को अटूट रखने का साधन केवल गृहस्थाश्रम ही है। और "तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति" (गौतम स्मृति) सन्तानोत्पत्ति परम पवित्र कार्य है। इसी लिये "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य" (गौतम स्मृति) आचार्य लोग एक गृहस्थाश्रमको ही स्वीकार करते हैं। यही क्यों? वेद में भी अधिक गृहस्थधर्मका ही विधान पाया जाता है। जैसे "अग्निमीळे पुरोहितं०" (ऋक्) मंत्र में होता द्वारा अग्निकी स्तुति की गई है और सम्पूर्ण ऋग्वेद में होता के कर्मोंका ही प्रतिपादन पाया जाता है। यजुर्वेदके "इषेत्वा०" आदि मंत्रो में अध्वर्युका और सामवेद के "अग्नआयाहि वीतये०" आदि मंत्रो में उद्गाताका कर्तव्य वर्णन किया गया है। शंका करनेवाले कहते हैं-यह होता, अध्वर्यु और उद्गाता गृहस्थ ही हो सकते हैं। फिर गृहस्थ आश्रम से भिन्न कोई अन्य आश्रम कैसे सिद्ध हो सकता है? कोई दूसरा आश्रम भी होता तो वेद भगवान् उसके कर्तव्यका उपदेश भी अवश्य करते। इसके अतिरिक्त श्रुति भगवती की यह भी आज्ञा है कि "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" (श्रुति) आजीवन अग्नि होत्र धर्मका पालन करे और "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे च्छतँ समाः" (श्रुति) अग्नि होत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ ही मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। बल्कि यहाँ तक आज्ञा है कि "एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वाह्येवास्माद्विमुच्यते" (श्रुति) "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" कर्मकाण्डी के शव का यज्ञ के पात्रों के साथ दाह कर्म किया जाए। इन वाक्यों में तो देहावसान तक गृहस्थाश्रम के धर्मों का अनुष्ठान करने को आज्ञा है।

इसी प्रकार शंका करने वाले सूत्रग्रन्थोंके भी कुछ प्रमाण दिया करते हैं। जैसे "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्याः-अप्रजननत्वादितरेषाम्" (बौधा० सू० प्र० २ अ० ६ सू० २९) गृहस्थाश्रमही वेदविहित है; ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और त्यागरूप चतुर्थाश्रम में प्रजातन्तु का विच्छेद होनेके कारण यह त्याज्य हैं। शंका करने वाले तो सूत्रग्रन्थों से यहाँ तक प्रमाणपेश करते हैं कि गृहस्थाश्रम से भिन्न अन्य तीनों आश्रम अशिष्ट एवं वेद विरोधी हैं और वञ्चक पुरुषों द्वारा चलाए हुए हैं। जैसे "तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्हवै कपिलो नामासुर आस, स एतान् भेदाँश्चकार देवैः सह स्पर्धमान स्तान् मनीषी ना द्रियेत" (बौधायन सूत्र, प्र० २ अ० ६ सू० ३०) प्रह्लाद का बेटा 'कपिल' नाम का एक असुर देवताओं का बडा द्वेषी था। उसने ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा त्यागरूप चतुर्थाश्रम का प्रचार किया। इसलिये वैदिकधर्मी शिष्ट जन इन अवैदिक आश्रमों को हेय समझें और इनका आदर न करें।

# समाधान

जो लोग एक गृहस्थाश्रम के सिवा अन्य किसी आश्रम को नहीं मानते उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि पहले तो छान्दोग्य श्रुतिमें ही 'त्रयो धर्म स्कन्धाः।' वाक्य द्वारा तीन आश्रमों की आज्ञा पाई जाती है। यदि "प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः" श्रुति के अनुसार केवल एक गृहस्थ ही वेद विहित आश्रम माना जाए तो "त्रयो धर्म स्कन्धाः" का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। फिर शास्त्रों में धर्म के स्कन्ध रूप तीन आश्रमों के कर्तव्यों का भी जगह जगह निरूपण किया गया है। जैसे ब्रह्मचारी के कर्तव्य के विषय में लिखा है:—

## ब्रह्मचर्याश्रम.

"अगन्धसेवी" (आपस्तम्ब प्र० १ प० १ खं० २ सू० २५) गन्धयुक्त वस्तुओं का सेवन न करे।

"मैथुनन्नाचरेत्" (आपस्तम्ब " २६) स्त्री संसर्ग न करे।

"जटिलः" ( " ३१) जटा धारण करे।

"कम्बलश्च" (आपस्तम्ब प्र० १ प० १ खं० ३ सू० ५) कम्बल ओढ़े।

"शान्तः" ( " १५) शान्त स्वभाव रहे।

"दान्तः" ( " १९) जितेन्द्रिय हो।

"अक्रोधनः" ( " २३) क्रोध न करे।

"स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम्" (२२)

"अधः शय्यासनी, पूर्वोत्थायी जघन्य संवेशी" (२६)

"वाग्वाहूदरसंयतः" (२७)

(गौतम धर्मसूत्र प्र० १ अ० २)

पतन का भय होने पर स्त्री का दर्शन स्पर्शन न करे। भूमि पर आसन रक्खे। गुरुसे पहिले जागे और पीछे सोए। वाणी, बल और पेट को अपने वशमें रक्खे।

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादाँश्च वर्जयेत॥

(योगी याज्ञवल्क्य *)

* आचारः अ० श्लोक ३३

ब्रह्मचारी मधु (सुरा), मांस, अञ्जन, जूठन, खमीर उठाए हुए पदार्थ, स्त्री, हिंसा, सूर्य की ओर देखना अश्लील शब्द सुनना तथा बोलना और निन्दा त्याग दे।

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धमाल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनांचैव हिंसनम्।

( मनु अ० २ श्लो० १७७ )

ब्रह्मचारी सुरा, मांस, सुगन्धित पदार्थ, फूलमालाएं, रसास्वाद, स्त्री संग, सर्व प्रकार के शुक्त× पदार्थ और प्राणियों की हिंसा त्याग दे।

## वानप्रस्थाश्रम.

इसी प्रकार वानप्रस्थी के कर्तव्यों का विधान भी बहुत मिलता है। जैसे

"वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः."

( बौधायन सू० प्र० २ अ० ६ सू० १६ )

वानप्रस्थी वन में निवास करे और कन्दमूल, फल खा कर तपोमय जीवन विताए।

"वानप्रस्थो जटिलः चीराजिनवासाः"
"ग्रामञ्च न प्रविशेत्."
"न फाल कृष्ट मधितिष्ठेत्."
"अकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत"
"ऊर्द्ध रेताः"

( वासिष्ठ धर्मसूत्र अ० ९ सू० १ सेपलक )

वानप्रस्थी सिर पर जटा रक्खे, शरीर पर मृगचर्म या गोदडी धारण करे, गांव में न जाए, वनफलों से क्षुधानिवारण करे और स्त्रीसंसर्ग से बचा रहे।

"ततो मूलैः फलैः पर्णैस्तृणैरिति वर्तयँश्चरेत्."

वानप्रस्थी मूल, फल, घास, पत्ते आदि खा कर कालयापन करे।

"शिलोञ्छेन वर्तयेत्" उञ्छवृत्ति से निर्वाह करे।

"नचातं ऊर्ध्वं प्रति गृह्णीयात्." इससे निर्वाह हो तो परिग्रह न ले।

"अनुपस्तीर्णे शय्यासने." सोनेबैठने के लिये बिछाई की झाँक न रक्खे।

( आपस्तम्ब प्र० २ प० ९ खं० २२ सू० २, १०, ११, २३ )

× "यानि स्वभाव तो मधुरादि रसानि कालवशे नोदक वासादिना चाम्ल्यन्ति तानि शुक्तानि" इति कुल्लूक भट्टः।

"वैखानसो वने मूल फलाशी तपश्शीलः"

( गौतम धर्मसूत्र प्र० १ अ० ३ सूत्र २५ )

अफालकृष्टे नाग्नींश्च पितृदेवातिथीनपि ।

भृत्यांश्च तर्पयेच्छ्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥

( योगीयारीवल्क्य प्रा॰ अ० श्लो० ४५ )

वानप्रस्थी बिना जोती बोई भूमि में उत्पन्न हुए फल फूलादि से अग्नि, देवता, पितर, अतिथि, और भृत्य (सेवक) का पूजन सेवा तथा पालन करे ।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाक मूल फलेन वा ।

एतैरेवमहायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

( मनु अ० ६ श्लो० ५ )

वानप्रस्थी तरह तरह के पवित्र अन्न और शाक मूल फलादि से विधि पूर्वक अपने महायज्ञादि कर्तव्यों का पालन करे ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी भी सच्चा विरक्त ही हो सकता है। इस से शंका करने वालों के प्रजातन्तु को अटूट रखने के सिद्धान्त का तो पूर्णतया खण्डन हो जाता है। क्योंकि चतुर्थाश्रम पूर्ण विरक्त तो दूर रहा ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ में भी त्याग को ही मुख्य रखना पडता है । क्लेश भीरु और विषयासक्त मनुष्य इन दो आश्रमों का भी अधिकारी नहीं हो सकता ।

रहा यह प्रश्न कि इससे भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ ये तीन आश्रम ही सिद्ध हुए-चतुर्थ प्रव्रज्या अथवा उदासीन आश्रम तो फिर भी सिद्ध न हुआ ? अतः अब चतुर्थाश्रम की पुष्टि के प्रमाण भी लीजिये—

## चतुर्थाश्रमकी सिद्धि में प्रमाण.

"न कर्मणा, न प्रजया, धनेन त्यागेनैकेअमृतत्वमानशुः'

( कै० श्रुति खं० १ मं० २ )

"त्यागएवाहि सर्वेषां मोक्ष साधन मुत्तमम् ।

त्यजतैवहि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परंपदम् ॥

( भाल्वीय श्रुति )

"अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽ परिग्रहः ।

शुचिरद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवति ॥"

( जाबाल श्रुति ५ )

"एतमेव प्रव्राजिनो लोक मिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"

(बृह० ४, ४, २२)

"त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमः"

(छन्दोग्य परिशिष्ट)

चतुर्थाश्रम की सिद्धि के लिये इतने ही श्रौत स्मार्त प्रमाण पर्याप्त हैं परन्तु हम, इस भ्रम को भी दूर करने के लिये कि अमुक पुस्तक में प्रमाण हैं और अमुक में नहीं, कुछ एक और ग्रन्थों से भी इस विषय के प्रमाण उद्धृत कर देना चाहते हैं। जैसे—

"ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजकः"

(बौधायनसूत्र २, ६, १४)

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक–औदासीन्य, यह चार आश्रम हैं।

"चत्वार आश्रमाः" "ब्रह्मचारि

गृहस्थ, वानप्रस्थ, परिव्राजकाः"

(वासिष्ठधर्म सूत्र अ० ७ सूत्र १, २)

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक–उदासीन।

इतने प्रमाणों पर भी यदि कोई चार आश्रम स्वीकार न करे तो फिर उसे कौन स्वीकार करा सकता है? अब भी यदि किसी की तसल्ली नहीं हुई तो वे स्मृति, सूत्र और पुराणों के और प्रमाण सुन लें। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम विधान के वेद, धर्मसूत्र, स्मृति और पुराणादि धर्मशास्त्रों में अनेक प्रमाण मिलते हैं उसी प्रकार ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और चतुर्थ औदासीन्याश्रम को वेद विहित सिद्ध करनेवाले भी सब जगह अनेकों ही प्रमाण मिलते हैं। आवश्यकता केवल खोज करने की है। और प्रमाण देखिये—

"चत्वारः पथयो देवयानाः"

(श्रुति) देवमार्ग चार हैं।

"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्,

गृहीभूत्वावनीभवेत् वनी भूत्वा, प्रव्रजेत्"

(जावाल श्रुति ४)

ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, उसके बाद वानप्रस्थ धर्म का पालन करके प्रव्रज्या रूप चतुर्थ औदासीन्याश्रम ग्रहण करे।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थ प्रभवा श्चत्वारः पृथगाश्रमः॥

(मनु अ० ६ श्लोक ८७)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और औदासीन्याश्रम, यह अलग अलग चार आश्रम हैं। गृहस्थाश्रम शेष तीनों का उत्पत्तिस्थान है।

"ब्रह्मचारि गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः"

(गौतम धर्मसूत्र १, ३, २)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और औदासीन्य, यह चार आश्रम हैं।

"चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्य माचार्यकुलम् मौनम् वानप्रस्थ्यम्"

(आपस्तम्ब प्र० २ खं०२१ प०९ सू० १)

"ब्रह्मचारि गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
एते क्रमेण विप्राणां चत्वारः पृथगाश्रमाः॥"

(स्कन्द पुराण)

द्विजातियों के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, ये चार आश्रम होते हैं।

चतुर्थाश्रम ग्रहणका अधिकार पूर्ण त्यागी को है.

चतुर्थाश्रमी कैसा होना चाहिये इस विषय के शास्त्रप्रमाण—

"परिव्राजकः परित्यज्यवन्धूनपरिग्रहः परिव्रजेद्यथाविधि"
"कौपीनाच्छादनः" "वर्षा स्वेकस्थानः" "काषाय वासः"

(बौधायन प्र० २ अ० ६ सू० १८, २१, २२, २३)

परिव्राजक उदासीन महानुभाव वैदिकमर्यादानुसार समस्त मित्र बान्धवों से नाता तोड कर केवल आत्मचिन्तन में तत्पर रहे। सब वस्त्रों को त्याग कर कौपीन मात्र धारण करे। वर्षा ऋतु में एक स्थान में ठहरे। और वस्त्र की आवश्यकता हो तो काषाय वस्त्र पहरे।

"परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणांदत्वा प्रतिष्ठेत"
"एक शाटी परिहितः" "स्थण्डिलशायी" "अरण्यनित्यः"

(वाशिष्ठ अ० १० सू० १, ९, ११, १५)

चतुर्थाश्रमप्रवेशाभिलाषी समस्त प्राणियों को अभयदान दे कर प्रव्रज्यारूप चतुर्थ औदासीन्याश्रम में प्रवेश करे। केवल एक शाटिका पास रक्खे। भूतल पर शयन और वन में निवास करे।

"अनिचयो भिक्षुः।" "ऊर्ध्वरेताः।"
"ध्रुवशीलो वर्षासु।" भिक्षार्थी ग्राममियात्।"
"निवृत्ताशीः।" "वाग्चक्षुःकर्मसंयतः।"

(गौतम ध० प्र० १ अ० ३ सू० १०, ११, १२, १३, १५, १६)

वैदिक मर्यादानुसार चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेकर अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे। वर्षा में भ्रमण त्याग कर एक स्थान में निवास करे। गांव में केवल भिक्षार्थ ही जाए। सांसारिक वासनाओं से मुक्त रहे और वाणी चक्षु तथा शरीर के व्यापारों को वश में रक्खे।

अनग्निरनिकेतः स्यात्, अशर्मा*ऽशरणो मुनिः"

(२, ९, २१, १०)

चतुर्थाश्रमी उदासीन महात्मा अग्निहोत्रादि कर्मों से मुक्त, निश्चित स्थान से रहित, विषयवासनातीत और स्वतंत्र (स्वावलम्बी) मुनि होता है।

"सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमंलोकममुञ्च
परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्।" १३ (आपस्तम्ब)

चतुर्थाश्रमस्थ महात्मा सत्य अनृत सुखदुःख, वैदिक अग्निहोत्रादि तथा लोक परलोक का त्याग कर केवल आत्मा का अन्वेषण करे।

"संसारमेवनिःसारं दृष्ट्वासारदिदृक्षया।
प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥"

चतुर्थाश्रमी विरक्त महात्मा संसार की असारता को देख कर सार के अन्वेषण में तत्पर रहता है और अकृतोद्वाहः—अपरिणीत-अविवाहित रह कर वास्तविक वैराग्य का सहारा लेता है।

## वेदान्त दर्शन से चतुर्थाश्रम की सिद्धि

महर्षि वेदव्यासजी वेदान्तदर्शन में लिखते हैं--
"अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः।"

(ब्र० अ० ३ पा० ४ सू० १९)

अर्थात् बादरायणाचार्य चतुर्थाश्रम को श्रौत स्मार्त पुरुषों से आचरणीय स्वीकार करते हैं। यहाँ सूत्रगत "साम्यश्रुतेः" शब्द का भाव यही है कि जिस प्रकार "त्रयो धर्मस्कन्धाः" से तीन आश्रम सिद्ध होते हैं वैसे ही "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इस श्रुतिवाक्य से चतुर्थाश्रम की सिद्धि होती है। यही श्रुतिसाम्यकथन है। कहने का प्रयोजन यह है कि जब इस प्रकार व्याससूत्रों से भी चतुर्थाश्रम सिद्ध है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि चतुर्थाश्रम की सिद्धि में वेदशास्त्र अथवा स्मृति में कोई प्रमाण नहीं मिलता?

* शर्म=वैषयिकं सुखं तदस्य नास्तीत्यशर्मा।

# वेद का प्रमाण

जो लोग यह कहते हैं कि चतुर्थाश्रम को सिद्धकरनेवाला वेद में कोई प्रमाण नहीं मिलता, वे या तो वेद को पढते नहीं-केवल एक दूसरे से सुन सुनाकर ही ऐसी धारणा बनाए बैठे हैं या पढ़कर भी उसको समझने का यत्न नहीं करते। समझते भी हैं तो किसी विशेष उद्देश्य से ऐसा कह रहे हैं। अन्यथा मंत्र भागमें भी जिस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों का वर्णन है वैसे ही चतुर्थाश्रम का भी है। जैसे—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गाः वसते मलाः।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
( ऋग्वेद १०, १३६, २ )

मलाः=मलिनानि वल्कलरूपाणि। पिशङ्गाः=पिशङ्गवर्णानि वस्त्राणि। वसते= आच्छादयन्ति, धारयन्ति। मुनयः=चतुर्थाश्रमिणः। "अनिकेतः स्यादशर्माशरणो मुनिः" (आप० प्र० २ पटल ९ सू० १०) इति सूत्रानुसारेण मुनिपदेन तत्र भवतश्चतुर्थाश्रमिणो बोधनं सर्वत्र विज्ञेयम्। पुनः कीदृशा महात्मानः? वातरशनाः = (वातो वायुर्ब्रह्म "नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी" ति श्रुतेः। स एव रशना बन्धनमाश्रयो येषाम् ते तथा ब्रह्मपरा इत्यर्थः) * वातस्य = ब्रह्मणः, ध्राजिं = पदम्, अनुयन्ति-प्राप्नुवन्ति, यत्=पदम्, देवासः=आत्मतत्वविदः, अविक्षत=योगेन प्रविशन्ति।

ऋग्वेद के इस मंत्र से मुनिजन सेवित चतुर्थाश्रम का प्रतिपादन स्पष्ट ही सिद्ध है। एक जगह ही नहीं अनेक स्थलों पर वेद भगवान् में चतुर्थाश्रम का वर्णन मिलता है। और प्रमाण लीजिये—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
( मुण्डकोपनिषद् ३, २, ६, )

वेदान्तजनितं विज्ञानं-वेदान्तविज्ञानं, तस्यार्थः परमात्मा विज्ञेयः। सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च संन्यासयोगात् = सर्व कर्मपरित्यागलक्षणयोगात् केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगात्। यतयो यतनशीलाः चतुर्थाश्रमिणो महात्मानः। शुद्धसत्त्वाः = शुद्धं सत्वं येषां संन्यासयोगात् ते शुद्ध सत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु = सांसारिणां ये मरण कालास्तेऽपरान्ताः तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तस्तस्मिन् परान्तकाले साधकानां बहुत्वात् ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः एकोप्यनेकवत् दृश्यते प्राप्यते च अतो बहुवचनं ब्रह्मलोके ष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः=परममृतममरणधर्मकं ब्रह्म आत्मभूतं येषां ते परामृताः। जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति। परि=समन्तात् प्रदीपनिर्वाणवत् भिन्नघटाकाशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति, सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

* वातरशनाः = दिगम्बराः सनत्कुमारप्रमुखाः। "तान्वीक्ष्य वातरशनाँश्चतुरः कुमारान्" भाग० ३, १५, ३०। इत्यादौ तदर्थे तत्प्रयोगदर्शनाद् इत्यर्थस्तु नः साधीयान् प्रतिभाति।

**शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च ।**
**पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः ॥**

"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुति स्मृति सिद्धोऽयमर्थः । इति शांकर भाष्यम् ।

इस श्रुति का भाव संक्षेप में यही है कि—वेदान्तजनितविज्ञान के आत्म-तत्व अर्थ को जिन लोगों ने निश्चित रूप से जान लिया है, वे सर्व कर्म परित्यागरूप योग द्वारा सब तरह यत्नशील रह कर शुद्ध अन्तःकरण हो जाने पर मरण के उपरान्त ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । बुझे हुए दीपक या फूटे हुए घड़े के आकाश के सदृश ही ब्रह्म स्वरूप महात्मा इसी लोक में निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं । उनका अन्यत्र गमन नहीं होता ।

यहाँ यति पद से श्रुति भगवती चतुर्थाश्रमी महात्माओं का ही वर्णन करती है । इतना ही नहीं, श्रुति भगवती तो यति पुरुष के महत्व का भी उपदेश करती है । जैसे—

**यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान् ।**
**तं तं लोकं जयते तांश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञंह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥**

( मुण्डक ३, १, १० )

चतुर्थाश्रम धर्म के पालन से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वह मुनि महात्मा जिन जिन लोकों का मन में संकल्प करता है अथवा जिन जिन भोग्य वस्तुओं की अभिलाषा करता है वे सब उसे प्राप्त हो जाती हैं । चाहे उनका संकल्प अथवा इच्छा वह मुनि अपने लिये करे चाहे दूसरों के लिये, सब सिद्ध होती हैं । इसलिये सबको आत्मज्ञानी मुनि की सेवा करनी चाहिये ।

इस श्रुति के "विशुद्धसत्व" और "अर्चयेत्" पद विचारणीय हैं । अन्य आश्रमों के धर्मों का पालन करते हुए मनुष्य को कभी न कभी राजस तथा तामस भावों को भी काम में लाना पड़ता है । चाहे यह राजस तामस भाव कितने ही नियंत्रित क्यों न रक्खे जाएं, फिर भी ऐसी स्थिति में कोई मनुष्य विशुद्धसत्व नहीं कहला सकता । हां, आत्मज्ञानी होकर शुद्ध सत्व हो सकता है । कारण, अन्य आश्रमों में मनुष्य कई प्रकार के उत्तरदायित्व भार से दबा रहता है । परन्तु चतुर्थाश्रमी महात्मा पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व होता नहीं, अतः उसे राजस तामस भावों को काम में लाने की आवश्यकता होती नहीं । क्यों कि ब्रह्मज्ञानी मुनि की दृष्टि में तो जगत कोई वस्तु ही नहीं-सब कुछ ब्रह्म ही है, वह विशुद्धसत्व हो सकता है । वि उपसर्ग का भाव यही है ।

इसी प्रकार "अर्चना" शब्द का प्रयोग देव सम्बन्धी कृत्यो में ही होता है किसी मनुष्य के सत्कार आदि कार्यों में नहीं । क्योंकि सब लोगों को अपने अपने वर्णाश्रम धर्म का विचार रख कर ही परस्पर एक दूसरे के साथ व्यवहार करना

पड़ता है। चतुर्थाश्रमभिन्न आश्रम के आत्मज्ञानी के लिये भी अर्चना शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। परन्तु चतुर्थाश्रमी का आदर सत्कार तथा सेवा आदि करते हुए अन्य तीनों आश्रमों के किसी भी आश्रमी को अपने वर्णाश्रम के नियम भङ्ग करने की आशंका नहीं हो सकती। अतः वह सार्वजनिक तथा व्यापक भाव को लेकर चतुर्थाश्रमी मुनि की अर्चना कर सकता है। अतः मुनिके सत्कार की क्रिया में ही अर्चना शब्द का प्रयोग हो सकता है। बृहदारण्यक में तो स्पष्ट लिखा है कि—

"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"

( ४, ४, २२ )

इसी ब्रह्मस्वरूपलोक को इच्छा करके, शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न महात्मा लोग प्रव्रज्या ग्रहण करें। इस से बढ़कर श्रुति में चतुर्थाश्रम का विधान क्या होना चाहिये ? इस श्रुति में 'प्रव्रजन्ति' यह छान्दस लेट् लकार का रूप है, इसका लोट् लिंग के समान ही विधि अर्थ है।

आगे चलकर चतुर्थाश्रमी महात्माओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"एतद्ध स्म" वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयंलोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति।" (बृह० ४, ४, २२)

इसी लिये प्राचीन महात्मा लोग धन, पुत्र तथा मान बड़ाई की इच्छा नहीं करते थे। कारण, यह सब पदार्थ नाश होने वाले हैं और नही इनसे पूर्ण सुखकी प्राप्ति हो सकती है। उन तत्वदर्शी महात्माओं का निश्चय होता है कि विष मिले मोदक के समान ही इन पदार्थों से हमें कोई प्रयोजन नहीं, हम लोगों का प्राप्य फल तो आत्मस्वरूप ब्रह्म ही है। इसी वास्ते वे लोग सब कुछ छोड़कर चतुर्थाश्रम में प्रवेश करते हैं और उस आश्रम के प्रधान धर्म भिक्षाचरण मात्र से जीवन निर्वाह करते हुए सदा ब्रह्म में लीन रहते हैं।

इसी प्रकार वेद में और भी चतुर्थाश्रमी महात्मा के गुण वर्णन किये गये हैं। जैसे—

अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपाभि (व) चाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥

( ऋ० मं० १० अ० सू० १३६ मं० ४ )

अन्तरिक्षेण = अन्तरिक्षं–आकाशं, तद्वत् व्यापकेन ब्रह्मात्मना, पतति = गच्छति प्राप्नोति। मुनिः = चतुर्थाश्रमी "मुनिरिति चतुर्थाश्रमिणः संज्ञा"–अनिकेतः स्यादशर्माऽशरणो मुनिः" ( प्र० २ प० ९ खं० २१ सू० १० ) इति आपस्तम्बसूत्रे तथैव दृष्टत्वात्, ब्रह्मस्वरूपो भवतीति भावः। पतिरत्र प्राप्त्यर्थः। किं कुर्वन् विश्वानि = सर्वाणि रूपा = रूपाणि रूप्यमाणानि, अवलोक्यमानानि समस्तपदार्थस्वरूपाणि, अभेदभावनया

ब्रह्मस्वरूपेणाभि चाकशत् = अभिपश्यन् भावयन् इति यावत्। ज्ञानरूपादीप्तिरत्र धात्वर्थः। पुनः कीदृशः? देवस्य देवस्य = सर्वस्य विष्ण्वादेर्देवस्य तादात्म्यभावेन। सखा = तादात्म्यरूपसुष्ठुकर्मणा सख्यवान्। पुनः कीदृशः? सौकृत्यायहितः = सुकृतमेव सौकृत्यं। स्वार्थेष्यञ। शोभन कार्यम्। तथा च मोक्षसाधनस्वरूपपर वैराग्यादिरूपकार्याय हितः = समाहितः। मुनिः = चतुर्थाश्रमस्थितः।

अर्थात् चतुर्थाश्रम स्थित, आकाश सदृश ब्रह्म रूप को प्राप्त उदासीन महात्मा सम्पूर्ण संसार को ब्रह्मरूप देखता है। एवम् देवताओं में तादात्म्यबुद्धि रखने के कारण सब देवताओं का सखा और मोक्ष के साधन—त्याग वैराग्य आदि कार्यों में समाहितचित्त है। पूर्वमंत्र की व्याख्या में उद्धृत किये गये सूत्रद्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि मुनि नाम चतुर्थाश्रमी का ही है। यहां भी मुनि के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है वह चतुर्थाश्रमी का ही हो सकता है। इस प्रकार वेद से चतुर्थाश्रमी का स्वरूप भी सिद्ध होता है। यदि चतुर्थाश्रम श्रुति द्वारा प्रमाणित न होता तो वेद में उसके स्वरूप का वर्णन कभी हो नहीं सकता था। ऋग्वेद में तो चतुर्थाश्रम को सिद्ध करने वाले अनेक मंत्र मिलते हैं यथा—

" वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांऽसत्रं सोम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शाश्वतीना मिन्द्रो मुनीनां सखा। "

( ऋ० मं० ८ सू० १७ मं० १४ )

हे वास्तोष्पते = हे गृहपते—गृहाभिमानिदेवस्वरूप! स्थूणा = गृहसाधनं कृषि पश्वादिकं, ध्रुवा = दृढं निरुपद्रवं भवतु। कृषिपशुधान्यादिभिः समृद्धा हि गृहस्था इतरां स्त्रीन् ब्रह्मचारिप्रभृतीनाश्रमिणः पालयितुं प्रभवन्ति। तथा सोम्यानां = ब्रह्मचर्य्यरूपतेजसासर्वजनप्रियाणाम्, अंसत्रम् = अंसोपलक्षितसमस्तशरीरस्य त्रायकं रक्षकं शौर्यादि बलं भवतु। तथा द्रप्सः = दयार्द्रचित्तः परमात्मा शाश्वतीनां पुरां भेत्ता बह्वीनां पुरां नगरीणां बह्वीभ्यो नगरीभ्यो भेत्ता पृथक्कर्त्ता। वानप्रस्थाश्रमे श्रद्धामुत्पाद्य तदुचितनियमपरिपालनाय सर्वेभ्यो ग्रामेभ्यो बहिः प्रस्थापकः। तथा इन्द्रः = परमैश्वर्यवान् परमेश्वरो मुनीनां सेवित ब्रह्मचर्य्यादीनां गृहीतप्रव्रज्यानां शुद्धान्तःकरणानां काषायवाससां सखा = प्रियमित्रं भवतु।

अर्थात् हे गृहाभिमानी देव स्वरूप परमात्मन्। गृहस्थाश्रम के साधन पशु कृषि व्यापार आदि निरुपद्रव एवं दृढ़ हों। जिससे गृहस्थ सब प्रकार से समर्थ हो ब्रह्मचारी आदि अन्य तीनों आश्रमियों का भलीप्रकार पोषण कर सकें। ब्रह्मचर्य रूप तेजसे सर्व प्रियव्रतियों के शरीर का रक्षक शौर्यादि रूप बल हो। वानप्रस्थियों का नगर आदि से बाहर व्यवस्थापक। दयालु इन्द्र, परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर मुनियों अर्थात् चतुर्थाश्रमस्थित उदासीन महात्माओं का प्रिय मित्र हो।

इस मंत्र में भी जहाँ मुनि शब्द से चतुर्थाश्रमियों का वर्णन मिलता है वहाँ अन्य तीन आश्रमों का भी उल्लेख पाया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि वेद में इतने प्रमाण होने पर भी कुछ लोगों की धारणा है कि वेद में चतुर्थाश्रम को सिद्ध करनेवाले प्रमाण नहीं मिलते।

# वेदमें मुनि का दृष्टान्त

## " शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः "

( ऋ० मं० ७ सू० ५६ मंत्र ८ )

हे मरुतः ! वः युष्माकं, शुष्मः = वलं, शुभ्रः सर्वतः शोभमानम्, किञ्च वः मनांसि क्रुध्मी = संग्रामेषु शत्रुहननार्थं क्रोधनशीलानि । धृष्णोः = धर्षणशीलस्य, शर्धस्य = वलवतो भवदीयस्य गणस्य, धुनिः = वृक्षादीनां कम्पनहेतुर्वेगो मुनिरिव भवतु । यथाहि चतुर्थाश्रमी मुनिः सर्वासु दिक्षु प्रतिवन्धाभावेन विचरति तथा भवदीय गणवेगोऽपि सर्वासु दिक्षु प्रतिवन्धरहितः सम्प्रसरतु ।

हे वायुदेवताओ ! आप का वल सव प्रकार से सराहनीय है आप के मन युद्ध क्षेत्रों में शत्रुओं का नाश करने के लिये क्रोधशाल हैं। दूसरों का दमन करने में आपके गण का वेग मुनि महात्मा जैसा हो। अर्थात् जैसे उदासीनमुनि की गति सव दिशाओं में अप्रतिहत है वैसे ही सव दिशाओं में वृक्षादि को कम्पाने वाले आप के गण का वेग अप्रतिहत हो ।

इस मंत्र में चतुर्थाश्रमी मुनि का उल्लेख दृष्टान्त रूप में आया है। इस से वढ़ कर वेद में चतुर्थाश्रम के लिये क्या प्रमाण हो सकता है? ऊपर दिये मंत्रों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रम वेदविहित है अर्थात् वेद में इस का विधान कई जगह मिलता है ।

अव रही यह शंका कि यदि चतुर्थाश्रम भी अन्य आश्रमों के समान ही वेद विहित है तो "त्रयो धर्मस्कन्धाः" श्रुति में केवल तीन आश्रमों का ही क्यों विधान किया गया है? उत्तर में सर्व प्रथम यही वात विचारणीय है कि इस श्रुति में भी अन्य तीन आश्रमों की सत्ता ही वर्णन की गई है चतुर्थाश्रम का खण्डन नहीं। यदि "त्रयो धर्म स्कन्धाः" श्रुति में तीन आश्रमों का ही उल्लेख है तो इस से अगले ही वाक्य "ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० अ० २, २३, २) में चतुर्थाश्रम का भी स्पष्ट उल्लेख है। यदि "त्रयो धर्म स्कन्धाः" का यही अर्थ किया जायगा कि आश्रम केवल तीन ही हैं अर्थात् तीन आश्रमों से भिन्न अन्य कोई आश्रम है ही नहीं तो इस के अगले वाक्य का भाव यह समझना पड़ेगा कि आश्रम केवल ब्रह्मसंस्था अर्थात् वह एक ही है जिसको चतुर्थाश्रम कहा जाता है। फिर श्रुति के इस परस्पर विरोध को कैसे मिटाया जा सकेगा? यदि कहा जाय कि "ब्रह्मसँस्थोऽमृतत्वमेति" में तो चतुर्थाश्रम का केवल उल्लेख मात्र है, विधान नहीं, तो "त्रयोधर्म स्कन्धाः" में भी तीन आश्रमों का केवल उल्लेख ही है, विधान कहाँ हैं?। उत्तर यही होगा कि उन तीन आश्रमों का विधान अन्य वाक्यों में मिलता है। तव क्या चतुर्थाश्रम का विधान अन्य वाक्यों में कम पाया जाता है? जिन लोगों को चतुर्थाश्रम के श्रुतिस्मृति—विहित होने में सन्देह हो वे हमारे उद्धृत किये प्रमाणों को एक वार पुनः पढ जाएं; फिर उन्हें कोई सन्देह रह न जायगा। हाँ यह शंका अवश्य हो सकती है कि जव चतुर्थ उदासीनआश्रम भी श्रुतिविहित है और आश्रम चार

ही हैं तो इस श्रुति में चतुर्थाश्रम का उल्लेख पृथक् क्यों किया गया है? कारण यह है कि अन्य तीन आश्रमों और चतुर्थाश्रम के कर्तव्याकर्तव्य में बड़ा अन्तर है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" वाक्य में कहे गये तीन आश्रम "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" ऐहिक और स्वर्गादि पारलौकिक सुखों के साधन हैं परन्तु चतुर्थाश्रम मोक्ष का साधन है। चतुर्थाश्रमी को ऐहिक सुखों तथा स्वर्गादि लोकों की कामना नहीं होती। इसलिये श्रुति में चतुर्थाश्रमका अन्य आश्रमों से पृथक् वर्णन किया गया है। अनेक प्रमाणों द्वारा हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि अन्य आश्रमों को कर्तव्याकर्तव्य का बन्धन अवश्य होता है परन्तु चतुर्थाश्रमी लोकोपकारार्थ जगत व्यवहारको करता हुआ भी स्वतंत्र, निर्लेप और उदासीन रहता है। अन्य आश्रमियों को जगत के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध रखना पड़ता है पर चतुर्थाश्रमी पूर्ण विरक्त होता है। अन्य आश्रमों में ज्ञानी को भी, कभी न कभी, राजस तामस भावों को प्रयोग में लाना पड़ता है पर चतुर्थाश्रमी के भाव विशुद्ध सात्विक होते हैं। अन्य आश्रमों में देवोपासना और अग्निहोत्रादिविषयक कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है परन्तु चतुर्थाश्रम में कोई बन्धन नहीं। जैसे ब्रह्मचारी के कर्तव्य के विषय में प्रमाण मिलते हैं—

"अग्नि होत्र मतिथयः" (आपस्तम्ब १, ४, १४, १)

"*अग्नीन्धन भैक्षचरणे" (गौतम सू० प्र० १ अ० २ सू० १२)

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥
अकृत्वा भैक्ष्यचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतंचरेत्॥

(मनु अ० २ श्लोक-१८७)

इन आपस्तम्ब, गौतम, तथा मनु भगवान् के वाक्यों से ब्रह्मचारी के लिये हवन का विधान किया गया है। इसी प्रकार वानप्रस्थी का कर्तव्य कहा गया है

"श्रावणकेनाग्निमाधाय" (गौतम सू० प्र० १ अ० ३ सू० २६)

"देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः" (गौतम सू० प्र० १ अ० ३ सू० २८)

"श्रामणकेनाग्निमाधायाहिताग्निः स्यात्"

(वाशिष्ठ धर्मसूत्र अ० ९ सू० १०)

आफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि।
भृत्याँश्च तर्पयेच्छ्मश्रुजटालोमभृदात्मवान्॥

(याज्ञवल्क्य)

* अग्निन्धनम्=होमः।

वैतानिकञ्च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
पुरोडाशं चरुञ्चैव निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ( मनु ६ ९)

इन गौतम, वाशिष्ठ, याज्ञवल्क्य और मनु आदि के प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि वानप्रस्थाश्रमी को भी अग्निहोत्रादि का अधिकार है । गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों का तो कोई अन्त ही नहीं। इन तीनों आश्रमों में वैराग्यवान् ब्रह्मचर्य्य तथा वानप्रस्थ ही है, उन्हें भी अग्निहोत्रादि का अधिकार है । यही नहीं उन्हें शिखासूत्र भी धारण करना पड़ता है । शिखासूत्रधारी के शास्त्रों में जो कर्तव्य हैं उनका उन्हें पालन करना ही पड़ता है । परन्तु चतुर्थाश्रमी का ऐसा कोई कर्तव्य नहीं है । वह—

"अनग्निरनिकेतः स्याद् अशर्माऽशरणो मुनिः"
( आपस्तम्ब २, ९, २१, १० )

चतुर्थाश्रमसेवी उदासीन महात्मा तो अग्निहोत्रादि कर्मों से मुक्त, निश्चित स्थान से रहित, विषयवासनातीत और स्वतंत्र है और—

"सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुञ्च
परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्" ( आपस्तम्ब )

सत्य असत्य, सुख दुख, लोक परलोका आदि का त्याग कर केवल आत्मा का अन्वेषण करते हैं। एवम्—

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः"

संसार की असारता को देखकर सार का अन्वेषण करते और अविवाहित रहकर केवल वैराग्य का सहारा लेते हैं । इन प्रमाणों से सिद्ध है कि चतुर्थाश्रम के अधिकारी विरक्त महात्मा ही हो सकते हैं । वैराग्य के अभाव में कोई प्रमादी मनुष्य चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट होगा भी तो उभयभ्रष्ट होकर वास्तविक लक्ष्य से बहुत दूर चला जायगा ।

चतुर्थाश्रम तथा अन्य तीन आश्रमों में यह अन्तर होने के कारण ही श्रुति में इनका पृथक् पृथक् उल्लेख हुआ है। दूसरे, चतुर्थाश्रमभिन्न तीन आश्रमों को धर्मस्कन्ध कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म के यज्ञ, दान, तप, कर्म, उपासना, देव पितृपूजा आदि अंगों का सम्बन्ध अधिकतर इन तीन आश्रमों के साथ ही है। चतुर्थाश्रमी मुमुक्षु महात्मा तो इनके साथ कोई सम्पर्क नहीं रखता । वह लोकोपकारार्थ और निष्काम भाव से इन कर्मों को करता भी है तो उसको इनका कोई बन्धन

नहीं होता। मुमुक्षु की इसी स्वतंत्रता को भगवान् कृष्ण ने भी निम्न श्लोक में प्रकट किया है—

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥

कहने का तात्पर्य यह कि "त्रयो धर्मस्कन्धाः" में वही धर्म अभिप्रेत है जो अर्थ, काम, ऐहिक सुखभोग तथा स्वर्ग आदि लोकों का साधन है। अमृतत्व रूप मोक्ष का साधन ब्रह्मसंस्थ-चतुर्थाश्रमियों का धर्म आत्मज्ञान है अतः उसकी ओर संकेत करने के अभिप्राय से श्रुति भगवती ने "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" को "त्रयो धर्मस्कन्धाः" से अलग लिखा है।

फिर भी चतुर्थाश्रमी का जो कर्तव्य हो सकता है उसका तो श्रुति में विधान किया ही गया है। यथा—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

( बृहदारण्यक )

"मनसा ज्ञातुमधीयानः" ( वाशिष्ठ धर्मसूत्र अ० १० सू० १४ )

"तद्विद्धि प्रणिपातेन"

इन वचनों में आत्मज्ञानधर्म का विधान तो मिलता ही है, फिर इसके अतिरिक्त चतुर्थाश्रमी का कर्तव्य ही क्या हो सकता है।

हाँ, एक बात और भी है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" में तीन आश्रमों की बड़ाई करने का एक प्रयोजन यह भी है कि जो आत्माराम वैराग्यवान् महात्मा चतुर्थाश्रम को ग्रहण करेंगे वे तो मोक्ष के अधिकारी होंगे ही, पर जो किसी निर्बलता अथवा अन्य कारणवश पूर्णत्यागी और वैराग्यवान् नहीं हो सकते वे दुवधा में ही न पड़े रह जाएं—अपने अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करने की निष्ठा उनमें भी बनी रहे। यदि त्याग वैराग्य न होने पर भी अपने वर्णाश्रमधर्म को छोड़कर चतुर्थाश्रम प्रवेश करेंगे तो न केवल "परधर्मो भयावहः" के अनुसार स्वयं भ्रष्ट होकर घरघाट से जायंगे, निष्कलंक चतुर्थाश्रम को भी कलंकित करेंगे। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" द्वारा श्रुति भगवती ने उन्हें भी वर्णाश्रमधर्मपालन की प्रेरणा की है और बतलाया है कि यदि वे चतुर्थाश्रमग्रहण करने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सके तो उन्हें निराश न होना चाहिये, अपने अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए भी वे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख के अधिकारी हो सकते हैं। ऐसे ही निर्बल त्यागवैराग्यवाले लोगों के लिये श्रुति ने बारबार आजीवन वर्णाश्रमधर्म का पालन करते रहने की ताकीद की है। जैसे "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" प्रजा सर्जनक्रम को बन्द न होने दो। अर्थात् पूर्णवैराग्यवान् नहीं बन सकते तो पितृ ऋण से उऋण होने का यत्न करो। क्यों कि "तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति (गौतम स्मृति) सन्तानोत्पत्ति पवित्र कार्य है। "एकाश्रम्यन्त्वाचार्य्याः" आचार्य्य लोग ( अन्य आश्रमों का पालक होने के कारण ) एक गृहस्थ को ही स्वीकार करते हैं। इसी

वास्ते "प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य" वेद में भी गृहस्थ का ही अधिक विधान है। ऐसे लोगों के लिये ही श्रुति भगवती "यावज्जीवमग्निहोत्रंजुहोति" जीवनभर अग्निहोत्र धर्म का पालन करने की आज्ञा देती है। यहां तक लिखा है कि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।" (श्रुति) अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ ही मनुष्य सौवर्ष तक जीने की इच्छा करे। एवम्, "एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्माद्विमुच्यते" (श्रुति) और "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" कर्मकाण्डी के शव को यज्ञपात्रों के साथ जलाया जाए।

कारण यह कि ऐहलौकिक और स्वर्ग आदि के सुख वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने से भी प्राप्त हो सकते हैं। जैसे—

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" और

"अक्षय्यं हवै चातुर्मास्य याजितः सुकृतं भवति" (श्रुति)

में अग्नि होत्रादिका फल अक्षय (चिरस्थायी) सुख बताया गया है और गृहस्थ भी अपने धर्मों का पालन करता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति और ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, ऐसा वर्णन किया गया है। जैसे—

न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ (पाराशर स्मृति)

उदाहरणार्थ-"कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः" (गीता)

अर्थात् जनक आदि जीवन्मुक्त महापुरुषों ने कर्मद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है। वर्णाश्रमधर्मों का पालन कर के मनुष्य उन्नति कर सकता है और अन्त में वैराग्यवान् होकर मोक्ष के साधन प्रव्रज्या का भी अधिकारी हो जाता है।

पाराशर स्मृति के उक्त श्लोक में "गृहस्थोऽपि विमुच्यते" पाठ से ही सिद्ध है कि मोक्ष का अधिकारी तो केवल चतुर्थाश्रमी ही है पर गृहस्थ भी अपने वर्णाश्रम धर्मों का पालन करता हुआ उन्नति कर सकता है और वैराग्य होने पर मोक्ष के साधन चतुर्थाश्रम का अधिकारी हो सकता है। इस पाद के 'अपि' शब्द का तात्पर्य यही है। यदि पाराशर जी के मत में गृहस्थाश्रम ही मोक्ष का स्वतंत्र साधन होता तो इस श्लोक में अपि शब्द लिखने की कोई आवश्यकता नथी। यह अपि शब्द स्पष्ट कह रहा है कि मोक्ष का साधन तो चतुर्थाश्रम ही है पर गृहस्थ भी अपने धर्मों का पालन कर उस ओर आगे बढ सकता है। जैसे कोई कहे कि 'हरिदत्त' तो टिकिट लेकर हरिद्वार चलाही गया है पर यदि सोमदत्त परिश्रम कर के धन कमाए तो वह भी जा सकता है। केवल धन कमाने से तो हरिद्वार समीप नही आ जाता। इसका अर्थ यही हो सकता है कि सोमदत्त भी परिश्रम कर के धन कमा लेगा तो टिकट लेकर वह भी हरिद्वार

जा सकता है। पाराशर स्मृति का भाव भी ठीक यही है कि चतुर्थाश्रमी तो मोक्ष का अधिकारी है ही; यदि गृहस्थाश्रमी शुद्ध मन से अपने धर्मों का पालन करे— योग्यता न होने पर भी चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने की अनधिकार चेष्टा न करे— तो उत्तरोत्तर उन्नति करने पर उसे भी वैराग्य हो जायगा और फिर वह भी मोक्ष के साधन चतुर्थाश्रम का अधिकारी बन जायगा।

फिर भी मोक्ष तो वैराग्य होने पर ही होता है। क्यों कि—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्व मानशुः" मोक्ष न कर्मों का अनुष्ठान करने से न धन संग्रह से और नही सन्तानोत्पत्ति से प्राप्त हो सकता है वह तो केवल त्याग से ही मिलता है।

कहने का प्रयोजन यह कि ऊपर लिखित गृहस्थाश्रम के स्तावक वाक्य भी चतुर्थाश्रम का निषेध नहीं करते; प्रत्युत् जहाँ चतुर्थाश्रम-अधिकार रहित लोगों को अपने अपने वर्णाश्रम्‌धर्म का पालन करने के लिये उत्साहित करते हैं वहाँ यह भी सिद्ध करते हैं कि चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने का केवल वैराग्यवान् को ही अधिकार है।

इसी वास्ते जो लोग पूर्ण वैराग्यवान् न होने के कारण चतुर्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकते उन्हें अग्निहोत्र आदि धर्मों का पालन करते रहने की बडी ताकीद की गई है। यहाँ तक कि—

"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" (तै० सं० १, ५, २)

देव सम्बन्धी अग्नियों को बन्द करनेवाला वीरहत्या का भागी कहा गया है और "ना पुत्रस्य लोकोऽस्ति" (ए० ब्रा० ७, १३, १२) द्वारा कर्म के आधार भूत गृहस्थाश्रम के त्याग की निन्दा की गई है।

यहाँ तक यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि श्रुति स्मृति आदि धर्म शास्त्रों में चतुर्थाश्रम का विधान करनेवाले प्रमाणों की कमी नहीं और यदि किसी स्थान पर गृहस्थादि अन्य आश्रमों की स्तुति की गई है तो उसका अर्थ चतुर्थाश्रम का निषेध नहीं प्रत्युत् चतुर्थाश्रम के अनधिकारी लोगों को अपने धर्मों का पालन करने की प्रेरणा मात्र है।

यदि "यावज्जीवमग्निहोत्रंजुहोति" का अर्थ यही लिया जाए कि "श्रुति मनुष्यमात्र को जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करते रहने की ही आज्ञा देती है और चतुर्थाश्रमी अनाहिताग्नि होता है अतः इस आज्ञा के रहते कोई मनुष्य चतुर्थाश्रम ग्रहण कर ही नहीं सकता तथा अग्न्याधान न करने के कारण मनुष्य को प्रायश्चित का भागी होना पड़ेगा।" तो ऐसा समझना युक्ति तथा श्रुति के आशय के सर्वथा विरुद्ध होगा। कारण, श्रुति का यह नियम और ऐसे ही "जीवनभर गार्हस्थ्यधर्म का पालन करे" आदि वाक्यों में कहे गये नियम, कल के पैदा हुए शिशु पर भी लागू होंगे। परन्तु श्रुति से ऐसा अन्याय होना असम्भव है। बालअवस्था में शिशु न कर्म करने योग्य बुद्धि रखता है न बल। ऐसी दशा में वह श्रुति की "यावज्जीवमग्नि होत्रं जुहोति" "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि"

आदि आज्ञाओं का पालन कैसे कर सकता है? उसके लिये तो श्रुति की आज्ञा व्यर्थ ही सिद्ध होगी। इस दोष को दूर करने के लिये, जिस प्रकार इस आज्ञा को कर्मानुष्ठानयोग्य-सामर्थ्ययुक्त पुरुष के लिये ही स्वीकार किया गया है वैसे ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वर्ग आदि सुखों की कामना न करने वाले विरक्त चतुर्थाश्रमी महात्मा के लिये भी यह आज्ञा नहीं है। कहने का प्रयोजन यह कि इस प्रकार के श्रुतिस्मृतिवाक्यों से चतुर्थाश्रम का निषेध नहीं होता। इसी अभिप्राय को महर्षि वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"जायमान इति गुणशब्दः, विपर्यये ऽनधिकारात्, "जायमानो ह वै ब्राह्मणः," (तैत्ति० सं० ६, ३, १०, ५) इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्यमानो, जायमान इति यदायं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते, मातृतो जायमानस्यानधिकारात्, = यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते, अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्, अर्थिनः कर्मभिरधिकारः। कर्म=विधौ कामसंयोग इति स्मृतेः। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः" इत्येवमादि। शक्तस्य प्रवृत्तिसम्भवात्, शक्तः खलु विहिते कर्मणि प्रवर्तते नेतर इति। "उभयाभावस्तु प्रधानशब्दार्थे"—। मातृतो जायमाने कुमारे उभयम् = अर्थिता शक्तिश्च न भवतीति। न भिद्यते लौकिकाद्वाक्याद्वैदिकं वाक्यम्, प्रेक्षा पूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारमेवं ब्रूयात्—अधीष्व, यजस्व, ब्रह्मचर्य्यं चरेति, कुत एव ऋषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति, न खलु वैनर्तकोऽन्धेषु प्रवर्तते, न गायनो बधिरेष्विति।
(न्या० अ० ४ आ० १ सूत्र ६०)

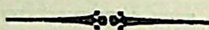
आगे चल कर आप स्पष्ट ही कहते हैं—न संन्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रमः, इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽश्रवणादयुक्तमेतदिति।"

इस भाष्य से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी मंत्र अथवा ब्राह्मण वाक्य में चतुर्थ औदासीन्य आश्रम का निषेध नहीं किया गया।

होता, उद्गाता और अध्वर्यु गृहस्थाश्रमी ही होता है। इसी वास्ते कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ करता है कि वेद में अधिक महत्त्व गृहस्थाश्रम को ही दिया गया है। नहीं तो हम श्रुति के अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं कि वेदत्रयी में केवल एक गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का ही वर्णन नहीं किन्तु ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थाश्रम के कर्तव्यों का भी कई जगह उल्लेख मिलता है। जब ब्रह्मचारी के लिये अग्निहोत्र "अग्निहोत्रमतिथयः" का विधान पाया जाता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उसको हवन करने की विधि का ज्ञान वेद से ही हो सकता है। कारण, द्विजाति के लिये वेदमंत्रों के साथ ही हवन करने का विधान है। बिना वेदमंत्र पढ़े हवन नहीं किया जाता। इस से सिद्ध है कि वेद में ब्रह्मचारी के कर्तव्य का वर्णन है। इसी तरह वानप्रस्थी के "श्रावणकेनाग्निमाधाय" "देवपितृमनुष्य भूतर्षिपूजकः" अग्निहोत्र आदि कर्तव्यों का भी विधान है। उसके कर्तव्यों में "पुरोडाशं चरुश्चैव निर्वपेद्विधिपूर्वकम्" चरु, पुरोडाश, निर्वाप आदि कृत्य और अग्निहोत्र बिना वेद मंत्र पढ़े सम्पन्न नहीं हो सकते। विधि के अङ्गोपाङ्गों का मुख्य साधन तो वेद ही है; फिर इस बात से इन्कार कैसे किया जा सकता है कि

वानप्रस्थाश्रमी के कर्तव्यों का भी वेद में विधान है। हां, चतुर्थाश्रमी को कर्माकर्म और कर्तव्याकर्तव्य का कोई वन्धन होता नहीं, वह जगतवन्धनों से सर्वथा स्वतंत्र है अतः उसका कर्तव्य नहीं किन्तु स्वरूप और स्तुति का ही वेद में वर्णन पाया जाता है। "यः स्तूयते स विधीयते" का सिद्धान्त तो माना ही हुआ है। इस लिये मानना पड़ेगा कि चतुर्थाश्रम भी अन्य आश्रमों के समान ही वेदविहित है।

कुछ लोग वेद के पूर्वभाग और उत्तरभाग का अड़ङ्गा लगाया करते हैं। प्रथम तो ऊपर दिये गये प्रमाणों को पढ़ कर किसी को यह शङ्का रहनी न चाहिये कि चतुर्थाश्रम का विधान श्रुति के उत्तरभाग में ही मिलता है: पूर्वभाग में नहीं। दूसरे, वैसे भी यह शङ्का थोथी सी है। वेद में कहीं भी किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया हो; वह वेदविहित ही समझा जाता है, पूर्व उत्तर भाग का विचार करना अनुचित है। यदि इस शङ्का को कोई महत्व दिया भी जा सकता है तो वेद के उत्तरभाग में गृहस्थाश्रम के कर्तव्य का कहीं विधान नहीं है। तव क्या गृहस्थाश्रम को वेदवाह्य समझा जाए? पर हमारा कहना तो यह है कि जव मूल वेद में ही चारों आश्रमों के विषय में प्रमाण मिलते हैं तो इस प्रश्न का मूल्य ही क्या है कि किसी आश्रम का विस्तारसहित प्रतिपादन क्यों नहीं किया गया? जिसका जितना वर्णन करने की आवश्यकता थी उतना ही किया गया। न्यूनाधिक वर्णन से कोई सिद्धान्त वेदवाह्य अथवा वेदविहित कैसे माना जा सकता है?



## (२ तरङ्ग)

## चतुर्थाश्रमग्रहणकाल

ऊपर लिखित श्रुतिस्मृतिप्रमाणों को देखने के वाद इस में तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि चतुर्थाश्रम भी अन्य आश्रमों के समान ही वेदविहित है, अन्य आश्रमों के धर्म ऐहलौकिक तथा स्वर्गादिपारलौकिक सुखों के साधन हैं और चतुर्थाश्रम मोक्ष का साधन है। परन्तु वह चतुर्थाश्रम कव ग्रहण करना चाहिये? इस विषय में बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है। इस लिये इस विषय का विवेचन विस्तारसहित करना ही उचित होगा।

कुछ लोगों का विचार है कि यदि चतुर्थाश्रम ग्रहण करना आवश्यक ही है, तो वह विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ धर्मों का पालन करने के वाद ही ग्रहण किया जाना चाहिये; उससे पहले नहीं। अपने इस विचार की पुष्टि में वे लोग अनेक प्रमाण भी पेश किया करते हैं। जैसे—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥

(मनु० अ० ६ श्लो० ३५, ३६, ३७)

इत्यादि मनुवाक्यों से सिद्ध किया जाता है कि विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के धर्मों का पालन करने और ऋणत्रय से उऋण होजाने के बाद ही मनुष्य चतुर्थ उदासीन आश्रम को ग्रहण कर सकता है, पहले नहीं। इसी प्रकार श्रुति का भी प्रमाण दिया जाता है कि—

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः।"

(तैत्ति० सं० ६, ३, १०, ५)

इस श्रुति में ब्राह्मण के तीनों ऋणों का वर्णन किया गया है। इन तीनों ऋणों से निर्मुक्त होने के लिये "ऋषीणामनृणः स्याम" इस प्रकार संकल्प कर के नियम पूर्वक वेदाध्ययन आदि ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया जाता है। "पितृणामनृणः स्याम" ऐसा संकल्प करते हुए पितृऋण से मुक्त होने के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है और विवाह कर के सन्तानोत्पत्ति की जाती है। इसी प्रकार, देवऋण से उऋण होने के लिये "देवानामनृणः स्याम" ऐसा संकल्प कर गृहस्थ में रहते हुए दर्श पौर्णमास आदि यज्ञ देवताओं के निमित्त किये जाते हैं—

"अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोकेऽनृणाः स्याम,
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथोअनृणा आक्षियेम।"

(अ० वे० ६, ११७, ३)

इस मंत्र में ऋणत्रय से मुक्त पुरुष के लिये ही देवयान तथा पितृयानद्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कही गई है। "सर्वान् लोकाननृणोऽनुचरति" इस ब्राह्मणवाक्य में भी यही कहा गया है कि ऋणत्रय से निर्मुक्त मनुष्य स्वर्गादिपवित्रलोकों में विचरण करता है। ऐसे वाक्यों का प्रायः यही भाव समझा जाता है कि तीनों ऋणों से मुक्त होने के बाद ही मनुष्य चतुर्थाश्रम का अधिकारी हो सकता है, पहले नहीं। क्यों कि जो मनुष्य इन तीनों ऋणों से मुक्त नहीं हुआ, मोक्ष तो दूर रहा, वह स्वर्ग आदि लोकों का भी अधिकारी नहीं होता। ऐसे ही और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। जैसे—

ब्राह्मणस्यर्णसंयोगस्त्रिभिर्भवति जन्मतः ।
तान्मुच्यात्मवान् भवति विमुक्तो धर्मसंशयात् ॥

स्वाध्यायेन ऋषीन्पूज्य सोमेन च पुरन्दरम् ।
प्रजया च पितॄन्पूर्वान् अनृणो दिवि मोदते ॥
पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणामृतमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाधिरोहति ॥

( बौधायन प्र० २ अ० ९ सू० ४, ५, ६ )

" सत्पुत्रमुत्पाद्यात्मानं तारयति "

सप्तावरान्सप्तपूर्वान् षडन्यानात्मसप्तमान् ।
सत्पुत्रमधिगच्छानः तारयत्येनसो भयात् ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

इत्यादि वाक्य पितृऋण से मुक्ति पाने का ही विशेष फल कहते हैं इसी आधार पर कुछ लोगों का यह विचार हो रहा है कि तीनों ऋणों की निवृत्ति परम आवश्यक है। यतः इन की निवृत्ति ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थधर्मों का पालन करने से ही हो सकती है; इसलिये इन वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थधर्म का विधिपूर्वक पालन किये विना मनुष्य चतुर्थाश्रम को ग्रहण नहीं कर सकता। क्यों कि महर्षि वात्स्यायन ने भी अपने न्याय भाष्य में लिखा है—

ऋणानुबन्धादपवर्गानुकूलानुष्ठानकालो नास्ति, इत्यपवर्गाभावः ।

( अ० ४ अ० १ सू० ५९ )

तीनों ऋणों की रुकावट के कारण मोक्षोपयोगी साधनानुष्ठान का काल ही नहीं है; इसलिये तीनों ऋणों से उऋण हुए विना मोक्ष हो नहीं सकता। फिर तो न चतुर्थाश्रम ग्रहण करने का कोई लाभ हो सकता है और नही मनुष्य उसका अधिकारी हो सकता है।

परन्तु ऐसा विचार रखनेवाले लोगों को सर्व प्रथम यही देखना चाहिये कि जीव का लक्ष्य है क्या? यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जगत के सर्वभाव में सूक्ष्म अथवा स्थूल परिवर्तन होता ही रहता है। कोई पदार्थ अपने नियत स्वरूप में कभी स्थिर नहीं रहता। कारण यही है कि सब मायिक भाव परिच्छिन्न तथा अपूर्ण हैं। जिस भाव में दूसरों की अपेक्षा जितनी परिच्छिन्नता एवम् अपूर्णता की कमी है वह उतना ही कम परिवर्तनशील देखा जाता है। जितने अंशों तक किसी पदार्थ की परिच्छिन्नता बढती जाती है उतने अंशों तक ही उस पदार्थ के स्थिति-सातत्य में भी परिवर्तन होता रहता है। सापेक्ष, अपरिछिन्न तथा पूर्ण भाव को लेकर ही पञ्चभूत अपने स्थितिसातत्य में सापेक्ष अपरिवर्तनशील दृष्टि गोचर होते हैं। पर उन के कार्य उन की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। कारण यही है कि पञ्चभूतों के कार्य कारण की अपेक्षा अधिक

परिछिन्न तथा अपूर्ण हैं। परिछिन्न तथा अपूर्ण पदार्थ में भीतरी बाहरी-संयोगात्मक वियोगात्मकक्रिया का होना आवश्यक है। क्रियाशील पदार्थ अपने स्थिति सतित्व (स्वरूप) में स्थिर नहीं रह सकता। इसी वास्ते जगत् के सब भाव परिवर्तन मयी घटमाल में पिरोए हुए प्रतीत होते हैं।

जीव का लक्ष्य उस परिवर्तन के चक्कर से मुक्त होना ही है। परन्तु क्या इस मुक्ति का साधन, ऐसे कर्म करना ही हो सकता है जिन से वंश का लोप न हो अथवा जीव देवताओं की कृपा का भाजन बन सके? यह कर्म तो स्वयं संसार रूप अथवा संसारप्राप्ति का साधन और जीव को परिवर्तन के चक्कर में ही घुमाने वाले हैं, इन से अपूर्णता का नाश कैसे हो सकता है? यह वंशवृद्धि की लालसा ही तो जीव को पथभ्रष्ट कर देती है। वंशविस्तार या साम्राज्यविस्तार की लालसा रखने वाले लोगों से क्या क्या अनर्थ नहीं हुए? रावण, कुरु और यदु वंशियों के इतिहास यदि पुराने हो गये हैं तो नवीन इतिहास भी साम्राज्यविस्तार लालसा के वीभत्स परिणामों से ही भरा हुआ मिलता है। क्या पुरातन और क्या आधुनिक, इतिहास सब यही बतला रहे हैं कि वंश अथवा साम्राज्य विस्तार की लालसा ने ही सारी पृथिवी को पाप और अत्याचार के भार से व्याकुल कर रक्खा है। इस समय सारी पृथिवी पर आर्थिक कठिनाई की जो समस्या विकट रूप धारण किये हुए है और जिसने सारे देशों को चिन्ताग्रस्त कर रक्खा है यह सब वंश तथा साम्राज्य वृद्धि की लालसा का ही भयानक फल तो है। जब वंश तथा साम्राज्यवृद्धि की लालसा इस लोक में ही सर्व दुःखों का कारण सिद्ध हो रही है और संसार को नाश के गढ़े की ओर खेंचे लिये जा रही है, तो लोक परलोक का लालच देकर वंशवृद्धि के लिये उत्साहित करना कहां तक लाभदायक एवम् उचित हो सकता है? इस पर उन लोगों को ठण्डे दिल से विचार करना चाहिये जो मोक्ष के साधन चतुर्थ उदासीनाश्रम को ग्रहण करने से भी अधिक महत्व पितृऋण से उऋण होने के लिये, वंशवृद्धि को देते हैं।

इसी तरह विद्याप्राप्ति अर्थात् ऋषिऋण पर भी विचार कीजिये। जो ज्ञान जीव के परम लक्ष्य की सिद्धि में सहायक न हो, लौकिक और पारलौकिक सुख का साधन न हो और मनुष्यजीवन को पूर्ण बनाने में समर्थ न हो—शतरञ्ज के खेल के समान केवल मनबहलाव की सामग्री हो-उस से हानि की सम्भावना नहीं तो लाभ भी क्या हो सकता है? वह श्रेयसिद्धि का साधन भी हो सकेगा, ऐसी आशा करना ही व्यर्थ है। फिर जो ज्ञान मनुष्य के परम उद्देश्य की सिद्धि का साधन है; वह तो आत्मज्ञान ही हो सकता है, जिस के प्राप्त हो जाने पर शेष सारे विद्याभ्यास को छोड़ना ही पड़ेगा। क्यों कि—

" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् "

एक ही समय में दो कार्य नहीं हो सकते। जीव को विद्याभ्यास में लगे रहना होगा या आत्मचिन्तन में। ज्ञानोपार्जन की आवश्यकता भी तो उन विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिये ही होती है जो लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में ज्ञानाभाव के कारण खड़ी हो जाती हैं। जब ज्ञानोपार्जन से वे बाधाएं दूर हो जाएं

४

तब फिर उसके वारवार अनुशीलन की आवश्यकता ही क्या है ? कहने का प्रयोजन यह कि लक्ष्यसिद्धि की ओर अग्रसर होते समय ज्ञानोपार्जन को छोड़ना ही पड़ता है। फिर उसी को जीव का लक्ष्य अथवा लक्ष्यसिद्धि का केवल साधन कैसे माना जा सकता है? एवम् लक्ष्यसिद्धि की ओर जिस की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसकेलिये ज्ञानोपार्जन की भी क्या आवश्यकता है ?

इसी प्रकार प्रतिवन्ध की निवृत्ति के लिये देवकृपा की सहायता की आवश्यकता रहती है। यदि कोई प्रतिवन्ध न हो तो देवकृपा की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि देवकृपा भी ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की ही दाता है, स्वतंत्र रूप में मोक्ष का साधन तो नहीं। देवकृपा का भाजन बनने वाला जीव सुखदुःख तथा कर्माकर्म के झमेले में फंसा ही रहेगा। जब तक कर्तव्याकर्तव्य का चक्र नहीं टूटता तब तक जन्म मरण का झगड़ा भी मिट नहीं सकता। इसलिये मोक्षेच्छु को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये देवकृपा-प्राप्ति के यत्नों को भी अन्त में छोड़ना ही पड़ेगा।

सारांश यह कि जीव का परम उद्देश्य ऋणत्रय से मुक्त होना ही नहीं है किन्तु ये मुक्ति भी जीव के परम ध्येय कैवल्यप्राप्ति के साधनरूप ज्ञान को उपार्जन करने का उपाय मात्र है। वह कैवल्य-मोक्ष—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेअमृतत्वमानशुः"

न कर्म से न सन्तानोत्पत्ति से और नही धनसंग्रह से प्राप्त हो सकता है बल्कि वह तो केवल त्याग से ही प्राप्त होता है। क्योंकि संसार में रहकर राग द्वेष आदि क्लेशों से पिण्ड छूट नहीं सकता। इसी वास्ते महर्षि गौतम कहते हैं—

"वीतरागजन्मादर्शनात्"

संसार में जन्म लेने वाला ऐसा कोई पुरुष देखने में नहीं आता जो पूर्णतया रागद्वेषादि क्लेशों से रहित हो। जो इस संसार में पैदा हुआ है वह रागादि क्लेशों का शिकार अवश्य होगा। रागादिक्लेशयुक्त पुरुष के जन्म-मरण का चक्र कभी टूटता नहीं। यह उलट फेर उन रागादि क्लेशों की दलदल में दिन प्रतिदिन अधिक ही फँसाता चला जाता है। इसी बात को वर्णन करते हुए महर्षि वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में लिखते हैं—

"क्लेशानुबन्धान्नास्ति अपवर्गः क्लेशानुबद्ध एवायं म्रियते
क्लेशानुबद्धश्च जायते, नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते।"

इसी भाव को श्रीजयन्तभट्ट स्वनिर्मित न्यायमञ्जरीनामक न्यायग्रन्थ में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

साध्यस्त्रिवर्ग एवैष धर्मार्थकामलक्षणः।
चतुर्थः पुरुषार्थस्तु कथास्वेव हि राजते॥

यदा प्रियवियोगादि भवत्युद्वेगकारणम् ।
तदा मोक्षकथाः कामं क्रियन्तां शोकशान्तये ॥
ये हि रागादयो दोषा आत्मनश्चिरसंभृताः ।
कस्तान्वञ्चयितुं शक्तः पुनरावृत्तिधर्मकान् ॥
कामं चिरं विजित्यापि क्रोधं वा लोभमेव वा ।
पुनर्गच्छन् वशं तेषां लोकः प्रायेण दृश्यते ॥
ताम्बूलं कुसुमसुगन्धयः समीराः,
सौधेषु प्रतिफलिताः शशाङ्कभासः ।
वाचश्च प्रणयनवामृतद्रवार्द्रा,
दूतीनां दधति न कस्य रागवृद्धिम् ॥
मुग्धस्मितसुधाधौतमधुरालापशालिना ।
मुखेन पक्ष्मलाक्षीणां कस्य नाक्षिप्यते मनः ॥
" चिरमपि तपसि नियमितमतिवराजितविषमशर-
विकृतिरपि तनुपवनानीतवसनकामिनीस्तनजघनदर्श-
नादेव वशं विश्वामित्रः कुसुमधन्वनो गत इति श्रूयते । "

मनुष्य को धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का ही यत्न करना चाहिये; मोक्ष पुरुषार्थ तो सुनने मात्र की वस्तु है, व्यवहार्य नहीं । हाँ, उसका व्यवहार मृत मनुष्य के सम्बन्धियों को सान्त्वना देने में ही किया जा सकता है । चिरकाल से मन में बसे हुए, जन्म-मरण-चक्र के कारण, रागादिदोषों से छिप कर कौन कबतक रह सकता है ? जिन लोगों ने किसी समय कामादि दोषों को जीत लिया था, अवसर मिलने पर उन्हें भी इन दोषों के नीचे दबे हुए ही देखा गया है । उद्यान के पुष्पों की भीनी-भीनी सुगन्ध-युक्त हवा बह रही हो, संग मरमर की बनी सुन्दर अट्टालिकाओं पर चान्दनी चटक रही हो । दूतियों द्वारा प्राप्त प्रेमी के मधुर वचन कानों में सुख अमृत उंडेल रहे हों । यह सामग्री किसके चित्त में राग का झक्खड़ न झुलाएगी ? स्त्रियों के मन्द, हास्यामृत-रंजित और मधुरआलाप-युक्त अधर, और मनोमोदक मद-भरे नेत्रों वाले सुन्दर मुख को देखकर किसका मन बेबस न हो जायगा ? जिन्होंने चिरकाल तक यमनियमसहित तप करके काम विकार को स्वाधीन कर लिया था, वे विश्वामित्रजी भी स्त्री के अंगों को देखकर लट्टू हो गये । जब इस संसार में रागादि क्लेशों से पिण्ड नहीं छूटता तो मोक्ष के स्वप्न देखना कहां तक ठीक हो सकता है ?

कर्मों में प्रवृत्त रहकर जीव को उन के फल भी अवश्य भोगने पड़ते हैं। महर्षि गौतम अपने धर्मसूत्र में लिखते हैं "नहि कर्म क्षीयते इति" विना फल भोगे कर्मों का नाश नहीं होता। शंख मुनि कहते हैं—यथा पृथिव्यां वीजानि रत्नानि निधयो यथा। एवमात्मनि कर्माणि तिष्ठन्ति प्रस्रवन्ति च॥ जिसप्रकार पृथिवी में बीज, रत्न और कोष जमा रहते और पैदा हुआ करते हैं, वैसे ही आत्मा में पुण्य और पाप रहते हैं और फल भुगताने के लिये आत्मा के शरीर के रूप में प्रकट होते हैं।

जबतक जीव के साथ कर्मशृंखला चिमटी रहती है। तबतक धर्म-अधर्म की प्रवृत्ति का संसर्ग अनिवार्य है। मनुष्य जो भी मानसिक, वाचिक तथा कायिक शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है उस से भोगपर्यन्त—सुख फल के हेतु विहित अथवा शुभ कर्मों से धर्म, और दुःख फल के हेतु निषिद्ध अथवा अशुभ कर्मों से पापरूप-जो अदृष्ट नाम की अपूर्व वस्तु पैदा होती है उस अकृतप्रायश्चित्त अदृष्ट का भोग के विना नाश नहीं होता—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् विनाभोगे करोड़ों जन्मों तक भी मनुष्य के किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता। इसलिये कर्मों के बन्धन में फँसे रहकर परमध्येय-सिद्धि की आशा रखना दुराशामात्र है। बल्कि कर्म-प्रवाह में तो कभी न कभी उस की गिरावट का समय भी आसकता है। चिरकाल तक एकान्तवास और जलवायु आहार कर घोरतप द्वारा इन्द्रियों का दमन करनेवाले महर्षि विश्वामित्र मेनका अप्सरा के चंगुल में फँस गये और कितनी देर तक अपने स्वरूप को भूले रहे। ब्रह्माजी की सभा में दुर्वासा ऋषि सामवेद का गान करते हुए सरस्वतीजी के हँसने पर क्रोध में आगए और उन्हें मनुष्यलोक में जन्म लेने का शाप दे दिया, यद्यपि सरस्वतीजी की हँसी का कारण दुर्वासाजी का ही अशुद्ध गान था। मित्र के प्रेमपाश में फँसकर भगवान् राम ने छिप कर वाली का वध किया, जो भगवान्राम के मानवचरित्र में सदैव काला दाग़ प्रतीत होता रहता है। राज्यलोभ में आकर धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को मारने के लिये "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" कह कर झूठ बोल दिया। द्रोणाचार्य जैसे आचार्यों ने अभिमन्यु की कायरतापूर्ण हत्या की। यदि कर्मक्षेत्र में रह कर ऐसे ऐसे महापुरुष भी रागद्वेष की दलदल में फँस सकते हैं तो उन लोगों का कहना ही क्या है, जो अज्ञानान्धकार में फँसे रह कर दिनरात भोग विलास में पड़े रहते हैं।

कर्मों के भँवर में फँसकर तो जीव का वहाँ से निकलना ही कठिन हो जाता है। एक कर्म को भोगने के लिये जीव जन्म धारण करता है फिर उस जन्म में और अनेक कर्मकर डालता है, जिन को भोगने के लिये अनेक जन्म धारण करने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक कर्म अपना स्वतंत्र खाता खोल देता है और उस का हिसाब अलग ही चल पड़ता है। सारांश, मनुष्य एक ही जन्म में इतने अदृष्टों का सञ्चय कर लेता है कि उन का हिसाब चुकाना असम्भव-सा हो जाता है। जब एक कर्म अनेक जन्मों का कारण हो जाता है तो अनेक जन्मों में किये

गये कर्म कितने जन्मों का कारण होंगे ?। इस प्रकार कर्मों का यह प्रवाह तो रुकता ही नहीं।

इस वास्ते महर्षि गौतम जी कहते हैं—

"ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभाव इति।"

ऋण, रागादि क्लेश और प्रवृत्ति के बन्धनों में रहकर मोक्ष के स्वप्न देखना व्यर्थ है। क्यों कि ऐसी अवस्था में धर्माधर्म की प्रवृत्ति मिट नहीं सकती। महर्षि वात्स्यायन भी अपने न्यायभाष्य में कहते हैं कि—

"प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः जन्मप्रभृति यावत्प्रा-
यणं वाग्बुद्धिशरीरारम्भेणाविमुक्तो गृह्यते।"

जबतक धर्माधर्म की प्रवृत्ति प्रतिबन्धक बनी रहेगी मोक्ष की आशा न रखनी चाहिये। एवम् जब तक वाणी बुद्धि और शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहेगा मुक्ति नहीं हो सकती।

न्यायाचार्य जयन्तभट्ट भी अपने न्यायमञ्जरीग्रन्थ में लिखते हैं—

रागादिप्रेर्य्यमाणो हि कर्माण्यारभते नरः।
दीर्घदीर्घाः प्रतायन्ते यैर्धर्माधर्मवासनाः॥
स प्रवृत्त्यनुबन्धश्च हेतुरन्यस्य जन्मनः।
एकमेवेदृशं कर्म कर्तुमापतति क्वचित्॥
जन्मायुतशतेनापि यत्फलं भुज्यते न वा।
क्लेशकर्मानुबन्धोत्थजन्मदुःखादिशृंखला॥
पुनरावर्तमानैषा केनोपायेन भज्यताम्।
विना फलोपभोगेन नहि नाशोस्ति कर्मणाम्॥
तेषां ज्ञानाग्निना दाह इति श्रद्धाविजृम्भितम्।
कार्यकारणभावो हि शास्त्रादेवावधारितः॥
कर्मणां च फलानां च स कथं वा निवर्तताम्।
तस्मादित्थमृणक्लेशप्रवृत्त्यभ्यनुबन्धतः॥
न मोक्षसिद्धिरस्तीति तदर्थो विफलः श्रमः।
अशक्येर्थे वृथायास परित्याज्यो मनस्विभिः॥

भाव यह कि रागादि की प्रेरणा से मनुष्य कर्मों का आरम्भ करता है। उन कर्मों से धर्म-अधर्म की वासनाएं अधिकाधिक फैलती चली जाती हैं और फिर वही धर्माधर्म अन्य जन्मों का कारण बन जाता है। इस प्रकार कोई कर्म ऐसा हो जाता है जिसका फल करोड़ों जन्मों में भी भोगा नहीं जा सकता। क्यों कि कर्म से धर्माधर्मरूप अदृष्ट, अदृष्ट से भोग, भोग से वासनाएं और वासनाओं से फिर कर्म, ऐसा चक्कर-सा बन्ध जाता है। कर्मों के भँवर में पड़ा हुआ जीव ऐसे कितने चक्रों में लिपटा हुआ है, इसे कौन जान सकता है? फिर "यत्फलं भुज्यते न वा" उस कर्म-प्रवाह का फल कभी भोगा जायगा या नहीं? यह कैसे कहा जा सकता है?। कर्मों के चक्र में फंसा रह कर उन को ज्ञानाग्नि से दग्ध कैसे कर सकेगा? जब तक क्लेशों का सत्ता है तब तक जीव डांवाडोल ही रहेगा।

तब तो ध्येय-सिद्धि के लिये सर्व प्रथम उन रागादि क्लेशों का ही नाश करना चाहिये जिनके नाश किये बिना जीव वैराग्य की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। ऋणत्रय से मुक्ति का यत्न करते हुए तो उन क्लेशों का नाश हो नहीं सकता। मुक्ति की ओर अग्रसर होने की इच्छावाले को उन क्लेशों के कारण की ही खोज करनी होगी। क्यों कि कारण न रहने से कार्य का अपने आप नाश हो जाता है, जैसे तन्तुओं का नाश होने पर वस्त्र नहीं रहता। यह क्लेश कारण रहित हो नहीं सकते। क्यों कि "कारणाभावात्कार्य्याभावः" कारण के बिना तो कोई कार्य्य हो नहीं सकता। कारणरहित वस्तु नित्य होती है परन्तु क्लेश नित्य नहीं हैं। कभी राग रहता है कभी द्वेष। यदि यह कहा जाय कि एक की बढ़ती होने पर दूसरा कम हो जाता है; उस का सर्वथा अभाव नहीं होता, तब भी उस में कुछ न कुछ परिवर्तन तो होता ही है। परिवर्तनशील पदार्थ अनित्य ही होता है, नित्य नहीं। दूसरे, निद्रावस्था में मनुष्य सर्वक्लेशों से मुक्त होता है। फिर उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है? महर्षि गौतम कहते हैं—

"सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः"

(उप० द० अ० ४ आ० १ सू० ६३)

स्वप्न न रहने पर सुषुप्त पुरुष के क्लेश नहीं रहते। इस से सिद्ध है कि रागादि क्लेश नित्य नहीं, अनित्य हैं और इसी वास्ते सकारण हैं। जयन्तभट्ट लिखते हैं—

नाकस्मिका न नित्यास्ते नानित्या ज्ञातहेतुकाः।
नाज्ञातशमनोपाया नचाशक्यप्रतिक्रियाः॥

न क्लेश आकस्मिक हैं, न नित्य हैं न अनित्य और न ही उनका कारण लुका छिपा है। उन के शमन का उपाय ज्ञात न हो अथवा प्रतिक्रिया अशक्य हो, ऐसा भी नहीं है। तब उनका कारण क्या है? इस का उत्तर महर्षि पातञ्जलि इस प्रकार देते हैं—

"अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्"

अर्थात् रागादि क्लेश जिस भूमि में अंकुरित होते हैं वह "अविद्या" है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"

अज्ञान-अविद्या से ज्ञान आछन्न है, उसी से जीव मोह को प्राप्त होता है। अर्थात् अज्ञान-अविद्या ही रागादि का कारण है। भगवान् अक्षपाद लिखते हैं—

"तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः" (अ० ४ आ० १ सू० ६)

उन दोषों में मोह ही सब से बड़ा अनिष्ठकारी है। विचारशील-ज्ञानवान् पुरुष के हृदय में रागादि दोष उत्पन्न नहीं होते। उनके अविद्यारूप कारण का नाश विद्यारूप ज्ञान से होता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

जिन्हों ने ज्ञान से अविद्यारूप अज्ञान का नाश कर लिया है उनका ज्ञान सूर्य के समान सदा प्रकाशित रहा करता है।

इन श्रुतिस्मृति प्रमाणों से सिद्ध है कि जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का स्वयमेव नाश हो जाता है वैसे ही विद्या से अविद्यारूप अज्ञान का नाश हो जाता है। क्लेशा के नाशक ज्ञान का अनुष्ठान अशक्य भी नहीं है।

श्रुति भगवती का उपदेश है—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये, हाथ में समिधा ले (हाथजोड़) कर श्रद्धापूर्वक, ब्रह्म-श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा में जाए। नमस्कार और पूजा के अनन्तर गुरु से प्रश्न करके आत्मतत्व जाने। तत्वदर्शी और ज्ञानी लोग ही आत्मतत्व का उपदेश कर सकते हैं। बस, आत्मज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है और इसी रीति से इस ज्ञान का अनुष्ठान शक्य एवम् सम्भव है।

भगवान् कृष्ण भी कहते हैं, इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर के उसी आत्मज्ञान द्वारा कर्म बन्धन को तोड़ डालो—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेतथा"

आत्मज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को भस्मकर डालती है।

श्रुति भी इसी भाव को व्यक्त करती है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाने पर आत्मज्ञानी के हृदय की गांठें खुल जाती हैं सर्व संशय-भ्रम उड़ जाते हैं और सर्व कर्मों का नाश हो जाता है।

"विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः। तरति शोकमात्मवित्।
विद्ययामृतमश्नुते।"

आत्मज्ञानी नाम और रूप से विमुक्त हो जाता है। आत्माराम महात्मा संसार-रूप शोक के पार पहुँच जाता है। तत्वज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस से सिद्ध हुआ कि जीव का परम ध्येय ऋणत्रय से मुक्ति अर्थात् विद्याध्ययन सन्तानोत्पत्ति और यज्ञ-यागादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं है, प्रत्युत् आत्मज्ञान की प्राप्ति है। वह आत्मज्ञान रागादि क्लेशों की निवृत्ति से ही हो सकता है। इन क्लेशों का कारण अविद्या है, इसलिये इनकी निवृत्ति अविद्या के नाश से हो सकती है। बस, जिस समय भी मनुष्य सांसारिक पदार्थों की असारता एवम् अस्थिरता को जान ले और उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाए तब ही वह मोक्ष-धर्म चतुर्थ उदासीन आश्रम की दीक्षा ले सकता है। उसके लिये कोई कर्म धर्म—ऋणत्रय आदि—बन्धन अथवा रुकावट नहीं हो सकता। हम ऊपर भली भाँति सिद्ध कर आए हैं कि कर्म तो सदा जीव के बन्धन का ही कारण रहते हैं मुक्ति के साधन नहीं हो सकते। मुक्ति के लिये तो उसे त्याग वैराग्य का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। परन्तु त्याग, वैराग्य-प्राप्ति और सांसारिक पदार्थों की असारता का अनुभव हो जाने पर ही हो सकता है। जिस समय भी मनुष्य इस अवस्था में पहुँच जाए उसे उदासीन धर्म की दीक्षा लेने का पूर्ण अधिकार है। उस समय उसके हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, भेदभावरूप संशय-भ्रम मिट जाते हैं और "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" सर्व प्रकार के कर्तव्याकर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि उसको आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। वह त्याग और वैराग्य ब्रह्मचर्याश्रम में हो जाए चाहे गृहस्थाश्रम में, उसी समय—तत्काल वह चतुर्थाश्रम का अधिकारी हो जायगा। इसी वास्ते श्रुति भगवती कहती है—

"अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्नि रनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" (जाबाल श्रुति ४)

अर्थात् जिन मनुष्यों ने किसी भी आश्रम धर्म का पालन नहीं किया, यदि उनमें वैराग्य की मात्रा पूर्णरूप से विद्यमान है तो ऐसे महानुभाव जहाँ से चाहें चतुर्थाश्रम ग्रहण कर सकते हैं। इस बात पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं कि उन्होंने अन्य आश्रमधर्मों का विधिपूर्वक पालन किया है या नहीं। हाँ,

जो वैराग्यवान् नहीं है, सांसारिक-भोगों का मोहछोड़ने में समर्थ नहीं हुआ उसके वास्ते आश्रम-धर्मों के पालन का विधान किया गया है।

जिन लोगों ने चित्त-वृत्तियों का निरोध करके अपनी वासनाओं पर अधिकार जमा लिया है, जिन्हों ने सांसारिक-विषय-भोगों की दुःखरूपता को जान लिया है; ऐसे आत्माराम और वैराग्यवान् महात्माओं के डिगने का भय तो रहता ही नहीं। परन्तु जिन लोगों को वैराग्य नहीं हुआ वे भी समय आने पर—तत्वज्ञान से नहीं तो विषय इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर ही सही—वैराग्य की ओर झुकेंगे। सब ओर भटककर ही सही, अन्त में संसार की असारता को अनुभव करेंगे। ऐसे लोगों के लिये ही शास्त्र ने धर्मानुसार और विधिपूर्वक चतुर्थाश्रमभिन्न तीनों आश्रमों के धर्मों का पालन करने का विधान किया है। जिस से लोकमर्यादा और शान्ति भी बनी रहे और जीव क्रमशः उन्नति भी करता जाए। इसी वास्ते श्रौतधर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम व्यवस्था पर अधिक ज़ोर दिया गया है। जिन देशों में वर्णाश्रमधर्मों का पालन नहीं किया जाता वहां की, और जब से भारत देश में लोगों ने वर्णाश्रमधर्मों का विधिपूर्वक पालनकरना छोड़ दिया है, तब से इस देश की भी, जो अवस्था हो रही है; उसे सब जानते ही हैं। उसका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। क्षोभ की चारों ओर धधकने वाली आग वर्णाश्रमव्यवस्था की शिथिलता ने ही प्रचण्ड कर रक्खी है, इस में कोई सन्देह नहीं।

संसार में मर्यादा और शान्ति बनाए रखने और वैराग्यहीन मनुष्यों की क्रमशः उन्नति के लिये ही "कुर्वन्नेवेहकर्माणि०" "अनृणा अस्मिन्ननृणाः" आदि श्रुतिवाक्यों में कर्मों को करते रहने और वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने का विधान किया गया है। अन्यथा जिनको वैराग्य हो गया है उनके वास्ते तो श्रुति भगवती की स्पष्ट आज्ञा है कि—

"ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्,
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदिवेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्।"

(जाबालश्रुति)

इसी प्रकार स्मृतियों में भी आज्ञा दी गई है कि—

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥
प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्य्येण प्रव्रजेत गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दुःखितः॥ (अंगिरा)

अर्थात् जबतक वैराग्य न हो विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ धर्मों का पालन करता हुआ चतुर्थाश्रम तक पहुँचने का यत्न करे। यदि बीच में ही वैराग्य हो जाए तो ब्रह्मचर्य्य से अथवा गृहस्थ से ही चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म

की दीक्षा ग्रहण कर ले। क्यों कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य तो मोक्ष के साधन उदासीनधर्म को ग्रहण करना ही है। ऊपर लिखित श्रुतिस्मृतिवाक्यों में "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यात्" "प्रव्रजेद्ब्रह्मचर्य्येण" यही आज्ञा दी गई है।

वैराग्यवान् पुरुष के लिये कर्मों का विधान नहीं। मोक्ष-धर्मी को तो कर्तव्या-कर्तव्य के बन्धन से मुक्त होना ही पड़ेगा। शास्त्रों में इस भाव के अनेक प्रमाण मिलते हैं। भगवान् कृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

इसी तरह के और भी अनेक प्रमाण हैं—

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा निर्भयः शेते सर्वं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥
यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
निवर्तनाद्धि सर्वत्र सुखमक्षय्यमश्नुते॥
किं तस्य बहुभिस्तीर्थैः स्नानहोमतपोव्रतैः।
येनेन्द्रियगणो घोरो निर्जितोऽन्यैर्दुरासदः॥

इसी वास्ते बड़े बड़े महापुरुषों ने मोक्षसिद्धि के लिये अन्त में कर्मों का त्याग कर के चतुर्थाश्रम में प्रवेश करना ही आवश्यक समझा है। धार्मिकग्रन्थों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जितने आत्मदर्शी तत्त्ववेत्ता महात्मा हुए हैं उन सब ने संसार के पदार्थों को असार जान कर उन का त्याग और श्रेयःसिद्धि के साधन चतुर्थाश्रम को ग्रहण किया है। जैसे—

"एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज (विजहार)।"

(बृह० ४, ५, २५)

प्रव्रज्यापूर्वक आत्मज्ञान ही अमृत है" ऐसा कह कर महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रव्रज्याग्रहण की।

इसी प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि महाराज जनक ने भी अन्त में कर्म का त्याग कर मोक्षधर्म अर्थात् उदासीन आश्रम में प्रवेश किया था। ऐसे ही भगवान् सनत्कुमार, शुकदेव, वामदेव, ऋभु, निदाघजैगीषव्य; नारद,

आदि अनेक इतिहासप्रसिद्ध महात्मा हुए हैं जिन्हों ने न केवल कर्मबन्धन को तोड़ कर चतुर्थाश्रम ग्रहण किया बल्कि आश्रमधर्मों का पालन करने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

यदि इन में से कोई महात्मा लोकोपकारार्थ और उदासीनभाव से किसी धर्म-कर्म का अनुष्ठान करते रहे हैं तो उसका कारण भगवान् के अपने ही शब्दों में यह है—

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।

कर्मबन्धन और कर्मफल की आकांक्षा न रखते हुए भी, यदि कोई आत्मवेत्ता चतुर्थाश्रमी महात्मा उदासीन-भाव से धर्माचरण करते रहे हैं तो इस वास्ते कि उनको कर्मबन्धनमुक्त देखकर वैराग्यहीन, चतुर्थाश्रम के अनधिकारी तथा भोगेच्छा-युक्त लोग अकर्मण्यता का शिकार न हो जाएं। क्यों कि प्रधान व्यक्तियों का जैसा आचरण होता है, सर्व साधारण उसी का अनुकरण करने लग जाते हैं। यदि कहा जाय कि कर्म का त्याग सर्वथा हो नहीं सकता, वैराग्यवान् को भी कुछ न कुछ करना ही पड़ता है तो इसका उत्तर यही है कि ज्ञानी पुरुषों का निष्काम तथा उदासीनभाव से लोकोपकारार्थ किया हुआ कर्म उनके बन्धन का कारण नहीं होता और नही उन के आत्मानन्द में किसी प्रकार की रुकावट डालता है। उनका कोई कर्म स्वार्थसिद्धि के लिये तो होता नहीं। इसलिये वे उनके फलाफल के अधिकारी भी नहीं होते। उनकी तो विभूति ही लोकोपकारार्थ होती है " परोपकाराय सतां विभूतयः "। इसी भाव को एक कवि ने इस श्लोक में प्रकट किया है—

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्य र्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति सन्तः
स्वयंपरहितं सुकृताभियोगाः॥

जिस प्रकार सूर्य्य उदय हो कर पद्मसरोवर को और चन्द्रमा उदय हो कर कैरवसमूह को खिला देता है एवम् विना किसी प्रयोजन के मेघ वृष्टि किया करते हैं वैसे ही साधुलोग भी विना किसी प्रयोजन के परोपकार में लगे रहते हैं। उन्हें जगत-प्रपञ्च से न कोई प्रयोजन होता है न लगाव। बल्कि स्वयं सदैव कमल पत्र के समान निर्लिप्त रहते हैं। क्यों कि उन की दृष्टि में जगत कोई वस्तु ही नहीं होता। आत्मज्ञानी तो "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" आत्मचिन्तन में रत रहकर ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जिस प्रकार मायातीत ब्रह्म जीवों के कल्याणार्थ जगत का रक्षण, पालन, और संहार करते हुए भी तटस्थ और साक्षीमात्र रहते हैं और धर्म तथा साधुजनों की रक्षा एवम् पापियों का नाश करने के लिये

वराह, नृसिंह, रामकृष्णादिरूपों में अनेक लीलाएं करके भी कर्म वन्धन में नहीं आते वैसे ही आत्मज्ञानी भी लोकोपकारार्थ कर्मों को करता हुआ उनके फलाफल का अधिकारी नहीं होता।

अब रहा यह प्रश्न कि विद्या-ज्ञान से अविद्या-अज्ञानान्धकार का नाश हो जाने पर रागादिक्लेशों का नाश कैसे हो सकता है? उत्तर में यही कहना है कि—

वास्तव में ज्ञान के अर्थ वस्तु को उसके वास्तविकस्वरूप में जानना ही है। जीव जबतक सांसारिक पदार्थों के वास्तविकस्वरूप को न जान कर उनके बाह्य सौंदर्य तक ही दृष्टि रखता है तबतक ही उसे उन पदार्थों में रमणीयता दृष्टिगोचर होती है। ऐसी अवस्था में राग ही बढ़ता है। परन्तु उसके वास्तविकस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, जब उन पदार्थों के गुणदोष और सत्-असत्-धर्म का विवेचन करता है तब उनकी असारता दृष्टिगोचर होने लग जाती है। जैसे पुरुष अज्ञान वश स्त्री के सौंदर्य को रमणीय समझता है पर ज्यों ही उसको ज्ञान हो जाता है और स्त्री की बाहरी और भीतरी बनावट, शरीर के कारण और भावी-परिणाम की आलोचना प्रत्यालोचना करता है, रमणीयता दूर हो जाती है। पदार्थों का बाहरी प्रपञ्च मनुष्य के मन पर जो प्रभाव डालता है वह उन पदार्थों के भीतरी ज्ञान से रह नहीं सकता। कारण, जगत का कोई पदार्थ भी भ्रमजाल से अधिक कुछ नहीं है।

पुरुष के अपने मन की अवस्था पर भी सांसारिक पदार्थों को रमणीयता और अरमणीयता निर्भर है। जिस समय पुरुष भोगबुद्धि से या उत्सुकदृष्टि से उन पदार्थों को देखता है उस समय उसे रमणीय दिखाई देते हैं और उसके मन पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इसी वास्ते शास्त्रों में बारबार विषयों के भयङ्कर परिणाम और घृणायोग्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। ताकि जीव इन के मोह में फसने से बचा रहे। जैसे, स्त्री के वास्तविकस्वरूप को ही शास्त्र ने इस प्रकार वर्णन किया है—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।
असौ तरलताराक्षी पीनोत्तुङ्गघनस्तनी।
विलप्यमाना कान्तारे विहगैरद्य दृश्यते॥
विभाति बहिरेवास्याः पद्मगन्धनिभं वपुः।
अन्तर्मज्जास्थिविण्मूत्रमेदःक्रिमिकुलाकुलम्॥
अस्थीनि पित्तमुच्चारः क्लिन्नान्यन्त्राणि शोणितम्।
पूतिचर्मपिनद्धं सत् कामिनीत्यभिधीयते॥

मेदोग्रन्थी स्तनौ नाम तौ स्वर्णकलशौ कथम्।
विष्ठावृतौ नितम्बे च कोयं हेमशिलाभ्रमः।
मूत्रासृग्द्वारमशुचि छिद्रं क्लेदि जुगुप्सितम्।
तदेव हि रतिस्थानमहो पुंसां विडम्बना।
प्रीतिर्यथा निजास्योत्थं लिहतः शोणितं शुनः।
शुष्केऽस्थानि तथा पुंसः स्वधातुस्पन्दिनः स्त्रियाम्॥
व्यात्तानना विवृत्ताक्षी विवर्णा श्वासघुर्घुरा॥
कथमद्य न रागाय म्रियमाणा तयस्विनी॥
किमनेनापराद्धं नः स्वभावो वस्तुनः स्वयम्।
स्पृश्यमानो दहत्यग्निरिति कोऽस्मै प्रकुप्यति॥
नानुकूलः प्रिये हेतुः प्रतिकूलो न विप्रिये।
स्वकर्मफलमश्नामि कः सुहृत् कश्च मे रिपुः॥

इस मनोहर शरीर की उत्पत्ति का स्थान और बीज, इसकी स्थिति और शुद्धि के स्नानादि उपाय, इस से क्षरण होनेवाले मल, इन सब वस्तुओं की आलोचना कर के ही विद्वानों ने शरीर की अपवित्रता का वर्णन किया है। स्त्री के शरीर से पद्मपुष्प की सी गन्ध निकल कर वायु को सुगन्धित करती है पर उसके अन्दर तो हड्डी, मज्जा, विष्ठा, मूत्र, चर्बी और कीड़े ही भरे हैं। हाड़, पित्त, मल, गन्दे रसों से भीगी अंतड़ियाँ, खून, चर्बी आदि की चमड़े में बन्धी हुई पोटली का नाम ही कामिनी है। ऐ रसिको! ज़रा बताओ तो सही-यह चर्बी की पोटलियाँ स्तन स्वर्ण-कलश कैसे कहला सकते हैं? विष्ठा की मशकरूप नितम्ब स्वर्ण के ढेले होने का तुम्हें भ्रम कैसे हुआ? आश्चर्य है कि सदैव गीला रहनेवाला मूत्र और लोहू का द्वार तुम्हारा रतिस्थान है। क्या तुम्हारे साथ यह वञ्चना तो नहीं की गई? इस से बढकर आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रकार कुत्ता अपने ही मुँह से निकले रुधिर को चूस कर प्रसन्न होता है वैसे ही बल, बुद्धि, सभ्यता तथा ज्ञान के अभिमानी पुरुष अपने ही जीवन, शक्ति और बल, पौरुष के आधार वीर्य्य को नष्ट कर के फूले नहीं समाते।

पर यह क्या हो गया? जिस स्त्री के यौवनकाल में उसके सौन्दर्यदीप पर हज़ारों पुरुष पतङ्गों के समान गिरते थे, यौवन ढल जाने पर उसकी ओर कोई ताकता भी नहीं। वृद्ध होकर वही स्त्री मरणासन्न हो रही है, आँखें धँस गई हैं, मुख चिपक गया है, गले में कफ बोल रही है। आज उस से क्यों कोई प्रेम नहीं करता? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है-स्पर्श में आई हुई अग्नि जला ही डालती है। उस पर कोई क्रोध

थोड़े ही करता है?। अनुकूल है इसलिये प्रिय है, प्रतिकूल है इसलिये अप्रिय है, ऐसा भी नहीं। जैसे जैसे शुभाशुभ अदृष्ट उदय होते रहते हैं। वैसे वैसे ही प्रिय और अप्रिय बनते रहते हैं। अपने ही कर्मफल को भोग रहा हूँ। कौन मेरा मित्र कौन अमित्र है। इस प्रकार दिनरात मनन कर पुरुष अपने आप को रागद्वेष से मुक्त कर ले। बस यही उत्तम पथ है।

कुछ लोगों का मत है कि जिस प्रकार विषयों में दोषदृष्टि से रागादि का नाश होता है वैसे ही विषयोपभोग से भी हो सकता है। क्यों कि किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न होने पर उस वस्तु की प्राप्ति से इच्छा निवृत्त हो जाती है और फिर भोगी हुई वस्तु की इच्छा पैदा नहीं होती। इस तरह पदार्थों के भोग से भी रागादि का नाश हो सकता है।

परन्तु व्यवहार में ऐसा देखा नहीं जाता। वस्तुतः भोगे हुए भक्ष्य, पेय, लेह्य और चूष्य पदार्थों की ही इच्छा उत्पन्न हुआ करती है। जिस पदार्थ का गुणदोष जाना ही नहीं उसकी इच्छा कैसे हो सकती है? इस लिये भोगों से क्लेशों का नाश होना कठिन है। शास्त्र भी कहते हैं—

न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

विषयोपभोग से उन की कामना कभी शान्त नहीं हो सकती। बल्कि घृत डालने पर अग्नि के और भी अधिक भड़क उठने के समान और भी बढ़ती है। भगवान् वेदव्यासजी भी योगभाष्य में लिखते हैं—

"या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखं, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यं, कस्मात् यतो भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति।"

इन्द्रियों के भोगों से जो शान्ति होती है वही वास्तव में सुख है और इन्द्रियों के रागवश चञ्चल होने से जो अशान्ति होती है वही दुःख है। इन्द्रियों को विषय-भोग की तृष्णा से अलग नहीं किया जा सकता—अर्थात् भोग के अभ्यास से इन्द्रियों की तृष्णा बुझाना अत्यन्त कठिन है। कारण, विषयभोग से उनके लिये राग या आसक्ति बढ़ती हो जाती है और इन्द्रियाँ उसमें कुशल भी हो जाती हैं। इस से सिद्ध हुआ कि भोगों का अभ्यास सुख का साधन नहीं। विषयोपभोग द्वारा विषय तृष्णा का शमन करनेवाला वैसे ही घोर दुःख का शिकार हो जाता है जैसे बिच्छू

के विष से डर कर भयङ्कर विषधर सर्प के मुख में पड़नेवाला मनुष्य घोर दुःख पाता है।

व्यासदेवजी के इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि विषयोपभोग से रागादि का नाश नहीं होता बल्कि यह बढ़ते हैं। यहाँ तक कि सांसारिक विषय भोगों का चिन्तन भी मनुष्य को गिराने का कारण हो सकता है। यही कारण है कि इतिहास में कुछ एक बड़ेबड़े सिद्ध महात्माओं की गिरावट के उदाहरण पाए जाते हैं। "वीतरागजन्मादर्शनात्" इस न्यायसूत्र से जो लोग पुरुषों के साथ रागादि का सम्बन्ध नित्य सिद्ध करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। वस्तुतः यह वाक्य अविवेकी पुरुषों के सम्बन्ध में है, विवेकी पुरुषों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। कहने का प्रयोजन यह कि तत्त्वज्ञानद्वारा ही रागादिक्लेशों का नाश होता है। इसी वास्ते—

"न प्रवृत्तिप्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य" (न्याय अ० ४ आ० १ सू० ६४)

सूत्र से इस धारणा का भी खण्डन कर दिया गया है कि धर्माधर्मरूप अदृष्ट का नाश भोग किये विना नहीं हो सकता। इस सूत्र में तत्त्वदर्शी की प्रवृत्ति से धर्माधर्म का अभाव कह कर देव मनुष्य आदि के शरीररूप प्रतिवन्ध का भी अभाव कहा गया है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी की शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति शरीर, इन्द्रिय सुख दुःख और संसार को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाती है। आचार्य वाचस्पति कहते हैं—

"तदियमात्मभूमिः क्लेशसलिलावसिक्ता कर्मफलप्रसवक्षेत्रम्"

(यो० त० वै० पा० २ सू० १३)

क्लेशरूप जल से सिंचा हुआ यह अन्तःकरण ही भूमि है जो कर्मफल का उत्पत्ति स्थान है। जब क्लेश आदि से अन्तःकरण मुक्त हो जायगा तब वह कर्मफल का प्रसवस्थान नहीं रह सकता।

यदि कहा जाय कि दोषों का नाश हो जाने पर आगे के कर्म फलप्रद न हों, ऐसा तो हो सकता है। परन्तु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इस स्मृतिवाक्य के अनुसार पूर्वसंचित कर्म विना फलभोग के कैसे नष्ट हो सकते हैं? इसी प्रश्न को आचार्य जयन्तभट्ट भी इन शब्दों में दोहराते हैं—

"ननु दोषक्षयान्माभूदुत्तरः कर्मसंग्रहः।
कथं फलमदत्त्वा तु प्राक्तनं कर्म शाम्यति॥"

रागादिदोषों का क्षय हो जाने पर अग्रिम कर्मों का संग्रह न हो, यह तो माना जा सकता है पर प्राक्तन अर्थात् पहले के संचित कर्म विना फल भोगे कैसे शान्त हो सकते हैं?

इस शंका का समाधान कुछ लोग इस प्रकार करते हैं कि तत्त्ववेत्ता को शम, दम, आत्मसंयम आदि कार्यों से जो सुख प्राप्त होता है वह उसके पुण्य का और

शीत, आतप, भूख, प्यास आदि से प्राप्त दुःख पाप कर्मों का फल होता है। इस प्रकार सुख और दुःखरूप फल भुगता कर धर्म और अधर्म दोनों निवृत्त हो जाते हैं। कुछ अंशो तक यह समाधान ठीक भी हो सकता है। परन्तु अड़चन यह है कि पूर्वसञ्चित अनेक प्रकार के कर्मों का फल एक ही प्रकार का नहीं हो सकता।

"कारणवैलक्षण्ये कार्य्यवैलक्षण्यात्।"

कारण विलक्षण होने पर तदनुसार कार्य भी विलक्षण ही होता है। इस न्याय के अनुसार भिन्नभिन्न कर्मों का फल भी भिन्नभिन्न ही होना चाहिये। इसी वास्ते ज्ञानी पुरुष भी उदासीनभाव से संसार में रह कर सुखदुःखभोगद्वारा पूर्वसञ्चित ( प्रारब्ध ) कर्मों का हिसाब चुकाया करते हैं और तत्ववेत्ता महानुभाव विशेष धर्म अधर्म का फल भोगने के लिये अपने योगबल से नाना देवमनुष्यादि शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार अपने पूर्वसञ्चित कर्मों को नष्ट कर लेते हैं। पुराणों में भी लिखा है—

"एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येव पुनस्ततः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्य्यो रश्मिगणानिव।"

एक ही परमात्मा अपनी शक्तिद्वारा अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। उसी शक्तिद्वारा उस कार्यरूप जगत से भी नानात्व की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार, जहाँ स्थूल की अनेकता दृष्टिगोचर होती है वहाँ सूक्ष्म से भी अनेकता हुआ करती है। एक से दो और फिर दो से अनेक, इसी तरह सूक्ष्म मन के भी भेद होते रहते हैं। ऐसे ही योगीश्वर लोग भी नानाविध स्थूल सूक्ष्म शरीरों की रचना कर किसी से विषयोपभोग करते हैं और किसी से उग्रतपश्चर्या। जब इच्छा होती है अपने योगज शरीरों को वैसे ही अपने मुख्य शरीर में लीन कर लेते हैं जैसे सूर्य्य अपनी किरणों को समेट लेता है। इस से प्रकट होता है कि योगीजन एक शरीर से अनेक रूप धारण कर अपने संचित कर्मों का भी नाश कर लेते हैं और आत्मचिन्तनद्वारा मोक्षपद के भी अधिकारी बनते हैं। फिर इस क्लिष्ट कल्पना के करने की आवश्यकता ही क्या है। श्रुति भगवतीने स्वयं इस प्रश्न का समाधान कर दिया है। यथा—

"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त,
एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।" (छान्दो० ४, १४, ३)

"तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत,
एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।" (छां० ५, २४, ३)
"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" (मुं० २, २, ५)
"उभे उहैवैष एते तरति।" (बृ० ४, ४, २२)
"ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।" (गीता)

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि ज्ञान से सब कर्मों का नाश हो जाता है। इस प्रकार श्रुति स्मृति के सिद्धान्तानुसार ज्ञान से सब कर्मों का नाश मानना ही युक्तियुक्त है। बिना भोगे कर्म का नाश न होने का नियम तो अज्ञानी लोगों के लिये है, ज्ञानियों के लिये नहीं।

यहाँ तक यह तो निर्विवाद सिद्ध हुआ कि चतुर्थाश्रम भी अन्य आश्रमों की भाँति वेदविहित है और वह जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाए ग्रहण किया जा सकता है। वैराग्यवान् और ज्ञानी मनुष्य के लिये सर्व आश्रमधर्मों के पालनकरने का कोई बन्धन नहीं।

शेष रहा बौधायन सूत्र का यह प्रमाण कि "तत्रोदाहरन्ति प्रह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुरइति०" यदि इसका अर्थ यही मान लिया जाय कि–प्रह्लाद का बेटा एक कपिलनामा असुर था उसने ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ तथा त्यागरूप चतुर्थाश्रम का प्रचार किया, वैदिकधर्मी शिष्टपुरुष उन आश्रमों का आदर न करें।"

तो इसका उत्तर यही है कि प्रथम तो प्रह्लाद का कपिल नामक कोई पुत्र था, इतिहास से यही सिद्ध नहीं होता। प्रह्लाद का पुत्र एक ही हुआ है उसका नाम विरोचन था। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रह्लाद का कपिल नाम का भी कोई पुत्र था तब भी इस सूत्रवाक्य से चतुर्थाश्रम का तो निषेध नहीं होता। विचार करने से यह सूत्रवाक्य केवल ऐतिहासिक घटना को वर्णन करनेवाला ही प्रतीत होता है। इस वाक्य में बतलाया गया है कि प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने देवैः सह स्पर्धमानः=देवताओं से स्पर्धा करते हुए नूतन ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और चतुर्थाश्रम भेदोंवाले किसी मत का प्रचार किया है, मनीषी लोग तान्=उनका आदर न करें। अर्थात् दुनिया को भ्रम में डालने के लिये उस असुर ने ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और चतुर्थाश्रम भेदवाले जिस मत का प्रचार किया है उसके सिद्धान्तों को वेदविहित ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और चतुर्थाश्रम के सिद्धान्तों में शामिल न समझें। इस में तो केवल असुर द्वारा प्रचार किये गये मत से सावधान रहने का आदेश किया गया है। यह सिद्ध नहीं होता कि वैदिक आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और चतुर्थाश्रम को ही वञ्चक लोगों ने चलाया है। दूसरे, एक गृहस्थाश्रम को ही माननेवालों की ओर से यह वाक्य गृहस्थाश्रम की प्रशंसा के रूप में पेश किया जाता है, इस से दूसरे आश्रमों का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता। क्यों कि "नहि निंदा निन्द्यंनिषेद्धुं प्रवर्तते किं तर्हि विधेयं स्तोतुम्" एक पदार्थ की स्तुति करते हुए दूसरे की निन्दा करने का प्रयोजन

स्तुत्य पदार्थ का महत्त्व प्रकट करना ही होता है, इस निन्दा से निन्द्य पदार्थ का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता।

परन्तु हमारा विचार है कि इस सूत्र का अर्थ करते समय सब टीकाकार भूल करते रहे हैं। इस सूत्र का ठीक अर्थ नीचे लिखा जाता है:—

"तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्हवै कपिलो नामासुर आस, स एतान् भेदाँश्चकार देवैः सह स्पर्धमानस्तस्मात्तान्मनीषी नाद्रियेत"

तस्मिन्नैकाश्रम्ये कैश्चिदाचार्यैः पूर्वपक्षिते सति चातुराश्रम्यवादिनो महर्षिपुंगवाः (उदाहरन्ति) समादधते। प्राह्लादिः = प्रकर्षेण आ समन्ताद् ह्लादते-मोदते ब्रह्मात्म साक्षात्कारेणाविद्याध्वान्तं विधूय स्वात्मानन्दे निमज्जतीति प्राह्लादिः-पाङ्पसृष्टाद्ध्लादेः सर्वधातुभ्य इन्निति इन् प्रत्ययः। कपिलो नाम = कपिलनामा निवृत्तिपरेषु ब्रह्मणो मानससुतेषु—

"सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः॥" (म० भा० शां० अ० ३४० श्लो० ७२)

इत्युक्तेषु सप्तस्वन्यतमः। असुरः = असवः-प्राणाः "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणा" इत्यमरकोशात् तान् राति ददातीति असुरः प्राणव्ययेनापि परोपकारकारी संजीवनीविद्याकौशलेन मृतानां संजीवयिता। असुशब्दस्य बलोपलक्षकतया बलप्रदाता वा, अत एव वेदेषु देवराजेन्द्रविशेषणतयाऽयं शब्दस्तत्र तत्र प्रयुक्तः संगच्छते। अन्यथा सुरविरोधिवाचकत्वादस्य तत्र प्रयोगासंगतिः। आस = बभूव एकैकः कर्माधिकृतोऽज्ञः पुमान् देवान् हविर्दानादिभिर्भूयोभिरुपकारैरुपकरोति यथा स्वस्वामिनं दोहनवहनादिभिर्गोऽश्वादयो बहवः पशवः। तेष्वेकमपि पशुं व्याघ्रादिक्रूरसत्वो यद्यपहरेत्तर्हि खिद्यतेतरां तत्स्वामिनः स्वान्तम्, बहुपशुकल्पे पुंसि पशुभावाद् व्युत्तिष्ठमाने देवाः खिद्यन्त इति किमुवक्तव्य। तस्माद्गुरुमुपसृत्य श्रद्धया तद्दर्शिताध्वनाऽऽत्मज्ञानाय प्रयतमानं मुमुक्षुजनमयमतिक्रामत्यस्मद्गोचरतामितिमन्यमाना देवाः सम्राडिव प्रजा विविधैरुपायैर्विघ्नन्तः—क्लेशयन्ति। स्पष्टयति चामुमेवार्थं बृहदारण्यकश्रुतिः—

"यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।" (बृ० उ० १, ४, १०) इति। निष्कपटं भजमानानपि मानवान् स्वार्थपरीतमानसा दिवौकस उन्नमतः प्रतिबध्नन्तीत्येतन्महदन्याय्यमित्याकलयन्नेतदकार्यं भवद्भिर्न कार्यमिति विबोधयामस देवान् भगवान् कपिलः। विबोधिता अपि ते तथा करणान्न विरेमुरतः, देवैः सह स्पर्धमानः = तैः साकं समुत्पन्नसंघर्षः कथंनुनाम सरलस्वान्तावराका एते मनुजा निष्ठुराणां सुराणां वश्यतामतिवर्तेरन्निति समुपजातकरुणः। एतान् भेदान् = ब्रह्मचर्य्यवानप्रस्थप्रव्रज्याख्यान् निवृत्तिप्रधानानाश्रमान् चकार = कृतवान् प्रवर्तयमास प्रचारयामासेति यावत्। तस्मात् = लोकहितं विधित्सुना ब्रह्मविदग्रगण्येन महामुनिना कपिलेन प्रवर्तितत्वात् मनीषी = संसारार्णवादात्मानमुद्धर्तुकामो विवेकी ना = पुरुषः "पुरुषाः पूरुषा नर इत्यमरोक्तेः" आद्रियेत = सादरमनुतिष्ठेत्-देवादि-

विहितविघ्नविधूननायेत्यर्थः। युक्तं चैतत्समेषु सूत्रग्रन्थेषु महर्षय एकदेशिनोपस्थापितं पक्षं प्रदर्श्य प्रत्यादिशंतीति निर्धारिता सरणिः, तद्यथा दार्शनिकचक्रचूड़ामणिर्भगवान्व्यासः "न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्" (ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ४) न=जगत्कारणं ब्रह्मेतिशेषः कुतस्तस्य तद्विलक्षणत्वात् कारणानुरूपं हि कार्यं युज्यते न विलक्षणम्। अस्य=जगतः तथात्वम्=जडत्वादिलक्षणं ब्रह्मवैलक्षण्यं शब्दात्="विज्ञानं चाविज्ञानञ्च" (तै० उ० २, ६, ३) इति श्रुतेर्विज्ञातव्यमिति सूत्रार्थः। इत्थमाशंक्य "दृश्यते तु" (ब्र० सू० २, १, ६) इति सूत्रेण तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावृत्तिवचनतया भवता स पक्ष उपस्थापितः किन्तु नासावुपपद्यते कुतः दृश्यतेऽवलोक्यते हि लोके चेतनात्पुरुषादचेतनानां नखकेशादीनाम्-अचेतनाच्च गोमयादेश्चेतनानां वृश्चिकादीनां समुत्पाद इत्यर्थकेन-समाहितम्। तद्वदिहापि भवितव्यम् तदत्रभवान् पृष्टो व्याचष्टामेकाश्रमवादी एकदेशिनः सिद्धान्तिनो वा तत्सूत्रम् नान्त्यः, तथा सति अग्रतश्चतुर आश्रमाँस्तद्धर्मांश्च सविस्तरं नाचक्षीत परमधर्ममर्मज्ञो भगवान् बौधायनः, तस्माच्छिष्यते प्रथम एव पक्षः सच सूत्रकृत्सरण्यनुरोधेनावश्यं केनचित् सूत्रेण प्रतिक्षेप्तव्यः, न चतत्। पश्यामोऽतोव्याख्यातैतत्सूत्रमेव तत्पक्षनिरासकतया योजनीयम्, एतेन प्रह्लादपुत्रेण कपिलनाम्नाकेनचिदसुरेण देवस्पर्धया प्रवर्तिता गार्हस्थ्यव्यतिरिक्ता ब्रह्मचर्याद्याश्रमाः शास्त्रपथपान्थैः शिष्टैर्नादर्तव्या इति सूत्रार्थं विधायैकाश्रम्य पक्षपुष्टिपरत्वनैतत्सूत्रं योजयन्तो भ्रान्तिपिशाचिकाविष्टाः परास्ता वेदितव्याः॥

प्रह्लादपुत्रस्य कपिलाभिधस्य कस्यचिदसुरस्ये इतिहासपुराणेष्वदृष्टचरत्वात् बलपितुर्विरोचनस्यैव तस्य पुत्रत्वेन तत्रतत्र शास्त्रेषु विश्रुतत्वाच्च।

जो बात पहले सब टीकाकारों की नज़र से चूक जाती रही है, वह यह है कि इस सूत्र के पूर्वसूत्र में "आश्रम एक है" ऐसा पूर्वपक्ष उठाया गया है और चार आश्रमवादी महर्षिने इस "तत्रोदाहरन्ति०" सूत्र में उसका समाधान किया है। युक्ति यह है कि "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्य्याः" सूत्र के विना शेष सारे ग्रन्थ में, जहाँ कहीं भी आश्रमों का उल्लेख हुआ है, चार आश्रमों का ही विधान है। फिर इस "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्य्याः" सूत्र में ही एकाश्रमवाद का समर्थन क्यों? अब इस सूत्र का अर्थ कीजियेः—

सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन,' ब्रह्माजी के इन सात मानस पुत्रों में से एक पुत्र (प्राह्लादिः) ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा अविद्या का नाश कर स्वात्मानन्द में लीन रहनेवाले, परोपकार में जान तक लड़ादेनेवाले अथवा संजीवनीविद्या के प्रयोग से मृतप्राणियों को भी सावधान कर देनेवाले महात्मा कपिल भी (आस) थे। उन्होंने देवपूजा में लगे हुए कर्माधिकारी मनुष्यों को, प्रजा को स्वतंत्र विचारों से दूर रखने के उद्देश्य से नाना बन्धनकारी नियमों की सृष्टि करनेवाले राज्याधिकारलोभी राजा की दीनप्रजा के समान,देवताओं की पराधीनता में कड़ाईयों का शिकार हो रहे देखकर देवताओं को समझाने का यत्न किया कि "मनुष्य तुम्हारी इतनी सेवा करते हैं, तुम भी इन पर दयादृष्टि रक्खा करो–इनके कर्मबन्धन को दिन प्रतिदिन कड़ा करते जाना अच्छा नहीं।"

पर स्वार्थी देवता मनुष्यों से नानाविध सेवाएं कराया करते थे। एक ही दूध अथवा सवारी की सेवा करनेवाले गाय घोड़ा आदि किसी पशु के खोजाने पर मनुष्य को बड़ा दुःख होता है, जिन देवताओं की एक एक कर्माधिकारी मनुष्य कई कई पशुओं के समान सेवा करता था उन्हें तो यह सलाह स्वाभाविक ही कड़वी लगनी थी। सारांश यह कि देवताओं ने कपिलजी की बात सुनी अनसुनी कर दी। झगड़ा खड़ा हो गया। (देवैः सह स्पर्धमानः) तब मनुष्यों की स्वतन्त्रता के मार्ग में देवताओं की ओर से खड़ी की गई बाधाओं को दूर करने के लिये भगवान् कपिल ने (एतान् भेदान्) ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और निवृत्तिप्रधान चतुर्थाश्रम का (चकार) प्रचार आरम्भ कर दिया। महर्षि उपदेश करते हैं (तस्मात्) इसलिये जो (मनीषी) विवेकी जन मोक्ष की इच्छा रखते हैं अर्थात् कर्माकर्म आर जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं वे (ना) पुरुष परोपकारी, दयालु, और ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य महात्मा कपिलद्वारा प्रचार किये गये आश्रमों का (आद्रियेत) हार्दिक स्वागत करें।

संस्कृतभाष्य में दर्शित अमरकोश तथा व्युत्पत्ति के अनुसार असुर का अर्थ प्राणदाता लिखा है। यही अर्थ ठीक मानने से वेद में देवराज इन्द्र के लिये प्रयुक्त असुर शब्द संगत हो सकता है। क्यों कि इन्द्र को सुरविरोधी कहीं भी माना नहीं गया। सूत्रकारों में यही परिपाटी है कि पहिले पूर्वपक्ष को वर्णन कर फिर उसका खण्डन किया करते हैं। निश्चय ही यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। यदि इस सूत्र को पहिले सूत्र के पूर्वपक्ष का उत्तर न माना जायगा तो दूसरी जगह उत्तर ढूँडना होगा। पर अन्य किसी सूत्र में उसका उत्तर मिलता नहीं और "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्य्याः" यह सूत्र सिद्धान्तपक्ष का हो नहीं सकता। क्यों कि परमधर्मज्ञ भगवान् बौधायन अपने सूत्रग्रन्थ में और सब जगह चार आश्रमों का ही निरूपण करते हैं। फिर तो पूर्वपक्ष को उठाकर विना समाधान के छोड़ देना व्यर्थ, सिद्धान्त विरुद्ध और भ्रम में डालनेवाला है। इसलिये सब विद्वानों को इस सूत्र का अर्थ वही स्वीकार करना होगा जो हमने ऊपर किया है।

---

# (३ तरङ्ग)

## चतुर्थाश्रम का अधिकार

पूर्व प्रकरण में यह तो सिद्ध हो गया कि चतुर्थाश्रम वेदविहित है, सर्व धर्म शास्त्रों में चार आश्रमों का ही विधान पाया जाता है और वैराग्य हो जाने पर मनुष्य जब चाहे वानप्रस्थ गृहस्थ अथवा ब्रह्मचर्य से भी उसकी दीक्षा ग्रहण कर सकता है, वैराग्य हो जाने पर ऋणत्रय या अन्य कर्तव्याकर्तव्य रुकावट नहीं हो सकते। अब प्रश्न यह रह गया कि चतुर्थाश्रम ग्रहण करने का अधिकार किसको

है? अर्थात् द्विजमात्र चतुर्थ उदासीनाश्रम की दीक्षा ले सकते हैं अथवा किसी वर्ण विशेष के मनुष्य?

कुछ लोगों का मत है; कि चतुर्थाश्रम ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण को ही है क्षत्रिय तथा वैश्य को नहीं। इसकी पुष्टि में वे लोग कुछ प्रमाण भी दिया करते हैं। जैसे—

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च,
वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।"

(बृ० ३, ५, १)

वेदान्तवाक्यप्रतिपादित अति प्रसिद्ध आत्मतत्त्व को जान कर और धन, यश तथा पुत्र की इच्छा से मुक्त हो ब्राह्मण नियमपूर्वक भिक्षाचरण करता हुआ चतुर्थाश्रम का आचरण करे।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन
तपसाऽ नाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव
प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति॥ (बृ० ४, ४, २२)

इस से भी यही सिद्ध किया जाता है कि प्रव्रज्या—चतुर्थाश्रम का अधिकार केवल ब्राह्मणवर्ण को ही है।

"मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मःप्रशस्यते।"

भगवान् विष्णु के चिन्ह काषाय—वस्त्र तथा दण्डादि धारणकरने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये इनका धारणकरना कल्याण कारी नहीं। ऐसे ही कुछ प्रमाण और भी हैं जिन से यह सिद्धकरने का यत्न किया जाता है कि चतुर्थाश्रम का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है।

गतिस्तुर्य्याश्रमे नास्ति बाहुजोरुजयोः क्वचित्।
तुर्य्याश्रमे गतिः प्रोक्ता मुखजानां स्वयम्भुवा॥

क्षत्रिय तथा वैश्य का चतुर्थाश्रम में कोई अधिकार नहीं। भगवान् स्वयम्भूने केवल ब्राह्मण को ही चतुर्थाश्रम का अधिकार दिया है।

ऊपर उद्धृत श्रुति-स्मृति-वाक्यों में भ्रम डालनेवाली बात केवल इतनी ही है कि इन में ब्राह्मण पद प्रयुक्त हुआ है।

परन्तु केवल ब्राह्मण के लिये ही चतुर्थाश्रम का विधान सिद्ध करनेवाले लोग इन वाक्यों का अर्थ करते हुए इस बात को भूल जाते हैं कि शास्त्रों में कहीं कहीं ब्राह्मणपद द्विज के अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ—

"जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते।"

इस श्रुतिवाक्य में ब्राह्मण को ही ऋणत्रय का ऋणी कहा है। यदि यहाँ पर ब्राह्मणपद का अर्थ केवल ब्राह्मण-जाति-विशेष ही किया जायगा तो इस श्रुतिवाक्य का भाव यही हो सकता है कि केवल ब्राह्मण को ही तीन ऋणों से उऋण होने की आवश्यकता है क्षत्रिय आदि अन्य किसी वर्ण को नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त तो कहीं माना नहीं गया। मनु महाराज ही कहते हैं—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ (मनु० अ० ६ श्लोक ३७)

वेदाध्ययन त्याग कर जो पुत्रहीन द्विज भाँति भाँति के यज्ञ नहीं करता और मोक्षप्राप्ति के यत्न में लगा रहता है वह नरकगामी होता है।

यहाँ तीनों वर्णों के लिये ऋणत्रय से मुक्ति आवश्यक कही गई है। इसीप्रकार—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः!
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ (मनु अ० ६ श्लो० ७०)

सप्तव्याहृति और दस प्रणवसहित ब्राह्मणद्वारा किया हुआ प्राणायाम परम तप होता है। ब्राह्मणपद आने के कारण यदि इस श्लोक का भाव यही समझा जाए कि प्राणायाम का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है, अन्य वर्णों को नहीं तो ऐसा समझना किसी तरह भी संगत नहीं हो सकता, नही यह बात शास्त्र सम्मत है—

"सन्ध्यात्रयन्तु कर्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा।" (अत्रि)

इस से तीनों वर्णों के लिये सन्ध्या करना आवश्यक सिद्ध होता है।

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्य्यस्याप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥ (यो० या० स्मृति अ० १ श्लो० २२)

इस में द्विजमात्र के लिये विधिपूर्वक स्नान, मार्जन, प्राणायाम, सूर्य्य का उपस्थान तथा गायत्री का जप करने का विधान है।

यदह्ना कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्राणायामैस्तु हन्ति तत्॥
यद् रात्र्या कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
पूर्वसन्ध्यामुपासीनः प्राणायामैर्व्यपोहति॥ (यम)

त्रिकालसन्ध्योपासक द्विज, दिन में मनसा वाचा कर्मणा किये हुए पापों को सायंकालीन और रात्रि में किये पापों को प्रातःकालीन सन्ध्योपासना के समय प्राणायाम द्वारा नष्ट कर देता है। सन्ध्योपासना करना द्विज का परम कर्तव्य है और सन्ध्या में प्राणायाम भी आवश्यक है। सन्ध्या न करनेवाला द्विज पाप का भागी होता है। यथा—

"नोपतिष्ठन्ति ये सन्ध्यां स्वस्थास्व(व)स्थास्तु वै द्विजाः।
हसन्ति वै सदा पापा भगवन्तं दिवाकरम्॥" (अत्रि)

जो द्विज शक्ति रहते किसी अवस्था में भी सन्ध्या वन्दन का त्याग करता है वह भगवान् भास्कर का अपमान करता है।

योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः।
विहाय सन्ध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम्॥ (कूर्मपुराण)

जो द्विज सन्ध्यावन्दन त्याग कर अन्य यत्नों में लगा रहता है वह १०००० वर्षों तक नरक में पड़ा सड़ता है। इस श्लोक में यद्यपि द्विजोत्तम पद आया है। पर यदि इसका अर्थ द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य न किया जायगा तो ऊपर दिये गये प्रमाणों से विरोध सिद्ध होगा। फिर मनु महाराज तो कहीं कहीं स्पष्ट तया द्विजों के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे चतुर्थ अध्याय में द्विज-मात्र गृहस्थ्य के धर्मों का निरूपण करते हुए अन्त में कहते हैं–

"एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।" (मनु अ० ४ श्लो० २५९)

यह गृहस्थद्विज का नित्य कृत्य कहा है।

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥ (मनु० अ० ४ श्लो० २६०)

वेदशास्त्र का ज्ञाता और पूर्वोक्त कृत्य में स्थित द्विज पापरहित होकर ब्रह्मलोक में सत्कारित होता है।

यदि इस स्थान पर विप्र शब्द का ब्राह्मण अर्थ ही किया जाय तो प्रकरण विरोध आता है। क्योंकि जब पीछे तीनों वर्णों के धर्मों का निरूपण उसके अनुरूप है, इस उपसंहाररूप अन्तिमश्लोक में एक ही वर्ण का नाम पूर्व वर्णितविषय का संग्राहक नहीं हो सकता। यह श्लोक इस अध्याय का उपसंहार है, यह बात मनुस्मृति के मान्य टीकाकार श्रीकुल्लूक-भट्ट भी "अयमध्यायार्थोपसंहारः" स्वीकार करते हैं। यदि कहा जाय कि मनु-स्मृति के चौथे अध्याय में ब्राह्मण आदि सब वर्णों का धर्म निरूपण किया गया है इस लिये उपसंहार में ब्राह्मण अर्थात् प्रथमवर्ण का नाम लिखकर ही शेष सब वर्णों का संकेत कर दिया है, तो जो बात हम कहते हैं वह भी यही है कि जिस प्रकार इस श्लोक में ब्राह्मणपद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिये

प्रयुक्त हुआ है वैसे ही प्रसंग-वश अन्य वाक्यों में भा-विशेषतया उपस्थित विषय चतुर्थाश्रम का विधान करने वाले वाक्यों में-ब्राह्मण, विप्र अथवा द्विजोत्तमपद से द्विजमात्र का वर्णन किया गया है, और वहाँ इन पदों का अर्थ द्विज ही युक्ति संगत हो सकता है।

इसी प्रकार मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय के इन श्लोकों में आए विप्र शब्द का अर्थ भी द्विज ही है-

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो॥ २॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ ३॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्याद न्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ ४॥

चौथे अध्याय में वर्णित द्विजों के कर्मों को सुन कर ऋषियों ने प्रश्न किया कि भगवन्! इस प्रकार अपने कर्मों में रत रहने पर भी वे विप्र-द्विज लोग मृत्यु का शिकार क्यों होते हैं?

उत्तर में मनुकुलोत्पन्न भृगुजी बोले—निजधर्म-पालन में आलस्य, वेदाभ्यास, और सदाचार के त्याग तथा बुरे अन्न के प्रभाव (अभक्ष्य अन्न के सेवन) से द्विजाति लोग अकाल मृत्यु का शिकार होते हैं। इसके अनन्तर अन्नदोष की व्याख्या करते हुए महर्षि भृगुने "अभक्ष्याणि द्विजातीनाम्" द्विजाति शब्द का प्रयोग किया है, अतः व्याख्येय पूर्वश्लोक में विवश विप्रशब्द का अर्थ द्विजाति ही करना होगा। आगे चलकर अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित्त वर्णन करते हुए २१ वें श्लोक में "संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रंद्विजोत्तमः" द्विज के लिये द्विजोत्तम पद प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ श्रीकुल्लूकभट्ट भी "द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरम्" द्विज ही करते हैं। कारण, मनुस्मृति में इस विषय का उपसंहार करते हुए भी "एतदुक्तं द्विजातीनाम् भक्ष्याभक्ष्य मशेषतः" यह द्विजातियों का भक्ष्य अभक्ष्य निरूपण किया गया, ऐसा ही लिखा हुआ है।

इस से सिद्ध हुआ कि श्रुतिस्मृति में ब्राह्मण, विप्र, द्विजोत्तम पद प्रसंगवश अन्य विषयों में कहीं कहीं और चतुर्थाश्रम-विधान-विषय में अधिकतर द्विजाति के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। यह सम्मति हमारी ही नहीं और भी अनेक आचार्यों ने ऐसी ही सम्मति प्रकट की है। क्योंकि ऐसा न मानने पर प्रसंगविरोध का दोष उपस्थित होना अनिवार्य है। श्रीसुरेश्वराचार्य भी लिखते हैं—"त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुतौ। यदोपलक्षणार्थं स्यात् ब्राह्मणग्रहणन्तदा। ब्राह्मणग्रहणं चात्र द्विजानामुपलक्षणम्, अविशिष्टाधिकारित्वात् सर्वेषामात्मबोधने।" कहने का प्रयोजन यह कि चतुर्थाश्रम के विधान में जहाँ जहाँ भी केवल ब्राह्मणपद आया है वहाँ वहपद प्रायः तीनों वर्णों का ही बोधक होता है।

जो लोग केवल ब्राह्मण को ही चतुर्थाश्रम ग्रहण करने का अधिकार मानते हैं वे चतुर्थाश्रमविधान सम्बन्धी श्रौत-स्मार्त-वाक्यों में आए ब्राह्मणपद से ही धोखा खा जाते हैं। यह पता लग जाने के बाद कि चतुर्थाश्रमविधायक प्रमाणों में आया ब्राह्मणपद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों का बोधक है, यदि वे शास्त्रों का अवलोकन करेंगे तो उन्हें भी निश्चय होजायगा कि शास्त्रों में सब जगह तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान किया गया है। कुछ प्रमाण हम यहाँ भी उद्धृत किये देते हैं:-

प्रथमादाश्रमाद्वापि विरक्तो भवसागरात्।
ब्राह्मणो मोक्षमन्विच्छन् त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥
न तावन्मुच्यते दुःखाज्जन्ममृत्योश्च बन्धनात्।
यावन्न धारयते विप्रो वैष्णवं लिङ्गमादरात्॥
शेषं वित्तं त्यजेद्विप्रो धनधान्यादिकं च यत्।
विरक्तः सन्न्यसेद्विद्वाननिष्ट्वापि द्विजोत्तमः॥
अग्नीनात्मनि संस्थाप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्। (स्मृति)

संसार से विरक्त, प्रिय अप्रिय के संसर्ग और रागादिदोष से रहित मोक्षाभिलाषी द्विज ब्रह्मचर्य से ही चतुर्थाश्रम का ग्रहण कर ले। क्योंकि जबतक विष्णु के चिन्ह स्वरूप काषायवस्त्रधारण नहीं करता तब तक वह जन्म मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये विरक्त और विद्वान द्विज अपने धनधान्यादि समस्त वित्त का त्याग कर के वैदिकमर्यादानुसार अग्नि को आत्मा में स्थापित कर चतुर्थाश्रम में प्रवेश करे।

गृहं वनं चोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥ (निर्वाणतन्त्र)

ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से चतुर्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा ब्रह्मचर्य से ही चतुर्थाश्रम में प्रवेश करले। मत्प्राप्त्यभिलाषी द्विज को अनाश्रमी न रहना चाहिये।

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा सन्न्यासेन द्विजोत्तमः॥ (मनु अ० ५ श्लो० १०८)

शरीर आदि शोद्धव्य वस्तुएं मट्टी और जल से, नदी निजवेग से मानस संकल्पदूषित स्त्री मासिकधर्म से और द्विज चतुर्थाश्रम से शुद्ध होता है।

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" (मु० १, २, १२)

अकृत=नित्य शिवस्वरूप आत्मपदकृत=क्लेशबहुल नित्य नैमित्तक अग्निहोत्रादि कर्म द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये द्विज को कर्मफल-स्वर्ग आदि को भी दुःखमय जान कर विरक्त होना चाहिये।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्। (मनु अ० ६ श्लो० ३८)

यजुर्वेद के उपाख्याननामक प्रकरण में प्रतिपादित प्रजापतिदेवताक सर्वस्व दक्षिणान्वित इष्टि समाप्त हो जाने पर विधि-अनुसार द्विज अग्नि को आत्मा में स्थापित करे और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ का अनुष्ठान आरम्भ करे। इसके बाद चतुर्थाश्रम की दीक्षा ले।

एष वोऽभिहितो धर्मः ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत। म० अ० ६ श्लो० ९७)

यह पवित्र तथा परलोक में अक्षयफल देनेवाला चार प्रकार का ब्राह्मणधर्म मैंने आपको सुनाया, अब क्षत्रिय का धर्म कहता हूं, उसे सुन।

यदि ब्राह्मणवर्णधर्मविधायक वाक्यों में भी कहीं प्रसंगवश चतुर्थाश्रम का उल्लेख है अथवा खेंचतान से पूर्ववाक्यों का अर्थ ब्राह्मणवर्णपरक ही किया जाए तो भी इन में इस बात का तो कहीं संकेतमात्र भी नहीं है कि अन्यवर्णों को चतुर्थाश्रम का अधिकार ही नहीं। प्रकरणवश जहाँ ब्राह्मणवर्ण के अन्य धर्मों का निरूपण है वहां चतुर्थाश्रमग्रहणधर्म का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।" (मनु० अ० १ श्लो० ८८)

में ब्राह्मण के अध्ययन, यज्ञ, दानादि षट् कर्मों का निरूपण किया गया है तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अन्य सब वर्णों के लिये इन कर्मों का निषेध है। क्षत्रिय और वैश्य के कर्म वर्णन करते समय उनमें भी यह कर्म

"प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।" (८९)
"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।" (९०)

दान, यज्ञ, तथा अध्ययन आदि लिख दिये। संसार में यह नियम तो कहीं भी देखा सुना नहीं गया कि एक जाति अथवा मनुष्य का जो कर्मवर्णन किया गया है वह दूसरी जाति अथवा मनुष्य का हो नहीं सकता।

जिन वाक्यों में चारों वर्णों के आश्रमों का ४, ३, २, १ के क्रम से उल्लेख पाया जाता है, उन का "त्रैवर्णिकानां संन्यासो विद्यते" इत्यादि के साथ समन्वय करने के लिये निम्न लिखित तात्पर्य मानने के सिवा और कोई मार्ग नहीं। यथा—

"चत्वार आश्रमाश्चैते ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः।
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयाऽऽश्रमाः॥

क्षत्रियस्यापि कथिता य आचारा द्विजस्य हि।
ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्यं च आश्रमद्वितयं विशः।
गार्हस्थ्यमुचितं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर।"

ब्राह्मणों के चारों आश्रम कथन किये हैं, अर्थात् ब्राह्मण चतुर्थाश्रम में भी अनायास प्रविष्ट हो सकता है। क्यों कि उसमें इस आश्रम के आवश्यक शमादि धर्म पहिले से ही स्वभावतः वर्तमान हैं। क्षत्रिय को जन्मसँस्कारवशात् चतुर्थाश्रम के सिवा शेष तीन आश्रमों में प्रवेश करने की सुविधा या शक्ति रहती है। वैश्य दो ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ में सुगमता से प्रवेश कर सकता है। परन्तु शूद्र में केवल गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की ही शक्ति होती है। ब्राह्मण के लिये ही चतुर्थाश्रम का विधान माननेवाले लोग ऊपर लिखित वाक्य भी प्रमाण के रूप में उपस्थित किया करते हैं। परन्तु ऐसा करते हुए वे इस बात को भूल जाते हैं कि इसमें तो जन्मसंस्कार का प्रभाव ही प्रकट किया गया है, आश्रमग्रहणविषयक व्यवस्था नहीं। भाव केवल इतना ही है कि जन्मवर्णसँकारवशात् मनुष्य को अमुक अमुक आश्रमग्रहण करने में स्वाभाविक सुगमता अथवा प्रवृत्ति होती है।

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाःश्रुतिचोदिताः
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकः वैश्यशूद्रयोः॥ (या॰ स्मृति)

इस स्मृतिवाक्य का भाव भी उपर्युक्त ही है।

फिर भी इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि चतुर्थाश्रम का मुख्य साधन वैराग्य ही है—

"वैराग्योत्पत्तिमानेव सन्न्यासे परियुज्यते।
रागवान् न तु विप्रोऽपि वेदवेदाङ्गवित्तमः॥" (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

वैराग्यवान् पुरुष ही चतुर्थाश्रम का अधिकारी हो सकता है रागी पुरुष चाहे वेदवेदांगवेत्ता ब्राह्मण भी क्यों न हो चतुर्थ औदासीन्य आश्रम का अधिकारी नहीं हो सकता।

बाल की खाल उतारनेवाले लोग इस प्रमाण से भी केवल ब्राह्मण को ही चतुर्थाश्रम का अधिकारी सिद्ध करने का वृथा प्रयास किया करते हैं। वे इसका अर्थ करते हैं "वेदवेदाङ्गवेत्ता ब्राह्मण को वैराग्य न होने पर चतुर्थाश्रम का अधिकार नहीं हो सकता। अर्थात् चतुर्थाश्रम का अधिकारी वेदवेत्ता ब्राह्मण है यदि वैराग्य न हो तो वह भी नहीं। पर इसका अर्थ समझने में तो कोई अड़चन हो नहीं सकती। क्योंकि मूल में "विप्रोऽपि" पाठ पड़ा है "वेदवेदाङ्गवित्तमोऽपि" नहीं, इसलिये उनका किया हुआ अर्थ किसी तरह भी घट नहीं सकता। सीधा अर्थ यही है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों को वैराग्य होने पर ही चतुर्थाश्रम का अधिकार है, विना वैराग्य के जन्मसँस्कारवश सुगमता रखनेवाले ब्राह्मण को भी नहीं; वह वेदवेदाङ्गवेत्ता भी क्यों न हो। कहा भी है—

**सन्निरुद्धेन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च।**
**भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः॥**

(यो० या० स्मृति प्रा० प्र० यतिधर्म श्लो० ६१)

जितेन्द्रिय, रागद्वेषरहित और समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करनेवाला द्विज ही मोक्षस्वरूप ( चतुर्थाश्रमी ) बनता है।

कहने का प्रयोजन यह कि शास्त्र में जहाँ ब्राह्मणवर्णविशेष के धर्मों का निरूपण है वहाँ ब्राह्मणशब्द का अर्थ ब्राह्मणवर्ण ही होता है परन्तु जहाँ द्विज मात्र के धर्मों का निरूपण करते हुए कहीं कहीं ब्राह्मण, विप्र तथा द्विजोत्तम शब्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ प्रकरणानुसार उनका अर्थ द्विज ही होगा। चतुर्थाश्रम धर्म का सम्बन्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों के साथ है अतः इस प्रकरण में आए ब्राह्मण, विप्र और द्विजोत्तम शब्दों का अर्थ निःसन्देह द्विज ही है। इस विषय में इन शब्दों के प्रयोग में एक रहस्य यह भी मालूम होता है कि ब्राह्मण नाम वेदाध्यायी का भी है और वेदाध्ययन का अधिकार चतुर्थाश्रमी को भी होता है इसलिये चतुर्थाश्रम अधिकारी वेदाध्ययन के महत्त्व को भी सदैव स्मरण रक्खे।

ऐसा न हो, तब भी चतुर्थाश्रम विधायक वाक्यों में आए ब्राह्मण आदि तीनों शब्दों का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीनों वर्ण करना ही संगत हो सकता है। अन्यथा द्विजमात्र के लिये चतुर्थाश्रमविधायक गणनातीत शास्त्रीयवाक्यों के साथ इनका स्पष्ट विरोध होगा। अब कुछ एक ऐसे प्रमाण भी देखिये जिन में स्पष्ट शब्दों में तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है—

**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः ततो गच्छेद्वनं कृती।**
**सन्न्यसेद्वासनाशान्तः सर्वभूतदयापरः॥** (स्मृति)

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों के लिये आज्ञा है कि यत्नशील होकर वानप्रस्थ का अनुष्ठान करें। जब घोर तपश्चरणद्वारा वासनाएं शान्त हो जाएं तब समस्तप्राणियों के सम्बन्ध में रागद्वेष को त्याग कर चतुर्थ औदासीन्य आश्रम का अनुष्ठान आरम्भ कर दें।

**"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्।"** (पुराण)

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों ही गृहस्थ से चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर सकते हैं।

**अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः।**
**इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥**

(मनु० अ० ६ श्लो ३६, )

विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करने के अनन्तर गृहस्थाश्रम के धर्मों का अनुष्ठान करे और शक्ति के अनुसार यज्ञयागादि करने के अनन्त रमोक्षप्राप्ति के उद्योग में लग जाए। क्यों कि—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ (मनु अ० ६ श्लोक ३७)

वेदाध्ययन न करनेवाला जो द्विज पुत्रोत्पत्ति और यज्ञों का अनुष्ठान किये विना मोक्ष के लिये दौड़-धूप करता है वह नरकगामी होता है।

त्रैवर्णिकानां सन्न्यासोविद्यते नात्र संशयः।
शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वैकदण्डयुक्॥ (ब्रह्माण्डपुराण)

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को शिखायज्ञोपवीत का त्याग करके एक दण्ड-युक्त चतुर्थाश्रम ग्रहण करना चाहिये।

ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहङ्कृतिः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्॥ (स्मृति)

ऋणत्रय से निवृत्त होकर वीताहङ्कार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों को चतुर्थाश्रम का अनुष्ठान करने के लिये घर त्याग देना चाहिये।

"तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि।"
(म० भा० शां० अ० ६३ श्लो० १४)

जिस प्रकार ब्राह्मण को चतुर्थाश्रम ग्रहण का अधिकार है वैसे ही क्षत्रिय तथा वैश्य को भी है।

"कृतकृत्यो वयोऽतीतो राजन् कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातः नृपेणाश्रमसंश्रयम्॥"
(म० भा० शां० अ० ६३ श्लो० १५)

स्ववर्ण-विहित धर्म कार्यों से निवृत्त, और कृतपरिश्रम वृद्ध वैश्य राजा की अनुमति से चतुर्थाश्रम में प्रवेश करे।

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ।
सन्तानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर।
अर्चयित्वा पितॄन्सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि॥
देवान् यज्ञैर्ऋषीन् वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः।
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम्॥
सोऽनुपूर्वाश्रमाद् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात्।
(म० भा० शां० अ० ६३ श्लो० १६, १७, २०, २१)

हे युधिष्ठिर! राजा का कर्तव्य है कि धार्मिकमर्यादानुसार वेद तथा राजनीति शास्त्र को पढ़े और फिर गृहस्थाश्रम के नियमानुसार यज्ञादि का अनुष्ठान, धर्मपूर्वक प्रजापालन और पितृयज्ञों द्वारा पितरों का पूजन करे। देवताओं का यज्ञों से औरऋषियों का वेदाध्ययन से पूजन अर्चन करता रहे। इस प्रकार सर्व आश्रमधर्मों का पालन करता हुआ अन्त में राजा भी चतुर्थाश्रम को ग्रहण कर ले। क्योंकि मोक्ष का द्वार चतुर्थाश्रम ही है।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥ मनु अ० ६ श्लो० ४० )

समस्त प्राणियों को अभयप्रदानकरनेवाला न स्वयं किसी के भय का कारण होता है और नही देहमुक्त हो जाने के अनन्तर उसको किसी का भय होता है।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ (मनु अ० ६ श्लो० ८५)

पूर्वकथित क्रम से जो द्विज चतुर्थाश्रम को ग्रहण करता है वह पापों से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।" (मनु ६ ९१)

इसी प्रकार—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और शान्ति धर्म के यह दश लक्षण हैं।

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा सन्न्यसेदनृणो द्विजः। (मनु ६, ९४)

दशलक्षणक धर्म का अनुष्ठान करता हुआ द्विज ऋणत्रय से मुक्त होने का यत्न करे और अन्त में वेदान्तवाक्यों का श्रवण कर विधिपूर्वक चतुर्थाश्रम का ग्रहण करले।

प्रव्रज्याऽवसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।
निर्वासं कारयेद्विप्रं दास्यं क्षत्रियवैश्ययोः॥ (अत्रि)

चतुर्थाश्रम से भ्रष्ट ब्राह्मण को राजा देश से निकाल दे और क्षत्रिय तथा वैश्य को दास बना ले।

अग्नीनात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत्।
योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः॥
एवं वनाश्रमे तिष्ठन् तपसा दग्धकिल्विषः।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत् सन्न्यस्य विधिना द्विजः॥ (कूर्म, नारसिंह)

शान्तमन योगाभ्यासपरायण द्विज, शास्त्रीयमर्यादानुसार अग्नि को आत्मा में आरोपण कर ब्रह्मविद्या—वेदान्त का अभ्यास करता हुआ चतुर्थाश्रम में प्रवेश करे। इसी विधि से सर्वत्यागकर वानप्रस्थाश्रम में स्थित रहकर तपश्चरण द्वारा पापरहित हुआ द्विज चतुर्थाश्रम को ग्रहण करे।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः॥ (स्मृति)

स्मृतियों तथा पुराणेतिहासादि धर्मग्रन्थों में ऐसे गणनातीत प्रमाण हैं जिन से तीनों वर्णों को चतुर्थाश्रम ग्रहण का समान अधिकार सिद्ध होता है। ऐसा न मानने से शास्त्रीयवाक्यों में परस्पर विरोध होगा. जो शास्त्रकारों को कभी अभीष्ट नहीं हो सकता। एक ही धर्मशास्त्र के एक वाक्य में यदि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों को चतुर्थाश्रम के अधिकारी स्वीकार किया गया है तो दूसरे ही वाक्य में चतुर्थाश्रम अधिकारी के लिये ब्राह्मण, विप्र, द्विजोत्तम द्विज पद का प्रयोग किया गया है। यदि वहाँ भी ब्राह्मण आदि पदों का अर्थ द्विज न करेंगे तो शास्त्रों के प्रकरण विरोध और सिद्धान्त विरोध को कैसे मिटाया जा सकेगा? इसलिये स्वीकार करना होगा कि चतुर्थाश्रम विधान प्रकरण में जहाँ भी ब्राह्मण विप्र और द्विजोत्तम पद मिलते हैं वहाँ उनका अर्थ प्रायः द्विज ही होता है। क्योंकि जब शास्त्रकार एक जगह इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके हैं कि चतुर्थाश्रम ग्रहण करने का तीनों वर्णों को समान अधिकार है तो दूसरे ही वाक्य में उसका खण्डन कैसे कर सकते हैं?।

कहा जाता है कि यदि ब्राह्मणपद का अर्थ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्ण हो सकते हैं तो "ब्राह्मणं न हन्यात्—ब्राह्मण को न मारे" इस वाक्य में भी तीनों वर्णों का ग्रहण होना चाहिये और क्षत्रिय अथवा वैश्य का हनन करनेवाला भी उतने ही पाप का भागी होना चाहिये जितने पाप का भागी ब्राह्मण की हत्या करनेवाला होता है? परन्तु यह कथन युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि — चतुर्थाश्रम विधान में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द का अर्थ द्विज करने का अभिप्राय यह नहीं कि ब्राह्मणपद जहाँ जहाँ भी प्रयुक्त है वहां उसका अर्थ तीनों वर्ण होगा। जहां ब्राह्मणपद के ब्राह्मण वर्ण का बोधक होने में कोई बाधक नहीं वहां तो उसका अर्थ वर्णविशेष ही करना होगा। पहिले कहा गया है कि ब्राह्मणपद कहीं कहीं तात्पर्य्यवशात् द्विजाति का बोधक है और चतुर्थाश्रम विधान में यह शब्द प्रायः तीनों वर्णों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जिस जगह ब्राह्मणपद का क्षत्रिय और वैश्य के बोधन में तात्पर्य नहीं, वहाँ तो उसका अर्थ वर्णविशेष ही करना होगा। उदाहरणार्थ,

"दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्" (मनु) इस में आया ब्राह्मणपद विशेष वर्ण का ही बोधक है। इसी प्रकार "ब्राह्मणं न हन्यात्" में आए ब्राह्मण पद का अर्थ भी वर्णविशेष ही होगा। क्योंकि उसका यहाँ द्विजातिबोधन में तात्पर्य्य नहीं।

पूर्वमीमांसा में "प्रोद्गातृणाम्" वाक्य से विहित चमसभक्षण का अधिकारी केवल उद्गाता (सामवेद के उद्गीथनामक भाग को गाने वाला) ही होना चाहिये। क्योंकि उद्गातृशब्द की शक्ति केवल उसी में है। अन्य होत्रादि ऋत्विजों में नहीं। इस शंका के समाधान में यदि (चमसभक्षण का अधिकारी केवल उद्गाता ही है) ऐसा माना जाय तो "उद्गातृणाम्" में बहुवचन असंगत होगा, क्योंकि उद्गाता एक ही व्यक्ति है, बहुत नहीं। अतः उक्तवाक्यविहित चमसभक्षण के अधिकारी समस्त ऋत्विक् हैं, यह सिद्धान्त किया गया है। जिस प्रकार "उद्गातृणाम्" में तात्पर्यवशात् सर्व ऋत्विग् आ जाते हैं उसी प्रकार चतुर्थाश्रमविषयक वाक्यों में आए ब्राह्मणशब्द का अर्थ भी तात्पर्यवशात् द्विज ही ग्रहण करना आवश्यक और संगत है। अन्यथा शास्त्रों में और एक एक शास्त्र के भिन्न भिन्न वाक्यों में परस्पर विरोध उपस्थित होगा जो और किसी ढंग से भी दूर नहीं हो सकता।

शास्त्रों में क्षत्रियों और वैश्यों के चतुर्थाश्रम-ग्रहणाधिकार विषयक केवल अगणित प्रमाण ही नहीं मिलते उन के चतुर्थाश्रमप्रवेश के उदाहरण भी बहुत पाए जाते हैं। जैसे—

पुराणों में कथा आती है कि महाराज स्वायम्भुवमनु अपने पुत्र प्रियव्रत को राजकाज सौंपकर वन में तप करने के लिये चले गये। इसी प्रकार महाराज प्रियव्रत भी अपने आग्नीध्रनामक पुत्र को राज्यशासन सम्भालकर नारदजी से दीक्षा ले चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर गयेः—

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव स ह महाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार।

अर्थात् पृथ्वी का राज्य अपने पुत्रों के सुपुर्द कर महाराज प्रियव्रत पुनः तपोवन में जा नारद जी द्वारा उपदिष्ट—चतुर्थाश्रम-मार्ग का अनुसरण करने लग गये। इसी प्रकार महाराज रघु के चतुर्थाश्रमप्रवेश का भी पता मिलता है। जैसे रघुवंश में ही लिखा है—

"स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः निवसन्नावस्थे पुराद्बहिः।"

(सर्ग ८, १४)

अन्तिम औदासीन्य आश्रम में स्थित महाराज रघु अयोध्या नगर से बाहर एकान्त में जाकर रहने लगे। इस से सिद्ध है कि महाराज रघु ने राज्यशासन भार अज को सम्भालकर उदासीन आश्रम ग्रहण कर लिया था।

महाराज जनक सम्बन्धी भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उन्हों ने राज्यसिंहासन पर अपने बेटे को बैठाकर स्वयं उदासीन महात्मा याज्ञवल्क्य जी से चतुर्थ उदासीन आश्रम की दीक्षा ले ली थी।

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम्।
दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित्॥ (९५)
गोकोटिं स्पर्शयामास, हिरण्यन्तु तथैव च।
रत्नाञ्जलिमथैकञ्च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा॥ (९६)
विदेहराज्यञ्चतदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासँश्चाप्यवसन् मिथिलापतिः॥ (९७)
सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः।
धर्माधर्मञ्चराजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन्॥ (९८)

(म० भा० शां० मोक्षधर्म अ० ३१८)

महाराज जनक को आत्मोपदेश कर योगी याज्ञवल्क्य जाने लगे तो महाराज ने उनकी तीन प्रदक्षिणाएं कीं। मुनि के चले जाने पर देवरात के वंशधर महाराज जनक ने करोडों गौएं, सोना और रत्नों की अञ्जलि ब्राह्मणों को दान की, मिथिला का राज्य अपने पुत्र को सम्भाला और स्वयं चतुर्थ उदासीन आश्रम में प्रविष्ट होकर मोक्षप्राप्ति के यत्न में लग गये।

इस से सिद्ध है कि अन्त में मोक्षप्राप्ति के लिये महाराज जनक ने भी चतुर्थ उदासीन आश्रम को ग्रहण किया था। क्योंकि मोक्षप्राप्ति का साधन त्यागस्वरूप चतुर्थाश्रम ही है। जो लोग "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इस गीता वाक्य को भाव यह समझते हैं कि सांसारिक कर्मों में फँसे रहकर ही महाराज जनक ने आत्मज्ञानप्राप्त किया था, वे इस वाक्य का अर्थ करते समय इस ऐतिहासिक प्रमाण को भूल जाते हैं। वस्तुतः भाव इस वाक्य का यही है कि महाराज जनक आदि महात्माओं ने कर्मद्वारा ही अपने अन्तःकरण की शुद्धि करली थी। मोक्ष-प्राप्ति के लिये तो उन्हें भी चतुर्थ उदासीन आश्रम को ही ग्रहण करना पड़ा था। महाराज जनक के चतुर्थाश्रमग्रहण का वर्णन महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय १८ में भी आया है।

उत्सृज्य राज्यं भैक्ष्यार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम्।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत॥
धनान्यपत्यदारांश्च रत्नानि विविधानि च।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौनमास्थितः॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिञ्चनम्।
धान्यमुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम्॥ (श्लो० ३, ४, ५)

"धन, सुत, विविधैश्वर्यत्यागी, भिक्षावृत्तिस्थित, स्वल्पाहारी, निरभिमान तथा निष्काम जनक को उसकी प्रिया धर्मपत्नी ने देखा और फिर जो कुछ कहा उसे सुन"। इस से सिद्ध होता है कि महाराज जनक चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर भिक्षा पर निर्वाह करते रहे हैं। यदि क्षत्रिय को चतुर्थाश्रम का अधिकार न होता तो महाराज स्वयम्भुवमनु, प्रियव्रत, रघु और जनक जैसे मर्यादाविचक्षण महानुभाव उसे कभी ग्रहण न करते। इन लोगों का चतुर्थाश्रम प्रवेश ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि इस आश्रम को ग्रहण करने का क्षत्रियों को भी पूर्ण अधिकार है, और उनका चतुर्थाश्रमग्रहण करना सर्वथा वेदसम्मत है। कूर्मपुराण में एक कथा आती है कि पृथुपौत्र सुशील ने भी महामुनि श्वेताश्वतर महाराज से चतुर्थ उदासीन आश्रम की दीक्षा ली थी—

अथास्मिन्नन्तरेऽपश्यत्समायातं महामुनिम्।
श्वेताश्वतरनामानं महापाशुपतोत्तमम्॥
भस्मना दिग्धसर्वाङ्गं कौपीनाच्छादनान्वितम्।
तपसा दर्शितात्मानं शुक्लयज्ञोपवीतिनम्।
समाप्य संस्तवं शम्भोरानन्दाश्रुविचक्षणः।
ववन्दे शिरसा पादौ प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मे साक्षान्मुनीश्वरः।
योगीश्वरोद्य भगवान् दृष्टो योगविदांवरः॥
अहो मे सुमहद्भाग्यं तपांसि सफलानि मे।
किं करिष्यामि शिष्योऽहं तव मा पालयानघ॥
सोऽनुगृह्याथ राजानं सुशीलं शीलसंयुतम्।
शिष्यत्वे परिजग्राह तपसा क्षीणकल्मषम्॥
सांन्यासिकं विधिं कृत्स्नं कारयित्वा विचक्षणः।
ददौ तदैश्वरं ज्ञानं स्वशाखाविहितं व्रतम्॥
अशेषवेदसारं तत्पशुपाशविमोचनं।
अत्याश्रमइतिख्यातं ब्रह्मादिभिरनुष्ठितम्॥ (वंशानुक्रमे कूर्मपुराण)

विप्रों में श्रेष्ठतर, शुक्लयज्ञोपवीती, भस्मभूषिताङ्ग शङ्करस्वरूप उन महामुनि श्वेताश्वतर, जिन्हों ने एक कौपीन पहन रक्खी थी और तपआदि द्वारा आत्म-साक्षात्कार किया हुआ था, को देखकर पृथुपौत्र सुशील ने प्रार्थनास्वरूप शिव-

स्तोत्र पढ़ा। आनन्द से गद्‌गद हो गया आँखों में प्रेमअश्रु उमड़ आए। उसी प्रेमावेश में अपने उत्तमाङ्ग को मुनि के पवित्र चरणों में रख साञ्जलि प्रणाम कर बोला—हे योगीश्वर! मैं धन्य हूं जिसे आप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आप ने बड़ी अनुग्रह की। आप विज्ञों में श्रेष्ठ साक्षात्‌भगवान् योगेश्वर हैं। आपने मुझे दर्शन देकर आज कृतार्थ कर दिया। मालूम होता है मैंने बड़े पुण्य किये हैं जिन का फल आप का दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुआ। आज्ञा कीजिये मैं आप की क्या सेवा करूँ? हे प्रभो! मैं आप का शिष्य हुँ, मुझे ज्ञानोपदेश कर इस असार एवम् अपार संसार से मेरा उद्धार कीजिये।

महाराज सुशील की यह हार्दिक प्रार्थना सुनकर महामुनि श्वेताश्वतर प्रसन्न हो गये और साधुस्वभाव सुशील पर कृपा करके उसे अपना शिष्य बना लिया। उस विवेकी महात्मा ने तपद्वारा निष्पाप होचुके राजा को पूर्णविधि के अनुसार प्रव्रज्या—चतुर्थाश्रम में दीक्षित किया। अपनी शाखा के समस्त नियम व्रताप और चतुर्थाश्रमोपयोगी तथा मुक्तिप्रदाता वैदिकज्ञान का वह उपदेश किया जिस से परमात्मा के दर्शन हो सकें।

पैङ्गि-रहस्य ब्राह्मण में लिखा है कि क्षत्रिय भरत को चतुर्थाश्रम का उपदेश करने के समय निम्न वाक्य कहे गये थेः—

**यदि मृत्योः परंशान्तमनामयं शाश्वतं पदमिच्छुरसि तत्परमहंसो भव।"**

यदि आप अमृतरूप नित्य मोक्ष के अभिलाषी हैं तो परमहंस बन जाओ।

महात्मा श्वेताश्वतरद्वारा राजा सुशील को दी गयी चतुर्थाश्रम की दीक्षा से स्पष्ट सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से ही क्षत्रियों के लिये चतुर्थ उदासीन आश्रम का द्वार खुला रहा है।

श्रीमद्भागवतादि पुराणों में नारद जी द्वारा दक्ष प्रजापति के पुत्र हर्यश्वों तथा सबलाश्वों को उदासीन धर्म की दीक्षा देने की कथा कई जगह लिखी मिलती है। (सम्पूर्ण कथा नारदचरित्र में पढिये) स्कन्दपुराण में कथा है कि भगवान् राम के छोटे भाई लक्ष्मणजी ने भी चतुर्थाश्रम ग्रहण किया था—

**रामराम महाबाहो मा त्वं शोकपरो भव।**
**न चास्य युज्यते वन्हिर्दातुं चैव कथञ्चन॥**
**ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त (दग्ध) स्य सन्यस्तस्य विशेषतः।**
**अग्निदानं न युक्तं स्यात् सर्वेषामपि योगिनाम्॥**

(स्कन्दपुराण नागर खण्ड अ० १०० श्लो० ४१, ४२)

सरयू नदी के तट पर लक्ष्मण ने योगद्वारा देह को त्याग दिया है, यह सुन कर भगवान् राम वहाँ पहुँचे और जब दाह सँस्कार करने लगे तब आकाशवाणी हुई कि—हे विशालबाहु राम! लक्ष्मण के शरीर त्याग का शोक मत करो और नही इसके शरीर का दाह करो। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी चतुर्थाश्रमी के शव का वन्हि-

द्वारा दाह करना युक्त नहीं है। समस्त योगियों के लिये यही व्यवस्था* है। इस से प्रकट होता है कि लक्ष्मणजी ने अपनी आयु का अन्तिम भाग चतुर्थाश्रम में ही विताया था। तव क्षत्रिय को चतुर्थाश्रम प्रवेश का अधिकार होने में सन्देह ही कहाँ रह जाता है।

महाभारत में कथा आती है कि एक वार महाराज युधिष्ठर भी चतुर्थाश्रम ग्रहण करने के लिये तैयार हो गये थे। वह कथा भी यहाँ देदी जाती हैः—

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डःक्षपयिष्ये कलेवरम् ॥ १२॥
पांसुभिःसमभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाऽप्रियः॥ १३॥
न शौचन्न प्रहृष्यँश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ १४॥
आत्मारामःप्रसन्नात्मा जडान्धवधिराकृतिः।
अकुर्वाणः परैः काश्चित्संविदं जातु कैरपि॥ १५॥
जङ्गमानजङ्गमान्सर्वानविहिंसन् चतुर्विधान्।
प्रजाःसर्वाःस्वधर्मस्थाःसमःप्राणभृतः प्रति॥ १६॥
न चाप्यवहसन्कंचिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित्।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥ १७॥
अपृच्छन्कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित्।
न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः॥ १८॥
गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन्।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छन् त्रसस्थावरवर्जकः॥ १९॥
स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २०॥
अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन्॥ २१॥

* वेद में "भस्मान्तꣳ शरीरम्" दाहसँस्कार का स्पष्ट उल्लेख है, अतः यह स्मार्त है श्रौत नहीं, इसीलिये श्रौतमुनियों (उदासीनों) में दाहसंस्कार की विशेष प्रथा है।

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसञ्चारे काले विगतभिक्षुके ॥ २२ ॥
एककालं चरन् भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा ।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम् ॥ २३ ॥
अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः ।
न जिजीविषुवत् किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥ २४ ॥
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन् नच द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ॥ २५ ॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ।
याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ॥ २६ ॥
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ।
तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ॥ २७ ॥
अपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतःसर्ववागुराः ॥ २८ ॥
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ।
वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ॥२९ ॥
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ।
कुशलाऽकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ॥ ३० ॥
कार्य्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रतः ।
आयुषोन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् ॥ ३१ ॥
प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ।
एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत् ॥ ३२ ॥
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेणकार्यवान् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ॥ ३३ ॥

अपारमिव चाऽस्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम्।
दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु ॥ ३४ ॥
कोहि नाम भवेनार्थी भवेत्कारणतत्ववित्।
कृत्वाहि विविधं कर्म तत्तद्विविधलक्षणम् ॥ ३५ ॥
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव वध्यते।
तस्मात्प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ॥ ३६ ॥
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम्।
एतया संततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ॥ ३७ ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३८ ॥

(म० भा० शान्तिपर्व अध्याय ९)

चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर उसके–चतुर्थाश्रम के नियमों का पालन करता हुआ मैं इस देह का त्याग करूँगा। वदन को धूलीधूसरित कर एकान्त अथवा किसी वृक्ष के नीचे निवास रख कर सांसारिक अनुकूल प्रतिकूल वस्तुओंका परित्याग करूँगा। चिन्ता, आनन्द, निन्दा, स्तुति को सम जानता हुआ सर्वसंकल्पत्यागी, ममतारहित सुख दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो कर मैं सर्वस्व त्यागी वनूंगा। योग द्वारा आत्मा में रमणशील और शुद्ध अन्तःकरण हो जड़, अन्ध और वधिर की भाँति किसी से भी निष्प्रयोजन वार्तालाप न करूँगा। अण्डज, जरायुज, और स्वेदज तीन यह जङ्गम और चौथे स्थावर इन चतुर्विध प्राणियों की कभी हिंसा न करूँगा। अपने अपने वर्णाश्रम धर्मपरायण प्रजाजनों में मेरी समबुद्धि होगी। न कभी किसीका उपहास करूँगा न किसी पर क्रोधपूर्ण दृष्टि डालूँगा। सर्वदा प्रसन्नानन और जितेन्द्रिय हो कर रहूँगा। मुझे न इधर उधर भ्रमण करने की इच्छा होगी न किसी से मार्ग पूछने की आवश्यकता। गमन का अनभिलाषी होता हुआ भी यदि चल पड़ा तो पीछे की ओरसे निश्चिन्त, सरल, प्राणियोंका हितचिन्तक सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर सम्बन्धी ममत्वादि अभिमान रहित होकर मैं काल यापन करूँगा। देह के आदि कारण प्रारब्ध की अपेक्षा देहादि के संस्कार अग्रसर होते हैं। सुप्त बालक जैसे स्वप्न द्वारा माता के स्तनों से दुग्धपान करता है उसी प्रकार अदृष्टरूप संस्कारों से निरभिमान तत्ववेत्ता पुरुष भी खानपानादि क्रिया में प्रवृत होता है। सुख दुःख मान अपमान आदि द्वन्द्वों की ओर मैं ध्यान न दूँगा। केवल क्षुधा निवारणार्थ भिक्षावृत्ति द्वारा प्रथम या द्वितीय गृह से रूखा सूखा अन्न ग्रहण कर लिया करूँगा। यदि दूसरे गृह से भी अन्न–प्राप्ति न होगी तो अधिक से अधिक सातवें गृह तक भिक्षाकी

याचना किया करूँगा। यदि कभी गृहस्थ लोग भोजन कर चुके हों और भिक्षुकों को भिक्षा देकर रसोई का काम समाप्त कर चुके होंगे तो ऐसी स्थिति में मैं दूसरे तीसरे या अधिक से अधिक पाञ्चवें घर से एकवार भिक्षा ग्रहण कर सन्तोष कर लिया करूँगा। इस प्रकार पुत्र दारादि के वन्धनो को काटकर मैं समस्त भूमण्डल में भ्रमण करूँगा। लाभालाभ में समवुद्धि और विविध तपों का आचरण करने में तत्पर रहकर मैं न तो धन लोलुपों की भाँति धन संग्रह करूंगा और नही आत्मघातियों की भाँति जीवनाधार अन्न आदि वस्तुओंका त्याग करूँगा। अर्थात् धन आदि का त्याग कर केवल शरीर रक्षणार्थ ही अन्न आदि भोजन ग्रहण करूँगा। जीवन से प्रेम और मृत्यु से द्वेष करके मैं अपने घातक का अशुभ चिन्तन और प्राणदान देनेवाले का कभी शुभ चिन्तन न करूँगा। लौकिक ऐश्वर्य और पारलौकिक स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति के लिये लोग यावज्जीवन भाँति भाँतिके यत्न करते हैं, मैं उन सव का त्याग करूँगा और अपने सुख दुःख की ओर ध्यान न देकर केवल प्रारब्धवशात् आवश्यक निमेषोन्मेष और शरीररक्षणार्थ खानपान आदि क्रियाओं में रत हूँगा। दैनिक आवश्यक क्रियाओं में असङ्ग रहता हुआ इन्द्रियों के व्यापार को रोकने का भरसक प्रयत्न करूंगा। मन को वश में कर वुद्धि के दोषों का संशोधन करूँगा और रागादिमूलक-वन्धनों से मुक्त हो सांसारिक-वन्धनों का मूलोच्छेद कर डालूँगा। किसी प्रेमी मित्र या वन्धु के प्रेमपाश में न फँस कर वायु की भाँति स्वतंत्र, स्वच्छन्द और वीतराग हो नित्य सन्तोष को पालूंगा। अज्ञानवशात् तृष्णा के पंजे में फंसकर मैंने महाभारत रूपी कुत्सित कर्म कराया। बहुत लोग जन्मजन्मान्तरकृत कुत्सित कर्मों के फल स्वरूप स्त्री पुत्र आदि को पाकर भावी दुःखों के हेतु कुटुम्ब के भरण पोषण में ही लगे रहते हैं और अदृष्टवशात् इस शरीर को छोडकर पूर्व कर्मों का फल भोगते हैं। क्योंकि कर्मफल का अधिकारी कर्ता ही होता है। रथचक्र की भाँति यह संसार चक्र भी कर्माधीन ही चलता है। अपने अपने कर्मानुसार भाँति भाँति के सुख दुःख भोगने के लिये जीव शरीररूपी पञ्चभूतों के साथ संयोगी होता है। जन्म, मृत्यु, जरा, आधि, व्याधि, प्रभृति विविध दुःखमय संसार का तत्वज्ञान से ही अन्त होता है वस्तुतः इसकी सत्ता रज्जुमें सर्प की भ्रान्ति से अधिक महत्ता नहीं रखती। इसलिये संसार से विरक्त ही सच्चे सुख अर्थात् मोक्ष का अधिकारी है। जब स्वर्ग से देवताओं और महर्षियों का पतन निश्चित है—क्योंकि कारण यज्ञादि अनित्य होने से उनका कार्य्य स्वर्गादि भी अनित्य है—तब कौन जानकार मनुष्य ऐसे स्वर्ग का अभिलाषी होगा। तरह तरह के सामादिक उपायों द्वारा क्षुद्र नृप भी सम्राट को मार भगाते हैं। स्वर्ग का साम्राज्य तथा पृथिवी का साम्राज्य अनित्यता-दोष-युक्त है, अनन्त-काल के आयास से आज यह तत्वज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है। विवेक-पूर्वक तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर मैं सदा निर्विकार, स्थिर मोक्षपद की प्राप्ति की ही प्रार्थना करता हूँ। पूर्वोक्त स्वरुप में धैर्य से विचरण करता हुआ अव मैं जन्म, मरण, जरा, आधि, व्याधि प्रभृति दुःखयुक्त शरीर का चतुर्थाश्रमी होकर ही अन्त करूँगा।"

इस से सिद्ध है कि महाराज युधिष्ठर भी एक समय चतुर्थाश्रम ग्रहण करने के लिये तैयार हो गये थे। महाराज युधिष्ठिर धर्मपुत्र कहलाते थे शास्त्र मर्यादा के

विरुद्ध कोई बात कभी विचारते भी न थे। यदि क्षत्रियों को चतुर्थाश्रमग्रहण का अधिकार न होता तो वे उसकी कभी इच्छा भी न करते* इस में सन्देह नहीं कि इच्छा करने पर भी महाराज युधिष्ठिर ने चतुर्थ औदासीन्य आश्रम की दीक्षा ली नहीं, परन्तु इस का अर्थ यह न समझ लिया जाए कि क्षत्रिय तथा वैश्य को चतुर्थाश्रम का अधिकार ही नहीं। कारण यह है कि ब्राह्मण को तो अवश्य हीआयु के शेष भाग में चतुर्थाश्रम ग्रहण करना पड़ता है परन्तु जबतक तीव्र वैराग्य न हो तबतक क्षत्रिय तथा वैश्य अपने अपने धर्मों का पालन करते हुए भी परमार्थ की ओर उन्नति कर सकते हैं और वैराग्य हो जाने पर वे भी चतुर्थाश्रम के अधिकारी हैं। अपनेअपने वर्णधर्मानुसार क्षत्रिय तथा वैश्य का सांसारिक पदार्थों के साथ ऐसा सम्बन्ध होता है कि उन्हें चतुर्थाश्रम ग्रहण करने के लिये तीव्र वैराग्य की आवश्यकता होती है ताकि पुनः सांसारिक पदार्थों का मोह जागने की सम्भावना न रहे। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि साधारण वैराग्य होजाने पर भी चतुर्थाश्रम को ग्रहण कर ले क्योंकि "अध्ययनअध्यापन" में सदा प्रवृत्त रहने के कारण उसको पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

धर्मराज युधिष्ठिर का चतुर्थाश्रम प्रवेश विषयक विचार स्थगित हो जाने का कारण यह है कि उन्हें वर्णाश्रम-व्यवस्था की रक्षा का भी कर्तव्य पालन करना था। जिसका पालन न करने पर वे पाप के भागी होते थे। क्योंकि राज्यधर्म का उत्तरदायित्व उस समय उन्हीं पर था। वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा करने पर जहाँ राजा सब वर्णों के धर्म के छठे भाग का अधिकारी होता है वहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था की रक्षा न करने पर बढ़े हुए अधर्म का भी छठा भाग उसके सिर पर पड़ता है जैसे—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञोभवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्यह्यरक्षतः॥ (मनु अ० ८ श्लो० ३०४)

प्रजापालन में तत्पर राजा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा उदासीन लोगों के धर्म का छठा भाग प्राप्त करता है। यदि राजा वर्णाश्रम धर्मों की रक्षा नहीं करता तो सार्वजनिक अशान्तिद्वारा बढे हुए अधर्म का छठा भाग उसे भोगना पड़ता है।

बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञोधर्मादिति वेदाच्छृणोमि॥२४॥
यथा राजन् हास्तिपदे पदानि, संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं सम्प्रलीनान् निबोध॥२५॥

---

*अधिकारोऽस्ति चेन्नेह क्षत्रियस्य नृपात्मजः। कथं चकार संकल्पं स्वाधर्मे ना धर्मवत्कविः। नमे वागनृतंप्राह धर्मे धीयते मतिः एवं चैव वदत्यंबा ममचैव मनोगतम्॥ वै. भा. २, ३१

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्य्याः॥ २६॥
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाःपाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजन् त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥२७॥
मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम् सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवुद्धाः (विवृद्धाः)।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥२८॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वाः विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥२९॥
यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना धर्मश्रुतानामुपपीड़नाय।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः संचिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम्॥३०॥

( महाभा० राजधर्म शान्ति० अ० ६३ )

सर्व धर्मों में उत्तम क्षात्रधर्म का विधिपूर्वक पालन करनेवाले क्षत्रियों की भुजाओं के अधीन अन्य सब वर्णों के मनुष्यों का धर्म है। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र इन तीनों वर्णों का प्रधान तथा सामान्य धर्म क्षात्रधर्मद्वारा सुरक्षित रहता है यह बात वेदवाक्य से प्रमाणित है। जिस प्रकार हाथी के पैर से और सब का पैर छोटा होता है अर्थात् जिस प्रकार हाथी के पैर में सब का पैर आजाता है उसी प्रकार हे राजन् संसार के अन्य समस्त धर्म क्षात्रधर्म की अपेक्षा अनेक बातों में कम हैं। क्षात्रधर्मद्वारा ही अन्य धर्मों का अस्तित्व रक्षित रहता है। इसलिये क्षात्रधर्म स्वतंत्र और अन्य धर्म परतंत्र हैं। इसलिये वे इसकी अपेक्षा न्यून हैं। धर्मवेत्ता लोग कहते हैं कि क्षात्रधर्म के सिवा अन्य धर्म स्वल्पाश्रय और स्वल्प फल वाले होते हैं। अर्थात् ब्राह्मणादि धर्मों का आश्रय विद्या आदि साधन हैं जिन्हें क्षात्रबलकी सहायता की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये वे पर-मुखापेक्षी तथा स्वल्पफलवाले कहलाते हैं। यही कारण है कि महात्मा लोग क्षात्रधर्म को महाश्रय और बहुकल्याणरूप कहते हैं। क्षात्रधर्म ही सार्वजनिक शान्ति का मूल और सब धर्मों का रक्षक है। सर्वधर्मों में राजधर्म प्रधान है और राजधर्म ही चारों वर्णोंका रक्षक है। वास्तविक त्याग राजधर्म में ही मिलता हैं और त्याग-प्रधानधर्म ही पुरातन माना गया है। दण्डनीति का नाश होजाने पर वेदोंका प्रचार बन्द हो जाता है अर्थात् धूर्त्त पाखण्डी और नास्तिक लोग मनमानी करने लग जाते हैं। लोगों के साधारण धर्म तथा वैदिक आश्रमधर्म भी नष्ट हो जाते हैं, यदि क्षत्रिय अपने पुरातन राजधर्म को छोड़ दें। सारे त्याग राजधर्म में स्पष्ट दीखते हैं सब दीक्षाएं राजधर्म में प्रतिपादित हैं। सर्वविद्याओं का आधार और समस्त लोकों की प्राप्ति का प्रधानसाधन भी राजधर्म ही है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि यदि क्षत्रिय राजा पर प्रजापालन के उत्तरदायित्व का भार है तो वह उस कर्तव्य की उपेक्षा कर चतुर्थाश्रम ग्रहण नहीं कर सकता। यही कारण है कि इच्छा होने पर भी धर्मराज युधिष्ठिर ने चतुर्थाश्रम की दीक्षा नहीं ली। वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा में ही लगे रहे। इसी वास्ते भगवान् सनत्कुमार जी ने महाराज पृथु के बार बार प्रार्थना करने पर भी उन्हें मुनिधर्म में दीक्षित नहीं किया और प्रजापालन में लगे रहकर ही आत्मोन्नति का यत्न करते रहने की आज्ञा दी थी। ( विस्तार सहित कथा भगवान् सनत्कुमारजी के चरित्र में पढ़िये )

यहां यह स्मरण रहना चाहिये कि यह नियम प्रत्येक क्षत्रिय पर लागू नहीं हो सकता। केवल उसी क्षत्रिय को उतनी देरी तक ही चतुर्थाश्रम ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है जिसके कन्धों पर जबतक प्रजापालन के उत्तरदायित्व का भार है। इसी वास्ते जब तक आर्यराजा सुयोग्यपुत्र को राज्यशासन सम्भालकर निश्चिन्त नहीं हो जाते थे मोक्षप्राप्ति के यत्न में नहीं लग सकते थे। महाराज स्वायम्भुव मनु ने ब्रह्माजी को इसी वास्ते अपने पुत्र प्रियव्रत को प्रजापालन–राज्यशासन सम्भालने की प्रेरणा करने के लिये भेजा था कि महाराज स्वायम्भुवमनु प्रजापालन का उत्तरदायित्व सुयेग्य–पुत्र को सम्भाले बिना आत्मोन्नति के साधनों में नहीं जुट सकते थे। राजा को अन्य लोगों के धर्माचरण का छठा भाग भी इसी वास्ते मिलता है कि वह प्रजापालनकर्तव्य का पालन करने के कारण मोक्ष प्राप्ति का यत्न नहीं कर सकता। अन्य क्षत्रियों को प्रजा के धर्मकृत्य का भाग नहीं मिलता, क्योंकि उनके लिये राजा की भाँति चतुर्थाश्रम ग्रहण करने में कोई रुकावट नहीं। इस लिये यह नियम भी राजा के लिये ही है। अन्य सब क्षत्रियों को चतुर्थाश्रम ग्रहण का वैसे ही अधिकार है जैसे ब्राह्मणों तथा वैश्यों को प्राप्त है। राजा भी यदि प्रजापालन कर्तव्य को अपनी आध्यात्मिक उन्नति में प्रतिबन्धक समझता है तो वह भी अपने उत्तराधिकारी को प्रजापालन–भार सौंप कर चतुर्थ उदासीन आश्रम की दीक्षा ले सकता है, जैसे ऊपर लिखे राजाओं ने किया है।

अब इसमें तो कोई सन्देह न रहना चाहिये कि जैसे चतुर्थाश्रम में प्रवेश करना ब्राह्मण का अधिकार है वैसे ही क्षत्रिय तथा वैश्य का भी है। अन्यथा ऊपर लिखित धर्मात्मा क्षत्रिय कभी इस आश्रम को ग्रहण न करते। महाराज स्वायम्भुव मनु, महाराज प्रियव्रत, महाराज रघु, श्री लक्ष्मण और सुशील जैसे धर्मात्मा राजाओं ने चतुर्थाश्रम ग्रहण करके वेद की मर्यादा को तोड़ा हो ऐसा सन्देह करना भी पाप है। इन महात्मा पुरुषों का चतुर्थाश्रम ग्रहण करना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वेद में द्विजमात्र अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है।

इस लिये मानना होगा कि "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः०" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति।" इत्यादि वचनों में आए ब्राह्मण पद का अर्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही है। अन्यथा अन्य अनेक शास्त्रवाक्यों के साथ उनका विरोध उपस्थित होगा जिस का परिहार अन्य रीति से होना कठिन है। अग्रिम सूत्रवाक्य भी उक्त विचार की ही पुष्टि कर रहा है।

"त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" (छान्दोग्य परिशिष्ट)

वेदाध्ययनपूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और चतुर्थ औदासीन्य आश्रम, इन चारों आश्रमों का अधिकार है। इस सूत्रवाक्य के अनुरोध से भी चतुर्थाश्रम-विधायक श्रुति-स्मृति-वाक्यों में पठित ब्राह्मणपद का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीनों वर्ण करना होगा। अन्यथा उनका ऐसे श्रुतिवाक्यों के साथ विरोध होगा जो और किसी तरह दूर नहीं किया जा सकता। यथा—

"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा-
वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।
यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा।" ४ (जाबाल श्रुति)

ब्रह्मचर्य से गृहस्थ गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से प्रव्रज्या ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य से गृहस्थ से वानप्रस्थ से सीधा चतुर्थाश्रम ग्रहण करले।

इस श्रुति में ब्राह्मणपद का श्रवण नहीं है इसलिये इसका अर्थ निःसन्देह यही हो सकता है कि प्रकरणतः जो ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ का अधिकारी है वह चतुर्थाश्रम ग्रहण का भी अधिकार रखता है।

ऐसा समझने के लिये युक्ति यह है कि ऐसे वैदिकवाक्यों का भाव निश्चय करने के लिये स्मृति, पुराण और इतिहास से ही सहायता लेनी पड़ती है क्योंकि इतिहासादि से ही वेदार्थ का पूरा पूरा पता लगाया जा सकता है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं (प्लावयिष्यति) प्रहरिष्यति॥

महाभारत आदि इतिहास और स्कन्द आदि पुराणों से वेदार्थ को विस्तृत करे, इतिहास पुराण तथा स्मृति से अपरिचित व्यक्ति से वेद भगवान् डरते हैं कि कहीं यह अज्ञ पण्डित अर्थ का अनर्थ न कर डाले। इस से जाना गया कि वेदार्थ का ठीक ठीक बोध इतिहास और पुराणों की सहायता से ही होता है। हम ऊपर उद्धृत अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं कि सब धर्मशास्त्रों इतिहास तथा पुराणों में तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है। इस लिये "ब्रह्मचर्यं समाप्य०" इस श्रुतिवाक्य में भी इतिहास पुराण की व्याख्या के अनुसार द्विज-मात्र अर्थात् तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है। जो लोग केवल ब्राह्मण के लिये ही चतुर्थाश्रम का विधान मानते हैं इस बात को वे भी स्वीकार करते हैं कि क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये ब्रह्मचर्य गृहस्थ तथा वानप्रस्थ का विधान है। परन्तु इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है कि जिन लोगों को ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम का अधिकार है वे सब वैराग्य होने पर जब चाहें चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकते हैं। जब श्रुति की यह आज्ञा है और सर्व इतिहास पुराण तथा स्मृति धर्मशास्त्र इस की पुष्टि करते हैं तो तीनों वर्णों के चतुर्थाश्रम अधिकार में सन्देह करना व्यर्थ हठमात्र है।

यदि श्रुति के किसी ऐसे सर्व इतिहास पुराणोंद्वारा मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध कहीं स्मृति में "मुखजाना मयं धर्मः" जैसा प्रमाण मिलता है तो वह श्रुतिविरुद्ध होने से या तो मान्य नहीं हो सकता या उसका अर्थ कुछ और* होगा। महात्मा कुमारिलभट्ट ने भी लिखा है—

---

* "मुखजानामयं धर्मो, यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्" अत्र 'साधारण' इति शेषः। अयं वैष्णवलिङ्ग धारणलक्षणो धर्मो मुखजानां = ब्राह्मणानां साधारण इत्यर्थः। तथा च कैश्चिद् वृत्तिगुणैः प्रागेव भिक्षु-समानत्वाद् ब्राह्मणानां चतुर्थाश्रमप्रवेशः सुकरो, नाश्चर्यकारी च लोकानाम्, क्षत्रिय विशां तु तैरतादृशत्वान्न स तादृशः। अत एव "बाहुजातोरुजातानां नाऽयं धर्मः प्रशस्यते" अत्र कश्चित्स्यादित्य-ध्याहारः धर्मः = धारकः, धारयतीति व्युत्पत्तेः, "नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः" (क० उ० १ मं० २०) इत्यादौ तदर्थो तद्दर्शनाच्च। क्षत्रियविशां मध्ये कश्चिन्ना = पुरुषो। यदि धर्मः = मोक्षाश्रमधारकः स्यादयं = पुरुषोदुष्करकार्यकारित्वात्प्रशस्यते = जनैः स्तूयतइत्यर्थः। तथा च क्षत्रियाः प्रायेण भूमिपतयो वैश्याश्च धनपतयो भवन्ति, तेषु यदि कश्चिज्जातवैराग्यः प्रव्रजेत्तदालोकास्तं "धन्योयं महात्मा यो राज्यं धनं च तृणनिर्विशेषमाकलय्य सर्वं त्यक्तवान् निरतिशयसुखमाप्तुकाम" इत्थं प्रशंसन्ति। तस्य तादृशं त्यागं दर्शंदर्शं श्रावं श्रावञ्च विस्मयमानाः प्रसीदन्ति चेति भावः। एवंचास्य श्लोकस्य "ब्राह्मणस्य चतुर्थाश्रमः सुकरस्तदितरयोस्तु दुष्कर इत्यर्थे तात्पर्य्यं, नत्वत्र विधिनिषेधयोरधिकारानधिकारयोर्वा चर्चा। कार्ष्णि-गोपालदासोऽपि स्व वैराग्यभास्करेऽस्माकमिममेव पक्षं बहुमन्यत। अत एव तेन तत्र प्रथमे पक्षे 'अथवा' इति शब्देन, अन्तिमपक्षे च 'तुष्टो भव' इत्यनेन स्वारुचिः स्पष्टं प्रादर्शि। तथा हि २ य अध्याये—

तपोर्यत्र तु संन्यासेऽनधिकारो निरूपितः।
स्तुत्यर्थं तत्र विप्रस्य नतु निन्दापरो हि सः॥ ६॥
न निन्दा निन्दितुं कुत्र संप्रवृत्ता नरोत्तम।
स्तुत्यर्थं च विधेयस्य त्विति न्यायानुशासनम्॥ ७॥
यथा भागवते भेददृष्टेर्देवा उपासिताः॥
अघं हरन्ति नैवेत्थमुक्तं भगवता स्वयम्॥ ८॥
नाग्निर्न सूर्यो नच चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥ ९॥
भेददृष्टेर्यदा देवा न हरन्तीह दुष्कृतम्॥
तदा किं तत्त्वविज्ञस्य तस्य पापं न विद्यते॥ १०॥
स्तुत्यर्थं तद्धि साधूनां न तथार्थो यथाश्रुतः॥
एवं वै तत्र विज्ञेयं विप्रन्यासार्थमेव च॥ ११॥
अथवा ब्राह्मणो न्यासं कुर्य्यात्तत्राविचारयन्॥
सहजत्वाच्छमादीनां यत्नसाध्यास्तयोश्च ते॥ १२॥
तुष्टो भव त्वमेवोक्ता यत्र तयोरयोग्यता।
ग्रहणे दण्डमात्रस्य नतु चतुर्थकाश्रमे॥ ३०॥

अयं चान्तिमो ब्राह्मणेतरस्य सदण्डप्रव्रज्यानधिकारपक्षः "त्रैवर्णिकसंन्यासस्सारे" कैलासपर्वतस्वामिना महताऽऽयासेन सविस्तरमुपावर्णि, स च "त्रैवर्णिकानां संन्यासः" इतिकूर्मवाक्येन सह विरोधान्नितान्तमुपे-क्षणीयः।

यच्च तत्पुराणवाक्यं समर्थयितुं राममिश्रशास्त्रिणा "तुरीयमीमांसायाम्" ब्राह्मणस्य त्रिदण्डप्रव्रज्यायां तदितरस्य चैकदण्डप्रव्रज्यायामधिकार इति पक्षो व्यवस्थापितः, सोपि महाभारतस्य शान्तिपर्वणि जनकस्य

या तु वेदविरुद्धेह स्मृतिः काचन दृश्यते,
सा तु स्याद् भ्रान्तिमूलैव न स्पष्टश्रुतिमूलिका॥
स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वंस्मृते स्तावन्न सम्मतम्।
वेदमूलानुमानं तु प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते॥
तावदेव स्फुरन्त्यर्थाः पुरस्तादानुमानिकाः।
यावत्प्रत्यक्षशास्त्रेण मूलमेषान्न कृत्यते॥
कृत्यमूलाः स्फुरन्त्योऽपि स्मृतयो न चिरायुषः।
निराधारत्वदोषेण शाखा इव वनस्पतेः॥

(तंत्रवार्तिक अ० १ पा० ३ सू० ३)

अर्थात् वेद-विरुद्ध-स्मृति भ्रान्ति-मूलक होती है और वेदमूलक स्मृति ही प्रमाण मानी जा सकती है, स्मृति स्वतः प्रमाण नहीं। अनुमितार्थ का भान तब तक ही होता है जब तक प्रत्यक्षशास्त्रद्वारा उसका मूलोच्छेद न हो जाए। विरुद्धप्रत्यक्ष श्रुतिद्वारा मूलोच्छेद होजाने पर निराधार शाखाओं की भाँति ही स्मृति भी प्रमाण मार्ग से गिरजाती है।

जब "त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" सूत्र और ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्" आदि श्रुतिवाक्यों से तीनों वर्णों का चतुर्थाश्रम अधिकार सिद्ध है तो "मुखजानामयं धर्मः" जैसे स्मृतिवाक्य को या तो प्रमाणश्रेणी से अलग करना होगा या इसका भाव श्रुतार्थ में नहीं ऐसा निश्चयकरना होगा। श्रुति के साथ उसका विरोध मिटाने के विचार से तो उसका अर्थ यही करना होगा कि वर्णसंस्कारवशात ब्राह्मण के लिये चतुर्थाश्रम प्रवेश सुगम है परन्तु क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये कुछ कष्टसाध्य है। क्योंकि उसके लिये शास्त्र ने तीव्र वैराग्य की आवश्यकता बताई है। इसलिये इसका अर्थ यही होसकता है।

मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते॥

काषाय वस्त्र तथा दण्डादि भगवान् विष्णु के चिह्न हैं उनके धारण करने का अधिकार वर्णसंस्कारवशात् ब्राह्मण को तो स्वतः ही प्राप्त है (क्योंकि "दानं प्रतिग्रहं चैव" ब्राह्मण को दानादि लेने में पहिले ही संकोच न होने के कारण चतुर्थाश्रम के मुख्य आचरण भिक्षावृत्ति का ग्रहण कठिन नहीं) परन्तु क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये कष्ट साध्य एवं भिक्षावृत्तियुक्त होने से निन्दा और लज्जा का कारण भी हो सकता है। क्योंकि जो सदैव दान देते रहे हों उनका

राज्ञो (अ० १८, श्लोक १९) राजकुमार्याः सुलभायाश्च (अ० ३२०, श्लो० १९) त्रिदण्डप्रव्रज्यायाः स्पष्टमुपलब्धत्वादनादरणीय एव विदुषामिति॥

दूसरों के आगे हाथ पसारना प्रसन्नता और शोभा का कारण नहीं हो सकता। इसी वास्ते क्षत्रिय तथा वैश्य को तीव्र वैराग्य की आवश्यकता कही गई है और शास्त्रों में ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि वैश्य दो आश्रमों को ग्रहण करने की स्वाभाविक शक्ति रखता है क्षत्रिय तीन आश्रमों और ब्राह्मण चारों आश्रमों में से जिसको चाहे ग्रहण करने की शक्ति रखता है।

बस, इस स्मृतिवाक्य का ऐसा ही अर्थ करने से श्रुति-स्मृति तथा पुराणेतिहास से उसका विरोध दूर हो सकता है। वस्तुतः इसका भाव भी यही है। अन्यथा श्रुति विरुद्ध होने के कारण वह मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि "श्रुतिस्मृतिविरोधेतु श्रुतिरेव गरीयसी।" इस न्याय के अनुसार श्रुतिमूलक स्मृति ही प्रमाण मानी जा सकती है।

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः" और "तमेतं वेदानुवचनेन"

आदि श्रुति वाक्यों में पठित ब्राह्मणपद का अर्थ तीनों वर्ण हो सकता है। इस बात को तो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी माना गया है। जैसे शुक्लयजुर्वेदीय-शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है:—

"अत्राद्धा जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्मादपिराजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।"

अर्थात् संस्काररूप यज्ञ से जो द्विजाति उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण है। अर्थात् संस्काररूप यज्ञ से उत्पन्न हुए द्विज के लिये ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त हो सकता है। क्योंकि वह वैदिक कर्मरूप यज्ञ से संस्कृत होकर उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध हुआ कि श्रुति में भी जहाँ चतुर्थाश्रम अधिकार के विधान में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ उसका अर्थ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों वर्ण होते हैं।

तथा श्रुति में तो अनेक चतुर्थाश्रम में दीक्षित हुए क्षत्रिय परमहंसों का वर्णन पाया जाता है। जैसे जाबालश्रुति में ही लिखा है:—

"तत्र परमहंसा नाम—संवर्तक, अरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, रैवतक प्रभृतयः।"

इन में दुर्वासा मुनि आदि ब्राह्मण भी हैं और जड़भरत तथा ऋभु आदि क्षत्रिय भी। परन्तु श्रुति ने सब को परमहँस लिखा है जो केवल चतुर्थाश्रमी का ही विशेषण या उपाधि हो सकती है। तब क्षत्रिय तथा वैश्य के चतुर्थाश्रम अधिकार पर कैसे सन्देह किया जा सकता है?

एक विचार यह भी सुना जाता है कि प्रव्रज्या-दो प्रकार की है-लिङ्ग प्रव्रज्या और अलिङ्ग प्रव्रज्या। लिङ्गप्रव्रज्या में दण्डादि धारण किये जाते हैं परन्तु अलिङ्ग में नहीं। क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये लिङ्ग प्रव्रज्या का निषेध और अलिङ्ग का विधान है आदि।

परन्तु यह विचार किस शास्त्रप्रमाण के आधार पर निर्भर है? यह कुछ नहीं बताया जाता "संन्यसेद् ब्राह्मणः सम्यक्" ब्राह्मण के लिये पूर्णतया चतुर्थाश्रम

प्रवेश की आज्ञा है, ऐसा अर्थ कर के यह मतलव निकालने का यत्न तो किया जाता है कि पूर्ण चतुर्थाश्रम का तात्पर्य दण्डयुक्त अर्थात् लिङ्ग प्रव्रज्या है परन्तु आज तक यह यत्न सफल नहीं हुआ।

हम ऊपर वतला चूके हैं कि श्रुति ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों के चतुर्थाश्रमियों को विना भिन्न-भेद के परमहंस कहा है। और पुराणों में प्रत्येक परमहंस को दण्डादि धारण करने का पूर्ण अधिकार माना गया है। जैसे—

कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
अक्षमालां च गृह्णीयात् वैष्णवं दण्डमव्रणम् ॥ (स्कन्दपुराण)

परमहंस महात्मा कौपीन, वस्त्र, शीत निवारणार्थ गोदड़ी, अक्षमाला (जपमाला) अछिद्र बाँस का दण्ड, धारण करे।

निःसन्देह तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है और वे शिखा तथा यज्ञोपवीत का त्याग कर दण्डसहित प्रव्रज्या ग्रहण कर सकते हैं।

महाभारत से देवी सुलभा का दण्ड धारण करना सिद्ध ही है। जब क्षत्रिया देवियां प्रव्रज्या ग्रहण कर दण्ड धारण कर सकती हैं तो क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुषों के लिये इस का कैसे निषेध हो सकता है?

कौपीनं द्व्यङ्गुलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकन्तु विधीयते ॥ (अत्रि स्मृति)

दोअंगुलिपरिमित वस्त्र की कौपीन, गोदड़ी, एक दण्ड, परमहंस इनसे अधिक कोई वस्तु अपने पास न रक्खे।

त्रैवर्णिकानां सन्यासो विद्यतेनात्र संशयः ।
शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वकदण्डयुक् ॥ (ब्रह्माण्डपुराण)

जब इन वाक्यों में क्षत्रिय तथा वैश्य परमहंस को भी दण्ड धारण करने की आज्ञा दी गई है तब कैसे माना जा सकता है कि लिङ्ग और अलिङ्ग प्रव्रज्या के अधिकार में कोई अन्तर है अर्थात् किसी चतुर्थाश्रमी को दण्ड धारण करने की आज्ञा है तथा किसीको नहीं।

चतुर्थाश्रम का अधिकार केवल क्षत्रिय तथा वैश्यों को ही नहीं महाभारत आदि इतिहासों से तो सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वैराग्य आदि साधन सम्पन्न क्षत्रिय को चतुर्थाश्रम का अधिकार है उसी प्रकार वैराग्य होजाने पर क्षत्रिया को भी है। जैसे—

तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम् ।
छत्रादिषु वियुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ।

(म० भा० शा० अ० ३२० श्लो० १९)

एक सभा में महाराज जनक और देवी सुलभा का आपस में वार्तालाप हुआ वार्तालाप के समय महाराज जनक ने छत्र चामरादि पृथक् रखदिये और सुलभा ने अपना चतुर्थाश्रम का चिह्न त्रिदण्ड एक ओर रखदिया। इस से विदित होता है कि क्षत्रिया स्त्रियों को भी वैराग्य सम्पन्न होने पर चतुर्थाश्रम का अधिकार है और वे त्रिदण्ड धारण कर सकती हैं।

अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मंत्रिभिर्वृतम्।
सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी॥
(म० भा० शा० अ० ३२० श्लो० १५)

भोजन करने के अनन्तर देवी सुलभा ने भाषण चतुरों में स्थित और मंत्रियों से आवृत राजा जनक को आत्मोपदेशद्वारा प्रेरित किया।

वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रमे।" (श्लो० ६०)

महाराज जनक ने वातचीत करते हुए देवी सुलभा से कहा कि आप तो चतुर्थाश्रम में स्थित हैं परन्तु मैं गृहस्थी हूँ। देवी सुलभा ने भी अपना परिचय देते हुए कहा—

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम्॥
द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः।
मम सत्रेषु पूर्वेषां चितामघवता सह॥
साहं तस्मिन्कुलेजाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येकामुनिव्रतम्*॥
(शान्तिपर्व अ० ३२० श्लो० १८१, १८२, १८३)

प्रधान नामक राजर्षि मेरे पिता हैं, शायद आप ने उन का नाम सुना होगा। मैं उनकी ही बेटी हूँ और सुलभा मेरा नाम है। मेरे पूर्वजोंद्वारा किये गये याग में ईंटों के स्थान पर इन्द्र सहित द्रोण, शतशृंग और चक्रद्वारादि पर्वत चिने गये थे। अर्थात् मेरे पूर्वजों ने वड़े वड़े यज्ञ किये हैं जिस से मेरी कुल के पवित्र होने का आपको पता लग सकता है। ऐसे प्रसिद्ध कुल में मेरा जन्म हुआ है। गुरुजनों द्वारा मुझे शिक्षा मिली है। जब मैं युवती हो गई और मेरे योग्य कोई वर न मिला तब मैंने नैष्ठिकब्रह्मचर्य में कुछ दिन विताए और इस के अनन्तर मोक्ष धर्मकुशल होकर गुरुजनों की आज्ञानुसार चतुर्थ औदासीन्य आश्रम में प्रवेश किया। तब से इसी आश्रम का आचरण कर रही हूँ।

इन प्रमाणों से सुलभा का चतुर्थाश्रम ग्रहण और क्षत्रिय होना स्पष्ट सिद्ध है।

* मद्विधे भर्तर्यसति=अप्राप्ते, नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यमेवाश्रित्य संन्यासं कृतवत्यस्मि, इत्यर्थः" (नीलकण्ठटीका)

कहना न होगा कि शास्त्रों में केवल क्षत्रियों का चतुर्थाश्रम अधिकार ही सिद्ध नहीं है क्षत्रिया देवियों के चतुर्थाश्रमग्रहण करने का अधिकार भी प्रमाणित है।

कहा जाता है कि "न विधौ परः शब्दार्थः" न्याय से ब्राह्मणपद की द्विजाति में लक्षणा नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसा करने से जघन्यवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। पर यदि ब्राह्मणपद में लक्षणा स्वीकार न करोगे तो जिन शास्त्रवाक्यों में तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान है उनका, आपके मतके अनुसार केवल ब्राह्मण के लिये ही चतुर्थाश्रम का विधान करनेवाले वाक्यों के साथ उपस्थित हुआ विरोधकैसे मिटाया जायगा? यदि उन वाक्यों का लक्षणा द्वारा या खेंचतान कर के, द्विज अथवा तीनों वर्णों के बोधक अन्य शब्दों का, केवल ब्राह्मण वर्ण ही अर्थ करोगे तो क्या उस अवस्था में जघन्य वृत्ति का आश्रय न लेना पड़ेगा? यदि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों के लिये चतुर्थाश्रम का विधान करने वाले वाक्यों में चतुर्थाश्रम को गौण स्वीकार करोगे तो इसके साथ ही वाक्यगौणता स्वीकार करनी होगी। वाक्यों को उपचारार्थ मानने की अपेक्षा पदलक्षणा में लाघव है—अर्थात् वाक्य की अपेक्षा पद लघु है। इसलिये पदलक्षणा ही संगत है। इस लिये चतुर्थाश्रमविधायक वाक्यों में आप ब्राह्मण विप्र और द्विजोत्तम पदों का अर्थ लक्षणा द्वारा तीनों वर्ण करके यह मानना ही होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को चतुर्थाश्रम का पूर्ण अधिकार है।

ऐसा करने में "न विधौ परः शब्दार्थः" न्याय के साथ भी किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। क्योंकि इसका भाव तो यह है कि विधिप्रत्यय में लक्षणा स्वीकार नहीं। यदि यह भाव न हो तो "सोमेन यजेत" इस विधिवाक्य में सोम पद की "सोमवद् याग" में लक्षणा कर "सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्" इस प्रकार अन्वय न होगा। क्योंकि "सोमेन यजेत" भी तो विधिवाक्य ही है। सारांश यह कि इस न्याय का यह तात्पर्य्य नहीं कि विधिवाक्यघटक किसी पद में भी लक्षणा हो ही नहीं सकती। किन्तु भाव इतना ही है कि विधिप्रत्यय में लक्षणा स्वीकृत नहीं।

शास्त्रों में किस चतुर्थाश्रम अधिकारी के लिये ब्राह्मणपद का प्रयोग किया जाता है? इसका उत्तर भी कई जगह दिया गया है। जैसे—

**यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्थशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशी।**
**ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् सवै विप्रो नेतरः पापकर्मा॥**

(म० भा० शां० अ० ६३)

जितेन्द्रिय, सोम पीनेवाला, सहनशील, निष्काम, सरल, निष्कपट, निष्पाप, दयालु को ब्राह्मण कहा जाता है।

**"सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।**
**दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥"**

सत्य, दान, क्षमा, इन्द्रियनिरोध, अक्रूरता, तप, विषयों से घृणा इन सद्गुणों से युक्त व्यक्ति को ब्राह्मण कहा जाता है।

तपो धर्मो दया दानं सत्यं ज्ञानं श्रुतिर्घृणा।
विद्या विनयमस्तेयमेतद्ब्राह्मणलक्षणम्॥ (शातातप)

तप, धर्म, दया, दान, सत्य, ज्ञान, सच्छास्त्रश्रवण, विषयों से घृणा, विद्या, विनय, चोरी से घृणा यह ब्राह्मण के लक्षण हैं।

चतुर्थाश्रमविधायक प्रमाणों में पठित ब्राह्मणपद इन गुणों को सम्मुख रखकर ही लिखा गया है। क्योंकि चतुर्थाश्रम में प्रवेश के समय द्विजमात्र के इन गुणों को ही देखा जाता है। और इन गुणों के आधार पर ही कोई व्यक्ति चतुर्थाश्रम का अधिकारी होता है, केवल वर्ण के आधार पर नहीं।

इसी वास्ते महाभारतवनपर्व में लिखा है कि—

'यत्रैतन्न भवेत्सर्वं तं शूद्रमितिनिर्दिशेत्।"

जिसमें पूर्वोक्त गुण न हों उसे शूद्र समझना चाहिये। क्योंकि—

न जातिर्न कुलं राजन्! न स्वाध्यायः श्रुतं न च।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम्॥
किं कुलं वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः।
कृमयः किन्न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु॥
नैकमेकान्ततो ग्राह्यं पठितं हि विशांपते।
वृत्तमन्विष्यतां तात! रक्षोभिः किन्न पठ्यते॥
बहुना किमधीतेन नटस्येव दुरात्मनः।
तेनाधीतं श्रुतं वापि यः क्रियामनुतिष्ठति॥
कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ च यथा पयः।
दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीनं तथा श्रुतम्॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः।
तस्माद्विद्धि महाराज! वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम्। (वन्हिपुराण)

केवल जाति, कुल, वेदपाठ, शास्त्रश्रवण ही ब्राह्मणत्व का लक्षण नहीं किन्तु इसका लक्षण तो सदाचार है। व्यभिचारी और दुरात्मा पुरुष को उच्चकुल-जाति से भी क्या लाभ हो सकता है? कीट चाहे फूलका ही हो, नीच ही समझा जाता है। केवल पाण्डित्य भी ब्राह्मणत्व का लक्षण नहीं। क्योंकि वह तो राक्षसों में भी सम्भव है। स्वाध्याय और शास्त्रानुशीलन तो नट ने भी बहुत किया है पर वह ब्राह्मण नहीं माना जाता। इस लिये ब्राह्मणत्व का लक्षण कुछ और ही है। जिस

प्रकार नरकपालस्थ जल और कुत्ते के चर्म में दूध स्थानदोष से दूषित हो जाते हैं उसी प्रकार सदाचारभ्रष्ट विद्वान् ब्राह्मण भी पतित हो जाता है। अनाचारी ब्राह्मण चारों वेदों का पण्डित भी क्यों न हो शूद्र से भी गया गुज़रा माना जाता है। इसलिये, हे राजन्! ब्राह्मण का वास्तविक लक्षण सदाचार ही है।

इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि शास्त्रों में ब्राह्मणत्व के प्रयोजक विशेषगुणों को ही अधिक महत्व दिया गया है। विशेषतया चतुर्थाश्रमविधायक वाक्यों में उन गुणों को ही सन्मुख रखकर तीनों वर्णों के लिये ब्राह्मणपद का प्रयोग हुआ है। क्योंकि सदाचार आदि गुण-सम्पन्न-द्विज ही मोक्षरूप-प्रव्रज्या का अधिकारी हो सकता है।

यह सिद्धान्त पुराणों का ही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसको स्वीकार किया गया है। जैसे शतपथ ब्राह्मण में ही लिखा है कि—

"यो ब्राह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।" (शतपथ)

इस ब्राह्मणवाक्य से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण के यज्ञादि गुणों को सम्मुख रखकर क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये भी ब्राह्मणपद का प्रयोग किया जा सकता है। इसी भाव को लेकर श्रुति, स्मृति और पुराणों के चतुर्थाश्रम-विधायक-वाक्यों में द्विजमात्र के लिये ब्राह्मणपद प्रयुक्त हुआ है।

शास्त्रों में ऐसे प्रमाणों की भरमार है जिनसे यह सिद्ध होता है कि बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी महात्माओं ने आत्मज्ञान की उत्कण्ठा रखनेवाले क्षत्रियों तथा वैश्यों को परमहंस चतुर्थाश्रमी होने का उपदेश किया है। जैसे एक महात्माने जड़भरत को ही उपदेश किया है कि—

"यदि मृत्योः परं शान्तमनामयं शाश्वतं-
पद मिच्छुरसि तत्परमहंसोभव।"

इस से सिद्ध है कि क्षत्रिय तथा वैश्यों का चतुर्थाश्रमग्रहणाधिकार सदैव माना जाता रहा है। यदि केवल ब्राह्मण को ही चतुर्थाश्रम के ग्रहण का अधिकार होता तो एक आत्मज्ञानी महात्मा क्षत्रिय जडभरत को अमर, शान्त और शाश्वत पद की प्राप्ति के लिये परमहंस होने का उपदेश कभी न करते।

सारांश यह कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों को चतुर्थाश्रम का समान अधिकार है। इसलिये श्रुति स्मृति आदि के जिन वाक्यों में चतुर्थाश्रमविधान के विषय में जहाँ ब्राह्मण, विप्र अथवा द्विजोत्तमपद आए हैं वहाँ उनका अर्थ उक्त तीनों वर्ण ही होता है, वर्णविशेष (केवल ब्राह्मण) नहीं।



# द्वितीय प्रवाह

## (१ तरङ्ग)

## उदासीन परिचय

सर्वपापविनिर्मुक्तेरुत्कृष्टत्वाच्च सर्वतः।
उदितिनामवद्ब्रह्म श्रुतं छान्दोग्यमस्तके॥ १ ॥
साक्षात्कारेण तस्यास्ते तत्र यो मुनिपुंगवः।
उदासीनं तमेवाहुः सादरं वेदकोविदाः ॥ २ ॥
मोक्षभाजि प्रयुञ्जाना ब्रह्मसंस्थपदं मुनौ ॥
व्यक्तमर्थमिमंब्रूते श्रुतिर्भगवती स्वयम्॥ ३ ॥
आसधातुत उत्पूर्वात्कौणिनिशानचोरचि।
उदाउदास्युदासीनोदासास्तुल्यार्थकाः समे ॥ ४ ॥
मोक्षाश्रमिषु मुख्यत्वमेष धत्ते महामुनिः।
व्यनक्त्यमुमभिप्रायं सूपस्पष्टमुदाः पदम्॥ ५ ॥
कृतह्रस्वंप्रचक्षाणो मन्त्रेषु जगदीश्वरः।
क्विब्घञोर्भावव्युत्पन्नौ सुदाःसुदासशब्दकौ ॥ ६ ॥
क्वचिन्मोक्षाश्रमेऽप्यर्थे प्रयोगो दृश्यते तयोः॥
तत्सिद्धाऽनादिता तां तु विस्तराद्वक्तुमारभे ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त विस्तृत निबन्ध से यह सिद्ध हो चुका है कि प्रव्रज्यारूप चतुर्थाश्रम श्रौत है और तीनों वर्णों के पुरुष उसके अधिकारी हैं। इस विषय में भाँति भाँति के प्रमाण दिये गये हैं। अब आगे दूसरे प्रकरण का आरम्भ किया जाता है, जिस में—

चतुर्थाश्रमियों में उदासीन, यति, संन्यासी, परिव्राजक आदि शब्दों के प्रयोग का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है, इन शब्दों में कौनसा शब्द कितना प्राचीन है, चतुर्थआश्रम की श्रौत, स्मार्त और आधुनिक अवस्थाओं में कौनसी कब और कैसे उत्पन्न हुई, क्या कहीं श्रुति, स्मृति, इतिहास आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उदासीन महानुभावों के गौरवपूर्णकृत्यों का कुछ उल्लेख है? इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

# उदासीन शब्द का श्रुतिसम्मत अर्थ

जिस प्रकार हरि शब्द के वानर, विष्णु सिंहादिक अनेक अर्थ हैं। * उसी प्रकार उदासीन शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, ।—मध्यस्थ, उपेक्षक और द्वादश राजाओं में एक। तथा ब्रह्मसंस्थ नानार्थक शब्द का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होना स्वाभाविक है। इस विषय में ननु नच करने का अवकाश ही नहीं। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि नानार्थक शब्द का अनेकार्थों में प्रयोग न हो। किसी शब्द का एक अर्थ में अधिकप्रयोग होने से, यह निश्चय कर लेना कि, इस शब्द की प्रवृत्ति इस अर्थ से अतिरिक्तार्थ में हो ही नहीं सकती, प्रमाद और अन्याय है। अब यह निर्णीत हुआ कि उपेक्षक प्रभृति अर्थों की तरह उदासीन शब्द की प्रवृत्ति ब्रह्मसंस्थ अर्थ में भी है। ब्रह्मसंस्थ चतुर्थाश्रमी का अपर पर्य्याय है। वेद में ब्रह्म-संस्थशब्द चतुर्थाश्रमी के लिये आया है, यथा—

"त्रयो धर्मस्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य

---

* "हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु, सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च, हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः" (विश्वकोष) "यमानिलेन्द्रचन्द्रार्क विष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" (अमरकोष)

यम, वायु, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, वानर, मेंढक, कपिल रङ्ग।

" उदेतुमत्यजन्नीहां, राजसु द्वादशस्वपि, जिगीषुरेको दिनकृत् आदित्येष्विवकल्पते " माघ, सर्ग २, श्लोक ८१)

विजयाभिलाषी, उत्साही नृप बारह सूर्यों में प्रकाशदानतत्पर दिवाकर की भाँति, द्वादश राजाओं में सब से बढ़कर उन्नति करने में समर्थ हो सकता है। इस श्लोक में महाकवि माघ ने नीतिमर्य्यादानुसार बारह राजाओं का होना लिखा है, जिनका अधिक ब्योरा निम्न लिखित प्रकार से है।

"अरिर्मित्रमरेर्मित्रम् मित्रमित्रमतःपरम्, तथारिमित्रमित्रञ्च विजिगीषोः पुरःसराः" पार्ष्णिग्राहास्ततःपश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्, आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः," विजिगीषुर्दशमः, 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः, अनुग्रहे सह तयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे, मण्डलाद्बहिरेतेषा 'मुदासीनो' बलाधिकः"। मध्यमोदासीनाभ्यां सह द्वादश वेदितव्याः।

अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्रह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, विजिगीषु, मध्यम, उदासीन। ये द्वादश राजा होते हैं।"

कुलेऽवसादयन्, सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छान्दोग्य उपनिषत् प्र० २ खण्ड २३)

धर्म के तीन स्कन्ध हैं, यज्ञकरना, वेदपढना, दानदेना, यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा है। तपोमय जीवन विताते हुए ब्रह्मचारी बनकर आचार्य के घर रहना तीसरा है पूर्वोक्त तीनों धर्मात्मा पुण्यलोक के अधिकारी हैं। * ब्रह्मसंस्थः = ब्रह्म में दृढनिष्ठावाला चतुर्थाश्रमी अमृत अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त होता है।

आचार्य के घर रहना ब्रह्मचारी का, यज्ञादि गृहस्थ का और तप करना वानप्रस्थ का धर्म है। इस क्रम से शेष चतुर्थाश्रम है, अतः यहां ब्रह्मसंस्थ शब्द चतुर्थाश्रमी के लिये आया है। पहले तीन श्रौत स्मार्त्त कर्मों में रत हैं, जिन का फल पुण्यलोक है, चतुर्थाश्रमी उन कर्मों से ऊपर होकर अमृतत्व को पा लेता है। अतः ब्रह्मसंस्थ शब्द चतुर्थाश्रमी के लिये उचित ही है। जो अर्थ ब्रह्मसंस्थशब्द का है, वही उदासीनशब्द का है। क्योंकि उदासीनशब्द के दो भाग हैं, उद्, और आसीन, उद् का अर्थ सर्वोत्कृष्ट; अथवा सर्वपापविनिर्मुक्त ब्रह्म है। यथा,—

"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषोः दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। (मं० ६)

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमाक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति हवै सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एवं वेद। (छान्दोग्य० प्र० १ खण्ड ६ मं० ७)

यह जो सुवर्ण की भाँति चमकता हुआ सुनहरी पुरुष सूर्य के अन्दर दीखता है, इसकी सुनहरी दाड़ी और सुनहरी बाल हैं। पैर से चोटी तक यह सुवर्णमय है। नूतन खिले हुए लाल कमल के तुल्य इसकी आंखें हैं, इसका नाम 'उद्' है; क्योंकि वह समस्त पापों से मुक्त अर्थात् ऊपर है। जो मनुष्य पूर्वोक्त 'उद्' नामक ब्रह्म की उपासना करता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में जो परब्रह्म का स्वरूप और उद् नाम बताया है, उसी को सूत्रकार भगवान् वेदव्यास और भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य्य ने भी (वेदान्तसूत्र अ० १ पा० १ सूत्र २०) स्पष्ट किया है, यथा,—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। तस्मात् परमेश्वर एव
अक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते।"

समस्त पाप निर्मुक्त ब्रह्म ही हो सकता है अतः सूर्य्यमण्डलमध्यवर्ती वही परब्रह्म परमेश्वर है। सांसारिक जीव अथवा सूर्यमण्डलाभिमानी देवता में इन गुणों

* ब्रह्मसंस्थः, पुं० मुख्यपरिव्राजि ब्रह्मणिसम्यक्स्थिते। निवृत्तसर्वकर्मतत्साधने० परिव्राज्यत्याश्रमिणि० परमहंसे॥ ब्रह्मणिपरमात्मनि० सम्यगव्यभिचारिणी स्थितिर्निष्ठा यस्य परब्रह्मसाक्षात्कारवतः सः॥ निवृत्तकर्म्माभिक्षुक एव ब्रह्मसंस्थ इति भाष्यम्॥ इति शब्दार्थचिन्तामणि कोशे॥

का होना असम्भव है अतः पूर्वोक्त मानना ही युक्तियुक्त है। तस्माद् उपनिषत्, सूत्र, भाष्य, इन तीनों के अनुसार उद् नाम परब्रह्म का ही है। आसीन शब्द आस् उपवेशने धातु से कर्ता में शानच्, प्रत्यय हो कर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ स्थिति करता है। दोनों भागों को मिलाकर, "उद् सर्वोत्कृष्टे सर्वपाप विनिर्मुक्ते वा ब्रह्मणि आसूते निषीदत्युदासीनः" इस व्युत्पत्ति से उदासीन शब्द का ब्रह्मसंस्थ चतुर्थाश्रमी अर्थ निर्धारित हुआ। अर्थात् उदासीन और ब्रह्मसंस्थ शब्द समानार्थक हैं, दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ब्रह्मसंस्थ और उदासीन दोनों शब्द चतुर्थाश्रमी के वाचक हैं अर्थात् शब्दभेद है अर्थभेद नहीं। उदासीन शब्द का एक अर्थ उपेक्षक अर्थात् अनपेक्ष असङ्ग या रागद्वेष रहित भी है। इसी अभिप्राय से सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं में असङ्ग चेतन के लिये उदासीन शब्द का प्रयोग किया है।

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्, गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः"

तस्मात् प्रकृतिजड़तायाः पुरुषाकर्तृतायाश्च भूयोभिर्हेतुभिः साधितत्वात् अचेतनं=लिङ्गं=जडम्, पुरुषानुमापकम्=प्रकृत्याख्यम्, तस्य=पुरुषस्य, संयोगात्=सन्निधानात्, चेतनावदिव=चैतन्ययुक्तमिव, भवतीत्यर्थः। गुणानाम्=सत्त्वादीनाम्, प्रकृत्यपर नामधेयानाम्, कर्तृत्वेऽपि=सृष्टिनिर्मातृत्वेऽपि, उदासीनः=असङ्गः पुरुषः, कर्त्तेव=कर्तृतुल्यो भ ति प्रकृतिपुरुषयोर्मिथः—तादात्म्याध्यासात् जड़ायां प्रकृतौ चैतन्यम्, असङ्गे पुरुषे कर्तृत्वञ्च भासते, इति तात्पर्य्यार्थः।

प्रकृति की जड़ता; तथा पुरुष की अकर्तृता अनेक हेतुओं से व्यवस्थित होने पर, जड़ प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से चेतन की तरह प्रतीत होती है। यद्यपि प्रकृति जगत्कर्त्री है; तथापि प्रकृति के काल्पनिक संसर्ग से असङ्ग पुरुष कर्ता के तुल्य प्रतीत होता है। अतः प्रमाणित हुआ कि असङ्ग पुरुष का नाम उदासीन है। इसके वेत्ता चतुर्थाश्रमी का नाम भी उदासीन हुआ। क्योंकि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (श्रुति) ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप ही होता है वेद के इस वाक्यानुसार चतुर्थाश्रमी को उदासीन कहना युक्तियुक्त और सप्रमाण है।

अतएव ब्रह्म में स्थित अथवा असङ्ग ब्रह्मरूप होने से चतुर्थाश्रमी का नाम उदासीन और चतुर्थाश्रम का नाम औदासीन्य निर्णीत हुआ।

# उदासीनादिशब्दों का प्रयोगकाल

सृष्टि-क्रम तथा वेदादि सच्छास्त्रों के अवलोकन से पता चलता है कि चतुर्थाश्रमी का प्राथमिक नाम उदासीन, और यति, परिव्राजक, संन्यासी, आदि सब नाम पश्चाद्भावी हैं। बहुत से लोग शास्त्रों से अपरिचित होने के कारण उदासीन, यति, परिव्राजक, संन्यासी आदि शब्दों को एकार्थक समझकर चतुर्थाश्रमियों के लिये प्रयुक्त कर देते हैं। वस्तुतस्तु इन शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं। हम आगे जाकर बताएंगे कि किस शब्द का क्या अर्थ है। हम नहीं चाहते कि

सत्य को छुपाया जाय। भारतीय-नैतिक-स्थिति-परिवर्तन के साथ साथ धार्मिकस्थिति में भी सैंकड़ों परिवर्तन आ चुके हैं। इस अंधकारमय समय में श्रौतस्मार्त प्रकाश के सहारे ही सत्य का अन्वेषण किया जा सकता है।

अब यहां पर सृष्टिक्रम पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि यह विचार हमें पूर्वोक्त विषय की पुष्टि करने में पर्य्याप्त सहायता करेगा। भगवती प्रकृति के दो परिणाम हैं प्रथम सदृश, द्वितीय विसदृश। सदृश परिणाम का नाम प्रलय और विसदृश का सृष्टि है। दूसरे शब्दों में इन्हें निवृत्ति और प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। सृष्टि से पहले प्रलय, दिन से पूर्व रात्री की तरह प्रवृत्ति से प्रथम निवृत्ति का होना स्वाभाविक हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति का नाम ही क्रमशः चतुर्थाश्रम और गार्हस्थ्य है। निवृत्ति सात्विक और प्रवृत्ति राजस होती है। प्रकृति की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सात्विकनिवृत्तिरूप चतुर्थाश्रम के अनन्तर ही राजसप्रवृत्ति सृष्टिविस्ताररूप गार्हस्थ्याश्रम का होना संभव है। अतः सृष्टि की आरम्भिक अवस्था में आशु विनाशी तामस सृष्टि के बाद सात्विक भावों के प्रबलविकास के कारण, निवृत्तिसेवी चतुर्थाश्रमी सनत्कुमार प्रभृति महानुभावों का आविर्भाव हुआ। ये महात्मा उदासीन ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि सृष्टिविस्ताररूप राजसप्रवृत्ति गार्हस्थ्याश्रम के आविर्भाव से पूर्व तत्त्यागरूप संन्यास तथा उस से पृथक् रहने के यत्नरूप प्रवृत्ति-निमित्त को लेकर प्रयोक्तव्य यति, परिव्राज़क, संन्यासी, प्रभृति शब्दों का प्रयोग करना असङ्गत ही नहीं प्रत्युत् असम्भव हैं। उन महानुभावों के लिये उदासीन शब्द के प्रयोग करने में दो कारण हैं, क्योंकि वे ब्रह्मसंस्थ हैं, और उदासीन शब्द का यौगिक अर्थ भी यही है। दूसरा उदासीन शब्द का अर्थ असङ्ग-ब्रह्म है, ब्रह्मवेत्ता को श्रुति ने ब्रह्मरूप कहा है, इसलिये ब्रह्मज्ञ सनत्कुमारादिकों में ब्रह्मवाचक उदासीन शब्द का प्रयोग हो सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रथमोत्पन्न सनत्कुमारादिक चतुर्थाश्रमी उदासीन थे। और पश्चात् उत्पन्न वसिष्ठादि नव गृहस्थ थे। पुराणों में चतुर्थाश्रमी मुनिपद से और गृहस्थ ऋषिपद से निर्दिष्ट किये गये हैं।

प्रश्न—यदि चतुर्थाश्रमियों का प्राथमिक नाम उदासीन था तो यति, परिव्राजक, संन्यासी प्रभृति शब्दों का प्रयोग क्यों और कब से होने लगा?

उत्तर,—जब पहले चतुर्थाश्रम, तदनन्तर गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति हुई तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये प्रवृत्तिशिक्षणार्थ ब्रह्मचर्य्याश्रम, और चतुर्थ औदासीन्याश्रम में प्रविष्ट होने से पहले निवृत्तिशिक्षणार्थ वानप्रस्थाश्रम का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार प्रवृत्तिशिक्षण, प्रवृत्तिधर्मानुष्ठान, निवृत्तिशिक्षण, निवृत्तिधर्मानुष्ठान, इन चार कार्य्यों के निर्वाहार्थ क्रमशः ब्रह्मचर्य्य गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, औदासीन्य, ये चार आश्रम प्रचलित हुए। जब मरीच्यादि प्रजापतिओं ने राजसभावों से प्रेरित होकर विविधप्रजा का विस्तार किया तब जनता में राजसभाव तीव्र वेग से बढने लगे। क्योंकि कार्य का कारणानुरूप होना प्राकृतिक नियम है।

## सनकादि के उदासीनमुनि होने के प्रमाण

पुराणों में यह स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा के हृदय में भगवद्भक्तिरूप सात्विकभावों के उदयकाल में उत्पन्न हुए संकल्प से सात्विक कुमारों की उत्पत्ति हुई।

वे ब्रह्मा की इच्छानुसार सृष्टिसर्जन न करते हुए सात्त्विकभावाविष्ट होकर उदासीन बन गए। यथा,—

सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास्तु वेधसा, न ते लोकेष्वसज्जन्त, ह्युदासीनाः प्रजासु ते। (पद्मपुराण सृष्टि खं० अ० ३ श्लो० १६६)

उदासीना-ब्रह्मसंस्था, निरपेक्षा इति क्वचित्पाठस्तत्रापि स एवार्थः। निर्गता अपेक्षा—एषणात्रयी, स्पृहापरपर्य्याया येषान्ते निरपेक्षा निःस्पृहा ब्रह्मसंस्थत्वेन कृतकृत्या इति यावत्।" भाषार्थ,-सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने जो सनन्दनादि उत्पन्न किये थे वे प्रजाओं में अर्थात् सृष्टिनिर्माण में प्रवृत्त नहीं हुए। क्योंकि वे उदासीन थे। किसी पुस्तक में उदासीन के स्थान में निरपेक्ष यह पाठ भी मिलता है। उसका भी वही अर्थ है; अर्थात् उदासीन और निरपेक्ष इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं। निरपेक्ष नाम निस्स्पृह का है, निस्स्पृह कृतकार्य होने से ब्रह्म-संस्थ ही हो सकता है। इस प्रकार विचार करने से उदासीन और निरपेक्ष इन दोनों पदों का एक ही अर्थ निकलता है।

यही वर्णन विष्णुपुराण में भी मिलता है,—यथा—विष्णुपुराण अंश १ अ० ९ श्लोक ६, ७,। इस ही भाव को भागवत पुराण में भगवान् वेदव्यास ने और भी स्पष्ट कर दिया है यथा,—

"सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्द्ध्वरेतसः॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
ते नैच्छन् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः।"

(भागवतपुराण स्कन्ध ३ अ० १२ श्लो० ४, ५)

ब्रह्मा ने सनकादिक चार कुमारों को उत्पन्न किया, वे चारों मुनि, (चतुर्थाश्रमी) निष्क्रिय तथा योगी थे। ब्रह्मा ने उन्हें सृष्टिनिर्माण की आज्ञा दी। परन्तु उन भगवद्भक्त चतुर्थाश्रमी कुमारों ने सृष्टिनिर्माण से इन्कार कर दिया। उन कुमारों के मुख से इस प्रकार का उत्तर सुनकर ब्रह्मा जी क्षुब्ध हो उठे। सात्त्विकभाव का विलोप हो गया। राजसभाव का वेग बढने लगा। ऐसी अवस्था में ब्रह्मा जी ने फिर मानससङ्कल्प से मरीच्यादि नव पुत्र उत्पन्न किये। इस का परिचय नीचे दिया जाता है,। यथा,—

"अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत्, भृगुं मां पुलहञ्चैव क्रतुमङ्गिरसन्तथा। मरीचिं दक्षमत्रिञ्च, वसिष्ठञ्चैव मानसान्। नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयङ्गताः"

(पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अ० ३ श्लोक १६७, १६८)

भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, वसिष्ठ, ये नव ब्रह्मा के मानसिकपुत्र थे, ऐसा पुराण में लिखा है। ठीक ऐसा ही वर्णन विष्णुपुराण में भी मिलता है। विष्णुपुराण अंश १ अ० ६ श्लो० ४, ५,।

# चतुर्थाश्रमविभाग

उपर्य्युक्त विवेचन से यह निश्चित हुआ कि ब्रह्मा के पूर्वोक्त नव पुत्र कुमारों की अपेक्षा राजस थे। अतएव वे पिता की आज्ञानुसार सृष्टिनिर्माण में प्रवृत्त हुए। यद्यपि ये राजस थे, परन्तु ब्रह्मसंस्थता से शून्य न थे। राजसभावों का इतना प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ था कि जिस से वे ब्रह्मदृष्टि को विलुप्त कर सकें। अनन्तर क्रमशः सात्त्विक भावों का ह्रास, और राजसभावों का प्राबल्य होने लगा जिस से जनता में ब्रह्मदृष्टि के विलोप का सूत्रपात हुआ। तब बहुत से लोग ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के सदुपदेश सुन कर ही गार्हस्थ्यत्याग अथवा गृहस्थाश्रम त्यागने का यत्न करने लगे। तब से यति, संन्यासी, परिव्राजक शब्द चतुर्थाश्रमिओं के लिये प्रयुक्त होने लगे। अब चतुर्थाश्रम तीन शाखाओं में विभक्त हुआ। एक मुख्य दो गौण—और तीनों के लिये तीन शब्द यति, संन्यासी, उदासीन, प्रयुक्त हुए।

# यति, सन्यासी और उदासीन

सांसारिक पदार्थों से ग्लानि होनेपर भी जो उनका सर्वथा त्याग न कर सके किन्तु उनके त्याग में यत्नशील हो, उसे यति कहते हैं। सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग कर जिसने चतुर्थाश्रम का ग्रहण किया हो वह संन्यासी है। जिस ने भगवद्भक्तियुक्त होकर श्रवणादि साधनों से ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया हो और ब्रह्मनिष्ठ हो, उस चतुर्थाश्रमी को उदासीन कहते हैं। इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है। जैसे प्रथम चक्षु का घट से सम्बन्ध, तदनन्तर घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस स्थल में चक्षु, चक्षुघटसन्निकर्ष, तथा घटप्रत्यक्ष, इन तीनों के लिये एक प्रत्यक्ष शब्द ही प्रयुक्त होता है। भेद केवल इतना ही है, चक्षु और चक्षुसन्निकर्ष गौण प्रत्यक्ष हैं और घटज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष नाम तीनों का समान है। * एवमेव यति, संन्यासी, उदासीन, इन तीनों का चतुर्थाश्रमी यह समान नाम होनेपर भी पहले दो गौण और अन्तिम मुख्य है। यहां पर शब्दप्रयोग की प्रथा का जान लेना भी आवश्यक है। प्रथम जब कोई शब्द किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है तो शास्त्रीयपरिभाषानुसार उसे 'यौगिक' कहते हैं। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने इस सिद्धान्त को अपना तथा शाकटायन का मत कहा है यथा,—

**"तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च"**

(निरुक्त, नैघण्टुक काण्ड, आध्याय १ पाद ४)

धातु ही समस्त शब्दों के मूल होते हैं; अर्थात् हरेक शब्द की उत्पत्ति किसी न किसी धातु से होती है। तात्पर्य्य यह है कि सर्व शब्द प्रथम यौगिक होते हैं।

* वैधी, अनुरक्ति, परा भेद से त्रिविधभक्ति के निदर्शन से यह बात और भी स्फुट हो सकती है।

फिर वे शब्द उस अर्थ में रूढ हो जाते हैं, जिस अर्थ में वे प्रथम योगवृत्ति से प्रयुक्त थे। ऐसी दशा में वे शब्द योगरूढ कहलाते हैं। तदनन्तर उसी अर्थ में अधिक प्रयोग होने के कारण योगवृत्ति की अपेक्षा न रखकर केवल प्रसिद्धि से उस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तब वे रूढ कहलाते हैं। कल्पना कीजिये, कोई मनुष्य भोजन बनाता है तो लोग उसे पाचक कहते हैं। उस व्यक्ति में पाचकशब्द का यह प्राथमिक प्रयोग योगवृत्ति को लेकर हुआ। पाचकशब्द के दो भाग हैं, एक पच् द्वितीय अक्। पच् प्रकृति और द्वितीय प्रत्यय है। प्रकृति का अर्थ पाक, प्रत्यय का अर्थ करनेवाला है। दोनोंका मिलकर पाक करनेवाला अर्थात् पकानेवाला अर्थ है। प्रकृति और प्रत्यय, पद के अवयव हैं, अवयव का नाम ही योग है। योगवृत्ति से अर्थबोधन करनेवाले शब्द को ही यौगिक कहा जाता है। उस व्यक्ति में जब पाचक-शब्द की प्रसिद्धि हो जाती है और वह भोजन बनाता भी है। तब पाचक शब्द उस व्यक्ति में प्रयुक्त होता हुआ योगरूढ कहलाता है। कारण, उस व्यक्ति में पाचकशब्द का प्रयोग, अवयवार्थ और प्रसिद्धि दोनों को लेकर हुआ है। उन दोनों के सहारे ही अर्थबोधकशब्द को शास्त्रकारों ने योगरूढ माना है। जब वह भोजन बनाना छोड़ देता है तो लोग उसे फिर भी पाचक ही कह कर पुकारते हैं। अब उसमें प्रयुक्त पाचकशब्द रूढ है। अब यद्यपि अवयवार्थ नहीं है; परन्तु पाचकशब्द उस व्यक्ति में केवल प्रसिद्धिद्वारा प्रयुक्त हुआ है। केवल प्रसिद्धि निबन्धन अर्थबोधक शब्द को शास्त्रकारों ने रूढ स्वीकार किया है। इस प्रकार एक ही शब्द समयभेद से यौगिक, योगरूढ, तथा रूढ हो सकता है।

जब कोई शब्द योगरूढ हो जाय, तब उसे यौगिक मानकर प्रयोग करना सर्वथा भूल है। कहीं पर यदि लक्षणा से योगरूढ शब्द योगार्थ में प्रयुक्त होता है तो कोई क्षति नहीं। लक्षणाद्वारा जहां योगरूढ शब्द योगार्थ में प्रयुक्त होता है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। अतएव पङ्कज शब्द का प्रयोग पङ्कोत्पन्न मत्स्यादियों में नहीं किन्तु कमल में ही होता है।

ठीक यही स्थिति यति, परिव्राजक, उदासीन, इन शब्दों की है। प्रथम ये शब्द क्रमशः यत्नशील, त्यागी, ब्रह्मनिष्ठ, इन अवयवार्थों को लेकर प्रयुक्त हुए थे। तदनन्तर वे चतुर्थाश्रमियों में योगरूढ हो गये। अतएव इन शब्दों से ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थों का बोध नहीं हो सकता। चाहे वे यत्नशील, त्यागी और ब्रह्मनिष्ठ क्यों न हों।

## उदासीनशब्द व्युत्पत्ति

यहां इतना और जान लेना आवश्यक है कि चतुर्थाश्रमी मुनि और इतराश्रमी ऋषि, इन दो श्रेणियों में हमारे पूर्वज विभक्त थे। यह पुराणादि शास्त्रों के पारायण से अवगत होता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि चतुर्थाश्रम की उत्तम शाखा का नाम उदासीन और इतर दो शाखाओं का नाम यति और परिव्राजक है। यति और परिव्राजक इन दोनों शब्दों की तरह उदासीन शब्द का प्रयोगक्षेत्र सङ्कुचित नहीं है। उदासीन शब्द मुनिश्रेणी की तरह ऋषिश्रेणी में भी प्रयुक्त हुआ है। यथा,—

"उदासीनाः सोपवीताः कमण्डल्वक्षसूत्रिणः,
जटिलाः श्मश्रुलाः शान्ता, आसीना ध्यानतत्पराः।
सप्तर्षयो वसिष्ठश्च कार्यों भार्यासमन्वितः,
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रश्च कश्यपः।
जमदग्निर्वसिष्ठोऽत्रिः सप्त वैवस्वतान्तरे"

(हेमाद्रिनिर्मितचतुर्वर्गचिन्तामणि व्रतखण्ड १०९ पृष्ठ)

इन श्लोकों में ऋषियों का स्वरूप और सम्प्रदाय बतलाया गया है। वैवस्वत मन्वन्तर में गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, कश्यप, जमदग्नि, वसिष्ठ, अत्रि, ये सप्तर्षि हैं। इन में वसिष्ठ सपत्नीक है। वे सब ऋषि गले में यज्ञोपवीत, एक हाथ में कमण्डलु और दूसरे में जपमाला भी रखते हैं। ये प्रायः शान्त, जटा और श्मश्रु-धारी पद्मादि आसन लगाकर ध्याननिष्ठ रहा करते हैं। सम्प्रदाय के लिहाज़ से ये उदासीन कहलाते हैं। वसिष्ठजी सपत्नीक होते हुए उदासीन ऋषि कहलाते हैं। उदासीनशब्द की दो व्युत्पत्तियें हैं, "उद् ब्रह्मणि आस्ते, आसिष्यते वा इत्युदासीनः" उदासीन शब्द उद्पूर्वक आस धातु से शानच् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। शानच् प्रत्यय लट् के स्थान में होता है। (वर्तमाने लट्) इस सूत्र से लट् वर्तमानकाल में और (वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा) इस से भविष्यत्काल में भी होता है। प्रथमव्युत्पत्ति के अनुसार उदासीनशब्द मुनिश्रेणी में और द्वितीय के अनुसार ऋषिश्रेणी में प्रयुक्त हुआ है। अतः उदासीनों के दो भेद हुए एक मुनि द्वितीय ऋषि। दूसरे शब्दों में इन्हें सिद्ध और साधक कहा जा सकता है। मुनि ब्रह्म में स्थित हो चुका है,। उसका ब्रह्मनिष्ठारूप लक्ष्य सिद्ध हो जाने से वह सिद्धपद का अधिकारी है।

## मुनि और ऋषि

ऋषि को अभी तक ब्रह्मनिष्ठा का लाभ नहीं हुआ, किन्तु भावी ब्रह्मनिष्ठा के लाभार्थ चेष्टा कर रहा है। अतः विद्वान् उसे साधक कहते हैं। कहीं पर मुनि में ऋषि और ऋषि में मुनिपद का प्रयोग पाया जाता है; परन्तु प्रयोगमात्र से ही ऋषि और मुनि शब्दों का अर्थ एकही है, ऐसा मानना सर्वथा असङ्गत है। माणवक में सिंह शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होने से अज्ञ से अज्ञ पुरुष भी माणवक और सिंह को एक नहीं मान सकता। अन्यार्थ में अन्यार्थक शब्द का लाक्षणिक प्रयोग देखकर, उन दोनों शब्दों के अर्थ को एक मानना केवल भ्रान्ति ही नहीं पूर्ण प्रमाद है। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन काल में चतुर्थाश्रमी उदासीन मुनि और इतराश्रमी उदासीन ऋषि कहलाते थे। क्यों कि पुराणों में बहुधा सनत्कुमार प्रभृति अपत्नीक महानुभावों में ही मुनि, ऊर्द्धरेता तथा मोक्षधर्मा आदि चतुर्थाश्रमीवाचक शब्दों का प्रयोग पाया गया है। इस बात की पुष्टि के लिये कुमारों की उत्पत्तिलेखन के समय बहुत से पुराणों के प्रमाण दिये गये हैं अतः उन्हें फिर

यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। सनत्कुमार, नारद, कपिल, दुर्वासा, नरनारायण ये सब उदासीन मुनि हुए हैं। च्यवन, भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, विश्वामित्र, जमदग्नि प्रभृति महानुभाव उदासीन ऋषि थे। इस समय उदासीन सम्प्रदाय की जिज्ञासु-शाखा ऋषिश्रेणी का ही रूपान्तर है। उक्तश्रेणी के उदासीन सिन्धु देश में अधिक पाये जाते हैं। इन का सम्बन्ध प्रायः उदासीनमुनि-बृहत्संस्था (अखाड़ा बड़ा) से है और बहुत से ऐसे भी हैं जिनका ताल्लुक उदासीनमुनि नवीन संस्था (नया अखाड़ा) से है। मोक्षाश्रमी उदासीनमुनि प्रायः निम्नलिखित सिद्धान्तों के उपासक थे और हैं—वेदोक्त शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति, सूर्य, देवपञ्चक की समभाव से पूजा करना। धर्मोपदेशद्वारा अपनी जाति तथा देश को उन्नत करना, पाञ्चभौतिक सृष्टि में स्वस्वप्रकृत्यनुरूप भिन्न भिन्न देव विशेष की उपासना करते हुए परस्पर लोकोत्तर प्रेम को बनाए रखना। चतुर्थाश्रम में श्रौत नियमानुसार प्रवेश, यथाशक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागकर परोपकार में रत रहना। ईश्वर में विश्वास रखते हुए शारीरिक भरणपोषणार्थ विशेष संग्रह न करना। वेद को ईश्वररूप मानना। सनत्कुमार नारदादि उदासीन मुनि इन्हीं सिद्धान्तों के माननेवाले और प्रचारक थे। चतुर्थाश्रम का वास्तविक पुरातनस्वरूप यही है। कतिपय सिद्धान्तित नियमों के अनुयायी समुदाय को सम्प्रदाय कहते हैं। उपरिलिखित सिद्धान्तावलम्बी सनत्कुमारादि मुनिवर्ग "उदासीन मुनि" नाम से प्रसिद्ध था। मुनिश्रेणी में उदासीन शब्द का प्रयुक्त होना तो ठीक ही था; परन्तु उदासीन मुनियों के पूर्वोक्त नियमों का पालन करने के कारण मुनिवाचक उदासीन शब्द समानता को लेकर ऋषिश्रेणी में प्रयुक्त होने लगा। ऋषि शब्द ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन तीनों का परिचायक है। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक गृहस्थ ऋषि नहीं कहला सकता। केवल वही गृहस्थ ऋषि कहलाने का अधिकारी है जो धार्मिक, धर्मोपदेशक, भगवद्भक्त, स्त्री, पुत्र, धनादिकों से विरक्त, जाति और देश का हितचिन्तक, समय पर धर्म तथा राष्ट्र के हित में प्राणतक दे देनेवाला हो। इस से भिन्न गृहस्थ ऋषिमुनियों का सेवक कहा जा सकता है। हाँ उदासीन वह भी कहला सकता है। क्योंकि वह उदासीन मुनियों के पूर्वोक्त नियमों का पालन करने वाला है। हम पहले भी कह चुके हैं कि उदासीन शब्द का लाक्षणिक प्रयोग उदासीनों के अनु- यायियों में भी हो सकता है।

## उदासीनों के भेद

अब यह निश्चित हुआ कि उदासीनों के तीन भेद हैं, मुनि, ऋषि, सेवक। ये तीनों ही आज कल उदासीन साधु, जिज्ञासु, सेवक, इन रूपों में मिलते हैं। इन तीनों की दीक्षायें भी पृथक् २ हैं। अब मुनि, ऋषि, सेवक इन का स्पष्टीकरण किया जाता है। जो मनुष्य उदासीनमुनि अथवा ऋषि से चरणामृतपान कर भगवद्भक्तिप्रधान गुरुमन्त्र का उपदेश लेता है, और स्वयं किसी का गुरु नहीं बनता और नही किसी को मन्त्रोपदेश करता है वह उदासीन सेवक है। अन्य गृहस्थों की भाँति यह भी गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन पूर्णतया करता है और इस के वेशादिकों में कोई विशेषता नहीं होती। जो गृहस्थ तपश्चर्यादि विविध दैवीसंपत् धर्मों का भली भाँति पालन करता है। किसी उदासीन मुनि से चरणोदकपान कर अद्वैतबोधक गुरुमन्त्र का उपदेश लेता है। जनता में शास्त्रीय

सिद्धान्तों का प्रचार करता हुआ स्वयं अद्वैतनिष्ठ होने का यत्न करता है। वेदोक्त मर्यादानुसार चलता हुआ वह उदासीन ऋषि कहलाता है। स्मरण रहे ऋषि, मुनि नहीं कहला सकता। यद्यपि वहुत सी वातों में ऋषि चतुर्थाश्रमी मुनि के समान ही होता है; परन्तु नतो उसने पत्नी का त्याग ही किया होता है और नाही विधि-पूर्वक चतुर्थाश्रम का ग्रहण ही किया होता है। अतः समानता रहने पर भी ऋषि, मुनि नहीं कहा जा सकता। हाँ यह संभव है कि यदि वह पत्नी का त्याग कर चतुर्थाश्रमग्रहण कर ले तो वह राजा जनक की तरह मुनि कहला सकता है।

## मुनिशब्दार्थनिर्णय

जो मनुष्य चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट हो चुका है। धार्मिक भावों के प्रचारार्थ देशाटन करता है। अगणितमनुष्यों को दीक्षा देकर ऋषि और मुनि बनाता है वह मुनि कहा जाता है। इस से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि ऋषि ब्रह्मचारी वानप्रस्थ तथा गृहस्थविशेष का नाम है और मुनि चतुर्थाश्रमी को कहते हैं। इस विषय में कुछ प्रमाण लिखे जाते हैं। यह केवल भागवत, महाभारत, धर्मसूत्र ग्रन्थों में ही नहीं वेद में भी चतुर्थाश्रमी के लिये मुनि और ब्रह्मसंस्थ, और प्रव्रज्यारूप चतुर्थाश्रम के लिये मौनव्रत और ब्रह्मसंस्था पद आते हैं। अर्थात् मुनिशव्द सर्वत्र चतुर्थाश्रमी का वाचक है। यथा—

"एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा,
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम्"

(भागवत० स्कन्ध ३, अध्याय २४, श्लोक ३०)

"व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः,
निःसङ्गो व्यचरत क्षोणीमनग्निरनिकेतनः।"

(भागवत स्कन्ध ३, अध्याय २४ श्लो० ४२)

अपने पिता कर्दम जी से महर्षि कपिल जी कहते हैं,—अनन्तकरालकाल के चक्र में पड़कर प्रव्रज्यारूप मोक्षाश्रम लुप्तप्राय हो गया है, मैंने उसका जीर्णोद्धार करने के लिये ही यह देह धरा है।

अन्त में कपिल के उपदेश से प्रभावित होकर महर्षि कर्दम ने भी मौनव्रत अर्थात् उदासधर्म ग्रहण कर लिया। तव वह घर छोड़, तथा नित्यनैमित्तिक अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग कर अकेला ही संसार में विचरने लगा। देखिये इस श्लोक में साफ लिखा है कि कपिल के पिता कर्दम ने मौनव्रत अर्थात् उदासधर्म ले लिया। भगवान् वेदव्यास जी एक स्थान में ही नहीं सर्वत्र मुनिशब्द का प्रयोग चतुर्थाश्रमी में ही करते हैं। यथा—

"सनकश्च सनन्दश्च सनातनमथात्मभूः,।
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्द्धरेतसः'।
तान् वभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।"
ते नैच्छन् मोक्षधर्म्माणो वासुदेवपरायणाः।"

(भागवत० स्कन्द ३ अ० १२ श्लो० ४, ५)

देखिये पूर्वोक्त श्लोकों में ब्रह्मा के पुत्रों के लिये मुनिपद आया है। क्योंकि वे जन्मतः ही निवृत्तिप्रधान थे। ऊर्द्ध्वरेता और मोक्षधर्मा शब्द चतुर्थाश्रमी के लिये प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् उनके चतुर्थाश्रमी होने में सन्देह नहीं है। जब वे चतुर्थाश्रमी हैं, और उन्हीं के लिये मुनिपद लिखा गया है। इस से यही निश्चित होता है कि मुनिशब्द चतुर्थाश्रमी का परिचायक है।

धर्मसूत्रग्रन्थों में आश्रमचतुष्टय के प्रतिपादन में चतुर्थाश्रम के लिये मौनपद लिखा है। यथा—

"चत्वार आश्रमाः, गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्" (आपस्तम्ब)

केवल एक स्थान पर ही नहीं कई स्थानों में चतुर्थाश्रमी को मुनि कहा है। यथा—

"अनग्निरनिकेतः स्यादू अशर्मा शरणो मुनिः"।

(आपस्तम्ब द्वितीय पटल सूत्र ९, १०)

यहां पर भी चतुर्थाश्रमी के लिये मुनिपद का प्रयोग है। महाभारत में कथा आती है कि जनक राजा ने सर्वस्वत्याग कर मौनव्रत ले लिया। यथा,—

"धनान्यपत्यदारांँश्च रत्नानि विविधानि च।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौनमास्थितः"

(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १८ श्लो० ४)

अर्थात् राजा जनक ने समस्त सांसारिकपदार्थों का त्याग कर मौनव्रत ले लिया। धर्मराज युधिष्ठिर ने जब मौनव्रत लेना चाहा तो कहा कि मैं मुनि होकर भिक्षाचरणद्वारा अपने जीवन का अन्तिमभाग बिताऊँगा। यथा,—

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्।" (महाभारत शान्तिपर्व)

महाभारत के उद्योगपर्व के "उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिंच तेभ्योऽनुविधाय काश्चित् स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथमुनिर्बुभूषेत्. अ० ३७, श्लो० ३९ इस वाक्य से चतुर्थाश्रमी का मुनिनाम होना अति स्पष्ट हो जाता है श्लोक का भाषार्थ यह हैः— पुत्रों को पैदा कर ऋणमुक्त करता हुआ उनकी किसी प्रकार की वृत्ति का प्रवन्ध करे और कन्याओं का योग्य वर के साथ विवाह करे फिर वानप्रस्थ हो कर मनुष्य को चतुर्थाश्रमी बनना चाहिए।

अब तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं करना चाहिये कि मुनि नाम चतुर्थाश्रमी का ही है। कहीं कहीं पर ऋषि मुनि शब्द परस्पर एक दूसरे के स्थान पर आ जाते हैं, वहाँ पर गौणीवृत्ति से व्यवस्था कर लेना उचित है। उपनिषदों में भी मुनिपद चतुर्थाश्रमी के लिये आता है—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन, तमेवात्मानम् विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव लोक मिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति। (बृहदारण्यक अ० ४ ब्रा० ४ मं० २२)

अर्थात् वेदाध्ययन से ब्राह्मण उस आत्मा को जानना चाहते हैं। यज्ञ, दान और भाँति भाँति के तप द्वारा उसका असली स्वरूप जानकर मनुष्य मुनिपदवी को प्राप्त होता है। उसी परमपद की इच्छा से विरक्त मनुष्य प्रव्रज्या-ग्रहण करते हैं। "अथ मुनिः" (बृहदारण्णक, अ० ३, ब्रा० ५, मं. १) उस स्थल में प्रव्रज्या का विवेचन है। और सर्वत्र चतुर्थाश्रमी के लिये मुनिपद का ही प्रयोग मिलता है। अतः मुनि और ऋषि, इन दोनों शब्दों को एकार्थक बताना अज्ञता प्रकट करना है।

इस के अलावा ऋग्वेद में चतुर्थाश्रमी के लिये मुनिपद आया है। यथा,—

"वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् द्रप्सो भेत्ता पुरां शाश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा" (ऋ० मं० ८, सूक्त १७, मन्त्र १४)

अर्थात् हे दयालो इन्द्र! परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, चतुर्थाश्रमियों (मुनियों) का परममित्र हो। इस मन्त्र में चतुर्थाश्रमियों के लिये मुनिपद आया है। इस मन्त्र का विस्तृत अर्थ पृ० १४ पर है। चतुर्थाश्रमी में मुनिपद केवल एक मन्त्र में ही नहीं अनेकों मन्त्रों में मिलता है। यथा,—

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि, धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णो।
(ऋग्० म० ६, सू० ५६, मं० ८)

हे वायुदेवताओ! आपका बल सर्व प्रकार से सुन्दर है। आपके मन युद्धों में शत्रुओं के नाशार्थ क्रोधशाली हैं। दूसरों के दमन करने में आपका वेग मुनि महात्मा जैसा हो। जिस प्रकार चतुर्थाश्रमी मुनि की गति सर्वत्र है, इसी प्रकार आप के गण का वेग सर्वत्र हो। देखिये इस मन्त्र में भी मुनिपद चतुर्थाश्रमी का परिचायक है। अब तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई कि मुनि नाम चतुर्थाश्रमी का ही है। वेद में चतुर्थाश्रमीमुनियों के लिये सर्वस्वत्याग, पिशङ्गवस्त्र, और 'ईश्वरपरायणता लिखी है। यथा—

"मुनयोः वातरशनाः, पिशङ्गा वसते मला,।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यदेवासो अविक्षत" (ऋग्० १०, १३६, २)

इस मन्त्र में भी चतुर्थाश्रमी का नाम मुनि आया है। तात्पर्य्य यह है कि चतुर्थाश्रमप्रतिपादक श्रौत-स्मार्त्त-वाक्यों में चतुर्थाश्रमी के लिये प्रायः मुनिपद आता है। अतः चतुर्थाश्रमी को मुनि कहना उचित ही है।

अतएव भगवान् कृष्ण ने गीता के दशमाध्याय के आरम्भ में सृष्टि उत्पादक ऋषियों को मुनि नहीं, महर्षि कहा है। यथा—

"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा,
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।"

महर्षि वेदव्यासजी सपत्नीक थे। शुकदेवजी उनके सुपुत्र हुए हैं। वसिष्ठजी भी महर्षि थे। परन्तु जब भीष्मपितामह शरशय्या पर लेटे हुए हैं। और युधिष्ठिरजी धर्मविषयक प्रश्न पूछ रहे हैं, तो भीष्मस्तवराज में वसिष्ठ और व्यासादिकों के लिये महाभारत में मुनिपद का प्रयोग किया गया है।

अतः सम्भव है, उन्हों ने तब चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर लिया हो। क्योंकि ऋषि तभी मुनि कहलाने का अधिकारी है यदि उसने सर्वस्व त्याग कर चतुर्थाश्रम ग्रहण कर लिया हो। सारांश यह है कि मुनि निरूपितशिष्यता तीनों (ऋषि, मुनि, सेवक) पर और ऋषिनिरूपित ऋषि सेवक दोनों पर है। सेवक को शिष्य बनाने का अधिकारनहीं। महामुनि श्रीचन्द्र जी के भगवद्भक्त (भक्तभगवान्) आदि मुनि, धर्मचन्द्रादि ऋषि और साधारण गृहस्थसेवक शिष्य थे। उक्त त्रिशाखोपेत उदासीन कल्पपादप का बीजवपन महामुनि सनत्कुमार जी ने किया था। महामुनि नारद की देखरेख में यह बढ़ा। समय समय पर बाभ्रव्य, दाल्भ्य प्रभृति मुनि लोग इस की सेवा करते रहे। यह वृत्त पुराणपाठकों से छुपा हुआ नहीं है कि सत्ययुग से लेकर द्वापर के अन्त तक उदासधर्म का अलौकिक प्रभुत्व रहा। महामुनि सनत्कुमार और नारदादिकों ने इसे उन्नत करने में आजीवन असीम यत्न किये। अनन्तर कलिकाल के कठोरप्रहारों के आगे इसे झुक जाना पड़ा। पापवृद्धि के साथ उदासीन मार्तण्ड आधुनिक तथा नाममात्र के चतुर्थाश्रममेघों से आच्छादित होकर लुप्त सा होने लगा। परन्तु ईश्वर को यह स्वीकृत न था। जिस धर्म का प्रचार करते हुए इन्द्र वरुणादिक देवतागण भी अपने आप को कृतकृत्य मानते थे। भगवान् विष्णु ने जिसकी रक्षा के लिये स्वर्ग से देवतागणों को मर्त्यलोक में भेजा। महात्मा शिम्यु जैसे विरक्तों ने जिसके प्रचार में अपना सारा जीवन लगा दिया। विपत्ति के काले बादल छाये देखकर जिस सर्वधर्मश्रेष्ठ उदासधर्म की रक्षा के लिये देवलोक का सिंहासन छोड़कर देवराज स्वयं दौड़ा दौड़ा मर्त्यलोक में आता था। भला कब संभव था कि ऐसा लोकप्रिय धर्म नकलीधर्मों से आवृत्त होकर सदा के लिये छिपा रहता। अन्त में प्रातःस्मरणीय शिवस्वरूप श्री चन्द्रमुनि द्वारा इस धर्म का पुनरुद्धार हुआ। स्वल्प समय में ही महामुनि के प्रचण्ड प्रताप के आगे आधुनिकचतुर्थाश्रम मेघमण्डली छिन्नभिन्न हो गई। उदासीनमोक्षाश्रम का वास्तविक स्वरूप लोगों को दृष्टिगोचर होने लगा।

## चतुर्थाश्रम के तीन भेद

तत्क्षण, उदासधर्मरवि की सदुपदेशकिरणमाला से अज्ञानरजनी का अन्त हुआ। चतुर्थाश्रम के विषय में यहाँ इतना और समझ लेना आवश्यक है कि चतुर्थाश्रम की तीन अवस्थाएं (भेद) हुईं। चतुर्थाश्रम की प्राथमिक अवस्था वह थी

जब कि सनत्कुमार प्रभृति मुनिगण श्रौतप्रव्रज्या के नियमों का ही पूर्णतया पालन करते थे। अतएव उनका दण्ड धारण करना कहीं नहीं लिखा।

अलिङ्ग प्रव्रज्या श्रौत है, और लिङ्ग स्मार्त्त है। श्रौत और स्मार्त में परस्पर इतना ही भेद है कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में जिस प्रव्रज्या का उल्लेख स्पष्ट हो वह श्रौत है और वेदानुकूल धर्मशास्त्र निर्माता महर्षियों ने आवश्यकता समझकर जिस जिस नियम को स्वनिर्मितधर्मशास्त्र में निर्दिष्ट किया वह स्मार्त्त है। वेद में अलिङ्ग प्रव्रज्या का उल्लेख है, अतः वह श्रौत है। चतुर्थाश्रम के चिन्ह–दण्डधारणादिकों का विधान केवल धर्मशास्त्रों में पाया जाता है अतः वह स्मार्त है। द्वापर के अन्ततक श्रौतप्रव्रज्या का प्रचार अधिक था। स्मार्त्तप्रव्रज्या इतनी लोकप्रिय न थी। अन्वेषण करने पर ऐसी व्यक्ति का मिलना दुर्लभ था जिसने स्मार्त्तप्रव्रज्या का ग्रहण किया हो। यदि किसी ने किसी समय स्मार्त्तलिङ्गों का धारण किया भी, तो वह उन्हें अधिक महत्त्व नहीं देता था। महाभारत के समय स्मार्त्तप्रव्रज्या का कुछ कुछ प्रचार मिलता है परन्तु अधिकता से नहीं। इसके बाद बुद्ध का समय आता है। श्रौतप्रव्रज्यारवि तो तब अस्तप्राय हो चुके थे; स्मार्त्त का भग्नावशेषदीपक अभी टिमटिमा रहा था। कुछ नियम तो स्मार्त्तप्रव्रज्या के, और कुछेक काल्पनिक, इन दोनों को मिला कर बुद्धभगवान् ने चतुर्थाश्रम को नया ही रूप दे दिया। तब श्रौतपरिव्राजक और स्मार्त्तपरिव्राजक का मिलना अति कठिन हो गया। बहुत दिन तक भारत में बौद्धों की तूती बोलती रही। परन्तु संसार संसरणशील है, समाज और धर्म इस के अंशमात्र हैं। समय समय पर इन में परिवर्तन का आना भी स्वाभाविक है। अतः दार्शनिकमुकुटमणि (कुमारिल) तथा शंकर के अतुलविक्रम तथा ओजस्वीभाषणों के आगे बुद्धधर्म को हार माननी पड़ी। तभी से स्मार्त्तप्रव्रज्या फिर जीवित हो उठी। शंकर के इस अद्वितीयकार्य के लिये भारत उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा। शंकर के गुरु गोविन्दपाद संभव है स्मार्त्त परिव्राजक थे। हाँ यह अवश्य है कि उस समय आधुनिक चतुर्थाश्रम का चिन्ह तक न था। वेद में चतुर्थाश्रमीबोधक ब्रह्मसंस्थ एवं मुनिशब्द अधिक आता है। यति और परिव्राजक शब्द भी कहीं कहीं मिलते हैं। परन्तु ब्रह्मसंस्थ मुनि आदि शब्दोंकी अपेक्षा बहुत कम। स्मृतियों के देखने से पता चलता है कि चतुर्थाश्रमी के लिये वहाँ यति और परिव्राजक शब्द हैं। अबतक यह बात आई कि चतुर्थाश्रमी का परिचायकवैदिकशब्द ब्रह्मसंस्थ तथा मुनि है और यति और परिव्राजक ये दोनों स्मार्त हैं। आरम्भ में चतुर्थाश्रमी महात्मा ब्रह्मसंस्थ अर्थात् उदासीन मुनि कहलाते थे; क्योंकि ब्रह्मसंस्थ और उदासीन ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। इस बात का निर्णय हम पहले सप्रमाण कर चुके हैं। अतः फिर यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। यति, परिव्राजक, ब्रह्मसंस्थ ये तीनों शब्द यद्यपि आपाततः चतुर्थाश्रमी के बोधक हैं; परन्तु तीनों का एक ही अर्थ समझ लेना प्रमाद है। इस विषय पर भी हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। जिस प्रकार चतुर्थाश्रमी के वाचक ब्रह्मसंस्थ शब्द की अपेक्षा यति और परिव्राजक शब्द आधुनिक हैं ठीक उसी तरह संन्यासी शब्द यति और परिव्राजक शब्दों से बहुत आधुनिक है। श्रुति, स्मृति, सूत्रग्रन्थों में ब्रह्मसंस्थ अर्थात् उदासीन, यति और

परिव्राजक शब्द चतुर्थाश्रमी के लिये आम आते हैं, परन्तु संन्यासी शब्द वहाँ कहीं ढूँडने पर भी नहीं मिलता। हाँ यह ज़रूर है कि संन्यासी शब्द की भरमार पुराणों में अवश्य है। अतिपुरातन वाल्मीकि रामायण में चतुर्थाश्रमी के लिये श्रमण शब्द आया है, यथा,—

"तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते" (रामायण १, १४, १२)

इस से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संन्यासीशब्द उदासीन की तरह न तो श्रौत है और न स्मार्त। आरम्भ से द्वापर के अन्त तक वैदिकप्रव्रज्या का तदनु बौद्धकाल तक स्मार्तप्रव्रज्या का प्रचार जोरों पर रहा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि आधुनिकचतुर्थाश्रम और श्रौतस्मार्तप्रव्रज्याओं में आकाश पाताल का अन्तर है। स्मार्तप्रव्रज्या का स्रोत बौधकालमरु में पहुँचकर लुप्तप्राय हो गया। जिस का पुनरुज्जीवन शंकर ने किया। शंकर का जन्म आठवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। उन दिनों में भारत के प्रतिप्रान्त में भाँति भाँति के मतों की भरमार थी। शंकर ने बौद्ध, जैन, तान्त्रिकादि मतों का खण्डनकर भारत-भर में कैवलाद्वैत का प्रचार किया। शंकर से लगभग एक शताब्दीपूर्व भवभूति का समय निश्चित है। उस समय तान्त्रिकमत का प्रचार बहुत गुप्त रीति से होता था।

शंकर के केवलाद्वैत के प्रचार से एकवार वह दब सा गया। प्रकृति के नियमानुसार सौ वर्ष के बाद केवलाद्वैत के प्रचार को कुछ ढीला पड़ा देख तान्त्रिकों ने फिर तन्त्रग्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिये। इस हिसाब से एक दो तन्त्रग्रन्थों के बिना बाकी सारे तन्त्रग्रन्थ १० वीं शताब्दी के बाद लिखे गये हैं। शाक्त और तान्त्रिक ये दोनों नाम एक ही मत के मानने वालों के हैं। १२ वीं शताब्दी में फिर तान्त्रिक चमक उठे। केवलाद्वैत के स्थान को तन्त्रग्रन्थों के सिद्धान्तों ने रोक लिया। क्या राजा क्या महाराजा, धनी गरीब, विद्वान् मूर्ख, इसी प्रवाह में बह गये। तब शाक्त लोगों ने मनमानियें कीं। देशभर में ढिण्डोरा पिटवादिया कि तन्त्रग्रन्थ पञ्चमवेद है इसकी आज्ञा का पालन करना हर एक हिन्दू का कर्तव्य है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि तान्त्रिकों के सिद्धान्तों का अधिक असर तदानींतन शैवपरिव्राजकों पर हुआ। कारण, शैवपरिव्राजक शिव को अपना उपास्यदेव मानते थे और तन्त्रग्रन्थों पर लिखा गया था कि ये ग्रन्थ शिव जी ने पार्वती को सुनाए हैं। तान्त्रिकों की वह कुटिलनीति हमारे भोलेभाले सरलहृदय शैवपरिव्राजकों पर अपना असर किये बिना न रह सकी। अतः उस समय चतुर्थाश्रम के नियमों में कुछ तान्त्रिकनियमों का सम्मिश्रण हो गया।

इसे ही चतुर्थाश्रम की आधुनिकावस्था कहना चाहिये। आधुनिक और स्मार्त्त चतुर्थाश्रमियों से पूर्व, जब श्रौतप्रव्रज्या का अधिक प्रचार था, तब चतुर्थाश्रमी महात्मा लोग प्रायः उदासीन, मुनि, ब्रह्मसंस्थ नामों से ही पुकारे जाते थे। दूर जाने की आवश्यकता नहीं आज भी उदासीनमहात्मा इन्हीं नामों से प्रेम रखते हैं। वे आधुनिकचतुर्थाश्रम को उपेक्षा से देखते हैं। कितने हर्ष की बात है कि उदासीनमहात्माओं के यहाँ स्मार्त्त-लिङ्गप्रव्रज्या का अधिक आदर नहीं है। आज

यदि समस्त साधुसमाज में अन्वेषण किया जाय तो श्रौतप्रव्रज्या के नियमों का पालन करने वाले केवल उदासीनमहात्मा ही मिलेंगे। इस से उदासीन महात्माओं की पुरातनता स्वयमेव सिद्ध होती है।

## ( २ तरङ्ग )

### अति प्राचीन काल में उदासीन सम्प्रदाय

गतयुगों में श्रौतप्रव्रज्या अर्थात् औदासीन्य का कितना प्रचार था, लोगों के मनों में इसके लिये कितना आदर था, यह सवकुछ आगामीकथा से स्फुट हो जायगा। यहाँ तक कि लोग इस धर्म की दीक्षाप्राप्ति के लिये देवताओं से वर मांगा करते थे। देवतालोग केवल उसे ही उदासीन वनने का वर देते थे, जिस पर उनकी अधिक प्रसन्नता होती थी। इन वातों की पुष्टि के लिये हम पद्मपुराण की एक कथा प्रमाणरूप में लिखते हैं।

एक दिन महादेवजी के मन में एक तरङ्ग उठी, अद्भुत लीला करने के लिये वाहर निकल पड़े। वनावटी पगले के वेश में दिगम्बर घूमने लगे। जव वे ब्राह्मण परिषत् में पहुँचे तो दर्शक आश्चर्य में डूव गये। कुपितब्राह्मणों ने शंकर को डांटना आरम्भ किया। कई एक धूर्त्तों ने उन्मत्तवेशधारी धूर्जटि को धूलि-धूसरित कर दिया। यहाँ तक कि पत्थर और कङ्करों की वर्षा भी हुई। वालकों को एक अद्भुत खिलौना मिल गया। हाथों में लकड़ी कङ्कर लेकर पीछे पीछे हो लिये। कभी डर कर पीछे भागते। कभी मारने को आगे दौडते थे। कैलाशपति किसी की ओर भी आंख उठा कर न देखते थे। कई एक कुपितद्विजों ने कहा, "आप कौन हैं? क्यों अपरिचित से घूम रहे हैं। नग्न घूमने की प्रथा सर्वथाहेय है। आप वतलायें। किसकी आज्ञा से आप ऐसा कर रहे हैं ब्रह्मादिक देवता भी इस प्रथा को त्याज्य समझते हैं। आप किस लिये इसे अपना रहे हैं?"। उत्तर में पशुपति ने गाली-गलौज की झड़ी लगादी। देवताओं पर भी अश्लीलवाक्यों की वौछाड होने लगी। ब्राह्मण इसे सहन न कर सके। कटुशव्दों से कहा, "रे निस्त्रप! तू धूर्ततर है। तुझे लज्जा नहीं आती, देख यहाँ स्त्रियां वैठी हैं। तू अवश्य कृत्रिम उन्मत्त है। ये कटूक्तियाँ सुनकर भी चन्द्रशेखर हँसकर वोले, "मैं उन्मत्त हूँ, विवश हूँ, क्या करूँ, मस्तिष्क में विकृति आगई है। शुभाशुभ के पहचानने में असमर्थ हूँ। आप दयालु और प्राणिमात्र पर समदृष्टि हैं, मुझ से ऐसा व्यवहार क्यों? यह सर्वथा अनुचित है, मुझे दया की भिक्षा दो"। सर्वज्ञ के इन मृदुतर वचनों ने तप्ताज्य पर शीतलजलकणों का काम किया। ब्राह्मण तो पहले ही पर्य्याप्त कुपित थे; परन्तु अव तो वे गुस्से से पागल हो उठे। और लगी विरूपाक्ष पर चारों ओर से मार पड़ने, यथा—

मायया तस्य देवस्य मोहितास्ते द्विजोत्तमाः,
कपर्दिनं निजघ्नुस्ते पाणि पादैश्च मुष्टिभिः ।
दण्डैश्चापि च कीलैश्च उन्मत्तवेशधारिणम् ,
पीड्यमान स्ततस्तैस्तु द्विजैः कोपमथागमत् ॥ ६९ ॥
( पद्मपुराण० सृ० खं० अ० १७, श्लोक ६८, )

महर्षि पराशर जो भीष्मपितामह से कहते हैं कि उस समय शंकर की विचित्र माया में अनजान हो रहे ब्राह्मणों ने उन्मत्त वेशधारीशङ्कर को चपेट, मुक्का, लात, दण्डा और कीलों से पीटा। अन्त में त्रिलोचन जी कुपित हो उठे यथा—

"ततो देवेन शप्तास्ते यूयं वेदविवर्जिताः ।
ऊर्ध्वजटाः क्रतुभ्रष्टाः परदारोपसेविनः ॥ ७० ॥
वेश्यायां तु रता द्यूते पितृमातृविवर्जिताः ।
न पुत्रः पैतृकं वित्तं विद्यां वापि गमिष्यति ॥ ७१ ॥
रौद्रींभिक्षां समश्नन्तु परपिण्डोपजीविनः ।
सर्वेच मोहिताः सन्तु, सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ७२ ॥
आत्मानं वर्तयन्तश्च निर्ममा (स्नेहशून्या) धर्मवर्जिताः ।
कृपार्पिता तु यैः विप्रैः—उन्मत्ते मयि साम्प्रतम् ॥ ७३ ॥
तेषां धनश्च पुत्राश्च दासीदासमजाविकम् ।
कुलोत्पन्नाश्च वै नार्यो मयि तुष्टे भवंत्विह ॥ ७४ ॥ "

और यह शाप दिया–तुम वेदविद्या भूलकर यज्ञ करना छोड दोगे। तुम्हारी आकृति भयावह होगी और तुम परस्त्रीगामी बनोगे। तुम वेश्याप्रेमी, द्यूतासक्त और मातापिता की कृपा से वञ्चित रहोगे। तुम्हारे में बेटा बाप की विद्या और सम्पति का अधिकारी न होगा। तुम जड़ और इन्द्रियज्ञान के विना होगे। तुम्हारा जीवन परतन्त्रता में बीतेगा और तुम शैवीभिक्षा से उदरपूर्त्ति किया करोगे अर्थात् दाता की इच्छा न होने पर भी उस से कलह करके लिया करोगे। इसी को शैवीभिक्षा कहते हैं। तुम अपने स्वाभिमान और धर्म को खो बैठोगे। इस दशा में जिन ब्राह्मणों ने मेरी सहायता की है, उनके यहाँ धन, पुत्र, दासी, दास, भाँति भाँति के आवश्यक पशु, तथा कुलीन स्त्रियां मेरी प्रसन्नता से हों। इस प्रकार उन भूसुरों को वर और शाप दे कर भगवान् शङ्कर जी वहीं अन्तर्धान हो गये।
अब ब्राह्मणों की आँखें खुलीं कि जिस को उन्हों ने पीटा है, वे तो उमापति शङ्कर थे। फिर क्या था, लगे भय से मूर्छित होने। महादेवजी तो वहाँ से

तिरोहित हो चुके थे; अब क्या हो सकता था, "जब चिडियां चुग गई खेत"। ब्राह्मण शङ्कर को ढूँढने लगे। जब कहीं न मिले तो निराश हो कर पुष्कर तीर्थ में तप करने लगे। उनके घोरतप को देखकर आशुतोष महेश्वरजी वहाँ आ उपस्थित हुए। वर देते समय कहा,—

"शान्ता दान्ता द्विजा ये तु भक्तिमन्तो मयिस्थिराः,
न तेषां छिद्यते वेदो न धनं नापि सन्ततिः।
अग्निहोत्ररता ये च भक्तिमन्तो जनार्दने,
पूजयन्ति च ब्रह्माणं तेजोराशिं दिवाकरम्। ७९, ८०।
नाशुभं विद्यते तेषां येषां साम्ये स्थिता मतिः,
एतावदुक्त्वावचनन्तूष्णीभूतस्तु सोऽभवत्। ८१।

शान्त, संयमी जो द्विज मेरे भक्त और मुझ में दत्तचित्त हैं उनके धनादिकों का नाश नहीं होता। जो ब्राह्मण अग्निहोत्रानुरागी, विष्णुभक्त, ब्रह्मा के उपासक, और सूर्य के पुजारी हैं और जो समभाव से पञ्चदेव का पूजन करते हैं उनका अनिष्ट न होगा। यह कह कर शिवभोलेनाथ चुप हो गये। तदनु ब्राह्मण लोग ब्रह्माजी के पास आये और साञ्जलि स्तुति करने लगे।

विरञ्चिं संहिताजाप्यैः तोषयन्तोऽग्रतः स्थिताः,
तुष्टस्तान् अब्रवीत् ब्रह्मा मत्तोऽपि व्रियतां वरः। ८३।
ब्रह्मण स्तेनवाक्येन हृष्टाः सर्वे द्विजोत्तमाः,
को वरो याच्यतां विप्राः परितुष्टे पितामहे। ८४।
अग्निहोत्राणि वेदाँश्च शास्त्राणिविविधानि च।
सान्तानिकाश्च ये लोका वरदानाद्भवन्तु नः॥ ८५॥
एवं प्रजल्पतां तत्र विप्राणां कोपमाविशत्,
के यूयं केऽत्र प्रवराः वयं श्रेष्ठा स्तथा परे। ८६।
नेति नेति तथा विप्राः द्विजाँ स्तांस्तत्र संस्थितान्,
ब्रह्मो वाचाभिसंप्रेक्ष्य ब्राह्मणान् क्रोधपूरितान्। ८७।
यस्मायूयं त्रिभिर्मार्गैः, सभायां वाह्यतः स्थिताः,
तस्मादामूलिको गुल्मो ह्येको भवतु वो द्विजाः। ८८।

उदासीनाः स्थिता येतु-उदासीना भवन्तु ते ।
सायुधा वद्ध निंस्त्रिंसा योद्धुकामा व्यवस्थिताः । ८९ ।
कौशिकीति गणो नाम तृतीयोभवतु द्विजः ।
त्रिधाविधमिदं स्थानं सर्वं युष्मद्भविष्यति । ९० ।

ब्रह्मा की प्रसन्नतार्थ ब्राह्मण लोगों ने स्तोत्र पढने आरम्भ किये। चतुरानन ने प्रसन्न हो कर कहा, "वर मांगो"। ब्रह्मा के इस वचन को सुन कर ब्राह्मण परस्पर विचार करने लगे कि कौनसा घर मांगना चाहिये। अग्निहोत्र, वेद, भाँति भाँति के शास्त्र और सान्तानिक में से कौन वर अच्छा है।

इस प्रकार बातें कर रहे ब्राह्मणों में क्रोधाग्नि जल उठी, लगे परस्पर झगड़ने कई एक दल वन गये। एक दूसरे को नीचा दिखाने और प्रधान वनने का यत्न करने लगा। परिणाम यह हुआ कि अन्त तक कोई भी वरविषयकविचार स्थिर न हो सका। परस्पर कलह और द्वेष, तथा क्रोधाग्नि से जल रहे ब्राह्मणों की ओर ब्रह्माने देखा और कहा तुम लोग यहाँ पर वरप्राप्ति के लिये तामस हो गये हो। तुम तीन दलों में विभक्त हो। प्रथम, जो आपस में लड़ मरने को तैयार है। द्वितीय, उन्हें हटाने का यत्न कर रहा है। तीसरा सर्वतः मौन है। अतः मैं द्वितीय दल को आकाशवेल होने की आज्ञा देता हूं, कारण, इसका अपना कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है। तीसरा दल उदासीन साधु वन जाये, क्यों कि इनकी प्रकृति उदासीनों जैसी है। इन्हों ने किसी को भी कुछ नही कहा। शस्त्रधारी तीसरा दल कौशिकी * नामक गण हो। इस प्रकार तीन स्थानों में आपका भिन्न भिन्न. निवास होगा। तात्पर्य्य यह है कि कलहकारीदल नकुल, शान्तिकारी आकाशवेल, और तटस्थ-दल उदासीनसाधु वनकर इस पुष्करतीर्थ में निवास करेगा। पाठक इस पूर्वोक्त कथा से स्वयं विचार करें कि उदासीनसम्प्रदाय कितना पुरातन और उत्कृष्ट है। जिस उदासधर्म की दीक्षा की प्राप्ति ब्रह्मा के वर से द्विजोत्तमों को हुई उसके पुरातनत्व में क्या सन्देह है। पूर्वोक्त विस्तृतवर्णन से समस्त शंकायें निर्मूल ठहरती हैं। यहां पर कोई उदासीनशब्द का अर्थ मध्यस्थ अथवा उपेक्षक करने का साहस नहीं कर सकता; क्यों कि मूल में उदासीनशब्द दो बार आया है। यदि द्वितीय उदासीनशब्द का अर्थ वही मान लिया जाय जो पूर्वशब्द का है तो; वैसे तो वे ब्राह्मण पहले भी थे। ब्रह्मा के वर से विशेषता उनमें क्या आई। जिस प्रकार इनके स्वरूप में भी अन्तर आना स्वाभाविक है। नहीं तो वर ही क्या हुआ। वह विशेषता गृहस्थब्राह्मणों में उदासीनसाधु बनने पर ही आ सकती है। साधुओं और गृहस्थों में परस्पर सर्वत्र पृथक्त्व होता है। साधु काषायवस्त्र और गृहस्थ

* "कौशिकी," यह नाम किसी जङ्गली नीच जाति का है। यह जाति स्वभाव की नितान्त क्रूर होती है। कई एक विद्वानों की यहां यह सम्मति भी है कि यहां मूल पाठ अशुद्ध है। वस्तुतस्तु पाठ है "कैशिकेति" अर्थात् कैशिक+इति। कैशिक नाम है नकुल का, वह साँप से अधिक लडता रहता है। अत एव ब्रह्मा जी ने कलहकारी दल को उसके स्वभावानुसार नकुल होने का शाप दिया।

सफेद पहनता है। गृहस्थाश्रम में यज्ञादि विहित हैं। चतुर्थाश्रम में इनका त्याग श्रेयस्कर है।

# उदासीनसाधु गृहस्थियों के भेद.

गृहस्थ अपने परिवार में रहता हुआ कान्ता काञ्चनादिकों का ग्रहण कर सकता है, परन्तु साधु के लिये ये सर्वथा हेय हैं। अतः उदासीनशब्द का अर्थ यहां उदासीनसम्प्रदाय ही हो सकता है, अन्यथा गति नहीं। इस कथा में उमापति शङ्कर ने ब्राह्मणों का शाप-निवारण करते हुए उन्हें उदासीनसाधु होने का वर दिया है। वरविधायकवाक्य में यद्यपि कोई विधिबोधक शब्द नहीं है परन्तु यह अवश्य लिखा है कि पञ्चदेवोपासक के ऊपर अग्निहोत्रादिविलोपात्मकशाप नहीं लगेगा। अब विचारणीयविषय यह है कि पञ्चदेव का समभाव से उपासक कौन है : निर्विवाद मानना पड़ेगा, ऐसे उदासीन महानुभाव ही हो सकते हैं। शङ्कर के वरवाक्य का वास्तविकरहस्य यह है कि यदि आप मेरे शाप से सर्वथामुक्त होना चाहते हैं तो उदासधर्म का ग्रहण करें। इस प्रकार महादेव ने उन ब्राह्मणों से कहा। इस से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शङ्कर को उदासधर्म अत्यन्त प्रिय था। उदासधर्म की दीक्षा ले लेने से महादेव उन अपराधियों को क्षमादान दे रहा है, जिन्हों ने त्रिपुरान्तक को अपमानित ही नहीं किया; बल्कि प्रमादवश मारा पीटा भी। यदि महादेव के वरवाक्य का उक्तभाव न होता, तो मेरे भक्तों को यह शाप नहीं लगेगा, इतना कह देना ही पर्य्याप्त था। विश्णु, ब्रह्मा, वेद, सूर्य, इन की भक्ति को महत्त्व देना अनावश्यक था। कुछ ऐसा प्रतीत होता है, उदासीमुनि अलौकिक शक्तियों के आगार थे। वे जिसे दीक्षित करते थे, वह सांसारिक बन्धनों से अनायास ही छूट जाता था। उदासीन मुनियों के गृहस्थ सेवक परिवार में रहते हुए भी पद्मपत्रमिवाम्भसा निर्लेप रहते थे। जब वे समझते थे कि, हमने वेदाध्ययन से ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पादन से पितृऋण और अग्निहोत्रादिकों से देव-ऋण उतार दिया है हमारा यहां पुत्रपौत्रादिकों के पोषण में लगे रहना श्रेयस्कर नहीं, तो तत्क्षण छोड़कर दूर हो जाते थे। बस्तियों से दूर जङ्गलों में जाकर, अपनी वृत्ति को ईश्वर के ध्यान में लय कर देते थे। परमपुरुषार्थ को ही अपना लक्ष्य बनाकर भजन में तत्पर रहते थे। उनकी प्रत्येक क्रिया में साधारणगृहस्थों की अपेक्षा आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता था। चतुर्थाश्रमी उदासीन मुनियों की भाँति इन में भी पारिवारिक आसक्ति के चिन्ह तक न रहते थे। आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है अतएव गृहस्थ कह उठते थे, अब ये गृहस्थ काहे के, इन्हें तो उदासीनसाधु कहना चाहिये। आजकल भी ऐसा ही देखने में आता है।

जो मनुष्य किसी साधु महात्मा के निरन्तर संग करने से, सांसारिक झञ्झटों की उपेक्षा कर परमार्थ की ओर लग जाता है, लोग उसे साधु कहना आरम्भ कर देते हैं। कारण, वह साधुओं के कर्तव्य का पालन करता है। भगवद्भक्त, उपासना करते करते भगवद्रूप हो जाता है। शास्त्रों में इसी को रागात्मकभक्ति की तन्मयासक्तिनामक १४ वीं अवस्था बतलाया है। इस स्थिति में भगवान् की

समस्त शक्तियों का आविर्भाव भक्त में हो जाता है। समासतः भगवान् और भक्त में नाम का अन्तर रह जाता है। इसी तरह उदासीनमुनियों की सेवा करते करते, उदासीनसेवक तन्मय होजाता है। अब उसे लोग सेवक न कह कर उदासीन ही कहना आरम्भ कर देते हैं। वहां उदासीनता का नियामक सादृश्य है, उदासीनमुनिदीक्षा नहीं। अतएव उदासीनसाधु में और उसमें इतना अन्तर रह जाता है कि वह गृहस्थउदासीन है, और साधु सर्वत्यागी होकर स्वतन्त्र हो जाता है। महर्षि व्यासदेव ने पुराणों में गृहस्थाश्रम के साधक और उदासीन ये दो भेद बतलाये हैं। यथा—

गृहस्थस्य समासेन धर्मोऽयं द्विजसत्तम।
उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।
कुटुम्बभरणेयुक्तः साधकोऽसौ गृही भवेत्॥ ९॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्या धनादिकम्।
एकाकी यस्तु विचरे दुदासीनः स मौक्षिकः। १०। (गरुड० अ० ५९)

अर्थात् संक्षेपतः गृहस्थ दो प्रकार का होता है। एक साधक, द्वितीय उदासीन। कुटुम्बपालन में तत्पर गृहस्थ साधक कहलाता है, यही उदासीन सेवक होता है। जो गृहस्थ तीनों ऋणों से उऋण, सुतदारादिकों का त्यागी संसार से उदास होकर अकेला घूमता है वह मौक्षिकउदासीन होता है। इसे उदासीन ऋषि भी कह सकते हैं। गृहस्थ के ये दोनों भेद कूर्मपुराण के द्वितीय अध्याय में भी वर्णन किये गये हैं। श्लोकपाठ की समानता के कारण दोहराना आवश्यक नहीं। उदासीन शब्द प्रधानतया चतुर्थाश्रमी का परिचायक है। अतएव पङ्कज शब्द की तरह योगरूढ होने के कारण, ब्रह्मसंस्थ चतुर्थाश्रमी में इसका प्रयोग करना उचित है। उक्त श्लोकों में समानता को लेकर उदासीन शब्द का प्रयोग गृहस्थ में किया है। इस से हमारी पूर्वोक्तधारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि, चतुर्थाश्रमियों का प्रथम नाम उदासीन है। अतएव ऋणत्रय निराकरणपूर्वक सुतदारादिकों के त्यागी गृहस्थ में चतुर्थाश्रमियों की समानता को लेकर महर्षि व्यास ने उदासीनशब्द प्रयुक्त किया।

उस समय के चतुर्थाश्रमियों में संन्यासीशब्द का प्रयोग न था। यदि होता तो, उदासीनशब्द की तरह कहीं न कहीं इसका भी प्रयोग मिलता। अतः निश्चित हुआ कि उस समय उदासीनशब्द का ही अधिक प्रयोग था। उस समय संन्यासी शब्द का, चतुर्थाश्रमी में प्रयोग होता ही न था, मान लो, यदि होता भी था, तो बहुत कम। इस से यह परिणाम भी निकलता है कि उन दिनों में उदासधर्म का प्रचार बड़ा बढ़ा चढ़ा होगा। उदासीनशब्द की व्यापकता का मूलकारण यही था कि, यह धर्म उस समय में संसारव्यापी धर्म था। बहुत से प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि उदासीनशब्द केवल चतुर्थाश्रमी उदासीनमुनियों में ही नहीं, अपितु उनके सेवक इतराश्रमियों में भी प्रयुक्त होता था। गृहस्थ में उदासीन

शब्द का प्रयोग कूर्म और गरुडपुराण में आ चुका है। वानप्रस्थ में भी उदासीन शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—

पुत्रे निधाय वा सर्वं गत्वारण्यन्तु तत्त्ववित्,
एकाकी विचरेन्नित्य मुदासीनः समाहितः।

(कूर्मपुराण० उत्तरार्ध, अ० २७ श्लोक २)

अर्थात् समस्त गृहकृत्य का उत्तरदायित्व अपने पुत्र पर छोड़कर, जो तत्त्ववेत्ता पुरुष वनवासी होता है, वह उदासीन वानप्रस्थ है।

यह श्लोक सम्पादक की भूल से २६ वें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों से पूर्व निक्षिप्त हो गया है, शुद्ध पुस्तकों में स्वस्थान में ही उपलब्ध होता है। कारण, उक्तश्लोकवर्णितधर्म वानप्रस्थ का ही हो सकता है। अतः इसे वहां न रख कर, इस को अपने स्थान में ही प्रकरणानुसार रखना चाहिये।

महानिर्वाण तन्त्र में भी चतुर्थाश्रमी का नाम उदासीन लिखा है। वहां गृहस्थ के लिये यह आज्ञा है कि वह उदासीनसाधुओं की नियमपूर्वक सेवा करे। अन्यथा निन्दित और पापी समझा जायगा। यथा—

"ततः स्वधर्मनिरतान् एकग्रामनिवासिनः।
अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत्।
यद्येवं नाचरेत् देवि! गृहस्थो विभवे सति,
पशुरेव स विज्ञेयः स पापी लोक गर्हितः।"

(महानिर्वाण तन्त्र० ८ म उल्लास० श्लोक ४९, ५०)

गृहस्थ को चाहिये कि वह स्वधर्मपरायण, एकस्थानस्थ, तथा अभ्यागत अर्थात् इधर उधर भ्रमण कर रहे उदासीनमहात्माओं की सेवा करे।

भगवान् शङ्कर पार्वती से कहते हैं, "देवि! यदि कोई गृहस्थ धनी हो कर भी उनकी सेवा नहीं करता अर्थात प्रमादी है। वह लोक में निन्दित और पापी समझा जाता है। विवेकभ्रष्ट हो जाने के कारण पशु कहलाता है। तात्पर्य्य यह है कि गृहस्थ को हरेक प्रकार के उदासीनसन्तों की सेवा करनी चाहिये। चाहे वे एक स्थान पर पर्णकुटिया बना कर भजन में तत्पर हों अथवा इतस्ततः भ्रमणद्वारा अपना तथा संसार का कल्याण कर रहे हों।

उक्त प्रमाणों से उदास धर्म की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। हमें पुराणों के पारायण से पता चलता है कि पुरातनकाल में उदासधर्म का विश्वव्यापीप्रचार था। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, चतुर्थाश्रमी, ये सब के सब उदासधर्म की दीक्षा से दीक्षित थे। अतएव आश्रम धर्मवर्णन में सर्वत्र उदासीन शब्द का उल्लेख पाया जाता है। उस समय की घटनायें बता रही हैं कि, तदानीन्तन उदासीन महानुभाव सदाचारी, धर्म्मनिष्ठ, और ब्रह्मनिष्ठ थे। जनता इन के आचार

पर मुग्ध थी। सर्वसाधारण इन पर हार्दिक श्रद्धा रखता था। लोगों के धार्मिक भावों पर उदासीन महात्माओं का शासन था। सूर्य का पश्चिम से उदय होना तो संभव था; परन्तु इन महात्माओं का सदाचार के नियम का उल्लङ्घन संभव न था। यह थी उन दिनों की जनता की उदासीन महात्माओं में शुद्ध धारणा। लोगों का विश्वास था कि उदासधर्म की दीक्षा लेते ही मनुष्य के जीवन में विचित्र परिवर्तन आजाता है। पतित से पतित मनुष्य भी धर्मात्मा बन जाता है। पापात्मा भी दीक्षित होकर पुण्यात्मा बन जाता है। उदासधर्म से दीक्षित मनुष्य के हृदय में पापमयप्रवृत्तियों के जनक विचार भी उत्पन्न नहीं होते।

# उदासधर्मका प्रभाव

मर्त्यलोक में तो इसका प्रभुत्व था ही, देवलोक को भी इसकी धवलकीर्ति ने जा प्रकाशित किया। देव लोकवासियों की उदासीन महात्माओं में यह धारणा थी, 'उदासीन महात्मा कभी भूलकर भी प्रमाद नहीं करते। मानवीय सृष्टि में आदर्शतम जीवन इनका है। इनकी जीवनयात्रा से पता चलता है कि विधाता की नरकसृष्टि इनके लिये है ही नहीं, अर्थात् नरकाधिकारियों की गणना में ये गिने नहीं जासकते। निस्सन्देह यह सत्य है, जिस धर्म की स्थापना महामुनि सनत्कुमार के पवित्र हार्दिक भावों से हुई हो। जिसके प्रचारार्थ महात्मा शिम्यु प्रभृतियों ने असह्यकष्ट उठाये हों। जिसके कष्ट को इन्द्र वरुणादि देवता लोग अपना कष्ट समझते थे। जिसकी रक्षा के लिये देवराज इन्द्र आता रहा। जिसकी पवित्र दीक्षा से रेणुकादुलारे जमदग्नि के प्यारे पुत्र महामुनि परशुराम जैसे वीर दीक्षित हुये हों। जिस उदासधर्म के उच्चतमविचारों ने देवराज इन्द्र जैसों की आत्मा को शान्ति प्रदान की हो। जिस की दीक्षा के लिये महर्षि विश्वामित्र के प्रिय शिष्य तृत्सु लोग उत्कण्ठित हो उठे हों। संसार के कोने कोने में घूमघूम कर जिस धर्म को अश्विनीकुमारों ने विश्वव्यापी बना दिया हो। विमद जैसे ऋषियों ने जिस की छत्रछाया के नीचे पहुँच अपने आपको कृतकृत्य माना। महर्षि विश्वामित्र ने जिस धर्म को सर्वधर्मश्रेष्ठ समझ कर अपने बेटों को जिस की दीक्षा के लिये तैयार किया। जिस धर्म के आचार्य की प्रशंसा करते करते महर्षि वसिष्ठ नहीं थकते। जिस धर्म के प्रवर्तक के पवित्र चरित्र का परिचय प्राप्त करने के लिये अग्निदेव जैसे देवतों के भी देवता को महर्षि वसिष्ठ जैसों से साञ्जलि पूछना पड़ा। जिस धर्म का तत्त्व जनता को समझाने के लिये क्षीर सागरवासी शेषशय्याशायी कमलापति विष्णु ने देवलोक से देवतागणों को मर्त्यलोक में भेजा। भला सोचें तो सही ऐसे पुरातन पवित्र धर्म से दीक्षित मनुष्य के पास नरकपति यम का दूत पहुँचने का साहस कर सकता है? तीन काल नहीं। उदासधर्म से दीक्षित सेवक को स्वर्ग, ऋषि को ब्रह्मलोक और मुनि को मोक्ष मिलता है। सत्य तो यह है, उदासधर्म की दीक्षा को नरकद्वार के बन्द करने का यन्त्रविशेष कहना चाहिये। वस्तुतस्तु उदासधर्मरूपी कुठार के आगे आवागमनरूपी लता का कट जाना साधारण बात है। इसी विषय पर एकवार उदासीनमुनि नारद ने यम से पूछा—

"के न गच्छन्ति नरकं पापिष्ठं लोक गर्हणम्,
सर्वं माख्याहि तत्त्वेन परं कौतूहल हि मे"।

यम उवाच— ज्ञानवंतो द्विजा येच येच विद्यापरंगताः।
उदासीना न गच्छन्ति स्वाम्यर्थे च हता नरः"

(वाराह० नाचिकेताख्यान० अ० २०७, २४। २६।)

एक बार नारद ने धर्म से कहा भगवन्, वे कौन हैं जिन्हें नरक में नहीं आना पड़ता। संसार के लोग इसे पापबहुल और निन्दित समझते हैं। कृपया समस्त-वृत्त सविस्तर और यथार्थ सुनायें। इसे सुनने में मेरे मन में बड़ा कौतूहल है। उत्तर में धर्मराज ने कहा महामुने ज्ञानी ब्राह्मण, पूर्णविद्वान् मनुष्य, स्वामी के लिये प्राणतक दे देनेवाले भृत्य और सेवक, ऋषि, मुनि त्रिशाखोपेत उदासीन महात्मा कभी नरक के द्वार पर नहीं आते। इस नाचिकेताख्यान में महामुनि नारद और यम के वार्तालाप से स्फुट ही है कि उदासीनों के जीवन का प्रभाव तीनों लोकों पर विलक्षण था। अतएव धर्मराज को स्वीकार करना पड़ा कि यहां उदासीन महानुभाव नहीं आते।

अब यहां महामुनि नारद और धर्मराज के परस्पर वार्तालाप पर कुछ विचार चलता है। पुराणों के पारायण से अवगत होता है कि महामुनि नारदजी योगीश्वर थे। चाहे वे किसी भी लोक में भ्रमण कर रहे हों; परन्तु उन्हें तीनों लोकों में घट रही घटनाओं का पूर्णतया पता होता था। यह भी पता चलता है कि उनकी तीनों लोकों में अप्रतिहत गति थी। समस्त विश्व उन्हें हस्तामलकवत था। भूत और भविष्यत् पर उनका पूर्ण अधिकार था। इतना होते हुए, नरक के अधिकारी कौन हैं? और कौन नहीं? इस प्रकार सकलशास्त्रों के वेत्ता नारद का धर्मराज से पूछना कुछ सन्देह पैदा कर देता है। क्या ब्रह्मा के पुत्र योगीश्वर नारद इतना भी नहीं जानते थे कि नरक में कौन जाता है और कौन नहीं? जब देवलोक में घूमते घूमते मर्त्यलोक की घटनाओं को दिव्यचक्षुद्वारा देखकर वहाँ पहुँच जाते थे तो क्या वे नरक की स्थिति से अपरिचित थे?

कहना पड़ेगा नहीं, वे सिद्ध योगीश्वर थे। उन्हें सकल चराचर का पूर्ण ज्ञान था। धर्मराज से प्रश्न पूछने के तीन कारण थे जिन्हें यहां दिया जाता है। सब से प्रथम यहां यह समझ लेना चाहिये कि जिस उदासधर्म रूपी कल्पवृक्ष का बीज-वपन महामुनि सनत्कुमारने अपने कर कमलों से किया, वह धर्मकल्पद्रुम महामुनि नारद की देखरेख में ही पल्लवित और पुष्पित हुआ। महामुनि नारद चाहे किसी लोक में भी घूम रहे हों परन्तु इन्हें उदासधर्मतरु की ओर सदाध्यान रखना पड़ता था। जब कभी इस धर्म के प्रचार में त्रुटि आने लगती तत्क्षण महामुनिजी आ उपस्थित होते और त्रुटि को दूर कर देते। ऋग्वेद में लिखा है कि एकवार महामुनि नारदजी रथपर बैठ कर उदासधर्म के प्रचारार्थ व्रज-भूमि में गये। ऐसे २ अनेकों प्रमाण मिलते हैं। नारद जी स्वयं उदासीनधर्मावलम्बी

थे। अतः उन्हें उदासीन महामुनि कहना उचित है। नारद जी में यह विशेषता थी कि चाहे वे किसी लोक में जायें, वहां ही उदासधर्म की महिमा पर महत्त्व पूर्ण व्याख्यान अवश्य देते थे। नारद जी को इस वात का भी अधिक ध्यान रहता था कि उनकी सम्प्रदाय का एक भी व्यक्ति नरक में न जाना पाए। क्यों कि नारद जी हरेक उदासीन को चाहे वह सेवकादि तीनों भेदों में से कोई हो अपना ही स्वरूप समझते थे। बेशक नारदजी अपने तपोबलद्वारा समस्त विश्व तथा सारे उदासीनों के मुकुटरूप थे; परन्तु उदासधर्म की मर्य्यादानुसार वे साम्यवाद के उपासक थे। वही प्रथा वर्तमानउदासीन महानुभावों में भी पूर्णतया प्रचलित है। यदि एक भी उदासीन को नारद जी दुःख में पड़ा देखते तो उनके हृदय पर बड़ा आघात पहुँचता, क्यों कि विश्वप्रेमी होते हुए भी जातिप्रेम में दत्तचित्त थे। ऐसी घटना पर वे समझते थे कि उदासधर्म के प्रचार की शिथिलता ही इसका हेतु हो सकती है। जिस सम्प्रदाय के मनुष्यों के आचरण विश्व में आदर्शरूप हों। उस सम्प्रदाय की एक भी व्यक्ति दुःख में हो तो कितने आश्चर्य की बात होगी।

धर्मराज से प्रश्न पूछने का प्रथम कारण तो यह था कि उसी के शब्दों से पता लग जायगा कि उसके विचार उदासीन महानुभावों के विषय में कैसे हैं। यदि अच्छे हुए तो कहेगा कि ये नरक के अनधिकारी हैं, अन्यथा अधिकारी बतायेगा तो आज ही उदासधर्म के रहस्य समझा कर इसे ही उदास धर्म की दीक्षा दे देंगे। बस फिर इस ओर से तो निश्चिन्त रहेंगे। दूसरा कारण यह था कि यदि धर्मराज ने कहा कि उदासीन नरक के अधिकारी हैं भी और नहीं। तो अनायास पता लगाया जा सकता है कि उदासधर्म में फिर शिथिलता आ घुसी है। जो उसके नियमों का पालन पूर्णतया करते हैं वे क्रमतः स्वर्ग, ब्रह्मलोक, और मोक्ष पाते हैं, और जो इसके नियमों का उल्लंघन करते हैं, उन्हें धर्मराज के आगे नतमस्तक खड़ा होना पड़ता है।

और तीसरा कारण यह था कि वार्तालाप के अनन्तर धर्मराज से साफ शब्दों में कह दिया जाय-जिस व्यक्ति ने उदासधर्म की दीक्षा ले ली हो यदि वह पतित होकर भूला भटका यहां पहुँच भी जाय तो उसे हमारा सजातीय समझ कर अधिक कष्ट न देना। उसे शिक्षित बना कर उसके कर्मानुसार किसी लोक में पहुँचा देना।

ये तीनों कारण प्रतीत होते हैं। अन्यथा धर्मराज से नारद जी को पूछने की आवश्यकता ही क्या थी। हां, यह तो संभव था कि नारद जी से धर्मराज पूछता कि भगवन्! कृपा कर बतायें—नरक में कैसे कैसे, अर्थात् किन किन कर्मों के करनेवाले प्रविष्ट किये जायें। यहां पर व्यत्यय देख कर पूर्वोक्त कारण ही समूल प्रतीत होता है।

अब पाठक स्वयं समझ लें, किस प्रकार उदासधर्म की महत्ता मनुष्य और देवता लोगों के मन में स्थान किये हुए थी। वह भी एक समय था जब उदासधर्मावलम्बियों से लोग शिष्टाचार की दीक्षा लेने आया करते थे। बहुत से महापुरुष इन में ऐसे भी उत्पन्न हो गये थे जो जीवन-मुक्त होने के अलावा ईश्वरीय गुण भी रखते थे। अतएव जनता उन्हें ईश्वर के तुल्य पूजती थी।

# जीवनमुक्त और उदासीनमुनि

यथार्थ तो यह है कि जीवनमुक्त और ईश्वर की उपमा देने के लिये उन दिनों में उदासीन महात्मा ही उपमानभूत थे। अतएव वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णमुरारी गीता में अपनी और जीवनमुक्त की तुलना उदासीन महात्मा से करते हैं। जिस से तुलना की जाय उसे दृष्टान्त कहते हैं। उपमान और दृष्टान्त इन दोनों शब्दों का अर्थ एक है। दृष्टान्त वह हो सकता है जो नितान्त प्रसिद्ध हो। सर्व साधारण उस से परिचित हों। यथा चन्द्रमा की भाँति सुन्दर मुख। यहां मुख को चन्द्रमा की उपमा दी गई है। अतः यहां चन्द्रमा दृष्टान्त अथवा उपमान, और मुख उपमेय ठहरा। यहां दृष्टान्त चन्द्रमा सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है। सर्वसाधारण जिस से परिचित हों वही दृष्टान्त हो सकता है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम भी इस विषय में ऐसा ही विचार रखते हैं। यथा—

"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधन मुपमानम्" (न्यायदर्शन. अ० १, आ० १, सू० ६)

प्रसिद्ध वस्तु की तुलना से किसी नवीन वस्तु की सिद्धि उपमान है। महर्षि गौतम जी दृष्टान्त के विषय में लिखते हैं कि जिस में सर्वसाधारण विशेषतया शिक्षितवर्ग का मतभेद न हो वह पूर्ण दृष्टान्त होता है यथा—

"लौकिक परीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः"

(न्यायदर्शन० अ० १ आ० १ सू० २५)

साधारण जनता तथा विद्वानों की जिस में सम्मति हो वह दृष्टान्त होता है सार यह निकला कि जिस किसी की उपमा या तुलना, जिस के द्वारा की जाती है उस वस्तु का प्रसिद्ध होना नितान्त आवश्यक है। प्रसिद्धि का नामान्तर ही रूढि है। अतः प्रसिद्धार्थ ही रूढार्थ मानना होगा। शास्त्रकारों का यह मत है कि उपमास्थल में जिस शब्द के आगे इवादि शब्द लगाये जायें वह यौगिक न हो। जिस शब्द में रूढि और योग ये दो शक्तियें हों, उसकी रूढि शक्ति से योग का तिरस्कार हो जाता है। "योगाद्रूढिर्बलीयसी।" इस परिभाषा का भी यही अर्थ है। यह बात युक्तियुक्त भी है। प्रसिद्धार्थ की उपस्थिति शीघ्र और योगार्थ की विलम्ब से होती है। कारण, योगार्थ में प्रकृति प्रत्ययार्थ की आलोचना आवश्यक है।

## उदासीनवदासीनः

योगार्थ की उपस्थिति से प्रथम ही रूढार्थ शब्दबोध में भास जाता है। बाद में योगार्थ महत्त्वशून्य हो जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अपनी तथा जीवन मुक्त की तुलना करते समय उदासीनशब्द लिखा है। वह यौगिक नहीं रूढि है। संभव है टीकाकारों ने गीतारसास्वादनोन्मत्त होकर साहित्य और दर्शनों के नियमों की ओर ध्यान ही न दिया हो। औरों का तो कहना ही क्या है, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वत्प्रकाण्ड भक्तशिरोमणि मधुसूदनमुनि ने भी इस ओर आंख उठा कर नहीं

देखा। इस ओर उनके ध्यानका न आना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे भक्त थे। भक्तों का भावुक होना नैसर्गिक है। भगवत्प्रेम-ऊर्मिमाला से भक्तों का हृदय सदा आन्दोलित रहा करता है। अतएव व्याख्या करतें समय किसी को भी "वत्" पद की व्यर्थता का विचार तक नहीं आया। पद पद की व्याख्या करने वाले का वत् पद की व्याख्या का न करना, और नही किसी विशेष प्रयोजन का दिखाना हमारे मत की अधिक पुष्टि करता है।

अब हम गीता के श्लोकों को पाठकों के आगे रखते हैं।

**उदासीनवदासीनो गुणै र्यो न विचाल्यते।**
**गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥** (गीता अ० १४, श्लोक २३)

**न च मां तानि कर्माणिनिबध्नन्ति धनञ्जय।**
**उदासीनवदासीन मसक्तं तेषु कर्मसु॥** (गीता अ० ९, श्लो० ९)

अर्थात् जो महापुरुष एक उदासीन साधु की भाँति अपना जीवन बिताता है। गुण जिसे विचलित नहीं कर सकते। समस्त व्यवहार का मूल कारण गुण हैं। इस प्रकार सोचकर किसी प्रकार की भी सकाम चेष्टा नहीं करता। हर समय स्थिर महात्मा गुणातीत अर्थात् जीवनमुक्त कहलाता है। भगवान् को यदि उदासीनपद का अर्थ उदासीन साधु अविवक्षित होता, अर्थात् उपराम एवं असङ्ग अर्थ अभिप्रेत होता तो वे वति प्रत्यय न करते। "उदासीनोभवेन्नित्यं" ऐसा हो श्लोक का प्रथम पाद पढ़ते। क्योंकि उदासीनशब्द का असङ्ग अर्थ मानने में वति प्रत्यय का कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रत्युत् फल के स्थान में अर्थ असङ्गत अवश्य होता है। दूसरे यह कि जीवनमुक्त को असङ्ग की उपमा देना नियम विरुद्ध है। जिस धर्म को लेकर दो वस्तुओं को परस्पर तुलना की जाती है, उस धर्म के परिचायकशब्द के आगे वत्यादि शब्दों की योजना नहीं की जाती। जैसे चन्द्र और मुख, इन दोनों के सौंदर्यधर्म को लेकर तुलना की गई है।

यहां सौंदर्यवाचक सुन्दरशब्द के आगे वति प्रत्यय लगाकर 'सुन्दरवन्मुखम्' प्रयोग सर्वथाअसंगत है। ऐसा प्रयोग कोई विद्वान नहीं करता, और नही करना चाहिए। शास्त्रीयनियमानुसार भी ऐसा प्रयोग असंगत है। अतएव 'चन्द्रवन्मुख' ऐसा ही प्रयोग शास्त्रकारों ने किया है। स्मरण रहे, उक्त वाक्य में चन्द्रपद को सभी ने रूढ माना है। चन्द्रतीति चन्द्रः, इस व्युत्पत्ति के आधार पर चन्द्रशब्द का यौगिक आनन्दप्रद अर्थ कोई नहीं मानता। सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि उपमानवाचकशब्द का प्रवृत्ति-निमित्त उपमेयगत न होना चाहिये। एक या अधिक धर्म ऐसे हों जो उपमान और उपमेय दोनों में मिलते हों। ऐसे स्थल में एक को दूसरे की उपमा दी जा सकती है।

चन्द्रवन्मुखम् इसमें चन्द्र उपमान और मुख उपमेय है। उपमानवाचक चन्द्रशब्द का प्रवृत्ति निमित्त चन्द्रत्व उपमेय मुख में नहीं रहता। आनन्दजनकत्व, सौन्दर्यादिधर्म दोनों में रहते हैं। अतएव चन्द्र और मुख का उपमान उपमेय भाव

होता है। सुन्दर और मुख का उपमान-उपमेय भाव नहीं बन सकता। "सुन्दर-वन्मुखम्" यदि ऐसा प्रयोग करें तो सुन्दर ठहरा उपमान और मुख बना उपमेय। तब उपमानवाचकशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त उपमेय में नहीं रहना चाहिये, इस नियम की रक्षा न हो सकेगी। कारण, उपमानवाचक सुन्दर शब्द का प्रवृत्ति निमित्त सुन्दरतागुण उपमेय में भी रहता है। एवमेव भगवद्भक्त उदासीनशब्द का अर्थ यदि 'असङ्ग' और 'अनपेक्ष' मान लिया जाय तो "उदासीनवदासीनः" यह भगवद्भक्ति असंगत होगी। कारण, यहां उपमान उदासीन और उपमेय जीवनमुक्त है। उपमानवाचक उदासीनशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त असङ्गत्वधर्म है, वह उपमेय जीवनमुक्त में भी रहता है। जहाँ पर उपमान शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक उपमेय में रहता हो वहां, उपमान-उपमेयभाव नहीं बन सकता। अतः वहां उदासीन शब्द का अर्थ उदासधर्मावलम्बीमहात्मा ही मानना उचित और प्रमाणिक है। उक्त श्लोक में भगवान् ने उदासीन साधुओं से जीवनमुक्त की तुलना की है। इस से अनायास ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय उदासधर्म उन्नति के शिखर पर था। उदासीनमहापुरुष तब जीवनमुक्त और ईश्वरतुल्य समझे जाते थे। अत एव भगवान् ने अपनी तुलना उदासीनसाधुओं से की है।

वह श्लोक पहले लिखा जा चुका है। उसका अर्थ यह है कि, "अर्जुन! कर्म मुझे बन्धन में नहीं डाल सकते, कारण, मैं उनमें आसक्त नहीं हूँ! मेरा रहन-सहन उदासीन-महात्माओं की तरह है। इस श्लोक में भी उदासीनशब्द का अर्थ उदासीनसम्प्रदायानुयायी ही हो सकता है, असङ्ग वा अनपेक्ष नहीं। ऐसा करने से पूर्ववत् उपमान-उपमेयभाव अनुपपन्न होगा। वति प्रत्यय की निरर्थकता भी अनिवार्य है। भगवद्भक्ति में शब्द तो दूर रहा एक भी अक्षर निरर्थक नहीं हो सकता। पादपूर्त्ति तो वति प्रत्यय के विना भी हो सकती है। यथा,—"स्थितवन्तमुदासीनम्"। भगवान् ने ऐसा न लिखकर जो वति प्रत्यय का प्रयोग किय है इस से यही भाव झलकता है कि हमारा भाव भगवान् को भी अभिप्रेत था। गीता में और भी कई स्थानों में उदासीनशब्द मिलता है। यथा—

**अनपेक्षः शुचि र्दक्ष उदासीनो गतव्यथः,।**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।** (गीता० अ०१२, श्लो० १६)

जिसे किसी वस्तु को इच्छा नहीं है, जिसमें अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार का पवित्रता पाई जाती है। जिसमें सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का परित्याग है, अर्थात् चतुर्थाश्रमी हो चुका है। जिसे दुःख के कारण होने पर भी दुःख बाधा नहीं पहुँचा सकता, मेरे स्वरूप में निपुण, और मेरा भक्त वह उदासधर्मावलम्बी महात्मा मुझे अधिक प्यारा है। इस श्लोक में उदासीन शब्द का अर्थ असङ्ग या अनपेक्ष करें, तो वह अर्थ अनपेक्षपद द्वारा भी कहा गया है। फिर उसी अर्थ को उदासीन शब्द से कहना पुनरुक्ति होगा। मधुसूदन मुनि ने उदासीनशब्द का यह अर्थ किया है, "कस्यचित् मित्रादेः पक्षं न भजते" जिसका सार निष्पक्ष निकलता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। यदि मधुसूदन का ही अर्थ मान लिया

जाय तो, इस श्लोक में उदासीन शब्द की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्यों कि पक्षपात की संभावना स्पृहयालु में होती है। निस्स्पृह का निष्पक्ष होना स्वाभाविक है। आरम्भ में अनपेक्ष पद से जब निस्स्पृह बतला दिया गया (निष्पक्ष अर्थ स्वयं आ गया) तो फिर उसी अर्थ को उदासीन शब्द से कहना निरर्थक है। इस श्लोक में भगवान् ने उदासीन चतुर्थाश्रमियों को अपना प्यारा बतलाया है इससे उदासधर्म का लोकोत्तर गौरव झलकता है।

# औदासीन्यधर्म की पुरातनता।

साथही भक्तिसमुचितज्ञान की सूचना मिलती है। जो उदासीन महानुभावों का मुख्य सिद्धान्त है। भगवान् कृष्ण महाराजजी उदासधर्मावलम्बी थे। इस बात का पूरा पता श्री मद्भागवत के दशमस्कन्धावलोकन से चलता है। यथा—

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयो ज्योंति रक्रियाः॥

(भागवत स्कं० १०, अ० ६० श्लो० २०)

हम हर समय निस्स्पृह अर्थात् चतुर्थाश्रमी हैं। हमे स्त्री, पुत्र, धनादि की इच्छा नहीं है। आत्मलाभ से परिपूर्ण तथा दीपादिकों की भांति साक्षी एवं निष्क्रिय हैं। शरीर तथा गृह की स्पृहा का त्याग, चतुर्थाश्रम में होसकता है। भगवान् ने चतुर्थाश्रम ग्रहण किया नहीं। अतः भगवान् का उक्त वचन चतुर्थाश्रम के आदि प्रवर्तक पुरातन हंस तथा नारायण रूप का स्मरण दिला रहा है। रहस्य यह है कि भगवान् रुक्मणी का अज्ञान दूर करना चाहते हैं अतः कहते हैं, रुक्मणि! तू क्या समझती है। मुझे साधारण मनुष्य मत समझ। मैं वही हूँ-जिसने सनत्कुमार को ब्रह्मदेव की प्रेरणा से हंसरूप में अवतीर्ण हो ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया तथा नारायणरूप से बदरिकाश्रम में घोर तप किया। इन्द्र द्वारा अनेकों षड्यंत्र रचे गये परन्तु मेरे तप में विघ्न न हो सका। अनेकों अप्सराओं ने लाखों यत्न किये परन्तु मेरा मन समाधि से च्युत न हुआ। त्रिलोक सुन्दरी उर्वशी मेरी जंघा से उत्पन्न हुई थी। औदासीन्य चतुर्थाश्रम का प्रचारक मैं ही हूँ। मुझे आसक्त कर लेना संसार की शक्ति से बाहर है। तू वृथा क्यों अभिमान कर रही है। मुझे तो किसी वस्तु की तनिक भी आवश्यकता नहीं। उक्त वार्त्तालाप से उदासधर्म की पुरातनता सिद्ध होती है और यह भी स्फुट है कि इस के प्रवर्तक हंसादिभगवदवतार हैं। चतुर्थाश्रम का पुरातन नाम औदासीन्य है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ। अथवा "उदासीना वयं नूनं" अर्थात् हम उदासीन हैं। रुक्मणी से भगवान् के यह कहने का तात्पर्य यह है कि हम उदासीन हैं अतः संसार के किसी पदार्थ में भी हमारी आसक्ति नहीं है। तब विश्व में यह बात प्रसिद्ध थी कि जो मनुष्य उदासधर्म की दीक्षा ले लेता है, वह सांसारिक आसक्ति से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। इस में भगवान् का पूर्वोक्त वचन ही प्रमाण है। यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि यदि उदासीन शब्द का अर्थ यहाँ निस्स्पृह करें तो स्त्री आदि कामनाओं का त्याग उसी से आ सकता है। तब श्लोक

के द्वितीयचरण की आवश्यकता नहीं रहती। अतः यहाँ उदासीन शब्द का अर्थ उदासधर्मावलम्बी करना पड़ेगा। इस पक्ष में 'गेहयोः' पद के आगे 'वर्तमानाः' ऐसा अध्याहार कर के-देह तथा गेह में रहते हुए हम दीपादि की तरह साक्षी और असङ्ग हैं-ऐसा अर्थ होगा।

## उदासीनों के लक्षण.

जो लोग सर्वत्र उदासीन शब्द को यौगिक मान कर मनमाने अर्थ करने पर उतारू हो रहे हैं। उन्हें इस बात पर ज़रा ध्यान देना चाहिये कि क्या कभी यौगिक का भी कोई लक्षण और स्वरूप लिखा करता है? हाँ पारिभाषिक शब्दों के लक्षण अवश्य करने पड़ते हैं, अन्यथा गति नहीं। पुराणों में उदासीन के लक्षण स्वरूप, कर्तव्य, दीक्षा, अधिकारी, स्वभावादि अनेक लिखे हैं अतः मानना ही होगा कि उदासीन शब्द रूढ है। यथा—

**उदासीनं प्रवक्ष्यामि, तवाग्रे प्रिय सांप्रतम् ।**
**उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते ॥**
**ददाति नैव गृह्णाति, नच कुप्यति तुष्यति ।**
**नो वा प्रयाति सन्त्यज्य उदासीनो द्विजोत्तमः ॥**

(पद्मपुराण० पाताल खण्ड० अ० ८८, श्लो० २२-२३)

अब उदासीनों के स्वरूप तथा लक्षण लिखते हैं। जो निस्स्पृह हो कर रहता है, जिसका किसी के साथ भी कुछ लेनदेन नहीं। जिसे न क्रोध आता है और न ही खुशी। जो न तो संसारासक्त है और नही संसार से पृथक् है, अर्थात् पद्मपत्रमिवाम्भसि होकर रहता है। अथवा न ददाति न गृह्णाति का अर्थ यह है कि न तो किसी भावना को ले कर दान करता है और नही प्रतिग्रह ग्रहण करता है। उसे चतुर्थाश्रमी उदासीनमुनि कह सकते हैं।

उदासधर्म की मन्त्रसहित दीक्षा का अधिकारी तीनों वर्णों का मनुष्य हो सकता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि वह ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अन्तःकरण की शुद्धि के लिये वेदविहित कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान करता है। ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर लोकमर्यादा संरक्षणार्थ वैदिककर्मों का पालन करता है। गीता के निष्काम कर्म का यही तत्त्व है। दानग्रहण के निषेध का स्वरूपतः त्याग में तात्पर्य नहीं; किन्तु अपने को कर्ता न मानकर, निष्कामता से दान के देनेलेने में तात्पर्य है। "उदासीनेन भावेन" इन दोनों शब्दों से यद्यपि निस्स्पृहता का भाव स्फुट है, परन्तु फिर उदासीन पद का द्विजोत्तम पद के साथ विशेषणरूप से उल्लेख करना सम्प्रदायविशेष का प्रदर्शक ही हो सकता है। यदि दूसरे उदासीन शब्द का भी निस्स्पृह अर्थ मान लो तो दोनों में से एक का निष्फल होना सहेतुक है। अतः एक जगह निस्स्पृह और अन्यत्र उदासधर्मावलम्बी ही मानना समीचीनतर है। इसी ढंग के और भी बहुत से स्थल विद्यमान हैं, वहाँ पर भी ऐसी ही व्यवस्था कर लेना उपयुक्त होगा।

उदासीनसम्प्रदाय का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में भी मिलता है, यथा—

"उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः"। (ब्रह्मसूत्र० अ० २, पा० २, सू० २७)

अपिच शून्यवादिनोनये दूषणान्तरं प्रदीयते। एवं शून्यवादिनस्तव, अभावात् कार्यमुत्पद्यते, इत्यङ्गीकारः, तथा सति-उदासीनानाम्=पुत्रजन्मोपकरण दारपरिग्रहादिकारणकलापशून्यानाम्, चतुर्थाश्रमिणाम् साधुविशेषाणाम् सिद्धिः= पुत्राद्युत्पादप्रसङ्गः, त्वदभिमताभावस्य तत्रापि सत्वादिति सूत्रार्थः" शून्यवादी के मत में दूषणान्तर दिया जाता है। वह अभाव से कार्य की उत्पत्ति मानता है। यदि ऐसा मानभी लिया जाय तो पुत्रोत्पादकसामग्री से रहित उदासीनसाधुओं के भी यहाँ पुत्रादि होने चाहियें। शून्यवादि के मतानुसार दारादिकों का अभावरूप कारण वहाँपर भी है। देखिये यहाँ साफ शब्दों में उदासीनसाधुओं का होना मिलता है।

निर्वाणोपनिषद् में भी उदासीनसंप्रदाय का निरूपण मिलता है यथा, "उदासीनं कौपीनं, विचारदण्डः"। ऐसा पाठ वहाँ मिलता है। यहाँ उदासीनपद भावप्रधान, और कौपीनपद चतुर्थाश्रम का उपलक्षण है। अर्थ यह हुआ कि औदासीन्य ही चतुर्थाश्रम है।

## उदासीनों का विचार ही दण्ड है.

शङ्का—चतुर्थाश्रम का चिन्ह तो दण्ड है। उदासीन दण्ड रखते नहीं। तब औदासीन्य चतुर्थाश्रम कैसे हो सकता है?

उत्तर—उदासीनसाधुओं का विचार ही दण्ड होता है। अन्तमें शास्त्र भी दण्डत्याग का विधान करता है। दण्डधारण करना कोई अधिक महत्व का कार्य नहीं है, निम्नश्रेणी का कर्तव्य अवश्य है।

अतएव सनत्कुमार, नारद, लक्ष्मण, दुर्वासा, प्रभृति चतुर्थाश्रमियोंने दण्डधारण नहीं किया। उदासीन साधु प्राचीन श्रौतप्रव्रज्या के पूर्णतया अनुयायी हैं। अतएव वे दण्डधारणादि पश्चाद्भावी चिन्हों को अधिक आदर नहीं देते।

## उदासीनधर्म के गुरुकुल.

कितने हर्ष की बात है, जिस किसी पुस्तक को उठाकर देखते हैं, सर्वत्र उदासधर्म की महिमा का ही स्वरूप वर्णित है। बड़े बड़े विद्वान् लोग उदासीन महात्माओं का शिष्य होना गौरवपूर्ण समझते थे। हम आगे जाकर बतायेंगे कि किस प्रकार इन्द्रादि देवतागणों ने उदासधर्म का प्रचार किया। एवम् पुराण, इतिहास, स्मृति, सूत्रग्रन्थ, दर्शन, उपनिषद् तथा वेदों में किस प्रकार उदासधर्म के गुण गाए गये हैं।

पुराणों में आता है कि गुरुकुल और ऋषिकुलों में ब्रह्मचारीगण साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन कर, धर्म के सूक्ष्मतत्त्व समझने के लिये चतुर्थाश्रमी उदासीनमुनियों की सेवा में पहुँचते थे। इच्छानुसार उदासधर्म की सेवक या ऋषिदीक्षा लेकर संसार के उपकार में लग जाते थे। इसी भाव की एक कथा पाठकों के आगे प्रमाणरूप में लिखी जाती है। महामुनि वसिष्ठ के शाप से राक्षसरूप में घूमता घूमता राजा सुदास नर्मदा नदी के तटपर पहुँचा। नदीतीरे एक विशाल वटवृक्ष पर एक ब्रह्मराक्षस रहता था। वटवृक्षस्थ राक्षस ने राजा से राक्षस होने का, और वहाँ आने

का कारण पूछा। तब राजा ने अपना सविस्तर वृत्त सुना कर, उस से पूछा-आप सुनाएं; किस प्रकार इस गर्हित गति को प्राप्त हो गये हैं। उत्तर में राक्षस ने कहा मैं मगधदेश का रहनेवाला हूँ, जाति का ब्राह्मण, सोमदत्त मेरा नाम है। मैंने चारों वेद बड़े परिश्रम से पढ़े, अतएव मैं समस्त विद्याओं का वेत्ता बन गया। उदासीन मुनि गौतम से मैंने समस्त धर्मों का स्वरूप समझा। उनकी आज्ञानुसार मैं सर्वधर्मों का अनुष्ठान भी करने लगा। एक दिन मैं शङ्करपूजन कर रहा था, अचानक वहाँ गौतम मुनि जी आ गये। उनके कथित धर्मानुसार मैंने पूजन से उठना पाप समझ कर अभ्युत्थान न किया। इस से गुरुमहाराज उदासीन मुनि गौतम जी तो बड़े प्रसन्न हुए; क्यों कि मैंने उनके कथनानुसार पूजाधर्म का पालन किया, पर सर्वजगद्गुरु शङ्कर ने इसे गुरुअपमान समझ कर मुझे ब्रह्मराक्षस होने का शाप दिया। इस कथा से स्पष्ट है कि महामुनि गौतम जी उदासीन थे। उस समय के बड़ेबड़े विद्वान् लोग उदासीन मुनियों से धर्म के तत्त्व पूछने जाया करते थे। इतना ही नहीं उनसे उदासधर्म की दीक्षा लेकर अपने आपको कृतकृत्य मानते थे। अतएव वटस्थराक्षस सुदास से कहता है,—

प्रमत्तोहं महाभाग विद्यया वयसा धनैः,
उदासीनं गुरुं कृत्वा (तदवज्ञया) प्राप्तवानीदृशीं गतिम्"

(बृहन्नारदीय पुराण० अ० ९, श्लो० ८३)

अर्थात् मैंने उदासीनमुनि गौतम को अपना गुरु बनाया। प्रमादवश उनकी अवज्ञा करके मैं इस दुर्गति को प्राप्त हुआ हूँ। सप्तर्षियों में गौतम जी एक हैं। वे उदासीन मुनि थे। इस में प्रमाणान्तर यह है "उदासीनाः सोपवीताः कमण्डलवक्ष सूत्रिणः। जटिलाःश्मश्रुलाःशान्ता आसीना ध्यान तत्पराः॥ सप्तर्षयो वसिष्ठश्च कार्यो भार्यासमन्वितः। गौतमः, भरद्वाजः, विश्वामित्रोऽथ कश्यपः॥ जमदग्निः वसिष्ठोऽत्रिः, सप्तवैवस्वतान्तरे। (हेमाद्रिनिर्मित चतुर्वर्गमणि व्रतखण्ड पृष्ठ १०९) अर्थात् सातों ऋषि उदासधर्मावलम्बी थे। इस से स्पष्ट है कि उदासधर्म कितना पुरातन है। कई एक पुस्तकों में "उदासीनं गुरुं कृत्वा" के स्थान में, "उदासीनं गुरोः कृत्वा" पाठ मिलता है। परन्तु वह असङ्गत है। अतः पूर्वपाठ ही मूल पाठ प्रतीत होता है।

## रामायण में उदासीनों का वर्णन.

तुलसीरामायण के अयोध्याकाण्ड में महात्मा तुलसीदासजी ने उदासीन सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। महर्षि वाल्मीकि ने भी रामायण में भगवान् राम का तापस उदासीन के वेश में वन जाना लिखा है। यथा—

"नवपञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः" (वाल्मीकि० अयो०, सर्ग ११, श्लोक २६)

"एताश्चान्याश्च सुहृदाम् "उदासीनः" शुभाः कथाः।
आत्मसंपूजतीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम्"(वाल्मीकि० सर्ग० १७, श्लो० १२)

अर्थात् कन्था और मृगचर्म धारकर तापसवेश में राम १४ वर्ष पर्यन्त वन में रहे" कैकेयी ने राजा से यह वर मांगा। वरदान की निन्दा और पिता की आज्ञा पालन में व्रती राम की प्रशंसा कर रहे मित्रों की हितमय बातें सुनते सुनते उदासीन राम वन की ओर चलपड़े। इस से स्पष्ट है कि भगवान् राम के समय में उदासीन सम्प्रदाय की धाक विश्वभर में जमी हुई थी। महात्मा तुलसीदासजी अद्वितीय रामभक्त हुए हैं। पता नहीं उन्हों ने वाल्मीकि रामायण के कितने पारायण किये होंगे। उनकी रामायण पढ़ने से पता चलता है कि उनका सारा जीवन वाल्मीकि रामायण के पारायण और तुलसीरामायण के लिखने में बीता है। यद्यपि वाल्मीकि के श्लोक भिन्न भिन्न सर्गों के हैं; परन्तु तुलसीदासजीने इन दोनों का भाव एक ही चौपाई में भरदिया है। इस से अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण उनके कितनी उपस्थित थी। संभव है वाल्मीकि रामायण उनके कण्ठस्थ ही हो। वह चौपाई यह है।

"तापस भेष विशेष उदासी। चौदह वर्ष राम वनवासी॥"

(तुलसी रामायण, अयोध्याकाण्ड दोहा २८, चौ० २)

इसमें कैकेयी का वरदान मांगना लिखा है। राम उदासीन तपस्वियों का वेश धारण कर १४ वर्ष वन में गुज़ारे। इसे कहते हैं रचनाचातुर्य। किस ढंग से दोनों श्लोकों के सार को २२ अक्षरों में भर दिया है। यहाँ "विशेष उदासी" पद से उदासीनसंप्रदाय अभिप्रेत है। अन्यथा यहाँ इन पदों की कोई आवश्यकता नहीं दीखती। इस से यह सिद्ध हुआ कि भगवान् राम ने उदासीन तापस (ऋषि) का वेश धारण किया। अतएव उनका अपनी धर्मपत्नी को साथ रखना और वन से फिर लौटकर घर आना शास्त्रसम्मत है। क्योंकि उदासीन ऋषि ऐसा कर सकते हैं। राम ने मुनिवेश नहीं लिया, इसी भाव का सूचक वहाँ तापस पद पड़ा है। तापस ऋषि का नामान्तर है। आगे जब भगवान् राम प्रयाग पहुँचे हैं तो उन से मिलने के लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, परिव्राजक, इन तमाम श्रेणियों के उदासीन आए। इसका वर्णन तुलसीदासजी ने ऐसे किया है।

"यह सुधि पाइ प्रयाग निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाज आश्रम सब आये। देखन दशरथ सुमन सुहाये॥"

(दोहा १०४, चौ० ३)

बटु नाम ब्रह्मचारी का है। तापस से वानप्रस्थ का ग्रहण है। कटाहकुण्डल न्याय से मध्यपाती गृहस्थ आ जाता है। मुनि से चतुर्थाश्रमी का ग्रहण है। सिद्ध उदासीन इन दोनों पदों का प्रत्येक से सम्बन्ध है। अर्थ यह हुआ-दशरथात्मज प्रभु राम के आने का समाचार सुनते ही प्रयागनिवासी अणिमादि सिद्धिसम्पन्न उदासीन महानुभाव, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, परिव्राजक अर्थात् स्थानीय उदासीन समस्त जनता उनके पवित्र दर्शन करने के लिये भारद्वाजआश्रम में पधारी। इस वर्णन से पता चलता है कि उदासीनसम्प्रदाय का उस समय कैसा विराट् स्वरूप था। सर्वाश्रमी उदासीनदीक्षा से दीक्षित थे। तदानीन्तन उदासीन महात्मा समस्त-सिद्धिसम्पन्न थे। अतएव तुलसीदासजी ने उनका विशेषण सिद्धपद दिया है। स्मरण

रहे उदासीनशब्द का मुख्यार्थ चतुर्थाश्रमी है। तदनुयायी इतराश्रमियों में उदासीन शब्द का भाक्तप्रयोग है। इसी भाव को तुलसीदासजी ने निम्नलिखित चौपाई में स्पष्ट किया है, यथा—

"प्रमुदित तीर्थ राजनिवासी। वैखानस, बटु, गृही, उदासी॥"

(अयोध्या कां० दो० १२७ चौ० १)

भगवान् राम को वापिस लाने के लिये चित्रकूट को जाते समय भरत जब प्रयाग में पधारे, तो उनसे उदासीनमहात्माओं की भेंट हुई। उस परस्परमिलाप में उत्पन्न हुए हर्ष का वर्णन इस चौपाई में किया गया है। चौपाई का अक्षरार्थ यह है;—प्रयाग निवासी वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, चतुर्थाश्रमी महात्मा भरत से मिलकर नितान्त आनन्दित हुए। इस जगह तुलसीदास जी ने चतुर्थाश्रमी के लिये उदासीन शब्द प्रयुक्त किया है। इस से उनका यह भाव प्रतीत होता है कि वे उदासीन शब्द को यौगिक नहीं मानते। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ चतुर्थाश्रमी में योगरूढ या रूढ मानते हैं। त्रेतायुग में चतुर्थाश्रमी के लिये प्रायः उदासीन शब्द ही प्रयुक्त होता था। यति और परिव्राजक शब्दों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। यहाँ पर उदासीन शब्द को विवश होकर चतुर्थाश्रमी का वाचक मानना पड़ेगा। जब साथ के वैखानसादि पद वानप्रस्थादि आश्रमों के वाचक हैं, तब केवल उदासीन पद को आश्रमवाचक न मानने में प्रकरण विरोध आता है। महात्मा तुलसीदास जी के कथनानुसार महर्षि भरद्वाज उदासीनऋषि थे। पहले कई स्थानों में हम सप्तर्षियों का व्रतखण्ड के प्रमाण से उदासीन प्रमाणित कर चुके हैं। महर्षि भरद्वाज जी भी उन में से एक हैं। तुलसीदास जी का अग्रिम लेख हमारे पूर्वोक्त विचार को और भी दृढ करता है।

"सुनो भरत हम झूँठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं॥"

(अयो० दो० २०१, चौ० २)

यह महर्षि भरद्वाज ने भरत जी के प्रति कहा है। राजकुमार भरत! तुम कान देकर सुनो, मैं सत्य कहता हूँ! मैं वनवासी उदासीन सम्प्रदायानुयायी तापस हूँ। यहाँ पर भरद्वाज ने शपथपूर्वक अपने आप को उदासीन स्वीकार किया है। महर्षि भरद्वाज अपने आप को उदासीन ऋषि मानते थे, अतएव तापसपद प्रयुक्त हुआ। इस से उदासीनों के पूर्वोक्त ऋषि, मुनि भेद भी स्पष्ट हो जाते हैं। यदि केवल ऋषि का नाम उदासीन होता तो भरद्वाज को तापस विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी। अतः यह सिद्ध हुआ कि उदासीन मुनि, ऋषि, और सेवक इस भेद से दो प्रकार के हैं। मुनि केवल चतुर्थाश्रमी होता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अनासक्त गृहस्थ, वानप्रस्थ ये तीनों ऋषिपद वाच्य होते हैं। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी, साधारण गृहस्थ यह दोनों सेवक कहे जाते हैं। इस विषय पर हम पहिले बहुत कुछ लिख चुके हैं।

यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि सृष्टि के आरम्भ में उदासधर्म विश्वव्यापी था। आध्यात्मिक उन्नति के साधन, और मनुष्यजीवन व्यतीत करने का सच्चा मार्ग यही बताता था। अतएव मानवजाति के इतिहास में वह समय मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का निर्झर समझा जाता है।

# (३ तरङ्ग)

## औदासीन्यधर्म का उपकार.

उदासधर्म के आदिप्रवर्तक महामुनि सनत्कुमारजी आध्यात्मिकशक्ति के आविष्कर्त्ता हुए हैं। पुराणों में लिखा है कि ब्रह्माजी ने उन्हें सृष्टिविस्तार में लग जाने को कहा; परन्तु वे अपनी इच्छानुसार परमार्थ की ओर झुक गये। इस से हमें यह न समझ लेना चाहिये कि उन्हों ने पिता की आज्ञा होने पर भी संसार के उपकार से मुँह मोड़ लिया। विधाता की हार्दिक इच्छा कुछ और ही थी। जगन्नियन्ता उन से किसी अन्य वृहत्कार्य की पूर्ति चाहते थे। हम आगे जाकर बतायेंगे कि उस ईश्वरीय कार्य में उन को कितनी सफलता हुई।

संभव है यदि यही काम किसी और को सौंपा जाता तो इतनी सफलता न होती। हम यह भी कहने का साहस रखते हैं कि यदि महामुनि सनत्कुमार ब्रह्मा की आज्ञानुसार संसारविस्तार में लगजाते तो वह वृहत्कार्य अधूरा ही रह जाता, जिसका परिचय आगे जाकर दिया जायगा।

आरम्भ में संसार की अन्यान्य वस्तुओं के साथ साथ एक और ऐसी वस्तु की आवश्यकता थी, जिसके विना समस्त संसार क्षुब्ध सा हो रहा था। संसारार्णव के वासनातरङ्गों में गोते खा रहा मानवीय हृदय अधःपतन के भय से व्याकुल हो उठा था। नहीं कह सकते उस समय मनुष्यसमाज ने संसार समुद्र से पार होने के अनेकों साधन तैयार किये हों। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उन मानवीय साधनों से जनता सफल न हो सकी। वासनानल से दग्ध हो रहे मानवीयहृदय से उत्पन्न आर्तनाद ने फिर आकाश गुञ्जा दिया। वास्तविक शान्ति के अन्वेषण में मनुष्यजाति वन पर्वतों में भटकने लगी। वस्तुतस्तु उस समय मानव समाज निस्सहाय होकर भूल के वायुमण्डल में से गुज़र रहा था। जिस पवित्र वस्तु के अन्वेषण में वह प्रतिपल सयत्न था, वह अन्य ईश्वरीय पदार्थों की भाँति अभी संसार के अधिकार में पहुँची ही न थी। मानवशक्ति के सङ्कुचित क्षेत्र ने उसे अपनी स्वल्प दौड़धूप से हटजाने और हतोत्साह तथा किंकर्तव्यविमूढ होकर बैठ जाने के लिये वाध्य किया।

अब तो प्रतिपल बढ़ रहे अज्ञानान्धकार के शासन में अपनी समस्त सहचरियों के साथ, कुवासनाएं जनसमाज के मानसमन्दिर में निर्भयता से नग्ननृत्य करने लगीं। सचमुच उस समय जनसमाज की, क्षुब्धसागर की उन्नत एवं भयङ्कर तरङ्गों में डूब रहे निस्सहाय प्राणी के समान, दयनीय दशा थी। विश्व की इस शोचनीय अवस्था से महामुनि सनत्कुमारजी का करुणामय-हृदय द्रवित हो उठा। विनाश की ओर बढ़ रहे जन-समाज की भावी दुर्दशा ने उन के पूर्व विचारों में परिवर्तन कर दिया। विश्वम्भर की पवित्र प्रेरणा से प्रेरित मुनि कुछ समय तक फिर समाधिस्थ हो कर सोचते रहे। अन्त में संसारोद्धारार्थ उदासधर्म की स्थापना की। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि संसारसागर से पार उतरने के लिये

एक धर्मरूपी जहाज़ बनादिया। जिसके यात्री भवार्णव की भयानक तरङ्गों के ऊपर सुरक्षित रहते हुए अपने वास्तविक लक्ष्य तक निर्विघ्न पहुँचने लगे। सूर्य के प्रकाश की भाँति उदास-धर्म विश्वभर में फैल गया। वह, वह हताश और व्याकुल मानव हृदय, अधःपतन के भय से मुक्त हो गया। वासनानल से दग्ध हो रहा मानवसमाज विश्वव्यापी उदासधर्म के उपदेशामृत का पान कर कृतकृत्य हो गया। यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि सृष्टि के आरम्भ में उदासधर्म ने ही संसार को शान्ति प्रदान की। इस के प्रचार से पूर्व मानवसमाज आध्यात्मिक उन्नति के साधनों और मनुष्यजीवन व्यतीत करने के वास्तविक मार्गों से बहुत दूर था। हम उसी बात को फिर दोहराते हैं कि यदि महामुनि सनत्कुमार ब्रह्मा के आदेश से संसार वृद्धि में जुट जाते तो इतना उपकार न कर सकते; जितना कि उन्हों ने संसार से पृथक् रह कर किया। उदासधर्म के प्रचार से सर्वत्र शान्ति छा गई। मनुष्यसमाज को अपनी प्राकृतिक अवस्था से कुछ आगे बढ़ने के लिये अवकाश मिला। जनता प्रकृति पर शासन करने लगी। अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने के लिये प्रतिदिन नये से नये यत्न होने लगे। ईश्वरीयज्ञान का विकास बढने लगा। योगिजन उसके प्रचार में दत्तचित्त हो गये। संसार की वह त्रुटि जिसने विश्वभर को चक्कर में डाल रक्खा था महामुनि सनत्कुमार की अपार एवं चिरस्मरणीय अनुकम्पा से दूर हुई। हम आगे जा कर बताएंगे कि समय समय पर इस धर्म के प्रचार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। विश्व के आदि धर्मपुस्तक वेदों में भी बहुत जगह इसका वर्णन मिलता है जिसे हम पाठकों की सेवा में भी रखने वाले हैं। वेद में भूत भविष्यत् और वर्तमान, इन तीनों कालों की घटनाओं का वर्णन रहता है।

पुराणलिखितसृष्टि की उत्पत्त्यनुसार हमें कहना पड़ेगा कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा वेदों के प्रचार से पहले महामुनि सनत्कुमार ने जनता में उदासधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। हमारे कहने का यह भाव नहीं है कि उस समय वेदों का अस्तित्व ही न था; हाँ, यह अवश्य है कि जनता में अभी उनका पर्याप्त प्रचार नहीं हुआ था। अब हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि उदासधर्म अन्य ईश्वरीय पदार्थों की भांति विश्व का आदिधर्म और ईश्वरीय पदार्थ है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र; पृथिवी, जल, वायु आदिक पदार्थों ने संसार की महती त्रुटि को दूर किया, ठीक इसी तरह इसका उपकार भी उन से कम नहीं। यद्यपि इस विषय को हम बढाना नहीं चाहते तो भी संक्षेपतः इतना अवश्य कह देते हैं कि ईश्वरीय पदार्थों की समानता उदासधर्म में अधिकता से मिलती है। पाठक इस बात को पढ़ कर चकित होंगे, ईश्वर के अन्य पदार्थों की अपेक्षा इस ने संसार को अधिक लाभ पहुँचाया है। इस बात को हम आगे जाकर बतायेंगे। इस में तो कोई सन्देह ही नहीं कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश, वायु का बहना, जल का उपयोग सर्व साधारण है इसी तरह उदासधर्म का द्वार आरम्भ से अन्त तक मनुष्यमात्र के लिये खुला रहा है। प्रेम स्वर्गीय वस्तु है, इस का पाठ पढाने वाला यही धर्म है। ऋषि, मुनि, सेवक, इन तीन शाखाओं में विश्व का जन समाज रहता था। परस्पर एकदूसरे को अपनी स्थिति अनुसार पूज्यभाव अथवा हितचिन्तकता से देखता था। जिस का क्षेत्र इतना विस्तृत हो, जिस ने अबोध संसार को परस्पर प्रेम का पाठ

पढ़ाया हो, जिस की स्थापना संसार की सब से बड़ी कमी दूर करने के लिये हुई हो, जिसके आगे वह अज्ञानान्धकार, जिसने प्रचण्डमार्तण्ड के उज्ज्वलप्रकाश को फटकार बताई, स्वल्प समय भी न ठहर सका, जिसने शीघ्र ही विश्व के मानव-मानस-मन्दिर में अनायास ही अपना आसन जमा लिया हो, यदि वह ईश्वरनिर्मित धर्म नहीं तो, क्या कोई बता सकता है कि अन्य कौनसा धर्म है, जो ईश्वरीय होने का महत्त्व रखता हो ?

अब पाठक स्वयं सोच लें कि कौन सी बात है, जो इसे आदिधर्म बनाने में बाधक हो। विश्व में यदि इसका प्रचार न हुआ होता तो कह नहीं सकते संसार की क्या दुर्दशा हुई होती। पुराणों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि उदासधर्म का पूर्णप्रचार द्वापर के अन्त तक रहा। अब पाठक पूछेंगे', यदि उदासधर्म आदि और ईश्वरीय है तो जनता इस से विमुख क्यों हुई। साथ ही दूसरे धर्मों की उत्पत्ति का कारण क्या है ? इस के त्याग से लोगों को क्या दण्ड मिला ? इसका उत्तर यह है कि जब कालक्रमानुसार जनता में मानसिक त्रुटियाँ अधिक बढ़ गईं, अतएव उदासधर्म के उच्च एवं कठिन नियमों का पालन न हो सका, तब पथभ्रष्ट जनता ने कल्पितधर्मों को अपने हृदय में स्थान दिया। मानवीयहृदय ऊपर की अपेक्षा नीचे की ओर अनायास बढ़ता है। विश्वव्यापी उदासधर्म से जनता की विमुखता ने खण्डधर्मों के स्थापकों को और भी उत्साहित कर दिया। आरम्भ में नये नये धर्मों के सूत्रपात का मूलकारण जनसमाज का दुर्भाग्य था। इन नये धर्मों की स्थापना ही जनता को खण्ड-खण्ड करने में समर्थ हुई। कलि के आरम्भ में किस धर्म का कहाँ पर कैसा प्रचार था, यद्यपि इस विषय में कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि तब लोग भिन्न-भिन्न धर्मों में बँट गये थे। जिनके फलस्वरूप आज संसार में ९६ हज़ार धर्म दिखाई देते हैं।

## नये मतमतान्तरों की रचना.

संभव है भिन्न-भिन्न धर्मों के कारण ही संसार की शान्ति में बाधा पहुँची हो। संसार में वास्तविक शान्ति की स्थापना के लिये एक विश्वव्यापीधर्म का होना आवश्यक है। अतएव जबतक विश्व की जनता उदासधर्म के छत्र के नीचे रही, तबतक सर्वत्र शान्ति का राज्य रहा, ज्यों ही इसके एक एक सिद्धान्त को लेकर लोगोंने नये नये पन्थ बनाने आरम्भ किये, त्यों ही मनुष्य जाति का सृष्टि के आरम्भ से आ रहा पारस्परिक प्रेमबन्धन छिन्नभिन्न हो गया। इसी को मनुष्यजाति के पतन का आरम्भकाल कहना चाहिये। सामाजिकजीवन का स्थान व्यक्तिगतजीवन ने ले लिया। हमारे शरीर में पैर से चोटी तक जो रक्तधारा निरन्तर बहती है, उसी का दूसरा नाम जीवन है। शरीर के किसी भी भाग में बाह्य आघात पहुँचते ही यह सारे शरीर को सावधान कर देती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि एक अङ्ग के दुःख को दूसरे भी अनुभव करते हैं। अतएव सारे अङ्ग एक शरीर के रूप में चोट का प्रतिकार करने के लिये उद्यत हो जाते हैं, यही जीवन का वास्तविक चिन्ह है। शव के जिस भाग को आप काटेंगे वही शरीर से पृथक् हो जायगा। परन्तु उसके समीप के अङ्गों में क्रिया तक न होगी, ये ही मृत्यु के चिन्ह हैं। शरीर में निरन्तर बह रही रक्तधारा जिस प्रकार

जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है, ठीक उसी तरह समाज के लिये एक धर्म है। समाज में जीवन पैदा करने का काम धर्म करता है। रक्तधारा में बाधा पहुँचते ही शरीर का रहना असंभव हो जाता है। ठीक इसी तरह धर्म में विकृति आते ही समाज छिन्नभिन्न हो जाता है। देश में जबतक उदासधर्म की लहर निरन्तर बहती रही, तबतक देशवासिओं में एक जीवन था। यदि देश के एक भाग पर आपत्ति आती थी तो सारा समाज क्षुब्ध हो उठता था। "समुदायो ह्यर्थवान्" के अनुसार समुदाय के आगे बड़ी से बड़ी विपत्ति साधारण रूप में परिणत हो जाती है। जब से भारतीयों ने उदासधर्म की ओर से आँखें मूंद लीं, और अन्य नयेनये धर्मों में जा फँसे, तब से देश में हज़ारों परिवर्तन हुए। हिन्दु-लोग उन्नति के शिखर से फिसलते फिसलते रसातल में जा गिरे। यह बात इतिहासप्रमाणित है, महाभारत से लेकर विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अन्त तक उदासधर्म का प्रचार सर्वथा रुका रहा। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि इसके मानने वाला कोई भी न था, हाँ यह अवश्य है कि इसके अनुयायी इने-गिने ही रह गये थे। आप आगे जाकर पढेंगे, कई एक उदासीनमुनि बौद्धकाल में भी पाये जाते हैं। युधिष्ठिर की ८ वीं शताब्दी में पद्ममुनि हुए हैं। आप ही महर्षि पाणिनिजी से मिलने गये थे। तब पाणिनिजी व्याकरण लिख रहे थे। आपने वैदिक व्याकरण बनाने के लिये पाणिनि से प्रार्थना की। क्योंकि पाणिनि से पूर्वरचितव्याकरणों में यह त्रुटि पूर्णतया पाई जाती थी। पाणिनि के साथ उस उदासीनमुनि के वार्तालाप से पता चलता है कि एक उदासीन वेदों में कितनी श्रद्धा रखता है। वह मुनि जानता था कि अब संसार में भयङ्कर उथल-पुथल होने वाली है। ऐसा न हो कि वैदिकभाषा को कठिन समझकर लोग छोड़ दें। अतएव मानवसमाज संसार के आदिधर्मपुस्तक वेदों से हाथ धो बैठे। वैदिकव्याकरण लिखने के लिये उनका महर्षि पाणिनि को प्रेरित करना, यही भाव रखता है। वेद उदासीन महानुभावों का आदिपुस्तक है। सच पूछो तो वेद ही एक ऐसी पवित्र वस्तु है, जिसके आगे उदासीन महानुभाव सदा से सिर झुकाते आए हैं। हमें यह समझ लेना चाहिये कि यदि किसी पवित्र वस्तु की पवित्रता में किसी को सन्देह हो जाय तो इसके यह अर्थ नहीं हो सकते कि वह वस्तु अपवित्र है। इसी तरह जगदुपकारक ईश्वरीयपदार्थों के विषय में भी जानलेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि संसार के समस्तप्राणी आज यह कहना आरम्भ करें कि सूर्य बहुत बुरी वस्तु है, हम तो अपना नया सूर्य बनायेंगे, इस से हमें कोई अधिक लाभ नहीं है। तो पाठक ! आप ज़रा सोचें ! क्या इस सार्वजनिक आन्दोलन से सूर्य का जगदुपकारकत्व, महत्त्व और ईश्वरीयत्व कम हो जायगा? कदापि नहीं।

बस इसी से समझ में आ जाता है, जनता ने उदासधर्म का त्याग किया, जिसका फल आज अच्छी तरह भोग रही है। इस से उदासधर्म की महत्ता में अन्तर नहीं आता।

संसार में यह अधिक देखने में आता है, असली चीज़ के आधार पर ही नकली बनाई जाती है। परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि कृत्रिम वस्तुएं नैसर्गिक वस्तुओं के महत्त्व को कम नहीं कर सकतीं। उदासधर्म के सिद्धान्तों का सहारा लेकर ही नूतन धर्मों की सृष्टि हुई है। हम लेखवृद्धि के भय से यहाँ प्रत्येक

धर्म का उल्लेख नहीं कर सकते, उदाहरणार्थ, एक दो का नाम लिखते हैं। विज्ञ-पाठक स्वयं समझ सकते हैं, रत्न रत्नाकर से ही प्राप्त होते हैं। इसी तरह उदास धर्म ही धार्मिकभावों की खान है। उदासधर्मावलम्बी पञ्चदेव की समानभाव से पूजा करते हैं। इन्हीं के पाँचो देवों में से एक एक को अपना इष्ट मानकर शाक्त, शैव, सौर्य्य, वैष्णवादि पाँच धर्मों की स्थापना हुई। बौद्धों ने उदासधर्म के त्याग को प्रधानता देकर अपने नये धर्म की स्थापना की। विक्रम से ५७ वर्ष बाद जेसस क्राईस्ट ने उदासधर्म के प्रेम को प्रधानता देकर क्रिश्चियनधर्म की नीव डाली। उसके बाकी सारे सिद्धान्त उदासधर्म की वेदान्त-विद्या से मिलते जुलते हो हैं। ईसा से ६१६ वर्ष बाद मुहम्मद ने इस्लामधर्म की स्थापना की। उसका गुरुमन्त्र यह है "अशहदो अन्लाइलाहा इल्लल्ला मोहम्मदन रसूलल्लाः"। प्रत्येक मनुष्य को यह मन्त्र पढ़ाया जाता है, जब कि उसे इस्लाम की दीक्षा दी जाती है।

इस मन्त्रका अर्थ है, मैं मानता हूँ, ईश्वर से भिन्न कोई देव नहीं है। मुहम्मद उसका सन्देशहर है। पाठक ज़रा ध्यान दें। मन्त्र का पूर्वार्द्ध उदासीनों के—"एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति" इस सिद्धान्त का अनुवादमात्र है। मुस्लिम लोग प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में "बिसमिल्ला रहमाने रहीम" (परम दयालु परमेश्वर को अर्पण है) ध्यानतः पढ़ते हैं। यह हमारे "कृष्णार्पणमस्तु" की छाया मात्र है। इस से पता चलता है कि पूर्वोक्तधर्म इसी से निलक कर बादमें स्वतन्त्र धर्म बन गये हैं। और उनमें और बहुत से अवैदिक सिद्धान्त मिल गये हैं। अतएव वे अपने उत्पत्तिस्थान से बहुत दूर जा पड़े हैं। यह तो हमने प्रधान प्रधान धर्मों के विषय में संक्षिप्त लिखा है, यदि इसी तरह संसार के सारे धर्मों की छानबीन की जाय तो सबका स्रोत यही सिद्ध होगा। उदासधर्म अब भी पूर्ववत् शुद्ध तथा जगन्मङ्गलकारक है। यदि आज भी समस्तभारत इसकी छत्र छाया के नीचे आ खड़ा हो तो फिर जगद्गुरु कहलाने का अधिकारी हो सकता है। उदासीनमुनियों ने समय समय पर अपने उपदेशामृतों से कई बार भारत को मृतप्राय होने से बचाया है। उदासीनमहानुभाव कृष्ण की गीता ने भारत में नया जीवन डालने का काम किया। उदासीनमुनि संसार से विरक्त रहते हुए भी संसार का उपकार करते आए हैं। उदासीनाचार्य श्रीचन्द्रमुनि का महाराणा प्रताप को अकबर के विरुद्ध लड़ने के लिये उत्साहित करना क्या कम महत्त्व रखता है? नगरठठ्ठा में जब मुसलमान मक्का बनाने को तैयार हुए तो इनका वहाँ जाकर रुकावट डालना हिन्दुजाति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

## ईश्वरीयनियम.

हम प्रथम लिख चुके हैं कि अन्य ईश्वरीयपदार्थों की अपेक्षा उदासधर्म ने संसार का अधिक उपकार किया है। यदि हम ध्यानसे विचारें तो यह बात अनायास ही समझ में आजाती है कि यहाँ के समस्तपदार्थ चाहे वे प्राकृतिक हों या अप्राकृतिक, उन सब का सम्बन्ध हमारे इस जीवन से है। लोकान्तर में यदि कोई पदार्थ हमारी सहायता कर सकता है या हमारे साथ जा सकता है तो वह केवल धर्म ही है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्य प्राकृतिकपदार्थों की अपेक्षा धर्म हमारा अधिक उपकारक है।

इसके इलावा संसार में भी वास्तविकशान्ति धर्मतरु का ही फल है। जिस प्रकार प्राकृतिकपदार्थ किसी न किसी नियम के अधीन होकर चलते हैं। इसी तरह मानव सृष्टि का भी किसी न किसी नियम के पीछे चलना ही श्रेयस्करहै। वह नियम भी ईश्वरीय होना चाहिये अन्यथा विकृति आजाने से मानवसमाज के नाश का भय रहता है। जिस प्रकार कृत्रिमवस्तुओं के बीचमें नैसर्गिकवस्तु का पहचानना सर्वसाधारण के लिये असम्भव और विज्ञोंके लिये कठिन हो जाता है, ठीक यही हालत आज उस नियम के अन्वेषण में हो रही है।

पूर्वोक्त निबन्ध के आधार पर हम कह सकते हैं कि इश्वरीयपदार्थों की विशेषताएं मिल जाने के कारण उदासधर्म ही ईश्वरीयनियम है। यही विश्वव्यापी होने का गर्व कर सकता है। इसमें प्राणिमात्र के लिये स्थान है। इसके द्वार पर सब को उपदेशामृत मिल सकता है। सृष्टि के आरम्भ से आजतक यह सब का उद्धार करता आया है। पुराण, इतिहास, स्मृति, सूत्रग्रन्थ वेद, सर्वत्र जिस की महिमा वर्णन की गई है। वेद से भिन्न सारे प्रमाणग्रन्थ वेद के इशारे पर चलते हैं, अतः वे परतःप्रमाण कहलाते हैं। वेद स्वतःप्रमाण है। अतएव वेद ही आदि और ईश्वरीयपुस्तक है। वेदोक्त आज्ञा, प्राणिमात्र के लिये ईश्वराज्ञा के समान है। वेद जिस धर्म का प्रतिपादन करे वही धर्म जनता का कल्याणकारी हो सकता है। उदाहरणार्थ, हम यहाँ कुछ वैदिक मन्त्र उद्धृत करते हैं। जिन में पाठक स्वयं समझ लेंगे कि उदासधर्म का महत्त्व वेदों में किस भाँति वर्णित है।

# (४ तरङ्ग)

## वेद में उदासीनमुनिगुणवर्णन.

इस बात को पाठक प्रथम पढ़ चुके हैं, उदासधर्म के आदिप्रवर्तक महामुनि सनत्कुमार जी हुए हैं। वेदो में उनके दिव्यगुणों का वर्णन पूर्णतया मिलता है। हम ऋग्वेद के तीन मन्त्र लिखते हैं, इन में महामुनि सनत्कुमार जी का परिचय सविस्तर लिखा है। मन्त्र चन्द्रभाष्य सहित लिखे जायँगे। नीचे हिन्दी में चन्द्रभाष्य का भावार्थ भी दिया जायगा, जिस से पाठक मन्त्र और चन्द्रभाष्य के अर्थ और भाव अच्छी तरह अनायास समझ सकें। प्रथम मन्त्र में अग्निदेव महर्षि वसिष्ठ से इनका चारित्रपरिचय पूछते हैं। दूसरे में इनके यश, शिष्यशिक्षण, और उपदेशों का वर्णन है। तीसरेमन्त्र में इनकी ब्रह्माजी से समानता की गई है।

अब यहां क्रमतः वे तीनों मन्त्र लिखे जाते हैं।

द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः,
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्य्येमिरेभन्।

(ऋग० म० ७, सू० १८, मन्त्र २२)

चन्द्रभाष्यम्—सनत्कुमारः कीदृगिति पृष्टोऽग्निना वसिष्ठ आह—द्वे, इति। देववतः = देवा-द्योतमानाः, सद्गुणा स्तद्वतः। ( नित्ययोगेमतुप ) देवा इन्द्रादय स्ते विद्यन्ते अनुचरत्वेन यस्य स देववान्, इन्द्रादि-नियन्ता, तस्य वा विष्णो रिति यावत्, नप्तुः = पौत्रस्य सन्तकुमारस्य,—विष्णोर्नाभिकमलाद्ब्रह्मा, ततः सन्तकुमार इति पौराणिकसमयः। ( कर्तरि षष्ठी ) पैजवनस्य = पिजवनः-पिहितवेगा, भगवद्ध्याननिरुद्धचेता ब्रह्मा; उक्तंहि—"दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत, भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यां ततोऽसृजत्" ( भागवत, स्कन्ध ३, श्लो० ३ ) निरुद्धवेगत्वं हि भगवद्ध्यानपूतत्वम्। तस्य पिजवनस्य=ब्रह्मणः सुतः पैजवनः, भगवद्ध्यानेन ब्रह्ममनसो राजस-तामसवेगावरोधावसरे जायमान इति यावत्, अतएव परमसात्विकत्वेन जातमात्र एव ब्रह्मसंस्थस्तस्यौ सुदासः = सु सुष्ठु संसारासत्त्यनुत्पत्त्या, उद्=उत्कृष्टे ब्रह्मणि, तन्नामके वा;-तस्य-उदिति नामेतिछान्दोग्य श्रुतेः,—आस्ते-तिष्ठति इति सुदाः; नितान्तब्रह्मसंस्थः; पङ्कजादिवद्योगरूढ्या-ब्रह्मनिष्ठतुरीयाश्रमी, उदासीनापरपर्य्याय स्तस्य-सुदासः, उदासीन, ब्रह्मसंस्थादि शब्दा-योगरूढ्या ब्रह्मनिष्ठं तुरीयाश्रमिणं निर्ब्रुवते। अतएव "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यत्र श्रीशङ्कराचार्य्यैः—अन्यैश्च व्याख्यातृभि स्तत्पदस्य तत्परत्व मुररीकृत मितरथा तन्नोप पद्येत। नस्याच्च "रुचंनो धेहि ब्राह्मणेषु०" इत्यादिमन्त्रेषु ब्राह्मणादिशब्दानाम्-जाति विशेषपरताऽपि-ब्रह्मचर्य्यादिशब्देष्वपि एवं विप्लव ऊहनीयः।

कश्चिल्लक्षणया-उदासीनादिशब्दः—तदनुयायिनं सेवकमृषिं वाऽचष्ट इत्यन्यदेतत्। दानम् = देय-मवखण्डनीयम्, निषेध्यम्, गोः = गवाम्, द्वेषते = शतद्वयम्, वधूमन्ता=वधूमन्तौ-वहति संसारभारमिति वधूः-संसृतियात्रानिर्वाहिका लक्ष्मीः-तद्वन्तौ, द्वा=द्वौ, रथा=रथौ, रेभन्=प्रशंसन्, अतएव अर्हन्=योग्योऽहम् वसिष्ठः परगुणकीर्तनं हि योग्यलक्षणम्, तत्त्यागदर्शनेन समुत्पन्नया श्रद्धया तं पूज्यन्निति वा। अग्ने=हे अग्निदेव! सद्म=स्वगृहम् होतेव=यथा होता वहिरागत्य कार्यव्यग्रतया झटिति यज्ञशालाम् प्रतिनिवर्तते तद्वत् पर्य्येमि=प्रतियामि कार्थभूयस्त्वेन चिरं स्थातु न्न शक्नोमीति यावत्।

ब्रह्मपुत्राय सनत्कुमाराय केनचिद्राज्ञा गो-धन-रथादिकम् दित्सितम्, सच न जग्राह। तस्यैतादृशं त्यागंदृष्ट्वा मया स पूजितः स्तुतश्च। एतावतैव त्वंमग्ने कीदृशोऽसौ महानुभाव इति बुध्यस्व। वीतरागत्वे तस्य किमन्यद्वक्तव्यम् सम्प्रति कार्य विशेषव्यासङ्गः—तिष्ठासां प्रतिबध्नाति। अतोऽहं विलम्बासहिष्णुतया झटिति होतेव यज्ञशालां स्वगृहं-प्रति गच्छामि—इति सरलार्थः।

हिन्दी—एक समय अग्निदेव ने महर्षिवसिष्ठ से पूछा, "भगवन्! सनत्कुमार के विषय में मैं कुछ जानना चाहता हूँ।" उत्तर में वसिष्ठ जी बोले, "इन्द्रादिक देवता जिसके आगे साधारण अनुचरों की भाँति नतमस्तक और साञ्जलि खड़े रहते हैं, उस शेषशय्याशायी विष्णुभगवान् के सनत्कुमार जी पौत्र हैं। सृष्टि के आरम्भ में भगवान् विष्णु की नाभी से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और उन से इन का जन्म हुआ, यह पुराणों में स्पष्ट है। श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है कि पापमय सृष्टि को देखकर ब्रह्माजी ने अपने आप में बहुत त्रुटि अनुभव की। तदनन्तर बहुतकालपर्य्यन्त तप करते रहे। जब अन्तःकरण की पवित्रता पराकाष्ठा तक पहुँच गई तब ब्रह्माजी ने दूसरी सृष्टि की रचना की। तपद्वारा राजस-तामस भावों के अवरोध के समय, केवल सात्त्विकभावों के साम्राज्य में ब्रह्माजी से इन की उत्पत्ति हुई। परमसात्त्विकभावों से उत्पन्न सनत्कुमार जी शैशवकाल में ही ब्रह्मसंस्थ अर्थात् चतुर्थाश्रमी उदासीनमुनि बन गये। एकबार उनके तपोमयजीवन

पर मुग्ध हो कर एक राजा ने २०० गायें, बहुत से सोने चाँदी समेत दो रथ देने चाहे; परन्तु त्रिलोकी के राज्य को भी तुच्छ समझने वाले उदासीनमुनि सनत्कुमार ने इन्हें लेने से इन्कार कर दिया। तभी से लेकर मैं उन के त्याग की प्रशंसा करता हुआ अपने आप को कृतार्थ समझता हूँ। अग्निदेव! अधिक क्या कहूँ मैं अपने मानस-मन्दिर में उनकी पवित्र प्रतिमा को श्रद्धा के आसन पर स्थापित कर प्रतिदिन पूजता हूँ। अब आप स्वयमेव जान लें कि सनत्कुमार का चरित्र कितना पवित्र और अनुकरणीय है। यज्ञ में तत्पर होता, जिस प्रकार यज्ञशाला से बाहर देर तक नहीं ठहर सकता, ठीक उसी तरह अब मैं यहाँ अधिक देर तक ठहरने के लिये असमर्थ हूँ। अतः मुझे अपने निवासभवन जाने की आज्ञा दे कर कृतार्थ करें।

देखिये! उदासधर्म के आचार्य महामुनि सनत्कुमार का जीवन कितना उच्च एवम् प्रशंसनीय है। अग्निदेव के पूछने पर महर्षि वसिष्ठजी उनकी प्रशंसा करते करते नहीं थकते। जिस धर्म के प्रवर्तक की प्रशंसा स्वयं वेदभगवान् करता हो भला यदि वह धर्म विश्वप्रिय हो कर रहे तो कौनसी आश्चर्य की बात है। आगे हम वह मन्त्र लिखते हैं; जिस में उनके यश, शिष्यशिक्षण और लोकोपकार का वर्णन है। पाठक स्वयम् अनुमान लगालें, जिस के विषय में वेदभगवान् की यह धारणा है, वह व्यक्ति कितनी उच्च एवं जगदादरणीय होगी। (मन्त्र २)

**यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णे शीर्ष्णे वि बभाजा विभक्ता,**
**सप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नियुध्यामधिमशिशादभीके।**

(ऋ० मं० ७, सू० १८, मं० २४)

चन्द्रभाष्यम्—स्रवतः=गच्छतः लोकानुग्रहार्थम् पर्य्यटतो यस्य=सुदासः—उदासीन मुनेः सनत्कुमारस्य उर्वी=विस्तीर्णे, रोदसी, द्यावापृथिव्यौ, अन्तः=विस्तीर्णयो र्द्यावापृथिव्यो र्मध्य इत्यर्थः। श्रवः=यशो वर्तते। यश्च सुदाः विभक्ता=ब्रह्मोपदेशेन संसृतिपाशात्पृथक्कर्त्ता, मोचयिता-इतियावत्। शीर्ष्णे शीर्ष्णे=शिरसे शिरसे शिरोवत्प्रधानाय श्रेष्ठाय श्रेष्ठाय नारदादिशिष्याय, विबभाज=विभज्य अधिकारविशेषमालोच्य, अस्य शिष्यस्य ज्ञाने, अपरस्योपासनायाम्, इतरस्य निष्कामकर्मणि, परस्य सकामकर्मणि, इत्येवमधिकारविभागं कृत्वा - अधिकारानुरूपमिति यावत्-उपदिदेश। स्वसिद्धान्तप्रचारार्थं विभज्य दिशः प्रददाविति वा। सप्तेत्=सप्त-इत्, सप्तैव लोकास्तमुदासीनमुनिम् इन्द्रं न=इन्द्रमिव, गृणन्ति=प्रशंसन्ति। अभीके=अभीकः-क्रूरः, [अभीकः कामुकं, स्वामिनि क्रूरे, निर्भये चेति शब्द स्तोमः] तस्मिन् स्थित मितिशेषः। युध्यामधिम्=योधनम् युत् तस्य यामः-प्रहरः-समय इति यावत्, स धीयते यस्मिन्; तं क्रोधम् युद्धसमयोपस्थापकम् नि=नितराम्, अशिशात्=शान्त्युपदेशेन ततक्ष, निराचकारेति यावत्। युध्यामधिः—युध्यामशब्दोपपदाद्धाधातोः "कर्मण्यधिकरणे च" इत्यधिकरणे किः। अशिशात्—श्यतेर्लुङि सिज्लुकि द्वित्व मित्वञ्च छान्दसम्।

किञ्च—अभीके युद्धे (युध्यामधिम्) युधं यान्ति-इति युध्यामानः संग्रामोद्यता भटा-राजसादिभावाः—ते धीयन्ते यस्मिन्, तथोक्तं शिविरम् अज्ञान मन्तःकरणम् वा (अशिशात्) ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पादनेन नाशयामास शमयामास वा।

लोकोपकार में रत, संसारसागर से पार उतारने वाले उदासीनमुनि सनत्कुमार की धवलकीर्ति विशाल ब्रह्माण्ड के कोने कोने में फैली हुई है। उन्हों ने अपने प्रधान २ शिष्यों का योग्यतानुसार शिक्षण किया। ज्ञान, उपासना, सकामकर्म, निष्कामकर्म, आदि विभागानुसार जिस की जिस विषय में अधिक प्रवृत्ति थी उसको उसी विषय की शिक्षा दी। आहोस्वित्-उदासधर्म के प्रचारार्थ अपने प्रधान प्रधान शिष्यों को दिशाएं विभक्त कर दीं। सातों लोकों के निवासी महामुनि सनत्कुमार की देवराज इन्द्र के समान प्रशंसा करते थे। अपने शान्तिप्रद उपदेशों से महामुनि जी लोगों की अन्तरात्मा को दग्धकर रहे क्रोध का नाश किया करते थे। तात्पर्य्य यह है कि उनके उपदेश सुनने वाले प्रेमी, भक्त, काम, क्रोधादिकों से सदा के लिये मुक्त हो जाया करते थे।

धन्य हैं वे महामुनि, जिन को देवता लोग भी ब्रह्मा के समान मानते हैं। ३

**इमं नरो मरुतो सश्चतानु दिवोदासन्न पितरं सुदासः,**
**अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्र मजरम् दुवोयु।**

(ऋग्० मं० ७, सू० १८, मं० २५)

नरः=नेतारो-मुख्याः मरुतः=देवाः, [मरुद्वायौदेवेचेति शब्दस्तोमः] इमम्=पूर्वोक्तं सनत्कुमार मुदासीनमुनिं, सुदासः=उदासीन मुने स्तस्य=पितरम् जनकम्, धातारम्; दिवो=द्योतमानस्य ब्रह्मलोकस्य दासं=दातारम्, स्वोपासकेभ्य इति शेषः। न=इव, अनुसश्चता=अनुसेवध्वम्, अस्य महानुभावस्य सपर्य्याम् धातृनिर्विशेष माचरत इत्यर्थः, दुवोयु=दुवोयोः-सर्वत्रात्मदृष्ट्या स्वनिर्विशेषं परिचरण कामस्य पैजवनस्य=पिजवनः-पिहितवेगो ब्रह्मा, तत्सुतस्य सनत्कुमारस्य, केतम्=मन्त्रम्-उक्तिम् अविष्टन=अवते लोटि बहुवचने तस्य तनपादेशः बहुल ग्रहणाल्लोट्यपि सिच इट् पत्वञ्च। तदाज्ञां परिपालयतेति यावत्। यद्वा तदुपदिष्टं गुरुमन्त्रम् रक्षत, प्रमादेन न विस्मरत। सर्वत्र प्रचारयत। अपि वा तस्य केतं निवासम् ब्रह्मतत्वम्, ब्रह्मसंस्थत्वात्तस्य (अविष्टन) अवगच्छत। तृप्तथवगम इति तदर्थेषु पाठात्। कीदृशं, दूणाशम्=दुर्नशम्-नाशयितु मशक्यम्, क्षत्रम्=क्षद्धिंसा ततस्त्रातारं क्षणु हिंसायाम् क्विपि तुक्-क्षत तदुपपदात् त्रायतेः कः, अजरं = जरावर्जितम्, जरया हि पुमान्-ह्रसति तन्निषेधेन ह्रास-निषेधो गम्यते।

हिन्दी—प्रधान प्रधान वायुप्रभृति देवता लोग उदासीन मुनि सनत्कुमार और ब्रह्माजी को समभाव से देखते थे। अतएव ब्रह्माजी के समान इन की पूजा क्रिया करते थे। वे ही सर्वत्र समदर्शी, महामुनि सनत्कुमार के अविनाशी, सांसारिकसर्वभयनाशक, अजर, अमर उपदेशों का सर्वत्र प्रचार किया करते थे।

धन्य हैं वे महानुभाव जिनके पवित्र सिद्धान्तों का प्रचार स्वयं देवतालोग करते थे।

वेदों में ऐसे भी बहुत से मन्त्र आते हैं, जिन में लिखा है कि समय २ पर उदासधर्म का प्रचार देवतागणों ने किस प्रकार किया—

**नकिः सुदासो रथं पर्य्यास न रीरमत्,**
**इन्द्रो यस्याविता यस्य मरुतो गमत्स गोमति व्रजे।**

(ऋग्० मं० ७' सू० ३२, मं० १०)

चन्द्रभाष्यम्—सुदासः=उदासधर्मस्य, रथम् = रथमिव प्रचरण साधनम् यथा कश्चिद्रथेन दूरम्प्रचरति तथा येन प्रकारेणोदासधर्मस्य दूरे प्रसर्पणं भवेत् स प्रकारः रथशब्देनोच्यते। तम्प्रकारम् नकिः पर्य्यास = न कश्चित्पर्य्यस्यति, परिक्षिपति, निराकरोतीति यावत्। नरीरमत् = न कश्चिद्रमयति, विरमयति, नाशयितुं शक्नोतीति यावत्, कुत इत्यत आह यस्य = उदासधर्मस्य इन्द्रः = शक्रः, अविता = रक्षकः, न केवलमिन्द्रएव मरुतः = अन्येऽपि देवाः यस्य = अवितारः। अनुवृत्तस्य वचन व्यत्ययेन सम्बन्धः। स = उदासधर्मः, गोमति = प्रशस्त गोयुक्ते व्रजे = व्रजभूमौ गमत् = गच्छेत्। व्रजेऽवतीर्णः कृष्णस्तं गृह्णीयात्। उक्तञ्च-भगवता कृष्णनेनैव-"उदासीना वयं नूनम्" (भागवते)।

अपिवा—सुदासः = उदासीन मुनेः कुमारस्य, रथं = देहम् "शरीरं रथ मेवेति" (श्रुतेः) नकिः पर्य्यास = न कश्चित् पर्यासितवान्-क्लेशितवान्। आत्मविदस्तस्य सर्वस्यात्मभावेन क्लेशदातुरन्यस्याभावात्। नरीरमत् = न कश्चिद्रमयति स्वोपभोग करणतान्नयति। यस्य = सुदासः इन्द्रः = अविता-सहायः, स्वसिद्धान्तप्रचारेसहकारी, तस्य तत्सिद्धान्तप्रचारकतायाः अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। यस्य च मरुतः = अन्येऽपि देवाः अवितारः स = सुदाः, उदासीनमुनिःकुमारः, गोमतिव्रजे = गोकुलाख्ये गमत् = गच्छेत्। उक्तं हि ब्रह्मवैवर्तपुराणे-भगवति कृष्णे पुत्रभावमापन्ने अनवगतप्रभावान्नन्दादीन् कुमारो गत्वा बोधयामास। ततस्तै र्नन्दादिभिः, कुमारतः औदासीन्य दीक्षा गृहीता, इति गम्यते। तदिदं सूचितं भगवता वेदपुरुषेण गोमति व्रजेऽगमदितिब्रुवतेत्यवसेयम्।

यद्वा—सुदासः=उदासधर्मस्य रथम् = रथिनम्, प्रचारकाग्रगण्यम् नारदम् रथशब्दात् 'अर्श आदित्वात्-मत्वर्थेऽच्" लक्षणया वा रथ शब्दः रथिपरः। यथा—"मञ्चाः क्रोशन्ति" इत्यत्र मञ्च शब्दो लक्षणया मञ्चस्थं ब्रूते तद्वत्। नकिः पर्य्यास = न कश्चित्पर्य्यास, न कश्चित् खेदितवान्-अवरुद्धवानिति यावत्। स = उदासधर्मः गोमति व्रजे=गोकुले गमत्-गच्छेत्-प्रचरेत्। तस्य प्रचारो भवेदित्यर्थः। शिष्टं समानम्।

हिन्दी—संसार की समस्त मानवीय सृष्टि में न तो कोई उदासधर्म के प्रचारके भिन्न भिन्न साधनों का निराकरण ही कर सकता है, और नही इस के हो रहे निरन्तर प्रचार को कोई रोक सकता है। क्योंकि इस धर्म का रक्षक केवल इन्द्र ही नहीं प्रत्युत वायुप्रभृति अन्यदेवतागण भी हैं। अतएव सर्वधर्मश्रेष्ठ इस उदासधर्म का प्रचार पवित्रभूमि व्रज में भी हो।

संसार में बढ़ रहे अधर्म का नाश करने के लिये और सत्यधर्म की स्थापना के लिये व्रजभूमि में अवतीर्ण भगवान् कृष्ण भी इस धर्म का ग्रहण करें। एक जगह भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है-"उदासीना वयं नूनम्" हम उदासधर्म के अनुयायी हैं।

एकवार उदासीनमुनि सनत्कुमार इन्द्र को अपने साथ लेकर उदासधर्म के प्रचारार्थ व्रज में गये। मार्ग में किसी व्यक्ति ने न तो उन्हें कष्ट ही दिया; क्योंकि वे सर्वत्र समदर्शी थे और नही कहीं जाने से रोका, इस अर्थ की पुष्टि के लिये "ब्रह्मवैवर्त" पुराण में लिखा है कि भगवान् कृष्ण जब मानवस्वरूप में आए तो नन्दादिकों ने इनके स्वरूप को न पहचाना। और वे इन्हें अपना साधारण बालक समझने लगे। तब उदासीनमुनि सनत्कुमार जी ने वहाँ जाकर उनको यह रहस्य बताया। महामुनि के तपोमयजीवन पर मुग्ध होकर नन्दादिकों ने तब उदासधर्म की दीक्षा ली। यह स्फुट प्रतीत होता है।

यहाँ पर यह भाव भी संगत है, एकवार उदासधर्म के महोपदेशक नारद मुनि जी रथ पर बैठ कर उदासधर्म का प्रचार करने के लिये गोकुल में गये। रास्ते में किसी ने भी उन के रथ को न अटकाया। अतएव महामुनि नारद ने वहाँ बड़ी धूमधाम से उदासधर्म का प्रचार किया।

सनत्कुमारजी उदासधर्म की ओर अधिक ध्यान रखते थे। समय समय पर आवश्यकतानुसार वे अपने साथ बहुत से देवगणों को भी सहायतार्थ रख लेते थे। एकवार महामुनिजी ने भगवान् विष्णु से कहा कि मर्त्यलोक में उदासधर्म के प्रचारार्थ कुछ देवगण चाहियें। यह सुनते ही भगवान् ने बहुत से देवगणों को बुलाकर इन के साथ भेज दिया। यही भाव निम्न लिखित मन्त्र में भगवान् वेद कहता है। मन्त्र ।५।

**एतान्रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः,**
**कस्मै सस्रुः सुदासे अन्वापय इलाभिः वृष्टयः सह ।**

(ऋग्० मं० ५, सू० ५३, मं० २)

एकदा कुमारेणागत्य विष्णुरुक्तः भगवन्नुदासधर्मप्रचारायैतान्देवान्देही-इति प्रेरित स्तान् देवान् तथा कर्तु मादिदेशेत्याह-एतानिति—

रथेषु तस्थुषः = स्थितान्, एतान् = प्रसिद्धान्-इन्द्रवरुणादीन्, सुदासे = उदासीनमुनये कुमाराय, कः = विष्णुदेवः [ कोऽग्नौसूर्येविष्णाविति शब्दस्तोमः ] आशुश्राव = आश्रृणोतिस्म, आङ्पूर्वः श्रृणोतिः प्रवर्तनापूर्वके प्रतिज्ञाने वर्तते तद्योगे (प्रत्याङ्भ्याम् श्रुवः) इति सुदासः सम्प्रदानत्वम् । सुदासोदासीन मुनिनाकुमारेण देवानिन्द्रादीन् उदासधर्मप्रचाराय मह्यं देहीति प्रेरितो विष्णु स्तान् दातुं प्रतिज्ञातवान्। कुमार प्रार्थनया विष्णु रिन्द्रादीन् उदासधर्मप्रचाराय प्रहितवानितिभावः। विष्णुना प्रहिता देवाः कथा = केन प्रकारेण ययुः = गच्छन्ति, तेषां गमनप्रकारो लोकोत्तर एवासीदिति भावः। वृष्टयः = कामानां वर्षकाः, सर्वजनमनोरथपूरकाः [कर्तरिक्तिच्] आपयः= आप्नुवन्ति मिथः प्रणयमुपगच्छन्ति । ते बन्धुभूताः सर्वे देवाः इलाभिः = वाग्भिः परचित्ताकर्षिकाभि माधुर्य्यादिगुणोपेताभिः सह = सहिताः श्रोतृजनमनोहारिणीं वाचम्भाषमाणा इतियावत् । कस्मै=कं विष्णुं प्रसादयितुम् अनुसस्रुः = विष्णोरादेशमनुसृतवन्तः । विष्णुनाऽऽदिष्टादेवास्तत्प्रसादाय, तदाज्ञां शिरसिनिधाय, उदास धर्मम्प्रचारयामासु रित्यर्थः । पदातिं हि दूरं गन्तुं न प्रभ-

वति, गच्छति चेच्छ्रान्तत्वादुपदेष्टुं न शक्नोति, रथिनस्तु दूरदेशं गत्वापि प्रचाराय क्षमन्ते, इत्यावेदयितुं रथेतस्थुप इत्युक्तम्।

हिन्दी—एक समय उदासीनमुनि सनत्कुमारजी ने विष्णु भगवान् से कहा, "भगवन्! संसार में उदासधर्म के प्रचारार्थ देवगणों की आवश्यकता है।" उत्तर में विष्णु भगवान् ने कहा—बहुत अच्छा। उसी समय इन्द्रादिक देवगण बुला-लिये गये। तब रथारूढ उन देवगणों को भगवान् ने कहा, "उदासीनमुनि सनत्कुमार के साथ मर्त्यलोकमें जाओ, और उदासधर्म के प्रचार में इनकी सहायता करो।" भगवान् की यह आज्ञा सुनते ही देवतालोग लोकोत्तर गति से मर्त्यलोक की ओर चल पड़े। इस प्रकार, मनुष्यों को मनोऽभिलषितफल देने वाले, और सस्नेह प्रेमालाप करते हुए देवगणों ने परस्पर मिल कर भगवान् विष्णु की आज्ञा का सहर्ष पालन किया। तात्पर्य यह है कि भगवान् की आज्ञा-नुसार इन्द्रादि देवगणों ने विश्वभर में उदासधर्म का प्रचार किया। देवताओं के रथ पर चढ़ने का भाव यह है कि पैदल चलकर शीघ्र प्रचार नहीं हो सकता। रथारूढ उपदेशक थोड़े समय में ही बहुत प्रचार कर सकता है। इसी अभिप्राय से महामुनिजी देवगणों को स्वर्ग से ले आए थे।

इसके बाद फिर भी इन्द्रादिक देवगण इस धर्म के काम में आते रहे। जब से इन्द्र ने उदासधर्म की दीक्षा ली तब से तो वह और भी अधिक इसके प्रचार में सहयोग देने लगा। उदासधर्म के प्रचारकों की रक्षा का भार इन्द्र पर था इसी बात को भगवान् वेद निम्नलिखित मन्त्र में स्फुट करते हैं। इधर उधर से दर्शनार्थ देवलोक में आए हुए तपस्वी सिद्धपुरुषों को देवराज इन्द्र उदासधर्म के प्रचारार्थ प्रेरित किया करता था—। मन्त्र। ६।

अर्णांसि चित्पप्रथाना सुदास इन्द्रो गा धान्य कृणोत्सुपारा,
शर्धन्तं शिम्यु मुचथस्य नव्यः शापं सिन्धूनामकृणोदशस्तीः।

(ऋग० मं० ७, सू० १८, मं० ५)

चन्द्रभाष्यम्—इन्द्रेण कश्चित्, श्रद्धालुः, "शिम्यु" नामोदासधर्मप्रचाराय नियुक्तः स चैकदा पारेसिन्धु गन्तु मशक्तः, विपक्षिभिराक्रुष्टः, दत्तकलङ्कश्च खिन्न इन्द्रं तुष्टाव। तदभ्यर्थनां निशम्येन्द्रः सिन्धुनदीर्गाधतां निनाय, तदीयौ विपक्षिभिर्दत्तौ शाप-मिथ्यापवादौ च निराचकारेत्याह—अर्णांसीति नव्यः = स्तुत्यः, इन्द्रः सुदासे = तद्धर्मोपदेशाय शर्धन्तम् = श्रोतृचेतांसि आर्द्रीकुर्वाणम् [ शृधु—उन्दने—इत्यस्मा-च्छतृ प्रत्ययः ] शिम्युम् = तन्नामकं व्याख्यातारम् अकृणोत् = कृतवान् नियुक्तवान्। सिन्धूनाम् = तदाख्यानाम्, सप्तानां नदीनाम्, पप्रथानाचित् = प्रथमानान्यपि, प्रस-रन्त्यपि अर्णांसि= जलानि सुपारा = सुपाराणि, तरितुं शक्यानि, गाधानि = शक्य-तलस्पर्शानि अकृणोत् = कृतवान्। येन शिम्युः पारं गन्तुं शक्नुयादिति भावः। अपि च उचथस्य= स्तोतुः शिम्योः, शापम् = आक्रोशम् अशस्तीः = अभिशस्तीः, मिथ्यापवादाँश्च अकृणोत्=हिंसितवान्। प्रममार्जेति यावत्। कृवि हिंसाकरणयो-श्चेति धातुपाठः।

हिन्दी—एकबार एक शिम्यु नामक महात्मा ने इन्द्र से कहा, भगवन्! मुझे कोई उचित कर्तव्य बतलाइये। उत्तर में देवराज ने उसे उदासधर्म के प्रचार में सारा जीवन लगा देने को कहा। उसी दिन से वह महात्मा इसके प्रचार में जुट गया। भारतभर में वह प्रचार करता करता एक समय सिन्धुदेश में जा पहुँचा। वहाँ पर इस धर्म के विरोधियों ने उसे कष्ट देना चाहा, अतएव वे उसके अलीक दुर्वृत्त लोगों में फैलाने लगे। यहाँ तक ही नहीं, अन्त में प्राणतक ले लेने पर उतर आए। ऐसी विपत्ति के समय में वे सिन्धु से इस ओर आना चाहते थे। परन्तु सिन्धुनद उस समय अपनी पूर्णावस्था में बह रहा था। अतः उसे पार कर लेना कोई आसान काम न था। तब उसने उदासधर्म के प्रचारकविभाग के रक्षक देवराज इन्द्र को स्मरण किया। तत्क्षण देवराज वहाँ पहुँचे और सिन्धु के प्रवाह को धीमा कर दिया। साथ ही विपक्षियों द्वारा उस पर लगाए गये कल्पित आक्षेपों का निराकरण किया।

इसी वृत्त को मन्त्र में संक्षिप्तशब्दों में कहा है। स्तुत्य इन्द्र ने उदासधर्म के प्रचारार्थ वक्तृत्वकलानिपुण शिम्यु को नियुक्त किया। विपत्ति के समय उसे सिन्धु से पार किया और विपक्षियोंद्वारा उस पर लगाए गये झूठे कलङ्कों का समाधान किया।

वैसे तो इस धर्म के प्रचार में अनेकों सिद्ध महात्मा सदैव सहयोग देते रहते थे अतएव प्रचार का काम निरन्तर होता रहता था। परन्तु जब कभी किसी कारणवश इसके प्रचारकविभाग में शिथिलता आ जाती थी तब देवलोक से देवराज इन्द्र स्वयं आकर इसके प्रचारकों को केवल उत्साहित ही न करते थे बल्कि विपक्षियोंद्वारा उनके मार्ग में फैलाए गये जालों को भी काट देते थे। यदि देवराज इन्द्र विपक्षियों की शक्ति को अधिक बढ़ी देखते थे तो अपने वज्रद्वारा उन्हें सदा के लिये सुख की नींद सुला देते थे। यही वृत्त आगामी मन्त्र में स्फुट है। मन्त्र ७।

**ईयु रर्थं न न्यर्थं परुष्णी माशुश्च नेदभिपित्वं जगाम,**

**सुदास इन्द्रः, सतुकाँ अमित्रान रन्धयन् मानुषे वध्रिवाचः।**

(ऋ॰ मं॰ ७, सू॰ २८, मं॰ ९)

चन्द्रभाष्यम्— इन्द्रः=पाकशासनः, सुदासे=शोभनाय-उदासधर्माय तत्प्रचारायेति यावत्, जगाम=गतवान्, पर्यटितवान्, भुवंबभ्राम। किञ्च मानुषे=मनुष्य सम्बन्धिनि लोके वध्रिवाचः=वदन्ती, भाषणसमर्था वाग् वागिन्द्रियं येषां ते वदद्वाचस्तान् वाचालान्, [वर्णविकारश्छान्दसः] सुतुकान्=सुतोकान्-शोभनापत्यान्, अमित्रान्=शत्रून्, उदासधर्मविरोधिनः निहत्य तद्धर्मप्रचारं निष्प्रत्यूहश्चकारेत्यर्थः। ततः किं वृत्तम् इत्याह-ईयुरिति—मानुषे, इत्यपकृष्यते; इन्द्रेण शत्रुवधपुरःसरम् उदासधर्मे प्रचारिते सति मानुषे=मनुष्यसम्बधिनि लोके सर्वेजनाः, अभिपित्वम्=प्राप्तव्यम् अर्थम्=पुरुषार्थम्, धर्मं मोक्षं वा, ईयुः=प्रापुः नन्यर्थम्=ईयुरित्यनुवर्तते। निकृष्टोऽर्थः, न्यर्थः तं निकृष्टपुरुषार्थम् न ईयुः, न प्रापुः परुष्णीम्=प्रोषति, दहति दुःखं ददातीति वा प्रोषणी, सैव परुष्णी, ओकारस्योकारोऽकारविपर्ययश्च छान्दसस्तां सर्वानर्थकरीं संसृतिं, सकार्य्यामविद्यां वा नेत=नैव अशुश्च=प्रापुश्च, सेजुश्चेति यावत्।

अथवा प्रुष्णाति, सेवते, स्निह्यति, पूरयतीतिवा कामुकमनोरथम् सा प्रोषणी सैव परुष्णी तां तरुणीं स्त्रीरत्नमिति यावत्।

अयमभिसन्धिः—यदा शक्रेण सपत्नान् व्यापाद्य उदासधर्मः सकलेऽपि महीतले निष्प्रत्यूहं प्रस्तारितस्तदा लोका स्तद्धर्मदीक्षाग्रहणेन धार्मिका मुमुक्षवश्च बभूवुः न कामुका अर्थलोलुपा वाऽसन्। किंबहुना महावाक्यमन्त्रराजैरविद्या पिशाचिकां विधूय, अतिचटुलायै प्रमदासक्तिकुलटायै प्रदाय च वैराग्यचपेटिकां मुक्तिं भेजु रिति।

एक समय देवराज इन्द्र ने उदासधर्म के प्रचार में कुछ कमी अनुभव की। अतएव वह कुछ दिनके लिये स्वर्ग का सिंहासन छोड़कर सर्वधर्मश्रेष्ठ उदास धर्म के प्रचारार्थ मर्त्यलोक में पहुँचा। यद्यपि उस समय इस धर्म के विरोधिवर्ग भाँति-भाँति के शक्तिसंङ्ग्रह से अजेय हो रहे थे; परन्तु इन्द्र ने उन्हें चुन चुन कर मार दिया और धर्मप्रचार को निर्विघ्न बना दिया। जब फिर संसार के समस्तलोग इस धर्म की छत्रच्छाया के नीचे आ गये तो परमपुरुषार्थ मोक्ष-पाने लगे। उस समय एक भी ऐसा हतभाग्य पुरुष न था जो अपवर्ग के पद पर न पहुँचा हो या पहुँचने की चेष्टा न करता हो। उदासधर्म के पवित्रप्रचार से लोगों में फिर नये सिरे से शुद्धधार्मिक और पवित्रजीवन आ गया। लालची, कामी, क्रोधी, विलासी, पुरुष, उदासधर्म के उपदेशामृत पी कर संसार से विरक्त हो गये। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर अपने वास्तविकस्वरूप शुद्धब्रह्म में जा मिले।

## दीक्षाज्ञा

धीरे-धीरे यह धर्म इतना लोकप्रिय हो गया कि ऋषि महर्षि तक अपनी सन्तान को शिक्षा देते समय उसे उदासधर्म में दीक्षित होने के लिये उत्साहित करते थे। क्योंकि मनुष्यजीवन विताने के पवित्रमार्ग इसी धर्म की शिक्षा से प्राप्त होते थे। इस धर्म में दीक्षित होते ही हरेक व्यक्ति जनता में श्रद्धेय हो जाती थी। उसके आचरणों पर सर्वसाधारण को अटल विश्वास हो जाता था। तात्पर्य्य यह है कि उन दिनों में उदासीन महानुभावों का पवित्र एवं अनुकरणीय जीवन जनता में आदर्श समझा जाता था अतएव लोग भी उन्हीं का अनुसरण करने के लिये इस धर्म में दीक्षित होते और दूसरों को उत्साहित करते थे। महर्षि विश्वामित्र ने अपने लड़कों को जहाँ भाँति भाँति की और शिक्षाएं दीं, वहाँ यह भी कहा कि तुम परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये उदासीन बन जाओ। वे जानते थे कि बिना उदासधर्म की शिक्षा के संसार से विरक्त होना कठिन है। यही बात निम्नलिखित मन्त्रद्वारा स्फुट की जाती है—

उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्, अश्वं राये प्रमुञ्चता सुदासः,
राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्या।

(ऋग्० मं० ३, सू० ५३, मं० ११)

कुशिकाः=कुशिक गोत्रोत्पन्ना मदात्मजा यूयम् चेतयध्वम्=सावधाना अप्रमत्ता भवत। ततः उपप्रेत=प्रकृष्टाः साधनचतुष्टयसम्पन्नाः सन्तः गुरुसमीपे गच्छत। तत्रगत्वा सुदासः=शोभना ऋषिसेवकापेक्षया प्रशस्ता मुनयः उदास उदासीनास्तुरीयाश्रमदीक्षाग्रहणेन-उदासीन मुनयः सन्त इति यावत्। अश्वम्=विराजम्, "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इति शतपथ श्रुत्या अश्वस्य प्रजापतित्वापादनात् तेन च तदधिष्ठितसंसारो लक्ष्यते। तथा चाश्वम् प्रजापत्यधिष्ठितम् कृत्स्नम् संसारम् पीतरसाम्रादिवद्सारत्वालोचनेन प्रमुञ्चत=निःशेषं त्यजत। अथवा अश्नुते व्याप्नोति इति अश्वः=सर्वव्यापी परमात्मा, न श्वयति वर्द्धते इत्यश्वः, वृद्धिह्रासशून्यश्चेतनो वा तं प्रति प्रमुञ्चत प्रकर्षेण मनो दत्त। अशेष पदार्थ परित्यागेन तमेव मनसि निवेशयत। "तमेव जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति (श्रुतिः) कस्मै राये=मोक्षधनलाभाय। नन्वेतदशक्यम् भूयसामन्तरायाणां सद्भावात् इत्याशंक्याह—राजेति-राजा=सर्वेषामधिपतिरीश्वरः प्राक्, अपाक्, उदक्=पूर्वपश्चिमोत्तरेषु सर्वत्र सर्वदा इतियावत्। वृत्रम्=स्वाभिलषितसिद्धिप्रतिवन्धकमन्तरायजातम् जङ्घनत्=भृशं हन्यात्।

[लकारव्यत्ययश्छान्दसः] ईश्वरप्रणिधानेन तत्प्रसादान्तरायनिवृत्तिः सुशकेति भावः। तदुक्तम्—"ततःप्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति" [योग० पाद० १, सूत्र० २९] अथ=अनन्तरम् मुमुक्षु भगवद्भक्तः पृथिव्याः=पृथ्वीसम्वन्धिनि वरे=सर्वोत्तमे गङ्गातीरादौ आ=आगत्य यजाते=यजते। परमात्मनि मनो ददाति निवेशयति, तेन संसाराद्विमुच्यते। भगवद्भक्त्या सर्वविघ्न निराकृतिसंभवेन संसृतिं त्यक्त्वा भवद्भिरपि तथानुष्ठातुं शक्यम्। तस्मान्मनुष्य जनुषः साफल्याय मदादेश परिपालनेऽशक्यत्वसंभावनया मनागपि विलम्वो न विधेय इति तात्पर्यम्।

हिन्दी—महर्षि विश्वामित्र अपने बेटों को शिक्षा देते हैं। बेटो! तुम महर्षि कुशिक के वंशज हो। प्रमाद त्याग दो, और विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, शमदमादि साधन चतुष्टयसम्पन्न होकर गुरु की सेवा में जाओ। सर्वधर्मश्रेष्ठ उदासधर्म की दीक्षा ले कर चतुर्थाश्रमी उदासीनमुनि वन जाओ। मोक्षप्राप्ति के लिये इस असार संसार की निस्सारता का विश्वास कर इसे सर्वथा त्याग दो। न वढ़ता है, न घटता है, इत्यात्मकपरिपूर्ण ब्रह्म के ध्यान में संसार के समस्त पदार्थों को भूल जाना ही श्रेयस्कर है। वेद में लिखा है कि सांसारिक वृथालापों को त्याग कर आत्मचिन्तन—परमकर्तव्य है। परमपुरुषार्थमोक्षप्राप्ति का सुकरमार्ग यही है। इस वृहत् कार्य की सफलता में उपस्थित अनन्तविघ्नों से डर कर चिन्ता में मत पड़ो। वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर आपके इस पवित्रकार्य की सफलता के प्रतिवन्धकविघ्नों का सर्वत्र-सर्वदा नाश करे। ईश्वर का ध्यान ही विघ्ननिवृत्ति के लिये पर्य्याप्त है। मोक्षाभिलाषी भगवद्भक्त किसी पवित्र नदी के तट पर, अथवा किसी पर्वत की चोटी पर रहना आरम्भ करता है। आत्मचिन्तन में तत्पर वह मुमुक्षु ब्रह्म का साक्षात्कार कर के सांसारिकवन्धनों से सदाके लिये मुक्त हो जाता है। अतः भगवद्भक्ति में विश्वास करके अपने मानवजन्म की सफलता के लिये मेरी आज्ञा का पालन करो। इस में विलम्ब करना हितकर नहीं।

## दीक्षा.

इस प्रकार विश्वामित्र की शिक्षा से प्रभावित हो कर कुशिक महानुभाव इस परमपवित्र धर्म में दीक्षित होने को तैयार हो गये। देवराज इन्द्र ने भी इसी सुअवसर को अच्छा समझ कर कुशिक महानुभावों के साथ ही महर्षि विश्वामित्र से उदासधर्म की दीक्षा ले ली। इसी वृत्त को वेदपुरुष निम्नलिखित मन्त्र में कहते हैं। (मन्त्र ९)

**महाँ ऋषि र्देवजा देवजूतोऽस्तम्नात् सिन्धुमर्णवम् नृचक्षाः,**
**विश्वामित्रो यदवहत् सुदास मप्रियायत् कुशिकेभिरिन्द्रः।**

(ऋग्० मं० ३, सू० ५३, मं० ९)

चन्द्रभाष्यम्—महान् = तपसा लब्धप्रभूतसामर्थ्यः, ऋषिः = सर्वार्थदर्शी, देवजा= देवानां सद्गुणैर्द्योतमानानाम् शिष्याणां जनयिता, कारयिता, देवजूतः = देवैः–देवतुल्यैः, जूतः, जुतः, गतः [ दैर्घ्यं छान्दसम् ] यस्य सकाशे भूयाँसः शिष्याः दीक्षामादातुं गच्छन्ति स्मेति भावः। नृचक्षाः = नृणां स्वसमीपमागतानाम् मानवानाम् चक्षाः, धर्मब्रह्मणोरुपदेष्टा। अर्णवं = कर्मोदकयुक्तम्, सिन्धुम् = संसृतिसागरम्, जन्ममृत्यु परम्परा रूपम्; अस्तम्नात्=ब्रह्मविद्याप्रदानेन रुद्धा मकरोत्। ब्रह्मणि साक्षात्कृते समूलाविद्योच्छित्त्या संसृते रसंभवात्। पूर्वानुष्ठितकर्मणाम् ज्ञानाग्निना भस्मीकरणाच्चेति भावः। विश्वामित्रः = तन्नामा कश्चिदुदासीनर्षिः, यत्=यदा सुदासम्=शोभनमुदासम्, औदासीन्यम्–पञ्चानामपि देवानाम् भवभानुभगवतीगणपतिश्रीपतिनामुपासनायाः समभावेन–अङ्गीकरणात्, वैष्णवादिभेदप्रयुक्तकलहराहित्येन प्रशस्ता मौदासीन्य दीक्षाम् अवहत्=कुशिकोपेतं शक्रम् प्रापयत्। तस्मै यदौदासीन्य दीक्षामदादिति भावः, तदा कुशिकेभिः = कुशिक गोत्रोत्पन्नैः, विश्वामित्रवंशजैः सह इन्द्रो=देवराजः अप्रियायत्=प्रिय इवाचरत्। सुहृद्व्यवहार मकरोदिति, कुशिकाना मिन्द्रस्य च–एकस्मात्, विश्वामित्रात् गुरोर्गृहीत दीक्षत्वेन गुरुभ्रातृभावादिति भावः। सु+उद्+पूर्वादास् धातो र्भवि घञ्। "दाशराज्ञ" इत्यत्रदैर्घ्य मिव ह्रस्वत्व मत्र छान्दसम्।

सायणस्तु देवपदस्य तेजःपरताम्, सिन्धुशब्दस्य नद्यर्थकताम्, अवहत् इत्यस्य अयाजयदित्यर्थताम्, सुदास मित्यस्य तन्नामकं राजानम्, इत्यर्थश्चाह–सोऽपि नो नः प्रतिकूलः–सु–सुसेविता उदास उदासीना येनेति व्युत्पत्त्या, उदासीनसेवकत्वेन राज्ञस्तन्नामलाभेन उक्तोदास श्रौतताया अनपायात्, अतएव कुशिकैः सह इन्द्र स्तद्याजनम् दृष्ट्वा स्वसम्प्रदायानुयायिसेवकस्य सुदासः देवयजनेन महान् धर्मो भविष्यति। ततश्चासौ–अस्मानुदासीनान् वहुतरं सेविष्यते इतिचाकलय्य प्रससार, वस्तुतः चन्द्रभाष्यार्थ एव साधीयान् इति, सुप्रतीतत्वात् वहेर्याजनार्थकत्वादर्शनाच्चेति। अत्र उद्पूर्वादासधातोः क्विप् प्रत्ययेन उदासशब्दस्य सिद्धिरवगन्तव्या। उदासीन, उदासी, उदाः, इत्येते समानार्थकाः।

हिन्दी—तपस्वी, सिद्ध, उदासीनर्षि, विश्वामित्र ने धर्मशिक्षा और ब्रह्मविद्या के उपदेशामृत से शरणागत मुमुक्षु-मानवों को इस सांसारिक आवागमन से बचा लिया। अतएव बड़े बड़े विद्वान् और सद्गुणी पुरुष उनसे दीक्षा लिया

करते थे। राजे महाराजे तथा ब्रह्मज्ञानाभिलाषी, विरक्तमहात्मा जनधर्म तथा ब्रह्मविद्या विषयक सन्देह निवारणार्थ सेवा में सदैव उपस्थित रहा करते थे। एक समय महर्षि विश्वामित्रजी ने अपने बहुत से कुशिकवंशीय शिष्यों के साथ जब देवराज इन्द्र को भी अन्य धर्मों से श्रेष्ठतम ( कारण, शाक्त, वैष्णव, शैवादि मतों में एक देवता का अधिक सम्मान और दूसरों का अपमान आपस में वैर, विरोध, और कलह का कारण बन जाता है। उदासधर्म में शङ्कर, सूर्य, शक्ति, विघ्नेश, विष्णु, इन पाँचों की समभाव से पूजा होती है ) अतः उदासीन महानुभावों में प्रतिदिन शुद्ध भ्रातृभाव और प्रेम की मात्रा अधिक बढ़ती है। उदास धर्म की दीक्षा दी। तब से कुशिक ऋषि के वंशजों के साथ देवराज इन्द्र का हार्दिक प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार चला आता है। वे और इन्द्र परस्पर सतीर्थ अर्थात् गुरुभ्राता हैं।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है कि, तेजस्वीशिष्य तथा जिज्ञासुओं से सेवित, तपस्वी, सिद्ध, धर्मब्रह्मोपदेष्टा महर्षि विश्वामित्र ने अपनी अणिमादिक योगशक्तियोंद्वारा प्रसिद्ध सिन्धु नद को थाम लिया और सुदास राजा से एक बृहत् यज्ञ कराया। उस यज्ञ में कुशिकवंशीय भी सम्मिलित थे। उस यज्ञ से इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ। यह अर्थ भी पूर्वोक्त चन्द्रभाष्य का ही पोषक है। क्योंकि राजा सुदास (सु सेविता उदास उदासीना येनेति व्युत्पत्त्या) उदासीन मुनियों का सेवक था। देवराज इन्द्र की अधिक प्रसन्नता का कारण भी यही था कि जिस सम्प्रदाय की दीक्षा इन्द्र ने ली थी वह भी उसी का सेवक था। दूसरा कारण यह भी था कि इन्द्र के सतीर्थ कुशिकवंशीय उदासीनमहानुभाव उस यज्ञ में कार्य कर्ता थे। देवराज का दीक्षागुरु उदासीनर्षि विश्वामित्र उस यज्ञ का प्रेरक था। अतः सुदास के यज्ञ को इन्द्र ने अपना ही यज्ञ समझकर, अधिक प्रसन्नता प्रकट की। वस्तुतस्तु चन्द्रभाष्य का अर्थ ही सुप्रतीत तथा युक्ति युक्त है। क्योंकि सायण ने "अवहत्" पद का अर्थ "अयाजयत्" अर्थात् यज्ञ कराया यह लिखा है। व्याकरण की मर्यादानुसार "वह" धातु का अर्थ यज्ञ कराने में कहीं पर भी नहीं मिलता।

वह भी एक समय था जब कि उदासधर्म की दीक्षा के लिये लोग तरसते थे। वह मनुष्य अपने आपको कृतार्थ समझता था, जो इस की दीक्षा ले चुकता था। जिन दिनों में इन्द्र और वरुण इसके प्रचार में जुटे हुए थे तब महर्षि वसिष्ठ के शिष्य तृत्सुओं ने उदासधर्म की दीक्षा ली। यह प्रकरण निम्नलिखित मन्त्र से स्फुट किया जाता है। ।मन्त्र।१०।

**दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणौ अशिक्षतम्,**
**श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनः धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः।**

( ऋग्० मं० ७, सू० ८३, मं० ८ )

चन्द्रभाष्यम्—इन्द्रावरुणौ, दाशराज्ञे=छान्दसं दैर्घ्यं विभक्तिविपर्ययश्च, दशभिः दशसंख्याकैः, राजभिः, अष्टसु योगाङ्गेषु प्रथमोपदिष्टत्वेन विविधशक्त्याधायकत्वेन

च राजवन्मुख्यैः, अहिंसादिभि र्यमैःपञ्चभिः पञ्चभिश्च शौचादिभिर्नियमैः परियत्ताय=परिवृताय, वेष्टिताय, सुदासे = शोभनाय उदासे, तदाख्यसम्प्रदायविशेषप्रचाराय, विश्वतः=विश्वासु दिक्षु, आद्यादित्वात्तसिः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव, इति पुंस्त्वम् अशिक्षतम्=उपादिशतम्, इन्द्रो वरुणश्च सर्वत्रौदासीन्यसम्प्रदायप्रचारं कुर्वातेस्मेतिभावः। तमेव सम्प्रदायं वसिष्ठशिष्याङ्गीकृतत्वेन वेदपुरुषः स्तौति—यत्रेति—यत्र= यस्मिन् उदास सम्प्रदाये वर्तमाना इति शेषः, श्वित्यञ्चः=श्वितं, श्वैत्यम्, निष्कामकर्मानुष्ठानेन अन्तःकरणविशुद्धिमञ्चन्तः-गच्छन्तः, विशुद्धान्तःकरणा इति यावत्। कपर्दिनः=जटिलाः, तृत्सवः=तत्त्वसाक्षात्कारेण समूला मविद्यां हिंसितुम् तिरस्कर्तुं वा इच्छवः, अतएव तन्नाम्ना ख्यातिङ्गताः केचित् वसिष्ठशिष्याः धीवन्तः=ज्ञान वन्तः, नमसा=भिक्षान्नेन, धिया=स्तवनेन च असपन्त=असचन्तअसेवन्त स्वगुरुं वसिष्ठ मिति शेषः। परमगुरुभक्तै र्जटिलैः, मुमुक्षुभिस्तृत्सु नामकैः, वसिष्ठशिष्यैः, य उदाससम्प्रदायः परिग्रहीत स्तमेव जनताया मिन्द्रावरुणौ सर्वासु दिक्षु प्रचारयामासतुः। सुदासे— सु+उद्+पूर्वादास्धातोर्भावे संपदादित्वात्क्विप्। तुमर्थाच्चेति चतुर्थी। असपन्त —सेवनार्थात् पच् धातोः कर्तरि लङ् चस्य पश्छान्दसः। तृत्सवः—उतृदिर् हिंसानादरयो रित्यस्माद्धातोः सन्यभ्यासलोपश्छान्दसः।

हिंदी—वरुण और इन्द्र, इन दोनों देवताओं ने सर्वधर्मप्रधान उदासधर्म का प्रचार दशों दिशाओं में किया। अन्यधर्मों से इस में विशेषता यह है कि इस में, योग के आठ अङ्गो में प्रथमोपदिष्ट, और भाँति भाँति के कठिन व्रतों से सेवनीय, अतएव नरों में नरेन्द्र की तरह योग के अङ्गों में प्रधान, पाँच यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और पाँच नियम (शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) इन दशों का पालन सयत्न किया जाता है। यह यह लोकप्रियधर्म है जिसे महर्षि वसिष्ठ के शिष्य तृत्सुओं ने सहर्ष ग्रहण किया, इस वृत्त को मन्त्र का उत्तरार्द्ध स्फुट करता है। उदासधर्म की दीक्षा लेकर निष्कामकर्म के अनुष्ठानद्वारा, शुद्धान्तःकरण, जटाधारी, विज्ञवर, महर्षि वसिष्ठ के शिष्य तृत्सु (तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा समस्त अविद्या के नाशाभिलाषी) अपने गुरु वसिष्ठ की सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा, करते थे। वसिष्ठ जैसे महर्षि के शिष्यों ने जिस उदासधर्म का ग्रहण किया, इन्द्र और वरुण इन दोनों ने उसी का प्रचार सर्वत्र किया।

मूल में "दाशराज्ञे परियत्ताय" यह पाठ है, इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि, एक समय ऋषि, मुनि, सेवक, त्रिशाखोपेत उदासधर्म ही सार्वभौमधर्म था। (वाह!! क्या ही सौभाग्य का समय होगा) संसार के कोने कोने में शान्ति का राज्य था। यद्यपि इस धर्म के प्रचारद्वारा संसार के प्रायः समस्त मनुष्य शुद्धान्तःकरण और सद्गुणी हो चुके थे, परन्तु प्रकृति के नियमानुसार कुछ धूर्त्त, वेदनिन्दक ऐसे लोग अभी शेष थे जिनका प्रतिक्षण इसी यत्न में बीतता था कि येनकेन प्रकारेण इस सम्प्रदाय के पवित्र प्रचार को रोका जाय। धूर्त्तों की धूर्त्तता इतनी ही न थी, उन्हों ने इसके विरुद्ध बहुत से राजाओं को भी भड़का दिया। कुछ राजाओं ने तो इस आन्दोलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया; परन्तु दश राजे तो अपने सैन्यदलबल से सज्जित होकर इसे मिटाने के लिये मैदान में उतर ही आए। उस समय यद्यपि कुछ देर के लिये इसका भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा था

और इसके प्रचारक तथा सेवक व्याकुल हो उठे थे, परन्तु इन्द्र और वरुण इस सर्वस्वनाश को चुपचाप कैसे सह सकते थे। जिस धर्म-वृक्षको उन्हों ने भाँति भाँति के कष्ट उठाकर पल्लवित और पुष्पित किया, संसार की कौन बड़ी से बड़ी शक्ति उन दोनों की उपस्थिति में इसे उखाड़ कर फेंक सकती थी।

अन्त में देवगणों के आगे राजाओं को पराजित होकर अपनी भूल पर पश्चाताप करना पड़ा। इन्द्र और वरुण की आज्ञानुसार वे दस राजे उदासधर्म-ग्रहणानन्तर आ-जीवन इसीका प्रचार करते रहे। इस पूर्वोक्तवृत्त का पूराविवर्णन हम ऋग्वेद मं० ७ सूक्त ८३ मं० ७ के भाष्य में देंगे।

कर्मवीर वे परशुराम, जिन्हों ने २१ वार पृथिवी को तामसीशासकों से मुक्त किया, इस उदासधर्म में दीक्षित हुए। निम्नलिखित मन्त्र में इस के इलावा यह भी स्फुट किया जायगा कि इन्द्र और वरुण इस धर्म के नेता रह चुके हैं। इन्हें इस बात का पूर्ण अधिकार था कि जो कोई इसके प्रचार में वाधा पहुँचाए, चाहें वह किसी वर्ण का भी क्यों न हो उसे ये अपराधानुसार दण्ड देते थे। (मन्त्र ११)

**युवां नरा पश्यमानास आप्यम् प्राचागव्यन्तः पृथु पर्शवो ययुः,**
**दासा वृत्रा हतम् आर्य्याणि सुदास मिन्द्रावरुणाऽवसावतम्।**

(ऋ० मं० ७, सू० ८३, मं० १)

चन्द्रभाष्यम्—इन्द्रावरुणा=इन्द्रावरुणौ, युवाम्, नरा=नेतारौ, सर्वत्रौदासीन्यमत-प्रचारकतया तत्सम्प्रदायाग्रगण्यौ। पश्यमानासः=पश्यन्, गव्यन्तः=आत्मनो गां गुरू-पदेशरूपाम्, सोऽहमित्याकारिकाम् मन्त्ररूपां वाच मिच्छन् जिघृक्षन्, पृथुपर्शवः= पृथुपरशुः, पृथुर्विपुलः, क्षत्रियवधार्थम् धृतः परशु, कुठारो येन, सः। त्रिसप्तकृत्वो राजन्यानाम् निहन्ता, परशुरामः प्राचा=प्राचीनम्, आप्यम्=प्राप्तव्यम्, सुदासम्= उदासनं सुदास इत्यत्र उत्पूर्वादासे र्भवि घञ्। उकारस्य पृशोदरादित्वात्सुडागमः, यथा हंसशब्दे हन्धातो रचि सुगागमस्तद्वत्। तमुदासाख्य संप्रदायविशेषम् ययुः= जगाम, प्राप। तदीय दीक्षां जग्राहेतियावत्। यस्योदास सम्प्रदायस्य सञ्चालका विन्द्रावरुणौ स नूनं सर्वोत्तमः। गृहीतश्चायं ममपित्रापीति विचार्य्य परशुराम उदास-दीक्षां गृह्णातिस्मेति सरलार्थः।

तयोर्नेतृकृत्यमाह—किञ्च, भो इन्द्रावरुणौ! वृत्रा=वृत्राणि, आवरकाणि, तत्स-म्प्रदायप्रचारप्रतिरोधकानि, दासा च=दासानि, हीनानि, आर्याणिच=श्रेष्ठानि च परिपन्थिजातानि हतम्=व्यापादयतम्। नाशयतम्। अपि च अवसा=रक्षणेन, तत्सा-धनेनेति यावत्। अवनम्=रक्षतम्। सुदास मिति सम्बन्धः। इदं हि नेतृ कृत्यं स्वमतप्रचाररोधकः, कश्चिद्धीनः श्रेष्ठोवा स्यात्तद्विधूननम् विविधैरुपायै स्तत्संरक्षणञ्च तस्माद्युवाभ्यामपि नेतृत्वात् तथानुष्ठेयम्। पृथुपर्शव इत्यादिषु छान्दसो वचन व्यत्ययोऽकारलोपश्च। परशुरामस्य भगवदवतारत्वात्-आदरार्थंवा वहुवचनम्। एवं दासानि, आर्य्याणि, चेत्यत्रलिङ्ग व्यत्ययश्छान्दसः।

हिन्दी—हे इन्द्र और वरुण! आप दोनों इस उदासधर्म के नेता हैं। आपने ही सर्वत्र घूम-घूमकर, संसार के समस्त मनुष्यों को इस धर्म का उपदेशामृत पिलाया है। अतएव इस सम्प्रदाय में आप अग्रगण्य हैं। वीरो! इस धर्म के प्रचार में

रुकावट डालनेवाला शूद्र हो या आर्य्य, नीच हो अथवा श्रेष्ठ, सब का नाश करदो और भाँति-भाँति के साधनों से इस उच्च सम्प्रदाय की रक्षा का पूरा प्रयत्न करो। वस्तुतस्तु सच्चेनेता का यही कर्तव्य है कि देश और जाति के हित में बाधक गद्दारों को पछाड देना ओर अपने प्राणपण से भी जाति और जन्मभूमि के मान की रक्षा करते रहना। आप दोनों इस सम्प्रदाय के अग्रगण्य-नेता हैं अतः आपका यही कर्तव्य है कि इसका पूर्णतया प्रचार करें। इस प्रकार उदाससम्प्रदाय की महिमा को सुनकर, "सोहं सोहं" इत्यात्मकमन्त्ररूपवाणी के ग्रहणाभिलाषी, प्रजा में अशान्ति फैलानेवाले तामसी क्षत्रियों को उचित दण्ड देने की इच्छा से वृहत्पशु-धारी, उपद्रवीक्षत्रियों को २१ बार पराजित करनेवाले रेणुका के दुलारे, जमदग्नि के प्यारेपुत्र, परशुराम ने स्वपितृगृहीत, अतिपुरातन और धारणकरनेयोग्य उदासधर्म का ग्रहण किया। जिस सम्प्रदाय के रक्षक और सञ्चालक इन्द्र और वरुण इतने बड़े बड़े देवता हैं, उस की सर्वोत्तमता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। भला फिर कर्मवीर परशुराम जैसे वीर इस धर्म की दीक्षा क्यों न लें।

अश्विनीकुमारों ने भी उदासधर्म के प्रचार में पर्य्याप्त भाग लिया। महर्षि निमद को इन्हीं की कृपा से उदासधर्म की दीक्षा मिली, इस वृत्त का पूर्ण ब्योरा निम्न लिखित मन्त्र में दिया जाता है। मन्त्र। १२।

**याभिः पत्नीर्विमदायन्यूहथू राघवाय याभिररुणीरशिक्षतम्;**
**याभिः सुदास ऊहथुः, सुदेव्यन्ताभि रूषु ऊतिभिरश्विना गतम्।**

(ऋग्० मं० १, सू० ११२, मं० १९)

अश्विना = हे अश्विनौ, सुदासे = सुसेवितो उदास उदासीनमुनयो येन स सुदाः, कश्चिदुदासीन सेवकस्तस्मै, (उत्पूर्वादासेः कर्तरिक्विप्) शब्दश्चाय मुदासीनो दास्युदास समानार्थक इत्युक्तम्। पश्चात्तस्य सु शब्देन बहुव्रीहिसमासः। विमदाय = विगतः मदोऽहंकारः साधुसेवनेन यस्य स विमदः, तस्मै, तन्नाम्ने कस्मैचिदृषये पत्नीः=पत्नीं भार्यां पुरुमित्रतनयाम् याभिरूतिभिः=श्रवनशक्तिभिः न्यूहथुः=नितरां प्रापितवन्तौ। (घ) इति पादपूर्णः। तथा याभिः वा= वां, युवाम् अनुभूतगार्हस्थ्याय, जातवैराग्याय, पश्चात्, अरुणीः=अरुणवर्णाः कृष्णमिश्रितरक्तरूपाः* कौपीनकन्थाशाटिकाः काषायवासांसीति यावत्, आ=अभिमुख्येन अशिक्षतम्=अदत्तम्।

कस्माचिद्गुरोरदापायतम्। सुदेव्यं=शोभना देवाः-सुदेवा, विष्णु यमेन्द्र प्रमुखा स्तेपु भवंस्थितं ब्रह्मविज्ञानम् याभिः=ऊतिभिः, ऊहथुः=प्रापितवन्तौ (ऊ) पादपूर्णः। सूतिभिः=शोभनाभिरूतिभिः, ताभिः=पूर्वम् निर्दिष्टाभिः, लोकोत्तराभिः, शक्तिभिः, आगतम्=आगच्छतम्। भो अश्विनौ? लोकोत्तरा युवयो रक्षणोपायाः, येषां प्रभावात् —उदासीनमुनिसेवकत्वेन विगताहंकारतया विमदनाम्नाख्यातः कश्चिदृषि र्दुर्लभां तरुणी ललामभूताम् पुरुमित्रतनयाम् पूर्वं लेभे। पश्चादुदासदीक्षा ग्रहणावसरे जातवैराग्यः कापायाम्वराणिधृत्वा चतुर्थाश्रमं विवेश। ततो लब्धब्रह्मविज्ञानः संसाराद-स्माद्विमुक्तः किंबहुना भवतोः करुणा किन्न कर्तुं पार्यते। तस्मादस्मासु तथैव दयनीयम् दयार्द्रचेतोभ्यां भवद्भ्याम्। इति सारम्।

* अरुणः कृष्णमिश्रित रक्तवर्णविशिष्टः। (शब्दकल्पद्रुमः)

हिन्दी—अश्विनीकुमारो ! आपकी ही असीमदया से महर्षि विमद ने पुरुमित्र की बेटी को अपनी धर्मपत्नी बनाया। आप दोनों ने संसार से विरक्त विमद को उदासधर्म की पूर्णदीक्षा दिलाई; अर्थात् किसी उदासीनमुनिद्वारा दीक्षित करा कर भगवे वस्त्रादिकों का धारण करवाया। तब चतुर्थाश्रमी विमद को, उदासधर्मविहित यमनियमों के परिपालन और आपके अतुलप्रताप से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई। जब कभी आपके किसी उदासीनप्रेमीभक्त ने आपका मन से आह्वान किया, तत्क्षण, अलौकिकशक्तियों को साथ लिये आप दोनों ने उसे दर्शन देकर कृतार्थ किया। आपकी महिमा अनिर्वचनीय है। आपके प्रभाव से उदासीनमुनिसेवक महर्षि विमद ने गृहस्थाश्रम के अनन्तर चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेकर ब्रह्मज्ञानद्वारा परमपुरुपार्थ अपवर्ग को पा लिया।

## " देवदया "

वैसे तो हरेक देवता की सहानुभूति उदासीनों के साथ होती थी, परन्तु इन्द्र और वरुण तो इस की सेवा में प्रतिपल उपस्थित रहा करते थे। जब कभी इस धर्म पर सङ्कट की आन्धी आई तत्क्षण सहायतार्थ इन्द्र और वरुण पहुँच जाते थे। उदासधर्म के साथ इन्द्रादिकों की इतनी सहानुभूति देख कर अन्यदेवगण भी इसे अपना प्याराधर्म समझते थे। अतएव उदासीन महानुभावों की प्रार्थना सुनते ही तमाम देवगण नियत स्थान पर पहुँच जाते थे। इसी वृत्त को भगवान् वेदने निम्नलिखित मन्त्र में इस प्रकार लिखा है। मन्त्र। १३।

**दश राजानः समिता अयज्यवः सुदास मिन्द्रावरुणा न युयुधुः, सत्या नृणा मद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन् देवहूतिषु।**

( ऋग्० मं० ७, सू० ८३, मं० ७ )

चन्द्रभाष्यम्—इन्द्रावरुणा=हे इन्द्रावरुणौ ! अयज्यवः=देवपूजाविमुखाः अमैत्रीशीलाः, क्रूरप्रकृतयः, अदानशीला, बद्धमुष्टयः, मुन्यादिवित्तापहरणनिक्षिप्तनयनाः, समिताः=सङ्गताः, दशराजानः=वर्णितपूर्वाः सुदासम्=युष्मद्गृहीतमुदासधर्मं तद्धर्मानुयायी तत्संज्ञं राजानं वा [सुदासः कस्मात् ? सु सेवितोदासीनो भवतीति तन्नाम निरुक्तेः] न युयुधुः=न युद्धेन नाशयामासुः। न युद्धेन नाशयितुं शेकुः-प्रभवन्तिस्मेति यावत्। अद्मसदाम्=अद्म-अन्नम्, तन्निमित्तम् सीदन्ति गृहात्गृहान्तरं गच्छन्ति-इत्यद्मसदो भिक्षुका मुनयस्तेषाम् नृणाम्=नेतॄणाम्, ऋषिसेवकगुरुत्वेन मुख्यानाम्, एतच्चोपलक्षणम् ऋषिसेवकानाम्; उपस्तुतिः=अभ्यर्थना सत्या=सफला अभूदिति शेषः। वचनव्यत्ययेनाभवदितिवान्वयः। सफलत्वञ्च तदाकरणनेन युवयोरागमनमित्यभिप्रायः।

न केवल मेतावदेव किं तर्हि भवप्रसादात्—एषाम्-मुन्यादिभेदेन भिन्नानां सर्वेषामुदासीनानाम् देवहूतिषु=देवाह्वानेषु देवाभ्यर्थनासु कृतास्विति यावत्। देवा अभवन्=देवाः प्रादुर्भवन्तिस्म।

एतदुक्तं भवति—अहो ! एतेषु भवतोः करुणातिरेको येन यं यं देवम् एते स्वरक्षणाय प्रार्थयन्ते स्म, स स एव एतत्प्रार्थनासमय एवागत्यानुगृह्णातिस्म न केवलं भवन्तावेवेति।

हिन्दी—देवतओं के निन्दक, विश्वासघाती, निर्दय पापात्मा, परवित्तापहारक, ऋषिमुनियों के द्वेषी, द्वितीय मन्त्र में सूचित दसराजे, रणभूमि में उदास धर्माव-लम्बियोंका बाल भी बांका न कर सके। हे इन्द्र! हे वरुण! यह सब कुछ आपकी कृपा का ही परिणाम है। उदासीन ऋषि और सेवकों के नेता मुनियों की हार्दिक स्तुति आपके सहानुभूति पूर्ण आगमन से सफल हुई। अतएव इन उदा-सीनों ने जिस देवता का आह्वान किया तत्क्षण वह वहीं आ उपस्थित हुआ। तुम दोनों का प्रताप ही देवताओं के आगमन का प्रधान कारण हुआ। अन्यथा देवतालोक शीघ्र ही किसी की ओर ध्यान नहीं देते।

## " रक्षा "

वेदों के पारायण से पता चलता है कि उदास धर्मपर अनेकों सङ्कट आए और चले गये। बहुतवार तो ऐसा भी हुआ कि संसार की बड़ी बड़ी शक्तियाँ इस के विरुद्ध आन्दोलन करने लगीं। इतना होने पर भी सृष्टि के आरम्भ से द्वापर के अन्त तक इसका स्रोत निरन्तर निर्विघ्न बहता रहा। हमें वेदों के मन्त्रप्रमाणरूप में मिलते हैं, जब कभी कोई संसार की नास्तिक शक्ति इसके विरुद्ध उठ खड़ी होती थी; तो देवगणों के साथ देवराज इन्द्र वहाँ बहुत शीघ्र पहुँच जाया करते थे इन्हें देखते ही विरुद्ध शक्तियाँ छिन्न भिन्न हो जाती थीं और उदासधर्म का प्रचार फिर निर्विघ्न होने लगता था। उदासधर्म का प्रचार तथा रक्षा का कार्य अधिक इन्द्र पर ही अवलम्बित था। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये वेद मन्त्र लिखे जाते हैं। मन्त्र। १४।

**इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रतिभेदं वन्वन्ता प्रसुदास मावतम्,**
**ब्रह्माण्येषाम् शृणुतम् हवीमनि सत्या तृत्सूनाम् अभवत्पुरोहितिः।**

(ऋग्० मं० ७, सू० ८३, मं० ४)

चन्द्रभाष्यम्—हे इन्द्रावरुणा = इन्द्रावरुणौ, वन्वन्ता = वन्वन्तौ, जगदीश्वरा दुदाससंप्रदायस्यहितं याचमानौ, तत्प्रतिपक्षवर्गं हिंसन्तौ वा, अतएव वधनाभिः = हननकारकैः, शत्रुप्रयुक्तास्त्रैः, अप्रतिभेदम् = अप्रतिगतभेदम्, अनुत्पन्ननाशम् सुदा-सम् = उदासाख्यसंप्रदायम् प्रावतम् = प्रकर्षेणारक्षतम्। युष्मत्प्रभावान्नैनं सम्प्रदायम्, शस्त्रपाणयोऽपि शत्रवः, नाशयितुं शेकुः। प्रत्युत भवच्छस्त्राघातैः स्वयं-विहताः। यतो भवन्तौ सदैवास्य सम्प्रदायस्य हितं कामयेते स्मेति। एषाम्= उदासीनानाम्, तृत्सूनाम्=तन्नामकमुमुक्षुविशेषाणाम् हवीमनि=देवासुरसङ्ग्रामे सात्त्वि-कादिभावानां मिथः संघर्षे छान्दोग्यादौ स्फुटं निरूपिते, ब्रह्माणि=बृहन्ति, शुद्धब्रह्मप्र-तिपादकत्वात् महान्ति सोऽहमित्यादीनिवाक्यानि, सात्त्विकभावैः, राजसतामसभावा-नामभिभवायाम्रेडितानि, श्रृणुतम्=श्रुतवन्तौ पुरोहितिः=पौरोहित्यम् मम वसिष्ठस्य, सत्या=सत्यम्, सफलम् अभवत्=अभूत्। उदासदीक्षादानावसरे मदुपदिष्टोक्तमहावा-क्याभ्यासेनाभिभूतरजस्तमस्कानाम् समुद्रिक्तसत्त्वानाम्, लब्धब्रह्मसाक्षात्कारलक्षण संग्रामविजयानाम्, मुक्तिचिन्तामणिसमासादनादितिभावः।

हिन्दी—इन्द्र और वरुण उदाससम्प्रदाय के शुभचिन्तक हैं। वे परमात्मा से इसकी उन्नति के लिये प्रतिक्षण प्रार्थना करते रहते हैं। उदासधर्म के द्रोहियों को ये अपराधानुसार उचित दण्ड देते हैं। यही कारण है कि विपक्षियोंद्वारा किये गये अनेकों आन्दोलन इसके प्रचार को रोकने में असमर्थ रहे। जनता की अधन्यता से जब कभी उदासधर्मरवि को विपक्षिवादलों ने आच्छादित करना चाहा, तत्क्षण इन्द्र, वरुण, वायु ने प्रचण्डरूप धारण कर विपक्षिवादलों को खण्ड-खण्ड कर दिया। धर्मदिवाकर, अपने अद्भुतप्रकाश से, फिर जनता के अज्ञानान्धकार को दूर करता हुआ विलक्षणढंग से चमकने लग जाता था। संसार में प्रतिक्षण हो रहे देवासुर संङ्ग्राम; अर्थात् सात्त्विकादिभावत्रय के आपस के संघर्ष में सात्विकभावद्वारा राजस और तामस भावों को दवाने के लिये उदासीनऋषि वसिष्ठ के योग्य शिष्य तृत्सुओं के मुख से, हे इन्द्र और हे वरुण! आपदोनों ने सोहम् २ इत्यादि शुद्धब्रह्म-प्रतिपादक वेदवाक्य सुने।

महर्षि वसिष्ठ इस बात से वड़े प्रसन्न हुए कि उनके योग्यशिष्य तृत्सुओं ने अपने सात्त्विकवलद्वारा राजस और तामस शक्तियों पर विजय पा ली है। उनकी अधिकप्रसन्नता का दूसरा कारण यह भी था कि उनका शिष्य-शिक्षण सफल हुआ। जिस धर्म की रक्षा का ध्यान केवल मनुष्यों पर ही नहीं वल्कि देवतागण भी जिस में श्रद्धा से भाग लेते हैं, क्या यह संभव है कि संसार को कोई भी शक्ति उसे क्षति पहुँचा सके? यद्यपि अनेकों घटनाएं ऐसी घट चुकी हैं जिन्होंने इसकी स्थिति को एकवार तो डावांडोल कर दिया था, परन्तु विना किसी हानि के वे घटनाएं इसके ऊपर से चली गईं। दृष्टान्तार्थ, एक समय वहुत से राजा इसके विरुद्ध हो गये और लगा देवासुर संग्राम होने। प्रथम तो ऋषि, मुनि, सेवक, त्रिविध उदासीनों ने अत्यन्त यत्न से विपक्षियों का सामना किया, परन्तु उधर अधिक एवं दुष्टप्रकृति विपक्षियों को उसी प्रकार डटे देख इन्हों ने इन्द्र और वरुण का आह्वान किया। फिर क्या था, देवतागणों के पहुँचते ही राजाओं को पराजित होना पड़ा। यथा। मन्त्र १५।

**युवां हवन्त उभयास आजिषु, इन्द्रश्च वस्वो वरुणश्च सातये,**
**यत्र राजभिर्दशभिर्निवाधितम् सुदासमावतम् तृत्सुभिः सह।**

(ऋ० मं० ७, सू० ८३, मं० ६)

चन्द्रभाष्यम्—पुरा किलासीत्-उदाससंप्रदायो मुनि-ऋषि-सेवक भेदेन त्रैविध्यमापन्नः सन् समुन्नतेः परांकाष्ठामधिरूढ स्तदुत्कर्षं मसहमानः कश्चिदसूयकः, तदपवादं भूयसां भूपानां सकाश मुपेत्य चक्रे। तेषु वहवो नृपास्तदुक्तौ मनः प्रत्ययं न चक्रुः। दशपुनाराजान स्तदपवादश्रवणसञ्जातक्रोधा विलुप्तवोधा लोहितलोचनाः सर्वथा वय मुदास मुत्सादयिष्यामः-इति विहितप्रतिज्ञा स्तथा कर्तुं बद्धपरिकरा वभूवुः। तदेममिन्द्रावरुणौ रक्षितवन्तौ। तमिममितिहासं वेदपुरुष आचष्टे।

यत्र = येषु, आजिषु = संग्रामेषु, शत्रुभिः क्रियमाणेषु स्ववधोद्यमेषु, येषु क्षणेष्वितिवा, दशभिः=दशभिः, राजभिः=उदासधर्मोत्सादनप्रतिज्ञां विधायागतैः निवाधितम्=नितरां पीडितं सन्दिग्धास्तित्वम्। सुदासम्=उदासधर्मम्, प्रावतम्=प्रकर्षेण अरक्षि-

ष्ठम्, तत्र तदावा तृत्सुभिः=तन्नामकैः सेवकैः सह=सहिताः, उभयासः=उभयविधाः मुनयः ऋषयश्च, त्रिविधा अप्युदासीना इति यावत् इन्द्रंवरुणञ्च, युवाम् = भवन्ता विन्द्रा-वरुणौ, वस्वोः = वसुनः = स्वधर्माख्यरत्नस्य सातये = सम्भजनाय, संरक्षणायेतियावत् हवन्ते = आकारयन्तिस्मरक्षणायेतिभावः । यदा दश राजानः संम्भूयेमं धर्म मुच्छेतु मुपचक्रमिरे तदा तान्निहत्यैषधर्म इन्द्रावरुणाभ्याम् झटिति-अगत्य परित्रातः इत्यभिसन्धिः ।

हिन्दी—वह भी एक समय था जब उदास सम्प्रदाय संसार में एक सार्वभौम धर्म था। इसके माननेवाले ऋषि, मुनि, सेवक, इन तीन शाखाओं में विभक्त थे। तब इस का सौभाग्यसूर्य मध्यान्ह में था। अर्थात् यह धर्म उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका था। इस के उत्कर्ष को देखकर विद्वेष से जल रहे कुछ एक वेदवि-रोधियों ने बहुत से राजाओं को इसके विरुद्ध भड़का दिया। विपक्षीवर्ग में प्रथम तो बहुत से राजे आ मिले थे। अन्त में दस शेष रहे। दूसरों ने इस धर्म के विरुद्ध आन्दोलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। जब दोनों ओर से खूब संग्राम ठन गया तब उदासीन महानुभावों के आह्वान से इन्द्र और वरुण ने भी वहाँ दर्शन दिये और उन विपक्षियों को मार भगाया इसी बात को भगवान् वेद इस प्रकार कहते हैं।—

एक ओर दस राजों के बृहत् दलबल से सुसज्जित विपक्षि सेनाएं हैं, और दूसरी ओर उदासधर्मावलम्बी ऋषि, मुनि, सेवक, अपने प्राणों से भी प्रिय-धर्म की रक्षा के लिये मैदान में डटे हुए हैं। इसे देवासुर संग्राम ही कहना चाहिये। जब उदासीन महात्माओं ने देखा कि समस्या प्रतिपल विकट होती जा रही है तब तृत्सुप्रभृति—सेवकों के साथ मिल कर समस्त उदासीन ऋषि मुनियों ने अपने धर्म की रक्षा के लिये—हे इन्द्र और हे वरुण! आप दोनों का आह्वान किया। तब तुम दोनों ने उदासधर्म पर घिर रहे विपत्ति के काले बादलों को दूर किया।

## "साधुभोज"

कितने सौभाग्य की बात है कि उदासीन मुनियों में देवगण भी हार्दिक श्रद्धा रखते थे। आप निम्नलिखित मन्त्र में पढेंगे कि एकबार अश्विनीकुमारों ने वन में तप कर रहे उदासीनमुनियों को एक भण्डारा दिया। तब ऋषि और मुनियों ने निन्तान्तप्रसन्नता प्रकट की और अश्विनीकुमारों की श्रद्धा की प्रशंसा की। मन्त्र १६।

**सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षो वहतमश्विना,**
**रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरु स्पृहम्।**

(ऋग० म० १, सू० ४७, मन्त्र ६)

चन्द्रभाष्यम्—अश्विना=हे अश्विनौ, दस्रा=दर्शनीयौ, रथे=स्ववाहनविशेषे, वसु=धनम्, बिभ्रता=धारयन्तौ, युवाम्, सुदासे=तद्धर्मावलम्बिभ्यो मुनिभ्यः, पृक्षः=अन्नं साधुभोजम्, लोके भण्डार इति ख्यातम्, वहतम्=प्रापितवन्तौ। अश्विभ्यांभूरिधनं रथे निक्षिप्य मूनीनां सकाशमेत्य साधुभोजापरपर्य्यायो मुनियज्ञोऽकारीति सरलार्थः। निवासहेत्वर्थक वसुशब्देन भोजनोपकरणव्रीह्यादिरूपं धनमिह सूचितम्-असति तस्मिन्

निवासासम्भवात्। नहि कश्चिच्चिरं तत्र स्थातुं शक्नोति, यत्र नोपलभ्यते भोजनोपकरणम्। प्रस्कण्वः कश्चिदृषिः, अश्विदत्तभोजनेन तुष्टचेताः—अभिनन्दति—रयिमिति—समुद्रात्=अन्तरिक्षात् उतवा=अपिवा दिवः=स्वर्गात्, परि=परिहृत्य, आहृत्य, पुरुस्पृहम्=पुरुभि र्बहुभिरभिलषणीयम्-अतिसरसम् रयिम्=विविधभोज्यादिरूपं धनम्। अस्मे=अस्मासूदासीनमुनिषु धत्तम्=स्थापयतम्। धन्या युवयोर्भक्ति र्यौ भवन्तौ स्वर्गादन्तरिक्षाच्च विविधानि द्युसद्भिरन्तरिक्षचरैश्चदेवैरपि दुर्लभानि लोकोत्तररसवन्ति भोज्यानि समाहृत्य साधून् भोजयामासतु रितिभावः।

यद्वा—समुद्रात्=समुद्रमन्तरिक्षम्, उतवादिवः=दिवञ्च, परि=परिहृत्य, स्वर्गान्तरिक्षे परित्यज्य, भुवमागत्येत्यर्थः। अपपरि वर्जने। इति कर्म प्रवचनीयत्वम्। "पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति पञ्चमी। अहो भवतो रुदासीनमुनिषु श्रद्धातिरेको येन दूरागमनायासमगणयन्तौ स्वर्गमन्तरिक्षञ्चोल्लङ्घ्य भुवमवतीर्णा वितिभावः। अस्मे=इत्यनेन देवानुपेक्ष्यास्माकम् शुश्रूषायाम् श्रद्धैव कारण मिति सूचितम्।

हिन्दी—अश्विनीकुमारो ! आपकी उदासीनमुनियों में अगाधश्रद्धा है। अतएव आप, एक समय, अपने सुन्दर रथों में भाँति-भाँति के भक्ष्यपदार्थ और चाँदीसोनादिक द्रव्य रख कर, उदासीनमुनियों के आश्रम में आये। वहाँ पर आपलोगों ने उदासीनमुनियों की प्रसन्नतार्थ एक वृहत् यज्ञ (भण्डारा) किया। तब उदासीनमुनि प्रस्कण्व ने, आप दोनों की अद्भुत और अद्वितीयभक्ति देखकर कहा, "स्वर्गादिकलोकों से भाँति-भाँति के दुर्लभ खाद्यपदार्थ ला कर आप दोनों ने हम उदासीनमुनियों की भेंट किये हैं, अतः आप धन्य हैं और धन्य है आपका प्रेम। देवगणों को भी दुर्लभ पदार्थ आपने हमारी सेवा में समर्पित किये हैं, इस से उदासीनमुनियों में आपकी अनन्यभक्ति का परिचय मिलता है।

स्वर्गादिकलोकों का उल्लङ्घन कर आप दोनों भूमण्डल पर यह यज्ञ (भण्डारा) करने के लिए आए अतः निश्चय होता है कि देवगणों से भी अधिक उदासीनमुनियों में आप की श्रद्धा है। जब कभी किसी उदासीन मुनि पर कोई आपत्ति आती तो भूतल से स्वर्गलोक तक हलचल सी मच जाती थी। तब विष्णु की आज्ञानुसार इन्द्रादिक देवगण भूतल पर आकर उसका निवारण करते थे।

दृष्टान्तार्थ—महामुनि पुरुकुत्स के एक राक्षस द्वारा सताए जाने पर, विष्णु की आज्ञानुसार इन्द्र ने उसका वध किया और उसके सातों नगर नष्ट करने के इलावा उसकी सारी सम्पत्ति छीन कर उदासीनमुनियों की सेवा में इस लिये समर्पित कर दी ता कि प्रतिदिन साधुभोज का निरन्तर और निर्विघ्न काम चलता रहे।

**त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन् पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः,**
**बर्हि र्न यत् सुदासे वृथा वर्गंहो राजन् वरिवः पूरवे कः।**

(ऋक्० मं० १, सू० ६३, मं० १७)

चन्द्रभाष्यम्—"अंहो" नामा कश्चिदसुरो बभूव। सच पुरुकुत्सं कश्चिदुदासीन मुनिम् क्लिश्नातिस्म। तच्छ्रुत्वा विष्णुना-उदासधर्म प्रचारे नियुक्त इन्द्र आगत्य तदीयानि सप्तनगराणि-उत्साद्य धनञ्च तदीय मपहृत्य स्वसदुपदेशेन ब्रह्मभावं प्राप्य

तपोबलेन सकल जन मनःकामनापूरकायपुरुकुत्सनाम्ने मुनये साधुभोजार्थं ददौ। एतदेवाहत्वंहेति, वज्रिन्=वज्रधारकेन्द्र, त्वंह=त्वमेव त्यत्=ताः सप्तपुरः=सप्तनगराणि, पुरुकुत्साय=पुरुकुत्सरक्षार्थम युध्यन्=युद्धं कुर्वन् दर्दः अतिशयेनव्यदारयः। किञ्च, राजन=स्वामिन्! इन्द्र! अंहो=तन्नामकस्यासुरस्य यद्धनमस्ति तत् वृथा=अनायासेन (वर्क्) अवृणक् छिन्नवान्। वर्हिर्न=दर्भमिव। यथा कुशोत्पाटने न कश्चिदायास स्तथैव तद्धनमिन्द्रेण छिन्नमितिभावः। अपिच पूरवे=मनोरथपूरकाय, सुदासे=उदासीनमुनये पुरुकुत्साय वरिवः=धनम्, अकः=अकार्षीः। इन्द्रेण-असुरादपहृतं धनम्, साधुभोजार्थं पुरुकुत्साय दत्त मितिभावः।

हिन्दी—वज्रधारी इन्द्र! आपने ही उस महामुनि पुरुकुत्स की रक्षा करते समय युद्ध में उस अंहो दैत्य के प्रसिद्ध सातों नगर नष्ट कर दिये। इसके इलावा उसकी समस्त सम्पत्ति उस से अनायास छीनकर, ब्रह्मवेत्ता, तपस्वी, सिद्ध, सकलजनमनोवाञ्छितप्रदाता महामुनि पुरुकुत्स को निरन्तर साधुभोज का कार्य चलाने के लिये देदी।

अव पाठक स्वयम् अनुमान लगालें, उन दिनों में उदासधर्म की महिमा विश्वभर में किस प्रकार फैली हुई थी। ऋषि और मुनियों ने अपने अनुकरणीय उच्च आदर्श से लोगों को सत्पथ में प्रवृत्त कर रक्खा था। यह कोई अत्युक्ति नहीं है, उनदिनों में मर्त्यलोक ही स्वर्ग हो रहा था। अश्विनीकुमारों का स्वर्ग से आना और मुनियों की प्रसन्नतार्थ उनका साधुभोज करना इस वात को और भी अधिक पुष्ट बना देता है। पुराणों के सिद्धान्तानुसार संसार में शान्ति स्थापन करने का काम भगवान् विष्णु करने आए हैं। सच पूछा जाय तो, विश्वभर में शान्ति स्थापन करने के प्रधान २ साधनों में उदासधर्म एक है। अतएव प्रजा में कुछ उपद्रव होते ही भगवान् विष्णु इन्द्र को यहाँ उदासधर्म के प्रचारार्थं भेज देते थे। इसका प्रचार लोगों में शान्ति स्थापित करने का काम सब से बढकर करता था।

धन्य हैं वे महामुनि सनत्कुमारजी, जो जन्मतः संसार से विरक्त होते हुए भी अपने भक्तों पर समयानुसार उपदेशामृत की वर्षा करते आए हैं। वे नहीं चाहते थे कि उनके भक्त संसार की झञ्झटों में अन्त तक फँसे रहें। इन के छोटे भ्राता सनत्सुजात भी इन के सदृश ही थे। एक वार उन्हों ने धृतराष्ट्र को सदुपदेश दिया जिसका पूर्ण विवर्ण निम्नलिखित मन्त्र में दिया जाता है। (मन्त्र १८)

**चत्वारो मा पैजवनस्य, दानाः स्मदिष्टयः कृशनिनो निरेके,**
**ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति।**

(ऋ० मं० ७, सू० १८, मं० २३)

पैजवनस्य=ब्रह्मपुत्रस्य, सुदासः=उदासीनमुनेः कुमारस्य, तोकाय=तोकभूताः शिष्यत्वात् लघुभ्रातृत्वाद्वा [विभक्तिवचन व्यत्ययश्छान्दसः] स्मदिष्टयः=मननम् मत्, विचारः, तया सहिताः स्मत् [अकारदकारलोपश्छान्दसः] तादृशी दिष्टि रुक्तिर्येशान्ते विविच्यभाषिणः। कृशनिनः=कृशनं सुवर्णम्, हिरण्यम्-हितरमणम्, निरतिशयसुख प्रापकत्वेनाविद्यान्धकार निवर्तकत्वेन च, ब्रह्मविज्ञानं, रत्नम् हि सुखदम्,

स्वप्रकाशेनतिमिरनाशकश्च भवति तेन ब्रह्मविज्ञानेन युक्ताः।

(ऋञ्जासः) सरलाः निष्कपटाः, पृथिविष्ठाः=पृथिव्यां लब्धप्रतिष्ठाः। परिभ्रमन्तो वा परिभ्रमणाय दिवः पृथ्वी मायाता इति यावत् दानाः=उपदेशस्य दातारः। चत्वारः= नारदसहिताः सनकादयस्त्रयः। निरेके=सांसारिकदुर्गतौ वर्तमानमितिशेषः, संसारार्णव निमग्न मितिभावः। तोकम्=पुत्रतुल्यम् शिष्यं मा=मां वसिष्ठम्* श्रवसे=तीर्णोऽनेन दुस्तरः संसारसागरः, एवंरूपाय यशसे तदर्थम् कुमार्गान्निवर्त्य सन्मार्गं वहन्ति प्रापयन्ति। द्वितीयो मेति पाद पूर्णः।

पक्षे—चत्वारो जगन्मिथ्या, ब्रह्मसत्यम्, प्रमादो मृत्युः, तत्त्यागोऽमृतत्वमिति धृतराष्ट्रं प्रति कुमारोक्ताः चत्वार उपदेशाः, [सनत्सुजातपर्वणि] व्यासेन निवद्धाः सनत्सुजातोऽपि× सनत्कुमारस्य सनकादिवद्भ्रातेति महाभारतसमयः, कृशनिनः= सालङ्काराः, ऋञ्जासः=सुबोधाः मा मम-अन्तःकरणस्य दानाः=शोधकाः, [दैव शोधने इत्यस्माद्वा ह्रुलकात् कर्तरि ल्युट्] स्मद्दिभ्यः=स्मते सविचाराय, विचार शीलाय शिष्याय, दिष्टिरुच्चारणम् येषां ते तथा।

तोकाय=तोकभूताय, शिष्याय, धृतराष्ट्राय, उपदिष्टा इतियावत् पृथिविष्ठा= पृथिवीलोके प्रसिद्धिङ्गता इति।

हिन्दी—वसिष्ठजी कहते हैं, ब्रह्मपुत्र उदासीनमुनि सनत्कुमार की भाँति उनके चार भाई (सनक, सनन्दन, सनातन, नारद) तप और तेज में बड़े बढ़े चढ़े हैं। वे चारों विचारशील, मितभाषी, ब्रह्मज्ञानी, और निष्पाप हैं। समस्त संसार उन्हें आदर की दृष्टि से देखता है। वे स्वेच्छाचारी हैं, ब्रह्माण्ड के हर एक भाग में घूम सकते हैं मुझे आत्मविद्या का उपदेश देते रहे हैं। अतएव मैं उनका पुत्रतुल्य शिष्य हूँ। मैं सांसारिकझञ्झटों में फँसा हुआ था, इन्होंने मुझे कुमार्ग से हटाकर सत्पथ में प्रवृत्त किया। यही मेरी कीर्ति का प्रधान साधन हुआ।

आहोस्वित्—महाभारतवेत्ता जानते हैं कि सनत्सुजात भी महामुनि सनत्कुमार के भ्राता ही हैं। एकबार सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र को चार उपदेश दिये जिनका पूरा पूरा विवर्णन महाभारत के "सनत्सुजात" पर्व में महामुनि व्यासदेवजी ने सविस्तर लिखा है। संक्षेपतः—वे चारों उपदेश ये हैं—जगन्मिथ्या और ब्रह्म सत्य है। प्रमाद ही वास्तविक मृत्यु है और प्रमादत्याग परमपुरुषार्थ अपवर्ग है।

धृतराष्ट्रजी कहते हैं कि वे उपदेश सरल, सुबोध, और मनोहर शब्दों में कहे गये हैं। भूतलभर में प्रसिद्ध, तथा मेरे अन्तःकरण की मैल को धोने वाले और केवल विज्ञशिष्य के आगे ही कहने योग्य हैं। अतएव उदासीनमुनि सनत्कुमार के भ्राता सनत्सुजातजी ने मुझे अपना प्रियशिष्य जानकर सुनाए हैं। सांसारिक बन्धनों की दलदल में फँसे हुये मुझ को वे पतन की ओर से हटाकर उद्धार की ओर ले जा रहे हैं।

* वसिष्ठोऽपि प्रवृत्तिसेवी विधिसुत एव। मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥ वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥ ६९॥ एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्यश्च कल्पिताः॥ प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः॥ ७०॥ (महा० भा० शा० अ० ३४०)

× सनः सनत्सुजातश्च सनकः स सनन्दनः॥ सनत्कुमारः कपिलःसप्तमश्च सनातनः॥ ७२॥ सप्तैते मानसाः प्रोक्ताः ऋषयो ब्रह्मणः सुताः॥ स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः॥ ७३॥ (महाभारत शान्ति पर्व अ० ३४०)

धन्य हैं वे पूज्यपाद महामुनि सनत्कुमार तथा सनत्सुजातजी जिनके उपदेश लोगों के वास्तविक उद्धार का कार्य करते रहे हैं।

विज्ञपाठक स्वयं समझ लें कि वेदों में किस प्रकार उदासधर्म के प्रचार रक्षा, दीक्षा, देवदया, कुमारप्रशंसा, कुमारोपदेशादि मिलते हैं। इसी तरह और भी अनेकों ऐसे मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं जिन में इन से भी अधिक उदासधर्म का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ हम पूर्वोक्त मन्त्रों को ही पर्य्याप्त समझते हैं।



## ( तरङ्ग ५ )

## उदासीनमुनिशृङ्खला.

अब हम पाठकों को उदासधर्म के इतिहास की ओर ले जाना चाहते हैं। पूर्वोक्त मन्त्रों के आधार पर यह स्फुट है कि उदासधर्म ईश्वरीय एवम् आदिम-धर्म है। वैदिककाल से लेकर पुराणकाल के आरम्भ तक यह विश्वव्यापीधर्म रहा है। इस बात पर हम पहले भी पर्य्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं और आगे भी समयानुसार यथोचित कहेंगे। पुराणों में उदासीन महात्माओं के उपदेश तथा लोकोपकार, विस्तृतरूप में मिलते हैं। जिन्हें हम पाठकों की सेवा में अब रखनेवाले ही हैं। पहले आप एक मन्त्र में पढ चुके हैं कि महामुनि सनत्सुजात जी ने धृतराष्ट्र को सदुपदेश दिया। उसी मन्त्र की छाया ले कर महाभारत में उन उपदेशों को विस्तृतरूप में लिखा गया है। ऐतिहासिकदृष्टि से यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार करनी होगी कि महाभारत के दिनों में सनत्कुमार जी लोकोपकाररत थे। महामुनि नारद के विषय में तो एक नहीं अनेकों घटनाएं महाभारत के समय की मिलती हैं।

उदाहरणार्थ—स्कन्दपुराण में कथा आती है कि एक समय अर्जुन ने महामुनि नारद से एक दो प्रश्न पूछे। नारद जी तो चुप रहे परन्तु उनके योग्यशिष्य बाभ्रव्य ने उनके प्रश्नों का उत्तर विस्तृतरूप में दिया। कहने का तात्पर्य्य यह है कि द्वापर के अन्त तक इन दोनों उदासीनमुनियों के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रकृति के नियमानुसार भारत में अनेकों परिवर्तन हो चुके हैं, कौन परिवर्तन कहाँ और कैसे हुआ यद्यपि इस विषय में लोगों ने बहुत कुछ लिखा है परन्तु निश्चित घटनाओं का पूरा पूरा ज्ञान सन्देह के पञ्जे से मुक्त नहीं हुआ है। भारत के आनुपूर्वक इतिहास के न मिलने का कारण "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" के अनुसार अनेकरूपों में विभक्त है। इस विषय पर हम आगे जा कर प्रकाश डालेंगे। यहाँ केवल इतना लिख देना आवश्यक है कि विदेशी शक्तियों के राक्षसीयआक्रमणों तथा अत्याचारों से हमारी क्षति का अनुमान तक लगाना कठिन ही नहीं असम्भव है। जिस समय किसी जाति का अस्तित्व ही सन्देहास्पद हो

रहा हो उस समय उसे प्राणरक्षा के विना और कुछ नहीं सूझता। आक्रमणकारी मुसलमानोंद्वारा हमारे पुरातनपुस्तकालयों का जलादेना इतिहासप्रसिद्ध घटना है। पूर्वोक्त वातों को जानते हुए भी बहुत से लोग यह कहने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करते कि भारतीयों को इतिहास लिखने का शौक न था। हम यह कहने का साहस रखते हैं, यदि कोई निस्स्वार्थ व्यक्ति तन मन धन से भारत के इतिहास की खोज में लग जाय तो निस्सन्देह बहुत सी कमी दूर हो सकती है। हमें तो इस बात से बड़ा आश्चर्य होता है, विदेशी लोग हमारे पूर्वजों के इतिहासों को लिखते हैं। चाहे उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है; परन्तु वे जिस लक्ष्य को लेकर अपना काम आरम्भ करते हैं, अन्त में उस पर अपना अधिकार जमा ही लेते हैं। उनका लक्ष्य क्या है? यह एक भिन्न विषय है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि जो लोग यहाँ के रस्मरिवाज से बहुत कम परिचित हैं वे भी यहाँ के ऐतिहासिकस्थल में आगे बढ़ रहे हैं। तो क्या यदि कोई भारतीय इस काम का बीडा उठाए तो असफल रहेगा? कहना पड़ेगा नहीं। यदि कोई इतिहासप्रेमी अब भी भारत के इतिहास की सामग्री का अन्वेषण आरम्भ करे तो बहुत कुछ मिल सकता है। यद्यपि निरन्तर आपत्तियों की भयानक बाढ़ में हमारी ऐतिहासिक सामग्री छिन्न भिन्न एवं नष्टप्राय हो गई है परन्तु फिर भी संसार की अन्य जातियों से कम नहीं है। भारतीय इतिहास के तीन स्रोत हैं, प्रथम, संहिता वेद–ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषत् रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराण ग्रन्थ हैं, द्वितीय विदेशी लेखकों द्वारा घरेलू अटकलपच्चुओं के आधार पर लिखे गये ग्रन्थ तथा उन्हीं के आदर्श पर चलने वाले भारतीयों द्वारा लिखित पुस्तकें हैं। तृतीय— शिलालेख और हस्तलिखित पुस्तकें जो कि अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं। प्रथम और द्वितीय स्रोत में ऐतिहासिक दृष्टि से हम एक अक्षम्य त्रुटि अनुभव करते हैं। परन्तु यह अवश्य है कि दोनों भागों में त्रुटि का मूल कारण पृथक् पृथक् है। हमारे इतिहास के प्रधानस्रोत रामायण और महाभारत को जब हम पढ़ते हैं तो वहाँ प्रायः राजा महाराजाओं के पवित्र चरित्रों का अधिक वर्णन है। यद्यपि उनके जीवनसम्बन्धी आचरणों से और उनके धार्मिकगुरु, ऋषि मुनियों के उपदेशों से हम तदानीन्तन धर्म से भी कुछ परिचित हो जाते हैं, फिर भी राजाओं के चरित पढ़ने के बाद जब हम ऋषिमुनियों की ओर आते हैं तो मूकवेदना के सिवा और कुछ भी हाथ नहीं लगता। नाटक में अप्रधान पात्रों की भाँति हम अपने पुरातन इतिहास में किसी विशेषअवसर पर ही उन आदर्श ऋषिमुनियों के दर्शन कर पाते हैं।

एक पुराणप्रेमी पण्डित जितना राजा महाराजाओं के विषय में जानता है उस से दशमांश भी वह ऋषिमुनियों के विषय में नहीं कह सकता। आम जनता इस विषय में चाहे जो कुछ अपनी सम्मति रखती हो परन्तु थोड़ी देर के लिये हम इसे अधूरापन ही कहेंगे।

कारण, चाहे पुराणलिखित राजाओं के चरितों से और ऋषि–मुनियों के पवित्र-उपदेशों से हम उनदिनों के रस्मरिवाज और धर्म से कुछ परिचित हो जाते हैं, परन्तु धर्म के साङ्गोपाङ्गरूप को हम देख नहीं पाते। इसका प्रधानकारण ऋषियों मुनियों के जीवन का न मिलना है। यद्यपि हमारे धर्मशास्त्रों में नीति भी धर्म का

अङ्ग समझी जाती है; परन्तु केवल नैतिकस्थिति के अध्ययन से धार्मिकस्थिति का जानलेना कठिन ही नहीं असंभव है। राजा कितना भी धार्मिक क्यों न हो, परन्तु मर्य्यादानुसार उसका जीवन नैतिक होता है और उसी तरह ऋषि-मुनियों का जीवन धार्मिक होता है। अर्थात् ऋषिमुनियों के जीवन में धर्मप्रधान होता है और राजा के जीवन में नीति की प्रधानता रहती है। अतः धर्म और नीति दोनों के परिचय के लिये पूर्वोक्त राजचरित के विना ऋषि और मुनियों का चरित जानना भी आवश्यक है। अन्यथा अपूर्णता अनिवार्य है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है जब रामायण और महाभारतादि मुनियों ने ही लिखे हैं, क्या वे त्रिकालदर्शी होतेहुए इतना भी न सोच सके? उत्तर दो भागों में विभक्त है—प्रथम तो यह है कि यह बात कभी हो ही नहीं सकती कि कोई ऋषि अथवा मुनि संसार के उपकार में अधूरा-पन छोड़दे। क्यों कि ऐसी कोई स्थिति है ही नहीं जिसे वे देख न सकें। अतः मानना होगा कि राजाओं की तरह उनके चरित भी इसी तरह किसी न किसी रूप में लिखे गये होंगे। बाकी रहा उनका मिलना, यह देश की अधन्यता है। क्या कोई कह सकता है हमारे साहित्य के साथ कौनसा अन्याय नहीं हुआ। संभव है बौद्धोंद्वारा हमारा धार्मिकइतिहास अग्निभेंट कर दिया गया हो! जिसमें प्रधान तर्क यह है कि बौद्ध भी तो हिन्दुधर्म को दबा कर अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे। जबतक किसी जाति के बच्चों को उनके धार्मिकइतिहास से अपरिचित न बना दिया जाय, उसमें भाँति २ की त्रुटियाँ दिखाकर उससे घृणा न करा दी जाय अथवा उसे नष्ट ही न कर दिया जाय तबतक उनमें किसी अन्यधर्म की शिक्षा स्थिररूप से आसन नहीं जमा सकती। संभव है भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, दधीचि, राम, कृष्ण, भीष्म युधिष्ठर के आदर्श पर चलने वाले वैदिकधर्मी, बौद्धों की इस कुटिलनीति के नीचे दबकर एकदम वेदविरोधी बन बैठे हों। अन्यथा ऋषिसन्तान का इतनी जल्दी वेदों को पीठ दिखाना असम्भव दीखता है।

अथवा यह बात है कि यवनों के निरन्तर आक्रमणों से वे मुनिचरित नष्टभ्रष्ट हो गये। मुसलमान विजेताओं का हिन्दुओं के मठमन्दिरों का तोड़ना और इनकी पवित्र पुस्तकों को जलादेना भी बौद्धों की पूर्वोक्त कुटिलनीति से मिलता जुलता ही है। संभव है उनदिनों में विद्यमान पुराणग्रन्थ राजकीयस्थानों में मुनिचरितग्रन्थ धार्मिकइतिहास होने के कारण मठमन्दिरों में प्रतिदिन उपदेश करने के लिये रक्खे जाते हों। यवनविजेताओं का अधिक मन्दिरों का तोड़ना हमारी इस बातको और भी पुष्ट कर देता है। अचानक आक्रमणों के दिनों में बेचारे धर्मोपदेशक मारे २ फिरते थे। उन्हें अपने प्राण बचाने का भी सन्देह था। भला वे धूर्त विजेता लोग उनके धर्मग्रन्थों को कैसे छोड़ सकते थे।

आधुनिक लेखकोंद्वारा जितने भी भारत सम्बन्धी ऐतिहासिकग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें प्रायः धार्मिक विषय तो कहीं भूल कर भी नहीं लिखा गया। इस में कारण यह है कि जितने विदेशीय लेखक हैं, वे तो बेचारे जानते ही नहीं कि धर्म किस चिड़िया का नाम है, क्यों कि उनके साहित्य में हमारे धर्मशब्द का प्रतिद्वन्द्वी कोई शब्द है ही नहीं। भला बतलाएं वे बेचारे क्या जानें कि हिन्दुओं का क्या धर्म होता है।

मानलो किसी ने वर्षों परिश्रम करके हमारे धर्म से परिचय प्राप्त कर भी लिया हो; परन्तु उसे क्या आवश्यकता पड़ी कि वह हमारे धार्मिकइतिहास को लिखने बैठे। उन्हें तो अपने मतलब की बातें चाहियें।

इन्हीं के आदर्श पर चलने वाले आधुनिक भारतीय इतिहासलेखकों ने भी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्यों कि वे बेचारे तो अपने पूर्वजों (विदेशीलेखकों) के कदम पर कदम धरते गये हैं। वे नहीं चाहते थे कि वे अपने आदर्श से इञ्च भर भी इधर उधर हों। परिणाम यह हुआ कि कुछ राजाओं की लड़ाइयों के सिवा हमारे हाथ में और कुछ न रहा। उदाहरणार्थ—आप सिन्ध के इतिहास को पढ़ें। आपको ७ वीं शताब्दी से भी पूर्व के राजाओं के वृत्त तथा विदेशिओं के आक्रमणों का पूरा पूरा हाल पढ़ने को मिल जायगा; परन्तु वहाँ आप धार्मिकघटना एक भी न देख पाएंगे। सिन्ध में अनेकों धार्मिकघटनाएं ऐसी घटी हैं जो इतिहासपृष्ठों पर सुनहरी अक्षरों में लिखने लायक हैं। उदाहरणार्थ—वरुणदेव की आज्ञानुसार वहाँ एक उडेरेलाल महापुरुष हुए हैं। उन्हों ने हिन्दुजाति की रक्षा के लिये अपने जीवन की आहुति दी थी। सिन्धदेश का प्रतिहिन्दु आजतक उनका स्मरण हार्दिक श्रद्धा से करता है। स्मरणार्थ—हैदराबाद सिन्ध के पास नसरपुर ग्राम में उनका एक मन्दिर भी है, जहाँ प्रतिवर्ष एक मेला भी लगता है। उनके नाम से वहाँ एक ठक्कुर सम्प्रदाय भी प्रचलित है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे २ अनेकों धार्मिक महापुरुषों के नाम इतिहासों में न लिखे जाने के कारण भूल के समुद्र में गिर कर डूब गये हैं।

किसी साधारण व्यक्ति का नाम इतिहासलेखक भूल जाय अथवा उपेक्षित कर दे तो किसी अंश तक क्षम्य हो सकता है, परन्तु जाति के लिये मरमिटने वाले ऐसे महापुरुष को इतिहास में स्थान न देना कदापि क्षम्य नहीं हो सकता।

हमारे इतिहास का तीसरा स्रोत है शिलालेख और हस्तलिखित पुस्तकें, जो आजतक सर्वसाधारण जनता में नहीं आईं। इसी को इतिहास की सच्ची सामग्री समझना चाहिये।

हमने कई एक हस्तलिखित पुस्तकों की सहायता से उदासीनमुनियों की एक मुनिशृङ्खला तैयार की है। इस में महामुनि सनत्कुमार जी से लेकर १८ वीं शताब्दी के महापुरुष पूज्यपाद श्रीचन्द्रमुनि तक निरन्तर आ रहे १६५ मुनियों के नाम हैं। इस शृङ्खला की तैयारी में हमें हस्तलिखित पुस्तक "उदासीनमञ्जरी" उदासधर्मकल्पतरु और अन्य पुरातन उदासीनमहात्माओंद्वारा नागरी लिपि में लिखित निबन्धों से जिसे "मात्रा" भी कहते हैं, पर्य्याप्त सहायता मिली है। मात्रा शब्द वैदिक और स्वरूप का वाचक है यथा "यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः" (ऋ० मं० १०सू० ७१ मं० ११) यहाँ पर मात्रा शब्द का अर्थ स्वरूप है। इसी प्रकार स्वरूपार्थ को लेकर उन निबन्धों में भी इस शब्द का प्रयोग होने लग गया। इसके इलावा कुछ अंश में कईएक महात्माओं की गुरुप्रणालियों से भी सहायता मिली है जो कि उनके कण्ठस्थ थीं। इन १६५ मुनियों के हम केवल नाम देकर ही चुप न हो जायँगे यथाशक्ति बहुतसों के संक्षिप्त जीवनभी लिखेंगे। यह हम पहले भी लिख आए हैं कि भारत में किसी जाति का भी पूर्णइतिहास नहीं मिलता। इधर-उधर पर्य्याप्तपरिश्रम के बाद खण्डइतिहास का मिल जाना भी आधुनिकस्थिति के अनुसार सन्तोषप्रद समझा जाता

है। उदासीनमुनियों के जीवन पढ़ने से साफ प्रतीत होता है कि वे नैतिक और धार्मिक दोनों तरह का प्रचार करते थे। आप आगे जाकर पढ़ेंगे विक्रम की ८वीं शताब्दी में हारीतमुनि हुए हैं; उन्हों ने अपने अनुपम कार्यक्रम से भारत की नैतिक और धार्मिक स्थिति में विचित्र परिवर्तन पैदा कर दिये। धार्मिकप्रचार का काम उन्हों ने अपने योग्यशिष्य कुमारिल को सौंप दिया और नैतिकस्थिति में उन्नत होने के लिये उनका योग्य वीर शिष्य बप्पारावल काम करता था। कुमारिल और बप्पा ये दोनों व्यक्तियें भारत के इतिहास में अद्वितीय महत्त्व रखती हैं। इन दोनों में उदासीनमुनि हारीत की शिक्षा ही काम करती थी।

इन दोनों का संक्षिप्तजीवन आप आगे जा कर पढ़ेंगे। आरम्भ से आज तक उदासीनमुनियों के नाम वैदिकमर्य्यादा से चले आए हैं। यदि श्रौत, स्मार्त और पुराणानुसार किसी संप्रदाय के नाम मिलते हैं तो वह केवल उदाससंप्रदाय ही है। पुरातन ऋषिमुनियों के नामों से वर्तमान उदासीन-चतुर्थाश्रमियों के नाम मिलते जुलते ही हैं। उदाहरणार्थ—जनक के पुरोहित शतानन्द, पद्मपुराण में एक महा-पुरुष विष्णुदास की कथा आती है। उपनिषदों में दिवोदास प्रसिद्ध हैं।

पुरातन उदासीनमुनियों में नामपरिवर्तन प्रथा न थी। हाँ, कहीं-कहीं पर अद्वैत भक्ति के सूचक नाम अवश्य मिलते हैं। शङ्कर से पूर्व नामपरिवर्तन प्रथा का प्रच-लित होना नहीं मिलता। शङ्कर के वाद यह प्रथा क्रियात्मक वन गई। मुस्लिम राज्य में तो नाम परिवर्तन आवश्यक हो गया। प्रथम कारण यह प्रतीत होता है कि नामपरिवर्तन के वाद पीछे से सम्बन्धीलोग शीघ्र ढूँढ नहीं पाते थे, वही नाम रखने से घरवाले ढूँढ कर वापिस लेजाने को वाध्य करते थे। इस अड़चन ने नाम परिवर्तन को आवश्यक बना दिया। मुस्लिमराज्य के दिनों के इतिहास में हम यह पढ़ते हैं कि शासक लोग साधुमहात्माओं को अधिक तङ्ग नहीं करते थे संभव है कई एक जाति तथा देशभक्त शासकों की विषैली आखों से बचे रहने के लिये साधुसमाज में अपना नाम वदलकर दीक्षित हो जाते थे। तव वे अपने पूर्व कार्य को पहले से भी अधिक शीघ्रता से करने लग जाते थे। यह कारण भी नाम परिवर्तन में सहायक हो सकता है। कुछ दिन के वाद नामपरिवर्तन एक संस्कार विशेष वन गया। यह वात आवश्यक भी है। घरेलु नाम की अपेक्षा अद्वैत अथवा शुभभाव का सूचक नाम बहुत अच्छा है। यदि पूर्व नाम ही इन भावों का द्योतक हो तो नामपरिवर्तन अधिक आवश्यक नहीं है।

मुनि शृङ्खला के आदिममहामुनि सनत्कुमार और द्वितीयमहामुनि नारदजी हैं। हमारी यह शृङ्खला द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ से आरम्भ होती है। हम पहले लिख आए हैं कि युधिष्ठिर के समय तक नारद तथा सनत्कुमारजी बराबर मिलते हैं अतः हमें इस ओर की शृङ्खला अधिक आवश्यक दीखती है।

इसके अर्थ यह नहीं हो सकते कि द्वापर के अन्ततक दो ही मुनि हुए। मुनि तो बहुत हुए हैं, परन्तु वे अपना इतिहास लिखना पसन्द न करते थे। हाँ, गुरु-शिष्यपरम्परया उनके नाम बहुत दूर तक के मिल जाते थे। पुराणों में राजाओं के वृत्त पूर्णतया मिलते हैं। मुनियों ने राजाओं के वृत्तों को लिखना अच्छा समझा, अथवा अपने वृत्त भी उन्हों ने लिखे हों; परन्तु किसी कारणवश आजकल नहीं मिलते।

नारद और सनत्कुमारजी का सृष्टि के आरम्भ से द्वापर के अन्ततक इस संसार में रहना उनकी चिरञ्जीविता का परिचय देता है। अपनी अलौकिकशक्तियोंद्वारा वे मृत्युतक को जीत सकते थे। आस्तिकपक्ष में तो वे आज भी हैं; क्योंकि चिरञ्जीवीमहापुरुष अपनी इच्छानुसार सदा के लिये अमर हो सकते हैं।

इस से प्रतिकूलपक्ष में यह समाधान है कि शङ्कर की गद्दियों की भाँति नारद और सनत्कुमार की गद्दियें होंगी। जो जो व्यक्तियें उन स्थानों की उत्तराधिकारिणी होती थीं, वे नारद और सनत्कुमार के नाम से पुकारी जाती थीं।

पूर्वोक्त दोनोंपक्षों में पूर्वपक्ष ही अधिक युक्तियुक्त है, आगे हम पाठकों की इच्छा पर छोड़ देते हैं वे जिसे अच्छा समझें उसे ही अपना लें।

अब हम मुनिशृङ्खला लिखते हैं—

इस में यह बात अधिक ध्यान देने योग्य है कि हरेक नाम के पीछे मुनि शब्द लगाना आवश्यक है, श्लोकों में केवल नाम ही नाम हैं। यह शृंङ्खला गुरुशिष्यपरम्परारूप में युधिष्ठिर के समय से चली आती है। जब हमने इसके छिन्नभिन्न भागों को उदासधर्मकल्पतरु में पढ़ा तो अपने जातीयइतिहास को ऐसी दुर्दशा में पड़ा देखकर मनमें कुछ दुःख सा अनुभव हुआ। उदासीनमञ्जरी में हमें जो सामग्री प्राप्त हुई उस से हमारा उत्साह द्विगुणित हो गया। हमें जहाँ कहीं कुछ सन्देह हुआ, वहाँ ही हमने इस शृङ्खला को कईएक महात्माओं की गुरुप्रणाली से मिलाकर ठीक कर लिया है। अब यह उदासीनमुनिशृङ्खला शुद्ध तथा निस्सन्देह अपने पूर्णरूप में तैयार है, जो पाठकों की सेवा में लिखी जाती है—

ब्रह्मात्मजो बुधवरः, प्रथितो महात्मा,<br>
स्तुत्यः सदा मुनिवरः, स "सनत्कुमारः";<br>
वीणाविभूषितकरः, सुरगेयकीर्तिः,<br>
नः पातु "नारद" मुनिः, भवतापहारी ॥ १ ॥

"वाभ्रव्यो" मुनिशार्दूलः,—"दाल्भ्योमान्य"स्तपोधनः;<br>
"जयमुनि" जगद्वन्द्यः,—"सञ्जीवनश्च" मोक्षदः ॥ २ ॥

"देवो" देवैः सदा सेव्यः,—"हरविन्दो" द्वयातिगः;<br>
"गोविन्दश्च" गवान्त्राता—शरणागत पालकः ॥ ३ ॥

"सहस्रभानु "रेकाकी,—जगदज्ञाननाशकः;<br>
"शतभानु" "श्चित्रभानुः," "वरदो" विदतांवरः ॥४॥

"दिव्यो" दिव्यगुणैःख्यातः,—"सुधर्मा" धर्मरक्षकः;<br>
"सुवर्ममुनि"रुत्साही—वेदविद्याप्रचारकः ५ ॥

"आदित्यो[१७]" विश्रुतोविद्वान्–"रामो[१८]" विमलमानसः;
"भूरिसेनो[१९]" "महासेनो[२०]"–"हिमांशुः[२१]" विगतामलः ॥६॥
वाचंयमश्च "गोपालः[२२]"–"नारायणो[२३]" महामुनिः;
"पद्ममुनि[२४]" महौजस्वी–वेदविद्याविशारदः ॥७॥
"कृष्णः[२५]" सर्वत्र विज्ञातः,–"शिवदेव[२६]"स्तपोधनः;
"ऋतुदेवो[२७]" "वामदेवः[२८],"–"तिलको[२९]" "गगनो[३०]" मुनिः ॥८॥
"विबुधो[३१]" विबुधैःपूज्यः,–"सुदेवो[३२]" मुनिसत्तमः,
"भूदेवो[३३]" भुवि सर्वज्ञः–"शान्तो[३४]" मोक्षपरायणः ॥९॥
"सत्यमुनी[३५]" रतो मोक्षे,–"विधिदेवो[३६]" विशारदः,
"निधिदेवो[३७]" मुनिश्रेष्ठः–"विजनः[३८]" "सुजनो[३९]" मुनिः ॥१०॥
"श्रुतिसिद्धो[४०]" महाभागः,–"माधवश्च[४१]" मनोहरः[४२];
"धर्मध्वजो[४३]" "जयध्वजः[४४]"–वेदवेदान्त पारगः ॥११॥
"गिरिधर[४५]"स्तपोयुक्तः–"सत्यसन्धो[४६]"ऽतिशोभनः;
"ब्रह्मदेवो[४७]" "विशालश्च[४८]"–"योगीन्द्रो[४९]" विजितेन्द्रियः ॥१२॥
"रवीन्द्रो[५०]" भूतले ख्यातः,–"प्राज्ञः[५१]" "श्रीशो[५२]" विचक्षणः;
"देवेशश्च[५३]" "चिदानन्दः[५४]"–"सुज्ञानः[५५]" प्रतिभान्वितः ॥१३॥
"विज्ञानो[५६]" ज्ञातलोकेशः–"शुद्धो[५७]" विगतवासनः;
"विशुद्धाः[५८]" शुद्धचेताश्च–"लोकेशः[५९]" पारिकाङ्क्षिकः ॥१४॥
"आचरणो[६०]"ऽतितेजस्वी–तत्त्वदर्शी "सुभूषणः[६१]"
ब्रह्मैकशरणः "सिद्धो[६२]"–"नृदेवो[६३]"ऽथ नरोत्तमः ॥१५॥
नरश्रेष्ठो "नरेन्द्रश्च[६४]" "देववान्[६५]" पारिकाङ्क्षिकः;
वेदवेदान्त तत्त्वज्ञो–ब्रह्मवादी "प्रतापवान्[६६]" ॥१६॥
"सुधाकर[६७]"स्तपोयुक्तः–सततं शुद्धमानसः,
"रत्नाकरो[६८]"ऽतितेजस्वी "विज्ञो हिमंकरस्तथाः" ॥१७॥

"देवरातः" "सुरातश्च", "विष्णुः" संसारसेवकः,
"शङ्करः" शास्त्रनिष्णातः, "हिरण्यो"ऽतिद्वयातिगः ॥१८॥
"सुत्रेशो" मुनिशार्दूलः—"रिपुंजि"द्विजितेन्द्रियः;
"मदनजि"न्महौजस्वी—"द्यौलोको" लोकशिक्षकः ॥१९॥
"सुलोको" ज्ञातवेदान्तः,—"सुकीर्ति" मुनिपुङ्गवः;
"पुण्यकीर्ति" महाभागो:, "लोकपालो" महामुनिः ॥२०॥
निर्मोहः सर्वशास्त्रज्ञः, "सुयत्नः" "सुनयो" "ऽभयः"
"रोचिष्णु" "दीपनो" विद्वान्,—"सुतेजाः" सुतपाबुधः ॥२१॥
वाचोयुक्तिपटु"श्चन्द्र" "स्त्रिनयनो" महामतिः।
"हरिनारायणः" पूज्यः—सर्वान्नीतः "सुलोचनः" ॥२२॥
"प्रलोचन"मुनिर्विज्ञः—"ब्रह्मबोध"स्तु शास्त्रवित्;
अधीतवेदवेदाङ्गः—वागीशो "विरजा" मुनिः ॥२३॥
"सुजन्मा" सर्वलोकज्ञः,—"सुशर्मा" पुण्यमानसः;
प्राज्ञः "सुधाम"शापास्त्रः,—"त्रिलोकश्च" प्रियंवदः ॥२४॥
विशुद्ध हृदयो "भीष्मः"—"सुखदो" विरजस्तमाः;
"मङ्गलः" "पुण्डरीकश्च,"—"जितानन्दो" विचक्षणः ॥२५॥
"महेशो"दीप्तिमान्धन्यः,—"शक्तिः" "शान्तिः" प्रियंवदः;
"हंसो" धवलसर्वाङ्गः,—"सुसङ्गः" पुण्यमानसः ॥२६॥
"असङ्गो" दक्षिणो "विज्ञः," "कृतार्थो" निर्जितेन्द्रियः;
"सुबोधः" शास्त्रनिष्णातः, "कुण्डलोऽथ" "बृहद्रथः" ॥२७॥
ज्ञातनिःशेष भूगोलः, "सुरथो" भ्रमणप्रियः,
"सुवर्चाः" "शोभनो" मौनी, "हारीतः" शस्त्रकोविदः ॥२८॥
"सुमना" "ब्रह्मदत्तश्च," ज्ञानराशि"स्तपोधनः"
"शुचिः," "पूर्णो," महाभागः, "हर्षणस्तु" समर्द्धकः ॥२९॥

“[127]तोषणो” विश्रुतो लोके–दीर्घदर्शी “[128]दिवाकरः”
“[129]सुचिंतः” द्युतिमान्धीरः–“[130]सुवृत्तः” पूतमानसः ॥३०॥
“[131]शमवित्तो” ब्रह्मवादी, “[132]सुधनो” विरजस्तमाः
“[133]प्रियंवदो”ति गंभीरः, “[134]श्वेतकेतु” महामनाः ॥३१॥
अधीतवेदवेदाङ्गः “[135]विधूतो” धौतकल्मषः,
“[136]सुधन्वा” “[137]प्रस्तवो” दान्तः, “[138]वीतहव्यो” महामुनिः ॥३२॥
“[139]रुद्धजवः” पिजवनः” “[141]उदयो” मुदितः सदा;
“[142]स्वप्रकाशः” “[143]स्वतःसिद्धः” कोविदेषु विचक्षणः ॥३३॥
“[144]प्रभाकरो” दूरदर्शी–“[145]च्यवनो” मोक्षशिक्षकः
“[146]शमप्रियो” गीतदक्षः–वीणावादनविश्रुतः ॥३४॥
“[147]लोकप्रियो” महाभागः, देशकल्याणचिन्तकः,
प्राज्ञः “[148]प्रभुप्रसादो”ऽथ, शरणागतरक्षकः ॥३५॥
विज्ञातासारसंसारः–हृद्यो “[149]हरिनिरूपणः,”
“[150]नहुषो” ब्रह्मविद्यायाम्–चतुरः सर्वशास्त्रवित् ॥३६॥
“[151]विश्वश्रवा”स्तपोयुक्तः–“[152]सुयशाः” शुद्धमानसः,
“[153]धर्मसेतु”रधर्मस्य–नाशाय बहुयत्नवान् ॥३७॥
“[154]चित्रकेतु” विशालाङ्गः, “[155]लक्ष्मीर” स्तुतपोधनः,
“[156]सुमेरु”रचलो नित्यम्, मोक्षधर्मपरायणः ॥३८॥
प्रगल्भो “[157]हरिगम्भीरः,” “[158]ऋषिरामो” द्वयातिगः,
“[159]चतुर्भुज”स्तत्त्वदर्शी, “[160]भास्करो” लोकशिक्षकः ॥३९॥
“[161]रामरति” महौजस्वी, वेदवेदान्तपारगः,
“[162]अतीतो”मुनिशार्दूलः, “[163]वेदो” वेदोपकारकः ॥४०॥
“[164]अविनाशि” मुनि र्दान्तः, तपसा दग्धकल्मषः,
प्रज्ञाताखिलविद्यानाम्, भवभारापहारकः ॥४१॥
“[165]श्रीचन्द्रदेवो” मुनिराजमान्यः श्रेयःप्रदानात्प्रथितो वदान्यः,
दिग्वृन्दविस्तारियशोवितानाद्भूचक्रवालं विशदं वितेने ॥४२॥

---

# श्रौतमुनिचरितामृत

## तृतीय प्रवाह

---

## सनत्कुमार

### ( १ तरङ्ग )

#### कुमार–उत्पत्ति.

हंसात्तहंसविज्ञानम् हंसं हंसविदुत्तमम् ।
हंसमानससद्धंसं कुमारं वैधसं भजे ।

भगवान् की नाभी से कमल उत्पन्न हुआ, कमल से ब्रह्माजी । ब्रह्माजी भगवान् की ओर से सृष्टिसर्जन में नियुक्त हुए । एकदम इस वृहत्कार्य्य का तथा इस के गुरुतर उत्तरदायित्व का भार सिर पर आजाने से उन का मन चञ्चल तथा क्षुब्ध सा हो गया। इस से सत्वगुण तथा रजोगुण की ज्योति मन्द पड़ गई और तमोगुण का अखण्ड साम्राज्य सर्वथा स्थापित हो गया । इस दशा में जिस सृष्टि की उत्पत्ति हुई, वह अन्धतामिस्र आदि क्लेषबहुल तामसप्राणियों की सृष्टि थी।

उस तामससृष्टि के प्राणी आत्मबोध से बिल्कुल कोरे थे। उन्हों ने शरीर ही आत्मा तथा सबकुछ समझ रखा था। विषयभोगलालसा ने उनके हृदय में आसन जमा लिया था। अपनी अभीष्टवस्तु की प्राप्ति में विघ्न आते ही वे द्वेष की प्रचण्ड अग्नि में जलने लग जाते थे । भोगोपकरणों के नाश की आशङ्का से इतने व्यग्र हो उठते थे कि जीते ही अपने आप को मृत्यु की गोद में पड़ाहुआ समझने लग जाते थे। सार यह कि वे मूढ, उदरभरि, लोभी, क्रोधी तथा दुराग्रही (हठी) श्रेणी के प्राणी थे। यही कारण है कि उनका नामो निशान भी शेष नहीं रहा । इतिहास के पृष्ठ कर्तव्यपरायण कर्मयोगियों के लिये ही सुरक्षितपीठ ( रिजर्वसीट ) हैं, उनका कर्तव्य प्रवृत्तिधर्म से संबन्ध रखता हो चाहे निवृत्तिधर्म से। अतएव निवृत्तिधर्म के नेता सनत्कुमार आदि, प्रवृत्तिधर्म के नेता मरीचि आदि महापुरुष ही भारतीय इतिहास में चरित्र नायक और मुख्य पात्र हैं, तामससृष्टि के प्राणियों का इस में नाम तक नहीं ।

( कई एक सज्जन—

**ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथतामिस्रमादिकृत्।**

**महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥ ३, १२, २॥**

विधाता ने आरम्भ में पाँच अन्धतामिस्र आदि अविद्यावृत्तियों की सृष्टि की।

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक तथा दूसरे पुराणों के इसके समानार्थक वाक्यों के आधार पर यह आशङ्का करने का साहस करेंगे कि आरम्भ में तामसप्राणियों की सृष्टि नहीं हुई बल्कि तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र नाम की पाँच अविद्या वृत्तियों का ही सर्जन हुआ था। जिनका नामान्तर क्रमसे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश है, और शास्त्रीय परिभाषा में जिनको पञ्चक्लेश कहते हैं।

इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अन्धतामिस्र आदि वृत्तियों की उत्पत्ति और स्थिति निराधार कैसे बन सकती है? ऐसा कहना तो अनुचित होगा कि उन वृत्तियों के आधार ब्रह्माजी रहे हों। आत्मदर्शी वैदिकविद्या के भण्डार ब्रह्मदेव में उन वृत्तियों की सत्ता का मानना तो सूर्य्य में अन्धकारकल्पना के समान है। और उस पक्ष में उसे आन्तरसृष्टि स्वीकार करना होगा, जो सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है।

क्योंकि यहाँ मध्यमसात्विकसृष्टि, अन्तिमराजससृष्टि आन्तर नहीं प्रत्युत बाह्य है, अतःप्रकरणानुसार आदिमतामससृष्टि भी बाह्य ही माननी पड़ेगी, आन्तर नहीं। अतः यही पक्षसंगत एवं युक्तियुक्त है, कि यहाँ पर अन्धतामिस्र आदि पद केवल वृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए, बल्कि उन उन वृत्तियों के वास ( आधार ) प्राणिवर्ग में प्रयुक्त हुए हैं। उस प्राणिवर्ग के नाम न मिलने का कारण हम ऊपर कह चुके हैं। दर्शनाभ्यासियों के लिये यह बात तिरोहित नहीं कि दर्शनग्रन्थों में प्रायःवृत्ति और वृत्तिमान का अभेद मान कर वृत्तिवाचक शब्द वृत्तिमान में भी प्रयुक्त किये जाते हैं। यथा—

**अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।**

**अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥२३, २४।**

सांख्यकारिका में बुद्धि की वृत्ति के वाचक अध्यवसाय शब्द का उसकी आधारभूत बुद्धि में तथा अहङ्कार की वृत्ति के वाचक अभिमान शब्द का उसके आधारभूत अहङ्कार में प्रयोग किया गया है। दार्शनिक शिरोमणि भगवान् व्यास के पौराणिकलेखों में भी उपर्युक्त दार्शनिकपद्धति का ही साम्राज्य है।

दुःख की बात है कि आजतक किसीभी टीकाकार ने यह विषय स्पष्ट नहीं किया। पण्डितप्रकाण्ड श्रीधरजी भी यहाँ चुप हैं। सम्भव है इसका कारण उनकी श्रद्धातिशय ही हो, जिसने व्यासजीवर्णित अन्धतामिस्र आदि तामससृष्टि की निराधारस्थिति के संबन्ध में आशङ्का को अवसर ही न दिया हो। )

इस सृष्टि को देखकर ब्रह्माजी की भावीसृष्टिविस्तारकार्य की आशा एकदम काफूर हो गई, जो इस द्वारा करने को चित्त में ठाने बैठे थे। क्योंकि यह सृष्टि अति तामस होने के कारण उन्मत्त की भाँति अपना आप संभालने में ही असमर्थ दिखाई

दी। इस से उनका चित्त यह विचार कर पहिले से भी कहीं अधिक चिन्तातुर तथा व्याकुल हो उठा कि माला ता उलटी ही फिर रही है।

जिस उद्देश्य को सन्मुख रखकर इतना परिश्रम किया गया है वह तो सिद्ध होता दिखाई नहीं देता। चिन्ता सी हो गई। इसी चिन्ता में:—

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं वह्वमन्यत।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्याँस्ततोऽसृजत॥
सनकं च सनन्दं च सनातन मथात्मभूः।
सनत्कुमारश्च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥

(श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ३, अ० १२, श्लो० ३, ४)

अपनी इस पापीयसी सृष्टि को देखकर ब्रह्माजी का चित्त प्रसन्न न हुआ। भगवान् का चिन्तन करने लगे। चिरकाल तक समाधिस्थ बैठे रहे। जब समाधि खुली उस समय मन की वृत्ति शुद्धसात्विक थी। ऐसी अवस्था में उन्हों ने शुद्ध सात्विक सँकल्प से चार पुत्र उत्पन्न किये जिन के नाम-सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार रक्खे। फिर—

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥

(श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ३, १२, ५)

उन को कहा हे पुत्रो! तुम सृष्टि पैदा करने में लग जाओ। परन्तु वे वासुदेव परायण मोक्षधर्मी थे अतः पिता की आज्ञा को सुनी अनसुनी कर दिया।

ब्रह्माजी के इन चार पुत्रों के नामों की ब्रह्मवैवर्तपुराण में जो व्युत्पत्ति की गई है उस से उक्त श्लोक में आए "मोक्षधर्माणः" और "वासुदेवपरायणाः" विशेषणों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है:—

सनकश्च सनन्दश्च तौ द्वावानन्द वाचकौ।
आनन्दितौ च बालौद्वौ भक्तिपूर्णतमौ सदा॥
सनातनश्च श्रीकृष्णो नित्यः पूर्णतमः स्वयम्।
यद्भक्तस्तत्समः सत्यं तेन बालः सनातनः॥
सनत्तु* नित्यवचनः कुमारः शिशुवाचकः।
सनत्कुमारं तेनैव मुवाच कमलोद्भवः।

* सनत्=नित्यः, सत्यः प्राकृतत्वेनाऽविकृतशब्दत्वात्सत्यब्रह्मप्रतिपादकत्वाद्वा ओं सोहम् इति मन्त्रः। अत्र सनत् शब्दो लक्षणया सत्यमन्त्र जपकर्तार माचष्टे। सचासौकुमारः—सदा पञ्चवर्ष देश्य—इति सनत्कुमार। 'सनत्तु नित्यवचन' इति वदतो भगवतो व्यासस्याऽयमेवाभिप्रायः। कर्तरिल्युडाव्युत्पन्नो 'नित्यवदन' शब्दः, नित्यं-सत्यं-उक्तमन्त्रं वक्ति-जपतीत्यर्थकः।

अर्थात् सनक और सनन्द ये दोनों शब्द आनन्द के वाचक हैं। यह दोनों बालक जन्म से ही भक्ति में लीन रहते थे और भक्ति से परमात्मा के आनन्दस्वरूप का आविर्भाव होता ही है, अतः वे सदैव आनन्दित ही रहा करते थे। इसी वास्ते इनके नाम भी सनक और सनन्द रक्खे गये। सनातनशब्द सर्वप्रकार से परिपूर्ण त्रिकालाबाध्य परमात्मा का वाचक है। नाम और नामी में अभेद होता ही है। उपासनाद्वारा, नाम का अवलम्बन लेकर, उपासक नामी या अपने लक्ष्य के साथ ऐक्य प्राप्त कर लिया करता है अर्थात् परमात्मा का भक्त भी 'सोहम्' कहने का अधिकारी हो जाता है। अतः भक्तियोगद्वारा ईश्वरसमता लाभ करने के कारण तीसरे बालक का नाम सनातन रक्खा गया।

सनत् शब्द का अर्थ नित्य अर्थात् सत्य है। स्वाभाविक अविकृतशब्द होने, या सत्य ब्रह्मप्रतिपादक होने के कारण 'ओंसोऽहम्' यह मन्त्र इसका वाच्य अर्थ हुआ। यहाँ लक्षणा से 'सनत्'शब्द उक्तमन्त्र के जपकर्ता को कहता है। कुमारशब्द का अर्थ पञ्चवर्ष का बालक है। इस अर्थ तथा भाव को सामने रखकर ब्रह्माजी ने सनत्कुमार नाम रक्खा। व्यासजी के कथन का भी यही आशय है। उदासीनों के आचार्य इन सनत्कुमारजी का दूसरा नाम सनत् का पर्य्याय सत्य भी है। पिता प्रेमवश पुत्र को आधा नाम लेकर भी बुलाते हैं, अतः ब्रह्माजी कुमारजी को सत्य शब्द से कभी कभी बुलाते थे। उदासीनमतानुयायी आजकल भी किसी वाक्य की सादर स्वीकृति के समय अपने आचार्य का नाम स्मरण करते हुए 'सत्यवचन' कहा करते हैं, जिसका आशय यह होता है कि आपके वचन उसी प्रकार ग्राह्य तथा आदरणीय हैं जैसे आचार्य सत्य (सनत्कुमारजी) के वचन॥

जब "सृष्टिवृद्धि में लग जाओ" पिता की इस आज्ञा की ओर बालकों ने कुछ ध्यान न दिया तो ब्रह्माजी उनकी इस उदासीनता को देखकर क्षुभित हुए। उन्हों ने सांसारिक सुखों के प्रलोभन दिखाए, पितृऋण से उऋण होना और गार्हस्थ्यधर्म्मपालन करना आदि कर्तव्य भी समझाए। परंतु वे चारों अपने विचारों में ऐसे दृढ़ थे कि उनपर पिता के उपदेश का कुछ भी प्रभाव न हुआ। लाचार ब्रह्माजी को ही चुप हो जाना पड़ा।

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि इन चारों भाइयों में से बड़ा कौन था। सम्भव है ब्रह्माजी के सङ्कल्प करने पर चारों भाइयों की उत्पत्ति एक ही समय में हुई हो। फिर भी पुरातनइतिहास से प्रकट होता है कि शेष तीनों भाई श्रीसनत्कुमारजी का विशेष आदर सम्मान किया करते थे। इतिहास तथा पुराणों में जहाँ कहीं भी इनका उल्लेख मिलता है वहाँ सनत्कुमारजी को ही प्रधानपद प्राप्त दिखाई देता है। ब्रह्माजी के पुत्रों में से इन चारों का जैसा परस्परसहयोग-सहचार रहा है वैसा दूसरों का इनके साथ, अथवा इनका दूसरों के साथ नहीं रहा। जहाँ कहीं भी इनका वर्णन आया है वहाँ चारों के नाम इकट्ठे लिखे मिलते हैं। यदि किसी अन्य महात्मा अथवा देवता से कुछ पूछने की आवश्यकता हुई है तो वहाँ प्रश्नकर्त्ता और यदि किसी अन्य को या इन चारों में से किसी एक को संशय निवृत्ति की आवश्यकता हुई है तो वहाँ उत्तरदाता सनत्कुमारजी ही होते रहे हैं। इस से पता चलता है कि कारण चाहे जो हो, बड़े सनत्कुमारजी ही माने जाते रहे हैं।

यहाँ यह शङ्का की जाती है कि ब्रह्माजी ने अपने पुत्रों को सृष्टिवृद्धि के कार्य में जुट जाने की आज्ञा की परन्तु उन्हों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। क्या उन पर पिता की आज्ञा की अवहेलना करने का दोष नहीं लगता? पर विचार से देखा जाए तो यह शङ्का व्यर्थ ही जान पड़ती है। प्रथम तो यही देखना चाहिये कि ब्रह्माजी सृष्टिसर्जन तो कर ही रहे थे, बीच में ही इस कार्य से उदास होकर परमात्मचिन्तन करते हुए समाधिस्थ क्यों हो गये? कारण यही था कि आरम्भ में जिस तामससृष्टि की रचना हुई, वह उनके उद्देश्य को सर्वथा सिद्ध न कर सकती थी। उनके ध्यान में आया कि कल्पान्तर में किये कर्मों का फल भुगताने के लिये प्रवृत्ति धर्मावलम्बी राजससृष्टि और आत्मा के परमध्येय अर्थात् मुक्तिःप्राप्ति का मार्ग प्रदर्शन करनेवाली सात्त्विकसृष्टि की रचना करना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा इस चक्र के उलटा चलते रहने का भय बना ही रहेगा। इसी विचार से उन्हों ने तामससृष्टिसर्जन के कार्य को बीच में ही छोड़ दिया और चिरकाल तक परमात्मचिन्तन से निर्मलचित्त होकर सनकादि चार "मोक्षधर्माणः वासुदेव परायणाः" शुद्धसात्त्विक मानसपुत्र उत्पन्न किये। इस के अनन्तर जब राजससृष्टि सर्जन की ओर झुके तब वात्सल्यभाव जाग उठा और उन सुकोमल कुमारों को त्याग-वैराग्य की शिक्षा देने के समय ब्रह्माजी का दिल भी गुरुकुल में विद्याध्ययनार्थ जाने वाले ब्रह्मचारी की माता के समान भर आया, जो यह जानती हुई भी कि गुरुकुल में विद्याध्ययन कर उसका बालक न केवल अपना जन्म ही सफल कर लेगा वंश, जाति तथा देशका भी गौरव बढ़ा सकेगा, इस विचार से आँखों में आँसू भर लाती है कि उसका फूल जैसा बच्चा सांसारिक सुखों से वंचित रहकर तपस्वियों और भिक्षुकों जैसा जीवन व्यतीत करेगा। यह भी सम्भावना हो सकती है कि सनकादि को सृष्टिवृद्धि में लग जाने की आज्ञा देने का प्रयोजन इस बात की परीक्षा करना ही हो कि जिस उद्देश्य को समक्ष रख कर इनको उत्पन्न किया गया है उसकी योग्यता अर्थात सांसारिक भोगों से उदासीनता, इन में है भी या नहीं। कुछ भी हो, ब्रह्मा जी ने अपने इन चार पुत्रों को प्रवृति पथ के पथिक बनाने के विचार से न पैदा किया था और नही इस पथ पर उन्हें चलाने की इच्छा ही रखते थे। इस बात को सनकादि भी भलीभाँति समझते थे। क्योंकि न केवल इस अधिकार से कि "आत्मावै जायते पुत्रः" पुत्र पिता का ही अंश अथवा उसके अनुरूप होता है, वे ब्रह्माजी की शुद्धसात्त्विकीसृष्टि थे, पिता के हार्दिक भावों को जान लेना उनके वास्ते कठिन न था। वे जानते थे इस समय पिताजी का वात्सल्यप्रेम उमड़ आया है, वस्तुतः उन्हें यह अभीष्ट नहीं कि अपने वासुदेवपरायण पुत्रों को सांसारिकबन्धन में फँसाया जाए। अतः यदि उन्हों ने ब्रह्माजी की आज्ञा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया तो उन पर पिता की आज्ञा टालने का दोष नहीं लग सकता।

यदि यह मान भी लिया जाए कि ब्रह्माजी ने केवल परीक्षा के लिये ही कुमारों को सृष्टि सर्जन की आज्ञा नहीं दी थी बलिक उनकी हार्दिक इच्छा कुमारों को सृष्टिसर्जन में लगादेने की ही थी, तब भी कुमारों पर पिताकी आज्ञा उल्लङ्घन का दोष नहीं लग सकता। क्योंकि जीव का परमध्येय तो ईश्वर प्राप्ति ही है। इस

ध्येय की सिद्धि के लिये जीव पर भले ही अन्य नानाकर्तव्य भी लगाए गये हैं। पर उसका सर्वश्रेष्ठ, प्रधान और समीपसाधन तो चतुर्थाश्रम ही माना गया है। अन्यकर्तव्य चतुर्थाश्रम तक पहुँचने के सहायकमात्र हैं। व्यासजी के कथन से प्रकट होता है कि सनकादि चारों कुमार जन्मतः "मोक्षधर्माणः" और "वासुदेव परायणाः" थे। जब वे चतुर्थाश्रम के मुख्य साधनों से जन्मतः ही सम्पन्न थे तो उन साधनों की अवहेलना कर सृष्टिसर्जन में लग जाना तो "उपस्थितं परित्य ज्यानुपस्थितं याचयेदिति" वाली बात ही होती। जहाँ दो कर्तव्यों की टक्कर हो वहाँ उनकी श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का विचार कर श्रेष्ठ का ग्रहण तथा अश्रेष्ठ का त्याग करना ही पड़ता है। जैसे—अन्य सब पदार्थों से ईश्वर की श्रेष्ठता प्रधान है। जहाँ ईश्वर के श्रेष्ठत्व के साथ अन्यश्रेष्ठताओं का विरोध उपस्थित हो वहाँ ईश्वर की श्रेष्ठता के आगे दूसरी श्रेष्ठताओं को छोड़ दिया जाता है। क्योंकि ईश्वर श्रेष्ठत्व साध्य है और अन्य उसके साधन हैं। साध्य की अगवति होजाने पर साधन की आवश्यकता ही नहीं रहती। ईश्वरप्राप्ति के लिये यदि कोई गुरु, माता, पिता, स्वामी अथवा अन्य किसी मान्यव्यक्ति की आज्ञा का उल्लङ्घन करता है तो शास्त्र ने इसे दोष नहीं माना। जैसे किसी राज्यकर्मचारी को राजा की ओर से किसी विशेषस्थान पर पहरा देने की आज्ञा मिली हो परन्तु दूसरी ओर राज्य के विरुद्ध किसी भयानकआक्रमण की सूचना मिलने पर वह पहरे के स्थान को छोड़कर आक्रमणकारियों को रोकने के लिये चला जाए तो वह राजाज्ञाभङ्ग करने का दोषी नहीं बन सकता। यही कारण है कि पिता की आज्ञा न मानने के कारण प्रह्लाद की, माता की आज्ञा की अवहेलना करने के कारण भरत की, गुरु आज्ञा न मानने के कारण बलिराजा की, पतियों के शासन की पर्वाह न करने के कारण व्रज-स्त्रियों की, सम्बन्धियों की ताड़ना की अवहेलना करने के कारण मीराबाई की कभी कोई निन्दा नहीं करता। सनकादि कुमार स्वभाव से ही मोक्ष धर्मावलम्बी थे, ईश्वर प्राप्ति के अन्तरङ्गसाधनों के अनुष्ठाता थे, जन्म से ही साधनचतुष्टय षडसम्पत्ति आदि नानाविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न थे। यही ईश्वरप्राप्ति के अति समीपी साधन हैं। इन साधनों का अनुष्ठान करने के लिये अथवा परमात्मनिष्ठा-भूमि को दृढ़ करने के लिये इनलोगों ने पितृआज्ञारूप कर्तव्य की ओर ध्यान नहीं दिया तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

व्यासजी के कथनानुसार, ब्रह्माजी के कहने पर भी वे चारों भाई "नैच्छन्", सृष्टिवृद्धि के कार्य की ओर से सर्वथा उदासीन रहे। उपस्थितवस्तु की भी अकांक्षा न रखना या उसकी ओर से तटस्थ रहना ही उदासीनता है, "नैच्छन्" शब्द का अर्थ भी ठीक यही है। जहाँ "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्० " मंत्र से यह प्रकट होता है कि सृष्टिउत्पत्ति के साथ ही वर्णव्यवस्था भी स्थापित हो गई थी वहाँ उपरोक्त कथा से यह भी सिद्ध होता है कि चारों आश्रमों या कम से कम गृहस्थ और चतुर्थाश्रम इन दो आश्रमों की नीव भी उसी समय रख दी गई थी और यह सब ब्रह्माजी की इच्छा से ही हुआ था। गृहस्थधर्म के आचार्य तो स्वयं ब्रह्माजी भी माने जा सकते हैं परन्तु जैसाकि ऊपर कहा गया है—चतुर्थाश्रमियों में सब से बड़े सन्तकुमारजी ही माने जाते थे। अतः वही औदास्य धर्म के आदिमाचार्य नियत

हुए। उदासीनधर्मानुयायी भी आज तक उनको ही आदिमाचार्य मानते आए हैं। उदासीनधर्म के ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी पूर्वाचार्यों का उल्लेख मिलता है वहाँ सर्व प्रथम श्री सनत्कुमारजी का नाम ही लिखा हुआ है। दूसरे, जिन सिद्धान्तों की रक्षा तथा प्रचार के लिये भगवान् सनत्कुमारजी ने सृष्टिवृद्धि से उदासीनता प्रकट की थी उदासीनधर्मानुयायी महात्मा आज भी उन्हीं सिद्धान्तों का पालन और रक्षा कर रहे हैं। इस से भी यही सिद्ध होता है कि "वासुदेवपरायण" मोक्ष धर्मी —चतुर्थाश्रमीउदासीनों के आदिमाचार्य भगवान् सनत्कुमार जी ही हैं।



## (२ तरङ्ग)

## हंसावतार का उपदेश.

धर्म के जिस तत्व को समझने की आवश्यकता होती थी उसे भगवान् सनत्कुमारजी ब्रह्माजी से ही पूछा करते थे। परन्तु कुछ समय पश्चात् उनके निवृत्ति-धर्मविषयक प्रश्नों का उत्तर देते समय ब्रह्माजी को कठिनाई प्रतीत होने लगी। क्योंकि श्रीसनत्कुमारजी को तो निवृत्तिधर्म की लगन लगी हुई थी, वे सदैव इसी विषय की शंकाओं का समाधान कराने के लिये धर्मचर्चा चलाया करते थे। पर ब्रह्माजी के मन का झुकाव उस समय सृष्टिरचना अर्थात् प्रवृत्ति की ओर था, इसलिये अलौकिकविषयों के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों का उत्तर देते समय ब्रह्माजी को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। कारण, एक तो "युक्तिप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः" के अनुसार किसी विषय की सिद्धि के लिये, सृष्टि का आदिकाल होने से, युक्तिप्रमाणादि यथेष्टसामग्री न मिल सकती थी। दूसरे श्री सनत्कुमारद्वारा पूछा जाने वाला विषय अलौकिक होता था। साथ ही ब्रह्माजी यह भी अनुभव करते थे कि सनत्कुमारादि चारों पुत्र सृष्टिवृद्धि की ओर से तो उपराम हो ही गये हैं, जिस धर्म को इन्हों ने ग्रहण किया है उसका पूर्ण ज्ञान हुए विना इन्हें अब सन्तोष नहीं हो सकता और वह ज्ञान इस विषय का पूर्णज्ञाता गुरु मिलने से ही होगा। उस ढंग के गुरु बनने के अधिकारी केवल ब्रह्माजी ही हो सकते थे, पर उनके सामने सब से कठिनसमस्या यह थी कि 'एक प्रवृत्ति धर्मानुयायी, मोक्षधर्मावलम्वी चतुर्थाश्रमी का गुरु बन कैसे सकता है? फिर "यद्य दाचरति श्रेष्ठः" छोटों को अपने बड़े बूढ़ों का ही अनुकरण करना पड़ता है, हमारा अनुकरण करके वे कैसे अभीष्टसिद्धि प्राप्त कर सकेंगे?' यह सब सोच कर ब्रह्माजी ने यही निश्चय किया कि इन बालकों की मोक्षधर्म के पूर्णज्ञाता गुरु से भेंट कराने का प्रबन्ध होना चाहिये। पर उस समय ऐसा गुरू मिलना कठिन था। सृष्टि का तो अभी श्रीगणेश ही हुआ था, परिपक्वज्ञानवाले मोक्षधर्म के ज्ञाता

महात्माओं का उस समय मिल जाना सुगम न था। ऐसे महात्माओं का होना सम्भव ही कैसे हो सकता था जब मोक्षरूप उदासीनधर्म का अभी प्रचार ही न हुआ था?

इस कठिनाई को दूर करने के लिये ब्रह्माजी ने भगवान् से ही याचना की। तब भगवान् ने हंसरूप में आकर ब्रह्माजी के इन पुत्रों को तत्वज्ञान का उपदेश किया। यह सारी कथा भगवान् वेदव्यासजी ने भागवतपुराण एकादशस्कन्ध के तेरहवें अध्याय में लिखी है। वही यहाँ उद्धृत करदी जाती है—

## उद्धवजी और भगवान् कृष्ण में प्रश्नोत्तर.

महाभारत युद्ध के अनन्तर महाराजा युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे, उसी समय प्रभासक्षेत्र में यादवकुलविनाशिनी घटना घटी। उस के एक दो दिन पूर्व भगवान् कृष्ण अपने प्यारेमित्र उद्धवजी को तत्वज्ञान का उपदेश कर रहे थे। इस वार्तालाप में उद्धवजी ने प्रश्न किया—

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथंश्वखराजवत् ॥ ८ ॥ भा० ११, १३, ८

हे कृष्ण! सब लोग जानते भी हैं कि विषय ही सर्वप्रकार के दुःखों का घर हैं, फिर भी वे कुत्ता गदहा तथा बकरा के सदृश विषयभोगों में रत रहते हैं इसका कारण क्या है? उत्तर में भगवान् कहते हैं:—

अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥९॥
रजो युक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि दुर्मते ॥१०॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि संपश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥११॥
रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः ।
अतन्द्रितो मनोयुञ्जन् दोषदृष्टि र्न सज्जते ॥१२॥
अप्रमत्तो नु युञ्जीत मनो मय्यर्पयन् शनैः ।
अनिर्विण्णो यथा कालं जितश्वासो जितासनः ॥१३॥
एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धा वेश्यते यथा ॥१४॥

हे उद्धव! मिथ्या अभिनिवेश के वशीभूत होकर ही पुरुष विषयभोग में फँसा रहता है। क्योंकि जब शरीरादिकों के विषय में "अहम्" इत्याकारक मिथ्याबुद्धि पुरुष के हृदय में वास करने लगती है तब सत्वप्रधान मन को भी रजोगुण आच्छादित कर लेता है। तत्पश्चात् जो जो चित्ताकर्षकवस्तुएं मन के सामने आती हैं उनके विषय में "यह ग्राह्य है, यह भोग्य है!" ऐसे संकल्प-विकल्प मन में उत्पन्न होने लग जाते हैं। फिर तो उस अविवेकीपुरुष के मन में "कैसी हृदयाह्लादक वस्तु है, क्या ही सुन्दर स्वरूप है" इत्यादिक गुणचिन्तनद्वारा, उस वस्तु को प्राप्त करने की अतिदुर्धर्ष इच्छा पैदा हो जाती है और स्वयं उस इच्छा के अधीन हो जाने पर उस पुरुष की इन्द्रियाँ उसकी शक्ति से बाहर हो जाती हैं। राजस शक्ति उसे नितान्त मूढ बना देती है। ऐसी अवस्था में कर्मों के दुःखपूर्णस्वरूप को जानता हुआ भी, पुरुष इच्छा के वशीभूत हो कर्म करता ही रहता है।

## क्लेशनिवृत्ति का उपाय.

उद्धवजी बोले, "भगवन्! यदि ऐसा ही है तो क्लेशों से कोई भी बच नहीं सकता। फिर तो क्लेशनिवृत्ति के उपायों का अवलम्बन व्यर्थ ही जान पड़ता है। भगवान् ने कहा-उद्धव! समय आने पर रजोगुण तथा तमोगुण से विवेकीपुरुष का चित्त भी विक्षिप्त होजाता है। परन्तु वह सदैव सावधान रहता है और विषयों में गुणदृष्टि न रखकर विषय-दोष-दृष्टि द्वारा मन को अपने वश में रखता है। अतः वह विषयों में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार विवेकीपुरुष दुःखजाल से सदैव अपनी रक्षा करता रहता है।

उद्धवजी ने फिर प्रार्थना की, दयानिधे! यदि कोई पुरुष विषयों में दोषबुद्धि पैदा नहीं कर सकता तो ऐसे पुरुष के लिये दुःखों से बचने का क्या उपाय है? उत्तर में भगवान् ने कहा-ऐसा पुरुष भी यदि आसन प्राणायामादि का अभ्यास कर प्रमाद को त्याग दे और ग्लानि खिन्नतादि को मनसे निकाल कर प्रसन्नचित्त हो प्रतिदिन सायं, प्रातः तथा मध्यान्हकाल में मुझ ईश्वर में ही अपने मन को समाहित करे तो फिर उसके मन में मद्विषयक प्रेम पैदा हो जायगा। बस, ईश्वर प्रेम पैदा होते ही, हे उद्धव! वह स्वयमेव सर्वप्रकार की विषयासक्तियों और उनसे पैदा होनेवाले दुःखों से मुक्त हो जायगा।

उद्धवजी ने फिर प्रश्न किया, महाराज! चित्त और विषय तो दूध और पानी के समान एक रूप हो रहे हैं, जबतक इनका पृथक्करण नहीं होता तब तक ईश्वरनिष्ठा और उसके प्रेम की सम्भावना कैसे हो सकती है? एक म्यान में दो तलवारें कैसे समा सकती हैं? उत्तर में भगवान् कहने लगे—उद्धव! जैसा प्रश्न तुमने इस समय किया है ठीक ऐसाही प्रश्न एक बार मेरे शिष्य सनत्कुमारादि ने भी किया था। उसके उत्तर में जिस योग का उपदेश मैंने उन्हें किया था वही अब तुमको भी सुनाता हूँ।

विस्मित होकर उद्धवजी बीच ही में बोल उठे-दयानिधे! क्षमा करना, आपके इस कथन को सुनकर मेरे मन में एक और शङ्का उत्पन्न हो गई है। महाराज! वे तो ब्रह्माजी के मानसपुत्र थे, आपके शिष्य कैसे हुए? क्या आपके अवतार

धारण करने के समय तक वे गुरुविहीन ही रहे ? आपका अवतार होने तक तो कितने युग, मन्वन्तर और कल्प उनको उत्पन्न हुए बीत चुके थे, क्या इतने दीर्घ काल तक वे गुरूहीन रहकर अज्ञानान्धकार में ही पड़े रहे ? परन्तु ऐसा तो कभी सुनने में नहीं आया। प्रत्युत् उन्हें तो अज्ञानरहित बताया जाता है।

भगवन् ! वैसे तो आप ब्रह्माजी के उन चार पुत्रों के ही क्यों ? समस्त ब्रह्माण्ड के ही गुरू हो ! परन्तु आपका इस समय का कथन तो लौकिकी गुरुशिष्यमर्यादा को सूचित करता है। एक शङ्का यह भी है कि आप तो अब तक अपनी दिव्य मानवलीलाओं को क्षत्रियगृहस्थ के रूप में ही सम्पन्न करते रहे हैं। ब्रह्माजी के वे पुत्र चतुर्थाश्रमी बताए जाते हैं, फिर इस रूप में आप उन्हें अपने शिष्य कैसे बना सकते थे ? आपने तो धर्ममर्यादा की रक्षा के लिये अवतार धारण कर रक्खा है, मुझे कैसे निश्चय हो कि ब्रह्मपुत्रों को शिष्य बनाते समय आपने एक विशेषमहत्वपूर्ण मर्यादा का कुछ भी ध्यान न रक्खा होगा ? मुझे तो यही निश्चय होता है कि यदि ब्रह्मपुत्रों को आपने शिष्य बनाया था तो किसी अन्यस्वरूप में ही बनाया होगा। अतः हे करुणानिधान ! यदि ऐसा ही है तो सेवक की चञ्चलता की ओर ध्यान न देकर पहले अपने उस स्वरूप का ही हाल बतलाइये जिस में आपने सनकादि को शिष्य बनाया था। क्योंकि उसे सुनने की मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा पैदा हो रही है। तत्पश्चात् उन मुनियों के प्रश्न के उत्तर में जिस योग का आपने उपदेश किया था उसके बताने की भी कृपा कीजिये।

## चित्त और विषयों का पृथक्करण.

भगवान् ने कहा—एक समय चतुरानन श्रीब्रह्माजी ब्रह्मलोक में विराजमान थे। उन्हें एकान्त में प्रसन्नवदन बैठे देख कर सनकादि ने परस्पर विचार किया कि अपने विक्षेप की निवृत्ति के वास्ते योग विषयक प्रश्न करने का यही उपयुक्त समय है। इस समय से लाभ उठाना चाहिये। ऐसी सम्मति कर चारोंभाई पिताजी के चरणों पर सिर झुका कर उनके सन्मुख बैठ गये। ब्रह्माजी ने प्रेम से प्रत्येक के मस्तक पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दिया और प्रसन्न हो कर कहा, बेटा ! तुम्हें जिस वस्तु की इच्छा हो निःसङ्कोच कहो, वह वस्तु तुम्हें अवश्य मिलेगी।

हाथ जोड़ प्रणाम कर श्रीसनत्कुमारजी कहने लगे—दयालो ! इस ब्रह्माण्ड में ऐसा कौन पदार्थ है जो आपके पुत्रों को अलभ्य है ? कौनसी ऐसी दैवीशक्ति है जो आपकी दया से हमें स्वभावतः न मिल रही हो ? इस ब्रह्मांण्ड में जहाँतक आपका शासन है उसके सब ऐश्वर्य आपके पुत्र होने के कारण हम विनापरिश्रम ही प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु पिताजी ! केवल एक ही चिन्ता है जो ब्रह्माण्ड में विचरते हुए हमें सदैव विच्छू के समान काटती रहती है और वह चिन्ता यह है कि:—

" गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो "
कथमन्योऽन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥१७॥

" विषयों में चित्त प्रवेश कर जाता है और चित्त में वासना रूप से अनुभूत विषय प्रवेश कर जाते हैं। " भगवन्! आपको महिमा और अनुग्रह से हम लोगों में तो ऐसी निर्बलता की कोई बात नहीं, इस से तो आपको निश्चिन्त रहना चाहिये। परन्तु अन्यलोग चित्त और विषयों के पृथक्करण का उपाय पूछते हैं तो हमें सिवा मौन रहने के कोई चारा दिखाई नहीं देता। अतः विषयों के अतिक्रमण की इच्छा रखनेवाला मुमुक्षुपुरुष किस उपाय से विषय तथा चित्त को पृथक् कर सकता है ? यही जानने की अभिलाषा रखते हैं।

हे उद्धव! सनत्कुमार के इस प्रश्न को सुन कर, सर्वदेवों में अग्रगण्य और सर्वभूतों के स्रष्टा भगवान् चतुरानन उक्तप्रश्न के मूलकारण की खोज के लिये बारबार विचार करने लगे। उन्होंने सोचा, इन लोगों के अन्दर ऐसा कौनसा अज्ञान शेष रह गया है जो इन लोगों के स्वयं ऐसे प्रश्नों का समाधान कर सकने में बाधक हो रहा है ? परन्तु जगत्सर्जनरूप प्रवृत्ति में चित्त अव्यवस्थित होने के कारण चिर तक विचार करते रहने पर भी ब्रह्माजी उस प्रश्न के बीज (कारण) अर्थात् अज्ञान को न जान सके और नही प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर दे सके। जब कोई भी उत्तर समझ में न आया तो इस समस्या को सुलझाने के अभिप्राय से "हे परमात्मन्! जैसे हंस क्षीर-नीर-विवेचन करता है वैसे ही इन बालकों के प्रश्न के उत्तरभूत तत्वों का विवेचन आप करें" ऐसा सङ्कल्प कर ब्रह्माजी मेरा चिन्तन करने लगे। मैं उसी समय "ये यथामां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजास्यहम्" अपनी इस प्रतिज्ञानुसार हंसरूप में ब्रह्माजी की सभा में उपस्थित हो गया।

उद्धवजी ने फिर प्रार्थना की-हे दामोदर! आप से यह सुनकर मुझे तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि ब्रह्माजी के मानसपुत्रों में वह अज्ञान कहाँ से आ गया जिसकी खोज ब्रह्माजी कर रहे थे? यह बात और भी कौतूहलजनक है कि उस अज्ञान का पता ब्रह्माजी भी न लगा सके और उन्हें आपको कष्ट देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फिर इस पर भी आपने जो लीला रची वह और भी चकित करने वाली थी। ब्रह्माजी ने तो हंस को उपमान रखते हुए आपका स्मरण किया था क्या आप नाना दिव्यरूपों को छोड़कर हंसरूप में ही आधमके ? ब्रह्माजी ने भी हंसरूप में तो आपका स्मरण नहीं किया था केवल उसके गुणनिबन्धन से ही वहाँ हंस का नाम लिया था। हे मधुसूदन! इन शङ्का पिशाचनियों से मेरा पिण्ड छुड़ाइये।

भगवान् बोले, प्यारे उद्धव! यह सत्य है कि सनत्कुमारादि चारों भाई सर्वोपरि दिव्यऐश्वर्यों को लेकर इस ब्रह्माण्ड में आविर्भूत हुए थे, तथापि यह मानना ही होगा कि इस जगत् में किसी का आगमन अहेतुक नहीं होता। अर्थात् जन्म आविर्भावादि का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अतः सनत्कुमारादि के आविर्भाव का भी कोई निमित्त मानना ही होगा और वह कारण जो भी हो, वह अविद्यक-मायिक ही हो सकता है। उनमें किसी न किसी प्रकार की अविद्या स्वीकार करनी ही पड़ेगी। परन्तु सनत्कुमारादि में उस अविद्या को खोज निकालना ऐसा ही कठिन है जैसे सूर्य्य में काले दाग का खोज निकालना। कारण, वे ऐसे पवित्रव्यक्ति थे कि उनमें अविद्या आदि दोषों की सम्भावना स्वप्न में भी नहीं हो

सकती थी। प्रश्न सुन कर ब्रह्माजी के मौन रह जाने और स्तब्ध से हो कर परमात्मा की शरण लेने का कारण भी यही प्रतीत होता है। भले ही भगवान् विष्णु तथा शङ्करजी ने जय-विजय तथा पितृकन्याओं को दिये गये शापों को न्यायसंगत ठहराया, परन्तु उन से भी उन में यत्किञ्चित् अविद्या का होना प्रमाणित होता है। अपनी इस भूल को स्वयं इन लोगों ने भी स्वीकार किया था। वास्तव में उसी दोष की निवृत्ति के लिये इन्हों ने ब्रह्माजी से ऐसा प्रश्न किया था। हे उद्धव! यद्यपि इस संसार में मेरे आने के कारण वे नहीं हैं जो जीवों के आने के होते हैं, अर्थात् जैसे जीव कर्मतंत्र होकर संसार में आता जाता है वैसा कोई वन्धन मेरे आने जाने का कारण नहीं होता। तथापि मेरा किसी अवताररूप में आना निष्कारण तो नहीं होता। भले ही उन कारणों से भी मैं सदैव स्वतंत्र हूँ, अर्थात् उन से मेरी स्वाभाविकस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, फिर भी उन कारणों का अस्तित्व तो मानना ही पड़ता है। वे कारण चाहे जो हों, वे सव मायिक ही हो सकते हैं। जव इस संसार में मेरा आना जाना भी निष्कारण नहीं, तो औरों की चर्चा ही क्या?।

## चतुर्थाश्रमदीक्षा

ब्रह्माजी का चित्त सृष्टिसर्जनरूप प्रवृत्ति की ओर आकर्षित होने के कारण अव्यवस्थित दशा में था, अतः वे सनत्कुमारादि के प्रश्न का उत्तर न दे सके। अपनी असमर्थता से ब्रह्माजी ने इस लोकव्यवहार का दिग्दर्शन कराया है कि कोई पूर्ण विद्वान ही क्यों नहो यदि वह प्रवृत्तिदशा में किसी कार्य की चिन्ता में मग्न है तो अन्यविषय का साधारणप्रश्न उपस्थित होने पर भी उसका यथोचित उत्तर देने में असमर्थ हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में सन्तोषजनक उत्तर न दे सकने पर विद्वान की अनभिज्ञता सिद्ध नहीं हो जाती। यह लोकप्रसिद्ध बात है कि पुरुष अन्यमनस्क होने की अवस्था में ज्ञातघटना को भी यथोचितरूप में वर्णन नही कर सकता। एवम् यदि ब्रह्माजी उत्तर नहीं दे सके तो उनकी सर्वज्ञता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूसरे, सम्भव है कि सनत्कुमारादि के इस प्रश्न का उत्तर देना ब्रह्माजी ने उचित ही न समझा हो। कारण, सृष्टि के विधाता होने से ब्रह्माजी सर्वप्रकार की मर्यादाओं के भी विधाता हैं। उन्हों ने विचार किया-सनत्कुमारादि ने प्रवृत्ति से उदासीनता प्रकट की है, लोककल्याणार्थ उदासीन चतुर्थाश्रम की मर्यादा की नीव इन लोगों के हाथों ही रख दी जानी चाहिये। यदि इनके प्रश्न का उत्तर दे दिया तो सम्भव है इस कार्य को सम्पन्न करने का ऐसा अवसर फिर शीघ्र न मिल सके। मालूम होता है, ब्रह्माजी का विचार यह भी था कि भले ही सनत्कुमारादि उनके पुत्र हैं और पुत्र पिता से ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण कर सकता है, फिर भी वे स्वयं प्रवृत्तिधर्मानुयायी और सशक्तिक हैं, यदि स्वयं ही निवृत्तिधर्मानुयायी विहंगम पुत्रों को उत्तर देकर मुनिदीक्षा से दीक्षित करने और चतुर्थाश्रमरूप उदासीन-आश्रम के गुरु बनने बैठ गये तो यह व्यवहार हास्यास्पद और हानिकर समझा जायगा। अन्त में उन्हों ने यही निश्चय किया कि आश्रमनिर्माण के लिये इस प्रश्न का उत्तर किसी दूसरे से दिलाना ही श्रेयस्कर होगा। बस, इसी उलझन को सुलझाने के लिये वे मेरा चिन्तन करने लगे।

तब मैं स्वयम्भू के संकल्पानुसार उदासीन-मोक्षाश्रम की मर्यादास्थापना के लिये चतुर्थाश्रमी हंसवेष* में अवतीर्ण हो-ब्रह्मसभा में उपस्थित हुआ। मुझे देखते

* १—सृष्टि के आरम्भ में दूसरा कोई ऐश्वर्यशाली नहीं था अतः उस समय केवल मायाशवलब्रह्म ही ईश्वरशब्द-वाच्य था। ज्यों २ क्रमशः सृष्टि की उन्नति होती गई, त्यों २ सापेक्ष ऐश्वर्यशाली देवता तथा राजा महाराजा भी पैदा हो गये, उन्हें लोग ईश्वरं और निरतिशय, निरपेक्ष-ऐश्वर्यशाली ईश्वर को परमेश्वर कहने लगे। इसके साथ २ परमेश्वर पद में परम का लोप करके केवल ईश्वर-पद का भी परमात्मा में प्रयोग करते रहे और आज तक कर रहे हैं।

यह प्राचीन प्रथा है कि जिस संज्ञा शब्द में दो भाग या पद हों, वह अपने अर्थ में सारे का सारा तो प्रयुक्त होता ही है, कभी-कभी पूर्वपद का लोप करके केवल उसका उत्तरपद और उत्तर पद का लोप करके केवल उसका पूर्वपद भी उसी अर्थ के बोधन के लिये बोला जाता है। भगवान् कृष्ण की राणी का पूरा नाम सत्यभामा था, पर उसे 'सत्या' और 'भामा' भी कहते थे। उपर्युक्त नियम का आकार कात्यायन ने इस प्रकार लिखा है "विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयो र्लोपो वा वाच्यः" अर्थात् किसी प्रत्ययविशेष के न रहने पर भी शब्दों के पूर्वभाग तथा उत्तरभाग का कभी २ लोप हो जाया करता है। इस के अनुसार श्रीसनत्कुमार के गुरु भगवान् के अवतार 'हंस' में हंस शब्द का प्रयोग परमहंस के परमभाग का लोप करके किया गया है।

२—आरम्भ में चतुर्थाश्रमी के हंस, परमहंस आदि भेद न होने से हंस शब्द ही परमहंस के अर्थ में प्रयुक्त होता था। पीछे से चतुर्थाश्रमी के भेद होने पर भी पुराणों में नाम नहीं बदला गया। अब तक इसी नाम से लिखते तथा बोलते हैं,। यह नहीं कह सकते कि वे 'हंस' अर्थात् तृतीयकक्षा के चतुर्थाश्रमी थे। एक तो उस समय विभाग ही नहीं था। दूसरा, जिस स्वरूप में वे अवतीर्ण हुए और चतुर्थाश्रम की दीक्षा दी, उन का वह स्वरूप (परमहंसश्रेणी) उत्तमकक्षा का था, यही कक्षा प्रव्रज्या की उच्चअवस्था है। भगवान् हंस ने सनत्कुमारादि को इसी कक्षा का उपदेश दिया था। जिस में वे आयु भर रहे। ज्यों २ आगे २ चतुर्थाश्रमियों में त्रुटियाँ आती गईं, त्यों २ इन के विभाग होते गये। अन्ततः कुटीचक तक पहुँच गये। सर्वलक्षण संपन्न पूर्णपुरुष का चलाया मार्ग पहिले सर्वथा पूर्ण तथा स्वच्छ होता है, उस में पश्चाद्भावी पुरुषों की असावधानता से ही त्रुटि आया करती है। इस के विपरीत अपूर्णपुरुष से प्रचलितप्रथा में प्रथम अवश्य अपूर्णता होती है, पश्चात् संशोधन, सुधारद्वारा उस को पूर्णता में लाने का यत्न किया जाता है। भगवान् के चरणारविन्द से प्रचलित भागीरथी के प्रथम-प्रवाह के समान भगवान् (हंस) से प्रचलित प्रव्रज्या का प्रथमप्रवाह भी अतिनिर्मल तथा सर्वगुणों से परिपूर्ण था। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि उस के प्रथमप्रचालक (आदिमाचार्य) भगवान् हंस भी उत्तमकोटि के चतुर्थाश्रमी अर्थात् परमहंस थे। इसी अर्थ में पूर्वजों के समान इस समय के विद्वान भी उन को 'हंस' नाम से स्मरण करते हैं। इस पक्ष में कात्यायन की वार्तिक से इस में परमपद का लोप करने की आवश्यकता नहीं। लोप के बिना ही 'हंस' शब्द परमहंस के अर्थ का बोध करा सकता है।

३—हंस के नीरक्षीर-विवेक के समान विषयों से चित्त का पृथक्करण तथा आत्मानात्म का विवेचन करना ही चतुर्थाश्रमी का मुख्यकर्तव्य है। भगवान् ने चतुर्थाश्रमी के रूप में अवतीर्ण हो सनत्कुमारादिकों के प्रश्न के उत्तर में ऐसा ही किया, अतः हंससादृश्य से हंसशब्द का प्रयोग होने लगा। भगवान् में प्रयुक्त इस हंसशब्द का पर्याय ही परमहंस है।

परमहंस शब्द—"परमहंसमहामुनीनाम्" स्कं० ३, अ० १५ श्लो० ३७,। 'पारमहंस्यचर्यया' स्कं० ४ अ० २२ श्लो० २४, श्रीमद्भागवत के अनुसार चतुर्थाश्रमी में प्रयुक्त हुआ है। जिस के भेद यह है।

ही वे सबलोग खडे हो गये और ब्रह्माजी के पीछे आकर सनत्कुमारादि चारों भाईयों ने नम्रतापूर्वक मेरे चरणों पर प्रणाम किया। जब आगत-स्वागत की रीति पूर्ण कर सब लोग बैठ गये तब सनत्कुमार ने मुझसे पूछा "आप कौन हैं?"

मैंने सोचा 'देहादि से आत्मा भिन्न है' ऐसा पूर्णनिश्चय, अर्थात् आत्मा का पूर्णतया साक्षत्कार प्राप्त कर लेने वाले ज्ञानी में रागादिदोष उत्पन्न नहीं हो सकते। रागादि का अभाव हो जाने पर स्वयमेव ही विषय तथा चित्त का विश्लेषण हो जाता है। इसी विचार से आत्म-अनात्म का विषय प्रदर्शन करते हुए उनके प्रश्न का जो उत्तर मैंने हंसरूप में दिया उसे सावधान होकर सुनो। पहले मैंने उनसे ही पूछा—

वस्तुनो यद्यनानात्व मात्मानः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा? वक्तुर्वामेकआश्रयः॥२२॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वा प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥२३॥

---

चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रोक्ताः सामान्यलिङ्गिनः।
तेषां पृथक्पृथग्ज्ञानं वृत्ति भेदा त्कृतं च तत् ॥१॥
कुटीचरो बह्वदको हंसश्चैव तृतीयकः।
चतुर्थःपरमोहंसो यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥२॥

भिक्षु (चतुर्थाश्रमी) चार प्रकार के होते हैं (१–कुटीचर, २–बहूदक, ३–हंस, ४–परमहंस) उन के काषाय (गेरवे) वस्त्र आदि चिन्ह समान होते हैं। दूसरे शास्त्रवर्णित अलग २ आचरणों तथा चिन्हों से उन की पहचान होती है। १–शिखा, यज्ञोपवीत दोनों धारण करता है और अपने सम्बन्धियों से बनवाई—कुटियों में रहता हुआ उन्हों के दिये असन, वसनादि से जीवनयापन करता है। २—शिखायज्ञोपवीत दोनों रखता तथा जन्मग्राम त्याग कर रमताराम रहता है। ३—शिखा त्याग कर यज्ञोपवीत रखता और चक्रवर्ती हो कर विचरता है। ४—शिखा, यज्ञोपवीत दोनों नहीं रखता, जहां चाहे यात्रा करता है।

भगवान् हंस चतुर्थकक्षा के चतुर्थाश्रमी थे। उन में हंस शब्द का प्रयोग परमहंस अर्थ में हुआ और होता है। हंसशब्द की समानता देख कर लोग भ्रान्ति में आ गये हैं कि वे हंस जाति के पक्षिरूप में अवतीर्ण हुए थे। यही नहीं भ्रान्ति के शिकार हुए लोग चौवीस अवतारों की चित्रमाला में हंसावतार का आकार हंसपक्षी का ही बना देते हैं। इस भ्रान्ति का कारण गवेषणा का तथा विचार का अभाव है। किसी पुराण में हंसावतार का आकार पक्षिरूप में वर्णन किया उपलब्ध नहीं होता और नही उस उद्देश्य की सिद्धि होती है, जिस के लिये वे अवतीर्ण हुए थे। ब्रह्मदेव ने निवृतिपरायण अपने पुत्रों के इसी आदर्श की रक्षा तथा स्थापना के विचार से मुनिधर्म की दीक्षा नहीं दी कि चतुर्थाश्रम की दीक्षा किसी चतुर्थाश्रमी गुरु द्वारा ही दी जानी उचित है"। क्या पक्षिरूप में अवतीर्ण होने से इस मर्यादा की रक्षा तथा स्थापना की जा सकती है? जब नहीं, तो फिर काव्यकोषादि में हंस शब्द का पक्षिजाति विशेष अर्थ देखकर इस स्थान में भी प्रकरण के विरुद्ध वही अर्थ करना कैसे संगत तथा युक्तियुक्त माना जा सकता है? किसी स्थान में हरि शब्द का वानर अर्थ देख विकुण्ठवासी पूजनीयदेव के वर्णन में भी उसका वानर अर्थ समझना कितनी भारी भूल है।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यै रपीन्द्रियः।
अहमेव न मत्तोऽन्य दिति बुद्ध्यध्वमंजसा ॥२४॥

हे ब्राह्मणो ! "आप कौन हैं ?" आपका यह निर्धारणात्मक प्रश्न आत्मा सम्बन्धी है अथवा पञ्चभूतात्मकशरीर सम्बन्धी ? यदि आत्मा सम्बन्धी है तो वह एक ही सर्व में परिपूर्ण है फिर कहो सर्व में परिपूर्ण आत्मा के विषय में, बहुतों में एकता निर्धारणात्मक आपका यह प्रश्न कैसे बन सकता है ? और फिर मैं कौनसा अवलम्बन अर्थात् निर्विशेष—आत्मा के किन विशेष जाति, गुण आदि का आश्रय लेकर आपको उत्तर दूँ। यदि आपका प्रश्न पञ्चभूतात्मक शरीरविषयक हो तो यह केवल वाग्विलासमात्र है, विचार करने पर उसका कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। कारण, पञ्चभूतदृष्टि से सर्वशरीर अभिन्न हैं। इस विचार को और भी आगे ले जाओ तो परमकारणात्मारूप ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सद्भाव तो है ही नहीं। मृत्तिका के कार्य्य घटादि केवल वाग्विलासमात्र हैं। सत्य तो उनमें अनुगत एक मृत्तिका ही है। एवम् पञ्चभूत अथवा परमकारण ब्रह्म से अतिरिक्त सर्वपदार्थों का अस्तित्व केवल कथनमात्र है। महत्तत्व से लेकर पृथिवी प्रर्यन्त कोई भी तत्व अविद्या-माया से भिन्न नहीं, उनमें सत्-सत्ता कुछ भी नहीं। माया भी ब्रह्म की एक शक्ति है अतः सर्व अविद्यक कार्यों का परमकारण भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार मन, वाणी और इन्द्रियों का जो विषय है वह सब ब्रह्म अर्थात् मैं ही हूँ। फिर इन पदार्थों में भेद कैसा ? बस, आपके इस प्रश्न का उत्तर तो इतना ही हो सकता है।

## जीव का वास्तविकस्वरूप.

हे उद्धव ! इतना कह कर मैंने उस प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया जो सनत्कुमारादि ने अपने पिता ब्रह्मा से किया था। मैंने कहा- हे मुमुक्षुओ ! अब उस प्रश्न का उत्तर सावधान होकर सुनो, जो तुमने अपने पिता से किया था। यदि कर्तृत्व भोक्तृत्वधर्मी विषयों से बँधा हुआ बुद्धिशब्दवाच्य-चित्त ही जीव का सत्यस्वरूप होता तो चित्तरूपजीव का विषयों से वियोग दुर्घट था। परन्तु जीव का वास्तविकस्वरूप तो सच्चिदानंद—ब्रह्म ही है। चित्त के साथ अध्यास होने के कारण जीव चित्तधर्मी सा बन कर विषयों के साथ संग्रथित हो जाता है। परन्तु जब वही जीव विषयों के मिथ्यात्व का अनुसन्धान कर सर्व ओर से उपराम हो जाता है और स्वविषयक ब्रह्मभावना कर भगवान् के भजन में लीन होजाता है, तब परिपूर्णस्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेता है। हे पुत्रो ! यह सत्य है कि गुणों में चित्त और चित्त में गुण प्रवेश करके दोनों परस्पर संग्रथित होजाते हैं, परन्तु यह चित्त ब्रह्मस्वरूपजीव का देह अर्थात् उपाधि है, स्वरूप नहीं। जब ऐसा है तो "अहम् ब्रह्मास्मि" इस निश्चय से मुझ परमात्मा का स्वरूप होकर चित्त और उस में वासनारूप से वर्तमान विषय, इन दोनों का परित्याग कर दो और सूर्यवत् सर्वसाक्षी बन कर सदा सच्चिदानंदस्वरूप में स्थित हो विचरते रहो। बस फिर चित्त और विषयों के झगड़े का प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित न होगा।

सनत्कुमारने पूछा,—भगवन्! जाग्रदादिअवस्थाओं में रहने वाला पुरुष निर्विकार कैसे हो सकता है? उत्तर में मैंने कहा, बेटा! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति यह अवस्थाएं बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, जीवकी नहीं। यह तो सत्, रज, तम से उत्पन्न होती हैं; स्वाभाविक नहीं। जीव इन तीनों अवस्थाओं से रहित, इनका साक्षीमात्र है।

सनत्कुमार फिर पूछने लगा—यदि जीव इन अवस्थाओं का साक्षी है तो 'मैं जागता हूँ, मैं सोता हूँ' इत्यादि अनुभवों की प्रतीति आत्मा में क्यों होती है? मैंने उसे बताया कि जब बुद्धि का तादात्म्यसम्बन्ध आत्मा के साथ स्थापित हो जाता है तब उस सम्बन्ध के कारण बुद्धि अपने धर्मों को जीव में आरोपण कर देती है। अतः "मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ" इत्यादि बुद्धि के धर्मों की प्रतीति जीव में होने लगती है। वस्तुतः जीव में इस प्रकार के किसी धर्म का समावेश नहीं। अतः तीनों अवस्थाओं से अतीत मेरे तुर्यावस्थास्वरूप में निष्ठा लाभ कर बुद्धि आदि में तादात्म्य-अध्यासरूप सम्बन्ध का परित्याग कर दो। फल यह होगा कि चित्त और विषयों का पृथक्करण अपने आप हो जायगा। तुम स्वयं ही जड़ चित्त को आत्मचैतन्य समर्पण कर अर्थात् चेतन बना कर उसे जगत के विषयों को बटोरने और अपने अन्दर भरने के योग्य बनाते हो। यदि तुम अपना सम्बन्ध जुदा रखते हुए साक्षीरूप से स्थित हो जाओ तो चित्त विषयों के साथ अपना सम्बन्ध कदापि जोड़ नहीं सकता। कारण, वह स्वयं जड़ है। तुम स्वयं सम्राट् होते हुए अपनी शक्ति चित्तरूप नौकर को दे देते हो और फिर उसके पीछे चल कर खराब होते हो। वह तुम्हारी महिमा को मट्टी में मिला देता है। अब भी अपनें सम्राड्भाव को स्मरण करो, फिर अपनें स्वाभाविकस्थान को प्राप्त कर लोगे।

## बुद्धि तथा आत्मा का तादात्म्यसम्बन्ध दूर करने का उपाय.

"भगवन्! बुद्धि और आत्मा का तादात्म्यसम्बन्ध कैसे पैदा होता है और उस सम्बन्ध को दूर करने का क्या उपाय है?" सनत्कुमार ने फिर प्रश्न किया।

भगवान् उद्धव से कहते हैं—मैंने उसके उत्तर में कहा-बुद्धि में आत्मअहंकृति पैदा होने से ही बुद्धि और आत्मा का तादात्म्यसम्बन्ध होता है। यही सम्बन्ध आत्मा के आनन्दादिगुणों को आच्छादन और जीव को स्वार्थभ्रष्ट कर नाना अनर्थों में फँसा देता है। अतः "यह बुद्धि आदि सर्वदुखात्मजाल दुःखरूप हैं" ऐसा निश्चय कर तुर्याभाव में स्थित हो और बुद्धिविषयक अभिमान और उससे प्राप्त होने वाले भोगों की चिन्ता का परित्याग करदो। बुद्धि के निमित्त से ही जगत में नाना पदार्थ प्रतीत होते हैं और उन पदार्थों की प्रतीति के कारण, राग के वशीभूत हो मनुष्य विषयप्राप्ति का प्रयत्न और प्राप्त कर लेने पर उनमें सुख का अनुभव करता है। अनुभूतवस्तु के सँस्कार चित्त में बैठ जाते हैं, वही सँस्कार आगे कर्म में प्रवृत्त कर देते हैं। इसप्रकार कर्मों का एक चक्र सा बन जाता है, जिससे मुक्त होना जीव के लिये कठिन हो जाता है। परन्तु यह नानात्व, बुद्धिविलास के सिवा कुछ नहीं। तब उनकी प्राप्ति के वास्ते कर्मधर्मादि का अवलम्बन

भी व्यर्थ है। जबतक वह नानार्थकबुद्धि विचार से दूर नहीं हो जाती तबतक वह अज्ञानीपुरुष जागता हुआ भी स्वप्न में जाग्रत की प्रतीति करनेवाले पुरुष के समान सोता ही है।

सनत्कुमार ने कहा—हे गुरो! वेदबोधित वर्णआश्रम और उनके कर्मधर्मादि-विषयक नानात्वबुद्धि भला कैसे दूर हो सकती है? क्योंकि वेद तो असद्भाव को कहता ही नहीं। हंसरूप में मैंने उत्तर दिया—शरीर, तन्निबन्धन वर्णाश्रमरूप भेद, स्वर्गादिफल और उनके हेतु-कर्मादि यह सब आत्मा की अपेक्षा से असत् ही हैं। वेद तो अज्ञपुरुषों की प्रवृत्ति को सुव्यवस्थित करने के लिये इनका प्रतिपादन करता है। यह सब सत्य हैं ऐसा भाव वेद के कथन का नहीं। क्षण-क्षण में परि-वर्तन होनेवाले स्थूलपदार्थों को एक ही आत्मतत्त्व जाग्रतअवस्था में भोगता है और वही बाह्यपदार्थों के सदृश प्रतीत होनेवाले स्वप्नपदार्थों को स्वप्नावस्था में भोगता है। सुषुप्ति में उन सब पदार्थों का लय कर देता है। एक अवस्था की शरीरादि वस्तुएं दूसरी अवस्था में नहीं रहतीं, अतः वे सब असत्य हैं। परन्तु तीनों अव-स्थाओं में एक ही आत्मतत्त्व साक्षीरूप से रहता है इस लिये वही सत्य है। यदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के आत्मा भी भिन्न भिन्न हों तो जागने पर पुरुष को ऐसी स्मृति कभी नहीं रह सकती कि "स्वप्न देखने के अनन्तर ऐसा सोया कि कुछ भी पता न रहा और वही अब मैं जागता हूँ।" यहाँ पर स्वप्न और अज्ञान का स्मरण जाग्रत में हो रहा है। इस से प्रकट होता है कि तीनों अवस्थाओं को अनुभव करनेवाला एक ही आत्मतत्त्व है। कारण, एक के अनुभूतविषय की स्मृति अन्य को नहीं हो सकती। हे ब्राह्मणो! स्वस्वरूपाज्ञान के कारण गुणनिबन्धन मनकी इन तीन अवस्थाओं को भी जीव ने अपने आप में आरोपित कर रक्खा है। वास्तव में यह सद्वस्तु नहीं हैं। ऐसा निश्चय करके; अनुमान, सत्पुरुषों के उपदेश और श्रुतिविचारजन्यज्ञानरूपी खड्गद्वारा सर्वप्रकार के संशयों के आधारभूत अहंकार का नाश कर सर्व का आत्मा होकर हृदय में विराजनेवाले मुझ परमात्मा का साक्षा-त्कार करो। संसार तो विभ्रममात्र है। स्वप्न के पदार्थों के समान विनाशवान् दृष्टभाव है। अलातचक्र के समान चंचल है, मन की कल्पना मात्र ही इसका आधार है। इन सब बातों से इसकी असद्रूपता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। एक ही विज्ञान (बुद्धि) नानाप्रकार से प्रतीत हो रही है। इसी वास्ते इसका नाम विभ्रम है। त्रिविधगुणों से उत्पन्न भेद का नाम माया और स्वप्न है। संसार के स्वरूप पर्यालोचन कर निजानन्द में मग्न रहो। जब यह संसार कुछ है ही नहीं तो तद्विष-यक सत्यत्वबुद्धि को छोड़ो। इसकी न इच्छा करो न चेष्टा। बस, स्वरूपावस्थान-रूप मूकता को धारण कर निजात्मानन्द में मग्न हो जाओ।

मत समझो कि 'एक शरीरधारी के लिये द्वैतदृष्टि का निवृत्त करना सर्वथा-असम्भव है और द्वैतदृष्टि निवृत्त किये विना संसार की निवृत्ति हो नहीं सकती' क्योंकि आत्मनिष्ठा का लाभ हो जाने पर जिनको असद्वस्तु जानकर तुम त्याग चुके हो, भले ही वे आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर भी दग्धरज्जु तथा दग्धपट के समान प्रतीत होती रहें, तुम्हें बन्धन में नहीं डाल सकतीं। ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होजाने पर विषय-स्मृति भी नाममात्र को ही रह जाती है और वह किसी प्रकार की बाधा नहीं

पहुँचा सकती। अधिक क्या, जिस शरीर द्वारा किसी सिद्ध महापुरुष ने आत्म-स्वरूप का लाभ किया है उस शरीर के आने जाने, बैठने उठने आदि व्यवहारों से भी मदिरा से उन्मत्त उस पुरुष की भाँति वेखवर हो जाता है जिसे अपने वस्त्रों की स्थिति अनवस्थिति की भी सुध नहीं होती। यह भी मत समझो कि जब अतियत्न से सुरक्षितशरीर का भी किसी न किसी समय पतन हो जाता है तो अद्वैततत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर शरीर की विस्मृति होते ही वह एकदम नष्ट हो जायगा। शरीर तो अपने आरम्भककर्मों के नाश की प्रतीक्षा में दैवाधीन रहकर प्राणेन्द्रियों को धारण करता हुआ जीता ही रहेगा। यह भी सन्देह न करो कि ऐसी स्थिति में तत्त्ववेत्ता भी कभी न कभी विषयों में आसक्त हो जायगा। जैसे जागा हुआ पुरुष स्वप्न के पदार्थों में आसक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करनेवाला या समाधिपर्यन्त योग को लाभ करनेवाला पुरुष भी स्वप्न-तुल्यसंसार में आसक्त नहीं हो सकता। हे पुत्रो! निजात्मस्वरूप से मेरा साक्षात्कार कर निर्भय हो संसार में विचरो, भविष्य में तुम्हारे सामने कोई भी विघ्न उपस्थित न होगा।

"मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्सांख्य योगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥".

हे विप्रो! आत्म-अनात्म-विवेकरूप सांख्य और योग का जो रहस्य था वह मैंने तुम्हें बता दिया। चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म का तुम्हें उपदेश देने के लिये मैं यहाँ आया हूँ और मैं विष्णु हूँ।

हे उद्धव! हंसरूप में इतना उपदेश कर मैं चुप हो गया। पश्चात् ब्रह्माजी सहित सनत्कुमारादि ने पूजा नमस्कारादि से हंस का सत्कार किया और फिर उसी समय उनके देखते देखते हंस भगवान् अन्तर्धान हो गये।

## औदासीन्यधर्म की नीव.

उपर्युक्त कथा से स्फुट होता है कि श्रीसनत्कुमारादि को हंसभगवान् से ही चतुर्थाश्रम—उदासीनधर्म की दीक्षा मिली है। इससे पूर्व वे निवृत्तिधर्मानुयायी होते हुए भी ब्राह्मणवर्ण में ही माने जाते थे। यही कारण है कि हंसभगवान् ने भी अपने उपदेश के प्रारम्भ में "कथं घटेत वो विप्राः" और उपसंहार में "मयैतदुक्तं वो विप्राः" विप्र शब्द से उन्हें सम्बोधन किया है। अन्य स्थानों पर जहाँ भी श्रीसनत्कुमारादि का प्रसंग आता है वहाँ व्यासजी उनके लिये प्रायः "मुनीनूर्ध्वरेतसः" मुनि शब्द का ही स्वयं प्रयोग करते और दूसरों से कराते हैं। यहाँ तक कि आगे चलकर भगवान् कृष्ण के मुख से भी उन्हें मुनि ही कहला रहे हैं। फिर यहाँ पर हंसभगवान् से विप्रशब्द का प्रयोग कराने का प्रयोजन इस के सिवा कुछ नहीं हो सकता कि हंसभगवान् से चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेने तक उनका ब्रह्मणवर्णाभिमान बना ही हुआ था। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि सम्भव है विप्र तथा मुनि शब्द समानार्थक भाव को ले कर प्रयोग किये गये हों? परन्तु ऐसी

सम्भावना तो तब होती जब इन दोनों शब्दों के अर्थ यौगिक और रूढिरीति से एक ही होते। मुनि शब्द तो चतुर्थाश्रमी के लिये ही योगारूढ हो चुका है। जिस प्रकार यौगिकरीति से गणेश शब्द के अर्थ चाहे और भी हो सकते हों, परन्तु अब वह व्यक्तिविशेष केवल शंकरपुत्र में ही रूढ है। एवम् विप्र शब्द के लाक्षणिक अर्थ चाहे और भी हों, अब तो वह ब्राह्मणवर्णव्यक्ति में ही रूढ है। अतः मुनि शब्द आश्रमविशेष का और विप्र शब्द वर्णविशेष का द्योतक है। ऐसी दशा में यह समझना कि दोनों शब्द समानार्थक भाव को लेकर प्रयोग किये गये हैं, भूल है। यदि कहा जाए कि एक ब्राह्मण के चतुर्थाश्रम की दीक्षा ले लेने पर भी उसके लिये विप्र शब्द का प्रयोग हो सकता है, तो यह भी लोकव्यवहार तथा युक्ति के विरुद्ध है। क्योंकि ब्राह्मण को ब्राह्मण ही कहा जाता है और मुनि को मुनि। न ब्राह्मण को कोई मुनि कहता है और न मुनि को ब्राह्मण। प्राचीन काल से यही प्रथा चली आती है। दूसरे यद्यपि वर्ण व्यापक और उसके आश्रित रहने वाला आश्रम व्याप्य है, अर्थात् मृत्तिका से घट, स्वर्ण से कुण्डल और तन्तु से पट के समान वर्ण का रूपान्तरित भाव आश्रम है। चाहे परमार्थ में घट, कुण्डल और पट अपने अपने कारणवाचक शब्दों के वाच्य हो सकते हों, फिर भी ऐसा करने से लोक व्यवहार के रुकने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। 'घटमानय' की जगह 'मृत्तिकामानय' कहा जायगा तो मंगानेवाले का प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा? इसी प्रकार मुनि और विप्र शब्दों का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न अर्थों में होना उचित ही है। हंसभगवान् के मुख से सनत्कुमारादि को व्यासजी का बार-बार विप्र कहलाना यही सिद्ध करता है कि हंसभगवान् से उपदेश ग्रहण करने के पूर्व वे न चतुर्थाश्रमी थे और नहीं चतुर्थाश्रम की कोई व्यवस्था बाँधी गई थी। पुराणों को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की नीव सर्वप्रथम सनत्कुमारादि द्वारा ही डाली गई थी, और हंसरूप में गुरु बनकर, इसी का उपदेश करने के लिये भगवान् आए थे। अन्यथाः—

"जानीतमागतं यज्ञं युष्मद्धर्म विवक्षया ॥ ३८ ॥

"मैं विष्णु हूँ और तुम्हारा धर्म बतलाने के लिये ही यहाँ आया हूँ।" इस उक्ति का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि पुराणों के इस कथन पर विश्वास न किया जाए कि "भगवान् ने चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की नीव रखने के लिये हंसरूप में गुरू बनकर सनत्कुमारादि को उपदेश किया" तो प्रश्न पैदा होता है कि फिर सनत्कुमारादि का वह कौनसा विशेषधर्म था जिसका उपदेश करने के लिये भगवान् का आगमन हंस के रूप में हुआ? केवल उपस्थितप्रश्न के उत्तर को ही उनका धर्म मान लेना तो कुछ खटकता है। कारण, प्रश्न और उसका उत्तर तो सर्वसाधारण के हित से सम्बन्ध रखते हैं। सनत्कुमार ने ब्रह्माजी से चित्त तथा विषयों के पृथक्करण का उपाय पूछते समय ही उन्हें यह निश्चय दिला दिया था कि उनके अपने अन्दर ऐसी कोई निर्वलता नहीं। वे तो केवल मुमुक्षुजनों के हित के लिये प्रश्न कर रहे हैं। उनकी अपनी कठिनाई तो केवल इतनी थी कि वे लोगों द्वारा किये जाने पर इस प्रश्न का सन्तोषप्रदायक उत्तर नहीं दे सकते थे। जिस प्रकार भगवान् ने किसी विशेषव्यक्ति को कभी यह उपकार नहीं जतलाया कि मैंने वायु

तेरे ही लिये पैदा की है उसी प्रकार सर्वसाधारण के हित के साथ सम्बन्ध रखने वाले उपदेश के विषय में भी "युष्मद्धर्मं विवक्षया" कहना असंगत-सा प्रतीत होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि सनत्कुमारादि का वह कोई विशेषधर्म था जिस के लिये भगवान् को हंसरूप में आना पड़ा।

उस समय की परिस्थिति को सन्मुख रखते हुए "युष्मद्धर्मं विवक्षया" से एक और बात भी ज्ञात होती है। वह यह कि सृष्टि के आदिकाल में सर्व साधारण के लिये ब्रह्माजी की आज्ञा ही धर्म और उनका आचार ही अनुकरणीय उपदेश था। ब्रह्माजी की आज्ञा से उनके शेष सब पुत्र तो प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो रहे थे, परन्तु सनत्कुमारादि महात्मा उससे सर्वथा उपराम थे। सम्भव है उस समय उन्हें पिता की आज्ञा की अवहेलना करने वाले बाग़ी तथा उनका उदासधर्म अधर्म समझा जाने लगा हो, और लोग उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखते हों। पितृकन्याओं और जय-विजयद्वारा इनका यथोचित सम्मान न किया जाना* भी सिद्ध करता है कि ब्रह्माजी की आज्ञा को ही धर्म माननेवाली प्रवृत्ति अनुयायिनी प्रजा उनके चित्त को विक्षिप्त करने का भी यत्न करती रहती थी। यदि ये चारों भाई साधारणव्यक्तियों के समान होते तो इनका उस समय की जनता में रहना कठिन हो जाता। लोग इन के व्यक्तित्व से भयभीत रहते थे तब भी लोगों के हृदय में इन के लिये घृणा के भाव अवश्य थे। नारदजी ने दक्ष प्रजापति के पुत्रों को दीक्षित कर उदासीन बना दिया तो दक्ष ने क्रुद्ध हो कर नारदजी को शाप दे दिया*। इससे भी यही प्रकट होता है कि ब्रह्माजी की आज्ञा को ही धर्म माननेवाली प्रवृत्तिधर्मानुयायिनी प्रजा निवृत्तिधर्म को तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी। अन्यथा दक्ष के क्रोध का कोई कारण नहीं दीखता। ब्रह्माजी के अन्य पुत्र ब्रह्माजी के आचार का अनुकरण और आज्ञा का पालन करना ही धर्म समझते थे, क्यों कि उस समय के लोगों के लिये धर्मग्रन्थों के रूप में बड़ों का वैयक्तिक आचार और शासन ही प्रमाणितधर्म था। दूसरी ओर ब्रह्माजी के सनत्कुमारादि चार पुत्र निवृत्तिसेवी थे जो निज उदासीन आचार को ही धर्म मानने लग गये थे। प्रवृत्तिधर्मानुयायी लोगों के लिये तो उनके पूर्ववर्ती ब्रह्माजी प्रमाणरूप आदर्श थे। सनत्कुमारादि के लिये उनके निवृत्तिधर्म्म का न कोई आदर्श था और नही उस धर्म को ग्रहण करने की किसी पूर्ववर्ती महापुरुष की ओर से आज्ञा मिली थी। अतः वे लोग अपने आचार के स्वयं आदर्श थे।

वास्तव में उस समय के आदर्श—ब्रह्माजी का चलाया हुआ प्रवृत्तिधर्म ही इनके तिरस्कार का कारण हो रहा था। सम्भव है उसी तिरस्कार से तङ्ग आकर इन लोगों ने ब्रह्माजी से "गुणेष्वाविशतेचेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो" ऐसा प्रश्न किया हो और इसे सुनकर ब्रह्माजी ने इस विचार से भी उत्तर न दिया हो कि "मैं प्रवृत्ति धर्म का प्रचारक होकर निवृत्तिधर्म को कैसे पुष्ट करूँ? जिसके पुष्ट किये विना इनके मस्तक से बाग़ी होने का टीका धुल नहीं सकता। चाहे इनके तिरस्कार का कारण मेरा प्रवृत्तिधर्मप्रचार ही है, परन्तु अपने आन्दोलन के विरुद्ध आचरण की

* १ जयविजय और पितृकन्याओं की कथाएं आगे पढ़िये।

* २ देखो नारदचरित्र में दक्ष के पुत्रों को नारदजी का उपदेश।

पुष्टि करना भी तो उचित नहीं।" अतः उन्हों ने भगवान् को स्मरण किया। यही कारण है कि भगवान् ने कहा "युष्मद्धर्म विवक्षया=युष्माकं भवतां धर्मस्य निवृत्ति लक्षणस्याऽऽचारस्य विवक्षा—ऽनुविवक्षा, अनुविवदिषा,ऽनुमुमुदिषा इति-यावत् तथा । अत्र विनापि प्रत्ययं" इति वार्तिकेन अनोर्लोपः॥ अर्थात् आप के निवृत्तिधर्म का अनुवाद या अनुमोदन करने के लिये ही मेरा आना हुआ है।" जगत से उदास रहना, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य, विवेकादिरूप आचार ही सनकादि का निवृत्तिधर्म था। उसी का अनुमोदन करने के लिये विष्णुभगवान् का आगमन हुआ था।

यह ठीक है कि भगवान् हंस ने उन के आचारविषयक चर्चा न चलाकर आत्म-अनात्म का विवेक प्रदर्शन करते हुए, भक्तिपरिपुष्ट ब्राह्मीस्थिति को ही चित्तविक्षेप की निवृत्ति का हेतु बतलाया है। इसे प्रगट रूप में उनके आचार का अनुमोदन कहना कठिन जान पड़ता है। परन्तु विचार से देखा जाए तो इस शंका का कोई आधार नहीं। कारण, किसी व्यक्ति को कोई कार्य सौंपते समय उस कार्यविषयक उसकी आचाररूप योग्यता की पूछ—ताछ तो उस अवस्था में की जाती है जिस अवस्था में वह व्यक्ति पहले अपरिचित हो। परिचित पुरुष को तो उसके गुण, धर्म तथा शक्ति के अनुसार कार्य सौंप ही दिया जाता है, जिससे उसके आचार तथा योग्यता का अनुमोदन स्वयमेव हो जाता है। ब्रह्मविद्या के अधिकारसम्बन्धी सनत्कुमारादि की आचाररूप योग्यता को भगवान् हंस जानते ही थे। यदि उनका आचार भगवान् को पसन्द न होता या उसे ब्रह्मविद्या के प्रतिकूल समझते तो ऐसे आचार को छोड़ने के लिये कहते और ब्रह्मविद्या के उपयोगी साधनों का उपदेश करते। परन्तु ऐसा तो कुछ किया नहीं गया। प्रत्युत् ब्रह्मविद्या के योग्य अधिकारी में आचार आदि जिन गुणों का होना आवश्यक होता है उनको देखकर ही भगवान् ने उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। उन्हें आचारविषयक कोई विशेष उपदेश न करने से स्वयमेव ही उनके पहले आचार का अनुमोदन हो जाता है। जैसे अपने ही विद्यालय के विद्यार्थी का नाम ऊपर की श्रेणियों के विद्यार्थियों में लिखते समय विद्यालय के अध्यक्ष को उसकी योग्यता तथा आचार विषयक पूछ—ताछ करने की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् उसे पहले से ही मालूम होता है, वैसे ही भगवान् हंस भी सनत्कुमारादि के आचार को जानते थे। जैसे किसी विद्यार्थी का नाम ऊपर की श्रेणी में लिखा जाना भी उसके निम्न श्रेणियों की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकने का प्रमाण है, वैसे ही सनत्कुमारादि को अधिकारी जानकर भगवान् हंसद्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जाना भी उनके आचार के अनुमोदन का प्रमाण है।

## उदासीनधर्मदीक्षा का प्रभाव

हंस भगवान्द्वारा उपदेश किये जाने के अनन्तर सनत्कुमारादि के स्वभाव में जो परिवर्तन हुआ उससे तो यह बात स्पष्ट होजाती है कि "युष्मद्धर्मविवक्षया" पद से भगवान् का प्रयोजन केवल प्रश्न का उत्तर देना ही नहीं अपितु सनत्कुमारादि

को उनकी इच्छानुसार चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म में दीक्षित करना भी था। वर्णों तथा अन्य आश्रमों की अपेक्षा चतुर्थाश्रम में प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर संकोच होता चला जाता है। मनुष्य चाहे कैसा भी उपराम क्यों न हो? अन्य आश्रमों में रह कर उस को लोकमर्यादा की रक्षा अवश्य करनी पड़ती है। मालूम होता है, भगवान् हंस से दीक्षा लेने के पूर्व सनत्कुमारादि भी ऐसी ही स्थिति में थे। यही कारण है कि जय-विजय के व्यवहार को उन्हों ने अपना अपमान समझा और उससे क्षुभित हो उन्हें शापरूप दण्ड दिया। उस समय वे अपने को ब्रह्माजी के पुत्र, ब्राह्मण, भक्त, ज्ञानी और योगी आदि मान कर ऐसा अपमान मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। इस दृष्टि से उन्होंने जो कुछ किया मर्यादा के अनुसार उचित ही किया और उसका भगवान् विष्णु ने भी अनुमोदन किया। फिर भी एक साधारण से अपराध के लिये किसी को ऐसा कठोरदण्ड देना कि वह अनेकयुगों तक दैत्य और राक्षस योनियों में ही भटकता रहे, सनत्कुमारादि जैसे निवृत्तिधर्मसेवीमहात्माओं के अनुरूप न था। इस बात को वे स्वयं भी अनुभव करते थे और चाहते थे कि कोई ऐसी व्यवस्था बन जाए जिसमें वे ऐसी घटनाओं से सदैव बचे रहें। एवम् साधारण लोकमर्यादाओं का पालन करना न करना उनकी इच्छा पर निर्भर हो जाए। यह भी कारण था कि उन्हों ने ब्रह्माजी से "गुणेष्वाविशते चेतो०" प्रश्न किया और उनकी इस आवश्यकता को भगवान् हंस ने भक्तिपरिपुष्ट अद्वैतज्ञान के उपदेश के साथ चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म में दीक्षित कर, पूर्ण कर दिया। अब उनके लिये कोई लोकमर्यादा प्रतिबन्धक न रह गई। जीवन का चक्र ही बदल गया। जहाँ पहले किसी को लोकमर्यादा का थोड़ा भी उल्लंघन करते देख, दण्ड देने में कोई कसर उठा न रखते थे, अब कोई ऐसी घटना उनके चित्त को क्षुभित नहीं कर सकती थी। निःसंगबुद्धि से केवल लोककल्याणार्थ जगत में विचरते हुए हर हालत में आनन्दमग्न रहने लगे। जगद्व्यवहार से उदासीन-उपराम रहने के कारण उनका नाम भी उदासीन प्रसिद्ध हुआ। वैदिकप्रचार के अनन्तर उदासीन और ब्रह्मसंस्थ दोनोंशब्द पर्यायरूप में प्रयोग होने लग गये।

## गुरु-शिष्य-प्रणाली

उपरोक्त विचार से जहाँ यह सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रम—उदासीनधर्म की नीव भगवान् हंस ने ब्रह्मपुत्र सनत्कुमारादिद्वारा ही रखदी थी, वहाँ यह भी स्फुट है कि सनत्कुमारादि के स्वयं गुरु बनकर चतुर्थाश्रम की मुख्य मर्यादा गुरु-शिष्य-प्रणाली को भी उसी समय चला दिया था। उदासीन—आश्रम के धर्मग्रन्थों और गुरुप्रणाली में जहाँ भगवान् हंस को ही सनत्कुमारादि का गुरु माना गया है वहाँ उससे यह भी विदित होता है कि गुरु-शिष्य-प्रणाली उस समय से ही चली आ रही है।

अतः जितना यह जगत प्राचीन है उतनी ही गुरुशिष्यप्रणाली भी प्राचीन है। इतिहास पुराणादि में जितने ऋषि, मुनि, योगीश्वर और सिद्ध महापुरुषों का उल्लेख मिलता है, उनमें से प्रत्येक ने किसी न किसी विशेषव्यक्ति को गुरु बनाकर इस प्रणाली से लाभ उठाया है। यहाँतक कि लोककल्याणार्थ अवतारों ने भी इस प्रणाली का अनुसरण किया है। कारण, मनुष्य चाहे जिस अवस्था में हो उसके

सामने कोई न कोई लक्ष या ध्येय अवश्य है और उस लक्ष का मार्गदर्शक गुरु ही हो सकता है। मनुष्य के मनुष्यत्व को जगाने का काम गुरु ही कर सकता है। संसारविषयकज्ञान भी विना दूसरे की सहायता के मनुष्य सीख नहीं सकता। इसी वास्ते सृष्टि के आदिकाल में भगवान् को भी वेदज्ञान का उपदेश करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जब संसारविषयकज्ञान भी विना दूसरे से सीखे मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता तो विना गुरु के ब्रह्मज्ञान का जान लेना तो असम्भव ही है, जिसकी प्राप्ति का सर्वप्रधानसाधन गुरुवचनों पर अटलश्रद्धा और विश्वास है।

परन्तु आश्चर्य है कि इधर से लोगों का दृष्टिकोण बदल रहा है। अब गुरु की अधिक आवश्यकता नहीं समझी जाती। यहाँतक ही नहीं, कुछ समय से एक-दूसरे की देखादेखी अनेक मतमतान्तरों के अनुयायियों में अपने पूर्वाचार्य के गुरु का नाम मिटाने की भी एक प्रथा सी चल गई है। यही कारण है कि आज हमें बुद्धदेव, ईसा और मोहम्मद आदि अनेक महापुरुषों के गुरुओं के नाम नहीं मिलते। इन मतानुयायी चरित्रलेखकों को भ्रम हो गया है कि यदि उनके पूर्वाचार्य के गुरु का नाम प्रकट हो गया तो लोगों को उनकी पूर्णता में सन्देह हो जायगा, उनके आचार्य या गुरु अज्ञानी सिद्ध होंगे और इससे उनके सम्प्रदाय या समाज का अपमान होगा। इसमें सन्देह नहीं कि उन महापुरुषों में साधारण लोगों की अपेक्षा पूर्णता थी, परन्तु वे पूर्णता की अवधि तो नहीं हो सकते थे! एक निर्धन की अपेक्षा करोड़पति पूर्ण कहा जा सकता है, परन्तु उसकी यह आर्थिकपूर्णता निरपेक्ष नहीं हो सकती। निरपेक्षपूर्णता तो निरतिशय ब्रह्म में ही रह सकती है। और तो क्या, स्वयं परमात्मा को भी विग्रह में आकर किसी मर्यादा में रहते हुए अपनी लीलाओं को समाप्त करना पड़ता है। फिर इतर की तो बात ही क्या? मनुष्य को शरीर धारण कर अपने जीवन को उन्नत और पूर्ण बनाने के लिये दूसरे की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। अपने पूर्वसहायकों को दम्भरूप पर्वत की अन्धेरीकन्द्रा में छिपाकर संसार की आँखों से ओझल कर देना कृतघ्नता है। ऐसा अनर्थ भी देखा जाता है कि सहायकगुरु की अपेक्षा शिष्य ने संसार में अधिक ख्याति प्राप्त कर ली तो लब्धप्रतिष्ठितपुरुष के गुरु का नाम उसके सहायकों की श्रेणी में लिखना उसका अपमान समझते हैं। परन्तु यद्यपि बुद्धादि महापुरुषों के अनुयायी चरित्रलेखकों ने उनके गुरुओं का नाम मिटा दिया, तथापि उनके जीवन ही बतला रहे हैं कि इन लोगों की उन्नति में सहायता करने वाले गुरु अवश्य थे। यदि उन्हों ने किसी महात्मा को गुरुधारण न किया होता तो स्वयं शिष्य बनाकर अपने अनुयायियों में गुरु-शिष्य-प्रणाली को न चलाते। जो पुरुष आज पिता के अधिकारों को भोग रहा है उसे कभी पुत्र के कर्तव्यों का भी अवश्य पालन करना पड़ा होगा। इससे सिद्ध होता है कि भले ही वे इनके चलाए सिद्धान्तों से भिन्न विचार रखते हों परन्तु उन महापुरुषों के गुरु अवश्य थे।

भगवान् हंस के—"संछिद्य हार्दमनुमान सदुक्ति तीक्ष्ण ज्ञानासिना भजत माखिल संशयाधिम्—अर्थात् अनुमान प्रमाण, सदुपदेशजन्यज्ञानरूपी तीक्ष्णखड्ग द्वारा सर्वसंशयों के आधारभूत अहंकार का नाश कर के सर्व हृदयों में निवास करनेवाले मुक्त भगवान् का भजन करो" के उपदेश में सनत्कुमारादि में जो

२२

विचित्रपरिवर्तन हुआ वह निम्नलिखित, चतुर्थाश्रम से दीक्षित होने से पूर्व और बाद की, दो घटनाओं से प्रकट होता है—



## ( ३ तरङ्ग )

## चतुर्थाश्रमदीक्षा का प्रभाव

श्री सनत्कुमारजी द्वारा जय-विजय और पितृकन्याओं को दण्ड दिये जानें की घटनाएं भगवान् हंस से चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेने से पहले की हैं। इस से उनका दीक्षा लेने से पूर्व का स्वभाव प्रकट होता है। श्रीमद्भागवत् तृतीय स्कन्ध के १५ वें और १६ वें अध्याय में श्री भगवान् वेदव्यास जी लिखते हैं—

### जय-विजय को दण्ड

एक समय सनत्कुमारादि चारों भाई भगवान् के दर्शनों के लिये विकुण्ठ में गये। वहाँ पहुँचकर ड्योढी के छः फाटक तो निकल गये, सातवें पर विष्णुरूप-धारी जय-विजय नामक द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया। जब इस पर भी वे न रुके तो द्वारपालों ने उन्हें डाँटा और सोटी के साथ धकेल कर वाहिर खड़ा कर दिया। भगवान् के दर्शनों की तीव्र इच्छा का व्याघात होता देखकर उन्हें भी क्रोध आ गया। बोले—

कोवामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमःस्वभावः।
तस्मिन्प्रशान्त पुरुषे गत विग्रहे वां को वात्मवत्कुहकयोः परिशंकनीयः॥३२
नह्यंतरं भगवतीह समस्त कुक्षा वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुर लिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदर भेदि भयंयतोऽस्य॥
तद्वा ममुष्य परमस्य विकुण्ठ भर्तुः कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकानितो व्रजत मन्तरभाव दृष्ट्या पापीय सस्त्रय इमेरिपवोऽस्य यत्र॥

( भा० ३, १५ )

हे द्वारपालो! उच्चभगवद्भक्ति से वैकुण्ठधाम को प्राप्त करने वाले समदर्शी महात्माओं में निवास करते हुए भी तुम दोनों का ऐसा विषमस्वभाव क्यों है, कि किसी को जाने देते हो और किसी को नहीं? यदि तुम्हारा यह विचार हो कि "स्वामी के रक्षणार्थ, द्वारपाल का ऐसा स्वभाव गुण ही है" तो यह तुम्हारी भूल है। प्रथम तो भगवद्भक्ति के विना कोई यहाँ आ नहीं सकता। दूसरे, परमात्मा प्रशान्त हैं उनमें विरोध की आशंका ही कैसे हो सकती है? सच्ची वात तो यह

है कि जैसे तुम दोनों स्वयं कपटी हो वैसे ही कपटी तुम दूसरों को भी समझते हो। अतः तुम्हें भ्रम है कि तुम्हारे समान ही कोई दूसरा कपटी यहाँ आ जायगा।

भय का बीज तो भेद है, परन्तु परमात्मा में भेद की आशंका कभी हो नहीं सकती। समस्तब्रह्माण्ड जिसकी कुक्षि में वर्तमान है, तत्त्ववेत्ता लोग अपने को जिसके अन्तरभूत समझते हैं, अर्थात् महाकाश में घटाकाश के समान अपने को स्वाभाविक अभिन्न देखते हैं, उसमें राजादिकों के समान उदरभेदी भय तो है ही नहीं, फिर तुम्हारे इस भेद का कारण क्या? परमात्मा में भेदी-भय की आशंका को उत्पन्न कर तुमनें जो अपराध किया है, उसके अनुसार तुम्हारी भलाई का जो उचित उपाय है; हम वही सोच रहे हैं।

भगवान् के सेवक में ऐसा कपटदोष नहीं रहना चाहिये। इस से स्वामी पर लाञ्छन आता है और सेवक के भी दुःख में फँस जाने की सम्भावना रहती है। इसलिये हे जय विजय! भेददर्शन के अपराध में तुम दोनों उन पापीलोकों को जाओ, जहाँ तुम्हारे जैसे भेददर्शियों के शत्रु काम, क्रोध और लोभ रहते हैं।

सनत्कुमारादि के इस अमोघशाप को सुन कर भयभीत जय-विजय उनके चरणों पर गिर गये और क्षमाप्रार्थना करने लगे। इतने में सनत्कुमारादि के इस अपमान की सूचना भगवान् तक भी पहुँच गई और लक्ष्मीजी सहित वे भी वहाँ पहुँच गये। भगवान् की हृदय-उल्लासिनी अपूर्वशोभा को देखते ही चारों भाइयों ने परम आनन्दित हो उनके चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़ गद्‌गद्‌वाणी से स्तुति करने लगे—हे दयामयाशय! आप के जिस, सब के हृदय में वर्तमान, अज्ञानियों को दुष्प्राप्य, ज्ञानियों को आत्मस्वरूप से प्राप्य, ब्रह्मरूप से सदा प्रकाशमान स्वरूप को आप के पुत्र और अपने पिता ब्रह्माजी से सुनकर हमने अपने हृदय में धारण कर रक्खा है; उसी इन्द्रियागोचर स्वरूप का आज हम दर्शन कर रहे हैं। हम लोगों पर यह आपकी बड़ी अनुग्रह है। दयालो! यद्यपि आपके मनवाणी-अगोचर निर्गुण स्वरूप का उपदेश करते हुए पिताजी ने हमें बतलाया था कि वही तुम्हारा आत्मा है। परन्तु भगवन्! जिस प्रकार काष्ठारूढ अग्नि महाअग्नि से भिन्न नहीं, उसी प्रकार आपका यह स्वरूप भी उस निर्गुणस्वरूप से भिन्न नहीं। हम लोग आप को तत्त्वस्वरूप परमात्मा ही समझते हैं। भले ही आपका यह ऐश्वर्य विचारहीनपुरुषों को निर्गुणस्वरूप में असम्भव प्रतीत होता हो। कारण, वे नहीं समझते कि आपकी कृपा से भक्तियोगद्वारा अहंकार और रागद्वेषादि से मुक्त होनेवाले महापुरुष निजात्मस्वरूप में भगवान् के जिस निर्गुणस्वरूप का दर्शन करते हैं वही प्रभु अपने प्यारेभक्तों को प्रसन्न करने के लिये ऐसी ऐश्वर्यशालिनी मूर्ति में भी आविर्भूत होते हैं।

भगवन्! जो श्रेष्ठ और पवित्रकीर्तिवाले पुरुष आपकी कथा के रसज्ञ तथा आपके यशोगान में कुशल हैं और जिन्हों ने आप के चरणों का ही शरण बना लिया है वे तो फिर निरतिशयानन्दरूप मोक्ष की भी कामना नहीं करते, आपको भृकुटी विलास से विनाश हो जानेवाले ब्रह्मलोकादि की उन्हें क्या पर्वाह हो सकता है? हे दयासिन्धो! हमारी यही प्रार्थना है कि इस समय आपके सेवकों को शाप देकर हम लोगों ने जो अपराध किया है, वह तो हुआ सो हुआ—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदिनु ते पदयोरमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रि शोभा पूर्येत ते गुण गणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥४९॥

इस अपराध के दण्ड में चाहे हमें नरकवास दें चाहे किसी तिर्यक् योनि में भेजें। परन्तु हम जहाँ और जिस दशा में भी रहें हमारा मन पुष्पों में भ्रमर के समान सदैव आपके चरणों में ही भ्रमण करता रहे। हम लोगों से फिर कभी ऐसा अपराध न हो। तुलसीदल के समान हमारी वाणी आपके चरणों की ही शरण ले। हमारे कान आपका ही यशगान सुनते रहें। बस भगवन्! ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये हमारी यही प्रार्थना है।

हे विपुलकीर्ते! जो अजितेन्द्रियों को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, आपके उस स्वरूप के दर्शन कर हम कृतार्थ हो गये। हम आप को वारवार प्रणाम करते हैं।, इतना कहकर सनत्कुमार चुप हो गये।

सनत्कुमार के कथन को सुनकर भगवान् विष्णु वोले-हे महर्षियो! यह तो आप लोग जानते ही हैं कि जय और विजय दोनों मेरे पार्षद हैं। इन लोगों ने हमें तुच्छ-सा समझकर आपका अपमान किया है। अतः आप लोगों ने इन्हें जो दण्ड दिया है, वह हमें पसन्द है। स्वामी और महापुरुषों का तिरस्कार करनेवाले को ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये। मैं तो स्वयं आप लोगों को प्रसन्न करना चाहता हूँ। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण मेरा परदैवत हैं। मेरे सेवकों ने आपका अपमान करके जो अपराध किया है वह मेरा ही अपराध है। सेवक से अपराध होता है तो अपराधीसेवक के साथ उसके स्वामी का नाम भी आ ही जाता है। अतः स्वामी की भी अपकीर्ति होती है और ऐसी अपकीर्ति त्वचा को लगे हुए श्वेतकुष्ट के समान कीर्ति का नाश करनेवाली होती है। मैं तो आप लोगों से ही पवित्रकीर्ति को प्राप्त करता हूँ। आपके प्रतिकूलव्यवहार करनेवाली वाहु अर्थात् लोकपाल को भी काट सकता हूँ। आपने इन्हें जो दण्ड दिया, वह उचित ही दिया है। मेरी इन पर यही अनुग्रह है कि इस दण्ड को भोगकर फिर मेरे पास आजाएंगे।

सनत्कुमार ने कहा—भगवन्! आप क्या करना चाहते हो? यह आप ही जानें दूसरा कोई आपकी लीलाओं को जान नहीं सकता। आप सबके स्वामी होते हुए भी इन लोगों के अपराध को अपने सिर ले रहे हैं और दण्ड को अनुग्रह मान रहे हैं। भगवन्! यह वात और भी आश्चर्यजनक है कि ब्राह्मणों और सर्वदेवों के उपास्य होकर भी ब्राह्मणों को अपने परदैवत वतलाते हैं। आपका यह कथन तो लोकशिक्षणार्थ ही प्रतीत होता है। क्यों कि वेद में आपका वतलाया हुआ धर्म अति गुह्य वस्तु है, जिसकी रक्षा के लिये आप नानाविध के अवतार धारण किया करते हैं। उस धर्म को निर्मलबुद्धि लोग ही जान सकते हैं। मालूम होता है आप ब्राह्मणों को वेद के रक्षक जानकर, लोगों को उनका आदर करने की शिक्षा दे रहे हैं। फिर भी महाराज! हमें अपनी वात पर कोई हठ नहीं। हमने आपके सेवकों को जो दण्ड दिया है उसे रद्द करके आप स्वयं ही, जो उचित दण्ड समझते हैं, इन्हें दीजिये। हम उसी में प्रसन्न हैं। हमने आपके प्यारेसेवकों को व्यर्थ ही दुःख में फँसाया है। इस अपराध का जो उचितहो हमें भी दण्ड दीजिये।

भगवान् कहने लगे-हे ऋषियो! कोई चिन्ता न करो। जो कुछ होता है मेरी ही सत्ता से होता है। इन लोगों की कोई विशेष क्षति नहीं बल्कि कल्याण ही होगा। जय-विजय को सम्बोधन कर कहने लगे—हे पुत्रो! किसी प्रकार की चिन्ता न करो। शाप को पूरा कर शीघ्र ही अपने अधिकार को फिर प्राप्त कर लोगे। ब्रह्मतेज को निवारण करने की शक्ति मैं रखता हूँ; परन्तु मैं उसे निवारण करना नहीं चाहता। मेरे भक्तवर शाप की शक्ति मुझ से ही प्राप्त करते हैं। फिर उस शक्ति को मैं कैसे व्यर्थ करूँ? यदि मैं ऐसा करूँ तो मेरी अपनी ही मर्यादा भङ्ग होगी।

भक्तवत्सल भगवान् के वचनों को सुन, सनत्कुमारादि ने परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया और गुणगान करते हुए विकुण्ठ से चले गये। जय-विजय भी विकुण्ठ से पतित होकर दिति के गर्भ से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रूप में पैदा हुए।

## पितृकन्याओं को दण्ड

भगवान् सनत्कुमारजी के जीवन की ऐसी ही एक दूसरीघटना भगवान् वेदव्यासजी ने शिवपुराण, रुद्रसंहिता पार्वतीखण्ड के दूसरे अध्याय में इस प्रकार लिखी है—

एक समय ब्रह्माजी अपनी सभा में विराजमान थे। सर्वदेवगण यथायोग्यस्थान पर बैठे थे। उपदेश सुनने की इच्छा से आए हुए ऋषिगण भी एक ओर विराज रहे थे। ऋषियों के हार्दिकभावों को समझकर नारदजी प्रश्न करते जाते थे और ब्रह्माजी उन प्रश्नों का उत्तर देते जाते थे। प्रसंगवश पार्वती, सीता और राधाजी के कल्पान्तरीय जन्मों का प्रसङ्ग चल गया। नारदजी ने उनके इन जन्मों का कारण पूछा तो उत्तर में ब्रह्माजी कहने लगे—हे नारद! तुम्हारे भाई दक्ष की साठ कन्याएं थीं। उन सब का विवाह कश्यपादि ऋषियों के साथ कर दिया था। स्वधा नामकी कन्या का विवाह पितृदेव के साथ हुआ। स्वधा से मेना, धन्या और कलावती नामकी तीन लड़कियाँ पैदा हुईं। तीनों ही भगवद्भक्तिपरायणा थीं। एक दिन भगवान् विष्णु के दर्शनों के लिये तीनों लड़कियाँ श्वेतद्वीप में गईं। वे भगवान् विष्णु की सभा में जाकर बैठी ही थीं कि अकस्मात् जगत्हितार्थ भ्रमण करते हुए महात्मा सनत्कुमारादि भी वहाँ पहुँच गये। और सभा में खड़े होकर भगवान् विष्णु की पूजा-स्तुति करने लगे। उनके आने पर भगवान् विष्णु की सभा में जितने लोग उपस्थित थे सब सम्मानार्थ खड़े हो गये और देवों के भी वन्दनाई सनत्कुमारादि को प्रणाम करने लगे। हे नारद! उस समय पितृदेव की उक्त तीनों कन्याएं भी वहाँ उपस्थित थीं। अज्ञान ने उनकी बुद्धि पर, ऐसा पर्दा डाल दिया कि इन महात्माओं के आने पर न तो वे अपने आसनों पर से उठीं और नही उन्हें प्रणाम किया। उनकी इस धृष्टता को देखकर अतिधैर्यशाली महात्माओं को भी क्रोध आ गया। सनत्कुमार कहने लगे—हे लड़कियो! तुम तीनों बहनें सदसद्विवेक से रहित हो। भले ही तुम पितृदेव की कन्याएं हो परन्तु तुमने वैदिकधर्म के रहस्य को नहीं समझा। निश्चय ही तुम अतिमूढ़ हो। तुमने मानवीविचारों को मन में रखकर अभिमान किया है, इसी वास्ते सभा में उपस्थित अन्यलोगों की भाँति न तुमने प्रणाम किया और न ही स्वागत के लिये खड़ी हुई हो। अब तुम स्वर्ग से दूर हो जाओ और अज्ञान में डूबी रहनेवाली मानवीस्त्रियाँ बन कर मनुष्यलोक में वास करो। तुम्हारे कर्म का फल यही है।

इस शाप को सुन कर पितृदेव की तीनों कन्याएं श्रीसनत्कुमारजी के चरणों पर लोट गईं और विनयपूर्वक इस शाप के उद्धार का उपाय पूछने लगीं। उनकी इस पश्चातापपूर्ण नम्रता पर सनत्कुमारजी प्रसन्न हो गये और कहा–तुम डरो मत, इस से तुम्हारा कल्याण ही होगा, अनिष्ट का भय नहीं। तुम तीनों पार्वती, सीता तथा राधा के रूप में जन्म धारण करोगी। हे पुत्रियो! तुम्हारे इस धृष्टव्यवहार की हम उपेक्षा कर सकते थे। निश्चय ही तब हमें भी इतनी खिन्नता न होती जितनी तुम्हें दण्ड देने पर हो रही है। परन्तु तुम्हें दण्ड न देने पर संसार में एक उदाहरण बन जाता। लोग बड़ों का आदरसत्कार करना आवश्यक न समझते। बड़ों का सत्कार न होने से उनकी तो कोई हानि होती नहीं, परन्तु धर्मातिक्रमण के कारण छोटों को ही सदैव दुःखों से पीड़ित रहना पड़ता है। तुम एक बड़े प्रजापति की सन्तान हो सब लोग तुम्हारे आचार का अनुकरण करते हैं। तुम्हारे इस उदाहरण से संसार में मर्यादा का लोप होजाता। अब तुम्हारे इस थोड़े से कष्ट से उसकी रक्षा हो जायगी।

उपरोक्त दोनों घटनाएं श्रीसनत्कुमारजी के भगवान् हंस से चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की दीक्षा लेने से पूर्व की हैं। उस समय आप लोकमर्यादाओं को इतना महत्व देते थे कि भगवान् विष्णु के द्वारपाल जय-विजय को मामूली अपराध पर तुरन्त दण्ड की आज्ञा सुना दी। दण्ड भी ऐसा कड़ा कि जिसे सुनते ही जय और विजय का दिल काँप गया और रंग फक्क हो गया। जहाँ भगवान् के द्वारपाल होने के कारण उनमें पहले इतनी अकड़ थी अब गिड़गिड़ा कर क्षमाप्रार्थना करने लग गये। अधिकार का सारा नशा हिरन हो गया। इसी प्रकार आप अदण्डार्ह पितृकन्याओं को भी उनके अनुचित अभिमान और शिष्टाचार के विरुद्ध व्यवहार का दण्ड देने से नहीं चूके। पितृकन्याओं को दण्ड देते हुए उन्हों ने स्पष्ट कह भी दिया था कि हम स्वयं आदरसत्कार की पर्वाह नहीं करते परन्तु छोटे लोग बड़ों का सम्मान करना छोड़ देंगे तो बड़ों का छोटों पर शासन न रहेगा और इससे छोटों की ही हानी होगी। सनत्कुमारजी जैसे दिव्यदर्शी महात्मा से यह छिपा न था कि शाप देने पर शापदाता का पुण्य भी क्षीण होता है और फिर शाप दिया भी गया भगवान् के सेवकों और अबलाओं को। परन्तु यह क्षति उठाकर भी आपने दण्डरूप में शाप दिया। उस समय वे समझते थे कि सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के लिये ऐसा करना आवश्यक है। उनका विचार था कि समाज की व्यवस्था तब ही ठीक रह सकती है जब बड़े छोटों पर वात्सल्यभाव रक्खें और छोटे बड़ों का यथोचित आदर-सत्कार करते रहें। दूसरे, इन जगहों पर उन्हों ने ऐसा कठोरदण्ड देना इस विचार से भी आवश्यक समझा कि जय-विजय भगवान् के सेवक हैं इनके आचरणों का ही सर्वसाधारण अनुकरण करेंगे। यदि यही समाज के नियमों का पालन न करेंगे तो दूसरे लोग उनकी क्या पर्वाह करेंगे? दूसरी जगह दोषी कन्याएं थीं। स्त्रीजाति ही समाज तथा उसके भविष्य की विधाता है। क्योंकि माता के गुणधर्मों का प्रभाव सन्तति पर सब से अधिक पड़ता है। माता अपने विचारों और कृत्यों से जैसा वायुमण्डल तैयार करती है उसकी सन्तति के भी वैसे ही विचार, स्वभाव और कृत्य हुआ करते हैं। अतः स्त्री जाति में दैवीगुणयुक्त शिष्टाचार होना अत्यावश्यक है। इन गुणों को त्याग कर स्त्रीजाति मानवसमाज को

राक्षससमाज वना सकती है। इन्हीं विचारों को मन में रखकर भगवान् सनत्कुमारजी ने दोनों जगह ऐसा कड़ा दण्ड दिया।

कुछ भी हो, हमको तो यही दिखाना अभीष्ट है कि चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की दीक्षा लेने से पूर्व भगवान् सनत्कुमारजी के विचार कैसे थे और उसके बाद उनमें कैसा परिवर्तन हो गया।

## भगवान् सनत्कुमारजी को पार्वतीजी का शाप.

चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की दीक्षा लेने के बाद उनके जीवन में परिवर्तन को प्रकट करनेवाली पहली घटना वही मिलती है जिसमें पार्वतीजी ने उन्हें शाप दिया है। यह कथा आत्मपुराण में लिखी है।

मुनिमण्डल का कोई सम्मेलन था या कुम्भादिपर्व, एक समय सारा मुनिसमाज काशीजी में पहुँचा हुआ था। एक दिन प्रातः जगत्तारणी-भागीरथी में स्नान कर सर्व मुनिवृन्द स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप महादेव के भजन में मग्न थे कि अकस्मात् भवानीसहित सैर करते हुए भगवान् शंकर भी वहीं पहुँच गये। मानो हृदयस्थध्येय मूर्तिमान हो सम्मुख आ खड़ा हुआ। प्रत्येक मुनि के आत्मा में अकथनीय आनन्द की झनकार हुई और वह स्वागत तथा प्रणाम के लिये समाधि से ऐसे उठ खड़ा हुआ जैसे अचेत पड़ा हुआ पुरुष किसी महात्मा के आशीर्वाद से पुनः प्राण प्रवेश कर जाने पर, राम राम कहता हुआ उठ खड़ा होता और हृदयोल्लास से महात्मा के चरणों पर गिरने के लिये दौड़ता है। आनन्द का ठिकाना न रहा। भगवान् शंकर और भवानी को प्रणाम किया। कई मुनिजन वेदमन्त्र और कई अपने या अन्य त्रिपुरारिभक्तों के बनाए हुए स्तोत्र पढ़-पढ़ कर शिव-गौरी की स्तुति करने लगे। मुनिजनों की श्रद्धाभक्ति को देखकर भोलानाथ बड़े प्रसन्न हुए और मनवाञ्छित वरों की गुदड़ी वहीं झाड़ने लग गये। यही नहीं, जाते समय प्रत्येकमुनि के आसन पर स्वयं मिलने गये।

उसी जगह एक ओर, सर्वत्र एक ही आत्मा को परिपूर्ण देखनेवाले भगवान् सनत्कुमारजी भी धूनी रमाए बैठे थे। उन्हें समाधिस्थ होने के कारण शंकर-आगमन की खबर ही नहीं हुई या मालूम नहीं क्या तरङ्ग आई, वे भगवान् शंकर के आने पर स्वागत के लिये खड़े नहीं हुए।

एक एक आसन पर पहुँच कर मुनियों को कृतार्थ करते हुए भगवान् शंकर सनत्कुमारजी के आसन पर पहुँचे तो उन्हें ब्रह्मस्थित देखकर गद्गद् प्रसन्न हो गये। परन्तु नारिस्वभाव, भवानीजी को सनत्कुमार का यह व्यवहार अच्छा न लगा। उन्हों ने सोचा—भगवान् महादेव अनादि पुरुष हैं, अष्टाङ्गयोग की साधना करनेवाले योगियों के सर्वदा ध्येय हैं, सर्वविद्याओं के दाता परमगुरु हैं। इनके समान न कोई पहले हुआ न अब है और नही भविष्य में हो सकता है। यही महादेव तो महदादितत्त्वों तथा सर्वभूतों का सृजन, पालन और संहार करते हैं, इनके समान दूसरा कोई कैसे हो सकता है ? फिर इनसे बड़ा होना तो असम्भव ही ठहरा। इसी सनत्कुमार के पिता ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि जितने लोकपाल अथवा देवता हैं वे सब लोग तो, इस लोक के राजाओंद्वारा मोल ली हुई

दासियों से पैदा की गई सन्तान के समान, महादेव के गर्भदास किंकर हैं। क्योंकि महादेव ने ही सत्तास्फूर्तिरूप धन देकर मायारूप दासी को ख़रीदा है और उसी से ब्रह्मादि सब देव उत्पन्न हुए हैं। सनत्कुमार को अपने ब्रह्मचारीपन का बड़ा घमण्ड है। यह स्त्रीजाति को अनावश्यक वस्तु समझता है। मुझे महादेव के साथ देखकर जल गया है। यह कल का छोकरा महादेव को स्त्री के अधीन समझता है। इसी वास्ते इसने उठकर स्वागत तथा प्रणाम नहीं किया। जगद्गुरु महादेव से बढ़कर ब्रह्मचारी कौन हो सकता है! इन्हों ने ही तो कामदेव का नाश किया है!

इसी विचारधारा में भवानीजी का क्रोध इतना बढ़ गया कि उन्हों ने सनत्कुमारजी को शाप देने का निश्चय कर लिया। यहाँ तक सोचने लगीं कि ऐसा कौनसा उपाय हो सकता है जिससे इसको सब से अधिक कष्ट में फँसाया जा सके। अन्त में यही फैसला किया कि 'अश्वों की सेवा करके आजीविका कमाने वाले अश्वपाल ही मनुष्यों में सब से अधिक नीच और दरिद्र होते हैं। क्योंकि वे लोग दुर्गंधयुक्त अश्वशालाओं में ही सदैव रहते हैं और दिनरात श्रमकरते रहने पर भी बहुत थोड़ा कमा सकते हैं। भगवान् करे, इस घमण्डी सनत्कुमार का जन्म उन अश्वपालों के कुल में ही हो।' उन्होंने उसी समय सनत्कुमारजी को सुना भी दिया कि तुमने मेरे स्वामी महादेवजी का अपमान किया है, अतः तुम्हें शाप देती हूँ कि अश्वों की सेवा करने वालों के कुल में तुम्हारा जन्म होगा।

यह सारा कौतुक मिनटों में ही हो गया। महादेव चकित से खड़े देखते रह गये। उन्हों ने भवानी जी को बहुतेरा रोका परन्तु भवानी ने क्रोध के आवेश में उनकी भी एक न सुनी। भगवान् सनत्कुमार के लिये तो सर्वत्र एक ही ब्रह्म था। वे शाप को सुनकर मुस्कराए और दिव्यशरीर को त्याग कर, एक वस्त्र उतार दूसरा पहन लेने के समान, अश्वों की सेवा करने वाले अश्वपाल का शरीर धारण कर लिया।

आत्मानन्दी तो थे ही, उस शरीर में भी भगवान् सनत्कुमार आनन्दमग्न रहने लगे। घोड़ों का दाना, चने आदि, खाकर खूब मोटे-ताज़े हो गये। अब तो यही विचार कर बड़े प्रसन्न रहते कि पूर्व दिव्यशरीर में स्नानादि नित्य नैमित्तिक कर्म करने पड़ते थे यहाँ वह भी कोई बन्धन नहीं रहा। आलस्य यहाँ तक बढ़ गया कि उनके अश्वपाल सगे-सम्बन्धियों ने उन्हें आलसी और अन्य किसी कार्य के अयोग्य देखकर अश्वशाला के द्वार पर पहरेदार बैठा दिया। दिन रात वहीं पड़े मौज उड़ाते।

कुछ दिन बीतने पर भवानी की ममता जागी, महादेव को साथ लिये अश्वशाला के द्वार पर पहुँचीं। उस नीच शरीर में भी सनत्कुमारजी को आनन्दमग्न देखकर भवानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। बोलीं—हे सनत्कुमार! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ जो इच्छा हो वर मांगो। दण्ड के लिये बिलोनी के साथ बन्धे हुए खोलने के समय मचल जाने वाले माखनचोर यशोदानन्द के समान, सनत्कुमार बोले—आपने मुझ पर पहले ही बड़ा उपकार कर रक्खा है। पूर्वशरीर से कई गुणाश्रेष्ठ यह शरीर आपकी कृपा से ही मुझे मिला हुआ है। फिर भी हे देवी! यदि मुझपर अनुग्रह करती ही हो तो कोई ऐसा शरीर प्रदान कीजिये जिसमें बैठे बैठे ही मलमूत्रादि का त्याग करने की आवश्यकता हो तो वह दूर जा गिरे, मेरे शरीर

को न लगे। क्योंकि इस शरीर में और तो सब आनन्द है, टण्टा केवल इतना ही है कि मलमूत्र का त्याग करने के लिये उठ कर दूर जाना पड़ता है।

शायद भवानीजी ने इसे व्यंग समझा, उन्हें फिर क्रोध आगया। बोलीं—"हे सनत्कुमार! वह तो ऊंट का शरीर ही हो सकता है जिसका विष्ठा, सूत्रादिमल दूर जा गिरता है, फिर तू ऊंट का शरीर ही प्राप्त कर।" इस शाप के अनन्तर सनत्कुमारजी ने अश्वपाल का शरीर त्याग कर ऊंटयोनि में जन्म लिया।

ऊंटों को सिधानेवालों ने उनको ऊंट के कर्तव सिखाने के लिये बहुतेरामत्था मारा परन्तु इन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। अन्त में उन लोगों ने यह निश्चय कर उसे वन में खुला छोड़ दिया कि यह आलसी जानवर किसी काम के लायक नहीं हो सकता। वन में करीरादिवृक्षों का भक्षण और गंगाजी का मधुरजल पान कर थोड़े ही दिनों में यह ऊंट हृष्ट-पुष्ट हो बुलबुलाने और निजात्मानन्द में मग्न रहने लगा। अब तो मलमूत्र का त्याग बैठे बैठे भी कर लेते और वह शरीर से दूर जा गिरता था, फिर शेष चिन्ता ही किस बात की हो सकती थी?

कई काल व्यतीत होजाने पर भवानी को फिर उनका ख्याल आया। महादेव के साथ पहुँचीं उसी वन में, जो सनत्कुमारजी के ऊंट शरीर का क्रीड़ास्थान बना हुआ था। उस अवस्था में भी उन्हें आनन्द मग्न देखकर भवानी ने कहा—हे सनत्कुमार! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ, जो मन में आए वर मांग लो।

सनत्कुमारजी बोले—हे देवी! आपकी दया से ही यह सर्वश्रेष्ठ ऊंट का शरीर मिला हुआ है। इससे बढ़कर और कौनसा वर हो सकता है जो मैं आपसे माँगूं? जगत में इस से भी श्रेष्ठ शरीर कोई है, मैं तो ऐसा जानता नहीं। इसमें तो मुझे परम आनन्द की प्राप्ति हुई है। अन्य शरीरों में लोक और वेद से जो जो लज्जा तथा भय रहता था इस शरीर में आकर उससे भी मेरा पिण्ड छूट गया। बैठा हुआ भी मलमूत्र का त्याग कर देता हूँ तो वे मेरे शरीर को स्पर्श नहीं करते, दूर जा गिरते हैं। हे देवी! इसमें तो मैंने परमसुख का अनुभव किया है। आप कृपा करना ही चाहती हैं तो यही वर दीजिये कि यदि आगे के लिये भी परमेश्वर मुझे शरीर प्रदान करें तो बार बार यही ऊंट का शरीर प्राप्त करता रहूँ। बस मेरी भगवान से भी यही प्रार्थना है। हे देवी! इस अनादिसंसार में मैंने अनेक शरीरों का अनुभव प्राप्त किया है, परन्तु जो सुख स्वाद इस शरीर में मिला है अन्य किसी शरीर में नहीं देखा। इस शरीर से परे मैं और किस वर की कामना कर सकता हूँ?

सनत्कुमारजी के वचन सुनकर भवानीजी ने कुछ देर तक महादेव के साथ कुछ प्रामर्श किया और फिर सनत्कुमार से बोलीं—हे सनत्कुमार! तुम सर्वकामनाओं से रहित हो, इसलिये हमसे तो कोई वर तुम मांगते नहीं। अब जो मैं मांगती हूँ वही वर तुम मुझे दो। सनत्कुमारजी बोले—कहिये आप क्या चाहती हैं? मैं वही वर दूँगा। भवानी ने कहा—मैं यही वर मांगती हूँ कि तुम स्वयं हमारे पुत्र बनो। भगवान् सनत्कुमार ने इसे स्वीकार किया और ऊंट शरीर को छोड़ कर भवानी के कार्तिकेय नाम के पुत्र हुए, उसी का नामान्तर स्कन्द[1] है, जिस का शब्दार्थ कामजित् है।

१ इस कथा का बीज इस श्रुति में उपलब्ध होता है। "तस्मै मृदितकशायाय तमसपारं

कहाँ वह अवस्था कि जयविजयद्वारा रोके जाने पर और पितृकन्याओं के स्वागत के लिये खड़ी न होने पर आपने भीषणदण्ड सुना दिया और कहाँ अब यह हालत कि भगवान् शंकर के आने पर स्वयं ही खड़े होने की आवश्यकता नहीं समझते और इस पर क्रोधित हो पार्वतीजी ने शाप दे दिया तो उसे हँसते हँसते स्वीकार कर लेते हैं।

## ब्राह्मीस्थिति का अभ्यास.

इस में सन्देह नहीं कि चतुर्थाश्रम-उदासीनधर्म की दीक्षा लेने से उनके जीवन में जो महान् परिवर्तन हुआ उपरिलिखित घटना से उसका पता तो अवश्य चलता है परन्तु यह शंका भी उत्पन्न होती है कि जो महात्मा केवल लोकमर्यादा की रक्षा के लिये अदण्डार्ह पितृकन्याओं तक को भी ऐसा कड़ादण्ड देना आवश्यक समझते थे वे उस मर्यादा का पालन यहाँ तक अनावश्यक क्यों समझने लग गये कि भगवान् शंकर का स्वागत करने के लिये भी खड़े नहीं हुए ? भगवान् सनत्कुमारजी के जीवनचरित्र और इतिहासपुराणों का अवलोकन करने से इसके कई एक कारण मालूम होते हैं। यह एक स्वतंत्रविषय है कि चतुर्थाश्रमी के लिये कर्तव्याकर्तव्य क्या है ? इसको न छेड़ते हुए भी भगवान् सनत्कुमारजी के उक्त लोकमर्यादा की पर्वाह न करने के कारण की खोज करते समय हमें सर्वप्रथम उस उपदेश पर ही ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिये जो भगवान् हंस ने उन्हें उदासीनधर्म की दीक्षा देते समय किया था। क्योंकि उनके जीवन में परिवर्तन का मुख्यसाधन वही उपदेश बना था "आप कौन हैं ?" सनत्कुमारजी के इस पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए ही भगवान् हंस ने कह दिया था कि "आत्मा तो एक ही सर्व में परिपूर्ण है, फिर निर्विशेष आत्मा के किस विशेष जातिगुण का अवलम्बन लेकर इस प्रश्न का उत्तर दिया जाए ? यदि प्रश्न पञ्चभूतात्मकशरीर विषयक हो तब भी इसका कोई अर्थ नहीं क्योंकि पञ्चभूत दृष्टि से भी सब शरीर एक हैं। विचार को और आगे ले जाओ तो परमकारण आत्मारूप ब्रह्म से अतिरिक्त तो कोई सद्भाव ही नहीं फिर कौन क्या है ? इसका उत्तर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के सिवा दूसरा क्या हो सकता है ? भिन्नभिन्न पदार्थों का अस्तित्व तो कथनमात्र है।" भगवान् हंस ने-आप कौन हैं ?" इस पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए ही श्रीसनत्कुमारजी की शरीरभेद दृष्टि को मिटा दिया था। इसके पश्चात् "जीव का वास्तविकस्वरूप तो सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, ऐसी भावना बन जाने पर जीव परिपूर्णस्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेता है। "अहंब्रह्मास्मि" इस निश्चय के साथ सूर्यवत् सर्वसाक्षी बन कर सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित रहो। चित्त और बुद्धि जड़ हैं चित्त को आत्मचैतन्य स्पर्पण कर देने से जगत में नानापदार्थों की प्रतीति होती है, जबतक वह नानात्वबुद्धि विचार से दूर नहीं हो जाती तबतक वह अज्ञानीपुरुष जागता हुआ भी स्वप्न में

दर्शयति भगवान् सनत्कुमार स्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँस्कन्द इत्याचक्षते। छा० उ० अ० ७ खं०२६ मं० २। क्षीणदोष नारद को मायातीत ब्रह्मतत्त्व का भगवान् सनत्कुमार दर्शन करा रहे हैं। उन्हीं (नारदगुरु सनत्कुमारजी) को ही शास्त्रवेत्ता स्कन्द कहते हैं।

जागने के समान सोता है। शरीर, तन्निवन्धन वर्णाश्रमरूप भेद, स्वर्गादि फल और उनके हेतु कर्मादि यह सब आत्मा की अपेक्षा असत् हैं और वेद में भी उनका प्रतिपादन अज्ञपुरुषों की प्रवृत्ति को सुव्यवस्थित करने के लिये किया गया है। आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर पुरुष को अपने शरीर के वैठने उठने आने जाने आदि व्यवहारों की भी सुध नहीं रहती, वह सदैव निजात्मानन्द में लीन रहता है," इत्यादि वाक्यों से भगवान् हंस ने सनत्कुमारजी को निश्चय करा दिया था कि सद्वस्तु तो एक ब्रह्म ही है, शेष नानारूप छोटा वड़ा तो केवल भ्रममात्र है, कौन किसका आदर करता और कौन किस से कराता है, यह सब माया का प्रपञ्च हैं।

अपने गुरु भगवान् हंसके उपदेशानुसार इसी स्थिति का श्रीसनत्कुमारजी अभ्यास किया करते थे। सम्भव है निजात्मानन्द में लीन होने के कारण भगवान् शंकर के आगमन की ओर ध्यान ही न गया हो। अथवा ध्यान जाने पर भी उन्होंने हृदय से स्वागत किया हो और उठकर खड़ा होना एक दिखावा समझकर औरलोगों के साथ खड़ा होने की इस विचार से आवश्यकता न समझी हो कि भगवान् शंकर तो दिल के भावों को जानते ही हैं। यह रहस्य इस वात से भी प्रकट होता है कि जहाँ भगवान् शंकर ने उनके इस व्यवहार पर किसी प्रकार की अप्रसन्नता प्रकट नहीं की वहाँ पार्वतीजी के शाप पर सनत्कुमारजी हँसने लग गये। ऐसे समय उनके हँसने का अर्थ यही हो सकता है कि पार्वतीजी को भगवान् शंकर की अर्धांगिनी और जगज्जननी का गौरव प्राप्त होने पर भी अभी तक आत्मवोध नहीं हुआ।

## पार्वतीजी के क्रोध का कारण.

पार्वती के शाप और भगवान् सनत्कुमारजी के हँसने से एक रहस्य और भी प्रकट होता है। वह यह कि जन्मदिन से ही प्रवृत्ति और गृहस्थ के विषय में उनकी धारणा वड़ी कड़ी वनी हुई थी। उनके ऐसे विचार स्त्रीसमाज की चिढ़ का कारण वने हुए थे। उनके यह विचार किसी न किसीरूप में अव भी प्रकट होजाया करते थे। पितृकन्याओं ने आपका जो अपमान किया उसका कारण भी वही चिढ़ थी, जो आपके इन विचारों ने स्त्रियों में पैदा करदी थी। मालूम होता है स्त्रीसमाज की शिकायतें पार्वतीजी तक भी पहुँच चुकी थीं और लोगोंने सनत्कुमारजी के स्त्रीजाति विषयक घृणापूर्णविचार सुना सुनाकर उन्हें वहुत भड़का रक्खा था जव भगवान् शंकर पार्वतीजी सहित देवसभा में पहुँचे और देवताओं के साथ श्रीसनत्कुमारजी भी उनके स्वागत के लिये खड़े नहीं हुए तो पार्वतीजी को यही भ्रम हुआ कि वे स्वयं भी भगवान् शंकर के साथ हैं, इस वास्ते स्त्रियों के विरुद्ध घृणाप्रदर्शनार्थ श्रीसनत्कुमारजी भगवान् शंकर के स्वागत के लिये भी खड़े नहीं हुए। इस पर उन्हें इकदम क्रोध आ गया। पहले से जो शिकायतें उन तक पहुँच चुकी थीं एक एक करके वे सव स्मरण हो आईं और उन्हों ने भगवान् सनत्कुमार जी के व्यवहार को अपना और अपनेद्वारा समस्तस्त्रीजाति का जान वूझकर किया गया अपमान समझा। इसका दण्ड देने के लिये, क्रोध में उस समय माता पार्वतीजी के मुंह में जो कुछ भी आया उन्होंने कह डाला। जिसे भगवान् शंकरसहित सभा में उपस्थित अन्य सवलोग, यह सोचते हुए चकित होकर सुनते और भगवान्

सनत्कुमार हँसते हँसते स्वीकार करते रहे कि भवानी पार्वतीजी ने मालूम नहीं किस भ्रम में यह सब कुछ कह डाला है। कोई आश्चर्य नहीं यदि उपस्थित सभासद पार्वतीजी के भ्रम के कारण को भी समझते ही हों।

कुछ भी हो पार्वतीजी के शापका कारण भ्रम ही था। सनत्कुमारजी ने जान बूझकर भगवान् शङ्कर का अपमान किया हो, ऐसी सम्भावना भी नहीं की जा सकती। देवसभा में भगवान् शङ्कर के आने के समय, स्वागत के लिये न उठने का कारण उनका गुरुआज्ञानुसार ब्राह्मीस्थिति के अभ्यास में लीन रहना ही हो सकता है। अब रहा यह प्रश्न कि भगवान् सनत्कुमारजी के वे कौनसे विचार थे जो उस समय की स्त्रीजाति के लिये चिढ़ का कारण बन रहे थे? इसका उत्तर भगवान् सनत्कुमारजी के उस उपदेश से ही मिल जाता है जो आपने नारदजी को चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की दीक्षा देते समय किया था।



## ( ४ तरङ्ग )

## नारद को उपदेश

जब भगवान् नारायण की आज्ञानुसार नारदजी ने महाराज सृञ्जय की पुत्री स्वर्णग्रीवा के साथ विवाह कर लिया और वे स्त्रीसुखभोग में रत होकर अपने कर्तव्याकर्तव्य को भी भुला बैठे, तब कहीं देवयोग से भगवान् सनत्कुमार उनके पास पहुँच गये। आगे नारदजी एक बगीचे में वटवृक्ष की सघनछाया में बैठे अपनी स्त्री के साथ प्रेमालाप कर रहे थे। ब्रह्मतेज से प्रकाशमान, पञ्चवर्षीयबालक का शरीरधारी अपने बड़े भाई को सामने खड़े देखकर नारदजी ने साष्टांग प्रणाम किया। भगवान् सनत्कुमारजी नारद की दशा देखकर मुस्कराए और आशीर्वाद देकर कहने लगे।—

अयि भ्रातः किं करोषि कुशलं युवतीपते।
स्त्रीपुँसोर्वर्धतेप्रेम नित्यं तन्नित्यनूतनम् ॥३१॥
परमात्मज्ञानशून्यं (अरगलं ज्ञानमार्गस्य) भक्तिद्वार कपाटकम्।
मोक्षमार्गव्यवहितं चिरंबन्धनकारणम् ॥३२॥
गर्भावासस्य बीजं च परंनरक कारणम्।
पीयूष बुद्ध्या गरलं भुङ्क्ते पापी नराधमः॥
परं नारायणं त्यक्त्वा यस्यापि विषये मनः ॥३३॥

स वञ्चितो मायया चामृतंत्यक्त्वा विषंभजेत् ।
सर्वेषां कर्मभोगोऽस्ति कर्मिणा मीश्वरंविना ।३४।।
वयं विधातु पुत्राश्च अस्माकमपि (सा बुद्धि रिति) देहिनाम् ।।
यदि ते नास्ति भोगश्च कथं गन्धर्व जन्म च ।। ३५ ।।
कथं दासीसुतस्त्वञ्च मुक्तश्च मुक्त संगतः ।
निर्गच्छ तपसे भ्रातस्त्यज मायामयीप्रियाम् ।।३६।।
सुपुण्ये भारतेवर्षे तपसा भज माधवम् ।
स्थिते नारायणे स्वेशे परे स्वपद दातरि ।।३७।।
विषयी विषयासक्तो (विषयान्धश्च) वञ्चितो मायया ध्रुवम् ।
गृहाण मम मंत्रञ्च कृष्ण* इत्यक्षरं द्वयम् ।।३८।।
सर्वेषामेव मंत्राणं सारात्सारं परात्परम् ।
सर्वेषु च पुराणेषु वेदेषु च चतुर्षु च ।।३९।।
धर्मशास्त्रेषु नास्त्येव कृष्ण मंत्रात्परो मनुः ।
नारायणेन दत्तो मे पुष्करे सूर्य्य पर्वणि ।।४०।।
असंख्य कल्पं जप्ताहं भ्रमामि सर्व पूजितः ।
इत्युक्त्वा स्नापयित्वा तं ददौ तस्मै परं मनुम् ।।४१।।
दिवा निशं स जपति पूतया मणिमालया ।
तस्मैशुभाशिषं दत्त्वा मंत्रं च वैष्णवाग्रणीः ।।४२।।
गो लोकं प्रययौ द्रष्टुं भगवन्तं सनातनम् ।।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण० कृष्णजन्म खण्ड० अ० १३० श्लो० ३१)

हे भ्राता! तू यह क्या कर रहा है। अपने सुख के साधन किस पुण्य का अर्चन कर रहा है? हे युवती के स्वामी! तू स्त्रीसंग में ही सुख मान बैठा है, इस से तो तुम दोनों का प्रेम दिनप्रतिदिन बढ़ता ही जायगा। यह वैषयिकप्रेम मंगल-कारक तो कभी हो नहीं सकता। यह प्रेम तुम दोनों को अभिलषितसुख से बहुत दूर ले जा रहा है। और तुम हो कि अपना ही विनाश करके प्रसन्न हो रहे हो। घर में वह रही गंगा को छोड़कर मृगतृष्णा के जल से तृषा शान्त करना चाहते

* अयनम् इति–इण्ग्तौ क्विन् कृष्णस्य–इति आसिर्येन तत् कृष्णेति कृष्णप्राप्तिसाधनमितियावत् ।

हो ! यह वैषयिकप्रेम परमात्मज्ञान का घोरविरोधी है, ईश्वरभक्ति के द्वार को वन्द कर देने वाला कपाट है। मोक्षमार्ग से बिलकुल उलटा रास्ता है, चिरकाल तक बन्धन में डाल रखने वाली दुश्छेद्यदुर्गशृंखला है। गर्भवास तथा नरकप्राप्ति का मूल कारण है। भाई ! आनन्दस्वरूप नारायण का भजन छोड़कर जो नराधम विषयों में मन लगाता है, वह निश्चय ही अमृत को छोड़ विष का पान कर रहा है—माया से वंचित हो विष को ही अमृत मान बैठा है। ईशप्रेमविहीन हृदय को तो काट ही फेंकना अच्छा है। यदि तुम समझते हो कि संसार की यह लीला इस भौतिक शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है और इस शरीरद्वारा किये कर्मों का, शरीर छोड़ने के अनन्तर, तुम पर कोई उत्तरदायित्व न रहेगा, तो यह तुम्हारी भूल है। केवल परमेश्वर को छोड़कर, जिस किसी जीव ने भी ईश्वर को प्राप्त नहीं किया, उसे अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना ही पड़ता है। तुम स्वयं भगवान् नारायण के मुख से अपने पिछले जन्मों की कथा सुन चुके हो। यदि कर्मभोग न होता तो तुम गन्धर्वयोनि को क्यों प्राप्त करते ? कर्मवश ही एक समय दासी के गर्भ से तुम्हारा जन्म हुआ। महात्माओं के सत्संग से उस दासीपुत्रशरीर को त्याग कर अब इस कल्प में तुम ब्रह्माजी के पुत्र हुए हो। कहाँ तक कहा जाय ? कर्माधीन होकर ही तुम नानायोनियों में भ्रमण करते हुए यहाँ तक पहुँचे हो। क्या अभी और भी उन मलमूत्रपरिपूर्ण घृणित गर्भस्थानों में रहने की इच्छा है ? यदि है, तो स्त्रीसङ्ग में खुश रहो। यदि चौरासीलाख योनियों के चक्कर से छूटना चाहते हो तो मायामयी स्त्री का ख्याल छोड़ो और पवित्र भारतदेश में जाकर तप करो। मायाधीश भगवान् को प्रसन्न करने का यही उपाय है। भगवान् से ही उनकी भक्ति और प्रेम की याचना करो। ऐसा करने से ही तुम्हें सत्यसुख की प्राप्ति और जगतबन्धनों से मुक्ति होगी।

हे नारद ! भला तुम ही सोचो, जो भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों की भावना के अनुसार हरप्रकार के सुख देने को सदा तत्पर रहते हैं, भक्त के प्रेम के वश हो अपने आपको भी उसके हाथों में समर्पण कर देते हैं, ऐसे सर्वव्यापक दयालु भगवान् को छोड़कर जो जीव विषयवासनाओं में फँस जाते हैं उनके सम्बन्ध में इसके सिवा क्या कहा जा सकता है कि वे मायाद्वारा ठगे गये हैं। प्यारे भाई ! उठो, छोड़ो स्त्रीमोह को। मनुष्य-शरीर विषयभोगों के लिये नहीं। तुम अपने आपको भूल गये हो, उसे फिर जानने का यत्न करो। इसके लिये मैं तुम्हें उसी मंत्र का उपदेश करता हूँ जिसका अनुष्ठान-जाप कर मैं स्वतंत्र होकर विचरता हूँ। उस मंत्र के जाप से तुम भी सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाओगे।

इतना कहकर भगवान् सनत्कुमारजी ने नारद को स्नान कराया और मंत्र ×उपदेश कर स्वयं भगवान् के दर्शनार्थ गोलोक को चले गये। * और नारदजी भी अपनी पतिभक्ता सुन्दर पत्नि को त्यागकर अपने गुरु भगवान् सनत्कुमारजी की आज्ञानुसार तप करने के लिये ब्रह्मलोक से पुण्यभूमी भारतवर्ष की ओर चल दिये।

× मंत्रग्रहणमात्रेण जनो नारायणो भवेत् ॥
विचारणं च नास्त्यत्र कालाकालं शुभाशुभम् ॥ ५१ ॥
पंचलक्षजपेनैव पुरश्चरणमस्य च ॥
ध्यानं च सामवेदोक्तं तेन ध्यायेच्च वैष्णवः ॥ ५२ ॥

* सम्पूर्ण कथा नारदमुनि के जीवन में पढ़िये।

भगवान् सनत्कुमारजी के ऐसे ही विचार उनके विरुद्ध नारीसमाज में फैल रही उत्तेजना का कारण बने हुए थे। पितृकन्याओंद्वारा उनका जो अपमान किया गया और भवानीद्वारा उन्हें जो शाप दिया गया उनमें भी वही उत्तेजना काम कर रही थी। वह उत्तेजना उस समय तक दूर हुई मालूम नहीं होती जब तक भवानी को यह निश्चय नहीं हो गया कि भगवान् सनत्कुमारजी की निवृत्तिविषयक धारणा स्वाभाविक ही है, स्त्रीजाति के विरुद्ध किसी प्रकार की घृणा के कारण नहीं। इसके बाद भवानीजी को वही सनत्कुमार इतने प्यारे लगने लगे कि उन्हें अपने पुत्र के रूप में देखने की तीव्र उत्कण्ठा हो गई।

मालूम होता है उस समय भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रश्न बड़े ज़ोर से उठ खड़ा हुआ था और इस का मुख्यकारण भगवान् सनत्कुमार का व्यवहार ही था। यही कारण है कि उनके विरुद्ध स्त्रीसमाज में घोर आन्दोलन जारी हो गया। जहाँ स्त्रीसमाज को यह भय था कि सनत्कुमारजी का सिद्धान्त मान्य होजाने से स्त्रियाँ एक निरर्थक वस्तु ही नहीं बल्कि मनुष्य के परमध्येय की प्राप्ति में बाधा सिद्ध होंगी, वहाँ पुरुषों को भी यह सन्देह हो रहा था कि इस सिद्धान्त के प्रचार से जगत का व्यवहार ही रुकने लग जायगा। मालूम होता है ऐसा सन्देह करने वालों में से ही एक राजा दक्ष भी थे जिनके पुत्रों को नारदजी ने उदासीनधर्म का उपदेश देकर तप करने के लिये भेज दिया था। ब्रह्मवैवर्तपुराण से उद्धृत कथा से प्रकट होता है कि भगवान् नारायण के उपदेश से नारदजी गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त हो गये थे। भगवान् सनत्कुमार ने फिर उन्हें वहाँ से निकाल लिया। इस घटना से भी उनके व्यवहार पर टीका टिप्पणी होना स्वाभाविक ही था। कहना न होगा कि उस समय भी धर्माचार्यों को ऐसे प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी कि सनत्कुमारजी का ऐसा व्यवहार धर्मशास्त्र के कहाँ तक अनुकूल है? एक विवाहित पुरुष को, स्त्री और कुटुम्ब से उपराम करके ऐसी अवस्था में ही तप करने के लिये भेज देना जब कि वह अभी समर्थपुत्रों वाला भी नहीं हुआ, कहाँ तक उचित हो सकता है? नारद की नवोढ़ा स्त्री को पतिवियोग का जो दारुणदुःख हुआ क्या उसके लिये उपदेशदाता को जुम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता?

नारद के गृहत्याग पर ऐसे प्रश्न उठाए गए थे, और उन पर उस समय के धर्माचार्यों ने क्या व्यवस्था दी थी? स्पष्ट शब्दों में ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता। तथापि शास्त्रों और पुराणों में इन प्रश्नों पर विस्तृतविवेचन पाया जाता है। अतः इस विषय में शास्त्र का सिद्धान्त क्या है? आगे चलने से पहले इस पर विचार कर लेना चाहिये।

## परमसुखप्राप्ति का साधन.

यह तो निर्विवाद ही है कि प्राणीमात्र का परमध्येय सुखप्राप्ति है। स्थावर, जंगम सारा जगत किसी न किसी क्रिया से बँधा हुआ है। हस्ती से च्यूंटी तक पशु पक्षी, राव से रंक तक मनुष्य किसी लक्ष्य को सिद्ध करने की धुन में रातदिन परिश्रम शील रहते हैं। प्राणीमात्र में श्रेष्ठ कहलाने वाले मनुष्य को ही देखो, किस प्रकार उधेड़ बुन में लगा हुआ है। सेठ, साहूकार, राजा रईस आवश्यकता से अधिक जीवनोपयोगीसाधन रखते हुए भी अपनी श्रीवृद्धि के लिये परेशान रहते हैं। इसी

परेशानी ने छीनाझपटी तक नौवत पहुँचा रक्खी है। एकव्यक्ति दूसरेव्यक्ति के, एकराष्ट्र दूसरेराष्ट्र के अधिकारों पर अधिकार जमाने की चेष्टा में क्या क्या अनर्थ नहीं कर डालता! जिन लोगों को ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं वे भी कुछ टकों के लिये अपनी स्वतंत्रता और प्राणोंतक को गंवाने और अपने ही जैसे दूसरे भाइयों का गला काटने के लिये तैयार हो जाते हैं। ज्ञान के पिपासु तपआदि क्रियाओं में ही उस जीवन तक को मिटा देते हैं जिसकी रक्षा के लिये मनुष्य हरवस्तु को कुर्वान करने के लिये तत्पर रहता है। देश के कष्ट को सहन न करनेवाले देशभक्त स्वतंत्रता की वलिवेदी पर अपना सर्वस्व स्वाहा कर देते हैं। इन सवका उद्देश्य केवल सुख की प्राप्ति ही तो है। उस सुख की प्राप्ति के लिये ही मनुष्य सव कुछ करता है। यहाँतक कि उसी के लिये जीवित रहता और उसीके लिये मरता है। जिस सुख की प्राप्ति के लिये यह सव दौड़ धूप, पाप पुण्य और अर्थ अनर्थ हो रहे हैं वह है कहाँ? क्या, राष्ट्रों का नाश करके, श्रमजीवी ग़रीवों का पेट काटकर और असंख्य प्राणियों पर अत्याचार कर उनके रक्त से तैयार किये गये महलों में रहनेवाले राजा रईसों को वह सुख प्राप्त है? क्या तृणकुटीरों में रहनेवाले ग़रीव श्रमजीवियों को उस सुख की कभी झलक दिखाई दिया करती है? उत्तम भोजनों में है, स्त्री के सौन्दर्य में है, माता पिता पुत्रादि सम्वन्धियों में है, संग्रह में है या त्याग में; कहाँ है? सर्वप्रथम उसकी ही खोज करनी चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय मनुष्य राज्याधिकार और धनसे प्राप्त वैभवों में सुख मान वैठता है। दूसरे ही समय वही अधिकार और धन, सुख के स्थान में दुःख का कारण प्रतीत होने लग जाते हैं। यदि इन वस्तुओं में सुख होता तो इनकी उपस्थिति में सुख सदैव वना ही रहना चाहिये था। परन्तु ऐसा तो होता नहीं। कभी कभी तो राज्याधिकार और धनप्राप्त लोगों को, इन साधनों से वंचित मनुष्यों से भी अधिकदुःखी देखा जाता है। तव, राज्य और धन में ही सुख है, यह कैसे माना जा सकता है!

वहुत लोग सुन्दर सुशील स्त्री में सुख मानने लग जाते हैं। उसके लिये धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, लोकलाज, धर्मकर्म, यहाँतक कि प्राणतक त्यागने के लिये तैयार होजाते हैं और स्त्रीप्रेम में फँसकर क्षणभर के लिये भी उससे अलग होना असह्य समझते हैं। परन्तु वही पुरुष जो स्त्री को ही अपना अराध्यदेव मानता था, उसी स्त्री के प्राणों का ग्राहक वना देखा जाता है। अव उसको देखते ही उसके दुःख का पारावार नहीं रहता। यदि स्त्री में सुख था तो अव वह कहाँ चला गया? स्त्री वही, पुरुष भी वही है, परन्तु उसी में माना हुआ पहलासुख अव दिखाई नहीं देता। अव तो उसी पुरुष को, जो कलतक स्त्रीसुख के मुकावले में अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझता था, उस स्त्री की स्मृति भी तड़पा देती है। फिर स्त्री में सुख कहाँ रहा?

## स्त्रीमोहजाल.

महाराज भर्तृहरि की कथा प्रसिद्ध है। महाराज अपनी राणी पिङ्गला पर इतने आसक्त थे कि राजकाज को एक तरफ परमेश्वर तक तो भूल गये थे। उनका अराध्यदेव, उनका जगत और उनके प्राण एकमात्र पिङ्गला ही थी। किसी तपस्वी के

घोरतप से प्रसन्न हो उसके आराध्यदेव ने अमृतफल दिया और बताया कि इसको खाकर तुम अमर हो जाओगे। तपस्वी ने स्वयं न खाकर वह फल महाराज भर्तृहरि को दे दिया। महाराज के लिये उस समय प्राणों से भी प्यारी पिङ्गला थी। उन्होंने वही फल उसे दे दिया। राणीपिङ्गला राजा के एक अश्वपाल (सईस) पर लट्टू थी। जिस तरह राजा उसे चाहता था उसी हार्दिकप्रेम से वह अश्वपाल को चाहती थी। उसने उस अमरफल को अश्वपाल के सुपुर्द किया। अश्वपाल एक वेश्या पर आसक्त था, उसने वहाँ पहुँचाया। परन्तु वह तो अमरफल था, वेश्या को उसके खाने का कैसे सौभाग्य प्राप्त हो सकता था! उसने सोचा "इन थोड़े वर्षों के जीवन में ही इतने पाप कमा चुकी हूँ कि लोक परलोक का कोई ठिकाना ही नहीं रहा, यदि इसी जीवन में अमर हो गई तो इन पापकर्मों का अन्त कहाँ होगा? इस फल के अधिकारी तो प्रजावत्सल महाराज भर्तृ हैं। वे अमर हो जायंगे तो प्रजाका सुख अमर हो जायगा।" यह सोचकर उसने वह फल ले जाकर महाराज के आगे पेश कर दिया। वही फल पुनः अपने हाथों में देखकर महाराज भौंचके से रह गये। जाँच करने पर सारा भेद खुल गया। तब राज सिंहासन अपने भाई विक्रमादित्य को सौंप कर निम्नश्लोक पढ़ते हुए तपोवन को चले गये—

यां चिन्तयाम्यनुदिनं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति नरं स नरोन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

अर्थात्—जिसके ध्यानमें मैं दिनरात लीन रहता हूँ उसे तो मेरी तनिक भी पर्वाह नहीं है। यही नहीं, उसके हृदय में कोई दूसरा ही बस रहा है। अचम्भा यह है कि वह पुरुष भी राणी के प्रेम का कुछ भी विचार न करता हुआ किसी दूसरी ही स्त्री पर आसक्त है। वह स्त्री है कि मुझे प्रसन्न करना चाहती है। अतः पिङ्गला, अश्वपाल और वेश्या सब को धिक्कार है जो दूसरे के प्रेम का कुछ मोल ही नहीं समझते, उनसे भी बढ़कर मदन—काम को धिक्कार है जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। सब से बढ़कर मुझे धिक्कार है जो बन्दी की भाँति ऐसे लोगों में फँसा हुआ हूँ।

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तै र्भाव्यं मम सुदिवसै र्यत्र ते निर्विशङ्काः,
कण्डूयन्ते जरठहरिणा शृङ्गमङ्गे मदीये।

मुझे वह सौभाग्यसमय कब प्राप्त होगा जब गंगा के किनारे हिमालय की किसी शिला पर ब्रह्मध्यान में बैठा हुआ मैं योगनिद्रा को प्राप्त कर लूँगा और गंगा का जल पीने के लिये आए हुए वृद्धमृग मुझे पत्थर या लकड़ी समझकर खुज-

लाने के लिये मेरे शरीर के साथ घर्षित करेंगे।" महाराज भर्तृहरि जिस सुख को पिङ्गला में माने बैठे थे वह अब राज्यसुख को भी साथ लेकर कहाँ चला गया?

## सुखदुःख रहस्य.

माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि सम्बन्धियों में ही सुख होता तो सब से अधिक दुःखी त्यागी तपस्वी साधु महात्मा ही होते, जो ऐसे सम्बन्धों को सर्वथा त्याग चुके होते हैं। जब इन बाह्यपदार्थों में सुख किसी में भी नहीं है, तो क्या यह निश्चय कर लिया जाए कि उसका संसार में अस्तित्व ही नहीं?

ऐसा भी मान नहीं सकते, कारण सुख की प्रतीति अवश्य होती है। जो वस्तु सर्वथा नहीं है उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है? हम तो उस सुख की अनुभूति बाह्य भौतिकपदार्थों में भी करते हैं फिर उसके अस्तित्व से कैसे इन्कार किया जा सकता है? तब क्या बाह्यपदार्थों में अनुभव होने वाला सुख भी, सुख है? है तो सुख, इस में सन्देह नहीं, परन्तु वास्तविक या सत् सुख नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सत्सुख वह है जिसका कभी नाश न हो। अधिकार धन, माता, पिता, स्त्री पुत्रादि में अनुभव होनेवाला सुख नाशवान है और वास्तविकसुख की केवल छायामात्र है। वह हमें वास्तविकसुख के समान इस वास्ते अनुभव होता है कि वास्तविकसुख की प्राप्ति का जो साधन है वही साधन, अर्थात् मन की एकाग्रता, भौतिकसुख की प्रतीति का भी है। राज्य, धन, स्त्री, बन्धु, विद्या, तप और धर्म कर्म में भी हमें उसी अवस्था में सुख प्रतीत होता है जब हमारा मन, सुख का अनुभव कराने वाली वस्तु में एकाग्रभाव को ग्रहण कर लेता है। मन एकाग्र न हो-अस्थिर हो-तो कोई वस्तु भी सुख का साधन नहीं हो सकती। जब मन में किसी वस्तु की वासना उत्पन्न होती है और वह वस्तु मिल जाती है तब सुख अनुभव होता है। कारण यही है कि वासना पैदा हो जाने से जीवात्मा में जो अस्थिरता आ गई थी वाञ्छितवस्तु मिल जाने पर वह दूर हो गई। दूसरी वासना उत्पन्न होने तक, मन एकाग्र हो गया और उतना समय जीवात्मा बाह्य जगत से हटकर निजानन्द में स्थिर रहा।

इस से सिद्ध हुआ कि वस्तुतः वाञ्छितवस्तु अथवा राज्य, धन, स्त्री, पुत्रादि में सुख कहलाने वाली कोई चीज़ न थी। यदि उनमें ही होती तो जिस वस्तु से एक पल पहले बड़ा सुख मिला था, अब उससे घृणा हो जाने का कोई कारण न था। भूख लगने पर एक पल पहले मिली हुई रोटियों से जो सुख और आनन्द प्राप्त हुआ था दूसरे पल में मिली हुई उनसे भी अच्छी और स्वादु रोटियों में वह क्यों अनुभव नहीं हुआ? वास्तव में दुखों की जड़ वासना ही है। उसकी निवृत्ति पर आत्मा निजात्मानंद में मग्न हो जाता है। हम उस आत्मानंद को क्षण-क्षण में प्राप्त करते रहते हैं परंतु वह इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते। हमारा मन हरसमय किसी न किसी धुन में लगा रहता है। वह इतना चंचल है कि अपने विचारों को क्षण-क्षण में बदलता है। एक विचार को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करने पर दो विचारों की सन्धि के समय जीवात्मा को एकाग्रता का जो समय मिलता है उसमें भी उसे वही वास्तविक सुख प्राप्त होता

है। परंतु वह अतिसूक्ष्म होता है, अतः हम उसे अनुभव नहीं कर सकते। नही विचारों की उथलपुथल उसकी ओर ध्यान जाने देती है।

शास्त्र भी तो यही बताते हैं कि आत्मा सुखस्वरूप ही है। भ्रम से जगतजंजाल में फँस कर राग-द्वेषवश सुख दुःख मान रहा है। वास्तव में तो वह सच्चिदानन्द है। कहने का प्रयोजन यह कि जीवात्मा की एकाग्रता, वासनाओं से मुक्ति या ब्राह्मी-स्थिति ही वास्तविकसुख है और उसी सुख को प्राप्त करना प्राणिमात्र का ध्येय है। उसी को प्राप्त करने के लिये सब प्रपंच रचे जाते हैं। मनुष्य को उसका ज्ञान तो होता नहीं, परंतु प्रत्येक वासना की निवृत्ति और मन के विचार परिवर्तन के समय उसकी स्वाभाविकप्राप्ति से लालसा बढ़ती जाती है और वह उसके लिये वैसे ही तड़फड़ाने लग जाता है, जैसे गली में बिक रहे खिलौने को देखकर बच्चा मचल जाता है, यद्यपि वह नहीं जानता कि उस खिलौने का नाम और प्राप्त करने का उपाय क्या है और प्राप्त कर लेने पर उसको क्या किया जायगा। जीव भ्रम-वश उस सुख की सम्भावना कभी धनऐश्वर्य में, कभी स्त्रीसंग में, कभी भोजन वस्त्रादि में, और कभी मातापिता पुत्रादि सम्बन्धियों में करता है, वासना उत्पन्न हो जाती है। उसकी निवृत्ति पर कुछसमय तक कोई वासना रहती नहीं, बस, वही सुख है। बाह्यपदार्थों में ही सुख होता तो प्रत्येकपदार्थ से प्रत्येकजीव को समान सुख मिलना चाहिये था। परन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। एक वस्तु एक मनुष्य के लिये सुखकर तो दूसरे के लिये दुःखकर बनजाती है। आवश्यकता अर्थात् वासना न रहने पर कोई भी वस्तु सुखकर नहीं होती।

किसी वस्तु को सुखकर समझने का कारण यह है कि उस वस्तु की इच्छा उत्पन्न होने से वृत्ति उसी में एकाग्र होजाती है और आत्मा का उसीपर सुखात्मक आभास पड़ता है। अतः वही वस्तु सुखमय प्रतीत होने लगती है। जैसे देवप्रतिमा की पूजा करनेवालों के लिये वही प्रतिमा ध्येयदेवता बन जाती है। पुरुष भ्रम-वश इन पदार्थों में सुख समझने लग जाता है। वास्तव में इन पदार्थों में सुख नहीं। हाँ यदि देवप्रतिमा के समान किसी एकपदार्थ को लक्ष रखकर, मनुष्य जगत की अन्य समस्तवासनाओं को त्याग दे और उसी में वृत्ति को एकाग्र करे तो उसमें भी उसे सुख का लाभ होता है। परन्तु कठिनाई यह है कि एक ही वस्तु में न सदैव एकाग्रता बनी रह सकती है और नही उस पदार्थ के बाह्यगुणों की भावना ही मिट सकती है। क्योंकि वास्तविकसुख तो निजात्मस्थिति में है। जब अन्यपदार्थों के सम्बन्ध से भी आत्मस्थिति का आनन्द अनुभव होता है तब आत्मतत्त्व को ही लक्ष्य रखकर अर्थात् उसी की ओर दृष्टि फेरकर निजानन्द स्थिति को लाभ किया जाए तो वह आनन्द तो अवश्य परमानन्द ही होगा।

## उपदेशक का उत्तरदायित्व.

बस, उसी परमसुख की प्राप्ति के लिये जीवात्मा यत्नवान् रहता है। वही उसका परमध्येय है। यदि भगवान् सनत्कुमार ने नारद को वास्तविकसुख का मार्ग बता दिया तो क्या बुरा किया? परन्तु यहाँ यह प्रश्न फिर भी रह ही जाता है कि क्या वह सुख एकदम त्याग से ही प्राप्त हो सकता है? जो लोग जगतव्यवहार में फँसे हुए हैं यदि वे भी उस सुख को प्राप्त कर सकते हैं तो नारद से घर-बार क्यों छुड़ा दिया गया?

इसमें सन्देह नहीं कि विना ज्ञान प्राप्त हुए न इकदम त्याग हो सकता है और नही विना ज्ञान के त्याग कुछ लाभ ही पहुँचा सकता है। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन यम, नियम, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अनेकश्रेणियों की शिक्षा समाप्त करनी पड़ती है। यह काम चतुरशिक्षक का है कि शिष्य की योग्यता देखकर उसे श्रेणी में बैठाए। भगवान् सनत्कुमारजी में योग्यता देखने की शक्ति थी। वे समझते थे, नारद जिन श्रेणियों की शिक्षा समाप्त कर चुका है, यदि इसी प्रकार स्त्रीसुख में फँसा रहा तो उस शिक्षा को भी भूल जायगा और चौरासी के चक्कर काटता फिरेगा। उन्होंने उसको आत्मबोध करा दिया साथ ही यह भी स्मरण कराया कि तुमने किस तरफ जाना था, और अब किधर चलने लग गये हो। नारद इसी उपदेश का अधिकारी था। यह इस से भी प्रमाणित होता है कि उस पर उपदेश का यथेष्टप्रभाव पड़ा। नारद का विवाह करना तो भगवान् की आज्ञानुसार एक सती के प्रण और भगवान् शङ्कर के वर को पूरा करना था। स्त्री मोह में फँसे हुए नारद को यह बात स्मरण हो आई। भगवान् सनत्कुमारजी का वह उपदेश, नेता की उत्साहपूर्ण अपील-ललकार थी जो देश पर शत्रुओंद्वारा आक्रमण किये जानेपर विषयानन्द में मस्त नवयुवकों से देश रक्षा के लिये की जाती है। उनका वह कार्य अनुचित कैसे कहा जा सकता है ? यदि उस नेता पर भी माता, पिता, स्त्री पुत्र और सम्बन्धियों से वियोग कराने का दोष लगाया जाता है तो भगवान् सनत्कुमारजी के उपदेश पर भी ऐसा सन्देह हो सकता है। पर यह बात नहीं। जैसे उस समय देश के नेता और नवयुवकों का वही कर्तव्य होता है। वैसे ही भगवान् सनत्कुमार और सब सम्बन्धियों का कर्तव्य भी वही उपाय करना था जो नारदजी को पतन से बचाने के लिये उस समय किया गया। यदि ऐसे समय उपदेश दाता को कोई शाप देता भी है तो वह शाप देशरक्षा के लिये युद्धक्षेत्र में गये हुए नवयुवकों के माता पिता और स्त्री आदि सम्बन्धियों की ओर से नेता को दी गई गालियों के समान, कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

भगवान् सनत्कुमार किसी व्यक्ति को ज्ञानोपदेश करने के बाद उसे उदासीनधर्म की दीक्षा देने के लिये झट कैंची ही उठा लेते हों, ऐसा न था। आप शिष्य की योग्यता देखते थे और उसे जिस काम के योग्य समझते थे उसी में लगा देते थे। यही कारण है कि उन्हों ने ज्यों ही नारद को स्त्रीमोह में फँस कर पतन की ओर जाते देखा त्यों ही उदासीनधर्म की दीक्षा दे कर तप करने के लिये भारत को रवाना कर दिया। दूसरी ओर महाराजपृथु को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के बाद, पृथुद्वारा उदासीनधर्मदीक्षा की प्रार्थना किये जाने पर भी, प्रजापालन में लगे रहकर आत्मस्थिति प्राप्त करने में यत्नवान रहने की आज्ञा की। भगवान् सनत्कुमार ने पृथु को जो उपदेश किया उसकी कथा श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्ध अध्याय २२ में महर्षि वेदव्यासजी इस प्रकार लिखते हैं।—

## (५ तरङ्ग)

## पृथु को उपदेश.

जिन दिनों महाराजपृथु की प्रजा में, उनके रक्षण आदि धर्म-कर्म की बड़ी प्रशंसा हो रही थी उन्हीं दिनों में—

"तत्रोपजग्मुर्मुनय श्चत्वारः सूर्यवर्चसः"

सूर्य के समान तेजस्वी चार मुनि आकाशमार्ग से उतर कर पृथु के दरबार में आए।

अपनी दिव्यज्योति से संसार को निष्पाप करनेवाले उन चारों मुनियों को आकाश से उतरते देखकर, महाराजपृथु अपने अनुचरों तथा दरबार में उपस्थित सभासदों सहित, स्वागत के लिये उठ खड़े हुए। 'यह लोग सबके पूज्य हैं' यह विचार कर महाराज ने उन मुनियों को सर्वोच्च आसन पर बैठाया और स्वयं हाथ जोड़कर सिर झुकाए हुए उनके सन्मुख खड़े हो गये। तत्पश्चात् शास्त्रविधि के अनुसार मुनियों का पूजन कर, उसी सभा में, लोकशिक्षणार्थ सबके सामने शीलवान पुरुषों की भाँति, उनके चरणोदक से अपने मस्तक को पवित्र किया। मुनियों के सुवर्णमय आसनों पर विराजमान होजाने पर, महाराजपृथु हाथजोड़ प्रणाम कर कहने लगे- हे कृपालु मुनियो! मैंने ऐसा कौनसा पुण्य किया है जिसके फलस्वरूप आज आप लोगों के दर्शन कर रहा हूँ? आप लोगों के दर्शन तो योगियों को भी दुर्लभ हैं। विना पुण्यपुञ्ज की सहायता और ईश्वरकृपा के हम जैसे संसारियों को आपके दर्शनों का सौभाग्य कहाँ प्राप्त हो सकता है? जिस पर आप लोगों की कृपा हो उसके लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष भी अनायास ही प्राप्त होजाते हैं। हे प्रभो! भगवत्कृपा भी आप लोगों की कृपा की अनुगामिनी है। आपके कृपापात्र महापुरुषों के योग-क्षेम का भार त्रिदेव स्वयं उठा लेते हैं। हे दयालुओ! यद्यपि आपलोग आप्तकाम होते हुए भी संसार के कल्याणार्थ सर्वत्र विचरते रहते हैं तथापि भाग्यहीन संसारीपुरुषों को आपके दर्शन अलभ्य हैं। ऐसे ही अलभ्य, जैसे इस ब्रह्माण्ड का सर्जन, और रक्षण करने वाले विधाता के। वे गृहस्थ निर्धन होते हुए भी धन्य हैं जो आप जैसे महात्माओं के दर्शनों के साधनभूत अतिथिधर्म का पालन करने में तत्पर रहते हैं। जिस घर में अन्नोदक से साधुओं की सेवा होती है, वह घर दरिद्र होता हुआ भी इन्द्र और कुबेरादि के भवनों से सहस्रगुणा अधिक सुख और कल्याण का दाता है। जिस घर में अन्न, जलद्वारा साधुओं की सेवा नहीं होती, वह नानाविधवैभवों से सम्पन्न होता हुआ भी शुष्कवृक्ष के कोटर के समान निरर्थक और भयानक है। भगवन्! आप धन्य हैं। मन तथा इन्द्रियों की जिस प्रबलशक्ति का विचार कर देवताओं के भी छक्के छूट जाते हैं-इन्द्रियग्राम को विजय करने का विचार ही छोड़ देते हैं-उस इन्द्रियग्राम पर आपने बाल्यावस्था में ही विजय प्राप्त करली है और इसी अवस्था में वृद्धों के-से आचारद्वारा विरक्ति की पराकाष्ठा दिखलादी है। हम लोग कर्माधीन हो संसारसागर में डूब रहे हैं। भगवन्! हमारे उद्धार का भी कोई उपाय है या नहीं? क्या मैं भी संसार के बन्धनों से छूट सकता हूँ? प्रभो! जिस से मेरा कल्याण हो, मुझे अपना दास जानकर, वही उपदेश कीजिये।

## आतिथ्यसत्कार का उपदेश.

महाराजपृथु के वचन सुनकर, मन्दमुस्कान से राजा के चित्त को शान्त करते हुए भगवान् सनत्कुमारजी बोले—राजन्! लौकिकशिष्टाचार के विरुद्ध हम अभ्यागतों का कुशलप्रश्न पूछने के स्थान में आप अपने ही कुशल की जिज्ञासा कैसे

करने लग गये? भगवान् सनत्कुमार के चरणारविन्द में प्रणाम कर राजा ने कहा—भगवन्! आप लोग तो नित्यकुशलरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं। जिस आत्मनिष्ठ महात्मा के मन में बाह्यविषयगामी कुशलाकुशल की तरङ्ग ही पैदा नहीं हो सकती ऐसे दिव्यऐश्वर्य के स्वामी महापुरुष का कुशलक्षेम पूछना तो भूल ही है। आप जैसे महापुरुषों का कुशलक्षेम पूछना तो सूर्य्य के प्रकाश में सन्देह करने के समान है। जगद्गुरो! यही कारण है कि आपका कुशलप्रश्न न पूछकर मैंने अपने ही कुशल की जिज्ञासा की है। महाराज! आप सामान्ययोगी नहीं, किन्तु मानवविग्रह में साक्षात्भगवान् हैं। आपने जीवों के हित के लिये ही यह तपस्वियों का रूप धारण कर रक्खा है। आपके इस अलभ्यदर्शनलाभ पर भी मैं अपने वास्तविक स्वार्थ से वंचित न रह जाऊं, इसी लिये मैंने आप से कल्याण का मार्ग बताने की प्रार्थना की है। मुझे यह दृढविश्वास है कि मेरी यह प्रार्थना निष्फल न जायगी।

इन भावपूर्ण विनीतवचनों को सुनकर भगवान् सनत्कुमार बोले—राजन्! तुम विद्वान हो साधुओं पर ऐसी श्रद्धा तुम्हारी विद्वत्ता के अनुरूप ही है। तुम्हारा यह प्रश्न भी अपने स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु सारे संसार के कल्याण के लिये है।

साधु पृष्टं महाराज, सर्वभूतहितात्मना।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥१८॥
सङ्गमः खलु साधूना मुभयेषां च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥१९॥

"साधुसत्संग होने पर जब परस्पर उत्तर-प्रश्न चल पड़ता है तो प्रश्नकर्त्ता तथा उत्तरदाता का कल्याण तो होता ही है, साथ ही सर्व-साधारण का भी भला होता है।" वस्तुतः आपने यह मोक्षविषयक प्रश्न किया भी दूसरों के हित के लिये ही है। कारण, भगवान् के चरणारविन्द और गुणानुवाद में आपकी जो उत्कृष्टप्रीति है सर्वप्रकार के मलों का नाश करने में वही समर्थ है। इससे बढ़ कर जीव के कल्याण के लिये दूसरा उपाय क्या हो सकता है? मन, बुद्धि और शरीरादि से भिन्न असङ्गब्रह्मस्वरूप निर्गुणआत्मा में दृढ़प्रीति ही परमश्रेय का कारण है। सवशास्त्रों का यही निश्चित मत है। हे राजन्! जिन साधनों के अनुष्ठान और जिसप्रकार के सदाचार से, विषयों से, वैराग्य और आत्मा में प्रीति उत्पन्न होती है, उसे आप ध्यानपूर्वक सुनिये—

## आत्मतुष्टि का उपाय.

१—सर्वशास्त्रों, माता, पिता, गुरु, आप्तपुरुषों' साधुजनों और उनके वचनों में आस्तिक्यबुद्धि रखना। २—ईश्वर के पुत्र अथवा ईश्वर का स्वरूप जानकर सब को यथायोग्य यथाशक्ति सेवा से प्रसन्न करते रहना। ३—प्रतिदिन समाहित चित्त होकर देवार्चन, सन्ध्या, वन्दन, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि का अनुष्ठान। ४—आत्मपरायणयोगीजन महात्माओं का संग, ५—तथा श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करना। ६—प्रतिदिन भगवान् के नाम का जाप और उनकी पवित्रलीलाओं का कीर्तन और श्रवण करते रहना। ७—अर्थपरायण ताम-

सीजन और इन्द्रियाराम, विषयभोगपरायण तथा राजसीलोगों के संग से बचे रहना। और ८—उन लोगों के अभीष्टकर्मों तथा पदार्थों का परित्याग करना। आत्मतुष्टि के यही साधन हैं। आत्मतुष्टि के पैदा होजाने पर ही एकान्तप्रीति पैदा होती है। इसके विना पुरुष के लिये एकान्तवास अधिकलाभकारी नहीं होता। एकान्तवास की इच्छा रखने वाले पुरुष को सदैव हरिनामस्मरण और हरिनामगुणानुवाद का अभ्यास करना चाहिये। मन, वाणी और कर्म से कभी किसी को पीड़ा न पहुँचाए। मन तथा इन्द्रियों को विषयसंसर्ग से दूषित न करे। किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित होने पर चित्त की समता को दूर न होने दे। भगवान् मुरलीमनोहर के चरित्र सदैव सुनता रहे। हे राजन्! इन सब नियमों का पालन करने से ही निर्गुणब्रह्म में प्रेम पैदा होता है।

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं पुण्यश्रवः कथया पुण्यया च ॥२२॥
अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया, तत्संमतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥२३॥
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्य निन्दया, निरीहयाद्वन्द्वतितिक्षया च ॥२४॥
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूरया, गुणाभिधानेन विजृम्भ माणया।
भक्त्याह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि, स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसारतिः॥२५॥

हे राजन्! इन सत्साधनों का अनुष्ठान करने वाले महापुरुष में सच्चिदानन्द स्वरूप निर्गुणब्रह्म के लिये प्रीति उत्पन्न होती है; फिर वह पुरुष गुरु की शरण में पहुँचता है और सेवा, शुश्रूषा द्वारा गुरु की कृपा का पात्र बन कर ज्ञानोपदेश का अधिकारी हो जाता है। सद्गुरु के उपदेश से उसके हृदय में परमवैराग्य और ज्ञान का उदय हो जाता है। उसी ज्ञान और वैराग्य के प्रकाश से अविद्यान्धकार का ध्वँस होजाता है और आत्मतत्त्व का जिज्ञासु ब्रह्मस्वरूप में आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। इसके अनन्तर जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि प्रकट होने पर काष्ठ को जलाकर निस्तत्त्व कर देती है, उसी प्रकार वह ज्ञान-वैराग्य का प्रकाश, विषयवासना, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि दोषों के आधारभूत अन्तःकरण को आत्मसाक्षात्कारात्मक अग्नि से भस्मकर, पुरुष को सर्वप्रकार के बन्धनों से मुक्त कर देता है। हे राजन्! जिसप्रकार स्वप्न के नाश हो जाने पर स्वप्न के द्रष्टा और दृश्य का भी नाश हो जाता है, उसीप्रकार वासना तथा कर्तृत्वाभिमान से युक्त अन्तःकरण का नाश होजाने पर पुरुष को बाह्य स्थूलजगत और अन्तरजगत सुख दुःख का कारण प्रतीत नहीं होते। कारण, अन्तःकरण ही द्रष्टा तथा दृश्य के व्यवहार का साधक है। आत्मा के उपाधिभूत अन्तःकरण के होने पर ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और इन दोनों के सम्बन्धभूत अहँकार को देखता

है। विना अन्तःकरण के इन तीनों की प्रतीति हो नहीं सकती। यह लोकप्रसिद्ध बात है कि जलदर्पणादि निमित्तक समक्ष होने पर ही पुरुष विम्ब और प्रतिबिम्ब को देख सकता है। जलादि के सिवा विम्ब, प्रतिविम्बरूप भेददर्शन का और कोई उपाय नहीं। जबतक पुरुष आत्मसाक्षात्कारद्वारा अविद्या को नष्ट कर अन्तःकरण को निस्तत्व नहीं बना देता, तबतक भेददर्शन का दूर होना अतिकठिन है। भेद-दर्शन का नाश हुए विना दुःखचक्र से मुक्त होना असम्भव है। दुःखजाल से मुक्त होने के लिये पूर्वोक्तनियमों का पालन करना आवश्यक है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर वैराग्य और ईश्वरप्रीति होती है और फिर गुरुकृपाद्वारा उपलब्ध ज्ञानाग्नि से वासनाओं को भस्म कर सर्वप्रकार के दुःखों से मुक्त और पूर्णानन्द को प्राप्त हो जाता है।

## विषयों का भीषण परिणाम.

हे राजन्! जो लोग अनात्मपदार्थों में आसक्त रहते हैं वे इस दुःखपूर्ण संसारसमुद्र में ऐसे फँस जाते हैं कि फिर उनके उद्धार के सब मार्ग बन्द से हो जाते हैं। हे राजन्! जिसप्रकार पुरुष अज्ञानवश स्वकर्तव्यों से ही संसारचक्र में फँस जाता है वह आपको सुनाया जाता है, सावधान होकर सुनो—

इन्द्रियै र्विषयाकृष्टै राक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥३०॥
भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहु रात्मापह्नव मात्मनः॥३१॥
नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्व मात्मानः स्वव्यतिक्रमात् ॥३२॥
अर्थेन्द्रियाभिध्यानंहि सर्वार्था पह्नवो नृणाम्।
भ्रंशतो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्॥३३॥
न कुर्यात्कर्हिचित्संगं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तीव घातकम्॥३४॥
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिक तयेष्यते।
त्रैवर्ग्योर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः॥३५॥
परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु।
न तेषां विद्यते क्षेम मीशविध्वँसिताशिषाम्॥३६॥

पहिले विषय इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, फिर विषयाकृष्ट-इन्द्रियाँ मन को विषयों में आसक्त कर देती हैं और विषयासक्त मन, जलाशय के किनारे स्थित वृक्ष के अपने मूलपत्रादिद्वारा जलाशय के जल को खेंच लेने के समान, बुद्धिस्थ श्रद्धा, आस्तिक्यभाव और सदसद्विवेक को खेंचकर बुद्धि को निस्तत्त्व बना देता है। बुद्धि अर्थात् विचारशक्ति का नाश होजाने पर पूर्वपरानुसंधानात्मक स्मृति का भी नाश होजाता है। स्मृति न रहने पर पुरुष ज्ञानभ्रष्ट हो जाता है। बस, इसी अध्यात्मिकज्ञान के भ्रष्ट होजाने को ही तत्त्वदर्शी महात्मालोग आत्मा का नाश कहते हैं। हे महाबाहो! जिस आत्मा के निमित्त से पुरुष को अन्य विषय प्यारे हैं वह स्वात्मा ही संसार में सबको प्रिय और प्राप्य वस्तु है। यदि अज्ञान-वश स्वात्मविस्मरणद्वारा पुरुष उस आत्मा का ही घात करदे तो इस से बढ़कर हानि क्या हो सकती है? अज्ञानीपुरुष ऐन्द्रिकविषयभोग में ही सुख समझता है। वह नहीं जानता कि ये विषय वास्तविकसुख के साधन नहीं प्रत्युत् उसके स्वार्थ के विघातक हैं और वह उन विषयों की भोगलालसा में अपने ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को कौड़ियों के मोल खो रहा है। विषयभोग पुरुष के आत्यन्तिकपतन का कारण तो है ही, परन्तु उन विषयों का चिन्तन भी चौरासीलाख योनियों की प्राप्तिरूप पतन की ओर अग्रसर करनेवाला है। अतः पुरुष का कर्तव्य है कि सर्व-प्रकार के विषयों, उनसे प्राप्त होने वाले सुखों और सुख की अकाक्षाओं से अपने आपको सदैव बचाए रक्खे। विषयभोगलालसा से परोक्षापरोक्षज्ञान भी नष्ट होजाता है और पुरुष मनुष्येतर स्थावर, जंगमात्मक योनियों के चक्र में ऐसा फँस जाता है कि फिर उससे निकलना ही कठिन होजाता है। अतः मनुष्य को मोक्षधर्म के विघातकपदार्थों अथवा कर्मों का ग्रहण और मोक्षधर्मभिन्न कर्मों को करनेवाले राजस-तामस-प्रकृति संसारीपुरुषों का संग कभी न करना चाहिये। यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ हैं फिर भी प्रवृत्ति का संकोच चतुर्थाश्रम में ही अधिक हो सकता है। अर्थ, धर्म, काम, और इनके फल कालग्रसित हैं। शमादि मोक्षधर्म और उसका फल अविनाशी है। मोक्ष ही पुरुष का आत्यन्तिक और अति-श्रेष्ठ स्वार्थ है। अतः उसे सदैव मोक्ष के हेतु कर्मों का ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। स्वकर्मानुसार जीव चाहे जिस किसी शरीर को प्राप्त करले, परन्तु काल-शासन से कभी मुक्त नहीं हो सकता। ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जीव अथवा गुणों के क्षोभ से उत्पन्न होने वाले समस्तप्राणी, कालद्वारा विनाश होने वाले हैं। हे पुरुषसिंह! अनात्मविषयरति ही पुरुष को विनाश की ओर लेजाने वाली है। यदि अनात्मविषयरति से मुक्त हो सच्चिदानन्दब्रह्म भाव से स्वात्मा के साक्षात्कारद्वारा अमृतत्त्वलाभ करले तो मनुष्य पुनः संसारसमुद्र के सुख-दुःखात्मक भँवर में नहीं फँसता।

## कल्याणकारी उदासीनधर्म.

हे वत्स! अब तुम्हें अपने चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म का वह परमगोप्य उपदेश सुनाते हैं जिसके सुनने से तुम्हारा शीघ्र कल्याण होगा। इसको सुन लेने पर श्रुत अर्थ का धारक श्रोता अपने आपको एक महान् अपरिमितस्वरूप में इस ब्रह्माण्ड का आधारभूत देखने लगता है। उस गोप्यतत्त्व के उपदेश को सावधान होकर सुनो—

तत्वं नरेन्द्र ! जगतामथ तस्थुषां च,
देहेन्द्रिया सुधिषणात्मभिरावृतानाम्।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदिविष्वगाविः,
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥३६॥

हे नरेन्द्र ! यस्मादनात्मरतिरनर्थहेतु स्तस्माद् देहश्चेन्द्रियाणि च असवश्च (प्राणाः) धिपणा=बुद्धिश्च, अहंकारश्च ते, तैर्देहेन्द्रिया सुधिषणाभिः आवृतानाम्=आच्छादितानाम्, तत्रात्म तादात्म्याध्यासेन देहादीनेवात्मत्वेनाभिमन्यमानाना मज्ञातात्मतत्त्वानाम्, जगताम्=गतिमतां, नरनागपशुपतत्रिप्रभृतीनां जङ्गमानाम्। तस्थुषां=स्थितिमतां पर्वतपाषाणपादपादीनां स्थावराणाञ्च। हृदि यो भगवान् चकास्ति, तं भगवन्तं सोऽस्मि सः परमेश्वरोऽहमेवास्मीत्यवेहि-जानीहि, नतु यत्तोऽन्योऽसा विति। अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम्। अहमिति कर्तृपदाध्याहारो वा। सोऽस्ति पाठे स एवै कोऽस्तिपरमार्थसन् न ततोऽन्यः। "एक मेवाद्वितीयमिति" श्रुतेः। ननुजीवो हृदि चकास्ति नान्यस्तत्राह-क्षेत्रं=देहेन्द्रियादि संघातमेवात्मत्त्वेन वेत्तीतिक्षेत्र विज्जीवस्तं तपत्यन्तर्यामिरूपेण यमयतीति क्षेत्रवित्तपोऽन्तर्यामी परमात्मा-"ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि माययेति" स्मृतेः। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इति श्रुतेश्च तस्य भावस्तत्ता तया क्षेत्रवित्तपतया। यद्वा क्षेत्रं देहादिवित्तं गोभू—हिरण्यादि ते क्षेत्रवित्ते अहन्ताममतास्पदे, पाति-रक्षतीति क्षेत्र वित्तपस्तस्यभाव इत्यादि प्राग्वत्। नच जीव एव तत्पाता तस्य तदधीनत्त्वेन तत्पातृत्वानुपपत्तेः, ईश्वरस्तु स्वतंत्रत्वात् कर्माध्यक्षत्वाच्च भवति तयोः पातेति भावः। ननु कर्मैव जीव नियामक मित्याशंक्याह आविः=प्रत्यक्षः कर्मणो धर्माधर्मरूपस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वात्। अस्तु तर्हि बुद्धिः सा तस्याः प्रत्यक्षत्वादित्याशंक्याह प्रत्यक्=प्रतीपं देहादिभ्यो विपरीतमञ्चति अवभासत इति प्रत्यक्, बुद्धिर्हि जडदृश्यपराक्त्वेन प्रकाशते आत्मा तु ततो विपरीतं चिद् द्रष्ट्रन्तरत्वेनेतिभावः। अहंकार स्तर्हि तथास्तु इत्याशङ्का निरासायाह विष्वग्=विषु-नानादिक्षु अञ्चति, गच्छति व्याप्नोतीति विष्वग् सर्वव्यापकः परमात्मा, तत्व हंकारस्तस्य परिच्छिन्नत्वात्। एवं भूतो यो भगवांस्तमात्मत्वेन जानीहीत्यर्थः, इति श्रीधराभिप्रेतोऽयमर्थः।

भगवान् सनत्कुमार कहते—हैं राजन्! सांसारिक पदार्थों में आसक्ति जन्म मरणादिरूप अनेक अनर्थों का कारण और भगवत्प्राप्ति में प्रबल बाधा है। उसे त्यागना ही चाहिये। देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि, अहंकारादि अनात्मपदार्थों में आत्माभिमानरूप मिथ्याज्ञान से जिन लोगों का परमानन्दस्वरूप आत्मतत्व आच्छादित है, ऐसे देव, मनुष्य, तिर्यगादि और पर्वत पाषाण वृक्षादि चराचर भूतों के अन्दर प्रेरक रूप में अथवा देहधनादि के रक्षकरूप में, जो स्वयंप्रकाश, सर्वव्यापी, अखण्ड अद्वयानन्दरूप विराजमान भगवान् है-"वह मैं हूँ" ऐसा निश्चय कर।

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति,
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः।

तं नित्यमुक्त परिशुद्ध विबुद्ध तत्वं,
प्रत्यूढ कर्मकलिल प्रकृतिं प्रपद्ये ॥ ४. २२, ३८,
यत्पादपंकज पलाश विलास भक्त्या,
कर्माशयं ग्रथित मुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपिरुद्ध,
स्रोतो गणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥३९॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णव मप्लवेशां,
षड्वर्गनक्र मसुखेन तितीरिषन्ति ।
तत्वं हरे भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं,
कृत्वोदुपं व्यसन मुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४०॥

परमात्मा में कार्यकारणात्मक जगतप्रतीति का कारण केवल भ्रम है। जिस प्रकार भ्रमवश माला में प्रतीत होनेवाला सर्प और उसका ज्ञान, माला के साक्षात्कारदर्शन से दूर होजाता है, उसीप्रकार यह अज्ञानजन्यजगत और उसका ज्ञान भी आत्मा तथा माया के विवेक-साक्षात्कार से विवेकीपुरुष से की दृष्टि से दूर हो जाता है। ऐसे नित्यमुक्त परिशुद्ध और स्वभाव से ही कर्ममल रहित परमात्मदेव की शरण ग्रहण करनी चाहिये। जिस परमात्मा के चरणकमल की भक्ति से सन्तलोग कर्मजाल के सँस्कारों में ग्रथित अन्तःकरण को मुक्त कर लेते हैं, हे राजन्! सर्वप्रकार की विषयाभिलाषाओं को त्याग कर तुम भी उसी परमात्मा का भजन करो। ऐसा सत्वपरिशोधन यतियों को भी दुर्लभ है। यह संसार भयानकसागर है, षड्वर्ग नाकुओं से भरा हुआ है और श्रेष्ठसंस्तरण के साधनों से रहित है। जिस परमात्मा के चरण-शरण को साधन बनाकर सन्तजन संसारसागर को तर जाते और परमानन्द को प्राप्त करलेते हैं उसी परमात्मा के भजनीयचरणारविन्द को साधन बनाकर तूभी इस दुःखसागरसंसार से पार होने का यत्न कर।

## महाराजपृथु का सर्वस्वअर्पण.

भगवान् सनत्कुमारजी के मुखारविन्द से अध्यात्मविद्याविषयक उपदेश सुनकर महाराजपृथु आनन्दमग्न हो गये। उन्हें प्रमुदित देख भगवान् सनत्कुमार भी चुप हो गये। तब कृतज्ञताप्रदर्शित करते हुए महाराजपृथु कहने लगे—

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्तानु कम्पिना ।
तमा पादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः ॥४२॥
निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भवद्भिर्घृणालुभिः ।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्व मात्मना सह किं ददे ॥४३॥

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥४४॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्ड नेतृत्व मेंव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेद शास्त्र विदर्हति ॥४५॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥४६॥
यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद,
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादितानः।
तुष्यन्त्यदभ्र करुणाः स्वकृतेन नित्यं,
को नाम तत्प्रति करोति विनोद पात्रम् ॥४७॥

हे सद्गुरो ! पहिले मुझपर अति अनुग्रहकर जिस तत्वज्ञान का उपदेश दीनानुकम्पी भगवान् श्रीविष्णुजी ने किया था उसी ज्ञान को स्मरण तथा दृढ़ कराने के लिये आपने मुझ पर कृपा की है। इस अनुग्रह और परमोपकार के लिये मैं आप के श्रीचरणों में क्या वस्तु रक्खूं ? भगवन् ! यह सारी सम्पति साधुओं की है और यह सारे पदार्थ साधुमहात्माओं के ही उच्छिष्ठ हैं। और तो क्या ? यह शरीर भी आप महापुरुषों का ही है, मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं। क्योंकि मेरे पिता की हड्डियों से साधुओं ने ही इसे पैदा किया था। प्राण, स्त्री, पुत्र, घरद्वार वस्त्राभूषण, राज्य, सेना, पृथिवी, कोश यह सब वस्तु पहले ही साधुओं के चरणों में निवेदन कर चुका हूँ। क्योंकि सेनापत्याधिकार, राज्याधिकार, दण्डनीतियुक्त शासनाधिकार, नेतृत्वाधिकार और सर्वलोकपत्याधिकार के योग्यअधिकारी तो वेदशास्त्र के ज्ञाता आत्मनिष्ठ भगवद्भक्त ही हैं। तत्त्ववेत्ता अपना खाते और अपना ही धन दान करते हैं। क्षत्रिय आदि वर्ण तो उनकी कृपा से जीवननिर्वाह करते हैं। फिर भी सेवक के पास चाहे सब पदार्थ स्वामी के ही दिये हुए होते हैं, उन पदार्थों को भी स्वामी के चरणों में अर्पण करने वाला सेवक स्वामी की प्रीति का पात्र बनता और सेवक के धर्म का पालन करता है। अतः हे स्वामी ! इस शरीर से लेकर स्त्री, पुत्र, राज्य, कोश आदि जो कुछ भी है उसको पृथु आप के चरणों में अर्पण करता है और आशा करता है कि जिस प्रकार आपने अपने इस सेवक को तत्त्वज्ञान का उपदेश कर संसार से मुक्त किया है वैसे ही अपने चरणों की सेवा का भी सौभाग्य दीजियेगा।

## उदासीनधर्मोपदेश का प्रभाव.

भगवान् सनत्कुमार बोले —राजन् ! तुम अपने इस निश्चयानुसार अपने शरीर, द्वारा, धन, राज्य और कोश को परमात्मा की ही वस्तु समझते हुए प्रजा का पालन करो। इसी कर्तव्य का पालन करने के लिये आपको यहाँ भगवान् ने भेजा है।

कर्तृत्व और ममत्वबुद्धि से दूर रहकर परमात्मा की इस आज्ञा का पालन करो। समय आने पर आप की अन्तिम इच्छा भी पूर्ण कर दी जायगी। इतना कहकर भगवान् सनत्कुमार आदि चारोंभाई सब के देखते देखते अन्तर्धान हो गये। इसके पश्चात् महाराजपृथु की वृत्ति कैसी हो गई ? इसको भगवान् वेदव्यासजी ने इस प्रकार वर्णन किया है।—

ब्रह्मज्ञान के स्वामी सनत्कुमारादि, महाराजपृथु के शील की प्रशंसा करते हुए अदृष्ट होगये। महापुरुषों में अग्रगण्य वेनपुत्र-पृथु आध्यात्मशिक्षा से आत्मनिष्ठा प्राप्त कर अपने आपको आप्तकाम परमात्मा के समान अनुभव करने लगे और सर्वकर्मों में कर्तृत्वाभिमान तथा उनकी फलाभिलाषा का परित्योग कर परमात्मा की प्रसन्नता के निमित्त देश काल योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार सर्वप्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करने में जुट गये। कर्मफल की आसक्ति से रहित हो सर्वकर्मों को ब्रह्मार्पण करते हुए स्वयं अपने को प्रकृति से परे कर्माध्यक्ष समझने लगे। साम्राज्यलक्ष्मी के स्वामी और प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी अहंबुद्धि से मुक्त हो ऐन्द्रिकविषयों से सदा उपराम रहने लगे। सूर्य के समान निर्लेप रहकर जगत का पालन करते। इसी प्रकार अध्यात्मयोगदृष्टि से कर्मों को करते हुए महाराजपृथु ने पाँच पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम—विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक थे। महाराजपृथु के यह पाँच पुत्र भी अपने पिता की ही प्रतिकृति थे। महाराजपृथु प्रजापालन में सदैव तत्पर रहा करते थे। स्वयं आत्मभाव में स्थित रहते हुए सर्वजीवों के आह्लादकारीकर्मों का अनुष्ठान करते थे। मानो महाराजपृथु चन्द्रमा के समान राजा नाम को सार्थक कर रहे थे। सूर्य के समान प्रजा से कर लेकर उसे प्रजाहित में ही व्यय करते और उद्यतलोगों को दण्ड देकर शासन किया करते थे। अग्नि के समान दुर्धर्ष तेजस्वी, इन्द्र के समान दुर्जय, पृथिवी के समान तितिक्षु, स्वर्गस्थदेवों के समान मनुष्यों की कामनाएं पूर्ण करनेवाले, मेघों के समान सुख और तृप्ति के दाता, बल, ज्ञान, विचारादि में समुद्र के समान गम्भीर तथा दुर्बोध, धर्मराज के समान शिक्षक, हिमालय के समान अद्भुतभावों के आश्रय, कुबेर के समान धनी, वरुण के समान रहस्यों को गुप्त रखने में चतुर, वायु के समान सब के प्राण, भगवान् शंकर के समान अविषह्य, काम के समान सुन्दर, सिंह के समान मनस्वी, मनुष्यों में मनु के समान प्रजावत्सल, प्रभुता में ब्रह्माजी के समान यशस्वी, ब्रह्मविचार में बृहस्पति के समान बुद्धिमान और नित्यस्वरूपावस्थिति में साक्षात् भगवान् विष्णु के समान थे। गुरु, गो, विप्र तथा भगवान्चरणों में प्रेम और साधुमहात्माओं के लिये पूर्णश्रद्धा रखते थे। लोग महाराज की उत्कृष्ट सात्विककीर्ति का गान किया करते थे। इस प्रकार महाराजपृथु भगवान् के समान ही सब लोगों के मन में निवास करने लग गये।

## उदासीनमुनि और राजनीति

पुराणों में भगवान् सनत्कुमारजी के राजाओं के दरबार में पहुँचकर उन्हें आत्मज्ञान और राजधर्म की शिक्षा देने की कथाएं बहुत मिलती हैं। महाराजपृथु को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के पश्चात् उसे प्रजापालन में ही लगे रहने की आज्ञा देने से भी यह प्रकट होता है कि यद्यपि भगवान् सनत्कुमार संसार के साथ कुछ भी

सम्बन्ध नहीं रखते थे, फिर भी वे अध्यात्मशिक्षा के साथ राजनीति की शिक्षा भी दिया करते थे। यही क्यों ? महाराजपृथु की कथा से तो स्पष्ट प्रकट होता है कि संसार का सारा राजप्रबन्ध ही मुनिसमाज के इशारे पर चलता था। राजालोग तो मुनि-समाज की आज्ञाओं का पालन करने के लिये ही राज्यभार को अपने कन्धों पर उठाते थे, इसमें अपना कोई निजीस्वार्थ न समझते थे। यह तो स्वार्थप्रधान कलि-युग की कलह का ही चमत्कार है कि जहाँ एक देश को दूसरे देश का, एक जाति को दूसरी जाति का, मनुष्य को मनुष्य का, पिता को पुत्र का, भाई को भाई का, यहाँतक कि एक प्राणी लो दूसरे प्राणी का, शत्रु वना रक्खा है, वहाँ प्रजा की दृष्टि में राजा भी एक असह्यवोझ वना हुआ है। अन्यथा वह भी समय था कि राजा वनने के लिये प्रजा ही किसी विशेषव्यक्ति से प्रार्थना किया करती थी और वह व्यक्ति केवल लोकोपकार के भाव से सेवा के रूप में इस पद को ग्रहण किया करता था। भारत के इतिहास में वालकों से लेकर वृद्धपुरुषों तक के अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि तनिक सी वात पर उन्होंने चक्रवर्ती राज्य को गेंद के समान ठुकरा दिया और फिर आयुभर उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। उन आदर्शत्यागी महापुरुषों के चरणरज का ही प्रताप है कि आज भी संसार में, विशे-पतया भारत में, त्यागीमहात्माओं के दर्शन होजाते हैं। मनु, इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ, रघु, वलि, प्रह्लाद, शिवि, अज, दशरथ, जनक, हरिश्चन्द्र, यदु, ययाति, हँसध्वज, मोर-ध्वज, भगीरथ, युधिष्ठर, परीक्षित, पृथु, सगर प्रभृति सहस्रों राजर्पि हुए हैं जिन्होंने केवल लोकोपकार के विचार से ही शासनभार उठाया था। उन लोगों के त्याग और सेवाभाव का ही फल है कि मनुष्य, हिंसकवन्यपशुओं से भयभीत उस घोड़े के समान आजतक परतन्त्रता के वन्धनों में उकताया नहीं, जिसने अपने शत्रुओं को नीचा दिखाने के लिये मनुष्य को अपनी पीठ पर चढ़ाया और अपने गुण प्रकट करके स्वयं ही वन्धन में फँस गया। घोड़े ने देखा कि प्रत्येक हिंसकपशु शक्ति में कम होता हुआ भी उसे अपना खाजा समझता है, तो उनसे वदला लेने के लिये वुद्धिमानमनुष्य के साथ मित्रता गाँठी। मनुष्य ने कहा तुम मुझे अपनी पीठ पर चढ़ा लो मैं तुम्हारे सव शत्रुओं का नाश कर दूँगा। घोड़े ने यह स्वीकार कर लिया। जव शत्रुओं का नाश होजाने पर घोड़े ने धन्यवाद के वाद जाने की आज्ञा माँगी तो मनुष्य ने यह कहते हुए उसके गले में रस्सा डाल लिया कि तुम्हारे गुण तो मुझे अव मालूम हुए हैं, तुम चले गये तो फिर किस की पीठ पर वैठकर इसप्रकार चारों ओर विजयदुन्धभि वजाऊँगा ?

ठीक उस घोड़े के समान ही मनुष्य भी राजनैतिक परतंत्रता में फँसा हुआ है। महाभारत में कथा आती है कि जव जगत में अपराध वढ़ने लगे तो जनता का एक डैपुटेशन प्रजापति के पास गया और जगत में वढ़ रही अशान्ति की शिका-यत की। प्रजापति ने कहा तुम लोग मनु को अपना राजा वना लो। उसमें शासन करने की योग्यता है। उसकी सहायता करते रहना, शान्ति वनी रहेगी। वस, वहीं से मनुष्य की परतंत्रता प्रारम्भ हुई है। आगे जैसे-जैसे स्वार्थ वढ़ता गया वह राजा ही प्रजा के कष्ट का कारण वनता गया, जिसे प्रजा ने सुख की कामना से स्वयं अपना शासक वनाया था।

जब वह एकतंत्रशासन प्रजा के लिये सर्वथा असह्य हो गया तो सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही छोटे २ प्रजातन्त्रराज्यों की स्थापना हुई, जो उस समय गणराज्य नाम से प्रसिद्ध थे। इस बात का पता पाणिनीय अष्टक तथा पातञ्जलमहाभाष्य आदि के अवलोकन से चलता है। × जगद्गुरु भारत का अनुकरण करते हुए यूनान ने इस कार्य को विशेषरूप से उठाया। उन्होंने एकतंत्रराज्य को मिटाकर उसके स्थान में प्रजातंत्र—पंचायतीराज्य की स्थापना की। एक नगर के नागरिक स्वयं ही अपना प्रवन्ध करते थे। जब भी कोई नया नियम बनाने की आवश्यकता होती सब नागरिक एकत्र होकर सर्वसम्मति से बना लेते। परन्तु आगे चलकर यह प्रवन्ध भी स्थिर न रह सका। क्योंकि नगरों की जनसंख्या बढ़ती गई और सब-लोगों का एकस्थान पर एकत्र होना कठिन हो गया।

इस उलझन को इंगलैंड ने इसप्रकार सुलझाया कि देश का प्रवन्ध करने के लिये व्यवस्थापिका सभाओं की स्थापना की और प्रजा को अधिकार दिया गया कि उन सभाओं के लिये अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करें। परन्तु इस से भी वह दोष तो दूर नहीं हो सकता जिसने एकतंत्रशासन को असह्य बना दिया था। पहिले एकव्यक्ति का स्वार्थयुक्तशासन था अब अनेकव्यक्तियों का हो गया। यही कारण है कि संसार का कष्ट घटने के स्थान में दिनप्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

हमारे ऋषि, मुनि, सिद्ध, महात्मा पहिले ही राज्याधिकार के इस दुष्परिणाम को समझते थे। इसीवास्ते संसार से सर्वथापृथक् रहते हुए भी वे सदैव राज्यप्रवन्ध का निरीक्षण, राजाओं को अध्यात्मज्ञान और राज्यधर्म का उपदेश करते रहते थे। यही नहीं, राज्यधर्मव्यवस्था को अपने ही हाथ में रखते थे, ताकि राज्याधिकार-प्राप्तव्यक्ति को न कभी राज्यमद हो और नही उसका निजीस्वार्थ जागने पाए। जब-तक राज्यप्रवन्ध पुनः उसी ढङ्ग पर नहीं चलाया जाता, अर्थात् इसकी देखरेख उन्हीं वीतराग, त्यागी, ब्रह्मस्थित महात्माओं के सुपुर्द नहीं होती, तबतक इसका सुधरना अतिकठिन है, विगड़ता भले ही जाए।

भगवान् सनत्कुमार जैसे मुनियों के चरित्रों से यह भी प्रकट होता है कि वे राज्यव्यवस्था को भी अध्यात्मिक-उन्नति के मुख्य वाह्यसाधनों में से एक समझते थे। कारण, परतंत्रता दो प्रकार की है आन्तर और वाह्य। मनुष्य अपनी अनादि कालीन अल्पज्ञता अथवा अपूर्णता को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न पदार्थों की शरण लेता रहता है। जब किसी वस्तु की प्राप्ति से इच्छानिवृत्तिरूप तात्कालिक सुख लाभ होने पर भ्रमवश उसी वस्तु को अपनी पूर्णता का साधन समझ कर उसी की अधीनता स्वीकार कर बैठता है, तब वही इच्छा अनुभूत विषय अथवा पदार्थ के लिये राग उत्पन्न कर देती है। क्योंकि राग भी इच्छा के समान ही अन्तःकरण का धर्म है। वही राग (शोभनवुद्धि) बार-बार उस विषय अथवा पदार्थ की इच्छा उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार मनुष्य उसी विषय के अधीन होकर एक प्रवाह में बहा चला जाता है। अर्थात् रेशम के कीड़े की भाँति जीव स्वयं ही अपने ऊपर आन्तरवाह्य परतंत्रता का जाल तनता जाता है। इसी वास्ते शास्त्रों में अविवेकयुक्त

× अथर्ववेद में प्रजातन्त्र राज्य का स्पष्ट उल्लेख है, जो विस्तारभय से यहां नहीं दिया गया।

भोगेच्छा को आन्तरपरतंत्रता और मादकवस्तु आदि पदार्थों अथवा बाह्यविषयभोग की उत्कण्ठा को बाह्यपरतंत्रता कहा है।

अब आन्तरपरतंत्रता को ही लीजिये। भगवान् सनत्कुमार पृथु को उपदेश करते हुए अन्त में कहते हैं—हे राजन्! आन्तरपरतंत्रता से मुक्ति प्राप्त करने का साधन केवल यही है कि "मन बुद्धयादि से परे अपने स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप को जान, और जिस परमात्मा के चरण-शरण को साधन बनाकर सन्तजन संसारसागर से पार उतर जाते हैं तू भी उसी परमात्मा के भजनीय चरणारविन्द को साधन बनाकर भवसागर से पार उतरने का यत्न कर। जीव जब तक विषयवासनाओं के पीछे भटकता और उनमें ही सुख मानता रहेगा तब तक वह इनकी अधीनता से मुक्त नहीं हो सकता। इस वास्ते आवश्यकता है कि मनुष्य पहले सच्चे गुरु से सांसारिकविषयों की असारता की शिक्षा प्राप्त करे और फिर सच्चिदानंद ज्ञानस्वरूप भक्तवत्सल, करूणाकर भगवान् के चरणों के साथ प्रेम करने का अभ्यास डाले। ज्योंज्यों भगवान् के चरणारविंद के साथ प्रेम बढ़ता जायगा, सांसारिक विषयों के लिये उत्पन्न होनेवाली वासना का अपने आप अन्त होता जायगा। सच्चेहृदय से प्रेम करनेवाले प्रेमी से फिर प्रियतम दूर नहीं रह सकता। बस, फिर उसके सब सांसारिकबन्धन टूट जाते हैं और जीव भगवान् से प्रेम करता हुआ भगवान् में ही मिल जाता है।

जिसप्रकार आन्तरस्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को भगवान् चरणों से प्रेम पैदा करने की आवश्यकता है उसीप्रकार बाह्य-आडम्बर और बाह्यपरतंत्रता से मुक्त होने के लिये भी किसी श्रद्धास्पदव्यक्ति की अधीनता स्वीकार करना आवश्यक है, जिसके शासन में रहकर मनुष्य दुराचार, कपट, कुसंगत, आदि ऐसे दुर्गुणों से बचा रहे। जो उसकी अध्यात्मक उन्नति में बाधक हो सकते हैं। व्यक्तिगतरूप में मनुष्य पर ऐसा शासन माता, पिता, ज्येष्ठभ्राता, बड़े बूढ़ों और गुरु का रहता है परन्तु समष्टिरूप में समाज पर ऐसा शासन राजा का ही हो सकता है। उसी के अधीन रहकर मनुष्य एक दूसरे को सताने, चोरी और ऐसे ही अन्य दुराचारों से बचा रहता है। अतः हमारे पूर्वज राज्यशासन को भी अध्यात्म-उन्नति का मुख्यसाधन समझते थे। यही कारण है कि भगवान् सनत्कुमार आदि ब्रह्मस्थित महात्मा संसार से सर्वथापृथक् रहते हुए भी राजनीति में भाग लेना और समय समय पर राजाओं को अध्यात्मशिक्षा के साथ राज्यधर्म की शिक्षा देना भी मनुष्यसमाज की अध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक समझते थे। जिस समय से उन वीतराग महात्माओं ने राज्याधिकारप्राप्त लोगों के बढ़े हुए स्वार्थ को देखकर अपना हाथ राजनीति पर से उठा लिया है उसी समय से संसार में दुःखों और अपराधों की वृद्धि हो रही है। एक देश दूसरेदेश का, एक जाति दूसरीजाति की और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु बना हुआ है। छीनाझपटी मची हुई है। जितना कड़ा प्रबन्ध किया जाता है उतने ही अपराध बढ़ते जा रहे हैं। नहीं कह सकते इस अधोगति का अन्त कहाँ होगा। कारण इसका ढूंडने के लिये कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं। शासक और शासित लोगों में बढ़ा हुआ स्वार्थ ही इस सारी ख़राबी की जड़ है।

# ( ६ तरङ्ग )

## भगवान् सनत्कुमार का धर्मोपदेश.

## तीर्थमहात्म्य.

उपरोक्त कथा से प्रकट होता है कि वर्तमान उदासीनधर्मावलम्बियों की भाँति उस समय भी इस धर्म को माननेवालों की तीन श्रेणियाँ थीं—उदासीन ऋषिमुनियों के लिये श्रद्धाभक्ति और उनके सिद्धान्तों के साथ प्रेम रखने वाले एवम् सांसारिक विषयों से उपराम रहते हुए गार्हस्थ्यधर्म का पालन करने वाले गृहस्थ-सेवक उदासी। गृहस्थ को त्याग कर भी लोकहितार्थ नित्यनैमित्तिक यज्ञयागादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले ऋषि उदासी और भगवान् की आज्ञानुसार "सर्वं कर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" के अनुसर केवल निजात्मानन्द में लीन रहने वाले मुनि उदासी, यही तीन श्रेणियाँ थीं जो आज भी उदासीन सम्प्रदाय में पाई जाती हैं। भगवान् सनत्कुमार आत्मज्ञान का उपदेश करते समय शिष्य की योग्यता देखते थे और किसी को उदासीनधर्म में दीक्षित करने के बाद उसी योग्यता के अनुसार कार्य सौंप देते थे। नारद में ज्ञानबल की कमी न थी, परन्तु वह स्त्रीमोह में फँसकर पतन की ओर जा रहा था। भगवान् सनत्कुमार ने स्त्रीमोह से आच्छादित नारद को आत्मज्ञान का तत्त्व, उपदेशरूप प्रकाश से फिर साक्षात् करा दिया। भूले हुए को रास्ता बता दिया और ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने के वास्ते भारत में तप करने के लिये भेज दिया। दूसरी ओर महाराजपृथु की यह प्रार्थना सुनकर भी कि उसे सांसारिक बन्धनों से सर्वथामुक्त कर दिया जाए, उसे प्रजापालन में जुटे रहकर कुछ काल तक ब्राह्मीस्थिति दृढ करने की ही आज्ञा दी।

पृथु को राज्यधर्म का पालन करने की आज्ञा देने से यह बात भी सिद्ध होती है कि यद्यपि भगवान् सनत्कुमार आत्मस्थिति का मुख्यसाधन वैराग्य ही मानते थे, परन्तु लोकव्यवहार तथा नित्यनैमित्तिककर्मों को प्रत्येकमनुष्य के लिये सर्वथात्याज्य और व्यर्थ भी नहीं समझते थे। यही कारण है कि आप ने पृथु को इन कर्मों को करते रह कर ब्राह्मीस्थिति को परिपक्व करने का उपदेश किया। आप का विचार था कि चिरकाल तक सांसारिक विषयभोग में ही सुख अनुभव करते रहने पर मनुष्य उनके वश हो जाता है और भूतकालीन अनुभूत विषयसुख फिर भी उस विषय की वासना उत्पन्न कर सकता है। अतः तत्त्वज्ञानद्वारा वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर भी मनुष्य को नित्यनैमित्तिककर्मों का अनुष्ठान करते रहकर अपनी धारणा को दृढ़ करना चाहिये। यही नहीं, भगवान् सनत्कुमार यम, नियम और तीर्थ व्रत को भी अध्यात्मिक उन्नति के आवश्यक साधन बतलाते थे और वैसा ही सर्व साधारण को उपदेश किया करते थे।

## महाकालवन तीर्थ.

व्यासजी स्कन्द पुराण के पञ्चम अवन्तिखण्ड के प्रथम अध्याय में भगवान् सनत्कुमारजी के मुखारविंद से महाकालवनतीर्थ का माहात्म्य इस प्रकार वर्णन कराते हैं—

एक समय जगज्जननी भगवती पार्वतीजी ने भगवान् आशुतोष से महाकालवन तीर्थ का महात्म्य जानने की इच्छा प्रकट की। पार्वतीजी का तीर्थविषयक श्रद्धाभाव देखकर भगवान् शंकर बोले—हे गिरिजे! एक समय सुमेरुपर्वत के समीप कान्तिमति नामक एक बड़ा सुन्दर सभामण्डप निर्माण किया। उस सभा में सदा वेद का प्रचार और वेदमंत्रों की ध्वनि हुआ करती थी। एक दिन वहाँ भगवान् सनत्कुमार भी आ गये।

तस्यां निविष्टं वागीशं शंकराराधने रतम्।
सनत्कुमारं ब्रह्मर्षिं ब्रह्मणो मानसं सुतम् ॥२३॥
मुनिमध्यान् समुत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
पराशरसुतो व्यासः प्रणिपत्य यथाविधिः ॥२४॥
कृताञ्जलि पुरोभूत्वा भवभक्त्यानुभावितः।
प्रपच्छ परयातुष्टया हर्षिताङ्ग रुहाननः ॥२५॥
महाकालस्यमाहात्म्यं प्राणिनां मोहनाशनम् ॥

सदा भगवान् शंकर में प्रीति रखनेवाले, ब्रह्माजी के मानसपुत्र ब्रह्मर्षि भगवान् सनत्कुमार को देखकर पाराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन मुनि ने सभा में से उठकर विधिपूर्वक प्रणाम किया। अपने गुरु श्रीसनत्कुमारजी के दर्शन कर व्यासजी का मुख विकसित पुष्प के समान शोभायुक्त हो गया। पादप्रक्षालनादि गुरुसुश्रुषा पूर्ण हो चुकने पर जब भगवान् सनत्कुमार आसन पर विराजमान हो गये तब व्यासमुनिजी ने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए महाकालवन का माहात्म्य पूछा। इसके उत्तर में भगवान् सनत्कुमारजी ने महाकालवन तीर्थ का जो महात्म्य बताया है उसे विस्तार[1] सहित स्कन्द पुराण में पढ़ना चाहिये। उस से पता चलता है कि भगवान् सनत्कुमार तीर्थों को कितना महत्त्व देते थे।

## तीर्थस्थानों में दैवीशक्ति

हमारे शास्त्रों में तीर्थों का महत्त्व बहुत वर्णन किया गया है। अतःहम इस विषय पर अधिक न लिखते हुए संक्षेप में ही कुछ विचार प्रकट करदेना चाहते हैं। चितिशक्ति के परिणाम से उत्पन्न होनेवाली विचारशक्ति मस्तिष्क में आन्दोलनरूप एक गति है जिस के क्रियमाण और संचित दो भेद हैं। क्रियमाणशक्ति को ही युक्ति से निरुद्ध करके संचित का रूप दिया जा सकता है और उस से

१ क्षीयत्ते पातकं यत्र तेनेदं क्षेत्रमुच्यते। यस्मात् स्थानं च मातॄणां पीठंतेनैवकथ्यते ।३०
त्रयणामपिलोकानां कुरुक्षेत्रं प्रशस्यते। कुरुक्षेत्राद्दशगुणा पुण्या वाराणसीमता । ३९ ।
तस्यादशगुणं व्यास महाकालवनोत्तमम् । मृता पुन र्न जायन्ते तेनेदमूषरं मतम् ॥३७॥
गुह्य मेतत् प्रियं नित्यं क्षेत्रं शंभोर्महात्मनः। यस्मादिष्टंहि भूतानां स्मशानमतिवल्लभम् ॥३१॥
महाकालवनंयच्च तथाचैवा विमुक्तिकं । स्मशान मूषरं क्षेत्रं पीठंतु वन मेव च ॥४१॥
पंचैकत्र न लभ्यन्ते महाकाल पुराहते ॥ ४२ ॥

अनेक अद्‌भुत कार्य हो सकते हैं। यही संचितविचारशक्ति मनुष्य के मस्तिष्क या अन्तःकरण में आन्दोलन क्रिया अथवा विद्युत के समान गतिरूप विचारलहरी उत्पन्न करने में समर्थ है। एक पाश्चात्यविद्वान् ने लिखा है कि पुरुष में जो इतना अपरिमितसत्व भरा हुआ है उसका कारण विचारों की निरुद्धावस्था ही है। अर्थात् संचित विचारशक्ति के समान इस जगत में दूसरी कोई शक्ति नहीं। वही विचार कार्यरूप में परिणत होता है। ग्रन्थलेखकों, भवननिर्माताओं, रसायनशास्त्रियों और राज्यव्यवस्थापकों के विचार ही ग्रन्थ, भवन, रसप्रयोग और राज्यव्यवस्था के रूप में प्रकट होते हैं। वह शक्ति निरुद्धावस्था में क्या क्या आश्चर्यजनक कार्य कर सकती है? यह योगविद्या को जाननेवाले भली प्रकार जानते हैं। इसका उदाहरण इंजन की भाप और विजली आदि के रूप में देखने में आ रहा है।

अव उस विचार के प्रभाव पर विचार कीजिये। मनुष्य के मस्तिष्क में से विचार का जो प्रवाह निकलता है उसके तरङ्ग अव्याहतशक्ति से आकाशतत्त्व में प्रवाहित होकर मनुष्यमात्र के चित्त पर अपनी छाप डालते हैं और वह छाप, जड़ चेतनसृष्टि में नियमितकाल तक लुप्त नहीं होती। हम जो कर्म करते हैं उसकी छाया वातावरणरूप पुस्तक के अनन्त पत्र प्रचण्ड पृष्ठ पर अङ्कित होती है। ग्रामोफोन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। जिसपर ऊंचे, नीचे, बुरे, भले, स्वर वैसे ही अंकित हो जाते हैं, जैसे किसी ने उच्चारण किये हों। यहाँ तक कि बोलनेवाले की आवाज़ भी पहचानी जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि हम जो कर्म करते, शब्द उच्चारण करते या विचार करते हैं उनके सँस्कारों को वातावरण तत्काल ग्रहण कर लेता है। इसी का नाम पापपुण्य का हिसाव रखनेवाला चित्रगुप्त है।

डाक्टरबुकेनन और डेण्टन नामक पाश्चात्यविद्वानों ने वड़े परिश्रमद्वारा अनुभव प्राप्त करने के वाद इस विषय पर अनेकग्रन्थ लिखे हैं। उनमें सिद्ध किया है कि विचारों के परावर्तन की छाप प्रत्येकपदार्थ पर, यहाँतक कि मकानों की दीवारों दरवाज़ों, छतों, ज़मीनों और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों पर भी पड़ती है और अनन्त काल तक रहती है। जव से पृथिवी सूर्यमाला से पृथक् हुई है और पृथिवी पर सूर्य का प्रकाश आने लगा है तव से ही यह फोटो की क्रिया जारी है, यद्यपि अभीतक उस फोटो को देखने का कोई साधन तैयार नहीं हुआ। जिन पुरुषों ने अपनी विचारशक्ति का निरोध किया है वे उस फोटो को आसानी से देख सकते हैं। ऐसी शक्ति प्रत्येकमनुष्य में है।

जिस स्थान पर जैसे विचारों अथवा कर्मों की छाप पड़ी हुई है उसके वातावरण पर भी वैसा ही प्रभाव होगा। अर्थात् सात्विकविचारों का प्रभाव सात्विक और राजसतामसविचारों का प्रभाव राजसतामस। उदाहरणार्थ, जिस प्रदेश में मुसलमानों की आवादी अधिक है वहाँ के रहनेवाले हिन्दुओं पर भी उसी वातावरण का प्रभाव होता है। और जहाँ हिन्दुओं की आवादी अधिक है वहाँ के मुसलमानों का रहन सहन भी हिन्दुओं जैसा ही होता है। जिसप्रकार आन्तरविचारों का प्रभाव वाह्यपदार्थों की स्थितिपरिवर्तन का कारण होता है, उसीप्रकार वाह्यपदार्थ का संसर्ग आन्तरस्थिति के परिवर्तन का भी कारण है। अर्थात् जिस स्थान पर सात्विकादित्रिविध-गुणात्मकविचार, क्रिया कर्म आदि का अनुष्ठान हुआ होगा वह स्थान भी उन उन गुणों का प्रभाव मनुष्य के आन्तरवाह्यजीवन पर डालेगा।

## तीर्थयात्रा का फल.

हमारे शास्त्रों में ऋषिमुनियों के आश्रमों का वर्णन इस सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण है। किसी स्थान में प्रवेश करते ही स्वभाव से विरोधिजीवों का विरोध दूर होकर उन में मैत्री स्थापित हो जाना और कुकर्मों के अभ्यासी दुराचारियों में सात्विकभाव का उदय होना आदि उन आश्रमों के साधारण चमत्कार हैं। महाराज दुष्यन्त, ऋषि-आश्रम में भरत को सिंह के दाँत गिनने की चेष्टा करते देखकर दङ्ग रह गये थे। अन्त में उन्हें भी निश्चय होगया कि ऋषि-आश्रम का यह मामूली-प्रभाव है। इसी प्रकार सर में स्नान करने से ऋक्षराज का शरीर छोड़कर स्त्रीरूप में बदल जाना, व्याध का अपना पहिला जीवन बदल कर महर्षिवाल्मीकि बन जाना ऋषि-आश्रमनिवास और ऋषिदर्शन के प्रभाव की कथाएं प्रसिद्ध हैं।

तीर्थों में भी विशेषता यही है कि उन स्थानों पर ऋषि, मुनि और देवता नाना तपों का अनुष्ठान करते रहे हैं। वहाँ की सारी स्थावरजंगमसृष्टि और सारा वायुमण्डल उनके सात्विकक्रियाकलाप से प्रतिबिम्बित हो गया हुआ है। वही अब श्रद्धावानयात्रियों को परमार्थ की ओर अग्रसर करता रहता है। बस, तीर्थों में यही रहस्य है। कलिकाल के प्रभाव से धर्म के लिये श्रद्धा कम हो गई और कुकर्मों के कारण तीर्थों के उन सात्विकगुणों पर भी आवरण छा गया। इसवास्ते लोगों पर अब उनका वह पहला प्रभाव नहीं पड़ता। अब भी यदि लोग उन तीर्थों की महिमा को समझ जाएं और श्रद्धाभक्ति से उनके गुणों से लाभ उठाएं तो वह आवरण दूर होकर फिर वही सात्विकवातावरण साफ हो सकता है। आज भी तीर्थ-भूमि में यह विशेषता है कि वहाँ पहुँचने वाले के मन पर उसका अलौकिक प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। क्योंकि ऋषिमुनिमहात्माओं के शुद्धमन से किये हुए तप का प्रभाव कभी नष्ट नहीं हो सकता। यही कारण है कि भगवान् सनत्कुमार सदैव तीर्थयात्रा का प्रचार करते रहते थे। और उनके पदचिन्हों पर चलनेवाले उदासीनमहात्मा आज तक उन तीर्थों की महिमा गाया करते हैं।

तीर्थयात्रा से दैवीगुणयुक्त जलवायु के सेवन, ईश्वरभजन, व्रत आदि में अल्पाहार और यात्रा में परिश्रम से जो शारीरिक लाभ एवम् देश विदेश का स्वभाव रहन सहन व्यवहार तथा परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने से जो अनुभव प्राप्त होता है, वह भी एक बड़ी महत्व की वस्तु है। कहने का प्रयोजन यह कि तीर्थ अध्यात्मिक-उन्नति के साथ ही शारीरिक और वैज्ञानिक-उन्नति का भी मुख्य साधन हैं।

## व्रतमहात्म्य.

भगवान् सनत्कुमारजी व्रतों को कितना महत्त्व देते थे इसका पता पुराणों की अनेक कथाओं से मिलता है। उदाहरणार्थ, पद्मपुराण उत्तरखण्ड के ३२ बत्तीसवें अध्याय में एक कथा आती है, जिसमें महर्षि वेदव्यासजी भगवान् सनत्कुमारजी के मुख से भाद्रपद की अष्टमी के व्रत का महात्म्य इसप्रकार वर्णन कराते हैं।—

एक समय नारदजी भगवान् शंकर से व्रतों का माहात्म्य पूछ रहे थे। अष्टमी के व्रतका महात्म्य वर्णन करते हुए भगवान् शंकर ने बताया कि–हे नारद! राजा

हरिश्चन्द्र आनन्दपूर्वक राज्य कर रहे थे। एक दिन अपने ऐश्वर्य और सुखसमृद्धि को देखकर महाराज सोचने लगे कि "यह सारा ऐश्वर्य मुझे किस पुण्यकर्म या तप का फल मिला हुआ है ?" सुमेरुपर्वत के समीप महाराज इसी सोच में बैठे थे कि सहसा उन्हें भगवान् सनत्कुमारजी के दर्शन हुए।

सनत्कुमारं ब्रह्मर्षिं ज्ञानयोगपरायणम्।
दृष्ट्वाह्यवातरद्राजा प्रष्टुकामोऽथ विस्मयम् ॥९॥
ववन्दे चरणौ हृष्टस्तेनाऽपि सच नान्दितः।
सुखोपविष्टस्तु नृपः प्रपच्छमुनि पुङ्गवम् ॥१०॥

ज्ञानयोगपरायण भगवान् सनत्कुमार को देखकर, अपनी आशँका पूछने के लिये महाराज अपने आसन से नीचे उतर आए और हाथजोड़कर उनके चरणों में प्रणाम किया। राजा को आशीर्वाद कहकर जब भगवान् आसन पर बैठ गये तब महाराज हरिश्चन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की हे मुने! इस समय मेरे मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो रही थी कि यह ऐश्वर्य मुझे किस पुण्यकर्म का फल मिला हुआ है? बहुत सोचने पर भी कुछ समझ में नहीं आया। कृपा करके आप इस शंका को दूर कर मेरी चिन्ता मिटाइये।

## कृष्णजन्माष्टमीव्रत फल

महाराज हरिश्चन्द्र के विनीतवचन सुनकर भगवान् बोले—हे राजन्! तुम पिछलेजन्म में वैश्य थे और तुम्हारे बन्धुवर्ग ने किसी कारण से तुम्हारा बहिष्कार कर दिया था। इस पर तुम अपनी स्त्री को साथ लेकर घर से निकल गये। मार्ग में जाते समय एक जगह तुमने कमलपुष्प देखकर तोड़ लिये और उन्हें साथ लिये काशीजी में पहुँच गये। उसदिन काशीजी में भाद्रपद कृष्णाष्टमी के व्रत का उत्सव था। * इन्द्रद्युम्न नामक काशीनरेश की कन्या चन्द्रवती बड़े समारोह के साथ आदित्यसहित भगवान् विष्णु का पूजन कर रही थी।

तत्रस्थानेत्वयादृष्टो देववैतानिको विधिः।
आदित्यसहितो यत्र पूज्यते भगवान् हरिः॥

विधिपूर्वक आदित्यसहित भगवान् विष्णु की पूजा और राजकुमारी की उसमें हार्दिकलगन देखकर तुम्हारे मन में भी देवपूजनविषयक श्रद्धा उत्पन्न हो गई और तुमने उन कमलपुष्पोंद्वारा विष्णुभगवान् की पूजा की। राजकन्या ने तुम्हें आगन्तुक निर्धनअतिथि जानकर अन्नवस्त्र और धन आदि देना चाहा परन्तु तुमने स्वीकार न किया। बल्कि उसदिन अनशन व्रत रक्खा। बस, काशीजी में उसी देव-पूजा और अष्टमी के व्रत का फल तुम्हें यह ऐश्वर्य मिला हुआ है।

* यद्यपि पुराण में श्रावण मास की अष्टमी लिखा है परन्तु वास्तव में यह भाद्रपद की अष्टमी ही है जो बाद में कृष्णजन्माष्टमी नाम से प्रसिद्ध हो गई। क्योंकि उसी अष्टमी को भगवान् कृष्ण का जन्म हुआ था। दक्षिणभारत में आजकल भी इस अष्टमी को श्रावणअष्टमी ही कहते और मानते हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह अष्टमी-उत्सव बहुत पुराने समय से मनाया जाता है।

मालूम नहीं किस समय से जीव विषय और इन्द्रियों की परतंत्रता में बन्धा चला आ रहा है। जिस शरीर में और जहाँ कहीं भी यह रहा है यद्यपि विषयेन्द्रियों की दासता के कारण जीव को नाना दुःखों का शिकार होना पड़ा, तथापि वहाँ ही इस दासता को इसने प्रसन्नता से स्वीकार किया और इस दासता के जंजीरों को बड़ी बुद्धिमत्ता से दृढ़ करने का ही प्रयत्न करता रहा है। अब तो यह अवस्था हो गई है कि अपना सर्वस्व लगाकर भी इस दासता की रक्षा करना कर्तव्य समझता है। यही कारण है कि जीव के सामने इस प्रकार का कोई भी प्रस्ताव रखना कि "वह विषयेन्द्रियदासता की बेड़ियों को काट सकता है उनका स्वयं शासक बनकर इन्द्रियों से अपनी इच्छा के अनुसार काम ले सकता है आदि" वैसा ही व्यर्थ है जैसे पँखविहीन नवजातपक्षी को उड़ने का प्रोत्साहन देना। लोगों की धारणा यहाँतक हो गई है कि विषय और इन्द्रियों के अनुवर्ती रहना, यही प्रकृति का नियम है इसके विरुद्ध आचरण करने की किसी में शक्ति ही नहीं।

परन्तु यह निश्चित बात है कि विषय और इन्द्रियों से स्वतंत्र हुए बिना मोक्ष की आशा भी व्यर्थ है। तब वह स्वतंत्रता प्राप्त हो कैसे ?

जो पुरुष विषयों के रस को त्याग देता है वह विषयों से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। जिस समय मनुष्य अनशन व्रत रखता है उस समय उसकी अन्यइन्द्रियों के विषय निवृत्त हो जाते हैं और पूजा, पाठ, धारणा, ध्यान, समाधि आदि क्रियाओं में चित्त एकाग्र होजाने से रसनेन्द्रिय के विषय की विस्मृति हो जाती है। इस प्रकार भावुक अनशनव्रती विषय और इन्द्रियों से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। कारण, व्रत से विषय और इन्द्रियों की शक्ति का उसे पता लग जाता है। हमारे शास्त्रों में ऐसा कोई भी व्रत नहीं जिसमें भजन, पूजा, पाठ और देवकीर्तन आदि का विधान न हो। श्रद्धाभक्ति से किया हुआ व्रत अलौकिकफल देता है, इसीवास्ते शास्त्रों में व्रतों का माहात्म्य बहुत वर्णन किया गया है। यहाँ तक कि व्रत भी मानवजाति के लिये मुक्ति का साधन बताए गये हैं। क्योंकि व्रतसहकृत ईश्वराराधन इन्द्रियों के निग्रह का सरल उपाय है और इन्द्रियनिग्रह ही मुक्ति का प्रधानसाधन है। भगवान् सनत्कुमार ने व्रतों को जो महत्त्व दिया था आज भी उदासीन महात्मा अपने आदिमाचार्य की शिक्षानुसार उसका प्रचार कर रहे हैं। उदासीन महात्मा जिस प्रकार तीर्थयात्रा को आत्मोन्नति के लिये आवश्यक समझते हैं उसी प्रकार व्रतों को भी।

## श्राद्ध तर्पण

भगवान् सनत्कुमार तीर्थ व्रत के समान ही श्राद्ध को भी आवश्यक समझते थे। वाराहपुराण के सातवें अध्याय में धरणी तथा भगवान् वाराह के संवाद में श्रीवेदव्यासमुनिजी लिखते हैं—जब भगवान् वाराह धरणी को रैभ्य तथा वसु की कथा सुना चुके तब धरणी ने प्रार्थना की कि "इसके पश्चात् रैभ्यने जो कुछ चरित्र किये, कृपया वे भी मुझे सुनाइये।" इस पर भगवान् रैभ्य के शेष चरित्र सुनाने लगे।

सरैभ्यो मुनि शार्दूलः श्रुत्वा सिद्धं वसुंतदा।
आजगाम गयां पुण्यां पितृतीर्थे तपोधनः ॥२॥

तपोधन मुनिश्रेष्ठ रैभ्यमुनि, सिद्धवसु की कथा सुन कर उसी समय पवित्र पितृ-तीर्थ गयाक्षेत्र में आ गये और वहाँ भक्तिपूर्वक पिण्डदानद्वारा पितरों को तृप्त करने के पश्चात् अतिदुष्कर महान्तप करने में प्रवृत्त हो गये। इस प्रकार तप करते जब बहुतकाल व्यतीत हो गया तब सूर्यप्रभासम अतिदीप्तिमान त्रसरेणु आकारवाले विमान द्वारा एक अतितेजस्वी, सूक्ष्मतनु महायोगी वहाँ आ गये और रैभ्यमुनि से बोले "हे सुव्रत ! तुम इस घोरतप का अनुष्ठान किस उद्देश्य से करते हो? " इतना कहकर उस तेजस्वी योगी ने रैभ्यमुनि के देखते ही देखते अपने विमान और दिव्यस्वरूप को इतना बढ़ाया कि सारे आकाश तथा पाताल में व्याप्त हो गया। रैभ्यमुनि यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि उस योगी ने देखते ही देखते अपने स्वरूप से ब्रह्मलोकादि दिव्यलोकों को व्याप्त कर लिया है। इसी आश्चर्य में उन्हों ने उस महान्योगी से पूछा—भगवन् । आप कौन हैं? कृपया मुझे अपना परिचय दीजिये।

रैभ्य के प्रश्न को सुनकर योगी ने कहा—

अहंरुद्रादवरजो, ब्रह्मणो मानसः सुतः।
नाम्ना सनत्कुमारेति जनलोके वसाम्यहम् ॥९॥
भवतः पार्श्वमायात प्रणयेन तपोधनः।
धन्योऽसि सर्वदा वत्स! ब्रह्मणः कुलवर्धनः ॥१०॥

हे मुने ! मैं ब्रह्माजी का मानसपुत्र और शंकरजी का छोटाभाई हूँ। सनत्कुमार मेरा नाम है और जनलोक में रहता हूँ। यहाँ तुम्हारे प्रेम से आकर्षित हो कर आया हूँ। हे वत्स! तुम ब्रह्माजी की कुल की वृद्धि करनेवाले हो अतः तुम सदैव धन्य हो।" यह सुनकर रैभ्यमुनि ने हाथजोड़ कर कहा—

नमोऽस्तुते योगिवर प्रसीद दयां मह्यं कुरुषे विश्वरूप।
किमत्र कृत्यं वद योगिसिंह धन्योऽयमुक्तो हि कथं त्वयाद्य ॥११॥

हे योगीराज ! मैं आपको सनम्र प्रणाम करता हूँ। हे विश्वरूप ! आप मुझ पर प्रसन्न हों। आपने मुझे दर्शन देने की कृपा की है इसके वास्ते मैं कृतज्ञ हूँ। दास को कोई आज्ञा करिये, जिसे पूर्ण कर अपना जन्म सफल करूँ। हे योगीसिंह! कृपा करके यह भी बतलाइये कि आपने मुझे धन्य क्यों कहा ? मेरे में तो कोई विशेष गुण नहीं है। उत्तर में भगवान् सनत्कुमारजी बोलेः—

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम सदैव वेदविचार में रत रहते हो। गयाजी में आकर पिण्ड-दान, जलतर्पण, मंत्रजाप, व्रत, भजन और अग्निहोत्रादिद्वारा पितृगणों को प्रसन्न करते हो, अतः तुम धन्य हो। हे मुने! श्राद्धमहिमा और इस क्षेत्र के महत्त्व को प्रकट करनेवाली एक राजा की कथा हम तुमको सुनाते हैं, सावधान होकर सुनो।

विशालनगर में एक विशालनामक राजा राज्य करता था। राजा बड़ा बुद्धिमान् और प्रजापालक था, परन्तु उसके कोई सन्तान न थी। अतः सदैव चिन्तित रहा करता था। एकबार उसने वेदवेत्ता तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों को बुलाकर राज्य के योग्य-

अधिकारी पुत्र की उत्पत्ति का उपाय पूछा। निस्पृह ब्राह्मणों ने विचार करके कहा— हे राजन्! आप गयाक्षेत्र में जायं और वहाँ अन्न तथा नानाविध सम्पत्ति दान कर अपने पितरों का श्राद्ध करें। ऐसा करने पर तुम्हारे पितृगण तुम पर प्रसन्न होंगे और उनके आशीर्वाद से तुम्हारे घर में तुम्हारी इच्छा के अनुकूल योग्य पुत्र का अवश्य जन्म होगा। तुम्हारे पितरों की दैवीशक्ति के प्रभाव से जो बालक उत्पन्न होगा वह निश्चय ही सारी पृथिवी का शासक, वीर, दानी और वंश की कीर्ति को बढ़ाने वाला होगा।

राजा विशाल ब्राह्मणों के इस कथन को सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और दूसरे दिन अपने प्रधानकर्मचारियों को साथ लेकर गयाजी को चल दिया। गयाक्षेत्र में पहुँच कर शास्त्रविधि के अनुसार यत्नपूर्वक पितृनिमित्तिक पिण्ड श्राद्धादिकृत्य सम्पन्न कर चुके तो राजा ने तीन पुरुषों को अपने सामने खड़े देखा, जिनमें से एक का गौर दूसरे का रक्त और तीसरे का कृष्ण वर्ण था। उन्हें देखकर राजाने कहा— आप लोग क्या चाहते हैं? निःशंक अपने मनके भाव कहिये। आप लोगों की चेष्टाएं देखकर मेरे मन में कौतूहल हो रहा है।

तब गौरवर्ण पुरुष बोला—हे पुत्र! मैं तेरा पिता हूँ और सित मेरा नाम है। मैं सदैव अपने नाम के अनुसार ही उत्तमकर्मों का अनुष्ठान किया करता था। परन्तु श्राद्ध की ओर मेरा ध्यान नहीं जाता था। उसका फल यह मिला कि तुम मुझे शुभ्रगौरनिग्रह में देख रहे हो। मैंने अपने उन सात्विककर्मों के प्रभाव से इन्द्र के समान आसन और महिमा लाभ की है। अब मैं सदैव स्वर्ग में ही रहता हूँ। यह जो रक्तवर्ण पुरुष तुम्हारे पास खड़ा है यह मेरा पिता और तुम्हारा पितामह है। इन्हों ने अपने पूर्वजीवन में दयाशून्य हिंसककर्म किये थे। इनके हाथों ब्रह्म-हत्या जैसे अनेक दुष्कर्म हुए। उन कर्मों का फल यह हुआ कि इन्हें रक्तवर्णशरीर मिला और अबतक इनका अवीचि नामक नरक में वास रहा। कृष्णवर्ण वाले तीसरे महानुभाव इनके पिता, और मेरे पितामह और तुम्हारे प्रपितामह हैं। उनके कर्म भी अतिवीभत्स और तामस थे। यहाँतक कि इन्होंने अपने जीवन में ईश्वरपरा-यण, निर्वैर और समदर्शी वृद्धऋषियों की भी हत्याएं कीं। उन्हीं कर्मों के फलरूप इन्हें भयानक और कुरूप कृष्णवर्णशरीर मिला।

हे पुत्र! आज तुमने इस गयाक्षेत्र में अपने इन पितामह और प्रपितामह के निमित्त श्राद्धकर्म किया और उनके लिये दान, जप और स्वाध्याय आदि किया कराया। इसी के प्रताप से ये लोग नरक-यातना से मुक्त होकर मुझ से मिल सके हैं। हे वत्स! मुझे भी देवलोक में और तो सब सुख ही था, केवल एक स्वतंत्रता नहीं थी। वहाँ सब मानवपुरुषों को स्वर्गीयदेवताओं के अधीन रहना पड़ता है। तुमने अपने इन कृत्यों के प्रभाव से मुझे भी उस मानसिककष्ट से मुक्त कर दिया है। यह दोनों महानुभाव जो अपने दुष्कर्मों के कारण नरक जैसी दुर्गति को प्राप्त हो चुके थे, तुम्हारे पिण्डदान के बल से नरक से मुक्त हो गये हैं और अब मैं इन्हें साथ लेकर पितृलोक को जा रहा हूँ, जहाँ हम स्वतंत्रतापूर्वक सर्वप्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। हे पुत्र! तेरे मन में जो आश्चर्य हो रहा है उसे मैं जानता हूँ। तू समझता है कि "जब मेरा सदाचारी धर्मात्मा पिता अपने पिता

और पितामह को नरक से मुक्त न कर सका तो मेरे श्राद्धमात्र से इनकी मुक्ति कैसे हो गई?" यह ठीक है कि मेरा जीवन नितान्तनिष्कलंक था और उसी के प्रताप से मुझे यह पद प्राप्त हुआ है। फिर भी मेरा यह विश्वास था कि कर्म का फल कर्त्ता को ही मिल सकता है, दूसरे को नहीं। इसी विचार से मैंने अपने पितरों के निमित्त कभी कोई श्रेष्ठकर्म नहीं किया। तब इन बेचारों के कष्ट कैसे कट सकते थे? तुमने हमारे निमित्त श्राद्धआदिकर्मों का अनुष्ठान करके हमें विशालपुण्यपुञ्ज की सहायता पहुँचाई है। इस से आज हम लोग सर्वप्रकार के कष्टों से मुक्त हो गये हैं। आज हम तुम्हारे जैसे उपकारीपुत्र के दर्शन करने के लिये ही यहाँ आए हैं। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारी सब अभिलाषाएं पूर्ण हों। अब हम पितृलोक को जाते हैं जहाँ हमें सर्वप्रकार की स्वतंत्रता होगी। भगवान् सनत्कुमारजी कहते हैं—हे रैभ्य! जिस गयाक्षेत्र में एकबार के ही श्राद्ध-कर्म का इतना माहात्म्य है उसी क्षेत्र में रहकर तुम सदैव पितृयज्ञ करते और जपतप में निरत रहते हो, इसीवास्ते मैंने तुम्हें धन्य कहा है। यही क्यों? इस-क्षेत्र में जपतप करने के कारण तुम भगवान् के भी दर्शन कर चुके हो। फिर तुमको धन्य न कहें तो किसको कहें? भगवान् सनत्कुमार के वचनों को सुनकर रैभ्य ने उनके चरणों पर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भगवान् सनत्कुमार भी रैभ्य के सिर पर हाथ फेरकर उसे आशीर्वाद देते हुए वहीं अन्तर्हित हो गये।

## श्राद्ध का अर्थ

इस कथा से प्रकट होता है कि उदासीनधर्म के आदिमाचार्य भगवान् सनत्कु-मारजी पितृश्राद्ध को भी मनुष्य के लिये कितना कल्याणकारी और आवश्यक सम-झते थे। कुछ आधुनिक मतानुयायी लोग श्राद्ध को अनावश्यककर्म कहने लग गये हैं, परन्तु विचार किया जाए तो उनका यह मत शास्त्रविचार और युक्ति के आगे ठहर नहीं सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ" कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रों से पता चलता है कि संसार में ईश्वरसत्ता, देवसत्ता और पितृसत्ता यह तीनों सत्ताएं विद्यमान हैं और सदैव संसार पर उपकार करती रहती हैं। जिसप्रकार राज्यसत्ता के अधीन राज्यकर्मचारी और ग्राममुखिया लोग काम किया करते हैं उसीप्रकार ईश्वर सत्ता के अधीन देवता और पितृगण जगत के उपकार में लगे रहते हैं। जिस प्रकार राज्यसत्ता के अधीन काम करनेवाले राज्यकर्मचारी और मुखिया लोग भी प्रजा के सुखशान्ति में सहायक होते हैं उसीप्रकार देवता और पितृगण भी श्रद्धावान् लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने में सहायता करते हैं। इसीवास्ते भगवान् भी (गीता ४, १२ में) कहते हैं कि हे अर्जुन! मनुष्य देवताओं की उपासनाद्वारा अपनी ऐहिक अभिलाषाओं को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं अतः लोग मेरी उपासना से भी अधिक देवताओं की उपासना में रत रहते हैं। भगवान् के इस कथन का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार, राजा की अपेक्षा राज्य कर्मचारी और ग्राममुखिया प्रजा के अधिकसमीप होते हैं वैसे ही देवता और पितर भी उन्हें ईश्वर की अपेक्षा अधिकसमीप होते हैं। अतः उन तक लोगों की पहुँच शीघ्र हो जाती है। जब मनुष्य को सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, इन्द्र आदि देवताओं के

उपकार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तब स्वाभाविक ही उनके हृदय में उन देवताओं के लिये श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसीप्रकार मनुष्य जब मातापिता आदि बड़ेबूढ़ों के उपकारों को देखता है तो वही उसके वास्ते ईश्वर तथा देवताओं के समान पूज्य हो जाते हैं। वे उपकारीपितर जीवितावस्था में तो उसके लिये सगुणब्रह्म के समान होते ही हैं मरने के पश्चात् भी परोक्षईश्वर तथा देवताओं के समान उपास्य बने रहते हैं। अतएव मनुष्य पितृयज्ञद्वारा अपने मृतपितरों की पूजाउपासना करता है! इसी को श्राद्ध कहते हैं।

## "आत्मा वै जायते पुत्रः"

इस शास्त्रकथन के अनुसार पुत्र पिता का ही अंश होता है। यही कारण है कि पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र को ही समझा जाता है। अन्यथा न्याय-दृष्टि से देखा जाय तो मृतव्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकारी बन्धु, सहायक, मनुष्य, पशु, पक्षी, राजा, पड़ोसी अनेक होते हैं। हिसाब लगाया जाय तो पुत्र को बहुत थोड़ा अंश मृतपिता की सम्पत्ति में से मिल सकता है। परन्तु अपने पिता का ही अंश अथवा अनुरूप होने से पुत्र को वह सम्पत्ति सौंप दी जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार पिता का अंश होने के कारण पुत्रद्वारा पिता के निमित्त किये गये कर्मों का फल भी पिता को मिलता है, ठीक वैसे ही जैसे पिता के कर्मोंद्वारा उपार्जित सम्पत्ति का अधिकारी, धनउपार्जनार्थ किये गये परिश्रम में भाग लिये बिना ही, पुत्र बन जाता है। पितृऋण भी मातापिताद्वारा पुत्र के जन्म, लालनपालन और सम्पत्तिप्रदान को ही कहते हैं। उसे चुकाने का उपाय यही है कि पुत्रोत्पत्तिद्वारा वंशरक्षा और श्राद्धपिण्डदानादिद्वारा पितरों के कल्याणार्थ उन की और्ध्वदेहिकक्रिया की जाए। अन्यथा इस ऋण को चुकाने का और साधन ही क्या हो सकता है?।

श्राद्धपिण्डदानादिक्रिया के प्रभाव को श्रीमद्भगवद्गीता में भी माना है। अर्जुन भगवान् से कहते हैं।

**संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**
**पतन्तिपितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।**

हे कृष्ण! हम लोगों का परस्परयुद्ध होने से कुल नष्ट हो जायगा। कुल के नष्ट होजाने पर कुल का सनातनधर्म नष्ट हो जायगा और अधर्म बढ़ने से कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी। हे वार्ष्णेय! दूषित स्त्रियों से वर्णशंकर पैदा होंगे। वर्णसंकरोंद्वारा दिया हुआ पिण्डजलादि पितरों को पहुँच नहीं सकता। अतः कुल का नाश होने के साथ पितरों का भी पतन हो जायगा।" जो लोग श्राद्धशब्द का अर्थ जीवितपितरों की सेवा ही किया करते हैं उन्हें उक्त गीताश्लोक के "लुप्तपिण्डोदकक्रियाः" इस पाद पर विचार करना चाहिये। पिण्डदान, चावलों के आटे का पेड़ा बनाकर विशेष विधि से पितरों के निमित्त दान करने को कहते हैं। इसप्रकार जीवित पितरों की सेवा न कोई करता है और न हो सकती है। अर्जुन के इस कथन का भगवान् ने कहीं भी निराकरण नहीं किया। यही नहीं वेदभगवान् में भी श्राद्धकृत्यविषयक मंत्र मिलते हैं। जैसे—

## वेद में श्राद्धविधान.

**इदं पितृभ्यो नमोस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः**
**ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥**

(ऋ० अष्ट ७, अ० ६ व० १९, मण्ड १० अनु० १ सूक्त १५ मं० २ ॥ तथा शुक्लयजुर्वेद अ० १९ मं० ६८ ॥ कृष्णयजु० कां० २ प्र० ६ अनु० १२ मं० ९ ॥ )

अन्वयार्थः ये पूर्वासः=पूर्वे पितर ईयुः=स्वर्गं प्राप्ताः, ये च उपरासः=उपरत व्यापाराः कृतकृत्याः सन्तः परं प्राप्ताः, यद्वा ये पूर्वासः=यजमानोत्पत्तेः पूर्वमेवोत्पन्ना—ज्येष्ठभ्रातृपितामहादयः, येच उपरासः =यजमान जन्मन उपर्य्युत्पन्नाः कनिष्ठभ्रातृस्वपुत्रादयः ईयुः=पितृलोकंप्राप्ताः येप्यन्ये पार्थिवे रजसि = पृथिवीसम्बन्धिनी रजोगुणकार्येऽस्मिन् पितृयज्ञाख्येकर्मणि, आनिषत्ताः=हविस्वीकर्तुं मागत्योपविष्टाः, ये वा सुवृजनासु=धनसमृद्ध्या श्राद्धादिकर्मपरासु, विक्षु=बन्धुरूपासु प्रजासु नूनं=निश्चयेन आनिषत्ताः=श्राद्धादिस्वीकारायागत्योपविष्टाः, तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यो, अद्य = अस्मिन् पितृयज्ञाख्ये कर्मणि नमोऽस्तु=अयमाहुतिप्रदानपूर्वको नमस्कारो भवतु।

भाषा—(ये पूर्वासः) जो हम से पूर्व होने वाले ज्येष्ठभ्राता मातापिता आदि पितर और जो (उपरासः) हमसे पश्चात् होनेवाले कनिष्ठभ्राता आदि, (ईयुः)—मर कर पितृलोक को प्राप्त हो चुके हैं, और जो (पार्थिवे रजसि)--पृथिवीसम्बन्धी रजोगुणयुक्त इस पितृयज्ञरूप कर्म में (आनिषत्ता)—अदृश्यरूप से हविग्रहण करने को उपस्थित हुए हैं, एवम् जो (सुवृजनासु विक्षु) श्राद्धकर्म में निष्ठा रखनेवाले बन्धुवर्ग में, (नूनं) निश्चय कर (आनिषत्ता) श्राद्ध के स्वीकारार्थ उपस्थित हुए हैं, उन सर्वपितरों को, (अद्य) इस आरब्ध पितृयज्ञकर्म में आहुतिप्रदानपूर्वक, मैं नमस्कार करता हूँ।

**येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते, तेभिः**
**स्वराडसुनीति मेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व।**

(ऋ० अ० ६ व० १९ मण्ड १० अनु १ सू० १५ अष्ट ७ मं० १४ ॥ शुक्लयजु० अ० १९ मं० ६०)

अन्वायार्थः—ये अग्निदग्धा = श्मशान प्राप्ताः, येच अनग्निदग्धा = श्मशानकर्म न प्राप्ता, येच दिवाः=द्युलोकस्य मध्ये स्वधया मादयन्ते=तृप्ताश्चरन्ति हे स्वराट् = दीप्यमानाग्ने, तेभि=तेभ्यः पितृभ्यः असुनीतिम्=प्राणयुक्ताम् एताम्=भक्षणयोग्यां तनू यथावशं=यथा कामं त्वं कल्पयस्व।

भाषा—हे (स्वराट्) दीप्यमान अग्नि! (येअग्निदग्धा) हमारे जो पितर अग्नि में दग्ध हो श्मशान संस्कार को प्राप्त हो चुके हैं और (ये अनग्निदग्धा) जिनका श्मशान संस्कार नहीं हुआ, जो (दिवोमध्ये) अन्तरिक्ष अथवा स्वर्गलोक में स्वधामंत्र द्वारा संस्कृत अन्न को प्राप्त कर (मादयन्ते) तृप्त हो विचर रहे हैं (तेभिः) उन पितरों के लिये (असुनीतिं) इस प्राणयुक्त हवि को भक्षण करने योग्य (तनू) देह की कल्पना करो, जिससे (यथाकामम्) इच्छा के अनुसार यहाँ आकर हवि भक्षण करें। इसीप्रकार अथर्ववेद में भी मन्त्र है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः,
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

( अथर्व-काण्ड १८, प्र० ३३, अनु० २ मं० ३४ )

भाषा—(येनिखाता) जो हमारे पितर भूमि में गाड़े गये हैं ( ये परोप्ता ) जो नदी में बहाए गये हैं। ( ये दग्धा ) जो अग्नि में जलाए गये हैं (येच उद्धिताः[1]) जो पृथिवी में गाड़े जाने के बाद किसी कारण से फिर निकालकर जलाए गये हैं, हे अग्ने ! ( तान् पितॄन् ) उन सब पितरों को ( हविषा अत्तवे ) हवि भक्षण के लिये यहाँ बुलाओ ।

वेद भगवान् के इन मंत्रों से ही सिद्ध होता है कि अग्नि में जल चुके पानी में बह चुके और भूमि में दबाए जा चुके मृतपितरों को पितृयज्ञ के हवि को भक्षण करने के लिये बुलाया जा सकता है ।

यह तो सर्व शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है कि आत्मा अमर है वह कभी मरता नहीं । किसी प्राणी की मृत्यु का अर्थ जीवात्मा का शरीर से पृथक् होना मात्र ही है । गीता में "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । " असत् कभी अस्तित्व के रूप में नहीं आसकता और और सत् का कभी अभाव नहीं हो सकता।

नजायते म्रियते वा कदाचि न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

आत्मा न कभी मरता है न नाश होता है। वह अजर और नित्य है शरीर के नाश होने पर भी उसका कुछ बिगड़ता नहीं।

शरीरत्याग के पश्चात् वह कहाँ और किस अवस्था में रहता है इस विषय पर भी शास्त्र में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मुक्त आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है। मनुष्यजन्म में उत्तमकर्मों को करने वाले देवलोक स्वर्गलोक और पितृ लोक आदि उच्च लोकों में निवास करते हैं। समानकर्मी मनुष्यशरीर और कुकर्मोंको करनेवाले नरक में जाते हैं अथवा पशु पक्षी, कृमी, कीट और लता वृक्षादि योनियों को प्राप्त करते हैं। इस से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा का नाश किसी अवस्था में भी नहीं होता । अब रहा यह प्रश्न कि वे स्वर्ग आदि लोकों से अथवा अपने प्रारब्ध कर्मानुसार ग्रहण किये हुए शरीर से पितृयज्ञ के समय आह्वान किये जाने पर आते हैं, आ सकते हैं अथवा नहीं ?

## श्राद्ध में मृतपितरों का आह्वान.

वेद प्रमाण से बढ़कर शास्त्र का प्रमाण और क्या हो सकता है ? वेद असम्भव को सम्भव नहीं कह सकता। ऐसा सन्देह करना भी नास्तिकता और पाप है। वेद में जब पितृयज्ञ के समय मृतपितरों के आह्वान का विधान है तो इस से बढ़कर इस बात की सिद्धि के लिये शब्दप्रमाण क्या हो सकता है कि आह्वान किये जाने पर मृत पितर अवश्य आते हैं। अब तो प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि मनोविज्ञान के वेत्तालोग मृत-आत्माओं को बुलाते हैं उनसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान में होनेवाली घट-

१ उद् उद्धृत्य, हिताः—( एतां ) निहिताः स्थापिताः।

नाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं और यह भी पूछ लेते हैं कि वे स्वयं इस समय कहाँ और किस अवस्था में हैं। अध्यात्मदृष्टि से देखा जाय तो सर्वभूतों में व्यापक एक ही अखण्डचेतन आत्मा है। जिसप्रकार एक भरे हुए अचलसर में छोटी सी कंकर फेंकने पर सर के समस्तजल में इस छोरसे उस छोरतक लहर उत्पन्न हो जाती है उसीप्रकार एकशरीर को सेवा पूजा भोजन आदि द्वारा प्रसन्न करने पर सारे ही आत्मजगत में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। किसी का कोई पितर कहीं भी हो उस विभु आत्मसमुद्र से तो पृथक् नहीं हो सकता। उस प्रसन्नतारूपी लहर में वह भी अवश्य लहराएगा। फिर वह भोजन भी सात्विक-गुणयुक्त "सर्वभूत हितेरतः" ब्राह्मण को खिलाया जायगा तो उसका प्रभाव निश्चय ही होगा, क्योंकि वेदपाठी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों के लिये तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" के अनुसार सारा जगत् ही घर है और प्राणीमात्र को "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के अनुसार एक ही दृष्टि से देखते हैं।

लोकव्यवहार की दृष्टि से भी देखा जाए तो मृतपितरों के निमित्त किया हुआ श्राद्ध और पिण्डदानादिकर्म का फल उन्हें पहुँचता है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रथम तो वेद के इस उपदेश पर सन्देह करना ही नास्तिकता है कि पितृयज्ञ में पितरों का आह्वान किया जा सकता है। यदि यह सम्भावना कर भी ली जाए कि आह्वान किये जाने पर केवल स्वर्गादिलोकों के ही पितर आ सकते हैं, मनुष्यादि योनियों में जन्म लेने वाले नहीं। तब भी, उनके निमित्त किये हुए कर्म का फल उन्हें भी पहुँच सकता है। यह तो निर्विवाद है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने में परतंत्र है। अर्थात् उसे अपने प्रत्येक शुभाऽशुभ कर्म का फल ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार मिलता है। कारण, कर्म जड़ है वह अपने शुभाऽशुभभाव का निर्णय नहीं कर सकता, जीव सदैव सुख ही चाहता है, दुःख की सम्भावना भी नहीं करना चाहता। अतः न कर्म फल की व्यवस्था कर सकता है और नही स्वयं जीव ही अशुभकर्मों का फल दुःख स्वीकार करने के लिये तैयार है। कहना होगा कि जीव के कर्मों के फल की व्यवस्था करनेवाली शक्ति ईश्वर ही है। इन्हीं अर्थों में राजा को भी ईश्वर का अवतार कहा जाता है कि वह मनुष्यों को बुरेकर्मों के लिये दण्ड देता है।

## श्राद्धद्वारा मृतपितरों की सहायता.

जब एक मनुष्य ब्राह्मण, साधु, महात्मा, अभ्यागत अतिथी की भोजनादिद्वारा सेवा करने का पुण्य लाभ करता है तो वह कर्मों का फल देनेवाले ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मेरा अमुक पितर, जो भगवान् की प्रजा से बाहिर नहीं हो सकता जहाँ भी हो उसको इस पुण्य का फल पहुँचा दिया जाए। भगवान् से यह बात कोई दूर नहीं है। 'हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश' तो विधि के ही हाथ में है और यह सब वह जीवों के कर्मानुसार देता है। कर्म करने वाले की इच्छा से दूसरे को भी वैसे ही दे सकता है जैसे डाक या बंक में रुपया जमा करनेवाले की दरख्वास्त या चेक पर डाक तथा बंक-कर्मचारी उस मनुष्य को रुपया देने में कोई ननु नच नहीं कर सकते जिसका नाम रुपये के स्वामी ने चेक अथवा मनीआर्डर पर लिखा है। बल्कि कर्मकर्त्ता का यह त्याग भगवान् की प्रसन्नता का भी कारण हो सकता है।

श्राद्ध पर शंका करनेवाले लोग कहा करते हैं कि यदि शुभकर्मों का फल मनुष्य दूसरे को दे दिला सकता है तो अशुभकर्म करके भी उनका फल दूसरे के गले मढ़ सकता है। परंतु वे लोग यह नहीं सोचते कि लेने वाले की इच्छा को भी देखना होता है। कोई मनुष्य चेक और मनीआर्डर का रुपया भी वसूल न करे तो वलात् कौन दे सकता है? पर धन तो सब ले लेते हैं उसके लिये लेने वाले को पूछने की आवश्यकतो ही नहीं। जिसप्रकार ऋण दूसरे के गले नहीं मढ़ा जा सकता उसीप्रकार अशुभकर्म का फल भी लेने वाले पुरुष की स्वीकृति प्राप्त किये विना उसके हिसाव में नहीं डाला जा सकता। कहने का प्रयोजन यह कि मनुष्य अपने शुभकर्मों का फल ही दूसरे को दे सकता है अशुभ का नहीं।

श्राद्ध की इस शास्त्रोक्तक्रिया का भगवान् सनत्कुमारजी सदैव प्रचार करते रहे और उन्हीं के पद चिन्हों पर चलने वाले उदासीनमहात्मा आजतक इस सिद्धान्त की रक्षा करते चले आ रहे हैं। उदासीनमहात्मा श्राद्धतर्पणादि का केवल प्रचार ही नहीं करते कुटीचक-उदासीन स्वयं भी अपने पूर्ववर्तीमहात्माओं का श्राद्ध लोकसंग्रहार्थ वड़ी श्रद्धाभक्ति से करते हैं।

## मूर्तिपूजा.

भगवान् सनत्कुमारजी आत्मोन्नति के लिये मूर्तिपूजा को भी एक प्रधानसाधन समझते थे। पुराणों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, शिवपुराण की कथा संक्षेप में उद्धृत की जाती है। भगवान् सनत्कुमारजी तथा महर्षि वेदव्यासजी में शिवप्रतिमा की महिमा विषयक जो प्रश्नोत्तर हुए उनको ही व्यासजी ने स्वयं शिवपुराण में वर्णन किया है। इस वातचीत को विस्तृतरूप में तो शिवपुराण में ही देखना चाहिये यहाँ उसका केवल भाव ही दिया जा सकता है।

महर्षि व्यासजी ने अध्यात्मज्ञान और आत्मोन्नतिविषयक जहाँ भगवान् सनत्कुमारजी से और अनेक प्रश्न किये वहाँ उनका एक प्रश्न यह भी था कि—

देवयज्ञफलानीह दानतीर्थफलानि च।
उपवासफलं चैव दानानां तपसः फलम्॥
अकृत्वा फल मेतेषां ब्रह्मणो विन्दते कथम्।
एतन् मे संशयं चैव तत्सर्वं वक्तु मर्हसि॥

व्यासजी प्रश्न करते हैं—भगवन्! ऐसा कौनसा उपाय है जिस से दान, जप, तप, देवयजन, उपवास तथा तीर्थाटन आदि कर्मों का फल विना इन कर्मों के किये ही मनुष्य को प्राप्त हो जाय?

उत्तर में भगवान् सनत्कुमारजी कहते हैं—हे सौम्य! यदि शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठित, देवयजन तीर्थाटन आदि को विना किये ही उनका फल मनुष्य प्राप्त करना चाहे तो—

मासेन तदवाप्नोति लिङ्गं हि योऽर्चयेन्नरः।

एकमास पर्यन्त समाहितचित्त से शिवलिङ्ग का पूजन करे। आगे चल कर व्यासजी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! सचराचर त्रिलोकी की उत्पत्ति लिङ्ग से कैसे

होती है ? फिर उसी लिङ्ग में वह लीन कैसे हो जाया करती है ? लिङ्ग के पूजन की विधि क्या है शिवभक्त की मुक्ति किस प्रकार की होती है ? भक्त वत्सल भगवान् शंकर तुष्ट किस तरह होते हैं ? भगवान् शंकर की दक्षिणामूर्ति महान् ऐश्वर्यशालिनी क्यों है ? ऋषि, मुनि, देव और पितृगण, नाना व्रत तप आदि के अनुष्ठानद्वारा अपने शरीर को सुखाकर, उस मूर्ति की उपासना क्यों करते हैं ? रूद्रलोक को प्राप्त होकर मनुष्य लौट कैसे आता है ? फिर उसकी पुनरावृत्ति क्यों नहीं होती । कृपा करके इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये । उत्तर में भगवान् सनत्कुमारजी कहते हैं—

"महेश्वरस्य सृष्ट्यादौ प्रकृत्यासह संगतः"

प्रथम महेश्वर का प्रकृति के साथ संगम होता है, तब महावायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होती है । अग्नि से "लिङ्गं तस्मात्समुद्भूतं सूर्यशशिसमप्रभम् ।" सूर्य प्रभा के समान सुवर्णमय महान लिङ्ग–आकार उत्पन्न होता है और उसी लिङ्ग–आकार से ब्रह्मा विष्णु से आदि लेकर सारा चराचरात्मक ब्रह्माण्ड पैदा होता है । पृथिवी ग्रह, नक्षत्र, दिशा उपदिशा, बहुत क्या, जो कुछ भी संसाररूप में देखने सुनने में आता है वह सब उसी लिङ्ग से उत्पन्न होता है । यह तो हुई चराचरात्मकजगत की लिङ्ग से उत्पत्ति । अब लय होने की सुनो । जिस क्रम से यह संसार उत्पन्न होता है उसके विपरीत क्रम से यह जगत उसी लिङ्ग में लय हो जाता है । उत्पत्ति और लयस्थान लिङ्ग की प्रतिकृति बनाकर जो लोग उसका पूजन करते हैं वे लोग–

वाजपेयशतैरिष्ट्वा यल्लभते द्विजोत्तम ।
विप्रोलिङ्गं त्रिरात्रेषु रुद्रभक्त्या तदश्नुते ॥

हे द्विजोत्तम ! भक्तिपूर्वक तीन रात्रि तक शिवलिङ्ग का पूजन करके उस फल को प्राप्त कर सकते हैं जो सौ वाजपेय यज्ञ करने से मिलता है ।

जिस क्रम से ईश्वर के भाव से नामरूपात्मकजगत उत्पन्न हुआ है उसीप्रकार उसके विपरीतक्रम से यह जगत जहाँ से उत्पन्न होता है वहाँ ही लय हो जायगा । ठीक इसी तरह, जिस क्रम से माया जाल में फँसकर यह जीव अपने शुद्धस्वरूप को भूल गया है, जबतक उसके उलटे क्रम से नामरूपात्मक माया का आश्रय लेकर ऊपर नहीं चढ़ेगा, अपने आत्मतत्त्व को जान नहीं सकता । अर्थात् ब्रह्म में लीन नहीं हो सकता । जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है उसीका अवलम्बन लेकर अर्थात् उसी पर हाथ टेक कर वह उठता है ।

इसी विचार से भगवान् सनत्कुमार कहते हैं कि जो लोग उस लिङ्ग की प्रतिकृति बनाकर उसकी पूजा करते हैं उन्हें केवल तीनरात्रि पूजा करने से सौ वाजपेययज्ञ के समान फल मिलता है ।

"एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेम" के अनुसार जगत में जो नानात्व दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब पृथिवी से अणु और परमाणु तक भगवान् का ही रूप या अंश है । तब इन दृश्यपदार्थों में से भी किसी एक की पूजा भगवान् की पूजा क्यों नहीं हो सकती ? कहा जाता है कि "यदि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक परमाणु की पूजा भगवान् की पूजा है तो शिव विष्णु आदि की विशेष मूर्ति बनाकर पूजने का प्रयोजन क्या ? जो वस्तु सामने आई उसी को भगवान् मानकर पूजने

लग गये।" ऐसा करना सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं है। परन्तु भजन करनेवाले का परमउद्देश्य भगवान् का साक्षात्कार ही होता है और वह उसी अवस्था में हो सकता है जब भक्त चित्त की वृत्तियों का निरोध करके भगवान् के ही ध्यान में लीन हो जाय। वह तल्लीनता तबतक नहीं हो सकती जबतक भगवान् के भजनीय चरणारविन्द के साथ हार्दिकप्रेम नहीं पैदा हो जाता। प्रेम के लिये तो इष्टवस्तु का भजन ही लाभकारी हो सकता है। इष्टदेवता, गुरु, माता, पिता मित्र का चित्र सामने आने पर मनुष्य के मन में वही भाव जागृत हो जाते हैं जो उनके साक्षात्कार से पैदा होते थे। अतः हृदय में प्रेमतरङ्ग उत्पन्न करने के लिये इष्टदेवताओं की मूर्तियाँ ही अधिक लाभ पहुँचा सकती हैं। सूक्ष्म अवस्था में रहनेवाले इष्टदेव के लिये मनुष्य में उसके साक्षात्कार पर पैदा होनेवाले भाव उत्पन्न करने का साधन उसकी मूर्ति के अतिरिक्त दूसरा हो ही क्या सकता है? यहाँतक कि मनुष्य के अपने सूक्ष्मभावों की अवगति भी स्थूलपदार्थों का अवलम्बन लिये बिना नहीं हो सकती। स्थूलइन्द्रियों के गुण भी जबतक किसी स्थूलपदार्थ का आश्रय न लेंगे तबतक वे अपना अस्तित्व प्रकट नहीं कर सकते। इसीप्रकार रेखागणित और शब्दों को लीजिये। शब्द सूक्ष्म है, जबतक उसका स्थूलस्वरूप आगे न रख लिया जाए हम बिना उच्चारण किये उसको जान नहीं सकते। यदि मनुष्य अपनी शब्दात्मक-ध्वनियों को वर्णात्मक आकाररूप न देता तो संसार के इतने बड़े साहित्य का कहीं चिह्न न मिलता। जिसप्रकार सूक्ष्मशब्दों को वर्णात्मकरूप देने से जगत का महान्-कल्याण हुआ है उसीप्रकार अपने श्रद्धाभक्तिरूप सूक्ष्मभावों को शिव, विष्णु, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदि इष्टदेवताओं की मूर्तियों का रूप देकर उनकी पूजा करने से भी मानवसमाज का वैसा ही महान् कल्याण हो सकता है जैसे इन इष्टदेवताओं की साक्षात् पूजास्तुति करने से होना सम्भव है।

कहना होगा कि चित्र भी द्रष्टा की मानसिकस्थिति में परिवर्तन करने की शक्ति रखता है। उस समय उसको चित्र के रूप में साक्षात् इष्ट ही खड़ा दिखाई देता है। चित्र तो उसके भाव परिवर्तन का कारणमात्र है। वह स्मारकरूपचित्र स्मर्यमाण इष्ट के साथ दर्शक का मिलाप कराकर स्वयं अलग हो जाता है। ऐसा कौन मनुष्य है जो माता, पिता, गुरु अथवा किसी अन्य पूजनीय या प्रेमपात्र व्यक्ति का चित्र देखकर चित्रांकित कागज़ या उसकी स्याही की ओर ही ध्यान देता है? किसी प्रियजन का चित्र रखने का उद्देश्य ही यह है कि भावुक लोगों के हृदय में उस प्रियजन के लिये प्रेममयी अखण्डगंगा की धारा प्रवाहित रहे। अन्यथा दीवार पर लटक रहे चित्र का मकड़ी के जाले से अधिक कुछ मोल नहीं।

इसीप्रकार भगवान् या उनकी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, त्रिमूर्ति की प्रतिमा भी भगवान् के स्मरण और साक्षात्कार का साधन है। अब तो वैज्ञानिकजगत ने चित्र का आश्चर्यजनक प्रभाव प्रत्यक्षसिद्ध कर दिखाया है। चित्र की सहायता से दूर देश-स्थित पुरुष की चिकित्सा की जाती है। ऐसे प्रमाण हमारे शास्त्रों में भी मिलते हैं। एकलव्यनामक एक किरात ने द्रोण का चित्र बनाकर उससे धनुर्विद्या सीख ली थी। इसका मूलसाधन है श्रद्धा, प्रेम और विश्वास। इनके बिना किसी व्यक्ति का साक्षात्कार होने पर भी मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समाधि से पूर्व की अवस्थाएं धारणा और ध्यान हैं। जिस इष्टदेव के चिन्तन में मनुष्य समाधि-

स्थित होना चाहता है यदि उसका रूप उसने देखा ही नहीं तो किस स्वरूप को हृदय में धारण कर उसके ध्यान में मगन होगा ? इसके वास्ते आवश्यक है कि पहले अपने इष्ट की स्थूलमूर्ति का ध्यान करे। उसकी पूजा करे। इसी रीति से उसके हृदय में इष्टदेव के लिये प्रेम बढ़ेगा। बस, फिर भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी के कथनानुसार "जापर जाँका सत्य सनेहू, सो तेहिं मिले न कछु सन्देहू।" उस श्रद्धाभक्तियुक्त प्रेम से वह मूर्ति ही भगवान् को मिला देगी। भगवान् भी कहते हैं मुझे जिस रीति से कोई भजता है उसी रीति से मैं उसको मिल जाता हूँ। भक्त में श्रद्धाभक्ति होनी चाहिये। सावित्री ने अपने पति को मृत्यु के चँगुल से मुक्त करा लिया। नामदेव और धन्नाभक्त ने श्रद्धाभक्ति और प्रेम के प्रताप से ही भगवान् के दर्शन किये थे। अधिक क्या, संसार में जितने महापुरुष सफलमनोरथ हुए हैं उनकी सफलता का मुख्यकारण अपने इष्टविषयक अनन्यश्रद्धाभक्ति और प्रेम ही था। जिसमें जितनी श्रद्धा भक्ति और प्रेम की उत्कृष्टता होती है उतना ही वह ध्येयसिद्धि में सफल होता है। यह श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, उत्साह, धैर्य और विज्ञान आदि दिव्यशक्तियाँ ही जीव को उन्नति की ओर अग्रसर करनेवाली हैं। इनकी प्राप्ति का सुगम और एक मात्र उपाय है मूर्तिपूजा। माता, पिता, गुरु अथवा अन्यलोगों से भक्ति और श्रद्धापूर्वक हम जो कुछ सीखते हैं उनके लिये प्रकट की जानेवाली श्रद्धा मूर्तिपूजा ही तो है। अतः ज्ञानवृद्धि का सर्वोत्तमउपाय भी मूर्तिपूजा ही है। व्यक्ति ही नहीं जातियाँ और राष्ट्र भी ऐसी मूर्तिपूजा करते हैं। जब वे अपने किसी महापुरुष अथवा नेता का स्मारक बनाते हैं तो इस से उनका प्रयोजन यही होता है कि उन्हें उस नेता का उपकार और उच्चजीवन सदैव स्मरण रहे। उसकी मूर्ति को देखकर उसके गुणों का प्रभाव जाति पर पड़ता रहे। मूर्तिपूजा का उद्देश्य भी यही है कि मनुष्य भगवान् की मूर्ति के दर्शन कर उनके सच्चिदानन्द आदि गुणों का चिन्तन करता रहे और श्रद्धापूर्वक पूजाभक्तिद्वारा आत्मोन्नति और परमध्येय की ओर अग्रसर होता रहे। जिस प्रकार लौकिकपुरुषों की मूर्तियों का दर्शनपूजन लौकिकज्ञान की वृद्धि का साधन होता है वैसे ही अलौकिकशक्तियों की मूर्तियों के दर्शनपूजन से अलौकिकशक्तियों की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है। नेता की पाषाण-मूर्ति का सत्कार करते हुए जिसप्रकार कोई मनुष्य विचार नहीं करता कि वह पत्थर का सत्कार कर रहा है उसीप्रकार भगवान् की मूर्ति की पूजा करनेवाला भी पत्थर की नहीं किन्तु भगवान् की ही पूजा करता है। जब विज्ञानशास्त्री बिना औषधिप्रयोग के दूरदेश में बैठे हुए रोगी का रोग मनोबल द्वारा दूर करते हैं। तब क्या सच्चे हृदय से श्रद्धाभक्ति और प्रेमपूर्वक की गई पूजाप्रार्थना इष्टदेवता या ईश्वर की प्रसन्नता का कारण न होगी ? भगवान् तो कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्योपहृत मश्नामि प्रयतात्मनः॥

श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो कोई भी मुझे फल, पुष्प, जल आदि अर्पण करता है उसकी प्रेमपूर्वक भेंट की हुई इन वस्तुओं को मैं प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ। इस से

स्पष्ट है कि भगवान् और इष्टदेवता, भेंट की हुई वस्तु को प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं। ऐसी भेंट मूर्ति के बिना हम किस तरह भगवान् की सेवा में रख सकते हैं ?

शास्त्रों में मन की चञ्चलता की शिकायत सब जगह मिलती है ? यहाँ तक कि जब अर्जुन ने "चंचलंहि मनः कृष्ण प्रमाथि बल वद्दृढम्" मन के चांचल्यदोष की शिकायत की तो भगवान् ने भी "असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्" स्वीकार किया है कि निःसन्देह मन अतिचञ्चल क्षोभकारी और दुर्निवारवेग है। उसके इस दोष को दूर करना वायु को बांधने के समान है। परन्तु "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" अभ्यास तथा वैराग्य ही उसकी स्थिरता का उपाय है।

## वेद में मूर्तिनिर्माणविधि.

वह अभ्यास सच्चिदानन्द भगवान् के ध्यान का ही हो सकता है। पर जब स्थूल पदार्थों का चिन्तन करने के लिये भी हमें चित्र आदि स्थूलसाधनों की आवश्यकता रहती है तो निराकार भगवान् का चिन्तन बिना किसी स्थूलमूर्ति के कैसे हो सकता है ? इसीवास्ते वेदभगवान् ने भी ध्येयसिद्धि और सांसारिकऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये मूर्तिपूजा की ही आज्ञा दी है। यहाँ तक भी बतला दिया है कि मूर्ति किस धातु की और कैसे बनाई जाए। जैसे—

**संवर्चसा पयसा सन्तनूभि रगन्महि मनसा संशिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्।** (यजुः अ० ८ मं० १६)

अन्वयः—वयं रायो—धनानि समगन्महि प्राप्नुयाम—इत्याशयेन सुदत्रः=शोभनवास्याद्युपकरणः त्वष्टा=शिल्पी, शिवेन मनसा एकाग्रचित्तेन, संवर्चसा=सुवर्णादिना, संपयसा=रञ्जित जलेन भित्त्यादौ वा, संतनुभिः = शोभनाङ्ग प्रत्यङ्गैःकृत्वा भगवतस्तन्वो=मूर्ति विदधातु यद् विलिष्टं न्यूनमङ्गं तन्न्यूनत्वंपरिहारेण अनुमार्ष्टु=आनुकूल्येन शोधयतु इति।

भाषा—'हम भी महान् धन प्राप्त करें, इस संकल्प से शोभनमूर्तिनिर्माण के उपकरणों वाला शिल्पी, एकाग्रचित्त से, सुन्दर अङ्गप्रत्यङ्गोंसहित परमात्मा की सुवर्ण आदि की मूर्ति निर्माण करे और भित्ति में रञ्जित जल से मूर्ति की रचना करे। जो मूर्ति न्यूनाङ्ग वाली हो उसकी न्यूनता को दूर कर आनुकूल्य से शोधन करे। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय १३ में ४१ वां मंत्र है—

**आदित्यं गर्भम् पयसा समङ्ग्धि, सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपं परि वृङ्धि हरसा माभि संस्थाः शतायुषं कृणु हि चीयमानः।**

(यजुः अ० १३ मं ४१)

अन्वयः—सहस्रस्य=परमेश्वरस्य, प्रतिमां=सुवर्णादिनिर्मितां मूर्तिं, हरसा=अग्नितेजसा, परिवृङ्धि=मलात् परिवर्जय। तदनन्तरं, आदित्यं=सूर्यवर्णां प्रतिमाम् पयसा=दुग्धेन, समङ्ग्धि=संप्रक्षय शोधयेति, गर्भं विश्वरूपं इति द्वयं प्रतिमाविशेषणं, व्यत्पयेन च निर्वाहः। एनां प्रतिमाम् माभि संस्थाः=जडबुध्या अस्या अवज्ञां माकुरु। यतोऽयं परमेश्वरः चीयमानः=प्रतिमारूपेण गृहे स्थाप्यमानः स्थापनकर्त्तारं शतायुषं कृणुहि=करोति।

भाषा—सहस्रनामपरमेश्वर की सुवर्णादि से निर्मित और विधिपूर्वकशोधित वह प्रतिमा, जो (आदित्यम्) सूर्यतुल्य प्रकाशमान, संसार के गर्भ के तुल्य विश्वरूप और सुवर्णताम्रादिभेद से अनेकविधि है, उसे पहिले अग्नि में रखकर उसका मल दूर करे, दुग्ध से शोधन करे और उसका कभी अनादर न करे। क्योंकि विधिपूर्वक शोधन तथा सत्कारपूर्वक स्थापित की हुई यह प्रतिमा मनुष्य को सौ वर्ष आयु वाला और ऐश्वर्यवान् करती है।

**अश्मा च मे, मृत्तिका च मे, गिरयश्च मे पर्वताश्च मे**

**सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मे अपश्च मे श्यामं च मे**

**लोहं च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।** यजुः अ० १८ मं० १३

भाषा—यज्ञेन कल्पन्ताम्—पाषाण आदि की प्रतिमा को मेरा रूप जानकर उसकी पूजा करे। किस किस वस्तु की प्रतिमा में भगवान् की कल्पना कर पूजन करे? इसका निर्णय किया गया है कि अश्मा च-पाषाण, मृत्तिका, शोभनमाटी, गिरि क्षुद्र पर्वत गोवर्धनादि, पर्वत हिमालयादि, वालू, वनस्पति-तुलसी अश्वत्थादि, सुवर्ण, लोहा, श्याम-ताम्रलोह, लोह-कांस्य रजत, सीसा, त्रपु-रांगा, इन सब में मेरी कल्पना करे।

**अरं दासोनु मीढुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः,**

**अचेतयद् अचितो देवोऽर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति।**

(ऋक्० मं० ७, अ० ५, सू० ८६ मं० १७)

अन्वयः—अनागाः=निषिद्धाचरण वर्जितोऽहं मीढुषे देवाय=चतुर्वर्ग वर्षणशीलाय परमेश्वराय तं प्रीणयितुं दासो न=न उपमार्थः भृत्य वद्, अरंकराणि=पुष्पादिना अलंकरोमि। किमर्थम्? भूर्णये=असीमफलप्राप्त्यर्थम्। की दृशः सः। यो देवः अर्यः= सर्वस्वामी अचितः पाषाणादीनपि अचेतयद्=स्वसन्निधानेन चेतनावन्तमिव पूजनीय मकुरुत। अतएव यः कवितरः=बहुदर्शी सः, राये=ऐश्वर्याय गृत्सं=प्राणनादि कर्तार मभिलषित प्रदं वा परमेश्वर मेव जुनाति=पूजनादिना प्रीणयति। नत्वन्यं क्षुद्रफलप्रदं राजादिकमिति यावत् अनागाः=इत्यस्य यथा निष्पापोऽहं स्यामिति वार्थः।

भाषा—मैं निषिद्धाचरणरहित उपासक दास, धर्मार्थ काम और मोक्षों की वृष्टि करनेवाले तथा निखिल जगत के स्वामी परमेश्वर को स्वामी की तरह पुष्पादि से अलंकृत करता हूँ। बहुदर्शी पुरुष प्राणनादि कर्त्ता अभिलषित प्रद ईश्वर का ही सेवन करता है।

**एह्य श्मानमातिष्ठा श्मा भवतु ते तनुः।**

**कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्।** (अथर्व कां० २ अनु० १३ मं० ४)

हे परमेश्वर देव! आगमन करिये और इस पाषाण की मूर्ति में स्थित होइये। यह पाषाण की मूर्ति आपका शरीर हो। सकलदेवता आपकी इस पाषाणनिर्मित मूर्ति में स्थिति के लिये प्रार्थना करके अनन्त वर्षों तक स्थिति करावें।

वेद्भगवान् के इन मंत्रों से सिद्ध है कि वेद में न केवल मूर्तिपूजा की आज्ञा दी गई है वल्कि यह भी वताया गया है कि भगवान् की मूर्ति कैसी, किस धातु की और किस प्रकार वनाई जाए। उसकी कैसे स्थापना की जाए और मूर्ति की पूजा करनेवाले को आत्मोन्नति के साथ ही कैसेकैसे सांसारिक ऐश्वर्य भी प्राप्त होते हैं। वेदभगवान् में ऐसे मंत्र अनेक मिलते हैं जिन में किसी मूर्ति की पूजा भगवान् की ही पूजा मानी गई है। परन्तु हमने विषयवृद्धि के भय से मूर्तिनिर्माण स्थापन और पूजनविषयक मंत्र ही दिये हैं। क्योंकि जव भगवान् की मूर्ति वनाने की वेद आज्ञा देता है तो उसकी पूजा तो अपने आप सिद्ध हो गई।

## मूर्तिपूजाविरोधियों का भ्रम.

कुछ एक लोग "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः" और अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूति मुपासते" आदि मंत्रों से यह सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा किया करते हैं कि मूर्तिपूजा का वेद में खंडन है। परन्तु इन मंत्रों का मूर्ति पूजा के खण्डन की ओर अर्थ लेजाना उन लोगों की खेंचातानी ही है। उपरि लिखित पहिले मंत्र के "यस्य नाम महद् यशः" शब्द ही सिद्ध करते हैं कि इस मंत्र में आए "प्रतिमा" शब्द का अर्थ "मूर्ति" नहीं किन्तु "उपमा" है।

दूसरे मंत्र का अर्थ तो यह है कि जो लोग माया के वन्धनों में ही जकड़े रहते हैं अर्थात् माया को छोड़ जिनका ध्यान कभी भगवान् के चरणों की ओर नहीं जाता, वे माया के संग से गिरते गिरते नीचे नरक तक जा पहुँचते हैं। कारण परमात्मतत्त्व से पृथक् होकर जीव के लिये दो मार्ग वन जाते हैं। यदि वह सत्संग शास्त्राध्ययन हरिस्मरणद्वारा प्रकाशस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप भगवान् की संगति करता है अर्थात् हरिचर्चा में रत रहता है तो वह ऊपर परमात्मतत्त्व की ओर अग्रसर होता जाता है। यदि विषयवासनाओं में खचित रहकर अज्ञान और अन्धकारस्वरूप माया की संगति में फँसा रहता है-भगवच्चिन्तन को ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं, तो वह दिनप्रतिदिन अज्ञान तथा अन्धकार को ओर नीचे गिरता चला जाता है। यहाँ तक कि नरक तक पहुँच जाता है। इसी वास्ते वेद मंत्र में "अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते" शब्दप्रयोग किये गये हैं। परंतु वेदमंत्रों के अर्थ में भी खेंचातानी करने वाले सज्जन सम्भूति का अर्थ मूर्ति करने लगगये हैं।

हाँ, "सपर्यगाच्छुक्रमकाय मव्रणमस्नाविरँ शुद्ध मपापविद्धम्" आदि मंत्रों में उसको 'अकाय' कहा है। परन्तु इसका अर्थ तो यही है कि भगवान् का अपना कोइ भौतिक शरीर नहीं। इसी वास्ते तो भावमय मूर्तियाँ वनाकर उसकी पूजा करने की आवश्यकता हुई है। यदि भगवान् का अपना शरीर होता तो फिर मूर्तियाँ वनाने की क्या आवश्यकता थी ? उसी शरीर की पूजा न कर लिया करते ? इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि भगवान् का अपना निजी कोई शरीर नहीं अर्थात् सव शरीर उसके ही हैं। जिस मूर्तिरूप शरीर में उसकी भावना कर के भगवान् की पूजास्तुति की जाय वही उसका शरीर है। भगवान् का अकाय होना भी तो इस वात को सिद्ध करता है कि भक्त की जैसी भावना हो उसी के अनुसार मूर्ति वनाकर पूजा करे "ये यथामां प्रपद्यन्ते तां स्तथैतव भजा-

म्यहम्" बस, जिस मूर्ति में जैसी भावना करोगे उसी मूर्ति में उसी रूप में तुम्हें भगवान् मिल जायंगे। भगवान् का कोई निश्चित शरीर तो है ही नहीं। वह तो काष्ठ में व्यापक अग्नि के समान सर्वव्यापक है। जिसप्रकार कहीं भी डिबिया पर लगे हुए मसाले के साथ सिलाई घिसने पर अग्नि प्रकट हो जाती है उसी प्रकार भक्तिभावनायुक्त मन के साथ किसी मूर्ति की, भगवान् मान कर, पूजा करने से भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं, उनका अपना कोई विशेष निश्चित शरीर तो है ही नहीं।

भगवान् कृष्ण ने भी गीता के दसवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक से, अध्याय के अन्ततक इसी भाव को व्यक्त किया है।

मूर्तिपूजा को वेदप्रतिपादितधर्म जानकर ही भगवान् सनत्कुमार सदैव मूर्तिपूजा का प्रचार करते रहे और नारदमुनि, श्रीवेदव्यास आदि महापुरुषों को मूर्तिपूजा का प्रचार करने पर नियुक्त किया। उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा अपने आदिमाचार्य की शिक्षानुसार आज भी उसी श्रद्धाभक्ति से स्वयं मूर्तिपूजा करते और जनता में इसका प्रचार करते रहते हैं। संसार में अनेक परिवर्तन हुए परन्तु उदासीनधर्मावलम्बियों के सनातनसिद्धान्तों में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसका कारण उदासीनधर्मावलम्बियों में वेदशास्त्र और उनमें वर्णितसिद्धान्तों के लिये अटलश्रद्धा और उनका ज्ञान प्राप्त करने की रुचि ही मालूम होता है।

## भ० सनत्कुमार का धर्मप्रचारकदल.

उदासीनाचार्य भगवान् सनत्कुमार, इतने लोकहित में रत थे, कि जनता की आत्मोन्नति का कोई साधनशेष न था जिसका उन्हों ने प्रचार न किया हो। उनके शिष्य भी सदैव आत्मोन्नति के साधनों का प्रचार करने में ही लगे रहे। वैसे उनके शिष्य तो अनन्त थे, पर प्रधानशिष्य तीन ही थे-व्यास, नारद, और सनत्सुजात। पुराणों के पारायण से पता चलता है कि कर्मयोग के प्रचारक व्यास, भक्तियोग के प्रचारक नारद तथा ज्ञानयोग के प्रचारक सनत्सुजात उनकी ओर से नियुक्त थे। वे लोग जिस प्रकार धर्मप्रचार के लिये सदैव तत्पर रहते थे, इसका पता भगवान् सनत्कुमारजी के छोटे भाई सनत्सुजातजी की एक कथा से मिलता है। महामना विदुर को सनत्सुजातजी के उपदेश से ही आत्मविद्या के रसास्वाद का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जब पाण्डवकौरवयुद्ध की तैयारी देखकर भावी कुलनाश की आशंका से महाराज धृतराष्ट्र अति दुःखी तथा उद्विग्न रहा करते थे। उस समय अपने बड़े भाई की इस उद्विग्नता को दूर करने के लिये विदुरजी उन्हें इतिहास पुराणों की कथाएं और शास्त्रचर्चा सुनाया करते थे। जब ज्ञानी विदुरजी के वैराग्यपूर्ण उपदेशों को सुनकर धृतराष्ट्र का मन कुछ शान्त होने लगा तब विदुरजी ने सोचा-भाईसाहिब के हृदय में राज्य, कुल और ऐश्वर्य के निबन्धन राजस, तथा कुलविनाश की आशंका से जो तामसभाव पैदा हो रहे थे वे दूर हो गये हैं और सात्विकभावों का उदय हो रहा है, इसी समय इनके साथ पारमार्थिकचर्चा चला देनी चाहिये। यह सोच कर विदुरजी महाराज धृतराष्ट्र से आत्म-अनात्मविवेक की बातें करने लग गये। इसी सिलसिले में विदुरजी ने एक दिन उस ब्रह्मतत्त्व की चर्चा भी छेड़ दी जिसका ज्ञान आपको भगवान् सनत्कुमार के भाई सनत्सुजातजी से प्राप्त हुआ था। इन अनूठे पारमार्थिक विचारों को सुनकर महाराज धृतराष्ट्र बड़े प्रसन्न हुए

और विदुरजी से कहा कि तत्त्वज्ञानविषयक इन सिद्धान्तों का मर्म विस्तारपूर्वक सुनाइये। क्योंकि इनको सुनकर मैं एक विचित्र आत्मानन्द अनुभव करता हूँ। ब्रह्मविद्याविषयक महाराज धृतराष्ट्र की उत्कट इच्छा को देखकर विदुरजी बोले हे भ्राता! मैं ब्रह्मविद्या को जानता तो हूँ परन्तु मेरा जन्म शूद्रकुल में हुआ है। शूद्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने का अधिकार नहीं। अतः मैं आपको ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं कर सकता। शास्त्रमर्यादा को उल्लंघन करने का पाप मैं अपने सिर कैसे ले सकता हूँ? हाँ, जिन योगीश्वर महाराज से यह ब्रह्मविद्या मुझे प्राप्त हुई है उनके साथ आपकी भेंट करा सकता हूँ। उन योगीराज महाराज सनत्सुजातजी से इस विद्या का उपदेश ग्रहण कर आप बहुत शीघ्र अपना परलोक सुधार लेंगे। क्योंकि समर्थगुरु केवल कृपादृष्टिमात्र से क्षणमात्र में शिष्य का उद्धार कर सकते हैं। महाराज धृतराष्ट्रद्वारा भगवान् सनत्सुजातजी के दर्शनों की उत्कट जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर विदुरजी ने समाहित होकर भगवान् सनत्सुजातजी का स्मरण किया; तत्काल महाराज वहीं पर उपस्थित हो गये। महाराज धृतराष्ट्र और विदुरजी ने श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान् सनत्सुजातजी को चरणवन्दना कर उन्हें उच्चासन पर बैठाया। तदनन्तर विदुरजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज धृतराष्ट्र आत्मविद्या का उपदेश सुनने की इच्छा रखते हैं इसी वास्ते आपको कष्ट दिया है।

इस पर भगवान् सनत्सुजातजी धृतराष्ट्र से बोले, राजन्! आप यथारुचि प्रश्न करो, उत्तर दिया जायगा।

## सनत्सुजातजी का धृतराष्ट्र को उपदेश.

हाथ जोड़ प्रणाम कर महाराज धृतराष्ट्र बोले,—भगवन्! मैंने विदुर से सुना है कि आप संसार में मृत्यु की सत्ता ही नहीं मानते। परन्तु इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि मृत्यु से बचने के लिये समस्तप्राणी ब्रह्मचर्यसहित योगादि नाना-साधन किया करते हैं। फिर यह कैसे निश्चय हो कि संसार में मृत्यु की सत्ता है ही नहीं? कृपया इस शंका से मुक्त कर मुझे अनुग्रहीत कीजिये।

भगवान् सनत्सुजात बोले—राजन्! संसारभर के मनुष्य दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक भेददर्शी दूसरे अभेददर्शी। भेददर्शियों की धारणा है कि यमराज का नाम मृत्यु है। वह उस यमलोक का शासक है और उस जगह शरीर छोड़कर पहुँचने वाले जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है। उनको यह भी निश्चय है कि कृष्ण तथा लोहितकर्मों का अनुष्ठान करने वाले जीवों का ही यमराज न्याय करते हैं शुक्लकर्म करने वाले जीवों का नहीं। वे समझते हैं शुक्लकर्मों का अनुष्ठान करनेवाले जीव अपने पुण्यप्रताप से यमराज के अधिकार से निकल कर सीधे स्वर्ग को जाते हैं। "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म" सिद्धान्त को माननेवाले अभेददर्शी लोगों की धारणा कुछ और ही है। वे कहते हैं एक अद्वितीयब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु सत्य नहीं। जब किसी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं तब मृत्यु का अस्तित्व कैसे हो सकता है। परन्तु हमें दोनोंपक्षों की धारणाओं का विचार करना चाहिये। अब यही बताया जाता है कि इनमें कौनसा पक्ष उपादेय है और कौनसा नहीं। आप सावधान होकर श्रवण करें।

अपनी अपनी धारणा के अनुसार दोनों ही अपने पक्ष को यथार्थ समझते हैं। दोनोंपक्ष सृष्टि के आरम्भ से चले आ रहे हैं। अतः किसी के प्राचीन होने में किसी को सन्देह नहीं। परन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो मृत्यु की व्यावहारिकसत्ता होने पर भी परमार्थ में उसका कोई अस्तित्व नहीं। इसीदृष्टि से मैं मृत्यु को अस्वीकार करता हूँ। यही क्यों? पारमार्थिकदृष्टि से मैं मायिकपरिवर्तनों को भी अस्वीकार करता हूँ। आप भी सोचिये, जब आत्मा अजर, अमर और वृद्धिक्षय आदि धर्मों से शून्य है तो उसमें जन्म मृत्यु अथवा परिवर्तन की आशंका ही कैसे की जा सकती है? कालस्वभाव–प्रकृतिनियम तो आत्मा की धारणामात्र हैं। क्योंकि स्थूलशरीर के साथ तादात्म्यअध्यास होने से आत्मा शरीर के धर्मों को अपने धर्म मान रहा है। यदि आत्मधारणाएं जाग्रत रक्खी जाएं तो स्थूलशरीर की स्थिति भी आत्मा की धारणा के अनुसार ही बन सकती है। इसका प्रत्यक्षउदाहरण मैं स्वयं हूँ। मुझे इस संसार में आए एक महान्‌काल व्यतीत हो चुका है।

## सृष्टि की आयु.

इस समय जो ब्रह्मदिन चल रहा है उसके छ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवां भी आधा व्यतीत होनेवाला है। मेरे पिता के एक दिन में ब्रह्मदिन की एक हज़ार चौकडियाँ और चौदह मन्वन्तर होते हैं। इतनी ही उनकी रात्रि होती है। उस रात्रि को ही ब्रह्माजी की दैनिकप्रलय कहा जाता है। इस प्रलय में त्रिलोकी का नाश हो जाता है और दिन प्रारम्भ होने पर वह फिर उत्पन्न हो जाती है। मैंने ऐसी अनन्तसृष्टियों की उत्पत्ति और प्रलय का तमाशा देखा है।

ब्रह्माजी की आयु सौवर्ष है। प्रत्येकवर्ष के तीनसौ साठ दिन होते हैं। उनकी आयु का जो दिन इस समय गुज़र रहा है उसका कितना भाग व्यतीत हो चुका है? यह हम आपको बताते हैं।

चारअरब बत्तीसकरोड़ मानववर्ष ब्रह्माजी का एक दिन होता है। इस समय तक उस दिन की १३ घटी ४२ पल और ३ अक्षर व्यतीत हो चुके हैं। मैंने पहिले भी बताया है कि ब्रह्माजी के एक दिन के १४ मन्वन्तर होते हैं। एक मन्वन्तर की ७१ चौकड़ियाँ होती हैं। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, इन चारयुगों की एक चौकड़ी होती है। यह एकचौकड़ी तेंतालीसलाख बीसहज़ार (४३२००००) मानववर्षों की होती है।

प्रत्येकमन्वन्तर के आदि तथा अन्त में एक सन्धी होती है। प्रत्येकमन्वन्तर की सन्धी की अवधी १७ लाख २८ हज़ार मानववर्ष अर्थात् सतयुग के काल के बराबर होती है। इस प्रकार १४ मन्वन्तरों की १५ सन्धियाँ होती हैं। राजन्! जिस ब्रह्मदिन में तुम्हारा जन्म हुआ है उसके छ मनु और सातवें मनु की सत्ताईस चतुर्युगियाँ २८ वीं चतुर्युगी के तीनयुग गुज़र चुके हैं। एक चतुर्युगी तेंतालीसलाख बीसहज़ार वर्ष की है। ७१ चतुर्युगी का एक मनु होने से ४३ लाख २० हज़ार को ७१ का गुणा कर देने से तीसकरोड़ सतासठलाख बीसहज़ार वर्ष का एक मनु हुआ। अब इसको ६ से गुणा करने पर व्यतीत हो चुके मन्वन्तरों की वर्षसंख्या एक अरब चौरासीकरोड़ तीनलाख बीसहज़ार होती है।

१७ लाख २८ हज़ार वर्ष एक एक मन्वन्तर की सन्धी के होते हैं। इस हिसाब से ६ मन्वन्तरों की सात सन्धियों के कुल एककरोड़ वीसलाख छयानवेंहज़ार मानव-वर्ष होंगे। सातवेंमन्वन्तर की २७ चतुर्युगियों का काल—एक चतुर्युगी के ४३लाख वीसहज़ार वर्षों को २७ के साथ गुणा करने से—११ करोड़ ६६ लाख ४० हज़ार वर्ष होते हैं। अठाईसवीं चतुर्युगी के तीनयुग भी व्यतीत हो चुके हैं। —सतयुग के १७ लाख २८ हज़ार, त्रेता के १२ लाख ९६ हजार, द्वापर के ८ लाख ६४ हज़ार।

इस प्रकार इनके अठत्तीसलाख अठासीहज़ार वर्ष भी वीत चुके हैं। इस हिसाब से—

| | |
|---|---|
| छः मन्वन्तरों के वर्ष— | १८४०३२०००० |
| छः मनुओं की सात सन्धियाँ— | १२०९६००० |
| सातवें मनु की २७ चतुर्युगियाँ— | ११६६४०००० |
| अठाईसवीं चतुर्युगी के तीन युग— | ३८८८००० |
| कुल | १९७२९४४००० |

यह—एक अरव सतानवेंकरोड़ उनतीसलाख चवालीस हज़ार मानववर्ष-ब्रह्माजी के दिन का एक अंश व्यतीत हुआ है। मेरे देखते देखते ब्रह्माजी के दिन और मास तो क्या अनेकवर्ष वीत चुके हैं। परन्तु मुझ पर न कालप्रभाव अपनी शक्ति का प्रयोग कर सका है और नहीं प्रकृति का कोई नियम। मेरे पिता ने जिस रूप में मुझे जन्म दिया था उसी अविकृत रूप में अव भी तुम्हारे सम्मुख वैठा हूँ। कारण यही है कि जन्मदिन से लेकर आज पर्यन्त मेरे मन में कभी स्वप्न में भी यह विचार पैदा नहीं हुआ कि मैं जन्मने मरनेवाला अथवा विकारी हूँ। उसी धारणा के कारण अविकृत आत्मा के समान ही मेरा शरीर भी अविकारी वना रहता है और उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। हे धृतराष्ट्र! मुझ पर ही क्या निर्भर है, कोई भी पुरुष आत्मासम्वन्धी अविकारित्व धारणा के प्रभाव से शरीर को भी क्षयविनाश से रहित कर सकता है। क्योंकि यह सारा जगत आत्मधारणा का ही फलमात्र है। सारे परिवर्तन आत्मधारणा के अनुसार ही हुआ करते हैं। जो लोग श्रुति के "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" इस वाक्य पर निश्चय रखकर अन्तरवाह्य एक समान व्यवहार रखते हैं, उनके सामने मृत्यु का कभी प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जो लोग जगत की सत्ता को यथार्थ मानते हैं उन्हीं के लिये मृत्यु का प्रश्न भी विशेष महत्त्व रखता है।

ऐसे भेददर्शी लोग जो अपनी अपनी बुद्धि की तारतम्यता के अनुरूप मृत्यु के भिन्न-भिन्न स्वरूप ठहराते हैं वे ही सर्वसंहारी यमराज को मृत्यु मानते हैं। परन्तु दूसरीश्रेणी के अद्वैत-आत्मतत्त्ववेत्ता लोग मिथ्याज्ञान अर्थात् देहादि में आत्मअभिमान को ही मृत्यु मानते हैं। उनका निश्चय है कि जब तक मिथ्या ज्ञान है तब तक ही मृत्यु आदि सर्वप्रकार के परिवर्तन वने रहते हैं। इसके सिवा और कोई मृत्यु नहीं। यथार्थ आत्मज्ञान होते ही मिथ्याज्ञानरूप अंन्धकार दूर होजाता है और फिर रागद्वेषादि सन्तति-सेना के नाश होने में देर नहीं लगती। रागद्वेषादि के नाश हो जाने पर स्वाभाविक ही शुभाऽशुभ कर्मों का स्रोत बन्द हो जाता है और जन्म मरण की शृंखला अपने आप टूट जाती है।

आत्म—अनात्म का विचार करते हुए जिन लोगों की प्रतिभा पूर्णरूप से विकसित हो गई है उन्हें साक्षात् अखण्ड सच्चिदानन्द विशुद्ध अद्वैतब्रह्म ही केवलसत्य प्रतीत होने लग जाता है। यदि अविद्यानटी को रंगभूमी से निकाल दिया जाए तो उसका परिवार भी उसी का अनुसरण करेगा। विचार से देखा जाए तो सर्व अनर्थकारिणी अविद्या का नाम ही मृत्यु है और उसीका दूसरा नाम प्रमाद है। इसलिये तरुमूल सेंचनन्याय से शाखादि की अपेक्षा में अविद्या ही को मृत्यु कहता हूँ। स्वरूप से परिच्युत न होना अर्थात् स्वरूपऐश्वर्य को विस्मृत न होने देना और ब्रह्मसाक्षात्कार से अविद्यानिवृत्तिद्वारा ब्रह्म में अवस्थित होने का नाम ही अमृतत्व अथवा अप्रमाद है।

इस कथा से प्रकट होता है कि यह प्रचारकदल किसप्रकार धर्मप्रचार के लिये हर समय कटिवद्ध रहता था। विदुरजी के स्मरण करने पर भ० सनत्सुजात तत्क्षण पहुँच जाते हैं और जाते ही गहनातिगहन विषय का उपदेश आरम्भ कर देते हैं।

# ( ७ तरङ्ग )

## उदासीनधर्म और वर्णव्यवस्था

भगवान् सनत्कुमारजी वर्ण जन्मानुसार मानते थे और ऐसा ही उपदेश भी करते रहे। शिवपुराण की सनत्कुमार संहिता में कथा आती है कि एकवार व्यासजी आदि ऋषियों ने वैदिकसिद्धान्तों के विषय में अनेक प्रश्न किये। ऋषियों में प्रधानप्रश्नकर्त्ता व्यासजी ही थे पर वीच वीच में कोई अन्य ऋषि भी प्रश्न कर देते थे। एक प्रश्न के उत्तर में सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बतलाते हुए भगवान् सनत्कुमारजी ने कहा—हे महापुरुषो!

**ततः स्वमुखतो ब्रह्मा ब्राह्मणान् समकल्पयत्।**
**पाद हीनान् क्षत्रियाँश्च तस्माद्धीनांस्तु वैश्यकान्॥**
**चतुर्थ पाद हीनांश्च आचारैश्च वहिष्कृतात्॥**

सृष्टिसर्जन के समय ब्रह्माजी ने जिन आत्माओं में धर्म के, सत्य, तप, दान और यज्ञ, इन चार चरणों का विकास देखा, उनको ब्राह्मण का शरीर दिया। जिन में सत्य दुर्वल था उन्हें क्षत्रिय का, जिनमें सत्य और तप दुर्वल थे उन्हें वैश्य का और जिनमें सत्य, तप, और दानात्मिक सँस्कार दुर्वल थे ऐसे सेवाकर्मसंस्कार प्रधान आत्माओं को शूद्र का शरीर दिया। जो आत्मा सर्वप्रकार के धार्मिकआचारों से हीन संस्कार वाले थे उन्हें चतुर्वर्णवाह्य—अन्त्यजों के शरीर मिले।"

कुछ शास्त्रज्ञान से शून्य लोग वर्णव्यवस्था पर शङ्काएं करते सुने जाते हैं परन्तु उन्हें ज्ञात रहना चाहिये कि हमारे शास्त्रोंका प्रत्येक सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर परखा हुआ है। उनपर शङ्काकरना वेदशास्त्रज्ञान के साथ ही विज्ञान से भी अनभिज्ञता प्रकट करना है। जैसे इस वर्णव्यवस्था सिद्धान्त पर ही विचार कीजिये।

सारा ब्रह्माण्ड त्रिगुणात्मकप्रकृति का कार्य है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणभावत्रय में ब्रह्माण्ड की पूर्णता होती है। अपने धर्मों के साथ प्रकृति इन तीनों ही भावों में वर्तमान रहती है।। इन तीनों में से ब्रह्माण्ड का कोई भी भाव जहाँतक रहेगा वहाँतक उसमें प्रकृतिधर्म अवश्य रहेंगे।

"सत रज तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" सत, रज, और तम की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और गुणत्रय की वैषम्यअवस्था से संसार की उत्पत्ति होती है। तमःप्रधानप्रकृति का अतिसूक्ष्म रूपान्तरितभाव ब्रह्माण्डका कारण स्वरूप है। रजोप्रधान ज्ञानक्रिया आदि धर्मसम्पन्नप्रकृति का कार्यभूत ब्रह्माण्ड दूसरा सूक्ष्मस्वरूप है। सत्वधर्मप्रधान स्थूल तामसमय. ब्रह्माण्ड का स्थूल स्वरूप है। ब्रह्माण्ड की यह तीनों दशाएं प्रकृति से सम्पन्न होती हैं। इसलिये इनके व्यष्टि भावों में भी सत्वादि के धर्म देखे जाते हैं। इतना ही नहीं गुणतारतम्य के अनुसार व्यष्टिपदार्थों में नानाविध विचित्रता भी पाई जाती है।

यदि प्रकृति में एक सत्त्वगुण ही होता तो सृष्टि एक ही सात्विकस्वभावधर्म वाली होती। गुणधर्म में कोई अन्तर न होने से वर्णव्यवस्था की भी आवश्यकता न होती। जिसप्रकार एक ही प्रकृति ब्रह्माण्ड की कारण, सूक्ष्म तथा स्थूलरूप अवस्थाओं में रहती है उसीप्रकार व्यष्टि में भी जीव के कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर में वही स्थिति रहती है। त्रिगुणमयी होने से समष्टि तथा व्यष्टि में प्रकृति के तीन विभाग रहते हैं। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल इन तीनों विभागों में तीनों गुणों का समावेश अवश्य रहता है।

सृष्टि की धारा दो प्रकार की है। एक तमोगुण से सत्त्वगुण की ओर गमन करती है दूसरी सत्त्वगुण से तमोगुण की ओर। दूसरे शब्दों में व्यष्टि और समष्टि के विकासक्रम का नाम ही तमोमूलक और सत्त्वमूलकधारा है। प्रथम व्यष्ट्यात्मकधारा में जीव तामसदशा में प्रवेश करता है अतः जीव की यह पहली भूमी है। तमोगुण का सन्निहितसम्बन्ध रजोगुण के साथ होने से तमोगुणमिश्रितरजोगुण दूसरी, इसीप्रकार रजोमिश्रित सत्त्व तीसरी और केवल सत्त्व चौथी भूमी मानी गई है। प्रकृति की यही चार भूमियाँ हैं और इन्हीं चार भूमियों में विकास को प्राप्त होनेवाले जीव शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कहलाते हैं। जितनी स्थावर जंगमात्मक सृष्टि है वह इन्हीं चारों भागों में विभाजित रहती है। इसी चतुर्धास्थिति का नाम वर्णव्यवस्थाधर्म है।

## प्राकृतिक वर्णव्यवस्था.

वैसे भी जीवसृष्टि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जेरज, इन चारभागों में विभक्त है। प्रत्येकजीवसृष्टिविभाग कारण, सूक्ष्म और स्थूलशरीर वाला है और यह तीनों शरीर त्रिगुणात्मकप्रकृति के कार्य हैं। जबतक चतुर्वर्गात्मकाप्रकृति की धाराओं का सम्बन्ध इन शरीरों के साथ बना रहेगा तबतक उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जेरज सृष्टि में भी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणभेदसूचक वर्णभाव रहेगा ही। यही क्या? खनिजपदार्थों के गुणदोष तथा भेद को जानने वाले रसायनज्ञ और औषधियों का ज्ञान रखने वाले वैद्यलोगों ने अनुभवद्वारा सिद्ध कर दिखाया है कि एक ही धातु अथवा औषधी में देशकाल और ऋतुभेद के कारण बहुत अन्तर पाया

जाता है। केवल गुणों में ही नहीं, उनपदार्थों के रंगरूप और आकार में भी बहुत असमानता देखी जाती है। खनिजपदार्थों तथा वृक्षों में स्वभाववैचित्र्य के अतिरिक्त स्त्रीत्व और पुंसत्व भी पाया जाता है। इसी तरह पशुओं में भी देश और परिवार-भेद से विशेष अन्तर देखा जाता है। घोड़ा, गाय, बैल, कुत्ता, हाथी शेर आदि पशुओं और कुक्कड़, कबूतर, चील, बटेर आदि पक्षियों में वंशमूलकगुणधर्मों में भिन्नता पाई जाती है और इसी भिन्नता के कारण उनकी पृथक् पृथक् जातियाँ मानी जाती हैं। घोड़ा, गाय आदि पशुओं और कुक्कड़ आदि पक्षियों की कितनी जातियों के नाम सुने जाते हैं? यह सब वर्णभेद ही तो है। लोग इस गुणरूप भेद का कारण प्रकृति का नियम ही बताते हैं। शास्त्र ने भी प्रकृति के इसी नियम को वर्णधर्म माना है। क्योंकि तम, तमरज, रजसत् और सत् यही प्रकृति के नियम हैं। इन चार कक्षाओं में विभक्त होकर ही प्रकृतिधारा स्वभाववैचित्र्य तथा धर्मवैचित्र्य उत्पन्न करती है।

जब मनुष्येतरप्राणियों में ऐसे वर्णधर्म का मौलिकअस्तित्व पाया जाता है तो मनुष्यों में न होने का कारण क्या? मनुष्यशरीरों के वर्णधर्ममूलक भेदों को प्रकट करने के लिये ही तो सृष्टि की उपरोक्त चारभूमियों को वेद ने विधाता के चार अंग वर्णन किया है। जैसे प्रकृति के सर्वोत्तम सत्त्वगुणभूमि को शरीर के सर्वोच्च अङ्ग सिर की, उत्तम सत्मिश्रित रजभूमी को सिर से कम महत्त्व रखने वाली भुजाओं की, मध्यम रज को उरु की और प्रकृति के निकृष्टगुण तमभूमी को पैरों की उपमा दी गई है। इसी भाव का उपदेश वेदभगवान् ने इस मंत्र में किया है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहु राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽजायत॥

ब्रह्मण मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उरू से और शूद्र पैरों से उत्पन्न किये गये हैं।

## पूर्वकर्मानुसार वर्ण.

प्रकृति के सात्त्विक, राजस तथा तामसगुणों के अधीन होकर ही मनुष्य उत्तम, मध्यम तथा अधमकर्म करता है। यह तो सर्वमान्यसिद्धान्त है कि मनुष्यकर्म करने में स्वतंत्र और उनका फल भोगने में परतंत्र है। अर्थात् मनुष्यकर्म तो अपनी इच्छा से करता है परन्तु उनका फल ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार भोगता है। जिस समय जीव शरीर त्यागने लगता है उस समय उसके समस्तशुभाऽशुभकर्म सामने आ खड़े होते हैं। फिर उन कर्मों की प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण इन शीर्षकोंवाली सूचियों पर छाँट होती है। प्रारब्ध शीर्षकवाली सूची पर लिखे गये कर्मों के अनुसार उसके अगले जन्म का आर्डर जारी होता है। यही बात भगवान् ने गीता में भी कही है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।

अर्थात् " सत्, रज, तम गुणविभाग और प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण कर्म-विभागानुसार हम चारों वर्णों को उत्पन्न करते हैं।" भगवान् यह भी कहते हैं कि—

"अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।"

पूर्वजन्म में मनुष्य जैसे विचार वना चुका है यदि उन्हीं के अनुकूल कुल जाति देश और वायुमण्डल नहीं मिलेगा तो जीव उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ परम-गतिको कैसे प्राप्त कर सकेगा ?। इसीवास्ते भगवान् ने " गुण कर्म विभागशः " द्वारा उपदेश किया है कि पूर्वजन्म में जिनके कर्म सतोगुणभूमी के हैं उन्हें ब्राह्मणवर्ण में, जिनके सतोगुणमिश्रितरजोभूमि के हैं उन्हें क्षत्रियवर्ण में, रजोमिश्रिततमोगुणवालों को वैश्य और तमोगुणीकर्म करनेवालों को शूद्रवर्ण में, जन्म देता हूँ। जिस प्रकार सत्वगुण से रजोगुण और फिर तमोगुण की ओर अपने कर्मोंद्वारा पतित होकर मनुष्य पशु पक्षी और फिर वृक्षादि योनियों में जा गिरता और भोग योनियों में दुष्कर्मों का फल भोग कर क्रमशः ऊपर चढ़ता है उसीप्रकार सत्व-गुणमिश्रित कर्मों की सीढ़ीद्वारा शूद्रवर्ण से उच्चवर्णों में जन्म लेकर ब्राह्मणवर्ण तक पहुँच सकता है। जीव की उन्नति का गुणकृत प्राकृतिकक्रम यही है। इसी को प्रकृति का वर्णधर्म कह सकते हैं " सुकर्मों से उच्चवर्ण और दुष्कर्मों से नीचवर्ण वदल सकता है " इस का अर्थ भी यही है कि मनुष्य जैसे जैसे उत्तमकर्मों का संचय करता जाता है उन्हीं के अनुसार उसका उत्तमवर्णों में जन्म होता जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि एक ही शरीर में शूद्रवर्ण में जन्म लेनेवाला पुरुष भी ब्राह्मणवर्ण में माना जा सकता है वे लोग ऐसा कहते हुए इस बात को भूल जाते हैं कि "अमुक मनुष्य शूद्रवर्ण में पैदा होकर भी अब ब्राह्मण के कर्म कर रहा है अतः वह ब्राह्मण है" इस वात का निर्णय करनेवाला कौन होगा? क्योंकि कर्मों के फल की व्यवस्था देनेवाला तो ईश्वर ही है। कर्म जड़ है, वे कोई निर्णय कर नहीं सकते, मनुष्य स्वयं नीचकर्म करता हुआ भी उच्चवर्ण की ही इच्छा करेगा, बस, ईश्वर ही ऐसा निर्णय कर सकते हैं और उनका निर्णय जन्म से ही प्रकट हो सकता है।

जब से यह संसार उत्पन्न हुआ तबसे यह वर्णव्यवस्था चली आ रही है और जबतक कर्तृत्वभाव से सात्विक, राजस और तामस गुणानुसार कर्मों को जीव करता रहेगा तबतक इस व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता। एक वात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है। मनुष्येतर भोगयोनियों में जीव का उत्तरोत्तर उन्नति करते जाना निश्चित है। कारण, एक तो भोगयोनि होने से जीव के दुष्कर्म क्षीण होते चले जाते हैं। दूसरे उन योनियों में ज्ञान का विकास और कर्तृत्वाभिमान न होने से शरीराभिमान नहीं होता और उनके सारे व्यवहार प्रकृतिनियम के संकेतानुसार सम्पन्न होते रहते हैं। अतः उन्हें धर्माऽधर्म का संस्पर्श भी नहीं होता। परन्तु मनुष्य अन्य जीवों की अपेक्षा ज्ञानसम्पन्न, कर्तृत्वाभिमानी और इस पर भी कर्म करने में स्वतंत्र है। यही कारण है कि उसका आहार, व्यवहार, मैथुनादि व्यापार प्रकृतिनियम के विरुद्ध है। यदि वर्णधर्म का पालन करते हुए उच्चवर्णों की ओर वढ़ने की रुचि जीव में न होगी तो स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठाते हुए

अपने प्रकृतिनियमविरुद्ध व्यापार में सीमा का उल्लंघन करने लग जायगा और फिर कर्मों का ऐसा उलटाचक्र चल जायगा कि चौरासीलाख योनियों के प्रवाह से निकलना कठिन हो जायगा। इस उलटेफेर से बचने का केवल एक यही उपाय है कि मनुष्य को इस बात का दृढ़ निश्चय हो कि अपने वर्णधर्मों का पालन करते हुए जप, तप, संयम, दान आदि सुकर्मोंद्वारा ही वह नीचयोनियों और वर्णों से छूटकर उच्चवर्णों की ओर बढ़ सकता है। जहाँ उसे अपने ध्येय की प्राप्ति के अधिक साधन प्राप्त हो सकते हैं। एक ही शरीर में दूसरे वर्ण की प्राप्ति सम्भव होने से तो कोई मनुष्य अन्य लोगों की आँखों में धूल डालकर भी शूद्र से ब्राह्मण बन सकता है और नकली ब्राह्मण का अपने ही व्यवहार को देखकर सुकर्मफल तथा कर्मफल दाता परमात्मा के अस्तित्व पर से विश्वास उठ जाना आवश्यक है। अनेकजन्मों के पुण्य से उसने मनुष्यजन्म में जिस कर्मस्वतंत्रता को प्राप्त किया था वही उसकी अधोगति का कारण बन सकती है। अतः न केवल शास्त्र का यह निश्चितमत है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म से वर्ण प्राप्त करता है, मनुष्य को सदैव यह निश्चय रहना चाहिये कि ईश्वर ही उसके पूर्वकर्मानुसार किसी विशेषवर्ण में जन्म देता है। इसीवास्ते भगवान् निश्चय दिलाते हैं कि—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"।

किसी वर्ण में जन्म लेना ही इस बातका प्रमाण है कि जीव पूर्वजन्म में कैसा आचारविचार रखता था। क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः" विचार ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। यही क्यों? प्रत्येककर्म अपनी एक नई सृष्टि रच लेता है और उसका एक ऐसा प्रवाह चल पड़ता है जिस का अन्त होना कठिन हो जाता है। अन्यथा कोई कारण न था कि सृष्टिउत्पत्ति के समय ही वेदभगवान् के कथनानुसार, विधाता अपने मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्रों को उत्पन्न करते। जैसे सुषुप्ति में पूर्व दिन के सँस्कार रह जाने पर मनुष्य उन सँस्कारों के अनुसार ही अगले दिन अपना व्यापार जारी कर देता है, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी जीव पूर्वकल्पों में किये कर्मों के अनुसार वर्ण प्राप्त करता है। यद्यपि कलियुग के प्रभाव से वर्णधर्मों का पालन नियमपूर्वक नहीं होता, फिर भी किसी वर्ण में पैदा होनेवाला बालक अपने वर्ण के कर्तव्य तथा व्यवहार को जिस सफलता के साथ समझ और सीख सकता है दूसरे वर्ण के कर्तव्य को उतनी सफलता से नहीं सीख सकता। यह उसके पूर्वसँस्कारों का ही फल तो है। आचार्य सुश्रुत भी कहते हैं—

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्॥

जीव पूर्वजन्म में जैसे कर्म करता है अगले जन्म में वैसे ही गुण प्राप्त करता है। पूर्वकर्मानुसार केवल गुण ही नहीं प्राप्त करता बल्कि—

अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणाऽगुणाः॥

पूर्वकर्मों के अनुसार ही जीव को अङ्ग प्रत्यङ्ग भी मिलते हैं। यहाँतक ही बस नहीं—

**शुक्र शोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।**
**प्रकृति र्जायते तेन तस्य मे लक्षणं शृणु॥**

पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हुए होते हैं वैसा ही अगले जन्म में शुक्र शोणित का भी संयोग होता है और उनके अनुसार ही स्थूलशरीर की रचना होती है। इसीवास्ते मनुमहाराज व्यवस्था देते हैं कि—

**गर्भाष्टमेऽब्देकुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।**
**गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भा त्तु द्वादशे विशः॥**

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मणबालक का उपनयनसँस्कार किया जाए। गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन सँस्कार करना चाहिये। मनुमहाराज की इस आज्ञा का कारण यही है कि ब्राह्मणबालक अपने पूर्वसँस्कार और तज्जन्य ब्राह्मणवर्ण का अनुभव होने के कारण विद्याध्ययनविषयक जो योग्यता आठवर्ष में प्राप्त कर सकता है क्षत्रिय का बालक ग्यारहवर्ष में और वैश्य बारहवर्ष में उसका अधिकारी हो सकता है।

सनातन वैदिकधर्म के इसी सिद्धान्त को प्रतिपादन करते हुए भगवान् सनत्कुमारजी ने वेदव्यास आदि ऋषियों के प्रश्नों का उत्तर देते समय कथन किया है कि ब्रह्माजी ने सृष्टिसर्जन के समय जिन जीवों में धर्म के सत्य तप दान तथा यज्ञ इन चरणों का विकास देखा उनको ब्राह्मण, जिनमें सत्य दुर्बल था उनको क्षत्रिय जिन में सत्य के साथ ही तप भी दुर्बल था उनको वैश्य और जिनमें सत्य और तप के साथ दानधर्म भी दुर्बल था उनको शूद्र का शरीर दिया। उदासीनधर्म के आदिमाचार्य भगवान् सनत्कुमारजी के उपदेशानुसार आज भी उदासीनमहात्मा जन्म से ही वर्ण मानते हैं। उन का दृढनिश्चय है कि जीव के वर्ण को बदलने का अधिकार परमात्मा को ही है, मनुष्य को नहीं। क्योंकि किसी मनुष्य के कर्म किस वर्ण के अनुसार हैं, इसका निर्णय परमात्मा ही कर सकते हैं और जीव के शुभाऽशुभ कर्मों का फल वही देते हैं, किसी मनुष्य को यह अधिकार प्राप्त नहीं। परमात्मा अपने निर्णय को कार्यरूप में जीव को दूसरा जन्म देने पर ही, परिणत कर सकते हैं। जीव के हानि लाभ जन्म मरण और यश अपयश उनके ही हाथ में हैं।

## ( ८ तरङ्ग )

## नाममहिमा.

छान्दोग्य उपनिषद में एक कथा है जिस से प्रकट होता है कि भगवान् सनत्कुमारजी नाम का बहुत बड़ा महात्म्य समझते थे और सदैव इसका प्रचार किया करते थे। उनके चरणचिह्नों पर चलने वाले उदासीनमहात्मा आज तक उनके इस उपदेश का भी बड़ी श्रद्धा से पालन कर रहे हैं। वे लोग रामायण गीता आदि

पुस्तकों का पाठ करके तो नाम के लिये अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट किया ही करते हैं, उन दूसरे ग्रन्थों का भी सदैव सत्कार करते रहते हैं जिनमें नाम की महिमा गाई गई है। इसका कारण भगवान् सनत्कुमारजी का वह उपदेश ही है जिसमें आपने संसार के कल्याण के लिये नाम का महात्म्य बताया है।

## नारदजी को तत्वज्ञानोपदेश.

छान्दोग्य उपनिषद् की कथा इसप्रकार है कि एकवार नारदजी ने भगवान् सनत्कुमारजी से तत्वज्ञान का उपदेश करने की प्रार्थना की। उसने कहा भगवन्! मैंने आप जैसे गुरुजनों से पढ़ा सुना तो बहुत है परन्तु अनेक विद्याओं को जानता हुआ भी मैं आत्मतत्त्व को नहीं जान सका। कृपया आप वही मुझे बताइये।

“सोऽहम् भगवो मंत्र विदेवास्मिनात्म विच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ हो वाच यद्वै किंचैतद् ध्यगीष्ठा नामै वैतत्॥” ७, १, ३॥

भगवन्! मैं अनेकविद्याओं को जानता हुआ भी वेदोक्तकर्मों को करनेवाला ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। आप जैसे महापुरुषों से सुना है कि आत्मवेत्ता सांसारिक शोकों से पार हो जाता है। परन्तु मुझे तो शोक होता है, इसीवास्ते समझता हूँ कि मैं आत्मवेत्ता नहीं। कृपया आत्मज्ञानद्वारा इस शोकसागरसंसार से मुझे पार कीजिये।

नारदजी की नामविषयक उत्कटजिज्ञासा देखकर भगवान् सनत्कुमारजी कहने लगे—हे नारद! जिन ऋग्वेदादि को तुमने अध्ययन किया है वे सब नाम अर्थात् वागिन्द्रय का विकार-शब्दमात्र है—“नाम वा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेद, अथर्वण श्चतुर्थ इतिहास-पुराणः पञ्चमो (महाभारतम्) वेदानां, वेदः (व्याकरणम्) पित्र्यो (श्राद्धकल्पः) राशि (गणितम्) दैवो (उत्पातविज्ञानम्) निधिर्वाको (महाकालादि निधिशास्त्रम्) वाक्य (तर्कशास्त्रम्) मे कायनं (नीतिशास्त्रम्) देवविद्या (निरुक्तम्) ब्रह्मविद्या, (शिक्षादिरूपा) भूतविद्या, क्षात्रविद्या, सर्प, देव, जनविद्या, (गारुडविद्या) नामैवै तन्नामो पास्स्वेति (गन्धर्वविद्या)। छान्दोग्य ७-१-४

जब यह सब कुछ नामरूप ही है तो “नाम ही ब्रह्म है” ऐसा जानकर नाम की ही ब्रह्मदृष्टि से उपासना कर।

आगे भगवान् सनत्कुमार नाम की उपासना का फल बतलाते हुए कहते हैं—

सपो नाम ब्रह्मेत्युपासते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा काम चारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपासतेस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥ ५॥

जो लोग ब्रह्मरूप से नाम की उपासना करते हैं वे लोग जहाँतक नाम का विषय है वहाँतक स्वच्छन्द विहरण करते हैं। नामउपासक के इस ऐश्वर्य को प्राप्त

करने का गोप्यरहस्य यही है कि नामरूपात्मक जगत नाम से भिन्न नहीं है। संविन्मूला वाक्-परा में शब्द और अर्थ एकरूप में रहते हैं-अर्थात् परावाणी से पृथक् अर्थ कुछ भी नहीं है। योगियों की दिव्यदृष्टिगम्य पश्यन्ती में भी अर्थ की कोई स्वतंत्रसत्ता नहीं। लौकिकपुरुषों के अन्तःकरण में मध्यमानामवाली वाणी की-अनभिव्यक्तशब्दधारा और अर्थधारा-यह दो धाराएं हो जाती हैं। पहली अनभिव्यक्तधारा ही फिर मुख के ताल्वादिस्थानों से अभिव्यक्त हो कर शब्दात्मिक-वैखरी कहलाती है। दूसरी अर्थात्मिकधारा अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्तिरूप तरङ्गोंमें पतित होने पर शब्द से पृथक् होकर नष्टभ्रष्ट भी हो जाती है। यही कारण है कि लौकिकपुरुषों की वाणी निरपेक्षतया कार्यकारिणी नहीं। इसके विपरीत जो योगीजन परा और पश्यन्ती के समान मध्यमा तथा वैखरी में भी अर्थ को वाणी से स्वतंत्र नहीं होने देते, उनकी वाणी स्वतंत्रता से कार्यकारिणी होती है। वे लोग मध्यमा से जो कुछ सोचते और वैखरी से जो कुछ कहते हैं उस संकल्प के अनुसार, किसीप्रकार के स्थूल-सूक्ष्म प्राकृतिककारणों की अपेक्षा न रखकर, अर्थ को उपस्थित होना ही पड़ता है। इसी का नाम संकल्पसिद्धि वाक्सिद्धि आदि है। "एकोऽहं बहुस्याम्" यह जगत की कारणभूत ब्रह्मवाणी परावाणी स्वरूप है। संकल्प संकल्पक से भिन्न नहीं। अतः "एकोहं" इत्याकारक संकल्प ब्रह्म से भिन्न नहीं। इसी लिये शास्त्रों में परा को ब्रह्मस्वरूपिणी कहा गया है। परा ही समस्त जगत का कारणभूत है और वही सर्वप्राणियों में वास करती है। यदि मध्यमा और वैखरी में अर्थ को परापश्यन्ती के समान अविभक्त कर लिया जाए तो फिर संकल्पसिद्धि और वाक्सिद्धि में कोई देर न लगे। संविन्मूला परा ही सर्वरूप से स्थित है। परा का वैखरी अर्थात् शब्दनाम स्थूलरूप है। नाम के अवलम्बन से ब्रह्मस्वरूपिणी परा साक्षात्कार करके पुरुष सर्वप्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। जहाँतक नामरूपात्मकभाव है वहाँतक नाम का उपासक संकल्पमात्र से सर्वपदार्थों को जानने तथा प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अधिक क्या, परा के साक्षात्कार से नामोपासक में सर्व प्रकार के ईश्वरीयऐश्वर्य आविर्भूत हो जाते हैं।

नारदजी प्रश्न करते हैं—भगवन्! नाम से उत्कृष्ट और भी कोई ऐसी वस्तु है जिसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना की जा सके? उत्तर में भगवान् सनत्कुमारजी बोले—हाँ, और भी अनेक उत्कृष्ट अवलम्बन हैं जिनकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाला उपासक अपना कल्याणसाधन कर सकता है। आप सावधान होकर सुनिये।

नाम्नो वाचं ततः स्वान्तं संकल्पं च ततः परम्।
ततश्चित्तं ततो ध्यानं विज्ञानं तदनन्तरम्॥
तस्माद्बलं बलादन्नं तत आपः प्रकीर्तिताः।
अद्भ्यस्तेजः परं ज्ञेय माकाशं तेजसस्तथा॥
व्योम्नः स्मरं ततस्त्वाशां प्राणं विद्धि तदुत्तरम्।
एषां पञ्च दशानांतु मतं भूयः परंपरम्॥

नाम से वाक्, वाक् से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त और चित्त से ध्यान श्रेष्ठ है। अर्थात् मन आदि पदार्थों की अपेक्षा से उत्तरोत्तर पदार्थों में श्रेष्ठता पाई जाती है। क्योंकि मुख के कंठताल्वादि आठस्थानों में स्थित वागिन्द्रिय वर्णों की उत्पत्ति का कारण है, अतः मन से वाक् श्रेष्ठ है। "यद् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति" वाग् इन्द्रिय का प्रेरक मन है अतः वाक् से मन श्रेष्ठ है। कर्तव्या-कर्तव्य का विवेचन करने में अन्तःकरण की वृत्तिरूप संकल्प ही समर्थ है, अतः संकल्प मनोव्यापार का कारण होने से मन से श्रेष्ठ है। चित्त चेतनाशक्ति सम्पन्न होने से संकल्प का भी कारण है इसलिये संकल्प से भी चित्त श्रेष्ठ है। प्रत्ययप्रवाह रूपध्यान चित्त की चेतनाशक्ति को बढ़ानेवाला है अतः चित्त से ध्यान श्रेष्ठ है। शास्त्रप्रतिपादित अर्थ का विज्ञान ध्यान का कारण है, इसलिये ध्यान से विज्ञान श्रेष्ठ है। अन्नादि के खाने से उत्पन्न होने वाली शक्ति ज्ञेय की प्रतीति करानेवाला वल है अतः विज्ञान से वल श्रेष्ठ है। अन्न से ही वल की वृद्धि होती है अतः वल से भी अन्न श्रेष्ठ है। "आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टे रन्नं ततः प्रजा" अन्न का कारण जल है इसलिये अन्न से भी जल श्रेष्ठ है। जल का कारण तेज होने से जल से तेज श्रेष्ठ है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत, नक्षत्र, अग्नि आदि सर्वतैजसपदार्थ आकाश में स्थित हैं और वे उसी के गुण शब्दद्वारा ज्ञात होते हैं। अतः तेज से भी आकाश श्रेष्ठ है। आकाश का गुणशब्द अपने अर्थ तथा संकेत की स्मृति की सहायता से वस्तु के शब्दवोध का कारण और व्याप्तिस्मृति की सहायता से अपने धर्मी आकाश का अनुमापक होता है अतः आकाश से स्मृति उत्कृष्ट है। आशायुक्त पुरुष ही इष्टवस्तु की प्राप्ति के साधनों को स्मरण किया करता है। अतः स्मृति से आशा श्रेष्ठ है। नामादि की स्थिति का कारण प्राण अर्थात् सूत्रात्मा है इसलिये आशा से प्राण श्रेष्ठ है।

## सर्वोत्कृष्टवस्तु.

भगवान् सनत्कुमारजी के उपदेश को सुनकर नारदजी चुप बैठे रहे, फिर आगे कोई प्रश्न नहीं किया। तव भगवान् सनत्कुमारजी ने सोचा, नारद प्राण को ही आत्मा समझ बैठा है। जिस दुःख की निवृत्ति के लिये इस ने प्रश्न किया था, वह प्राणों को ही आत्मा निश्चय कर लेने से तो निवृत्त न होगा। ऐसा विचार कर भगवान् स्वयं ही वोले—

"एषतु वा अति वदति यः सत्येनाति वदति, सोऽहं भगवः सत्येनाति वदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य मिति, सत्यं भगवो विजिज्ञास इति।" छान्दोग्य ७, १६, १।

यहाँ पर "तु" शब्द 'प्राण ही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है' इसका निषेधक है—अर्थात् तु शब्द से प्रकट होता है कि प्राण भी सर्वश्रेष्ठ नहीं है। जो सत्य से-अर्थात् सर्वातिकान्तभूमारूप परमार्थवस्तु को जानकर-वोलता है वही अतिवदन करता है। प्राणवेत्ता तो नामादि की अपेक्षा से अतिवदन करता है।

तब नारदजी बोले—भगवन्! यदि ऐसा ही है तो मैं आपसे सत्य को ही जानना चाहता हूँ। यह सुनकर भगवान् सनत्कुमारजी ने कहा—

"यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति।" छान्दोग्य ७, १७, ११

यह सारा जगत असत्य है केवल भूमारूप सत् ही परमार्थसत्य है, जब ऐसा जानता है तभी सत्य बोलता है, अन्यथा नहीं। अतः विज्ञान का जानना ही आवश्यक है।

नारदजी बोले—विज्ञान का जानना ही आवश्यक है तो फिर मुझे विज्ञान का ही उपदेश कीजिये।

भगवान् बोले—अच्छा सुनो! जब मनन करता है तब ही जानता है अतः प्रथम मनन को समझो।

नारद—भगवन्! मनन किनसाधनों से और कैसे होता है?

भ० सनत्कुमार—वत्स! मनन का कारण है श्रद्धा, श्रद्धा होने से ही मनन हो सकता है, अतः तुमको कारण सहित श्रद्धा का ज्ञान होना चाहिये।

नारद—तब कारण सहित श्रद्धा का ही उपदेश कीजिये।

भ० स०—गुरु तथा शास्त्र का कथन मनुष्य के लिये सर्वथा हितकर और सत्य है, ऐसी आस्तिक्यबुद्धि का नाम श्रद्धा है, जो गुरु सेवा आदि निष्ठा से पैदा होती है। अतः सकारणनिष्ठा को भी समझो।

ना०—भगवन्! सकारण निष्ठा भी मुझे आप ही समझाइये।

भ० स०—इन्द्रियसंयम और चित्त की एकाग्रतारूप कृति से निष्ठा पैदा होती है। अतः निष्ठा को जानने के पूर्व कारणसहित कृति को समझो।

ना०—गुरो! सकारण कृति किससे पैदा होती है? कृपा कर यह भी मुझे बताइये।

भ० स०—जब जीव सुखप्राप्ति की इच्छा करता है तब ही कृति करने पर तत्पर होता है, अन्यथा नहीं। अतः उस से भी पूर्व सुखको जानना चाहिये.

ना०—तब तो महाराज! मुझे सुख का ही ज्ञान कराइये।

भगवान् सनत्कुमार बोले—

"यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यम्, इति (ना०) भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।" ७, २३, १।

जो देश, काल, वस्तु परिच्छेदशून्य भूमा—परमात्मा है वही सुखस्वरूप है। परिछिन्न शब्दादिविषयों में सुख नहीं, इस लिये तू भूमाको जानने की इच्छा और प्रयत्न कर।

## भूमा—ब्रह्म.

नारदजी ने कहा—भगवन्! तो फिर मुझे भूमा का लक्षण ही बताइये। तब भगवान् सनत्कुमारजी बोले—

**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ। यत्रान्यत्पश्य त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तद-मृत मथ यदल्पं तत्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।"** छान्दोग्य ७, २४, १।

जिस भूमारूप परमात्मा में कोई द्रष्टा किसी साधनद्वारा किसी पदार्थ को भी न देख सकता हो न सुन सकता हो और न निश्चय कर सकता हो, अर्थात् जिसमें समस्त सांसारिकव्यवहार तथा पदार्थों का अभाव हो, वही सर्वद्वैत के अभाव से उपलक्षित आत्मतत्त्व भूमापदार्थ है। जिस अज्ञानदशा में द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी भिन्न-भिन्न भासती है वह अल्प—परिछिन्न स्थितिहै। जो भूमा है वही अमृत-नाशरहित मोक्षस्वरूप है। और जो अल्प है वह मर्त्य-नाशवान है।

ना०—महाराज! वह भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है?

भ० स०—अपने स्वरूप में या यों समझिये कि स्वरूप में भी नहीं। अर्थात् सर्वाधार और स्वयं निराधार है।

**गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति हिरण्यं दास भार्यं क्षेत्रा-ण्यायतना नीति नाहमेवं ब्रवीमीति। होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति।"** २४, २।

**"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षि-णतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्व मित्यथातो अहंकारादेश एवाह-मेवा धस्तादात्मो परिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो हमु-त्तरतो हमवेदꣳ सर्व मिति।"** ७, २५, १।

**अथात आत्मादेश एवात्मैवा धस्तादात्मो परिष्ठादात्मा पश्चा-दात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वानएवं विजानन्नात्मरति रात्मक्रीड आमिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ ये अन्यथातो विदुरन्य राजान स्ते क्षण्य लोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।** ७, २५, २।

तस्य ह्वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मतः आशात्मतः स्मर आत्मतः आकाश आत्मतस्तेज आत्मतः आप आत्मत आविर्भाव तिरोभावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो नामात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्पात्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मंत्र आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति। ७, २६, १।

तदेव श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतदुखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुन श्चैकादश इति स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳ शति राहारशुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितिकषापाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्या चक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥

जब नारदजीद्वारा भूमा ब्रह्म की महिमा तथा प्रतिष्ठा पूछे जाने पर भगवान् सनत्कुमारजी ने स्वमहिमा में भूमा की प्रतिष्ठा बताकर उसका निषेध भी कर दिया, तब इन परस्परविरुद्ध वचनों को सुनकर नारदजी को सन्देह हुआ। नारदजी की इस सन्देहास्पदस्थिति को देखकर भगवान् सनत्कुमारजी लोकप्रसिद्ध महिमा शब्द का अर्थ बताकर उनके सन्देह को दूर करते हैं—

लोक में व्यवहारिकपुरुष गाय, घोड़ा हाथी, सुवर्ण, दास, दासी, स्त्री, भूमि और गृह आदि को ही महिमा कहते हैं और इनके सहारे ही मनुष्य स्थित रहते हैं। अतः स्थूलदृष्टि से पुरुषों की यह महिमा है। परन्तु इसी प्रकार भूमा भी अपने स्वरूप से भिन्नपदार्थों में आश्रित है, ऐसा मेरे कथन का आशय नहीं है। लोक में तो परस्परभिन्नवस्तुओं का ही आधाराधेयभाव होता है। परन्तु भूमारूपब्रह्म से भिन्न तो कोई पदार्थ है ही नहीं। पट में तन्तुवत् ब्रह्म स्थित है, यही मेरा कहना है। भूमा ही ऊपर नीचे, आगे, पीछे, दक्षिण, उत्तर सर्वओर वर्तमान है। हमलोग जो कुछ इन्द्रियों और मनद्वारा जानते हैं यह सब भूमा ही है। कारण, भूमा से भिन्न कोई वस्तु है नहीं। तब इन्द्रिय आदि उससे भिन्न किसको विषय करती हैं और वह भूमा रहता भी कहाँ है? "यत्र नान्यत्पश्यति" इस श्रुति में भूमा को आधाररूप से और "स एवाधस्तात्" इस श्रुति में उसी भूमा को परोक्षरूप से कथन किया गया है। इस से ज्ञात होता है कि वह भूमा-ब्रह्म जीव से भिन्न होगा। श्रोता के मन में ऐसा सन्देह उत्पन्न न हो, इसलिये जीववाचक अहंशब्द

से भूमा का निर्देश करते हैं। "मैं ही ऊपर, नीचे आगे, पीछे, उत्तर दक्षिण सर्व ओर वर्तमान हूँ। मैं ही सर्वरूप हूँ।" परन्तु अज्ञानीजीव "अहं" शब्द का प्रयोग देहादि के लिये करते हैं। पर कोई देह आदि को ही आत्मतत्त्व न समझ ले इस लिये शुद्धस्वरूपवाचक आत्मशब्द से उसे निर्देश करते हैं। "आत्मा ही ऊपर नीचे, आगे, पीछे, उत्तर और दक्षिण है और वही सर्वरूप है।"

## जीवनमुक्तमहिमा.

इस प्रकार सर्वरूपात्मक आत्मा का उपदेश करने के पश्चात् भगवान् सनत्कुमारजी आत्मदर्शी जीवनमुक्त महात्मा की महिमा वर्णन करते हैं—

श्रवणमननादिद्वारा भूमा-ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ विद्वान आत्मा में ही रति-क्रीडा आदि करता है। उसे मिथुनजन्य आनन्द मिथुननिरपेक्ष सेही प्राप्त होता है। अज्ञानी-अविद्वान को जो आनन्द शब्दादिद्वारा प्राप्त होता है विद्वान को वह सब शब्दादि के विना केवल आत्मा में ही प्राप्त होता है। देहपात के अनन्तर वह तत्त्वज्ञानी विदेहमुक्त स्वराट्—स्वस्वरूप से प्रकाशमान होता है। अर्थात् वह महापुरुष शरीर छोड़ने के पश्चात् सर्वात्मक, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर रूप से स्थित होता है। शरीर रहते भी उसका इच्छानुसार सर्वलोकों में गमनागमन होता है। जो संकल्प करता है, पूर्ण होता है।

इस प्रकार आत्मदर्शी विद्वान के गुणों का वर्णन कर उसकी स्तुति करने के पश्चात् अविद्वान की निन्दाद्वारा विद्वान की स्तुति करते हैं—

जो लोग पूर्वोक्त भूमा को नहीं जानते वे पराधीन और विनाशीलोकों में रहते हैं। ऐसे लोगों का अपनी इच्छानुसार अन्यलोकों में गमनागमन नहीं होता। भूमा के साक्षात्कार से सर्वात्मकभाव लाभ करनेवाले आत्मतत्त्वज्ञानी महापुरुष में सृष्टि कर्तृत्व आदि शक्तियाँ आविर्भूत हो जाती हैं। वे किसीप्रकार के साधनों की अपेक्षा न रखकर केवल संकल्पमात्र से सृष्टि की रचना कर सकते हैं। उक्तरीति से मनन निदिध्यासनादि करके आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले तत्त्ववेत्ता के आत्मा से प्राण आशा, स्मर, आकाश, अप, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, वल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मंत्र और कर्म उत्पन्न होते हैं और आत्मा से ही रमण क्रीड़नादि व्यवहार सिद्ध होते हैं।

इस ब्राह्मणोक्तअर्थ में यह मंत्र भी प्रमाण है—उक्त आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान न मृत्यु को देखता है न रोग को और नही दुःख को अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि आत्मवेत्ता न मरता है न दुःखी होता है न रोगी। सर्ववस्तु को अपना आत्मा समझता है। इच्छामात्र से सर्ववस्तु को प्राप्त कर लेता है। वह ईश्वरस्वरूप विद्वान सृष्टि से पूर्वकाल में एक स्वरूप होता है और सृष्टिकाल में *तीन, पांच, सात,

* (३) आत्मा, माया, और मायाकार्य। (५) इन्द्रियां या भूत। (७) भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, ये सात लोक। (९) आदित्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु, नामके नव ग्रह। (११) दश इन्द्रियां एक मन। (११०) दिव्यादिव्यभेद से प्रत्येक शब्दादि विषय दश दश प्रकार का है, अतः प्रत्येक इन्द्रिय की तत्तदाकार वृत्तियां दशदश प्रकार की होने से एक सौ दश हुईं। (२१६००) अहोरात्र में प्राणियों के श्वासप्रश्वासों की संख्या इक्कीसहजार छःसौ होती है। उक्त उपाधियों के सम्बन्ध से वस्तुतः एक भी आत्मा ततसंख्या को लाभ करता है।

नव, एकादश, एक सौ, दशएकविंशति सहस्रादि रूपों को धारण कर लेता है। प्रलयावसर में फिर एकरूप और स्वतंत्र हो जाता है।

## आहारशुद्धि.

अब अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय बतलाते हुए भगवान् सनत्कुमारजी कहते हैं—सर्वप्रथम मनुष्य को आहार को शुद्ध रखना चाहिये क्योंकि आहारशुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। सत्वशुद्धि से शास्त्रोक्त अर्थ में ध्रुवस्मृति होती है। स्मृतिलाभ होने पर सबग्रन्थियों का विशेषरूप से प्रमोक्षण होता है। अर्थात् शास्त्रविहित आहार के सेवन तथा शास्त्रनिषिद्ध आहार के वर्जन से चित्त निर्मल हो जाता है और फिर चित्त में भूमारूप आत्मतत्त्व का स्मरण सदा बना रहता है। उक्त स्मृतिलाभ से हृदयाश्रित अविद्यामूलक जन्ममरणादिरूप अनेक बन्धनों के कारण रागद्वेषादि ग्रन्थियों का सर्वथाविच्छेद हो जाता है।

श्रुतिभगवती इस आख्यायिका का उपसंहार करती है कि रागद्वेषादि कषाय हीन, लोकशास्त्रप्रसिद्ध मुनिवरनारद को श्रीसनत्कुमारजी ने अविद्या से विनिर्मुक्त कर आत्मतत्त्व का दर्शन कराया। इन्हीं सनत्कुमारजी को विज्ञजन स्कन्द नाम से भी जानते हैं। ७-२६-२"

"एवं विजानन्नात्मरति रात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।" आदि श्रुति का अर्थ तो टीकासहित लिखा जा चुका है, उसके दोहराने की आवश्यकता नहीं। श्रुतिभगवती के उक्त शेष उपदेश पर भी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि श्रुतिभगवती जीव को उभयलोकों में सुखशान्ति देनेवाली है। इसीवास्ते उसका यह उपदेश है कि जो पुरुष भूमा—ब्रह्म को स्वात्मरूप से साक्षात्कार कर लेता है वह आत्मरति—सूक्ष्मविषयसुख से निरपेक्ष हो जाता है। जो पदार्थ अपने वास्ते किसीवस्तु की अपेक्षा नहीं रखता प्रकृति के नियमानुसार जगत को उसकी अपेक्षा रखनी पड़ती है। जैसे सूर्य ब्रह्माण्ड से अपनी अपूर्णता को पूर्ण करने की अपेक्षा नहीं रखता तो जगत को ही उसकी अपेक्षा रखते हुए उसके अधीन रहना तथा अपना जीवन उसके हाथों में सौंपना पड़ता है। इसीप्रकार स्वयं आनन्दस्वरूप भूमा-ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला आत्मतत्त्ववेत्ता महापुरुष सूर्य के समान निरपेक्ष हो जाने पर स्वराड् हो जाता है। "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति—उस महापुरुष का सर्वलोकों में इच्छानुसार गमनागमन होता है।" द्वारा स्वयं श्रुतिभगवति "स्वराड्" शब्द का भाव निरपेक्षनियंत्रणकर्त्ता कथन करती है। यहाँपर गमनागमन तो उपलक्षणमात्र है तात्पर्य यही है कि भूमा-ब्रह्म का उपासक सर्वप्रकार के ऐश्वर्यों का भागी हो जाता है। मुण्डकश्रुति भी कहती है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्वः कामयते याँश्च कामान्
तं तं लोकं जयते ताँश्च कामां स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूति कामः।

विशुद्धसत्व आत्मज्ञानी जिन जिन लोकों तथा कामनाओं का चिन्तन करता है उनको अवश्य प्राप्त कर लेता अथवा करा देता है। इसीवास्ते ऐश्वर्य की कामना रखनेवाले लोगों को आत्मज्ञानी की सेवासुश्रुषा करने का उपदेश किया गया है।

छान्दोग्य तथा मुण्डक श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि अपरोक्ष आत्मज्ञान के उदय होजाने पर आत्मज्ञानी में सर्वप्रकार के ऐश्वर्य का होना आवश्यक है। क्योंकि दीपक जलाने पर प्रकाश और तेज का अभाव हो नहीं सकता। श्रौत उपदेशद्वारा भगवान् सनत्कुमारजी ने उसी ज्ञान की महिमा का निश्चय कराया है।

## उदासीनधर्म और उपासना.

उदासीनसम्प्रदाय में प्राचीनकाल से यही धारणा चली आ रही है। उदासीनधर्मानुयायी महात्माओं का अब भी यही विश्वास है कि जब तक सर्वऐश्वर्यों का उदय न हो तब तक आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न करते ही रहना चाहिये। उदासीनसम्प्रदाय के अन्दर दैवीऐश्वर्य ही आत्मज्ञान की कसौटी समझे जाते हैं। यह दूसरी बात है कि आत्मज्ञानी दिव्यऐश्वर्यों (अष्टसिद्धियों) को तुच्छ एवं वहिर्मुखता का कारण समझकर सँसार में उन्हें प्रकट न करें, उनमें इन ऐश्वर्यों का होना निश्चित है।

किसी विशेविघ्नबाधा के कारण भूमा-ब्रह्म साक्षात्कारात्मकसिद्धि का उपासक को लाभ न भी हो, तब भी उसकी इसलोक तथा परलोक में कोई क्षति नहीं होती। उपासना की उत्कृष्ट तारतम्यता के अनुसार ही उस उपासक को ऐहिलौकिक तथा पारकौकिक उत्कृष्ट-अपकृष्टगतियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि विघ्नवशात् आत्मसाक्षात्कार से पूर्व ही उपासक का शरीरपात हो जाए तो उपासना की प्रखरता के अनुसार ही वह ब्रह्मलोक, तपलोक, जनलोक आदि लोकों को प्राप्त कर लेता है। अथवा इस लोक में भी ऐसी जाति, कुल या वर्ण में उसका जन्म होता है जहाँ उसे हरप्रकार की स्वतंत्रता और पूर्वसँस्कारों के अनुसार उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो। आत्मदर्शन की ओर उनकी स्वाभाविकप्रवृत्ति होती है। वह प्राणीमात्र को अपने ही आत्मा के समान समझता है। न उसका किसी से विरोध होता है और नही दूसरा कोई उसका विरोधी होता है। जिस देश अथवा जाति में ऐसे आत्माओं का जन्म होता है उसका ऐश्वर्य चिरस्थाई होता है। श्रुति के इसी तात्पर्य को कथन करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याण कृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्य कृताँल्लोकान् उषित्वा शाश्वती समाः।
शूचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभि जायते॥

कृतकृत्य उपासक की गति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! परमात्मा की उपासना करनेवाले का अधःपात न इसलोक में होता है न परलोक में। श्रेयनिमित्तक सदाचार में निरत कोई पुरुष भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह चिरकाल तक पवित्रलोकों में निवास करता है और फिर ऐश्वर्यशाली पवित्रकुल में जन्म लेता है। प्रकृति स्वयं ही ब्रह्म की उपासना करनेवालों की योग्यता के अनुकूल ऐसा वायुमण्डल तैयार रखती है, जहाँ उन्हें उन्नति का अवसर मिलता रहे।

भूमा की उपासना जीव की व्यावहारिक तथा पारमार्थिक-उन्नति का कारण होती है। भगवान् सनत्कुमारजी ने भी नारद को यही बात समझाई है।

नामादि की उपासना का रहस्य बतलाते हुए भगवान् सनत्कुमार ने साथ ही भक्ति का भी उपदेश कर दिया है। उपासना किसी नियतविद्या का अवलम्बन लेकर उपासक को ध्येय की ओर बढ़ाती है परन्तु भक्ति लक्ष्य-विषयक प्रकृष्टप्रेमद्वारा ही सर्वसाधनों का प्रयोजन पूर्ण कर भक्त को इष्ट से मिला देती है। क्योंकि भक्ति मोक्ष का अन्तरङ्गसाधन है और उसकी चरमावस्था का नाम ज्ञान है। भक्ति और ज्ञान के साधनों में अन्तर है, परन्तु उन दोनों का फल एक ही होता है। भक्त और ज्ञानी दोनों के अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्म और ईश्वर-रूप में परिणत हो जाने को ही ब्रह्मसाक्षात्कार, ईश्वरसाक्षात्कार, ज्ञान अथवा विद्या कहते हैं।

## आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः

इसके पश्चात् भगवान् ने, अपने को भूमा से जुदा माननेवाले लोगों की गति बताकर धारणा और वासना का परस्पर बीज वृक्ष का-सा सम्बन्धनिरूपण कर नारद से कहा—हे नारद! अद्वैततत्त्व लाभ के लिये श्रौतस्मार्तकर्म, उपासना, भक्ति, ज्ञानादि जितने साधन बतलाए गये हैं उन सब में सफलता का मूलसाधन आहारशुद्धि है। क्योंकि "जैसा अन्न वैसा मन" "अन्नमयं हि सोम्य मनः—हे सोम्य! मन अन्नमय है" पुरुष जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसका मन हो जाता है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि दूषितमन में दूषितसंकल्प उत्पन्न होते हैं और शुद्धमन में शुद्ध। सजातीय स्थिरधाराप्रवाही संकल्पों का नाम ही विचार, धारणा तथा निश्चय है और विचार के अनुसार ही मनुष्य बाह्यकर्मों में प्रवृत्त होता है। कर्मों के अनुसार मनुष्य का उत्थानपतन हुआ करता है। इस से सिद्ध हुआ कि दूषितअन्न का सेवन करने वाले का आन्तरपतन के साथ बाह्यपतन भी अवश्यम्भावी है। क्योंकि आहार का मन पर प्रभाव पड़ता है "यद् मनसाध्यायति तद्वाचावदति यद्वाचावदति तत् कर्मणा करोति"। कहने का प्रयोजन यह कि मनुष्य के पतन का प्रधानकारण दूषित अन्न भी है। प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि अतिसूक्ष्म होने पर भी मन स्थूलपदार्थ के प्रभाव से प्रभावित होता है। जैसे कोई भयानकवस्तु सामने आने पर मन की उल्लासमयीदशा भय तथा शोक में परिवर्तित हो जाती है। मन के परिवर्तन के साथ ही शरीर में भी विकृति पैदा होती है। सात्विकआहार अथवा पदार्थ सामने आने पर शोकमयतमःसमाच्छादित मन की दशा को आनन्दोल्लास में परिवर्तित कर शरीर को भी आनन्दोल्लसित कर देता है। मादिकपदार्थों का प्रभाव तो हम देखते ही हैं। मादिकद्रव्य का सेवन करनेवाला मनुष्य अपने संचितविचारों का नियंत्रण नहीं कर सकता। मन बेवस हो जाता है और मनुष्य से कई प्रकार के अनर्थ करा डालता है। यह सब दूषितआहार का ही प्रभाव तो है। शास्त्रों में इसीवास्ते "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः" पर विशेष ज़ोर दिया गया है। हमारे शास्त्रों में इस विषय पर जितनातात्विक विवेचन किया गया है, उतना अन्य किसी धर्म के ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। हमारे स्मृति, पुराण, इतिहास तथा वैद्यकग्रन्थों से प्रकट होता है कि हमारे पूर्वज आहार के विषय में कितने सावधान रहते थे।

हिन्दूजाति की दीनहीन दशा का एक मुख्यकारण यह भी है कि इस नियम का उस सावधानी के साथ पालन नहीं होता। लोग धर्मशास्त्रनिर्दिष्ट अभक्ष्य, अपेय, प्रतिग्रहदोषदूषित, वृत्तिदोषदूषित, जातिदोषदूषित, देवपूजानिमित्तक अन्न का विचार नहीं करते।

भगवान् सनत्कुमारजी ने नारदजी को "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः" का जो उपदेश किया है, अपने आदिमाचार्य के इस आदेश का उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा आजतक श्रद्धापूर्वक पालन करते चले आ रहे हैं। उनके स्थानों में जहाँ पूजा, पाठ, वेदाध्ययन आदि नियमों की ओर विशेषध्यान दिया जाता है वहाँ आहार शुद्धिविषयकनियमों को भी कर्तव्य जानकर पालन करते हैं। इस नियम का यहाँ तक ध्यान रक्खा जाता है कि उदासीनमहात्मा अपने आश्रमों में देवस्थानों का निर्माण भी कम करते हैं। ताकि देवपूजानिमित्तक अन्नसेवन करने का भय न रहे। यदि किसी स्थानधारीमहात्मा ने कोई देवस्थान बनवाया भी है तो वह अपने वैय-क्तिक धार्मिककृत्यों की पूर्ति के लिये बनवाया है, उसकी पूजा ग्रहण करने के विचार से नहीं। यही कारण है कि उदासीनसम्प्रदाय में देवोत्तरसम्पत्ति का स्वामी बनने की कभी लालसा उत्पन्न नहीं हुई। प्रत्युत जहाँतक हो सकता है देवार्चनार्थ धनदान करने की ही रुचि रहती है। उदासीनधर्मावलम्बी महात्माओं के पास जितनी सम्पत्ति पहिले रही अथवा अब है वह या तो किसी महात्मा के जप, तप, विद्याप्रचार, धर्म अथवा देश की सेवा आदि परोपकारपूर्ण गुणों से प्रभावित होकर गुणग्राही प्रेमियोंद्वारा भेंट की हुई है या उन महात्माओं के अपने परिश्रमद्वारा उपार्जन की हुई है। कुशा को हाथ में लेकर कभी कोई संकल्पित सम्पत्ति उदासीनमहात्माओं ने ग्रहण नहीं की। यही कारण है कि डाक्टर, वकील, सरकारीकर्मचारी, व्यापारी आदि लोगों की परिश्रमद्वारा उपार्जन की हुई सम्पत्ति के समान उदासीनमहात्माओं की उपार्जन की हुई सम्पत्ति भी धर्मादा नहीं कहला सकती। यही क्यों? कुशा को हाथ में लेकर दान न लेने के कारण ही किसी उदासीनमहात्मा को दीक्षा ले लेने के अनन्तर भी पूर्वआश्रम—पैतृक-सम्पत्ति पर उस अवस्था में कानूनी हक बना रहता है जिसमें उस सम्पत्ति का कोई दूसरा समीपी अधिकारी नहीं रहता। उदा-सीनमहात्माओं के पास रुपये में से लगभग बारह आना ऐसी ही सम्पत्ति है। ऐसी सम्पत्ति को न्यायतः धर्मादा माना ही नहीं जा सकता। उदासीनसम्प्रदाय का ऐसा मकान तो एक भी नहीं निकलेगा जिसकी नींव धर्मादासम्पत्ति के आधार पर रक्खी गई हो। इस सावधानी का कारण यही है कि उदासीनमहात्मा अपने आदिमाचार्य भगवान् सनत्कुमारजी के "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः" उपदेश का हृदय से पालन करते रहे और आज भी कर रहे हैं।

# (९ तरङ्ग)

## भ० सनत्कुमार और भक्ति

भगवान् सनत्कुमारजी ब्रह्मनिष्ठ, और विष्णु का अवतार होते हुए भी स्वयं सदा भक्ति में तत्पर और सर्वसाधारण में भक्ति का प्रचार करते रहे हैं। आप

विष्णुदेव के समान शंकर और शक्ति के भी परमभक्त थे। अर्थात् पञ्चदेव उपासक थे। यही कारण है कि उनके चरणचिन्हों पर चलनेवाले उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा अपने आदिमाचार्य के उपदेशानुसार भक्ति को मुक्ति का मुख्यसाधन एवं पञ्चदेवोपासना को अपना मुख्यकर्तव्य समझते हैं।

शिवपुराण सनत्कुमारसंहिता के नवमअध्याय में लिखा है कि श्रीसनत्कुमारजी चिरकाल तक भगवान् शंकर की अराधना करते रहे। उनकी अगाधभक्ति को देखकर भगवान् भूतभावन आविर्भूत हुए और बोले—वत्स! मैं तुम पर बड़ा प्रसन्न हूँ और तुम्हारी इस भक्ति का पुरस्कार सर्वप्रकार के दैवीऐश्वर्य तुम्हें देता हूँ। इस से तुम संसार में निर्भय तथा स्वच्छन्द होकर विचरोगे और भविष्य में भी—

पाराशर्य इतिख्यात उत्पत्स्यति महातपाः।
वेदव्यासः स धर्मात्मा ज्ञानवान्दीर्घदर्शनः॥
व्यासः कमलपत्राक्षः स ते शिष्यो भविष्यति।

पराशर के यहाँ एक वेदव्यासनामक बड़ा ज्ञानी, दीर्घदर्शी तथा धर्मात्मापुत्र होगा। हे सनत्कुमार! वही कमलपत्र के समान विशाललोचनों वाला व्यास तुम्हारा शिष्य होगा और तुम्हारे निर्धारित कार्य को पूर्ण करके तुम्हारी कीर्ति को चमकाएगा। इतना कहकर भगवान् शंकर ने श्री सनत्कुमारजी की सपर्या को स्वीकार किया और फिर वहीं अन्तर्धान हो गये।

इसी शिवपुराण की विश्वेश्वरसंहिता के चौथेअध्याय में लिखा है कि एक समय व्यासजी सरस्वतीनदी के तट पर तप कर रहे थे, जगत उपकारार्थ विचरते हुए भगवान् सनत्कुमारजी भी उधर ही आनिकले। व्यासजी ने भगवान् सनत्कुमार को देखा तो स्वागत के लिये हाथ जोड़कर खड़े हो गये और सादर लेजाकर उच्च आसन पर बैठाया। स्वयं नीचे बैठ गये। पूजासत्कार आगतस्वागत की क्रिया हो चुकी तो व्यासजी ने हाथजोड़ कर नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—भगवन्! मैं तपस्या तो कर रहा हूँ परन्तु शान्ति तथा ज्ञान नहीं होता। अहोभाग्य, आपके दर्शन हुए कृपाकर आप ही मुझे शान्ति का कोई उपाय बताइये।

यह सुनकर सनत्कुमारजी बोले—वत्स! मैं भी एक समय हिमालय में तप कर रहा था, भगवान् शंकर की आज्ञा से नन्दिकेश्वर वहाँ आए और मुझसे कहने लगे "केवल तप मात्र से विशेष लाभ नहीं हो सकता।

उवाच मह्यं सस्नेहं मुक्तिसाधन मुत्तमम्।
श्रवणं कीर्तनं शम्भो मननं वेदसम्मतम्॥ १९॥

उन्हों ने मुझे बड़े प्रेम से बताया कि सत्संग में शंकर की महिमा का श्रवण करना, उनके गुणों को गीति में गाकर कीर्तन करना और उनके गुणों का बार बार चिन्तन अर्थात् मनन करना यही मुक्ति का उत्तमसाधन है।" आप भी ऐसा ही किया करें, निश्चय ही शान्ति प्राप्त होगी।

उपरिलिखित दोनों कथाओं से सिद्ध होता है कि भगवान् सनत्कुमारजी जहाँ स्वयं सदैव भक्ति में तत्पर रहा करते थे वहाँ अपने शिष्यों और सर्वसाधारण में

भी भक्ति का प्रचार करते रहते थे। पुराणों में भगवान् सनत्कुमारजी के भक्ति उपदेश की अनेक कथाएं आती हैं, परन्तु उनका यहाँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं समझा गया। व्यासजी और सर्वसाधारण को भक्ति का उपदेश करने से भगवान् सनत्कुमारजी का अभिप्राय यही था कि भक्तिसमुचितज्ञान और भक्तिपरिवर्धित तपयोगादि ही शान्ति तथा मोक्ष के दाता हैं। भक्तिरसामृत के विना मोक्ष तथा शान्ति के सर्वप्रकार के अन्यसाधनरूप अंकुर मुरझा कर नीरस होजाते हैं। और ऐसे साधन अंकुरों में फल का आना कठिन हो जाता है। प्रथम तो भक्तिविहीन साधन की सफलता की आशा ही दुराशामात्र है। यदि फल होता भी है तो इतनी देरी के बाद कि इस कष्टसाध्य फलप्राप्ति को देखकर दूसरा कोई उन साधनों का अनुष्ठान करने का साहस नहीं कर सकता। भक्ति के विना तो सर्वमोक्षोपयोगी साधन पुस्तकों में धरी रहनेवाली वस्तु ही बन जाते हैं। संसार को उनसे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।

भगवान् सनत्कुमारजी ने जिस श्रवण, कीर्तन और मननात्मक प्रेमभक्ति का व्यासजी को उपदेश किया वही इष्ट में उत्कृष्टप्रेम उत्पन्न करने में समर्थ है। वास्तव में भक्ति कहते ही इष्ट में अतिउत्कृष्टप्रेम को हैं। वही—

"भक्ति र्ज्ञानाय कल्पते।"

उत्कृष्टभक्ति ही ज्ञान के रूप में परिणत होजाती है। यही कारण है कि भक्ति को भी मोक्ष का स्वतंत्र साधन समझा जाता है इसी वास्ते भगवान् सनत्कुमारजी ने अपने लगाए हुए धर्मवृक्ष उदासीनसम्प्रदाय में पञ्चदेवोपासना को मुख्य स्थान दिया और अपने आचार उपदेशद्वारा सदा इसका प्रचार किया है। भक्ति का महत्व इससे भी स्फुट है कि व्यासजीद्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् सनत्कुमारजी ने अपने शब्दों में ही नहीं किन्तु अपने आराध्यदेव भगवान् शंकरद्वारा नन्दिकेश्वर के हाथ भेजा हुआ सन्देश सुनाकर उसका उत्तर दिया है। ताकि व्यासजी को भक्ति की सफलता में कोई सन्देह रह न जाए।

भगवान् सनत्कुमारजी विष्णु का अवतार हैं, उनसे यह भी छिपा नहीं है कि वेदव्यासजी भी विष्णु के अवतार हैं फिर भी आप वेदव्यासजी को भक्ति का उपदेश करके यह सूचित करते हैं कि इस अवस्था में भी हमें अपने आचार से यह सिद्ध करना होगा कि शान्ति तथा मोक्ष के लिये जीव को सर्वविभूतियों में निजदैवत दृष्टि रखकर उनका आदर करते ही रहना चाहिये। इससे जगत् में भ्रातृभाव, विश्वप्रेम और अद्वैतभावना परिपुष्ट और जीव का जीवत्वभाव दूर होकर परमात्म भाव का आविर्भाव होगा।

पुराणों के अवलोकन से पता चलता है कि श्रीवेदव्यासजी और श्रीनारदजी ने अपने गुरु भगवान् सनत्कुमारजी के इस उपदेश का पालन करते हुए सदैव ही भक्ति का प्रचार किया है। हमारे शास्त्र तो भक्ति की महिमा से ही भरे हुए हैं। यदि शास्त्रों में से भक्ति-महिमा तथा भक्तिविषयक उपदेशों को पृथक् कर लिया जाए तो शेष समस्तप्रकरणों से भक्तिविषयकशास्त्रभाग अधिक प्रतीत होगा। दूसरे यह विषय सर्वसम्मत है। संसार में ऐसा कोई भी मत नहीं जो किसी न किसी दृष्टि से अध्यात्मविषय में भक्ति अङ्ग को ही मुख्यस्थान न देता हो। ईश्वरभक्ति

देवभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति आदि सब भक्ति के ही अङ्ग हैं। कोई नास्तिक से नास्तिक भी भक्ति से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। अतः इस विषय को पुष्ट करने के लिये यहाँ युक्तियां देना या शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत करना अनावश्यक जान पड़ता है। भगवान् सनत्कुमारजी ने अपने उपदेशद्वारा जिस प्रेमभक्ति का बीज बोया था उनके चरणचिन्हों पर चलनेवाले उदासीनमहात्मा अपने आचार और प्रचार द्वारा बड़ी सावधानी से उसकी रक्षा तथा उन्नति में सदैव संलग्न रहे हैं। इस कलिकाल में भी उदासीनसम्प्रदाय में भक्ति का जो महत्व माना जाता है दूसरीजगह ऐसा देखने में कम आता है। इष्ट के लिये अतिउत्कृष्टप्रेम देवताओं के लिये भक्तिभाव, गुरुचरणों के लिये हार्दिकश्रद्धा, विरक्त चतुर्थाश्रमियों के लिये आदरसत्कार और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का क्रियात्मकरूप जैसा उदासीनसम्प्रदाय संसार के सामने पेश करता चला आ रहा है वैसा दूसरी जगह कम देखने में आता है। यह सब भगवान् सनत्कुमारजी के उपदेश और वेदव्यास नारदादि महर्षियों के प्रचार का ही प्रताप है, जिनका अनुकरण करना उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा सदैव अपना कर्तव्य समझते रहे हैं।

# ( १० तरङ्ग )

## ईश्वरावतार.

यद्यपि वेदभगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में ही घोषणा करदी थी कि—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश॥
(ऋ० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)

धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने पर भक्तों की प्रार्थनानुसार भगवान् स्वयं माया के संयोग से अवतारादि नानाप्रकार के रूप धारण करते हैं। भगवान् के अवतार वैसे तो अनन्त हैं परन्तु उनमें से दस ही प्रधान हैं।"

तथापि वेद के इस उपदेश का प्रचार सर्वप्रथम भगवान् सनत्कुमारजी ने ही किया था। वे जहाँ सर्वसाधारण को यह उपदेश करते रहे कि भगवान् ने अवतार धारण करके जो उपदेश किये हैं उनसे लाभ उठाया जाए, वहाँ ब्रह्माजी से विषय और इन्द्रियों के पृथक्करण की जिज्ञासा करके लोगों को अमली तौर पर निश्चय करा दिया कि अपने भक्तों की प्रार्थनानुसार भगवान् किसी न किसी विग्रह में अवतार धारण करते हैं। अध्यात्मरामायण उत्तरकाण्ड के तृतीयअध्याय में भगवान् रामचन्द्रजी तथा अगस्त्यजी का संवाद वर्णन करते हुए श्रीवेदव्यासजी लिखते हैं—

## रावण को उपदेश.

एकसमय रावण त्रिलोकी का भ्रमण कर रहा था, उस भ्रमण में एक जगह उसको भगवान् सनत्कुमारजी के दर्शन हुए। रावण ने नम्रतापूर्वक उनके चरणों पर

प्रणाम किया और नीचे पड़े हुए आसन पर बैठ गया। कुशलप्रश्न के अनन्तर रावण ने हाथ जोड़कर पूछा—

कोन्वस्मिन् प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः।
देवाश्च यं समाश्रित्य युद्धे शत्रुं जयन्ति हि॥
कं यजन्ति द्विजानित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः।
एतन् मे शंस भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर॥

भगवन्! देवों में वह सब से बली देव कौन है जिसका आश्रय ले कर देवगण युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं, द्विजगण जिसका यजन करके सर्वशक्तिसम्पन्न होते और योगिलोग जिसका ध्यान कर मुक्तिलाभ करते हैं? महाराज! ऐसे प्रश्नों के मर्म को जाननेवाला आपके समान दूसरा कोई नहीं है अतः आपही इस प्रश्न का उत्तर देकर मेरी जिज्ञासा को शान्त करने की कृपा कीजिये।

योगदृष्टिद्वारा रावण के हृद्गतभाव को जानकर भगवान् सनत्कुमारजी बोले—पुत्र! तेरे भाव को हम समझ गये हैं, अब तू सावधान होकर इस प्रश्न का उत्तर सुन। जो स्थावरजंगमात्मकसृष्टि का पालक है, अव्यय अविनाशी और जन्मादि षड्विकारों से रहित है, जिसकी देवगण सदा स्तुति और सेवा किया करते हैं, वही नारायणपद के वाच्य हरि-विष्णु सर्वदेवों में प्रधान हैं। जिस कमल से, सर्वप्रजापतियों के स्वामी और सारे स्थावरजंगमात्मक जगत को रचनेवाले ब्रह्माजी पैदा हुए, वह उसी विष्णुभगवान् की नाभि से उत्पन्न हुआ था। उसी विष्णुभगवान् का आश्रय लेकर देवलोक शत्रुओं पर विजयप्राप्त करते हैं, उसी का यजन कर द्विजगण सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं और नानाविध साधनाओंद्वारा उसी का ध्यान करके ऋषि, मुनि तथा योगीलोग मुक्तिलाभ करते हैं।

रावण ने फिर प्रश्न किया—भगवन्! विष्णुद्वारा मारे जानेवाले दैत्यदानव तथा राक्षसलोग किस गति को प्राप्त होते हैं? कृपाकर यह भी मुझे बताइये, बड़ी अनुग्रह होगी।

भगवान् सनत्कुमारजी बोले—वत्स! देवताओं के हाथों युद्ध में मारे जानेवाले लोग स्वर्ग में जाते हैं और पुण्यक्षय हो जाने पर फिर मृत्युलोक में जन्म लेते हैं। जो लोग विष्णु के हाथ से मारे जाते हैं वे मुक्त हो जाते हैं और सदा के लिये जन्ममरण के चक्र से छूट जाते हैं।

## सगुणब्रह्मस्वरूप.

भगवान् सनत्कुमारजी के इन वचनों को सुनकर रावण बड़ा प्रसन्न हुआ और मन में विचार करने लगा कि मैं विष्णु से वैर पैदा करके उनसे अवश्य युद्ध करूँगा। भगवान् सनत्कुमार भी रावण के इस भाव को समझ गये और बोले-हे सौम्य! तेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। परन्तु कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। अपनी आशा पूर्ति की भविष्यद्वाणी को सुनकर रावण बड़ा पसन्न हुआ। तब भगवान् सनत्कुमारजी, उसको सगुण और निर्गुण का बोध कराने के लिये,

कहते हैं—रावण ! हम तुम्हें उस रूपरहित मायावी परमात्मा का स्वरूप बतलाते हैं सावधान होकर श्रवण कर। वे परमात्मदेव नदनदीयावत् सर्वजगत को अन्तरबाह्य व्याप्त करके स्थित हैं। वे ही ओंकार रूप से वाक्य, गायत्री आदि वाङ्मय होकर और नामनामी का अभेद होने से ब्रह्माण्डरूप होकर स्थित हैं। वही अव्याकृत परमात्मा सर्व का आधार और सर्वरूप धारण करनेवाला है। अधिक कहने से क्या? देव, सूर्य, समुद्र, काल, कर्मफल, पृथिवी आदि और मृत्यु, जन्म, मेघ, वसु, रुद्र, ब्रह्मा, दैत्य, दानव आदि सब उसी परमात्मा के रूप हैं। सब भावों को भी वही उत्पन्न और नाश करता है। यह सारा जगत उसकी क्रीड़ा मात्र है। परन्तु उसके अव्यक्तस्वरूप को प्राप्त करना अतिदुष्कर है। क्योंकि न वह स्वरूप मन में आसकता है और नही उसका ध्यान किया जा सकता है। जो वस्तु ध्यान में ही न आ सके उसकी प्राप्ति के लिये पुरुष यत्न करे, यह असम्भव है। अतः जिस परमात्मा की उपासना से जगत के जीव श्रेयसाधन कर सकते हैं, विष्णुभगवान् का वही सगुणस्वरूप तुम्हें बतलाते हैं, दत्तचित्त होकर सुनो।

जो भगवान् सचराचर त्रिलोकी को व्याप्तकर स्थित हैं वही परमात्मदेव जगत्हित के लिये नीलोत्पलप्रभा के समान नीलवर्ण, शंख, चक्र, गदा, पद्म से सुसज्जित चतुर्भुजी, किरीट, मुकुट, वनमालादि नानाअलंकारों से अलंकृत, अनन्तअनंगों की छवि और अनन्तसूर्यों के प्रकाश को लजानेवाली विद्युत के समान प्रभायुक्त, कौशेय पटधारिणी, मनोहारिणी, भक्तवत्सला, भक्तवरदायिनी, और वामाङ्के श्रीयुक्त त्रिभुवनमोहिनीमूर्ति में आविर्भूत हो स्थित हैं। भगवान् का यही स्वरूप जीवों को मुक्ति देनेवाला और उनके दुःखों का विनाशक है। उसी को ध्यान में रखकर किया हुआ कर्म सफल हो सकता है और उसी का ध्यान करने से ध्यानयोग सफल हो सकता है। वही भक्तों की आर्त्तपुकार को सुनकर उन्हें दुःखजाल से मुक्त करता है। भक्तों को संसार से मुक्त करनेवाला भी वही है। प्रेमभक्तिरहित मनुष्य किसी साधन से भी उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता। भक्तों के प्रेमपाश में बँध कर स्वयं ही दर्शन देता है। हे रावण ! ध्यानयोगभक्तिद्वारा मुक्त होना चाहता है तो उस सगुण भगवान् का ही अवलम्बन ले। यदि तू अपने निश्चय के अनुसार उनके दर्शन चाहता है और उनके ही हाथों से अपनी मुक्ति की कामना रखता है तो कुछ दिन प्रतीक्षा कर। वही भगवान् संसार के कल्याण के लिये इक्ष्वाकुवंश में महाराज दशरथ के घर में अवतार धारण करेंगे और पिता की आज्ञा मानकर तेरे ही निमित्त वन में आयंगे। उस समय तेरी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।

## अवतारागमन की सूचना.

भगवान् सनत्कुमारजी के इस उपदेश को सुन रावण ने उनके चरणों पर सिर रखकर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और वहाँ से चला गया। उसदिन से श्रुत भगवान् के सगुण विष्णुस्वरूप का चिन्तन करता हुआ उनके अवतार की प्रतीक्षा करने लगा।

इस कथा से प्रकट होता है कि भगवान् सनत्कुमारजी जहाँ सर्वसाधारण में वेद के इस उपदेश का सदैव प्रचार करते रहते थे कि धर्म और साधुजनों की रक्षा तथा पाप का नाश करने के लिये भगवान् स्वयं अवतार धारण किया करते हैं-ताकि मानवसमाज की श्रद्धा और भक्ति भगवान् के चरणों में सदा बनी

रहे और पापवृद्धि के समय उसी से सहायता की याचना करते रहें-वहाँ भगवान् का अवतार होने से पूर्व ही सर्वसाधारण को सूचना दे देते थे, ताकि समय आने पर अपनी भावना के अनुसार भगवान् के अवतार से उचित लाभ उठाने से कोई वंचित न रह जाए। यही कारण है कि उन्हों ने भगवान् के आगमन की रावण को भी पहिले ही सूचना देदी। इतना ही नहीं, पुराण और इतिहास से यह भी प्रकट होता है कि भगवान् का अवतार होजाने पर भी आप उनकी महिमा का प्रचार करते रहते थे ताकि कोई भी अधिकारी भूल अथवा बेख़बरी में ही अवतारयुग से लाभ उठाने से वंचित न रह जाए।

## कृष्णमहिमा का प्रचार.

ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड के ८७ वें अध्याय में नन्दजी और श्रीकृष्ण के संवाद को वर्णन करते हुए श्रीवेदव्यासजी लिखते हैं—

एक समय नन्दजी और नारायणजी की वार्तालाप हो रही थी। उस वार्तालाप में नन्दजी ने एक प्रश्न यह भी किया-भगवन्! ब्रह्मा से आदि लेकर सब देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध, दैत्य, दानव जानने का यत्न करते हार गये, फिर भी वे लोग आपको नहीं जान सकते। जब वे लोग भी नहीं जान सकते तो दूसरा कोई कैसे जान सकता है? परन्तु आप कौन हैं? इस बात को जानने की मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा है। कृपा करके मुझे अपना जान कर स्वयं ही अपना परिचय दीजिये।

नन्दजी के इस प्रश्न का उत्तर भगवान् नारायण देने ही लगे थे कि उसी समय ब्रह्मतेज से दीप्तिमान ऋषिमुनिगण और सिद्धसमाज भगवान् कृष्ण के दर्शनों के लिये वहाँ पहुँच गया।

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय नमस्कृत्य पुटाञ्जलिः।
सिंहासनेषु रम्येषु वासयामास सादरम् ॥१२॥
पूजयामास विधिवत् कुशलप्रश्नपूर्वकम्।
परस्परं च संभाष्य मध्ये कृष्ण उवास सः ॥१३॥
एतस्मिन्नन्तरे कृष्णस्तेजो राशिं ददर्श सः।
ददृशुस्ते च मुनयोऽप्याकाशे च समुज्ज्वलम् ॥१४॥
तेजसोऽभ्यन्तरे वत्स कुमारं कनकप्रभम्।
यथैव पञ्चवर्षीयं नग्नं बालक मीप्सितम् ॥१५॥
आविर्बभूव सहसा सभामध्ये च नारद।
उत्तिष्ठमानाः सहसा तं दृष्ट्वा मुनिपुङ्गवाः ॥१६॥
प्रणे मुर्मुनयः सर्वे शौरिश्च प्रणनामतम्।
सस्मितं स्निग्ध नेत्रश्च कृपायुक्तश्च सादरम् ॥१७॥

स सर्वांश्चाशिषं कृत्वा समुवासच संसदि।
उवाच तांश्च शौरिंच भगवन्तं सनातनम् ॥१८॥

सब सभासदों सहित खड़े होकर भगवान् कृष्ण ने उनका सादर स्वागत किया और हाथजोड़ प्रणाम कर सबको सुन्दररम्य आसनों पर बैठाया। कुशलप्रश्न के अनन्तर शास्त्रोक्त अतिथिधर्मानुसार पूजन किया। यथोचित आदर सत्कार करने के बाद भगवान् कृष्ण अभी बैठे ही थे कि उसी समय भगवान् कृष्ण तथा ऋषिमुनियों की दृष्टि आकाश में विस्फुरित एक तेजोमयी मूर्ति पर पड़ी। जब वह तेजपुञ्ज शनैः शनैः समीप आया तब क्या देखते हैं कि उस तेज के मध्य में सुवर्णकान्ति, अतिमनोहर, दिगम्बर, पञ्चवर्षीय बालक के रूप में भगवान् सनत्कुमारजी स्थित हैं। उन्हें देखते ही भगवान् कृष्णसहित सर्वऋषि मुनि और सिद्धगण स्वागत के लिये खड़े हो गये। सब ने श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया। भगवान् सनत्कुमार सब को आशीर्वाद देकर सभा में विराजमान हो गये। तत्पश्चात् वात्सल्यभावभरी दृष्टिवाले, दयालु, मुनिश्रेष्ठ भगवान् सनत्कुमार जी, मधुर मन्दमुस्कानद्वारा सबको आनन्दविभोर करते हुए, भगवान् कृष्ण तथा मुनिसमाज को सम्बोधन कर बोले—

भद्रं वो मुनयः शश्वत् तपसां फल मीप्सितम्।
कृष्णस्य कुशलप्रश्नं शिवबीजस्य निष्फलम् ॥१९॥
साम्प्रतं कुशलं वश्च दर्शनं परमात्मनः।
भक्तानुरोधाद्देहस्य परस्य प्रकृते रपि ॥२०॥
निर्गुणस्य निरीहस्य सर्वबीजस्य तेजसः।
भारावतारणायैव चाविर्भूतस्य साम्प्रतम् ॥२१॥

हे मुनियो! तुम्हारा कल्याणप्रद तो तुम्हारी तपस्याओं का अभीष्टफल ही है और आनन्दमङ्गल के बीजभूत श्रीकृष्ण में कुशलप्रश्न का प्रयोग करना ही निष्फल है। क्योंकि जो स्वयं कुशलस्वरुप है उसमें अकुशल की आशंका ही नहीं हो सकती। फिर आप लोग भी इससमय निर्गुण निष्क्रिय, प्रकृति से पर परन्तु सर्व का कारण, भक्तों के अनुरोध से पृथिवी का भार उतारने के लिये आविर्भूत भगवान् कृष्ण के दर्शनों से कुशलरूप हो रहे हैं अतः इससमय आपलोगों का भी कुशलप्रश्न पूछना लोकव्यवहार के सिवा कोई महत्व नहीं रखता।

इतना कहकर भगवान् सनत्कुमार चुप हो गये तो भगवान् कृष्ण बोले— भगवन्! शरीरधारी का कुशलप्रश्न तो अभीष्ट ही है, फिर मेरा कुशलप्रश्न पूछने की क्यों आवश्यकता नहीं, मैं भी शरीरधारी हूँ।

भगवान् सनत्कुमारजी बोले—नाथ! जीवों के स्वधर्मरचित प्राकृतशरीरों में निरन्तर शुभाऽशुभ वर्तमान रहते हैं अतः उनका कुशलमङ्गल पूछना योग्य है परन्तु कल्याण के बीजभूत नित्यशरीर का कुशलप्रश्न तो अनर्थक है।

## दो अवतारों में उत्तरप्रश्न.

श्रीकृष्ण ने कहा—जो शरीरधारी है वह प्राकृत ही कहा जायगा क्योंकि नित्य प्रकृति के विना किसी का शरीर पैदा हो नहीं सकता।

भगवान् सनत्कुमार कहने लगे—स्वामिन्! रजवीर्य से पैदा होनेवाले शरीर ही प्राकृत कहे जा सकते हैं। सर्व के कारण, माया के स्वामी सर्वप्रकार से विनिर्मुक्त दयामय का शरीर प्राकृत कैसे हो सकता है? आप तो सर्वकारणों के भी आदिकारण हैं। फिर आपके शरीर का कारण कर्मादि कैसे हो सकते हैं। आप ही सर्वअवतारों के अविनाशी, अविकारी प्रधानकारण हैं। ऐसा ही निश्चय करके सर्वदेवगण आपको नित्यों में नित्य, सनातन, ज्ञानस्वरूप, मायारहित, परमात्मा और सर्वनियन्ता रूप से जानते हैं। वेद भी ऐसा ही कहता है।

श्रीकृष्णजी ने फिर कहा—कुछ भी हो, इस समय तो मैं वसुदेव का पुत्र हूँ। फिर मैं प्राकृत क्यों नहीं, और रजवीर्याश्रित इस शरीर की स्थिति के लिये अभीप्सितकुशल की आवश्यकता कैसे नहीं?

भगवान् सनत्कुमारजी कहने लगे—भगवन्! आप सारे ब्रह्माण्ड को आछादित कर स्थित हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड आपके एक एक रोम में स्थित हैं, इन्हीं कारणों से आपका नाम वासुदेव है। वसुदेव के सम्बन्ध से आपका यह नाम तो लौकिक है। चारवेद, पुराण, इतिहास, वार्ता आदि नानाविध शास्त्रों में आप के वसुदेव नाम की महिमा गाई गई है। भला आप ही वतलाइये आपके इस कृष्णविग्रह को किस वेद शास्त्र में रजवीर्यकारणक लिखा है? आपके सिवा कौन दिव्यज्ञान रखनेवाला यह कहता है कि कृष्ण अथवा किसी अन्य अवतार का शरीर रजवीर्य से उत्पन्न हुआ है, अतः प्राकृत है? परन्तु मेरे कथन का समर्थन करने वाले तो यह सव त्रिकालदर्शी ऋषि मुनि महात्मा धर्म, देवगण, वेद और सूर्य चन्द्र उपस्थित हैं। यही लोग सत्यासत्य का निर्णय कर देंगे।

भगवान् सनत्कुमारजी के वचनों को सुनकर सभा में उपस्थित सर्व ऋषि मुनि देवगण एक स्वर से पुकार उठे "आप का कथन सत्य है" इस पर भगवान् कृष्ण भी हँसने लग गये और कुछ देरतक चुप वैठे रहे।

## ऋषियोंको उपदेश.

तव महर्षि भृगु वोले—मुनिवर! आप जो कुछ कहते हैं सव सत्य है, पर यह तो वताइये कि आपका यहाँ आगमन कैसे हो गया, हम लोगों को दर्शन देने की कैसे कृपा करदी? जैसे दर्शनों से कृतकृत्य किया है वैसे ही अपने आगमन का कारण वताने का भी अनुग्रह कीजिये।

भगवान् सनत्कुमारजी ने कहा—महात्मागण! मेरे आने का कारण आप लोगों से परोक्ष तो नहीं है। फिर भी आप पूछ रहे हैं अतः मुझे भी सर्वसाधारण के हित के लिये आपकी आज्ञा का पालन करना ही आवश्यक है। थोड़े शब्दों में 'कृष्ण को, उसके चरित्र को तथा उसके अभिप्राय को संसार जान और समझ ले और उसके अनुसार ही आचरण करे। वस यही वात सर्वसाधारण को वताने के लिये मैं यहाँ आया हूँ, आप लोग कृष्ण को पहचानते ही हैं, अतः आप लोगों को यह वताने

की आवश्यकता ही नहीं कि 'कृष्ण कौन हैं' । आप लोगों से तो केवल यही निवेदन करने आया हूँ कि लोकहित के लिये संसार को कृष्णमहिमा का ज्ञान कराइये।

भगवान् सनत्कुमारजी ऋषिमुनिसमाज को यह उपदेश कर ही रहे थे कि उसी समय सशक्तिक ब्रह्माजी और शंकरजी आदि सारा देवसमाज भी वहाँ पहुँच गया। सब ने आगत देवताओं का अभिवादनपूजन किया और उन्हें उच्चआसनों पर बैठा दिया ! कुछ बातचीत के अनन्तर भगवान् सनत्कुमारजी ने कृष्णविषयक वह सब विज्ञान सुना दिया जो आपने ब्रह्माण्ड का भ्रमण करके लोगों से प्राप्त किया था। वह उपदेश ब्रह्मवैवर्तपुराण के ८७ वें अध्याय में विस्तारसहित लिखा है, ग्रन्थ बढ़ने के भय से यहाँ देना उचित नहीं समझा गया। नन्दजी ने भगवान् से जो "आप कौन हैं ?" यह प्रश्न किया था उसका भी उन्हें इस उपदेश में सविस्तर उत्तर मिल गया और नन्दजी के साथ ही अन्य लौकिकपुरुष भी कृष्णविषयक लौकिकधारणा को छोड़कर भगवान् में देवत्वबुद्धि रखने लगे।

इस से स्पष्ट हो गया कि भगवान् सनत्कुमारजी न केवल सर्वसाधारण को यही निश्चय कराने का यत्न किया करते थे कि शुद्धमन से की गई भक्तों की पुकार को सुनकर भक्तवत्सल भगवान् धर्म तथा धर्मात्मासाधुओं की रक्षा तथा पाप का नाश करने के लिये स्वयं अवतारधारण किया करते हैं और ऐसी आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं से सहायता की याचना की जानी चाहिये, किन्तु अवतार होने से पूर्व सर्वसाधारण को सूचना दे देते थे और अवतार हो चुकने पर अवतारमहिमा का प्रचार भी किया करते थे। ताकि लोग अवतारयुग से यथेष्टलाभ उठा लें। यही क्यों ? सृष्टि के आरम्भकाल में जब ईश्वरीयज्ञानवेद का अभी पर्याप्तप्रचार भी नहीं हुआ था उस समय भी ब्रह्माजी से विषय तथा इन्द्रियों के पृथक्करणविषयक प्रश्न करके हँसरूप में अवतार के प्रत्यक्षदर्शन करानेवाले आप ही थे। वह ऐसा समय था जब सृष्टि में स्वाभाविक ही ईश्वरीयऐश्वर्य विद्यमान थे, ईश्वर के गुणावतार-ब्रह्मा, शिव, तथा विष्णु उपस्थित थे। ऐसे समय में सर्वसाधारण को यह निश्चय दिलाना कि, धर्मरक्षा के लिये, बिना किसी सांसारिकपदार्थ की अपेक्षा के, निराकारविभु ईश्वर अवतारधारण करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर लोगों को आस्तिक्यबुद्धि से उन्हीं की सहायता पर पूर्णभरोसा रखना चाहिये, अत्यन्त कठिन था। ब्रह्माजीद्वारा सृष्टिसर्जन में लग जाने पर ज़ोर दिये जाने पर भी भगवान् सनत्कुमारजी ने संसारहित के लिये चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की स्थापना की आवश्यकता उत्पन्न करदी और इस अलौकिकधर्म की नीव रखने के लिये भगवान् को हँसरूप में अवतीरण होना पड़ा। हँसावतार से लोगों को निश्चय हो गया कि (१) धर्मरक्षा के लिये भगवान् अवतारधारण करते हैं। (२) भगवान् को अवतारधारण करने के लिये किसीप्रकार के स्थूल अथवा सूक्ष्मकारणकलापों की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि भगवान् चतुरानन ने सनत्कुमारजी के प्रश्न को सुनकर जब परमात्मदेव का स्मरण किया तब तत्काल विद्युत् के समान भगवान् हँसरूप में आविर्भूत हो गये और सनत्कुमारजी को चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की दीक्षा देकर वहीं पर तिरोहित भी हो गये। यदि अवतार के लिये भौतिकपदार्थों की अपेक्षा होती तो हँसभगवान् के प्रादुर्भाव होने में उतना ही समय लगता जितना भौतिकशरीर की उत्पत्ति में लगना चाहिये और शरीरविलय के अनन्तर उसका कुछ न कुछ

भौतिक अंश शेष रह जाता। परन्तु ब्रह्मसभा में ऐसी कोई वस्तु देखने में नहीं आई। (३) जीवों के समान एकस्थान से दूसरेस्थान में आने जाने का नाम अवतार नहीं किन्तु अपनी मायाशक्तिद्वारा विभुपरमात्मा का किसी केन्द्र से प्रकट होने का नाम अवतार है। (४) जिसप्रकार जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाला होने से भिन्नभिन्न शरीरों में ऐश्वर्यवृद्धि के लिये भौतिकपदार्थों की अपेक्षा रखता है वैसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, विभु भगवान् का ऐश्वर्य किसी स्वरूप में भी प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्माजी के "क्षीरनीरविवेचन" भाव से स्मरण करने पर भगवान् हँसरूप में तो प्रादुर्भूत हुए परन्तु उन्हें सनत्कुमारजी को चतुर्थाश्रम की दीक्षा देने में कोई अड़चन नहीं हुई। (५) परमात्मा का अवतार जीवों के समान कर्माधीन नहीं किन्तु भक्तवत्सल भगवान् अपने अनन्यशरणभक्तों की भावना से प्रेरित होकर ही किसी विग्रह में आते हैं।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य संभवाम्यात्म मायया।

अपनी योगमाया को अपने अधीन करके उसके द्वाराअवतार धारण करता हूँ" इससे भी स्पष्ट है कि अवतारों के विग्रह भौतिक नहीं किन्तु मायिक होते हैं। (६) चतुर्थाश्रम औदास्यधर्म की नीव हँसावतार के रूप में स्वयं भगवान् ने रक्खी है। यही कारण है कि उदासीनधर्म को ईश्वरीयधर्म कहा जाता है और उदासीन धर्मावलम्बी महात्माओं को पूर्णविश्वास है कि जैसे यह सम्प्रदाय सृष्टि के आरम्भ से चला आ रहा है वैसे ही अन्त तक चला जायगा। संसार की कोई शक्ति इसे मिटा नहीं सकती। देशकाल और युग प्रभाव से इस पर अनेक आक्रमण हुए, परन्तु उदासीनधर्मावलम्बियों के उक्तविश्वास में कभी शिथिलता नहीं आई। उनको दृढ निश्चय है कि भगवान् स्वयं इसकी रक्षा करते हैं। उनके इस विश्वास को द्वापर के अन्त में अर्जुन को उपदेश करतेहुए कृष्णभगवान् ने भी इस प्रकार पुष्ट किया है—

यदा यदाहि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां॥
धर्मसँस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

संसार में जब जब भी धर्म की ग्लानि और पाप की वृद्धि होती है तब तब ही मैं धर्म और साधुजनों की रक्षा और पापियों का नाश करने के लिये अवतार धारण करता हूँ।

## अवतारविषयक शंकाएं.

उपरोक्त विचार से यह तो सिद्ध हो गया कि धर्मरक्षा के लिये भगवान् अवतार धारण करते हैं, अवतारों के शरीर भौतिक नहीं किन्तु मायाविनिर्मित होते हैं और इसका प्रचार सर्वप्रथम चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म के आदिमाचार्य

भगवान् सनत्कुमारजी ने ही किया है। अपने आदिमाचार्य के उपदेशानुसार उदासीनसम्प्रदाय अवतारमहिमा का गान और प्रचार करता रहा है। अब थोडा सा विचार उन लोगों की बातों पर भी किया जाता है जो शंका किया करते हैं कि—सर्वव्यापक विभुब्रह्म एक विशेषशरीर में आजाने से विभु कैसे रह सकता है? एक समय में तो इश्वर का अवतार एक ही हो सकता है फिर एक ही काल में विद्यमान ब्रह्मा, शिव, विष्णु, सनत्कुमार, नारद, व्यास, कृष्ण, अथवा राम, परशुराम आदि सबको अवतार कैसे माना जा सकता है? सर्व शक्तिमान् भगवान् को विग्रह में आने की क्या आवश्यकता है जब वे इच्छामात्र से अनेकब्रह्माण्ड रच और नष्ट कर सकते हैं? इत्यादि।

ऐसी शंकाएं करनेवालों को सर्वप्रथम यही समझना चाहिये कि किसी केन्द्र से विभु परमात्मा का अपनी मायाशक्तिद्वारा प्रकट होने या दूसरे शब्दों में किसी केन्द्र में अपनी मायाशक्ति अर्थात् कलाओं को प्रकट करने का नाम ही अवतार है। वेद और शास्त्र के उपदेशों से पता चलता है कि परमात्मा की षोडशकलाएं हैं। इसबात को इसप्रकार समझने में अधिकसुविधा होगी कि जिस-प्रकार व्यवहार के लिये एक रुपये को सोलह आनों में विभक्त किया जाता है इसीप्रकार भगवान् की, जगत के साथ सम्बन्ध रखनेवाली शक्ति को, जीवों के बोध के लिये सोलह भागों में विभक्त किया गया है, जिसको षोडशकला कहा जाता है।

इन सोलहकलाओं के रूप में जिस शक्ति का ज्ञान कराया गया है वह ब्रह्म में पूर्णरूप से विद्यमान है। जैसे पञ्चदशी में लिखा है—

**सर्वशक्तिमयं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्।**

वह जगत में कैसे प्रादुर्भूत होती है? इसका उत्तर छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार दिया गया है—

**" षोडशानां कलाना मेकाकलातिशिष्टाभूत,**
**सोऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्।"**

उन सोलहकलाओं में से एक कला अन्न-अन्नमयकोषद्वारा प्रकट हुई है। इससे सिद्ध हुआ कि उद्भिज्ज योनि में ब्रह्म की सोलह कलाओं में से केवल एक ही कला विद्यमान है। इसके अनन्तर अन्य योनियों में जितनी अधिक कलाओं का विकास होता गया, उतनी उनमें चेतनशक्ति अधिक होती गई। तैत्तिरीय श्रुति में सृष्टि-उत्पत्ति का जो क्रम लिखा है उसमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्चभूतों की उत्पत्ति के अनन्तर चार योनियों में प्रथम उद्भिज्ज योनि की उत्पत्ति कथन की गई है। जैसे—

## कलाविकास.

**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुर्वा योरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम्।**

परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल

से पृथिवी, पृथिवी से औषधि और औषधि से अन्न की उत्पत्ति हुई। कहने का प्रयोजन यह कि उद्भिज्ज योनि उत्पन्न हुई तो उसमें ब्रह्म की एक कला का विकास हुआ। अर्थात् उद्भिज्जयोनि में शक्ति कहलाने वाला जो तत्व है वह ब्रह्म की ही सोलहकलाओं में से एक कला है। इसी भावको प्रकट करने के लिये अर्जुन को अपनी विभूतियों का उपदेश करते समय भगवान् ने "अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" कहा है। उद्भिज्जयोनि के बाद दूसरा नम्बर स्वेदजयोनि का है। उसमें दोकला, अण्डज में तीन और जरायुज-पशुयोनि में चार कलाओं का विकास हुआ। जितनी कलाएं अन्य सवयोनियों में विद्यमान हैं इतनी ही और अधिक एक मनुष्ययोनि में विकास पाती हैं। जैसे शूद्र में पाँच, वैश्य में छः, क्षत्रिय में सात और ब्राह्मण में आठ कलाओं का विकास होता है। या यों कहिये कि एक साधारणमनुष्य से विभूतियुक्तमनुष्य तक में पाँच से आठकलाओं तक विकास होता है। सोलहकलाओं में से इन आठकलाओं को लौकिककोटि में माना गया है। इसके ऊपर नौ से सोलहकला तक अलौकिक कोटि हैं। अर्थात् जिनजिन केन्द्रों में ब्रह्म की ऊपर को नौ से सोलह कला तक विकास होगा वे लौकिक नहीं अलौकिक हैं। बस, जिन केन्द्रोंद्वारा ब्रह्म की अलौकिककोटि की कलाएं प्रकट होती हैं उन्हीं की अवतारसंज्ञा है। वैसे तो सारा जगत ही ब्रह्मस्वरूप है। परन्तु इस जगत में ब्रह्म की कलाओं का जितना जहाँ विकास होता है उतनी ही वहाँ ब्रह्म शक्ति विद्यमान है। जब यह अनन्तजगत ही ब्रह्म का रूप है तो उसके अवतारों का भी कहाँ अन्त हो सकता है? इसी भाव का उपदेश करते हुए वेदभगवान् भी कहते हैं कि भक्तवत्सल भगवान् भक्तों की प्रार्थनानुसार माया के संयोग से अनेक अवतार धारण करते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि उद्भिज्जयोनि से मनुष्ययोनि तक भी उसी ब्रह्म की आठकलाओं का विकास होता है अतः परमार्थरूप में वे भी भगवान् का ही अवतार हैं। परन्तु उनमें कोई विशेषता तो नहीं मानी जा सकती! उन आठकलाओं से ऊपर जहाँ भी भगवान् की कलाएं उत्पन्न होती हैं उन्हें ही अवतार अथवा अलौकिकशक्ति कहा जायगा। जिसप्रकार असंख्यप्राणि उत्पन्न करके उद्भिज्ज से मनुष्ययोनिपर्यन्त प्रत्येकजीव में अपनी एक से आठ कलाओं तक शक्ति प्रकट करने पर भी ब्रह्म की शक्ति में रंचकमात्र कमी नहीं होती, वैसे ही अलौकिक-शक्ति-कलायुक्त एक अथवा अनेक अवतार होने पर भी उसकी सर्व-शक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्युत उसकी शक्ति वैसे ही अखण्ड रहती है जैसे किसी विद्वान के उपदेश अथवा कथा में योग्यता प्रकट करने पर उसकी विद्वत्ता में न्यूनता नहीं होती। वह कथा एक स्थान पर करे चाहे सौ स्थान पर।

## भक्त के वश में हैं भगवान्.

शेष रही यह शंका कि सर्वशक्तिमान् भगवान् को विग्रह में आने की क्या आवश्यकता है जब वे इच्छामात्र से सारे जगत को इधर से उधर कर सकते हैं? सच्ची बात तो यह है कि यह रहस्य सर्वसाधारण की समझ में आ जानेवाला नहीं है। यही कारण है कि ऐसी शंका सुनने में आ रही है।

संक्षेप में इसका उत्तर हम ऋग्वेद का "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव०" मंत्र लिखकर दे चुके हैं कि भक्तों की प्रार्थनानुसार भगवान् अवतार धारण करते हैं। यजुर्वेद अ० ३१ मं० १९ में भी उपदेश किया गया है कि—

**प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**
**तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥**

प्रजापति-ब्रह्म अजन्मा होने पर भी अनेकरूपों में अवतार धारण करते हैं उनके ऐसे रूपों को योगीजन तथा धीरपुरुष ही जान सकते हैं। सर्वसाधारण की समझ में यह रहस्य नहीं आ सकता। फिर भी जिन लोगों को शास्त्र, इतिहास, पुराण का थोड़ा सा ज्ञान लाभ करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है उन्हें मालूम है कि भगवान् के जिस अवतार का भी किसी पुस्तक में वर्णन आता है उसके प्रादुर्भाव का उसमें ही कारण भी दिया गया है। थोड़ेशब्दों में वह कारण पापवृद्धि ही होता रहा है। अर्थात् जब भी भगवान् का अवतार हुआ है धर्म की रक्षा करने और पाप की वृद्धि को रोकने के लिये ही हुआ है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि—

जब मेरे भक्त दुःखी होकर मुझे सहायता के लिये पुकारते हैं तब मैं रुक नहीं सकता "हम भक्तन के भक्त हमारे। सुन अर्जुन प्रतिज्ञा मोरी, यह व्रत टरत न टारे। भक्तन काज लाज हिये धरके। पाए प्यादे धाए।" जो लोग भगवान् के अवतार पर "उन्हें क्या आवश्यकता है?" ऐसी शंका करते हैं वे इतना भी नहीं सोचते कि जब उनका कोई प्यारासम्बन्धी, मित्र, भाई, पुत्र अथवा कोई अन्य स्नेही बीमार अथवा किसी अन्य कष्ट में होने की सूचना देता है तो वे अपने आप को सर्वप्रकार से असमर्थ समझते हुए भी स्वयं ही उसकी ओर क्यों भाग खड़े होते हैं वहीं बैठे दवाई की शीशी अथवा सहानुभूति की चिट्ठी क्यों नहीं भेज देते? जब परस्पर क्षणभंगुरसम्बन्ध रखनेवाले संसारी स्वार्थीजीव प्रेम से खिंचे चले जाते हैं तो वे भक्तवत्सल भगवान् भक्तों की पुकार को कैसे सुनी अनसुनी कर सकते हैं, जिन का अपने भक्तों के साथ स्थाईसम्बन्ध होता है? भगवान् इच्छा-मात्र से भक्तों का कष्ट दूर कर सकते हैं सही, भक्त भी नहीं चाहते कि उनके भगवान् लोकाचार के रूप में भी साँसारिक चिन्ताओं में फँसें, पर प्रेम का पन्थ ही निराला है। भगवान् भी प्रेममग्न हो अपना आप भूल जाते हैं। द्रोपदी की पुकार सुनकर चौपट खेलते हुए पौबारह के स्थान में अर्ब खर्ब पुकार उठते हैं। इसी वास्ते हम कहते हैं, जो लोग अवतार के रहस्य को समझना चाहते हैं वे भक्त बनें और भगवान् के चरणों से प्रेम करना सीखें। भगवान् उनके वश में हो जायंगे। "भक्त के वश में हैं भगवान्!" प्रेमपाश में बन्धे हुए भगवान् धन्नाभक्त के बछड़े चराते रहे। भक्त की पुकार सुनकर किसी विग्रह में अवतार धारण करना कौन बड़ी बात है?

अवतारमहिमा से हिन्दूजाति के धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण तो भरे ही पड़े हैं वेद में कई जगह अवतार महिमा का वर्णन और 'भगवान् भक्त की पुकार पर अवतार धारण करते हैं, इसके प्रमाण मिलते हैं। कुछ मंत्र तो प्रकरणानुसार ऊपर लिख आए हैं अब भिन्न भिन्न अवतारों के विषय में कुछ एक मंत्र वेद से दिये जाते हैं भगवान् कृष्ण के अवतार के सम्बन्ध में वेद में जो मंत्र आते हैं उनमें सेकुछ यह हैं—

## कृष्णावतार.

**जज्ञान एवव्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यंरणम् ।**
**अवृश्चि दद्रि मवसस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम् ॥**

ऋ० मण्ड १० सू० ११३ मं० ४

अत्र चतुर्वेदस्वामिकृत भाष्यम्—यः परमेश्वरो जज्ञान एव = पादुर्भूतमात्रो, मायया बालदशां स्वीकुर्वाणोऽपि सन् स्पृधः = स्पर्धां कृतवतः शत्रून् पूतनादीन् कंसान्तान् व्यबाधत = बाधितवान् न केवलं दैत्यानपितु शक्रादीनाम् गर्वमपीत्याह—योऽद्रिं पर्वतं गोवर्धन मवृश्चिद् = उद्धार किमुद्दिश्य, सस्यदो = धान्यदातृन् मेघाननवरतं वर्षतः अवसृजत् = विसर्जितवान् तेन पृथुं = सामर्थ्यवन्तं नाकम्=इन्द्रलोकं स्वपश्यया= मायया, अस्तभ्नात् = स्तंभितवान् स्तंभितशक्तिमकरोत्, अथ यौवनदशायामपि, अभिपौंस्यं = सर्वपुरुषार्थ साधकं रणं= कुरुपाण्डवसंग्रामं वीरोऽपि सन् अपश्यत्=ताटस्थ्येन दृष्टवान्, न तु स्वयं युयुधे, अत्र वीरपदेन भीष्मपराभूत स्वभक्तपक्षपाताद् अशस्त्रोऽपि शस्त्रमग्राहीत् इति सूचितम् ।

अथ कंसादिवधार्थं गोकुलान् मथुरामागच्छतोः कृष्णरामयो श्चरित् शंसन्त्यौ श्रुतीः तैत्तरीयकब्राह्मणे ।

यहाँ चतुर्वेदस्वामीकृत भाष्य का भावार्थ हिन्दी में लिखा जाता है—

वैदिक धर्म की रक्षा के लिये, परमात्मा ने कृष्णरूपेण अवतार धारणकर बाल लीलाएँ दिखाईं । पूतना और कंसादिक दैत्यों को भगवान् ने अपनी कम उमर में ही मार गिराया । गोवर्धनपर्वत उठाकर इन्द्र के मान को चूर चूर कर दिया और इन्द्रलोक को शक्तिहीन बना डाला । अपनी युवावस्था में भगवान् महाभारत के संग्राम को तटस्थ बैठे देखते रहे । मन्त्र में "वीर" पद पड़ा है—उस से यह सूचित होता है कि भगवान् के भक्त पर जब भीष्मद्वारा असह्यप्रहारों की वर्षा होने लगी तो रिक्तहाथ भगवान् ने शस्त्रग्रहण किया।

**द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्स मुपधापयेते हरि रन्यस्यां भवति स्वभावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥**

ऋ० मं० १ सू० ९५ मं० १

**पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रिळन्तौ परियातो अध्वरम्,**
**विश्वान्यन्यो भुवनाविचष्टे ऋतून्यन्यो विदधज्जायते पुनः ॥**

ऋ० मं० १० सू० ८५ मं० १८

भाष्यम्—धनुर्यागोत्सवव्याजेन कृष्णरामयो रानयनार्थं कंसेन प्रेषितः सुष्ठु वर्चोयस्यासौ सुवर्चा अक्रूरश्चरतः = विचरता द्वे विसदृशेरूपे विरूपे ददृशे = दृष्टवान् किं भूते स्वर्थे = सुष्ठु अर्थः प्रयोजनं ययोः ते नहि नृसिंह वदेकस्यां मूर्तौ किन्तु अन्या अन्या पृथगवस्थिते, पुनः किंभूते वत्समुपधापयेते वत्समिति जात्यभिप्रायेवैकव-

(१) स्वपस्ययेति पाठे शोभनकर्मेच्छयेत्यर्थ । (२) ऋग्वेदे भुवनाभिचष्ट ऋतु नितिपाठः ।

चनम् तेन गोसन्दोहनावसरे स्वसमीपे वर्तमानै र्गोपैः कृत्वा वत्सान् धापयेते पायये ते अथ विसदृशरूपत्वमेवाह हरिरिति, अन्यस्यां मूर्तौ हरिद्वर्णत्वात् हरिः मेघश्यामः कृष्णोऽस्ति तथा अन्यस्यां शुक्रो गौरवर्णो वलदेवोऽस्ति–किंभूतो हरिः, स्वभावान् स्वस्य भा स्वभा तद्वान् अलुप्तनिजैश्वर्यवानित्यर्थः। किं भूते रूपे, पूर्वापरं चरतः = प्रागपरं परिसरणं कुरुतः, परन्तु न प्राकृता वित्याह एतौ कृष्णरामौ मायया कृत्वा शिशू=वाल्यदशां प्राप्तौ परमार्थतो विचार्यमाणे वयोऽवस्थारहितौ एवं माययैव रजकवधादिभिः क्रीडन्तौ सन्तौ अध्वरं = धनुर्यागस्थानं प्रति परि = समन्ततः कुवलयापीडकंसचाणूरादिस्थानानि यातः=जग्मतुः, अथपूर्वं विरूपे इत्यनेनाकारतो विसदृशत्वं द्योतित मिदानीं सामर्थ्यतोऽप्याह अन्य इति; अन्यः = कृष्णः विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूर्भुवः स्वरादीनि विचष्टे = संकल्पे नैव ज्ञातवान्, तथान्यो वलदेवः क्रतून् गर्भान् मत्स्याद्यवतारान् विदधद् गृह्णन् सन् पुनः पुनर्जायते = आविर्भवतीति॥

कंस को मारने के लिये गोकुल से मथुरा को आ रहे भगवान् कृष्ण और वलराम के चरित को वतला रहे ऋग्वेद के दो मन्त्र भाष्यसहित लिखे जा चुके हैं। यहाँ उनके भाष्य का भावार्थ दिया जाता है—

कंस ने धनुर्याग के वहाने से कृष्ण और वलराम को मथुरा में लाने के लिये वलवान् अक्रूर को भेजा। उसने देखा कि वे दोनों वर्ण, आकार और वेशादि में समान न थे। इन दोनों का अवतार भिन्न भिन्न प्रयोजनों के लिये हुआ था। इन्हें वछड़ों को दूध पिलाने का वड़ा शौक था। भगवान् कृष्ण श्यामवर्ण के थे और वलराम का वर्ण गौर था। भगवान् कृष्ण की विचित्रशक्ति को प्रत्येकमनुष्य जानता था। तव वे दोनों आगे पीछे चल रहे थे। वस्तुतस्तु ये सांसारिक वन्धनों से मुक्त थे। अव अपनी माया से वालकरूप धारण किए हुये थे। मार्ग में धोवी के वृथाभिमान का उसे उचित दण्ड देकर वे दोनों खेलते खेलते, धनुर्यागमण्डप में कुवलयानन्द, कंस और चाणूरादि के स्थान पर पहुँच गये।

पहले मन्त्र में 'विरूपे' इस पद से वेदभगवान् ने उनका आकारभेद वतलाया। दूसरे मन्त्र में अव उनके सामर्थ्यभेद को स्फुट करते हैं—भगवान् कृष्ण चौदह लोकों की प्रत्येक वात संकल्पमात्र से जानलेते हैं। संसार के उद्धार के लिये वलरामजी मत्स्यादि अनेक अवतार धारण करते हैं।

**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय**
**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ताह्यस्य हरयः शतादश।**

ऋ० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८

अन्वयः–इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् परमात्मा, मायाभिः=स्वनिष्ठाचिन्त्य शक्तिविशेषैः, पुरुरूपः=वहुरूपः, रामकृष्णादिरूपेण अनेकप्रकारः ईयते=प्रतीयते प्रादुर्भवतीतिवा किमर्थमेकस्य वहुभवनं रूपवत्वं च इत्यत आह तदस्य=अस्य परमेश्वरस्य तद्रूपं प्रतिचक्षणाय = भक्तजनदर्शनाय उपासकध्यानसौकर्यायेति यावत्, यदि ध्यान सौकर्यायैव विग्रहवत्वं भगवतोऽलं तर्हि रामादिविग्रहेण विकुण्ठस्थविग्रहेणैवाभिलषितसिद्धेः अत आह, रूपंरूपं प्रतिरूपोवभूव=यादृशंरूपं रावणोयादि मारणीय मस्ति तादृश मेव रूपं दधारेत्यर्थः; कतिरूपाणि जग्राहेत्याह युक्ताह्यस्य हरयः शतादश इति; अस्य

परमात्मनः हरयः=संसारदुःखहारकाणि शताः=शतानि अनन्तानि रूपाणि नियुक्ताः बद्धपरिकराणि सन्ति, दशरूपाणितु अति प्रसिद्धानि।

सकलैश्वर्ययुक्त परमेश्वर स्वकीयाव्याहत ज्ञान, बल, वीर्य, और शौर्यादि विशेषणों से रामकृष्णादि अनेक रूप धारण करता है। इस प्रकार रूप धारण करना भक्तजनों के ध्यानसौकर्य के वास्ते है। एक दो रूप ही पर्याप्त थे इतने रूप धारण क्यों किये? इसका समाधान यह है कि रावणादि मारणीयों को दण्ड देने के लिये जैसा २ रूप आवश्यक था वैसा २ रूप धारण किया क्योंकि भगवान् के रूप अनन्त हैं-मुख्यतः दश हैं।

**विष्णो र्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् यः पार्थिवानि विममे रजांसि**
**योऽस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाण स्त्रेधोरुगायः।**

ऋ० मं० १ अ० २ अ० २१ सू० १५४ मं० १। यजु० अ० ५ मं १५

अन्वयः—विष्णोः=व्यापकस्य परमेश्वरस्य कं=कानिवीर्याणि अहं प्रवोचं नु इति वितर्के विष्णोर्वीर्याणि नैव वदितुं शक्यानि इतियावत् यःउरुगायो=विष्णुः त्रेधाविचक्रमाणः=प्रकारत्रयेण पादन्यासं कुर्वाणः सन् पूर्वं पार्थिवानि रजांसि=पृथिव्यां भवानि रजोगुणप्रधानानि भूतजातानि, विममे=मापयामास, शब्दयामासेति वा माङ् माने शब्दे च, तदनन्तरं सधस्थं=अन्तरिक्षलोकम् अस्कभायत् प्रतिबन्धयामास, शब्दयांचकार मापयामासेति यावत् स्कभि प्रतिबन्धे तदनु उत्तरं=स्वर्गादिलोकं, अस्कभायद् अनेन स्पष्ट एव वामनावतार उक्त इति यावत्।

विष्णु अर्थात् सर्वत्रव्यापक जो परमात्मा है उसके किस वीर्य-पराक्रम को कथनकरूँ, जो तीन प्रकार से पादन्यास करता हुआ प्रथम पादन्यास से पृथिवी को मापता हुआ, तदनन्तर अन्तरिक्षलोक को, बाद में स्वर्गादि लोकों को मापा।

**इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे॥**

(ऋग्० म० १, सू० २२, मन्त्र १७ यजु० अ० ४, मं० १४)

विष्णु-व्यापकपरमेश्वर इस त्रिभुवन को तीन बार पादन्यासकर विक्रमण करते हैं। सो यह त्रिभुवन परमात्मा के चरण में धूलिवत् संलग्न होता है।

**प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः**
**यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥**

(ऋ० मं० १, अष्ट २, अ० २ व० २४ अनु० २१ सू० १५४ मं० २ यजु० अ० ५, मं० २०)

यस्य परमेश्वरस्य त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु सत्सु विश्वा=निखिलानि भुवनानि अधिः क्षियन्ति। तद्=सः विष्णुदेव उपरिभागे-गिरिष्ठाः मृगो न भीमः पर्वतस्थ सिंहवद्भयंकरः सन् अधोभागे कुचर=पृथिवीचरमनुष्य इव दर्शनीयः सन् वीर्येण= हिरण्यकशिपूदरविदारणरूपेण, पराक्रमेण ब्रह्मादिभिः प्रस्तवते स्तूयते इति एतन् मन्त्रद्वयाग्रिम मन्त्रे-विममे त्रिभिरित् पदेभिः—इत्युक्तत्वात् अर्थान्तर मन्याय्यम्।

जिस परमात्मा के महान तीन पदन्यास के होते हुए संपूर्णप्रपञ्च, विक्षेप को प्राप्त होकर डगमगाता हुआ सोई परमेश्वर ऊपर के आधे भाग में पर्वतस्थ सिंहवद् भयंकररूप को धारण करते हुए और अधोभाग में मानुषरूप को धारण

करते हुए अर्थात् नृसिंहरुप को धारण किया। हिरण्यकशिपूदर विदारणरूप पराक्रम को देखकर ब्रह्मादि देवों ने उनकी स्तुति की।

कृष्ण त एम रुशतः पुरोभाः चरिष्णु रर्चिर्वपुषामिदेकं
पदप्रवीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिद् जातो भवसीदु दूतः॥
(ऋग्० अष्ट० ३ वर्ग० ७ मं० ४, अ० ५ सू० ७, अ० १ मं० ९)

हे परमेश्वर रुद्ररुपेण तिस्रः पुरः रुशतः=नाशयतः ते यत् कृष्णं भा=कृष्णाख्य दीप्तिमद्रूपं तद् रुपं वयमेम=प्राप्नुयाम, भजाम इति वा। पुनस्तत् किम्-यस्य एकमित्=एकमेव अर्चि=वह्निज्वालावदंशभूतः समष्टिजीवः, वपुषां=निखिलदेहेषु चरिष्णुः भोक्ता सन् वर्तते पुनः यत् कृष्णं भा, अप्रवीता=नास्ति प्रकर्षेण वीतम् विविध गमनं यस्याः सा अप्रवीता निगडवद्धा देवकीकृष्णाय देवकीपुत्राय इति छान्दोग्य श्रुतेः, गर्भम् दधते दधार यश्च कृष्णो जातः सद्य इद् उ सद्य एव दूतः माता पितरौ दुनोतीति दूतः; दु उपतापे वियोगेन दुःखप्रद इति यावत्।

हे परमेश्वर रुद्ररूप धारण कर त्रिपुर के नाश करनेवाले जो आप हो तिसका जो कृष्ण संज्ञक प्रकाशवाला रूप है, तिस रूप को हम भजनद्वारा प्राप्त हों। आप कैसे हो कि जिन आपका वह्निज्वालावत् अंशभूत समष्टिजीव संपूर्ण शरीरों में भोक्ता होकर वर्तमान है और जिस आपके रूपको निगड में बद्ध हुई देवकी गर्भ में धारण करती हुई फिर जो आप उत्पत्ति काल में माता पिता को वियोग से दुःख देते भये।

सद्यो जातस्य ददृशान मोजो यदस्य वातोनु वाति शोचिः
वृणक्ति तिग्मा मत्सेषु जिह्वां स्थिराचिदन्ना दयते विजं भैः।
(ऋग्० अष्ट० ३, व० ७ मं० ४, अ० ५ सू० ७, अनु० १ मं० १०)

सद्यो जातस्य बालभावमापन्नस्य भगवतः, ओजः=सामर्थ्यं, ददृशानं दृष्टवन्तो वयमेतन् मन्त्रद्रष्टार इतियावत्, किं तत् सामर्थ्यम्, यत् शोचिः अग्निज्वाला, अत्सेषु=शुष्कतृणेषु वातः निक्षिप्तं सद् अनुवाति संवर्धतेस्म, तत् शोचिः, अस्य-तिग्मां=तीक्ष्णां जिह्वाम् अनुप्राप्य स्थिरा अन्नाचिद् स्थिर भक्ष्य पायसाद्यन्नवत् वृणक्ति नाशं प्रापेत्यर्थः, एवं भूतो भगवानेव आश्रयणीयः यतो विजंभैः=अग्नि भक्षण कालिय दमन प्रभृति हिंस्रैः कर्मभिः सः दयते=जगत् पालयति स्मेत्यर्थः॥

हम सब ऋषियों ने इस भगवान् के बल पराक्रम दयालुता प्रभृति अपूर्व कर्म जब यह बालक ही थे तब ही देखे थे, यथा दावानल इसकी जिह्वा में पड़ कर पायस मोदकों की तरह नाश हो गया यह अग्निभक्षण कालीयदमनादि हिंसा कर्म करता हुआ जगत् पालन करता है—

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्म दूध्नीः पीपयन्त
द्युभक्ताः परावतः सुमतिं भिक्षमाणाः विसिन्धवः समया सस्रु रद्रिम्।
(ऋग्० अष्ट० १ व० २ मंड० १, अ० ५ अनु० १२ सू० ७३, मं० ६)

अन्वयः-द्युभक्ताः=दिव्यस्वरुपधारिण्यो, दूघ्नीः=बहुदुग्धाः या धेनवस्ताः ऋतस्य= सत्याख्यस्य भगवतो वावशानाः स्म=वशेतिष्ठन्तिस्म, कृष्णाय दुग्धंच पीपयन्त पाययन्तिस्म अद्रिसमया गोवर्धनपर्वतसमीपे, परावतः दूरतः, सुमतिं=कृष्णम्, भिक्षमानाः तृणादिकं याचमानाः विसिन्धवः स्यन्दनशीला सत्यः ता गावः, सस्रुः दुग्धोपसेचनं चक्रुः, इति संक्षेपः ॥

दिव्यरूप को धारण करनेवाली जो बहुत दुग्धवाली धेनु हैं सो सत्यसंज्ञक परमेश्वर के वशीभूत होती हुई और कृष्ण को दुग्धपान करवाती हुई। और गोवर्धनपर्वत निकटस्थ श्रीकृष्णजी को दूरसे ही प्रार्थना करती हुई, स्यन्दनशीला होकर दुग्धप्रस्रवण करती हैं।

**यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिताश्रितं जुती समर्प्यत्**
**व्रजे गावो न संयुजे युजे अश्वां अयुक्षत नमन्ता मन्यके समे।**

(ऋ० मण्ड० ८, सू० ४१, मं० ६)

अन्वयः—चक्रे नाभिरिव यस्मिन् परमात्मनि विश्वानि काव्याकाव्यानि रामायणादीनि श्रिताश्रितानि पर्य्यवसन्नानि इत्यर्थः यश्च परमेश्वरः व्रजे गावो=गाः, संयुजे चारणार्थं संयोजयाञ्चकार।, गावो न इति नकार उपमार्थः, यश्च गाव इव युजे युद्धे अश्वान् अयुक्षत=अर्जुनत्राणाय सारथ्यमधितष्ठौ, किमर्थम् अन्यके समे प्रतिपाक्षभूताः कौरवाः, नभन्तां भ्रियन्तां तं त्रितम्=गुणत्रयनियन्तारम् (१) जूती बुद्ध्युपाधिकं मनसा वा हे उपासका, यूयं पुष्पादिभिः समर्प्यत पूजयत इत्यर्थः।

जैसे रथ की नाभि में चक्रसंलग्न हुए हैं तैसे जिस परमेश्वर में संपूर्ण काव्य आश्रित हैं, उस परमात्मा का हे उपासकगण पुष्पादियों से पूजन करो। जो परमेश्वर व्रजमें नन्दजी के हित गावों को चारण करने के लिए इकट्ठे करते भये; तथा अर्जुन के लिए युद्धमें अश्वों को जोड़ते भये! प्रतिपक्षि नाश के लिए सारथी बना।

**नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनाम् पतये नमो नमः,**
**निषंगिण इषुधिमते तस्कराणाम् पतये नमो नमः ॥**

(यजु० अ० १६, मं० २१)

बुद्धरूप और मोहिनी रूप धारण कर क्रम से लोगों को और असुरों को वञ्चित कर उनसे वेदों को और अमृत को त्याग करवानेवाले जो आप हो तिसके प्रति हमारा नमस्कार हो। एवं निषंगधारी, इषुधिधारी जो आप हो तिसके प्रति हमारा नमस्कार हो। सीता को हरण करनेवाले रावणादि तस्करों के पति जो आप हो तिसके प्रति हमारी नति हो।

**भद्रो भद्रया सचमान आगात्, स्वसारं जारोऽभ्येति पश्चात्**
**सुप्रकेतै र्द्युभि रग्नि वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णै रभिराममस्थात्॥**

साम० उत्तरार्चिक अ० १५ खं० २ सू० १ मं० ३

(१) जूत्या क्षिप्रमितिसायणः।

भद्रः=कल्याणकरो रामचन्द्रः भद्रया=सीतया सचमानः सहितः यदा वनमागा तदा, जारः=धर्मविरुद्धाचरणेन स्वायुषो जरयिता रावणः पश्चाद्=रामासान्निध्ये स्वसारं=स्वपित्रादि ऋषिरक्तोत्पन्नत्वेन भगिनीतुल्यां सीतां अभ्येति हरणार्थं मायात् तदनन्तरं सुप्रकेतैः=शोभनध्वजैः, द्युभिः=अलौकिकै रुशद्भिः कमनीयैः वर्णैं रथैः कुंभकर्णादिभिश्च सह अग्निः=क्रोधाग्निप्रज्वलितहृदयो रावणः वितिष्ठन्=युद्धाय सन्नद्धः सन् रामम् अभिस्थात्=रामस्य सान्निध्यं गतवान् इत्यर्थः ॥

कल्याणकर पूजनीय रामचन्द्र जब कल्याणकरी जानकी के साथ वनमें गमन करते भये तब धर्मविरुद्धाचरण से अपने आपको नष्ट करनेवाला जो रावण है वह रामचन्द्र की अनुपस्थिति में, स्वपित्रादि ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने से भगिनी समान जो सीता उसके समीप जाकर हरण किया तदनन्तर क्रोध से अग्नि की तरह जलता हुआ विचित्रवर्ण रथों से कुंभकर्णादियों से सज्जित हो राम के साथ युद्ध करने सिद्ध हुआ।

जगत को आदिम उदासीनाचार्य भगवान् सनत्कुमारजी के इस उपकार के लिये अपने आपको ऋणी मानना चाहिये कि उन्होंने ही सर्वप्रथम अवतारमहिमा का प्रचार कर उसे एक ऐसा सहारा बता दिया जिससे सहायता के लिये शुद्ध मन से की हुई प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जा सकती। उदासीन सम्प्रदाय को तो इस बातका सदैव गौरव प्राप्त रहेगा कि जहाँ उसकी नीव स्वयं भगवान् ने अवतार धारण कर रक्खी हुई है वहाँ अवतार महिमा का प्रचार भी उनके पुरखाओं ने ही किया है। यही क्यों ? संसार में इतने परिवर्तन हुए। अन्य अनेक मतों के अनुयायियों के अपने धार्मिकसिद्धान्तों पर से विश्वास डगमगा गये। परन्तु उदासीन-धर्मावलम्बियों का विश्वास अवतारसिद्धान्त पर आज तक वैसा ही अटल चला आ रहा है जैसा भगवान् सनत्कुमार आदि आचार्यों ने इस सम्प्रदाय में पैदा करने का यत्न किया था। यह कम गौरव की बात नहीं है।

## ( ११ तरङ्ग )

## विष्णु का अवतार भगवान् सनत्कुमार.

पूर्व कहा गया है कि भगवान् के अवतार अनन्त हैं और परमात्मदेव अपने भक्त साधुजनों की सहायता, धर्म की रक्षा तथा दुष्टों का दमन करने के लिये अवतार धारण करते हैं। भगवान् के अवतार की पहचान यही है कि उसमें ब्रह्म की आठ कलाओं से अधिक शक्ति होती है। वह आठ कलाओं से अधिक शक्ति का विकास मनुष्य योनि के किसी विशेषव्यक्ति में हो चाहे अन्य योनियों में से किसी एक प्राणी में, बस वही अवतार है। सर्वप्रथम ब्रह्मा-सृष्टिकर्त्ता, विष्णु-पालनकर्त्ता और शिव-संहारकर्त्ता, यह तीनों उस ब्रह्म के गुणावतार हैं। दूसरे शब्दों में यह उक्त ब्रह्म के ही तीन गुणवाचक नाम हैं। यही कारण है कि इनकी गणना अन्य अवतारों में नहीं की जाती।

" रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव० " वेद मंत्र के प्रमाण से यह भी बताया गया है कि भगवान् के अवतार तो अनन्त हैं परन्तु वेद शास्त्र में जिनकी अवतार विषयक लीलाओं का वर्णन विशेषरूप में पाया जाता है वे अवतार दस हैं। वे दस यह हैं—

**मत्स्यः कूर्मोवराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।**
**रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की दशस्मृतः ॥**

मत्स्य, कूर्म, वराह नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्णबलराम, बुद्ध तथा कल्की अवतार। यह दस अवतार तो वे हैं जिनकी अवतारविषयक लीलाओं का वर्णन वेदशास्त्र में मिलता है। परन्तु जिन अवतारों की लीलाओं का वर्णन इतिहास तथा पुराणों में भी पाया जाता है उनकी संख्या चौबीस है, जिन में उपरोक्त दस भी सम्मिलित हैं। जैसे श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध अ० १ में लिखा है—

## चौबीसअवतार.

**स एवं प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।**
**चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य मखण्डितम् ॥**

षोडशकलायुक्त सहस्रमूर्धं विराटरूप धारण करनेवाले भगवान् के प्रथम अवतार सनत्कुमार हुए हैं जिन्होंने ब्राह्मण कुलमें अवतीर्ण होकर अखण्डब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। " द्वितीयं शौकरं वपुः " दूसरा वराह अवतार। तृतीयमृषि सर्गंवै " तीसरे नारदमुनि। " तुर्य्येधर्म कला सर्गे नरनारायणा वृषी " चौथे नर-नारायण ऋषि। " पञ्चमः कपिलो नाम " पाँचवें सिद्धेश्वर-कपिल। " षष्ठमत्रेर-पत्यत्वं वृतः प्राप्तोनुसूयया " छठे अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय, जिन्होंने प्रह्लादादि को ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। " ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोभ्यजायत " सातवें रुचि तथा आकूति से उत्पन्न होनेवाले यज्ञ " अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जातः उरुक्रमः " आठवें मेरुदेवी में नाभिद्वारा उत्पन्न होनेवाले ऋषभदेव। नवमं पार्थिवं वपुः " नवम अवतार पृथु। " रूपं स जगृहे मात्स्यं " दसवें मत्स्य। " दध्रेकमठ रुपेण पृष्ठ एकादशे विभुः " ग्यारहवें कूर्म। " धन्वन्तरं द्वादशमं " बारहवें धन्वन्तरी। त्रयोदशं च मोहिन्या " तेरहवां अवतार मोहिनी। " चतुर्दशंनारसिंहं " चौधवें नृसिंह। " पञ्चदशं वामनकं " पन्द्रहवें वामन। " अवतारं षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहोनृपान् " सोलहवें परशुराम। " ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् " सतारहवें सत्यवती और पराशर के पुत्र वेदव्यास। " नरदेवत्व मापन्नः " अठारहवें रामचन्द्र। एकोनविंशेविंशति रामकृष्णाविति भुवो" उन्नीसवें बलराम, बीसवें कृष्ण "बुद्धोनाम्नाञ्जन सुतः" और इकीसवें शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध हो चुके हैं। तथा " जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः " बाईसवें विष्णुयशा के गृह में जगत्पति कल्की अवतार होंगे। इनमें भगवान् हँस तथा हयग्रीव को मिला कर चौबीस हो जाते हैं।

## पाँच प्रकार के अवतार.

इन चौबीस अवतारों में ही भगवान् सनत्कुमार एक अवतार हुए हैं जिन्होंने अखण्डब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है। शास्त्र में अवतार पाँच प्रकार के लिखे हैं। पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार अविशेषावतार और नित्यावतार। कला भेद से भगवान् का पूर्णावतार तथा अंशावतार होता है। सोलह कला संपन्न पूर्णावतार कहलाता है। यह बात हम पहले लिख आए हैं कि उद्भिज्जयोनि से जरायुजपशुयोनि तक भगवान् की चार कलाओं का विकास होता है। पाँच से आठ कलाओं तक साधारण मनुष्य से लेकर विभूति-प्राप्त मनुष्य तक में विकास होता है। इसके ऊपर कलाओं का जहाँ पर भी विकास होता है वह केन्द्र अलौकिक अर्थात् अवतारकोटि में है। नौ कलाओं से पन्द्रह तक जिन केन्द्रों में विकास होता है वे अंशावतार हैं। किसी निमित्त से विशेषावतार और अविशेषावतार होते हैं। विशेषावतार को आवेशावतार भी कहते हैं। किसी भक्त के आग्रह पर या उसकी अनन्यभक्ति पर प्रसन्न होकर उसे दर्शन देने के लिये अन्तःकरण में भगवान् प्रकट होते हैं तो वे नित्यावतार कहलाते हैं। भगवान् का अविशेषावतार श्रीगुरु में दीक्षा देते समय प्रकट होता है। पद्मपुराण में लिखा है।

आविष्टोऽभूत कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः।
अविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः॥

भगवान् सनत्कुमार आवेशावतार हुए हैं।

आवेशावतार उन अवतारों का ही नाम है जो कभी कभी भगवान् की कलाओं का आवेश हो जाने पर अलौकिक चमत्कार करने में समर्थ होते हैं और अन्य समय पर ईश्वरीय अलौकिक कलाओं से सम्पन्न हो जाया करते हैं।

## भ० सनत्कुमार का उपकार.

शास्त्र में लिखा है "समष्टि कर्माधीनं तत्" भगवान के अवतार समस्त जीवों के कल्याण के लिये होते हैं, किसी एक जीव के कल्याण के लिये नहीं। भगवान् सनत्कुमारजी के चरित्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे सदैव लोकोपकार के कार्यों में ही तत्पर रहते थे। सब से बढ़कर संसार पर आपका उपकार यही है कि आपने सृष्टि के आदिकाल में ही चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की स्थापना करके त्यागमयजीवन का महत्व लोगों पर प्रकट कर दिया। यदि आपने ऐसा न किया होता तो आज यह जगत इस रूप में दिखाई न देता। सारा मानवसमाज प्रवृत्ति

× आवेशावतार उन अवतारों का ही नाम है जो कभी कभी भगवान् की कलाओं का आवेश हो जाने पर अलौकिक चमत्कार करने में समर्थ होते हैं। यह आवेश स्थायी नहीं होता। अन्य समय प्रकृत जनों की तरह ही व्यवहार किया करते हैं। अर्थात् आवश्यकता होने पर ईश्वरीय लोकोत्तर कलाओं से सम्पन्न हो जाया करते हैं। शास्त्र कथित विशेषावतार या आवेशावतार का रहस्य यही है।

पथ का पथिक बन जाता और परिणाम यह होता कि इस समय जो भी त्यागवृत्ति दिखाई देती है वह न होने से सर्वत्र स्वार्थ का ही साम्राज्य हो जाता। संसार में जितना राग द्वेष, लोभ मोह, अहंकार और काम क्रोध का बाहुल्य प्रतीत हो रहा है यह सब स्वार्थद्वारा ही फला फूला है। यदि भगवान् सनत्कुमारजी त्याग वैराग्य का बीज न लगाते, जिसे पुष्पितपल्लवित करने के लिये महामुनि नारद, व्यास आदि महात्माओं ने अपने जीवन उत्सर्ग कर दिये तो आज यह संसार महादुःख का घर होता और कोई जीव भी ऐसे संसार में रहना पसन्द न करता। आज यदि मनुष्य आयु भर रोगग्रस्त अथवा बन्दी रहकर भी जीवित रहने की इच्छा रखते हैं तो यह भगवान् सनत्कुमारजी की ही कृपा है जिन्होंने त्याग और ब्रह्मचर्य की महिमा बताकर संसार को निश्चय करा दिया है कि जीव का परम-उद्देश्य केवल सांसारिक सुखोपभोग नहीं किन्तु परमसुख–कैवल्यप्राप्ति है। आपने यह ऐसा उपकार किया है जिसको संसार कभी भुला नहीं सकता। इसके साथ ही ऐसे समय जब वैदिकसिद्धान्तों का अभी प्रचार भी नहीं हुआ था, सब जगह घूम कर लोगों में वेदों के गूढ़ सिद्धान्तों का प्रचार किया। आपने देखा कि ब्रह्माजी मानवसृष्टि को उत्पन्न करके सृष्टिवृद्धि में लगाते जा रहे हैं धर्मप्रचार का काम कौन सम्भालेगा, तो इस कामको अपने हाथमें ले लिया। क्योंकि आप समझते थे भले ही सांसारिकप्राणियों में मनुष्ययोनि श्रेष्ठ है परन्तु मनुष्य को भी जबतक सिखाया न जाए अपने आप किसी विद्या को सीख नहीं सकता। मनुष्य को धर्म-ज्ञान सिखाने के लिये भी उन्होंने अपना ही जीवन उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया। पाठक! भगवान् सनत्कुमारजी के जीवनचरित्र में पढ़ ही चुके हैं कि किस प्रकार आपने न केवल स्वयं संसार में भ्रमण करके वैदिकसिद्धान्त मूर्तिपूजा, तीर्थ-यात्रा, जप, तप, पूजा पाठ, यज्ञ, दान, श्राद्ध भक्ति और अवतार आदि का ज्ञान लोगों को कराया बल्कि अपने सुयोग्यशिष्य नारद और व्यास आदि महात्माओं को भी आयुभर के लिये इसी काम में लगा दिया। यही क्यों? चतुर्थाश्रम उदा-सीनधर्म की स्थापना करके सदाके लिये धर्मप्रचार की गंगा जारी कर दी। यह भगवान् सनत्कुमारजी की शिक्षा का ही फल है कि संसार में अनेक परिवर्तन होने पर भी जहाँ उदासीनधर्मावलम्बियों में धर्म के लिये श्रद्धा उत्तरोत्तर दृढ़ ही होती रही है वहाँ सर्वसाधारण में वैदिकसिद्धान्तों का प्रसार करने के लिये भी उनका उत्साह बढ़ता ही गया है और उन्होंने अपने रास्ते में आनेवाली विघ्नबाधाओं या कठिनाइयों की कभी पर्वाह नहीं की। उदासीनसम्प्रदाय के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है।

पाठक श्रीमद्भागवत से उद्धृत प्रमाण में ऊपर पढ़ चुके हैं कि भगवान् सन-त्कुमारजी विराट्स्वरूप धारण करनेवाले परमात्मा के प्रथम अवतार हैं और वह चौबीस अवतारों में से एक हैं। यद्यपि भगवान् सनत्कुमारजी की मानवलीलाओं का वर्णन वेद, उपनिषद्, ब्राह्मणग्रंथ और इतिहास पुराण में बहुत कुछ और बहुत जगह मिलता है परन्तु हमने उनका वही चरित्र देना आवश्यक समझा है जिसका चतुर्थाश्रम उदासधर्म अथवा वैदिकसिद्धान्तों के प्रचार के साथ सम्बन्ध है। यद्यपि इतिहास में अवतार चौबीस हैं और श्रीमद्भागवत में द्वितीय अवतार वराह भगवान् बताए गये हैं परन्तु चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की परम्परा तथा उदासीनधर्म की

गुरुप्रणाली के अनुसार भगवान् सनत्कुमारजी से चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेनेवाले महामुनि नारदजी ही सिद्ध होते हैं। परन्तु नारदजी के मानवचरित्र की अनेक विचित्र घटनाओं को याथातथ्य समझने के लिये कुछ एक अवतारों की लीलाओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है अन्यथा नारदजी की कभी कुछ कभी कुछ, परस्पर टक्कर खानेवाली लीलाओं पर सन्देह बना रहेगा। अतः आगे कुछ अन्य अवतारों का संक्षिप्त परिचय देने के अनन्तर भगवान् नारदजी का जीवन चरित्र दिया जायगा। लेखशृंखला को जोड़ने के लिये यह बात स्मरण रखनी चाहिये।



# श्रौतमुनिचरितामृत

## चतुर्थ प्रवाह

## महामुनिनारद.

---

## अवतारचरित.

### ( १ तरङ्ग )

### शंका समाधान.

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां ॥
धर्मसँस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

भगवान् की अलौकिक अवतारलीलाओं को याथातथ्य जान और समझ लेना मानवबुद्धि के लिये अत्यन्तकठिन है। वड़े वड़े तत्त्ववेत्ता ज्ञानीपुरुष भी उस रहस्य को श्रद्धापूर्वक मान लेने वाली वस्तु ही वतलाते हैं, फिर साधारणमनुष्यों की तो वात ही क्या? मनुष्य अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता की ओर ध्यान नहीं देता अर्थात् "किसी वात का रहस्य समझने में मेरी अपनी बुद्धि ही असमर्थ है" ऐसा स्वीकार नहीं करता, उस अगम्य वात में ही दोष निकालने को तैयार हो जाता है। यही कारण है कि कतिपय लोग भगवान् के अवतार और उनकी लीलाओं पर शंकाएं करते सुने जाते हैं। वे कहते हैं जो भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, इच्छामात्र से जगत् को तहसनहस कर सकते हैं, उन्हें अपने सच्चिदानन्द विभुस्वरूप को छोड़कर किसी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनि में आने की क्या आवश्यकता है? पुनः, अवतार धारण करके भी धर्म, नीति और लोकाचार के विरुद्ध हिंसा, छल, कपट, वैर, मैत्री आदि करना भगवान् को कैसे शोभा दे सकता है? जैसे शंकर को भस्म कर डालने के लिये उद्यत भस्मासुर को उसके अपने ही हाथों, भगवान् का स्त्रीरूप में प्रकट होकर, भस्म कराना, समुद्रमथन से निकले हुए अमृत का विभाग करते समय देवताओं तथा दैत्यों में झगड़ा होजाने पर मोहिनीअवतार धारण कर दैत्यों को अमृत से वंचित करना, वामनरूप धारणकर वलि को छलना, हिरण्याक्ष का वध करने के लिये वराह और हिरण्यकशिपु को मारने के लिये नृसिंहरूप धारण करना,

जालन्धर के आतङ्क से देवताओं को मुक्त करने के लिये वृन्दा का सतीत्व भङ्ग करना, परशुरामरूप में क्षत्रियों का ध्वंस करना, रामावतार में ताड़का, शूर्पणखा जैसी स्त्रियों पर आक्रमण, छिपकर वालि का वध, लोकापवाद से डरकर सतीसाध्वी सीता का त्याग, निर्दोष तपस्वी शम्बूक चाण्डाल की हत्या और एक रावण के अपराध पर उसके सारे परिवार का नाश करना। कृष्णरूप में पूतना, बकासुर, मुष्टिक, कंस, शिशुपाल आदि का स्वयं वध करना और कौरव-पाण्डवयुद्ध कराकर आर्यसंतति का नाश कराना, तो भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता, न्यायप्रियता और सर्वज्ञता पर कलंक लगाने वाली घटनाएं हैं। जिन कृत्यों को करते हुए मनुष्य भी शोभा नहीं पाते उन्हें स्वयं भगवान् अवतार धारण करके करते हों यह कैसे माना जा सकता है? इत्यादि।

भगवान् की अवतारलीलाओं को न समझने वाले लोग प्रायः ऐसी ही शंकाएं किया करते हैं। अतः आवश्यक जान पड़ता है कि कुछ अवतारों की लीलाओं को वर्णन करने से पूर्व इन शंकाओं पर थोड़ा विचार कर लिया जाए ताकि उसके बाद उदासीनाचार्य श्रीनारदमुनिजी की जीवनलीलाओं को भी समझने में कोई अड़चन रह न जाए, जो अकसर लोकापवाद का विषय बनी रहती हैं।

धर्माधर्म तथा कर्मफल पर निश्चय रखनेवाले प्रत्येक धार्मिक मतानुयायी का विश्वास है कि देवताओं और दैत्यो में सदा से विरोध चला आ रहा है। इस विरोध का वर्णन वैदिक ग्रन्थों में तो सब जगह मिलता ही है ईसाई और इस्लाम मत के ग्रन्थों में भी इसका विस्तृतविवरण पाया जाता है। और सर्वमत इस बात पर भी सहमत हैं कि जब भी दैत्यों का देवताओं पर दबाव पड़ जाता है अथवा देवगण दैत्यों का मुकाबला करने में असमर्थ हो जाते हैं तब वे भगवान् से ही सहायता की याचना करते हैं और भगवान् उनकी प्रार्थना पर सहायता के लिये पहुँचते हैं। जैसे श्रीमद्भागवत दशमस्कंध द्वितीयाध्याय में लिखा है—

"सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुःखलानाम्"

धार्मिक लोगों का कल्याण तथा दुष्टों का दमन करने के लिये भगवान् का अवतार होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

साधुओं का परित्राण, पापियों का नाश और धर्ममर्यादा की रक्षा के लिये मैं युग युग में अवतार धारण करता हूँ।

## अन्यमतों में अवतारवाद.

ईसाइयों की बाइबल में लिखा है कि संसार में फरिश्तों के प्रतिस्पर्धी शैतान का बल बढ़ता देख कर खुदा ने ईसा के रूप में अपने बेटे को फरिश्तों की सहायता के लिये भेजा। उन का यह भी निश्चय है कि सृष्टि उत्पत्ति के समय खुदा ने आदम तथा हव्वा को पैदा करके बहिश्त में रक्खा और गेहूँ का फल खाने से

रोक दिया। तब शैतान ने आकर उन्हें खुदा की आज्ञा की पर्वाह न करने की प्रेरणा की। आदम और हव्वा ने उसकी बातों में आकर गेहूँ खालिया। बस उसी दिन से खुदा की आज्ञा का उलंघन करने के अपराध में आदम तथा उसकी सन्तान बहिश्त से निकाल दी गई। मानवजाति में शैतान की प्रेरणा से जो पाप का बीज बोया गया था ईसाइयों के मत में उसका प्रायश्चित ईसा ने सूली पर लटक कर किया अर्थात् मानवसमाज पर शैतान का जो प्रभाव था उसको मिटा दिया।

इसी प्रकार इस्लाम में भी दैवी और राक्षसी-फरिश्तों तथा शैतानकी सत्ता और उनके पारस्परिक विरोध एवं समय समय पर खुदाद्वारा फरिश्तों की सहायता किया जाना स्वीकार किया गया है। धर्माधर्म, कर्मफल और परमात्मा के अस्तित्व को माननेवाला कोई भी आस्तिकमनुष्य इससे इन्कार नहीं कर सकता। अतः इस पर अधिक लिखना व्यर्थ जान पड़ता है।

रही यह बात कि भगवान् को देवताओं की सहायता करने के लिये वराह, नृसिंह आदि पशु और मोहिनी आदि स्त्री रूप धारण करने की क्या आवश्यकता होती है जब कि जीवों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्यरूप में ही वह उद्देश्य सुचारुरूप से सिद्ध हो सकता है?

## नामरूपभेदात्मक जगत का मूलकारण.

विचार से देखा जाए तो यह सारा नामरूपभेदात्मक जगत केवल एक ही मूलतत्त्व-ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका माया का प्रपञ्च है। उस मूलतत्त्व-ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु तो है ही नहीं। फिर यह सारा जगत और जगत के सर्व पदार्थ उस मूलतत्त्व का ही अंश होने से नाम रूप और शरीर भेद तो हमारे ही अज्ञान का परिणाम हैं। ब्रह्मदृष्टि में कोई भेद है नहीं। ब्रह्मदृष्टि से तो सर्वशरीर ब्रह्म के और ब्रह्ममय ही हैं फिर भगवान् के लिये मनुष्य तथा पशु पक्षी आदि शरीरों में क्या अन्तर हो सकता है? इसी तत्त्व को समझाने के लिये भगवान् गीता में भी कहते हैं—"अहमेवाक्षयः कालः" "कीर्तिः श्रीवाक् च नारीणाम्" दण्डो-दमयतामस्मि" "मृगाणां च मृगेन्द्रो हं" "देवा नामस्मिवासवः" आयुधाना महंवज्रः" "देवर्षिणां च नारदः" "सिद्धानां कपिलोमुनिः" अश्वत्थः सर्ववृक्षा-णाम्" वैनतेयश्च पक्षीणाम्।"

अर्थात् स्त्रियों, पुरुषों, ऋषियों, मुनियों देवताओं और सिद्धों में यहाँ तक कि शस्त्रादि भौतिकपदार्थों में भी विभूतिरूप से जो कुछ विद्यमान् है वह मैं ही तो हूँ। "भूतानामस्मि चेतनः" सर्वभूतप्राणियों में चेतनशक्ति मैं हूँ। कहने का प्रयोजन यह कि—

**यद्यद् विभूति मत् सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेव वा।**

**तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥**

इस संसार में जो जो पदार्थ विभूतियुक्त या ऐश्वर्ययुक्त हैं वे सब मेरी ही शक्ति के विकास से उत्पन्न हुए हैं।

यच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्॥

हे अर्जुन! सर्वभूतों का कारणभूत वीज मैं हूँ, विना मेरे इस संसार में कोई वस्तु है नहीं।

इससे प्रकट होता है कि संसार के सर्वपदार्थों का मूलकारण एक ही अखण्ड ब्रह्म या दूसरे शब्दों में हमें अज्ञान अथवा भ्रमवश जो भिन्न भिन्न शरीर दिखाई देते हैं यह सब ब्रह्म का ही स्वरुप हैं। ब्रह्मदृष्टि में किसी शरीर अथवा योनि में कोई भेद नहीं। फिर भगवान् मत्स्यरूप में अवतीर्ण हुए तो क्या, और यदि वराह नृसिंह, मोहिनी अथवा राम कृष्णादि मनुष्यरूप में प्रकट हुए तो क्या? इसमें क्या अन्तर हो सकता है? हाँ! देशकाल और परिस्थिति के अनुसार जिस शरीर में धर्म और धार्मिकपुरुषों की रक्षा का कार्य और किसी अवतार रूप में प्रकट होने का विशेषप्रयोजन सुगमता से सिद्ध हो सकता तथा उससे सर्वसाधारण शिक्षाग्रहण कर सकते हैं उसी रूप में भगवान् प्रकट हो जाते हैं। सारे रूप तो उन्हीं के हैं। भगवान् ने समय समय पर जिस जिस विशेषरूप में अवतार धारण किया, शास्त्रों का अनुशीलन करने से यह वात मालूम हो सकती है कि उस उस समय उसी रूप में अवतीर्ण होना अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता था। परन्तु हमें इतने गहरे पानी में पैठने की आवश्यकता ही क्या है? जव कि हम यह भी नहीं कह सकते कि भगवान् की अलौकिकलीलाओं पर टीकाटिप्पणी करने का हम लौकिकजीवों को कोई अधिकार प्राप्त भी है या नहीं, यदि है तो कहाँ तक है?

शेष शंका रही यह कि वल, छल, हिंसा आदि का प्रयोग भगवान् के अवतार को शोभा नहीं देता। इस पर कुछ विस्तृतविचार की आवश्यकता है।

गुरुको दिक्षा देते समय, न्यायाधीश को दण्ड देते समय, योधा को मुकावला करते समय, दाताको दान, धन पति को ऋण, वैद्य को औषधी देते समय, प्रत्येक मनुष्य वल्कि प्राणीमात्र को दूसरे के साथ मित्रता अथवा शत्रुता करते समय-शिष्य, दोषी, प्रतिस्पर्धी, भिक्षुक, ऋणकर्त्ता रोगी और मित्र शत्रु की योग्यता अयोग्यता या पात्रापात्र का विचार करना पड़ता है। जैसे समुद्र में वर्षा, तृप्त को भोजन और धनवान को दान देने का कोई फल नहीं होता वैसे ही पात्रापात्र का विचार किये विना शिक्षा और दण्डादि का भी कुछ फल नहीं होता, किन्तु उलटा प्रभाव भी हो सकता है। यदि गुरु एक मूर्ख निरक्षरशिष्य को वेद मंत्रों का अर्थ पढ़ाने लग जाए, न्यायाधीश एक उद्दण्ड और खूनी डाकू को वाचिकताड़ना करके ही छोड़ दे, धनपति एक कंगाल जुआरी को हजारों रुपये देदे, वैद्य पित्त के रोगी को सँखिया खिला दे और कोई मनुष्य क्रूरकर्मी, हिंसक, निर्दयी आततायी शत्रु के आक्रमण करने पर सत्याग्रह करने वैठ जाए तो समय, धन तथा प्राण नष्ट होने के सिवा इसका कोई फल न होगा। इसी विचार से शास्त्र में "शठंप्रति शाठ्यम्" नीति का समर्थन किया गया है।

शास्त्रों के अवलोकन से मालूम होता है कि भगवान् का अवतार वहुधा ऐसे ही समय में हुआ है जव दैत्यों ने व्यष्टि अथवा समष्टिरूप से राक्षसीसत्ता में अन्धे होकर निरपराध और ईश्वरपरायण मनुष्यों, ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, देवताओं,

ब्राह्मणों, अवलाओं तथा गोमाता पर घोर अत्याचार आरम्भ कर दिये और धर्म शब्द ही उनकी चिढ़ का कारण वन गया। अत्याचारपीड़ितों के हाहाकार से धरती काँपने लग गई। लज्जा और क्षोभ से सूर्य चन्द्र मुँह छिपाने लगे। चारों ओर अन्धकार छा गया और सर्वजीवजन्तु त्राहिमाम् त्राहिमाम् पुकार उठे। "रक्ष रक्ष कृपां कुरु देवपते" की ध्वनि से आकाश पाताल गूंजने लग गये। लोगों की ओर से एकमन से की हुई पुकार क्षीरसागर में तूफान उठा देती है। शेषनाग भयभीत होकर काँपने लगते हैं और लक्ष्मी की आँखों से तप्त आंसू भगवान् के चरणों पर गिरकर उनकी निद्राभङ्ग कर देते हैं। उस समय भगवान् वेचैन होकर भक्तों की रक्षा के लिये भाग खड़े होते हैं। यह तो है राक्षसीसत्ता और अधिकारमद में चूर हो चुके उद्दण्डदैत्यों के अत्याचार का परिणाम। जिस समय सत्ता के अभिमान में वे अपने मुकावले में भगवान् को भी अपने सुखसाम्राज्य का कण्टक और धार्मिक लोगों को विद्रोही समझकर उनके स्वतंत्रताप्रेम से चिढ़ जाते और उनका नाश कर देने में श्रेय मानते हैं। परन्तु कोई अधिकार अथवा विशेष सत्ता न रहने पर भी उनका स्वभाव कैसा उपद्रवी उद्दण्ड तथा क्रूर होता है इसकी कुछ झलक निम्न उदाहरणों में मिलती है।

## दैत्यस्वभाव.

यह स्मरण रहना चाहिये कि दैत्यलोग उपकार का वदला अपकार में ही चुकाते रहे हैं। जव कभी भी उनके किसी विशेषव्यक्ति अथवा दल को कोई शक्ति या अधिकार प्राप्त हुआ, किसी न किसी देवता विशेषतया ब्रह्मा के वरदान से ही प्राप्त हुआ है। देवता सदैव उनके सुधार और उन्नति का ही यत्न करते रहे हैं। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस आदि जितने वड़े वड़े राक्षस ऐश्वर्यवान् हुए हैं सव देवताओं के ही प्रसाद से हुए हैं। पर वे लोग ऐसे भलेमानस हुए हैं कि देवताओं के प्रसाद से ही शक्ति प्राप्त करके उस शक्ति का प्रयोग देवताओं का नाश करने में ही करते रहे हैं।

## कच और देवयानी.

एक समय वृहस्पति के पुत्र कच संजीवनीविद्या सीखने के लिये शुक्राचार्यजी के पास गये। वहुतकाल तक वहाँ रहकर गुरु तथा गुरुपरिवार की प्रेमपूर्वक सेवा करते रहे। शुक्राचार्य कच की सेवाभक्ति पर वड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने संजीवनी के सिवा पदार्थविद्या से आदि लेकर नाना विद्याएं उसे पढ़ाई। यद्यपि शुक्राचार्य ने अभी संजीवनीविद्या नहीं सिखाई थी, फिर भी दैत्यलोग इस वात पर ही जलने लग गये कि हमारे गुरु होकर वे कच को क्यों पढ़ाते हैं। शुक्राचार्य को तो कुछ कह न सकते थे, कहते भी तो कच की सेवाभक्ति के मुकावले में उनका कुछ प्रभाव न पड़ता था। दूसरे शुक्राचार्य भी समझते थे अल्हड़लड़का काबू आया हुआ है प्रेमसे दिनरात सेवा करता है, कुछ पढ़ा लिखादिया तो क्या हो गया, हम जो कुछ पढ़ाते हैं इन विद्याओं को तो यह सव जगह पढ़ सकता है। दैत्यों ने कच का ही अन्त कर देने का निश्चय कर लिया। एकदिन कच जङ्गल से समिधा लिये आ रहे थे दैत्यों ने रास्ते में ही उन्हें घेर लिया और उनके टुकड़े टुकड़े करके जंगली जीवों को खिला दिये। संध्या तक कच वापिस न आए तो शुक्राचार्य जान गये कि

दैत्यों ने उन्हें मार डाला है। शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी कच से बहुत प्रेम रखती थी। उसे मालूम हुआ तो रोती हुई पिता के पास पहुँची और कहा कच को जीवित करो अन्यथा मैं भी अभी प्राण देती हूँ। पुत्री के अनुरोध पर शुक्राचार्य ने संजीवनीविद्या के प्रयोग से कच को जीवित किया। इसके अनन्तर भी दो एक बार कच का दैत्यों ने वध किया परन्तु शुक्राचार्य उसे पुनः जिला लेते थे। दैत्यों ने जब भी कच का वध किया शुक्राचार्य उसे जीवित कर देते और वह दूसरे ही दिन फिर दैत्यों को गौएं चराता दिखाई देता। अन्त में उन्हों ने कच को मार कर उसके शरीर को भस्म किया और वह भस्म शराब में मिलाकर शुक्राचार्य को पिला दी। अबके देवयानी ने कच को जीवित करने का आग्रह किया तो शुक्राचार्य ने पेट में ही उसे संजीवनीविद्या सिखा दी और देवयानी को कहा तुम मेरा पेट चाक करके कच को निकालो। कच ने बाहर आकर गुरु महिमा में एक श्लोक कहा और फिर गुरु से प्राप्त की हुई संजीवनीविद्या के प्रभाव से अपने गुरु को जीवित किया। शुक्राचार्य ने पुनः जीवन धारण कर उसी दिन से ब्राह्मणमात्र के लिये शराब पीने का निषेध कर दिया। अन्त में शुक्राचार्य ने उसे कह दिया कि तुम्हारा प्रयोजनसिद्ध हो गया है अब तुम यहाँ से चले जाओ क्योंकि दैत्यलोग तुम्हें कष्ट देने से बाज़ नहीं आते। गुरुआज्ञा मानकर कच तैयार हो गया। देवयानी को पता लगा तो वह बड़ी व्याकुल हुई। जाने के लिये तैयार होकर कच गुरुपत्नी को प्रणाम करने गये तो देवयानी रास्ते में ही रुदन करती हुई मिली और चिर से हृदय में छिपाई हुई कच के साथ विवाह करने की इच्छा उसके आगे प्रकट कर दी।

## देवस्वभाव.

देवयानी अपनी बात अभी समाप्त भी न कर पाई थी कि उसकी बात को काट कर कच बोल उठा—"बहिन! यह कैसा विचार तुम्हारे मनमें उत्पन्न हुआ है? तू तो मेरी बहिन है, यह कैसी बात तुमने कही। देखना! ऐसा विचार भी कभी मनमें न लाना। इससे हम दोनों पाप के भागी होंगे। बाल्यावस्था से हम दोनों का भाई बहिन का सम्बन्ध रहा है। अब ऐसा विचार मनमें लाकर हम दोनों अपनी उच्चकुलों को कलंकित करनेवाले सिद्ध न होंगे? हम दोनों संसार की महान् ऐश्वर्य और शक्तिशालिनी प्रतिष्ठितजातियों के आचार्यों की सन्तति हैं। ऐसा विचार भी मनमें लाकर हम दोनोंजातियों की कीर्ति को नष्ट करनेवाले कुलांगार माने जायंगे। जाति के मानमर्यादा की रक्षा के लिये मनुष्य सर्वप्रकार के कष्ट सहन करने के लिये भी सहर्ष तैयार रहता है। हम वैयक्तिक सुखोपभोग की लालसा पर उसे बलि चढ़ा देंगे तो हम से बढ़कर निन्दनीय संसार में कौन हो सकता है? जातीयबन्धन के विचार से मैं ऐसा नहीं कहता। तुम में कोई दोष हो ऐसा भी नहीं है। किन्तु धर्म और लोकमर्यादा की रक्षा के विचार से मैं ऐसा कह रहा हूँ। तुम मेरी बहिन हो, यही सम्बन्ध हमारा सदैव बना रहना चाहिये।

कच के इस कथन का देवयानी पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने बार बार विवाह के लिये ही आग्रह किया। परन्तु कच भी अपनी बात पर अटल रहा। जब देवयानी ने देखा कि कच किसी तरह भी नहीं मानता तो उसने क्रोध में

आकर कच को शाप दे दिया कि "तुमने मेरी बात नहीं मानी अतः मेरे पिता से जो संजीवनीविद्या तुमने सीखी है वह तुम्हें सफल न हो।" सारा यत्न निष्फल गया जान कर कच ने भी कहा—"बहिन! तुम्हारे इस राजसस्वभाव को जानकर कोई भी ब्राह्मणपुत्र तुम्हें पत्नी बनाना स्वीकार न करेगा।"

कच नवयुवक था—उस अवस्था में था जब पुरुष कामरूप अदम्यघोड़े पर सवार होता है। अनङ्ग उसके अङ्गप्रत्यङ्ग से फूट-फूट कर निकलता है। चिरतक पास रहने के कारण देवयानी से प्रेम होजाना भी स्वाभाविक था। फिर ऐसी अवस्था में जब देवयानी के मन में कच से विवाह करने की उमङ्ग हिलोरें लेती रहती थी उसके मानसिकभावों का प्रभाव कच पर भी पड़ना चाहिये था। परन्तु उसने गुरुपुत्री—बहिन के सम्बन्ध को सदैव स्मरण रक्खा और चलते समय देवयानी के प्रस्ताव करने पर न केवल विनाविलम्ब अस्वीकार किया प्रत्युत उस पर आश्चर्य घृणा और लज्जा प्रकट की। दूसरी ओर देवयानी को कच सदैव बहिन कहता रहा, कभी कोई कुभाव प्रकट नहीं किया। इस पर भी देवयानी ने विवाह का प्रस्ताव कर ही दिया। जिससे प्रकट होता है कि जहाँ कच अपने देवस्वभावानुसार देवयानी के लिये बहिनभावना को ही सदा दृढ़ करता रहा है वहाँ देवयानी दैत्यस्वभावानुसार दूषित विचारों को पालती रही है। इससे देवताओं के ऊर्ध्वोन्मुखी और दैत्यों के अधोन्मुखी मानसिकप्रवाह का भलीप्रकार परिचय मिलता है।

## भस्मासुर की नीचता

परन्तु इससे भी स्पष्टउदाहरण भस्मासुरदैत्य की नीचता का है जिससे दैत्यस्वभाव को समझना कठिन नहीं रह जाता।

एक समय भस्मासुर नामकदैत्य किसी विशेषशक्ति तथा विद्या को प्राप्तकरने की इच्छा से भगवान् शंकर की सेवा करने लगा। जब सेवाभक्ति करते बहुत समय बीत गया तब उसकी दृढ़ता तथा सेवाभक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने कहा—बेटा! तुमने हमारी बहुत सेवा की है, इच्छानुसार वर माँगो।

हाथ जोड़कर भस्मासुर बोला—भगवन्! यदि आप कृपा करते हैं तो मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये कि मैं जिस किसी के सिर पर भी हाथ रख दूँ वह मेरे हाथ रखने मात्र से भस्म हो जाय। भगवान् शंकर ने कह दिया "अच्छा ऐसा ही होगा" परन्तु भस्मासुर तो अपने मन में और ही नीचता छिपाए हुए था। उसने सोचा शंकर के वर से मेरे अन्दर वह शक्ति तो आ ही गई है। शंकर के सिर पर हाथ रख कर इन्हें भस्म कर दूँ और फिर पार्वती पर कब्जा कर लूँ। यदि इनके सिर पर हाथ रखने से शंकर भस्म हो गये तब पार्वती को ले जाऊँगा और यदि ऐसा न हुआ तो शंकर झूठे सिद्ध हो जायंगे। संसार में इनकी अपकीर्ति होगी—प्रतिष्ठा न रहेगी। इनके वर की परीक्षा इन्हीं पर करनी चाहिये। कहीं ऐसा न हो शंकर मेरे साथ धोखा ही कर रहे हों। पार्वती पर कब्जा करने का भी इससे अच्छा और कौन अवसर मिल सकता है। ऐसा विचार कर भगवान् शंकर के सिर पर हाथ रखने के लिये भस्मासुर आगे बढ़ा। शंकर भी उसके भाव को ताड़ गये। सर्वप्रकार की शक्तियों के भण्डार होते हुए भी शंकर दुवधा में पड़ गये। वर को रद्द करते हैं तो वचन भङ्ग होता है, जिससे संसार में असत्य-

भाषण के कारण अपकीर्ति होती है। सम्भावितपुरुष की अपकीर्ति मरने से भी बुरी है। दूसरी ओर काल सिर पर हाथ फैलाए खड़ा है। इसी दुवधा में उस दुरात्मा कृतघ्नदैत्य से बचने के लिये भगवान् शंकर उठ भागे। आगे शंकर और पीछे दैत्य भागे जा रहे हैं।

## भ० विष्णुद्वारा शंकर की सहायता.

शंकर की इस विपत्ति का भगवान् विष्णु को समाचार मिला तो वे शंकर की सहायता के लिये पहुँचे। आप एक अतिसुन्दर मनोहररूपा स्त्री का स्वरुप धारण कर दैत्य को रास्ते में ही आ मिले। उसमोहिनी स्त्री पर दृष्टि पड़ते ही दैत्य तो लट्टू हो गया। कुछ देर आँखें फाड़ फाड़ कर उसकी ओर ताकता रहा। अन्त में कामान्ध हो उस स्त्री के पास जाकर बोला—सुन्दरी! तेरे रूपयौवन को देखकर तो मालूम होता है कि संसार में तू एक अद्वितीय स्त्रीरत्न है। अतः तेरा विवाह भी एक अद्वितीय नररत्न के साथ ही होना चाहिये। कहने की आवश्यकता ही क्या है, तू स्वयं देख सकती है कि मेरे जैसा ऐश्वर्यवान् और शक्तिशाली इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। देखो! शंकर को लोग बड़ा कहते थे वह भी मुझसे भयभीत हो भागा जा रहा है, दूसरे की तो बात ही क्या? इससे तू समझ सकती है कि तेरे योग्यवर सृष्टिकर्त्ता ने मुझे ही पैदा किया है। निश्चय जान कि हमारे पूर्वकर्मों ने ही इस स्थान और ऐसे अवसर पर हमारा मेल करा दिया है। हे भामिनि! मुझे आशा है कि तू भी मेरे साथ ही अपना गठजोड़ा करने में गौरव मानेगी, हमारे इस मेल को अपने भाग्योदय का ही लक्षण समझेगी।

स्त्री बोली—आप ठीक कहते हैं। इस से बढ़ कर मेरे लिये सौभाग्य की बात क्या हो सकती है कि आप जैसा सर्वगुणसम्पन्न पति मिल जाए। फिर मैं ऐसे पुरुष के साथ विवाह करने से क्यों इन्कार करूंगी और दूसरा ऐसा कहाँ पाऊँगी? यह काम तो जितना शीघ्र हो जाए उतना ही अच्छा। परन्तु यहाँ पर तो मैं शंकर के ताण्डवनृत्य की प्रशंसा सुनकर उनका नृत्य देखने और गाना सुनने आई हूँ। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि अपने प्रथमनिर्धारित कार्य को जब तक पूर्ण न करलूँ दूसरे कार्य की चर्चा भी न चलाऊँगी। अतः जब तक शंकर का नृत्य नहीं देखलेती तब तक आपके प्रस्ताव पर अपनी प्रतिज्ञानुसार विचार भी नहीं कर सकती। आप मुझे पहले शंकर के पास होआने दीजिये फिर आपसे इस विषय में बातचीत करूँगी।

दैत्य बोला—तेरी यह इच्छा तो मैं अभी पूर्ण कर सकता हूँ। मैं चिरकाल तक शंकर से सर्वविद्याओं और कलाओं को सीखता रहा हूँ। केवल सीखा ही नहीं, उन कलाओं में शंकर से भी कई गुणा अधिक कुशलता प्राप्त की है। शंकर तो विष के नशे में चूर पड़ा रहता है, उस की सर्वविद्याएं मृतप्राय पड़ी हैं। परन्तु मैंने तो उन कलाओं को शंकर से संकेतरूप में सीखकर अपनी बुद्धिमत्ता से बहुत बड़ा आकार दे दिया है। यह कलाएं ऐसी हैं कि इनको चतुरमनुष्य जितना विस्तार देना चाहे दे सकता है। भंगेड़ी शंकर ने तो इनको सुखा ही डाला था। किसी सुअवसर पर मैंने इन विद्याओं को सीखने का विचार कर लिया और शंकर से उनका उद्धार कराकर फलने फूलने का क्षेत्र बना दिया, अन्यथा शंकर ने तो इनका गला ही दबा दिया था। इसी वास्ते तो कहते हैं कि विद्या भी योग्य अधिकारी

के पास ही फलती फूलती और शोभा पाती है। मैं तुम्हें ऐसा नृत्य दिखा सकता हूँ जो उस भंगेड़ी गंजेड़ी के ध्यान में भी नहीं आ सकता !

दैत्य की बात सुनकर स्त्रीरूपधारी भगवान् मन ही मन हँसे और फिर बोले यदि आप ही मेरी अभिलाषा को पूर्ण कर सकते हैं तो फिर मुझे शंकर के पास-जाने की क्या आवश्यकता है ? तब तो प्रतिज्ञानुसार प्रथमनिर्धारित कार्य को पूर्ण करने के लिये शंकर तक पहुँचने के कारण हम दोनों के विवाह में विलम्ब होने की जो चिन्ता मेरे मन में पैदा होगई थी वह भी दूर हो जायगी। स्त्री की यह बात सुनकर दैत्य प्रसन्न हो नाचने लग गया। नाचते नाचते किसी भावविशेष को प्रदर्शित करने के लिये ज्यों ही उसने अपने सिर पर हाथ रक्खा त्यों ही वह जलकर भस्म हो गया। भगवान् शंकरजी के वर की पूरीपूरी परीक्षा हो गई और "खाड खने जो और को ताको कूप तैयार" वाली कहावत भी चरितार्थ हो गई।

उपरोक्त दोनों कथाओं से दैत्यस्वभाव का पता चल सकता है। कच ने गुरु-पुत्री के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया था, यद्यपि उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने पर भी कच अधिक दोष का भागी नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि गुरु ने अपनी पुत्री और शिष्य का विवाह कर दिया। परन्तु जहाँ देवताओं के सामने सदैव उच्चआदर्श रहता है वहाँ दैत्यों की दशा यह है कि जिस गुरु से सर्वप्रकार की विद्याएं सीखता रहा भस्मासुर उसकी ही निन्दा करने लग गया और उसका ही वध करके गुरुपत्नि-जिसका माता से भी अधिक महत्त्व होता है-पर ही कब्जाकरने की धुन लगा बैठा। इस से बढ़कर दैत्यों की नीचता का उदाहरण क्या दिया जा सकता है ?

पर एक भस्मासुर पर ही क्या निर्भर है ? यहाँ तो "आवा ही ऊत गया" वाली बात है। रावण को आदिदेवब्रह्मा ने वर दिया तो वह देवताओं और ऋषि-मुनियों का ही नाश करने पर उतारू हो गया, निर्लज्ज हो स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने लग गया। हिरण्यकशिपु को भी ब्रह्मा के वरदान से ही बल और ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। जब जब भी दैत्यों पर विपत्ति आती है देवताओं का हृदय द्रवित हो जाता है और वे ही सदैव उनकी रक्षा करते रहे हैं। फिर भी दैत्यों ने होश सम्भाला नहीं कि देवताओं पर ही वार किया नहीं।

कहने का प्रयोजन यह कि शान्ति अवस्था में भी दैत्यलोग सदैव उपकार के बदले में अपकार ही सोचा और किया करते हैं। उनको दण्ड देने से भगवान् का प्रयोजन धर्म तथा अत्याचारपीड़ित लोगों की रक्षा करने के अतिरिक्त अत्याचारी-दैत्यों का सुधार भी रहा है। यही कारण है कि किसी दैत्य के उत्पात करने पर भगवान् ने ऐसा ही उपाय किया जिससे धर्म और साधुजनों की रक्षा भी सुगमता से हो और दैत्यों एवम् अन्यलोगों को यथोचितशिक्षा भी मिल जाए। जिससे भविष्य में कोई मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस न कर सके। जैसे रावण का सर्वस्वनष्ट करके संसार को यह शिक्षा दी कि जो कोई निर्दोष ऋषिमुनि तथा ईश्वरपरायणपुरुषों पर अत्याचार, राक्षसीसत्ता के मद में राज्य तथा ऐश्वर्यविस्तार के लोभ से दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण, कामलिप्सा से स्त्रियों का हरण करेगा या ऐसे लोगों की सहायता करेगा उसे सपरिवारनष्ट होना पड़ेगा। शारीरिकबल के

अभिमानीलोगों को हिरण्याक्ष का नाश करके शिक्षा दी कि देवता और मनुष्य तो दूर रहे भगवान् वन्यजन्तुओंद्वारा भी उनका मानमर्दन कर सकते हैं। हिरण्यकशिपु के अत्याचारों का अन्त करने के लिये नृसिंहरूपधारण कर जहाँ ब्रह्माजी के वर को सार्थक किया वहाँ यह शिक्षा दी कि भौतिकऐश्वर्य और शक्ति प्राप्त करके भगवान् के कोप और मृत्यु से कभी निर्भय न होना चाहिये। कंस आदि का मानमर्दन कर संसार को वता दिया कि अत्याचारी कितना भी सावधान क्यों न रहे भगवान् के दण्ड से वच नहीं सकता। सारांश यह कि भगवान् ने जव जिस रूप में अवतार धारण किया तव उसी रूप में अवतीर्ण होने के एक तो विशेषकारण अवश्य रहते थे दूसरे उससे संसार को अधिक से अधिक शिक्षा देना अभीष्ट होता था। उदाहरणार्थ जालन्धर की कथा को ही लीजिये—

## भगवान् विष्णु और वृन्दा.

पुराणों में लिखा है कि वृन्दा वड़ी धर्मात्मा सती और स्वामी के लिये जान तक दे देने के लिये तैयार देवी थी। उस समय उस से वढ़कर तप का जीवन व्यतीत करनेवाली कोई स्त्री तो क्या, पुरुषों में भी वहुत कम थे। उसके तप के आगे देव, मुनि, सिद्ध सव सिर झुकाते थे। देवयोग से उसको स्वामी जालन्धर जैसा दुराचारी और क्रूरकर्मी राक्षस मिला हुआ था। जितनी सतीसाध्वी, सदाचारिणी और तपस्विनी वृन्दा थी, दूसरी ओर उससे भी कईगुणा अधिक अनाचारी, विषयी, लम्पट तथा निर्दयी जालन्धर था। दैत्यराज जालन्धर स्वयं तो वली था ही परन्तु वृन्दा के तपःप्रभाव से उसकी शक्ति सर्वोपरि हो गई थी। वृन्दा के तपःप्रभाव से ही उसने त्रिलोकी को वश में कर रक्खा था। उसी तप के वल पर जालन्धर तथा उसके अनुचर त्रिलोकी में ऊधम मचा रहे थे। वृन्दा ही उनकी शक्ति का केन्द्र थी और उसी के तप को जालन्धर तथा उसके अनुचरों ने अपनी दुष्टवासनाओं की पूर्ति का साधन वना रक्खा था। उन्हों ने सहस्रों अवलाओं का सतीत्व भङ्ग किया। कामान्ध हो लोगों की वहुवेटियों को उठा ले जाते और उन पर अकथनीय अत्याचार करते थे। वे लोग सदाचार को दम्भ समझते थे। संसार की कोई भी शक्ति इस अत्याचार को रोकने में समर्थ न थी। यदि किसी ने सामना करने का साहस भी किया तो उसे, वृन्दा के तपःप्रभाव से, दैत्य सहज ही में मट्टी में मिला देते थे। और यह विरोध उलटा दैत्यों की चिढ़ का कारण वन जाता था। जिससे उत्तेजित हो वे और भी अधिकनिर्दयी वन जाते थे। यद्यपि वृन्दा इस अत्याचार को पसन्द न करती थी परन्तु स्वामीभक्तिधर्मवशात् वह जालन्धर को रोक भी न सकती थी। अन्त में जव जालन्धर के अत्याचार पराकाष्ठा को पहुँच गये और चारों ओर हाहाकार मच गई तो भगवान् तक वात पहुँची। उस समय जालन्धर आदि दैत्यों के दमन का उपाय यही था कि जिस शक्ति के आधार पर दैत्यलोग इतना उछलकूद मचाते और अनाचार करते थे उसको, अर्थात् वृन्दा*

* पुराणों में अनेक कथाएं अलंकार के रूप में लिखी हुई हैं। मालूम होता है जालन्धर की कथा में वृन्दा शब्द भी अलंकार के रूप में ही आया है। वृन्द का अर्थ समूह है। और इस कथा में यह शब्द प्रजा के लिये प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। यही कारण है कि यहाँ स्त्रीलिङ्ग वृन्दा

के सतित्व को ही नष्ट कर दिया जाए। तब भगवान् विष्णु ने जालन्धर का रूप धारण करके ऐसा ही किया। वृन्दा की स्वामीभक्तिरूप शक्ति नष्ट होते ही जालन्धर का बल जाता रहा और देवताओं को उस पर विजय प्राप्त हुई। वृन्दा को पता लगा तो उसने भगवान् को शाप दे दिया। भगवान् ने उसके शाप को न्यायसंगत समझकर स्वीकार कर लिया परन्तु लाखों निरपराध अबलाओं के सतीत्व को दुराचारी दैत्यों के हाथों भङ्ग होने से बचा लिया और अत्याचारपीड़ित लोगों ने सुख का साँस लिया।

इस से जहाँ धर्म और अत्याचारपीड़ितलोगों की रक्षा हो गई वहाँ दैत्यजाति और सर्वसाधारण को शिक्षा भी मिल गई कि दूसरों की स्त्रियों का सतीत्व भङ्ग करने वाले न केवल स्वयं ही घोरपाप के भागी और कड़े से कड़े दण्ड के अधिकारी बनते हैं दूसरों की कुलस्त्रियों को दूषित करके उनको भी असीम हानि पहुँचाते हैं। जिसप्रकार जालन्धर की भौतिकशक्ति का आधार वृन्दा थी उसीप्रकार अन्य परिवारों की मानमर्यादा, इज़्ज़त आबरू, बलपौरुष और सुखसमृद्धि का आधार उनकी बहुबेटियाँ होती हैं। यदि एक वृन्दा का सतीत्व नष्ट हो जाने से दैत्यकुल की शक्ति नष्ट हो सकती है तो हज़ारों स्त्रियों का सतीत्व भङ्ग करनेवाले लोग भी निश्चय ही हज़ारों ही कुलों के बल पौरुष और मानमर्यादा को नष्ट करते हैं। अतः प्रत्येकव्यक्ति को ऐसे पाप से सदैव बचे रहना चाहिये।

कुछ लोग प्रश्न किया करते हैं कि जब इन कर्मों के करनेवाला अक्षम्यदोषी ठहरता है तो भगवान् को ऐसे कर्मों का दोष क्यों नहीं लगता? दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि दोषपूर्ण कर्म के फल का भागी भगवान् को भी होना चाहिये। इस एक प्रश्न में ही भगवान् की बलि को छलना, बाली को छिप कर बाण मारना आदि अन्य सब लीलाओं का भी समावेश समझ लेना चाहिये। अतः इस विषय पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित जान पड़ता है।

---

शब्द का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार अर्थ करने पर जालन्धर की कथा का यही भाव निकलता है कि यद्यपि जालन्धर अत्यन्तदुराचारी था पर उसकी वृन्दा–प्रजा की राज्यभक्ति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। इसवास्ते वह अपने स्वामी–राजा को ईश्वर समझ कर पूजती थी और राजा के कुकृत्यों की ओर कुछ भी ध्यान न देकर अपनी गाढ़ेपसीने की कमाई से उसकी सहायता करती रहती थी। ऐसी राज्यभक्त प्रजा की शक्ति से जालन्धर देवताओं तक को भी तङ्ग करने लग गया। भगवान् विष्णु ने जालन्धर के अत्याचारों को रोकने के लिये जालन्धर का ही रूप धारण करके उसकी प्रजा की स्वामीभक्ति को मिटा दिया। जिस शक्ति के आधार पर जालन्धर इतने अत्याचार करता था उसके न रहने से देवताओं को विजय प्राप्त हुई। इस कथा से भगवान् ने यह भी शिक्षा दी है कि राजा को जनशक्ति का कभी दुरुपयोग न करना चाहिये और प्रजा को भी सदैव ध्यान रखना चाहिये कि राजा या कोई राज्यकर्मचारी उसकी शक्ति को अधर्म और दुराचार में खर्च न कर सके। ज्यों ही प्रजा को मालूम हो कि उसकी शक्ति का दुरुपयोग किया जा रहा है त्यों ही राजा के साथ सहयोग करना बन्द करदे। अन्यथा राजा के पापकर्मों के फल का भागी उस प्रजा को भी बनना पड़ता है जिसके बल पर राजा को पापकर्मों के करने का साहस होता है।

प्रजा में राजद्रोह फैल जाने के कारण देशको भी हानि पहुँचती है, इसवास्ते प्रजा ने जब राजा के विरुद्ध किये गये आन्दोलन या असहयोग का परिणाम देखा तो क्षुभित होकर उसने विष्णुभगवान् को शाप दे दिया। जनशक्ति का शाप भगवान् को भी स्वीकार करना पड़ा।

## भगवान् तटस्थ, निरिच्छित और निरपेक्ष हैं.

यह सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि एक ही परमात्मा त्रिगुणात्मिका माया को अपने अधीन कर-राजसशक्तिद्वारा जगत का सर्जन, सात्त्विकद्वारा रक्षण तथा तामसशक्तिद्वारा संहार—जगत का संचालन करते हैं। अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन! ईश्वर सर्वभूतों को यंत्रारूढपुतलियों की भाँति घुमाते रहते हैं। इससे तो यह भी सिद्ध होता है कि समस्तजगत् के व्यवहारों के कर्त्ता भी परमात्मा ही हैं। भगवान् मायापति हैं, माया के नियन्ता हैं, अधिक क्या? यह माया उनकी ही फैलाई हुई है। अतः माया के तीनों गुण और उनके नानाविधधर्मों के नियन्ता भी वही हैं। परन्तु माया, मायाकृतकार्य, गुण और धर्मों के नियन्ता होने पर भी भगवान् के सत्‌चित् और आनन्द अर्थात् अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द में कोई त्रुटि नहीं आती। संसार में भी देखा जाता है कि अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द के अभाव अथवा दूसरे की अपेक्षा न्यूनता होने पर ही मन में उसकी इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा कर्म में प्रवृत्त कराती है। वही कर्म सुखदुःखरूप फल का हेतु होता है। निष्कामभाव से किया हुआ कर्म फल का हेतु नहीं होता। उदाहरणार्थ, लोक में हत्या का दण्ड मृत्यु है। परन्तु पहाड़ से पत्थर, मार्ग में चलते हुए बिजली या मकान गिरने पर यदि किसी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसके बदले में मृत्युदण्ड किसीको भी नहीं दिया जाता। कारण, उस हत्या की प्रेरणा किसी इच्छाद्वारा नहीं हुई। यदि किसी मनुष्य के हाथ से भी भूल से किसी की हत्या हो जाती है तो उस हत्या का दण्ड भी मृत्यु नहीं किन्तु बहुत कम सज़ा दी जाती है। वह सज़ा हत्या की नहीं, उस भूल की दी जाती है जो हत्या का कारण हुई है। तात्पर्य यह कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" कर्म-फल का हेतु मानसिकविकार इच्छा ही है। इच्छा का कारण है अस्तित्व, ज्ञान तथा आनन्द का अभाव। भगवान् तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनमें किसीप्रकार की इच्छा हो नहीं सकती। अतः उनमें कर्तृत्व का आरोप नहीं किया जा सकता और न ही वे किसीप्रकार के कर्मबन्धन में आ सकते हैं। किन्तु निरिच्छित, निर-पेक्ष, तटस्थ और साक्षीरूप से माया तथा जीवकृत कार्यों का संचालन करते हैं।

## सूर्य की निरपेक्षता.

सूर्य के उदाहरण से यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जाता है। सूर्यभगवान् की सत्ता से जगत के समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। सारा ग्रहनक्षत्रादि ज्योतिर्मण्डल सूर्य से ही सत्ता प्राप्त करता है। यदि सूर्य अपने मण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर ले तो ग्रहनक्षत्रादि की दशा क्या हो जायगी, यह विचारणीय बात है। इस पृथिवी को ही लीजिये! यदि इसका सम्बन्ध सूर्य से टूट जाए तो इस पर सदा के लिये अन्धकार छा जाए, सर्वत्र बर्फ के टीले खड़े हो जायं। सब्ज़रङ्ग का एक पत्ता भी

कहीं दिखाई न दे। पृथिवी की गति ही एकदम रुक जाए। दिनरात्रि की चर्चा तो क्या चर्चा करने वाला ही कोई न रहे। सूर्यमाला से पृथिवी का सम्बन्ध विच्छेद होते ही प्रलय की दशा हो जाए। इस से प्रकट होता है कि एक यही पृथिवी क्या सूर्यमण्डल ग्रहमाला की असंख्य ऐसी पृथिवियों का संचालन सूर्य भगवान् करते हैं। दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, ऋतु, वायु वर्षा, सृष्टि रचना, पालन पोषण संहार, जीव के सात्त्विक, राजस, तामस कर्मों का विस्तार, अधिक क्या? पृथिवी की स्थिति और लय का नियंत्रण सूर्यभगवान् ही करते हैं। फिर भी इस पृथिवी के जीवों के कर्मनिबन्धन का उत्तरदायित्व सूर्यभगवान् पर न कभी आया है और न आगे कभी आ सकता है। सूर्य से ही प्रकाशादि नानाशक्तियों की सहायता लेकर समस्तप्राणी अपना अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं फिर भी किसी जीव के शुभाऽशुभ कर्मफल के भागी सूर्यभगवान् कभी हुए नहीं। कारण यही है कि सूर्यभगवान् निरिच्छित निरपेक्ष तटस्थ और साक्षीरूप से जगत व्यवहार के संचालक हैं। अतः वे जीवकृतधर्माधर्म के उत्तरदायी नहीं हैं। यही क्यों? सूर्यभगवान् ऊंच नीच, पवित्र अपवित्र सब जगह बिना भेदभाव के प्रकाश डालते, "आदित्याज्जायते वृष्टिः" वृष्टि करते और सब जगह से शुद्ध अशुद्ध जल खेंचते हैं अपनी तप्तकिरणोंद्वारा असंख्यप्राणियों की नित्य गति करते हैं। परन्तु इन क्रियाओं का अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव सूर्यपर कभी नहीं पड़ा। क्योंकि सूर्यभगवान् निरपेक्ष निरिच्छित, तटस्थ और साक्षीमात्र हैं। सूर्य की निरपेक्षता का यह प्रत्यक्षप्रमाण है कि ग्रहनक्षत्रादि तारामण्डल तो उसकी अपेक्षा रखते हुए उसके गिरद घूमते हैं परन्तु सूर्य को उनकी अपेक्षा न होने से वह तारामण्डल के गिरद नहीं घूमता। भिक्षुक ही दाता की अपेक्षा रखकर उसके गिरद चक्र काटता है। निरपेक्षदाता भिक्षुक के पास कभी नहीं जाता। हाँ सूर्य को केवल भगवान् की ही अपेक्षा है जिससे वह सत्ता स्फूर्ति प्राप्त करता है और वह सर्वव्यापक विभुभगवान् उसके भीतर भी-सत्ता रूप से विद्यमान हैं। अतः सूर्य भी अपनी ही परिधि पर घूमता है अर्थात् अपने अन्दर सत्तारूप से व्यापक भगवान् के ही गिरद चक्कर लगाता है, अन्य किसी की उसे अपेक्षा नहीं।

जब सूर्य ही निरिच्छित और निरपेक्ष साक्षीरूप होने से अपने अथवा उसकी सत्ताद्वारासंचालित जीवों के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता तोत्रिभुवनपति अनन्त सूर्यमण्डलों को भी सत्तास्फूर्तिद्वारा चलाने वाले निरिच्छित, निरपेक्ष, तटस्थ, एवम् साक्षीरूप सच्चिदानन्द भगवान् अपने अथवा किसी जीव के कर्मफल के अधिकारी कैसे हो सकते हैं? अर्थात् सूर्य के समान ही परमात्मा निरिच्छित, निरपेक्ष तटस्थ और साक्षीरूप से जगत के सर्वव्यवहारों का संचालन करते हैं परन्तु धर्माधर्म से उनका किसीप्रकार संस्पर्श नहीं होता। और सर्वप्रकार के व्यवहारों का संचालन करने पर भी उनमें कर्म अथवा वस्तुनिबन्धन दोषों का आरोप नहीं होता।

## दैवी तथा आसुरीशक्ति

अब यह स्वाभाविक ही शंका होती है कि जब सृष्टि के सर्वव्यवहारों का संचालन भगवान् ही करते हैं और संसार में विभूतिरूप से जो कुछ विद्यमान है वह

भगवान् की ही कलाओं का विकास है तब आसुरीसृष्टि में भी शक्तिरूप से भगवान् ही विद्यमान हैं और उनके व्यवहारों का संचालन करनेवाले भी वही हैं फिर असुरों का दोष क्या?

इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टि का आदिकारण ब्रह्म ही है, उसके सिवा दूसरी कोई सत्ता है नहीं। वही मूलकारण ब्रह्म अपनी राजसशक्तिद्वारा सर्जन, सात्त्विक-शक्तिद्वारा पालन और तामसशक्तिद्वारा जगत का संहार करते हैं। अतःनिश्चय ही आसुरीसृष्टि का सर्जन और उसके सर्वव्यवहारों का संचालन करनेवाले भी वही हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

**द्विधा ममास्ति वै शक्तिर्विभक्ता पृथिवीतले।**
**सात्त्विकी तामसी चेति ह्यधि तिष्ठन्ति यां सदा॥**
**देवाश्च दानवाश्चैव मदाज्ञावश वर्तिनः॥**

पृथिवीतल पर देवता और असुर मेरी ही शक्ति के सात्त्विकी और तामसी दो विभाग हैं जो मेरी ही आज्ञा से इन दोनों विभागों में अधिष्ठान करते हैं।

**शक्ति में याऽसुरी चाऽस्ति सा दैव्यन्तर्गता मता॥**
**केवलं सत्त्व तमसो भेदेनेयन्तु भिद्यते॥**

मेरी आसुरीशक्ति भी दैवीशक्ति के ही अन्तर्गत है। भेद केवल यही है कि आसुरीशक्ति तामसी और दैवी सात्त्विकी है।

भगवान् सनत्कुमारजी के जीवन में लिखा जा चुका है कि प्रकृति की गति का प्रवाह द्विमुखी है। एक तमोगुण से सत्त्व की ओर और दूसरा सत्त्व से तमोगुण की ओर। ज्यों ज्यों जीव सत्त्व की ओर ऊपर चढ़ता जाता है त्यों त्यों देवलोकों की ओर बढ़ता चला जाता है और ज्यों ज्यों नीचे गिरता जाता है असुरलोकों की ओर उसका पतन होता जाता है। इसी भाव को इस शास्त्रीयवचनद्वारा प्रकट किया गया है—

**देवानामूर्द्धलोकेषु स्थितिः स्वाभाविकी मता।**
**असुराणामधोलोके वसतिर्विनिवेशिता॥**

अपने अपने स्वाभावानुसार देवताओं का ऊर्द्धलोक और असुरों का अधोलोक में निवास होता है। "ब्रह्माण्डेषु च धर्मस्य स्थितिर्याथार्थ्यतोमता।" देवताओं तथा असुरों की स्थिति समान रहने पर धर्म की व्यवस्था ठीक ठीक रहती है।

जैसे रात्रि न होती तो दिन-प्रकाश का, दुःख न होने पर सुख का कोई महत्त्व नहीं रहता वैसे ही तामसीसृष्टि के विना सात्त्विकीसृष्टि भी अपनी उच्चता को अनुभव न कर सकती थी। न अतिप्रकाश होने पर दर्शनात्मक प्रवृत्ति हो सकती है न अति अन्धकार होने पर। नेत्रोंद्वारा काम तो तब ही लिया जा सकता है जब प्रकाश और अन्धकार का योग्य सामञ्जस्य हो। शक्ति का पारस्परिकसंघर्ष ही जीवों को उन्नति की ओर अग्रसर करता है। यही कारण है कि उन्नतिक्षेत्र में दौड़धूप करते हुए कभी कभी भगवान् की इस सात्त्विकी तथा तामसीसृष्टि की—

तथा दैवासुरं युद्धं मध्य मध्येऽत्र जायते।
असुरा कर्म वत्यासात् देवाञ्जित्वा स्वशक्तितः॥

वीच वीच में टक्कर भी हो जाती है। सुख में पड़कर देवता आलसी एवम् निर्वल हो जाते हैं और परिश्रमी होनें के कारण असुर वलवान। अतःअसुर देवताओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। तव देवताओं के पास भगवान् के दरवार में पुकार करने के सिवा कोई चारा नहीं रहता। भगवान् की सहायता से ही—

"देवा अपि प्रसादान्मे पुनर्जित्वासुरांस्तथा" पुनःअसुरों पर विजय प्राप्त कर अपने छिने हुए अधिकार वापिस लेते हैं।

कहने का प्रयोजन यह कि असुरों के सर्वव्यवहारों का भी ब्रह्मशक्तिद्वारा संचालन होता है। उनके व्यवहारों का संचालन ही क्यों? वे ब्रह्म की ही तामसी शक्ति हैं। फिर भी उन्हें दण्डित किया जाता है–धर्मविरुद्ध कर्मों के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है, इसका कारण संक्षेपतया यही है कि—

जैसा हम पहले लिख आए हैं, पशुयोनि तक जिन जीवों में भगवान् की चार कलाओं का विकास होता है वे सव भोगयोनियाँ हैं और इसके ऊपर जीवों की गणना कर्मयोनियों में की गई है। उन्हें विचारस्वतंत्रता भी प्राप्त है अर्थात् धर्माधर्मविवेक की भी उनमें सामर्थ्य है। यही कारण है कि जिसप्रकार पशुपर्यन्त भोगयोनियों के आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि व्यापार प्रकृतिनियमों के अन्दर वन्धे हुए हैं वैसे मनुष्य और देवअसुर योनियों को इन व्यापारों में प्रकृतिनियमों के अन्दर वन्धें रहना नहीं पड़ता। उन्हें इस विषय में हरप्रकार की स्वतंत्रता है। जव भी कर्मयोनि का कोई जीव उस स्वतंत्रता से अनुचित लाभ उठाकर धर्म की व्यवस्था को विगाड़ने का यत्न करता है अर्थात् भगवान् की दी हुई विशेषशक्ति का दुरुपयोग करके अन्यजीवों के कष्ट का कारण बन जाता है तव ही वह दण्ड का अधिकारी हो जाता है।

## अवतार धारण करने का प्रयोजन.

वस्तुतः सत्, रज और तम की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। संसार में कभी सात्विकीगुण की वृद्धि हो जाती है कभी राजसी और कभी तामसी की। संसार में युगपरिवर्तनों का कारण भी यही तीन गुण हैं। सात्विकी गुण तो भगवान् की आनन्दावस्था का वोधक है। उसकी वृद्धि से जीवमात्र को आनन्द ही अधिक प्राप्त हो सकता है। परन्तु तामसीगुण तो उसके रुद्रभाव को प्रकट करता है। उसकी वृद्धि से संहार की ही अधिक सम्भावना हो सकती है। अतः भगवान् उसके आधिक्य को रोकने के लिये ही असुरों को दण्ड देते हैं। अर्थात् भगवान्‌द्वारा प्रदान की गई स्वतंत्रता से अनुचित लाभ उठाकर असुरों के तमोगुण का राज्य स्थापन करने पर भगवान् उन्हें दण्ड देकर तमोगुणद्वारा ही तमोगुण का प्रभुत्व मिटाते हैं। इसमें भगवान् को असुरों का भला भी अभीष्ट होता है। क्योंकि तमोगुणद्वारा शासित पुरुष की वुद्धि पर अज्ञान का आवरण आने लग जाता है और फिर धर्माधर्म का विवेक न रहने से वह अपने पद से गिर जाता है। जिसप्रकार माता, पिता, गुरु, राजा अपने पुत्र, शिष्य और प्रजा को किसी अपराध पर दण्ड

देते हैं तो इस दण्ड से भी उनका प्रयोजन अपराधी का सुधार और शिक्षा देना ही होता है और दण्ड देते समय भी उनके अपने वात्सल्यप्रेम में कमी नहीं होती वैसे ही भगवान् भी असुरों के सुधार के लिये भी अपने तामसीगुण का प्रयोग करते हैं। यदि भगवान् ऐसा न करें तो कुपथगामी बेटे अथवा प्रजा की भाँति असुर भी दूसरों को हानि तो पहुँचाते ही हैं अपना भी नाश कर लेंगे।

बस, जिस रूप में और जिन उपायों से यह प्रयोजन भलीप्रकार सिद्ध हो सके उसी रूप में भगवान् अवतार धारण करते और उन्हीं उपायों को काम में लाते हैं। इन समस्तलीलाओं को भगवान् निरिच्छित, निरपेक्ष, तटस्थ और केवल साक्षीरूप से करते हैं। अतः अवताररूप में किये गये चरित्ररूप कर्मों और प्रयोग में लाए गये उपायों के फलाफल का आरोप भगवान् पर वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे सूर्यभगवान् की किरणोंद्वारा नित्यप्रति ऊपर खेंचा जाने वाला जल न सूर्य को गीला कर सकता है और नही उसके प्रकाश अथवा उष्णता को कम।

# ( २ तरङ्ग )

## अवतारलीलाएं.

अब यहाँ भगवान् के कुछ एक अवतारों की लीलाओं का संक्षेपरूप से वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि पाठक स्वयं ही जान लें कि धर्म की रक्षा और धर्मद्रोही अत्याचारीलोगों को दण्ड देने के लिये भगवान् ने जिस रूप में जो चरित्र किये उस समय वही अधिक लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

## मोहिनी अवतार.

देवताओं तथा दैत्यों ने मिलकर समुद्र का मथन किया और उसमें से चौदह रत्न निकाले। और सब वस्तुओं का वँटवारा तो शान्तिपूर्वक हो गया, अमृत को बाँटते समय झगड़ा उठ खड़ा हुआ। देवगण आधा आधा बाँट लेने पर राज़ी थे परन्तु दैत्यों की नीयत में फर्क था। वे चाहते थे सारा स्वयं ही डकार जाएं, देवताओं को उसमें से कुछ भी न दें। झगड़े से बचने के लिये देवता शायद मान भी जाते परन्तु सारे अमृत पर अधिकार जमाने से दैत्यों का प्रयोजन ही यह था कि अमृतपान करके स्वयं अमर हो जाएं और फिर देवताओं का सदा के लिये अन्त कर दें। उनके इस भाव को देवता भी ताड़ गये थे। इसी वास्ते आधा अमृत वँटवा लेने का आग्रह कर रहे थे। दैत्य समझते थे यदि आधा अमृत देवताओं को बाँट दिया तो उनका मनोरथ सिद्ध न होगा। अमृतपान कर देवता भी अमर हो जायंगे और फिर उनका नाश करना सुगम न रहेगा। बस झगड़े का यही कारण था। देवताओं को अमृत से वंचित रखने के लिये, दैत्य कईप्रकार की चालें चल रहे थे, कभी युक्तियाँ लड़ाते, कभी धमकियाँ सुनाते और कभी छीनाझपटी पर उतारू हो जाते थे। इस झगड़े का निपटारा न होता देखकर भगवान् मोहिनीस्वरूप में अवतार धारण कर वहाँ पहुँचे। दैत्यों ने जब एक अतिसुन्दर स्त्री को सामने

खड़ी देखा तो सबके सब उसपर लट्टू हो गये और स्वयं ही यह प्रस्ताव कर दिया कि यह स्त्री हमारी पत्नी बन जाए और हमारे झगड़े का जो फैसला कर दे वह हमें स्वीकार है। अर्थात् जिस को जितना अमृत पिलाना यह उचित समझे पिला दे। देवताओं ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अमृत का घड़ा मोहिनी के हवाले किया गया। मोहिनीरूप में भगवान् ने ऐसी युक्ति की कि देवताओं को तो अमृत पिला दिया और दैत्यों को मीठा जल। दैत्यों ने क्रोध में आकर देवताओं से युद्ध किया, परन्तु हार गये। क्योंकि अब देवता अमृतपान कर चुके थे।

कुछ लोग भगवान् के इस कृत्य की आलोचना किया करते हैं परन्तु ऐसा करते हुए वस्तुस्थिति की ओर ध्यान नहीं देते। उन्हें सर्वप्रथम यही देखना चाहिये कि दैत्यों की नीयत अच्छी नहीं थी। सारे अमृत पर अधिकार जमाने से उनका प्रयोजन ही यह था कि अमृत के प्रभाव से देवताओं का सदा के लिये अन्त कर दिया जाए। ताकि उनकी मनमानी कार्यवाहियों में बाधा डालनेवाला कोई रह न जाए और वे स्वच्छन्दतापूर्वक धर्म की जड़ उखाड़ फेंकें। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि दैत्यों के लिये ऐसी सुविधा जगत के वास्ते कितनी अनर्थकारी होती। भगवान् विष्णु जगत का पालन करनेवाले हैं। धर्मात्मा तथा नीतिज्ञराजा का कर्तव्य है कि ऐसे लोगों की शक्ति बढ़ने न दे जो धर्मात्मा, न्यायप्रिय, निरपराध और राजभक्तलोगों पर अत्याचार और लूटमार करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि अमृत को पान कर दैत्यलोग अमर हो जाते और फिर निर्भय होकर धार्मिकजगत का ध्वँस करने लग जाते तो निःसन्देह संसार पर शैतान का ही राज्य हो जाता। देवताओं को नष्ट करके भी तो दैत्यलोग चैन से नहीं बैठ सकते थे। तामसीसृष्टि फिर आपस में ही टकराने लग जाती। तमोगुण का स्वभाव क्रोध तो फिर भी अपना कार्य करता ही रहता।

दूसरी बात यह भी है कि जो लोग एक स्त्री के रूपयौवन को देखकर अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण करने के लिये तैयार हो गये, उन्हें सांसारिक ऐश्वर्य और अमरजीवन प्राप्त करने का क्या अधिकार है? वे तो निश्चय ही वैभव प्राप्त करके भी किसी दिन कामान्ध हो उसे रूपयौवन पर ही निछावर कर देंगे। और संसार में पाप फैलाने में ही उसका प्रयोग करेंगे। भगवान् ने मोहिनीरूप में अवतीर्ण हो सिद्ध कर दिया कि रूप पर फिसल जानेवाले दैत्य अमृत के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि एक स्त्री के रूप पर बलि चढ़ाकर इन्होंने सिद्ध कर दिया है कि इन की दृष्टि में अमृत का कोई मोल नहीं है—अमृत और मीठे जल में कोई अन्तर नहीं समझते। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे किसी और रूप में अवतीर्ण होकर भी दैत्यों को अमृत से वंचित कर सकते थे। परन्तु उन्हें संसार को यह दिखलाना भी अभीष्ट था कि दैत्य किस प्रकृति के लोग हैं। अमृतपान करके वे लोग पाप की ही वृद्धि करेंगे।

## वराह तथा नृसिंहावतार

दिति के गर्भ से कश्यप के दो पुत्र हुए। एक का नाम हिरण्याक्ष और दूसरे का हिरण्यकशिपु था। आसुरीशक्ति के घमण्ड में हिरण्याक्ष इतना उद्दण्ड हो गया कि उसने पृथिवी को ही जीवों के निवास योग्य न रहने देने का निश्चय कर लिया। इसी विचार से उसने पृथिवी को जलमग्न कर दिया। भगवान् ने वराह रूप धारण

करके उसका घमण्ड तोड़ा। उसका वध करके पृथिवी का उद्धार किया। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों भाईयों ने ब्रह्माजी को प्रसन्न करके वर प्राप्त कर लिया था और उसी के प्रभाव से उन्होंने ऊधम मचाना आरम्भ कर दिया। तीनों लोकों तथा लोकपालों को वश में करके देवताओं को भगा दिया और फिर पृथिवी पर अधिकार जमा कर उसे जलमग्न कर दिया। तब ब्रह्माजी के छींकने पर उनके नाक से वराह भगवान् उत्पन्न हुए, जिन्हों ने देखते ही देखते महान् विकरालरूप धारण कर लिया और अपने तीव्रखुरोंद्वारा जलराशि को विदीर्ण करते हुए, जल में प्रविष्ट हो गये। जल में प्रवेश कर उन्होंने देखा कि जैसे प्रलयकाल में पृथिवी उनके उदर में लीन रहती है वैसे ही अब भी रसातल में पड़ी है। तब उन्हों ने अपने विशाल दन्तद्वारा सहज ही पृथिवी को ऊपर उठालिया। पृथिवी का उद्धार होता देखकर हिरण्याक्ष ने क्रोधावेश में वराह भगवान् पर प्रहार किया परन्तु वराह भगवान् ने उसको मार कर देवताओं को निर्भय कर दिया।

इसीप्रकार हिरण्यकशिपु बड़ा निर्दयी था। उसने भगवान् का भी भय भुला रक्खा था। वह लोगों को वाध्य करता था कि भगवान् का नाम लेना छोड़ दें और भगवान् की जगह उसका ही भजन किया करें। उसके बेटे प्रल्हादने सत्याग्रह किया। परन्तु हिरण्यकशिपु ने प्रल्हाद पर भी नाना अत्याचार किये ताकि वह भगवान् का नाम लेना छोड़ दे। उसे पहाड़ पर से गिराया, अग्नि में फेंका और कुचल डालने के लिये उस पर हाथी को छोड़ा गया। अन्त में निर्दोष प्रल्हाद को तपे हुए स्तम्भ के साथ बाँधने का प्रबन्ध किया गया। तब भक्त की रक्षा के लिये नृसिंहरूप में अवतार धारण कर भगवान् आए और हिरण्यकशिपु को मार कर ईश्वरभक्तों का संकट दूर किया।

वराह तथा नृसिंहरूप में अवतार धारण करके जहाँ भगवान् ने ब्रह्माजी के वर को सार्थक कर दिया वहाँ नास्तिक लोगों को यह निश्चय करा दिया कि भगवान् उनकी उद्दण्डताओं का दण्ड देने के लिये हररूप में अवतार धारण कर सकते हैं और भक्तों को भी निश्चय करा दिया कि जो भक्त प्रल्हाद की तरह भगवान् पर दृढ़ भरोसा रखते हैं उनकी रक्षा के लिये भगवान् स्तम्भ फोड़ कर भी प्रकट होजाते हैं।

## बलि और वामनावतार

बलि यद्यपि दैत्यजाति में उत्पन्न हुआ था तथापि पूर्वकर्मों और धार्मिकपुरुषों के सत्सङ्ग के प्रभाव से उसमें धार्मिकभाव-दानपुण्य आदि पर श्रद्धा-पैदा हो गये थे। इन्हीं सुकर्मों के प्रताप से वह एक चक्रवर्ती राजा बन गया। उसके राज्य-विस्तार में दैत्यजाति ने बड़ी सहायता की थी। अतः उसमें एक ही बड़ा दोष आ गया था कि वह दैत्यों के उत्पात पर अधिक ध्यान न देता था। दैत्यलोग देवताओं पर अत्याचार करने लग गये। उनके ऐसे अत्याचारों का कारण बलि का स्वयं दैत्यों के आगे दबे रहना और उसकी राज्यसत्ता ही थी। जब देवताओं का कष्ट सीमा पार कर गया तो उन्होंने भगवान् से पुकार की। तब भगवान् वामन-रूप में अवतार धारण करके बलि के दरबार में आए और उससे तीन कदम भूमि दान मांगी। यद्यपि गुरु शुक्राचार्य ने भगवान् के भाव को ताड़ लिया और उन्होंने बलि को भूमिदान करने से रोक दिया, परन्तु बलि समझता था कि यदि भगवान्

उसके प्रतिकूल हो गये हैं और उससे राज्य छीनना चाहते हैं तब दान कर देना ही क्या बुरा है, और यदि ऐसी बात नहीं है तो फिर भी दान का फल तो अच्छा ही होगा। वलि ने शुक्राचार्य के मना करने पर भी तीनकदम भूमि का संकल्प कर दिया। वामन भगवान् ने विराटस्वरूप धारण करके दो कदम में सारी पृथिवी और तीसरे कदम में वलि का शरीर भी माप लिया। इसप्रकार वामन भगवान् ने वलि को राज्यच्युत करके देवताओं का कष्ट दूर किया। वलि को तो पृथिवी का राज्य छोड़कर पाताल जाना ही पड़ा परन्तु भगवान् भी उसके चँगुल में ऐसे फँसे कि सदा के लिये वलि का ड्योढ़ी वरदार वनना पड़ा।

वलि में और तो कोई दोष न था, उस में इतनी ही निर्वलता थी कि वह, यह समझकर कि दैत्यलोगों के वल प्रताप से ही उसे चक्रवर्तीराज्य मिला हुआ है, दैत्यों के अत्याचारों का कोई नोटिस न लेता था। जिस राजा के राज्य में धर्मात्मा तथा राज्यभक्त लोगों को कष्ट होता है, निःसन्देह वह प्रजापर शासन करने का अधिकारी नहीं है। दूसरों के कुकर्मों का फल तो वलि को दिया न जा सकता था। भगवान् ने दैत्यों के उपद्रवों का अन्त करने के लिये यही फैसला किया कि वलि का राज्य से इस्तीफा ले लिया जाय और इस्तीफा भी दान के रूप में लिया जाय। इस से भगवान् ने यही शिक्षा दी है कि कोई राजा स्वयं धर्मात्मा भी क्यों न हो यदि उसके राज्य में धार्मिकलोगों पर अत्याचार होता है और अत्याचारियों के कर्मों का कोई नोटिस नहीं लिया जाता तो वह राजा राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। जब भी धार्मिकपुरुषों की ओर से पुकार होगी राजा को राज्य से च्युत होना पड़ेगा।

वामनावतार का अर्थ शस्त्रहीन प्रजा का मत भी हो सकता है। अर्थात् जब राजा में किसी विशेषजाति के लिये पक्षपात उत्पन्न हो जाता है और वह जाति सजातीय राजा की शक्ति से अनुचित लाभ उठाकर दूसरों पर अत्याचार, करने लग जाती है तब धार्मिकजनता में राजा के विरुद्ध ही आंदोलन उठ खड़ा होता है और राजा को राज्य से च्युत होना पड़ता है। राज्यच्युत राजा को किसी एकान्त स्थान में रखना पड़ता है ताकि वह फिर कभी जनता में जोश न पैदा करदे और जहाँ उसे रक्खा जाता है वहाँ राज्य की ओर से पहरा लगाया जाता है। वलि को पाताल भेजने तथा भगवान् का स्वयं उसका पहरेदार वनने का भी यही अर्थ हो सकता है। कुछ भी हों, यह तो हर हालत में सिद्ध होता है कि जो राजा पक्षपात करने वाला है और जिस के राज्य में धार्मिक पुरुषों को कष्ट होता है वह जनता पर राज्य करने का अधिकारी नहीं रहता। इसी वास्ते वामन भगवान् ने वलि को राज्यच्युत कर दिया।

## सहस्रबाहु और परशुराम

क्षत्रियों के वंश में कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। वह भगवान् दत्तात्रयजी का प्याराशिष्य था। गुरु के पास रहकर उसने सब प्रकार की योगविद्याएं सीखीं। युद्धक्षेत्र में वह अनन्त स्वरूप धारण कर के युद्ध किया करता था। इसलिये उसे लोग सहस्रबाहु कहने लग गये और उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। उसने थोड़े ही काल में सारी पृथिवी को वश में कर लिया। सारा संसार उसका लोहा मान गया। वह अकेला ही लाखों योधाओं का मुका-

बला किया करता था। महर्षि जमदग्नि की धर्मपत्नी की बहिन सहस्रबाहु के साथ ब्याही गई थी। एक दिन सहस्रबाहु शिकार खेलते महर्षि जमदग्नि के आश्रम की ओर निकल गये। ऋषि ने राजा का यथोचित सत्कार किया और भोजन का निमंत्रण दिया। राजा ने कहा मैं अकेला होता तो कोई बात नहीं थी, मेरे साथ हज़ारों नौकर चाकर और सैनिकसिपाही हैं। आप जंगल में रहनेवाले तपस्वी लोग हैं, इतने आदमियों के भोजन का प्रबन्ध कैसे करेंगे? आपके प्रेमव्यवहार से ही अतिथिसत्कार हो गया, भोजन के लिये कष्ट न करें।

महर्षि जमदग्नि बोले—राजन्! आप इसकी कुछ चिन्ता न करें भगवत्कृपा से सब ठीक हो जायगा, आप अपने सब आदमियों सहित भोजन आश्रम में ही करें। राजा ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। महाराज सहस्रबाहु जितने दिन उस वन में शिकार खेलते रहे, आश्रम की ओर से ही उनकी सब आवश्यकताएं पूर्ण की जाती रहीं। राजा तथा उसके आदमियों को ऐसे दिव्यसुखसाधन उपस्थित होते रहे कि जिनको उन्होंने कभी स्वप्न में भी न देखा था। सबलोग हैरान थे कि ऋषि ऐसी सुखसामग्री कहाँ से लाते हैं? एकदिन महाराज सहस्रबाहु अपने आश्चर्य को रोक न सके। ऋषि से पूछ ही लिया कि—हमलोगों के काम में आनेवाले दिव्यपदार्थ आप किसप्रकार और कहाँ से सम्पादन करते हैं?

राजा के प्रश्न पर महर्षि जमदग्नि ने एक गाय की ओर इशारा करके कहा—यह सब इस गोमाता की कृपा है। जो सुखसामग्री आपके अनुभव में आई है वह सब इस गोमाता से ही प्राप्त करते हैं। यह सुनकर राजा ने गाय की ओर सतृष्णदृष्टि से देखा और कुछ इधरउधर की बातों के बाद ऋषि को कह ही दिया कि आप यह गाय मुझे दे दें। इसके बदले में जितनी गौएं, जितना धन और राज्य आप चाहें ले लें। ऋषि ने कहा—राजन्! इस गाय को तो हम किसी समय भी जुदा नहीं करते। इसी गाय के आश्रय से हमारा लौकिक और पारमार्थिक सब व्यवहार चलता है। हमें धन या राज्य लेकर क्या करना है? आप इस गाय को हमारे पास ही रहने दें। राजा ने बहुत कहा परन्तु ऋषि गाय देने पर राज़ी न हुए। अन्त में सहस्रबाहु ने क्रोध में आकर जमदग्नि को मार डाला।

जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो उन्होंने क्षत्रियों का नाश कर डालने का ही प्रण कर लिया। प्रथम है—हयवंश का नाश करके फिर अन्य क्षत्रियकुलों के पीछे लगे। इसप्रकार क्षत्रियराजाओं का अन्त करके पृथिवी को कश्यप के अधीन कर दिया। कहते हैं इसप्रकार परशुरामजी ने इक्कीसबार क्षत्रियों का ध्वँस किया।

## पृथिवी को निःक्षत्रिय करने का रहस्य.

जिस राजा को अपनी प्रजा को पुत्रवत् समझना चाहिये, फिर वह राजा भी सहस्रबाहु जैसा सम्राट्, जिसका आचार अन्य राजाओं के लिये भी आदर्श होना चाहिये था, यदि वही ऐसी निरपराध प्रजा के ख़ून से हाथ रंगने लग जाए जो सदैव जंगलों में रहकर ईश्वरचिन्तन में लीन तथा धर्म और विद्याप्रचार में तत्पर रहती हो, तो इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है? मालूम होता है राज्यसत्ता के

अभिमान में क्षत्रियलोग धर्माधर्म और औचित्यानौचित्य की प्रवाह नहीं करते थे और परशुरामजीद्वारा दण्डित किये जाने पर भी उससे शिक्षा ग्रहण करने के स्थान में अपने क्षत्रिय स्वभावानुसार हठपर अड़ गये थे। इसीवास्ते परशुरामजी को वार वार उनके साथ युद्ध करने पड़े। इस कथा में परशुरामजी के इक्कीसवार पृथिवी को निःक्षत्रिय करने की वात का अर्थ यही प्रतीत होता है कि उन्होंने इक्कीसवार क्षत्रियों का अभिमान अर्थात् क्षत्रियत्व चूर किया था। अन्यथा उसके वाद भी क्षत्रियों का अस्तित्व दृष्टिगोचर होने की वात निरर्थक हो जाती है। मालूम होता है परशुरामजी उन क्षत्रियराजाओं को ही दण्ड देते थे जो राज्यसत्ता के मद में धर्माधर्मविवेक को भूल चुके थे और प्रजापर अत्याचार करने लग गये थे। सम्भव है उन राजा लोगों ने परशुरामजी के मुकावले में अपने आपको असमर्थ देखकर क्षत्रियमात्र में जोश उत्पन्न करने के विचार से यह प्रसिद्ध कर दिया हो कि परशुरामजी क्षत्रियजाति का ही नाश कर रहे हैं। दूसरे, क्षत्रियजाती एक वीरजाति मानी जाती रही है। वीरपुरुष का मानमर्दन हो जाना मृत्यु से भी वढ़ कर दुःखदायी है। सम्भव है परशुरामजी ने इक्कीसवार उन उद्दण्डक्षत्रियराजाओं का मानमर्दन किया हो और इसी को क्षत्रियों की मृत्यु समझा गया हो। क्योंकि प्रभावशाली पुरुष का प्रभाव मिट जाना भी तो उसकी मृत्यु ही है। यद्यपि शरीररूप में वह अव भी है परन्तु वह तो नहीं रहा जो पहिले प्रभावशाली होने की अवस्था में था। क्षत्रियों का नाश करने का अर्थ भी यही मालूम होता है। यद्यपि परशुरामजी को निर्दोष पिता के मारे जाने पर ही क्रोध आया था परन्तु उनका उद्देश्य जहाँ राज्यमद में धर्माधर्म की पर्वाह न करनेवाले क्षत्रियों के अत्याचार से जनता की रक्षा करना था, वहाँ उन क्षत्रियों का सुधार भी था जो अपने वीरसुलभ-स्वभाय के कारण झूठे होते हुए भी हठ पर अड़े हुए थे। यही कारण है कि जव क्षत्रियों ने अपनी भूल को अनुभव कर लिया तो व्राह्मणों ने ही फिर पृथिवी का राज्य उनके हवाले कर दिया। इससे क्षत्रियों को यह भी मालूम हो गया कि शक्ति उसके पास ही नहीं है जिसके हाथ में तलवार और वन्दूक रहती है किन्तु वनों में तप करनेवाले अहिंसाव्रतधारी व्राह्मणों के पास भी उनसे कहीं अधिक शक्ति है, यद्यपि वे उसका प्रयोग नहीं करते। जव क्षत्रियों का भूत उतर गया तव व्राह्मण भी कृपालु हो गये और पृथिवी का राज्य फिर उनके ही सुपुर्द कर दिया। उस समय क्षत्रियों का सुधार आवश्यक ही था। क्योंकि प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है। राजा के धर्ममर्यादा को छोड़ देने से अधर्म फैलना अनिवार्य है।

## रामावतार.

महाराजदशरथ तथा माताकौशल्या को उनके पिछले जन्म में दिये गये वर के अनुसार भगवान् ने उनके यहाँ अयोध्या में रामरूप में अवतार धारण किया। भगवान् राम के अतिरिक्त दशरथजी के लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न यह तीन पुत्र और भी थे। विद्याध्ययन समाप्त करते ही भगवान् राम को राक्षसीअत्याचार को रोकने का कार्य सम्भालना पड़ा। सर्वप्रथम आपको लक्ष्मणसहित विश्वामित्रजी यज्ञरक्षा के लिये महाराज से माँग ले गये। ताड़का की तो रास्ते में ही गति कर गये और ऋषिआश्रम में पहुँचने पर सुवाहु आदि का वध करके विश्वामित्रजी के यज्ञ को

निर्विघ्न समाप्त किया, जिसमें धर्मकर्मविरोधी राक्षस सदैव विघ्न डाला करते थे। वहाँसे सीतास्वयम्बर पर जनकराज्य में गये और सर्वराजाओं के सामने अलौकिक-शक्ति का प्रदर्शन कर-शिवधनुष को तोड़कर—जनकसुता को व्याह लाए। भगवान् की अलौकिक प्रतिभा और ज्ञान पर मुग्ध हो महाराजदशरथ, उन्हें राजकाज सौंपने ही लगे थे कि देवताओं की चिन्ता, महाराज की परमप्रिया पत्नी केकयी,- भरत की माता-ने अड़ङ्गा लगाकर दूर कर दी। उसने भरत को राज्य और राम को चौदह वर्ष वनवास देने पर हठ किया। प्रजा को रोते धोते छोड़कर लक्ष्मण और सीता-सहित भगवान् वन को चले गये। पुत्रवियोग में महाराज का शरीरान्त हो गया। भरत ननिहाल गये हुए थे। वे आए तो समाचार सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। माता और अपने भाग्य को कोसा, भगवान् को वापिस लिवाने गये। परन्तु भगवान् ने समझाकर उसे वापिस भेज दिया। और स्वयं मुनिआश्रमों के दर्शनकरते हुए पञ्चवटी जाकर रहने लग गये। वहाँ पर ही रावण की वहिन शूर्पणखा दोनों भाइयों के रूप पर मोहित होकर निर्लज्जतापूर्वक उन्हें वारवार दिक़ करने लगी। जब किसी तरह भी उसका जादू न चला तो भय दिखलाने लगी, तब भगवान् की आज्ञा से लक्ष्मण ने उसका नाक और कान काट गिराए।

इस वात से उत्तेजित हो खरदूषण ने चढ़ाई की परन्तु भगवान् ने खरदूषण सहित सब आक्रमणकारी राक्षसों को मार भगाया। तब शूर्पणखा रावण के पास जाकर रोई पीटी। इसी वात से चिढ़कर रावण सीता को चुरा लाया।

मायावीमृग को मार कर भगवान् वापिस लौटे तो वहाँ सीता नहीं थी। वड़ी चिन्ता हुई। इधर उधर खोज करते लक्ष्मणसहित भगवान् किष्किन्धा पहुँचे। रास्ते में ही उन्हें जटायु मिला जिसने सीता का करुणक्रन्दन सुनकर रावण का रथ रोक लिया था और रावण के वाणों से आहत हुआ कराह रहा था। उसने भगवान् की गोद में ही प्राण दिये और भगवान् ने अपने हाथों से उसका दाहसँस्कार किया। किष्किन्धा में ऋष्यमूकपर्वत पर हनुमान और फिर सुग्रीव से मुलाक़ात हुई। सुग्रीव ने अपनी सारी दुःखकथा सुनाई कि किसप्रकार "युद्ध के लिये ललकारने वाले मय-नामक दैत्य के साथ भिड़ने के लिये, मेरा भाई वाली पर्वतगुफा में घुसते समय मुझे पन्द्रह दिन तक प्रतीक्षा करने के लिये कह गया। परन्तु जब एक मास प्रतीक्षा करने पर भी वाली नहीं आया और गुफा से रुधर की धारा वह निकली तब वाली के ही संकेतानुसार उसे मरगया समझ मैं भाग आया और सिंहासन को खाली जान राज्यकर्मचारियों ने मेरे इन्कार करने पर भी मुझे गद्दी पर वैठा दिया। गद्दी पर वैठे दोचार दिन ही हुए थे कि दैत्य को मार कर वाली भी आ गया और मुझे राज्यगद्दी पर वैठा देखकर अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पीटा। स्त्रीसहित मेरी सारी सम्पत्ति छीन ली। मुशकिल से मैं अपनी जान वचाकर यहाँ भाग आया। वस तव से यहाँ ही अपनी विपदा के दिन व्यतीत कर रहा हूँ। शाप के कारण वाली यहाँ आ नहीं सकता। अतः अवतक वचा हुआ हूँ और आपके भी दर्शन कर सका हूँ।"

मित्र की दर्दकहानी सुनकर भगवान् अपना कष्ट भूल गये। सुग्रीव को आश्वासन दिया और कहा-वाली का वध करके पहले तुम्हारा कष्ट ही दूर किया जायगा। उसको उत्साहित कर वाली के साथ युद्ध करने भेजा। परन्तु वाली के मुष्टिप्रहार

को सहन न कर सुग्रीव भाग आया। दूसरे दिन भगवान् ने उसके गले में फूल-माला पहना कर युद्ध करने के लिये भेजा। उस दिन भी जब सुग्रीव लड़ता लड़ता थक गया तब भगवान् ने एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर बाण मारा और वाली को नीचे गिरा दिया।

वाली का वध होजाने पर सुग्रीव को राजा और वाली के पुत्र अंगद को युवराज बना दिया गया। अब सुग्रीव की सहायता से सीता की खोज आरम्भ हुई। चारों ओर वानरसेना भेजी गई। हनुमानजी लंका की ओर गये। उन्हों ने लंका में जाकर सीतामाता को ढाड़स बन्धाई, अनेक राक्षसों को मारा और शहर को जला कर भावी विपत्ति से रावण को सावधान किया। रावण के भाई विभीषण को अपने पक्ष में किया और फिर वापिस आकर वहाँ का सारा हाल भगवान् को बताया।

सुग्रीव आदि राजाओं की सहायता से एक बृहत् वानरसेना एकत्र कर भगवान् ने लंका पर चढ़ाई की। समुद्र पर पुल बाँधा गया। इसी जगह रावण का भाई विभीषण आ मिला जिसको सुशिक्षा देने पर रावण ने अपमानित करके निकाल दिया था। समुद्रपार जाकर भी भगवान् ने रावण को समझाने के लिये अंगद को दूत बनाकर भेजा। ताकि जनता का नाश होने से बच जाए। परन्तु राक्षसी सत्ता के अभिमान में मस्त रावण की समझ में एक बात भी न आई। अन्त में युद्ध छिड़ गया। रावणसहित सब राक्षस मारे गये। सीता को वापिस लाकर उसकी अग्नि-परीक्षा की गई। लंका के राज्यसिंहासन पर विभीषण को बैठाया गया और फिर सब लोग विजयदुन्दुभी बजाते अयोध्या को लौटे। क्योंकि वनवास के चौदह वर्ष भी उसी समय पूरे हो गये थे।

अयोध्या लौटने पर भगवान् राम, लक्ष्मण तथा सीता का स्वागत बड़े समारोह से किया गया। और भरतजी ने राज्यसिंहासन भगवान् के सुपुर्द कर दिया, जो आजतक स्वयं त्यागवृत्ति में और भगवान् की आज्ञा मानकर एक सिपाही के रूप में राज्य की सेवा करते रहे थे। स्वयं राज्यसिंहासन पर कभी पाँव नहीं रक्खा बल्कि उसपर बड़े भाई राम की चरणपादुका को रखकर उनकी पूजा करते रहे। प्रजा ने रामराज्य के सुख का उपभोग किया। कभी कोई आधि व्याधि नहीं हुई। पिता के रहते पुत्र नहीं मरा। छोटी अवस्था में कोई स्त्री विधवा नहीं हुई। कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। चोरी, ठगी, और झूठ को लोग जानते ही न थे। सबलोग अपने अपने वर्णधर्मानुसार आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे। सबको अपने अपने क्षेत्र में पूर्णस्वतंत्रता प्राप्त थी।

एकबार एक ब्राह्मण अपने छोटे से बालक की लाश उठाए भगवान् के दरबार में हाज़िर हुआ और रोता हुआ भगवान् के राज्य की निन्दा करने लगा। उसने कहा इस कुल में दशरथ, अज, रघु, दिलीप और इक्ष्वाकु आदि अनेक राजा हुए हैं परन्तु ऐसा अनर्थ पहले कभी नहीं हुआ। मेरे जीते मेरा बालक मर गया यह राजा के ही दोष का फल है। कहते हैं, भगवान् उसी समय इसका कारण खोजने के लिये चल दिये। ढूँडते ढूँडते उन्हें एक जगह शम्बूकनामक चाण्डाल तप करता दिखाई दिया। भगवान् ने उस चाण्डाल का वध कर दिया। उधर उसी समय ब्राह्मण का लड़का जी उठा।

एक दिन भद्रनामक गुप्तचर को भगवान् ने राज्यविषयक प्रजा की सम्मति प्रकट करने की आज्ञा दी, उसने बताया-भगवन्! और तो सब स्तुति ही होती है परन्तु लोगों की एक बात में निन्दा का भाव पाया जाता है। वे कहते हैं, जब एक बार रावण सीता को उठा ले गया तो फिर राम ने उसे अपने घर में कैसे रख-लिया, ऐसा करते उन्हें घृणा क्यों नहीं होती? भगवान् ने उसी समय लक्ष्मण को बुला कर उसके साथ सीता को वन में भेज दिया और कह दिया कि इसको कहीं दूर छोड़ आओ। लोगों का अपवाद सुनकर मुझे दुःख होता है।

एक दिन ब्रह्माजी के भेजे हुए तापसरूप-काल के साथ एकान्त में बैठे भगवान् बातें कर रहे थे। आज्ञा दे रक्खी थी कि इस समय कोई आदमी हमारे पास न आए। दैवयोग से दुर्वासा ऋषि भगवान् से मिलने आए। द्वारपर खड़े लक्ष्मण ने उन्हें बताया कि अन्दर जाने की आज्ञा नहीं है। परन्तु ऋषि क्रोध में आ गये और बोले यदि इसी समय मेरे आने की सूचना भगवान् को न दी जायगी तो मैं शाप देकर सबको भस्म कर डालूँगा। लक्ष्मण ने सोचा, सबके मरने से मेरा अकेले का मरना अच्छा होगा। वे भगवान् के पास चले गये और दुर्वासाजी के आने की सूचना देदी। इस पर भगवान् ने आज्ञाभङ्गकरने के अपराध में लक्ष्मण को त्याग दिया और लक्ष्मणजी सरयू नदी के तट पर जाकर योगसमाधिद्वारा देवलोक को चले गये।

## धर्ममर्यादा की रक्षा.

भगवान् राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं। भगवान् ने धर्म की मर्यादा-स्थापन करने के लिये ही रामरूप में अवतार धारण किया था। अतः रामावतार के सब चरित्र मर्यादा के अन्दर हैं। फिर भी लोग ताड़कावध, शूर्पणखा का नाक कान काटना, बालीवध, शम्बूकवध और सीता तथा लक्ष्मणत्याग पर शंकाएं उठाया करते हैं। प्रथम तो उन्हें यही सोचना चाहिये कि धर्म और मर्यादा का स्वरूप अत्यन्तसूक्ष्म है प्रत्येकमनुष्य तो क्या बड़े बड़े ऋषिमुनि भी उसको सहज में जान और देख नहीं सकते। दूसरे यह भी विचारणीय है कि जिस ताड़का ने जीवों की हत्याकरना ही अपना कर्तव्य बना लिया था जो निर्दोष जीवों की हत्या करने में ही आनन्द समझती थी, उसके आतङ्क और अत्याचार से जीवमात्र को निर्भय करने का सिवा इसके और उपाय ही क्या था, कि उसका ही हिंसक जन्तुओं तथा पागलकुत्ते की भाँति अन्त कर दिया जाय। भगवान् राजा भी थे, विश्वामित्र के यज्ञ में तो आप महाराज दशरथ के प्रतिनिधि के रूप में जा रहे थे, अतः अपनी प्रजा को हिंसक जीवों के भय से निर्भय करना आपका कर्तव्य भी था। फिर ताड़का में स्त्री का गुण कोई भी रह नहीं गया था। उसमें मातृस्नेह तो था ही नहीं, वह स्त्री नहीं डायन थी जो राह चलते लोगों पर आक्रमण करके उनके जीवन का अन्त कर देती थी। अनेक जीवों के कल्याण के लिये उसका वध करना ही आवश्यक था।

इसीप्रकार शूर्पणखा की हालत पर विचार करना चाहिये। वह वृद्धावस्था को पहुँच चुकी थी, पुत्रपौत्रादि कितना ही उसका परिवार बढ़ चुका था। परन्तु ऐसी अवस्था में भी नवयुवकों के रूपलावण्य को देखकर कामवासना प्रकट करना जब कि उसके मन में वात्सल्यप्रेम जागना चाहिये था और फिर वह कामवासना

भी दूसरे पुरुष के पास उसकी स्त्री के सामने ही प्रकट करना निर्लज्जता की पराकाष्ठा थी। प्रतिष्ठित और महाप्रतापी राजा की वहिन होने के कारण मालूम नहीं कितने लोगों को धर्मभ्रष्ट कर चुकी होगी और कितने पुरुष इच्छा न रखते हुए भी उसकी कामवासना का शिकार हुए होंगे। उसको सज़ा यही हो सकती थी कि वह दुनिया को मुँह दिखाने लायक न रहे। भगवान् ने यही दण्ड उसको दिया। नाक कान कट जाने के वाद शूर्पणखा की ऐसी चर्चा फिर सुनी भी नहीं गई। क्या शूर्पणखा को सज़ा देकर शूर्पणखा को पापकर्म का. रावणकुलको कलंक का और अनेकपुरुषों को उसकी कामवासना का शिकार होने से बचा नहीं दिया? उसका नाक कान काटने के विना यह सव प्रयोजन समझानेमात्र से सिद्ध हो सकता था? जव वह वार वार समझाने पर भी नहीं मानी तभी उसको यह सज़ा दी गई थी।

वालीवध के समय वालीद्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने स्वयं इसका समाधान कर दिया था। अतः वालीवध पर वही लोग शंका कर सकते हैं जिन्हों ने रामायण को कभी पढ़ा सुना नहीं, या उसपर कभी विचार नहीं किया। वाली के "मुझे क्यों मारा?" प्रश्न पर भगवान् कहते हैं—

भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्।
तद्व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर॥
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः॥

तुम सनातन धर्म को त्याग कर अपने भाई की स्त्री को लिये वैठे हो, तुम्हारे जैसे भ्रातृभार्या पर वलात्कार करनेवाले कामुक वानर को दण्ड देना धर्मानुकूल ही है। दूसरे, जिस जगह तुम रहते हो यह इक्ष्वाकुवंशी धर्मात्मा भरत के राज्य में है। हमलोग उनकी आज्ञा से ही धर्मरक्षा के लिये फिर रहे हैं। समस्त जीवों के साथ न्याय करने का हमारा अधिकार है, अतः हमने तुमको मारा है। "छिप कर क्यों मारा?" इसके उत्तर में भगवान् ने कहा-हिंसकपशुओं का शिकार करते हुए छिपकर भी उनपर वार किया जाता है अतः तुम्हारे जैसे भ्रातृभार्या पर वलात्कार करनेवाले दुरात्मा का शिकार करते हुए छिपकर वाण मारने में भी कोई दोष नहीं।

## शम्बूक की गति.

शम्वूकवध की घटना इसप्रकार घटी कि जव ब्राह्मण ने पुत्र की लाश लाकर कहा कि मैंने तो अपने दो तीन जन्म में हिंसाकर्म किया नहीं फिर मेरे रहते मेरे पुत्र की मृत्यु का कारण राजा का ही दोष हो सकता है, तव भगवान् ने वालक की मृत्यु के कारण की खोज करने के लिये मंत्रियों और उपस्थित सभासदों के साथ विचार किया। नारदजी ने कहा-वालक की मृत्यु का कारण एक-चाण्डाल का महान् तपस्या करना है। उसी समय भगवान् उस चाण्डाल की खोज में चल दिये। एक जगह उलटा लटका हुआ शम्वूक नामक चाण्डाल मिल गया। उससे भगवान् ने तप का उद्देश्य पूछा तो शम्वूक ने कहा मैं इसी जीवन

में देवपदप्राप्ति के लिये तप कर रहा हूँ। भगवान् ने वहीं उसका वध कर दिया। इसपर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए। इन्द्र ने भगवान् को वर माँगने के लिये कहा। भगवान् बोले वर यही दीजिये कि ब्राह्मण का लड़का जीवित हो जाए। इन्द्र ने कहा–वह तो उसीदम जीवित हो गया जिस दम चाण्डाल का वध किया गया था।

इस से दो बातों का पता चलता है। पहली यह कि रामराज्य में प्रत्येकवर्ण अपने २ धर्म का पालन करता था। कोई भी पुरुष एकवर्ण में रहकर दूसरे वर्णों के धर्मों में हस्तक्षेप करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करता था। क्योंकि इस तरह करने से वर्णधर्म में गड़बड़ होने का भय हो जाता है। उन्नति करने की इच्छा वाला पुरुष अपने वर्णधर्म का पालन करते हुए ही उन्नति कर सकता है। शास्त्र का सिद्धान्त है कि मनुष्य के सुकर्मों के अनुसार उसे उच्चवर्ण में जन्म मिल जाता है परन्तु वह सुकर्म उसे अपने वर्णधर्म के अनुसार ही करने चाहियें। नारदजी ने उसी समय कह दिया था कि सतयुग में ब्राह्मण का, त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय का और द्वापर में वैश्य का भी तपस्या करने का अधिकार होता है। परन्तु उस समय तो त्रेतायुग में ही चाण्डाल तपस्या कर रहा था। वर्णधर्म में गड़बड़ पैदा होने का भय तो होना ही चाहिये था। यही कारण है कि ब्राह्मण के रहते उसके बालक की मृत्यु जैसा अनर्थ हुआ। आज भी संसार और विशेषतया भारत की अधोगति का कारण यही है कि लोग वर्णधर्म की कुछ पर्वाह नहीं करते। भगवान् ने चाण्डाल का वध कर के संसार को अपने अपने वर्णधर्म का पालन करने की शिक्षा दी। ब्राह्मण का लड़का मरने का कारण यह है कि वर्णधर्म की शिक्षा देना ब्राह्मणों का ही काम होता है। चाण्डाल अपने वर्णधर्म को छोड़कर तप करने लग गया तो इसका कारण ब्राह्मणोंद्वारा दी जानेवाली शिक्षा का अभाव ही समझना चाहिये। अतः उसकी सज़ा ब्राह्मण को मिली।

दूसरी बात यह भी है कि चाण्डाल उसी जन्म में देवपद प्राप्त करने के लिये तपस्या करने लग गया था। ब्राह्मण का बालक इस वास्ते मरा कि ब्राह्मणोंद्वारा वर्णधर्म की ठीक शिक्षा न दिये जाने के कारण ही शम्बूक में इतना घोर परिश्रम करने की रुचि हुई। भगवान् ने सोचा कि शम्बूक को इसी जन्म में देवपद तो मिलेगा नहीं इसका घोर परिश्रम जारी रहने से और अनर्थों की सम्भावना रहेगी। इस लिये आपने उसके चाण्डालवर्ण का अन्त करके उसका परिश्रम सफल कर दिया। भगवान् के हाथ से मरे हुए स्वर्ग में तो जाते ही हैं। शम्बूक की भी अभिलाषा पूर्ण हो गई और अनर्थों का भी अन्त हो गया। इस विचार से तो भगवान् ने शम्बूक, ब्राह्मणवर्ण और सारी प्रजा पर उपकार ही किया है। फिर इस कृत्य को दोष कैसे कहा जा सकता है? यह भी सम्भावना हो सकती है कि ब्राह्मण का बालक मरा ही शम्बूक की गति करने के लिये हो और इसमें देवताओं का भी हाथ हो। क्योंकि किसी को तप करते देखकर देवता चिन्ता में पड़ ही जाया करते हैं। फिर शम्बूक का तो उद्देश्य ही देवपद प्राप्त करना था। देवताओं के लिये यह बात और भी अधिकचिन्ताजनक थी कि एक चाण्डाल देवपद प्राप्त करने का यत्न कर रहा है। उन्हों ने ब्राह्मणबालक की मृत्युद्वारा भगवान् के हाथों शम्बूक की गति करा दी और निश्चिन्त हो गये। यह बात नारदजीद्वारा बालक की मृत्यु का कारण बताने और शम्बूक की गति पर इन्द्र की प्रसन्नता से भी स्फुट होती है।

सीता तथा लक्ष्मण के त्याग में एक ही सिद्धान्त काम करता है। भगवान् रामचन्द्रजी राजा भी थे। प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है। वे जानते थे कि सीता में कोई दोष नहीं है परन्तु लोकापवाद को मिटाने के लिये ही आपने सीता का त्याग कर दिया। यदि आप लोकापवाद की पर्वाह न करते तो प्रजाजन घर से भागी हुई स्त्रियों को भी पुनः रखने के लिये बाध्य होते। जब लोगो में अपवाद उठ खड़ा हुआ तो उस समय जनता में मिसाल कायम करने के लिये ही आपने सती साध्वी सीता को त्याग दिया। यह भगवान् का दोष तो नहीं बल्कि गुण है कि उन्हों ने इस विचार से कि प्रजा में बुरी मिसाल कायम न हो प्राण प्रिया और सर्वथानिर्दोष सीता को भी त्याग दिया और इस सिद्धान्त को पुष्ट किया कि राजा को प्रजा के भावों का सदैव आदर करना चाहिये। यही तो राम-राज्य की विशेषता है।

इसीप्रकार लक्ष्मण को त्यागकर यह शिक्षा दी कि चाहे जो हो, बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना ही चाहिये। केवल इसबात पर लक्ष्मण जैसे भाई को कुर्बान कर देने से तो यही सिद्ध होता है कि भगवान् छोटी से छोटी बातों को भी कितना महत्त्व देते थे। इसीवास्ते आपको मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है। कहने का प्रयोजन यह कि भगवान् राम की प्रत्येक मानवलीला संसार को शिक्षा देने और धर्ममर्यादा की रक्षा के लिये ही हुई है, कोई एक बात भी ऐसी नहीं जो नीति और धर्म के विरुद्ध हो। यदि कहीं किसी को ऐसा भ्रम होता है तो उसकी बुद्धि में ही दोष है भगवान् के कृत्य में नहीं।

## कृष्णावतार

द्वापर तथा कलियुग के सन्धिकाल में भी पाप प्रबल हो गया था। पृथिवी असुरों के भार से व्याकुल हो उठी। धर्म का सर्वथा लोप-सा हो चला था। जहाँ कंस, जरासन्ध, मुष्टिक, केशी, प्रलम्ब, नरकासुर, शम्बर, चाणूर, कालयवन, तृणावर्त, नरकासुर, गर्दभासुर, बकासुर, धेनुकासुर, पञ्चजन अरिष्ट, बाण, अघासुर, दन्तवक्र और शिशुपालादि कितने ही असुरों ने पृथिवी पर अपने पापाचरणद्वारा ऊधम मचा रक्खा था। वहाँ आर्यकुल में भी दुर्योधन जैसे अनेक राजा उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें दूसरों का अधिकार दबाते और निरपराध जनता पर अत्याचार करते हुए कभी संकोच नहीं होता था। असुरों का नेता कंस था उसने मृत्यु से निश्चिन्त होने के लिये अपनी बहिन तथा बहनोई को भी कैद कर दिया और उनके छः अबोध बच्चों को अत्यन्त निर्दयतापूर्वक अपने हाथों ही मार डाला। पिता को कैद करने का निदर्शन हिन्दुओं में तो कहाँ मिलेगा, मुसलमानों में भी एक औरंगज़ेब का ही मिलता है। कंस ने राज्यलोभ में अपने पिता को भी कैद में डाल दिया था। घोर पापाचरण का प्रमाण इससे बढ़कर क्या मिल सकता है कि आर्यकुल में उत्पन्न होनेवाले दुर्योधन की सभा में द्रोपदी जैसी अबला देवी केशों से पकड़कर घसीटी गयी और उसे नग्न करने की धृष्टता की गई। धर्मात्मा भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और धृतराष्ट्र जैसे महापुरुष इन अत्याचारों को देखते और सुनते थे परन्तु कोई चूँ तक न कर सकता था। जब ऐसे अनेकविध

पापों के भार से पृथिवी अत्यन्त दुखी हो गई तब वह गोमाता का रूप धारण करके ब्रह्माजी के पास पहुँची और ब्रह्माजी को साथ लेकर विष्णु के पास जाकर भी रोई।

तब अपनी प्रतिज्ञानुसार धर्म की रक्षा और पाप का नाशकरने के लिये अपने अंशावतार रोहिणीपुत्र बलराम के सहित, सोलहकला सम्पन्न, पूर्णरूप में भगवान् कृष्ण ने अवतार धारण किया। भगवान् का यह अवतार भाद्रपद की कृष्णाष्टमी तिथि में अर्धरात्रि के समय कारागार में ही माता देवकी के गर्भ से वसुदेव के घर में हुआ। इससे पूर्व माता देवकी के छः बच्चे दुष्ट निर्दयी कंस के हाथों मारे जा चुके थे। दैवलीला से उसी समय नन्दगोपजी के गृह में माता यशोदाजी को लड़की पैदा हुई थी। आधी रात के समय ही वसुदेवजी लड़के को वहाँ छोड़ आए और लड़की को उठा लाए। दिन निकलते ही कंस को लड़की उत्पन्न होने की सूचना मिली। उसने कारागार में जाकर माता देवकी से लड़की को छीन लिया और उसकी हत्या करने के लिये ज़ोर से पत्थर पर पटका। परन्तु वह तो महामाया थी, कंस के हाथ से निकल कर आकाश में लीन हो गई और जाते समय कह भी गई कि दुष्ट! मेरे मारने से क्या होगा तुझे मारनेवाला सुरक्षित है।

उसी दिन से कंस भी चौकन्ना हो गया और "मेरे मारनेवाला कौन पैदा हुआ है?" इसकी खोज में रहने लगा। भगवान् कृष्ण और बलरामजी के दिन प्रतिदिन बढ़ रहे यश और बल को देखकर वह ताड़ गया और उनको मार देने के उपाय करने लगा। सर्वप्रथम उसने पूतना नामक एक राक्षसी को भेजा, जिसने विष लगाकर अपना स्तन भगवान् कृष्ण को पान कराना चाहा। परन्तु भगवान् उसके कपट को पहले ही जानते थे, उन्होंने विषमिश्रित दूध के स्थान में उसके प्राण ही पी लिये। इसके बाद कंस के भेजे हुए शकटासुर, अरिष्ट, केशी, गर्दभ, धेनुक असुरों का भी वध किया। इसके अनन्तर कंस ने कृष्ण और बलराम को मारने का पक्का प्रबन्ध करके दोनों को मल्लयुद्ध के बहाने से मथुरा में बुलाया। वहाँ जाते ही भगवान् ने सर्वप्रथम उस मतवाले हाथी को मार दिया जो उन्हें मारने के लिये दरवाज़े में बांधा हुआ था और मल्लयुद्ध में दोनों ने चाणूर तथा मुष्टिक योद्धाओं को केवल परास्त ही नहीं किया, वहीं उनका प्राणान्त भी कर दिया। तब कंस को बड़ा क्रोध आया और वह भगवान् कृष्ण पर वार करने के लिये स्वयं तलवार खेंचने लग गया। अन्तर्यामी भगवान् उसका भाव समझ गये और उसके वार करने से पहले ही उसको गर्दन से जा पकड़ा और वहीं उसकी संसार यात्रा का अन्त कर दिया। मालूम होता है कंस के अत्याचारों से सबलोग तंग आए हुए थे। यही कारण है कि कंस के मारे जाने पर किसी ने भी बुरा नहीं मनाया, प्रत्युत सबलोग प्रसन्न हुए। भगवान् कृष्ण ने कंस के पिता उग्रसेन को कारागार से निकाल कर कंस की जगह राज्यसिंहासन पर बैठाया। उस समय भगवान् कृष्ण की अवस्था ११ वर्ष की थी।

कंस जरासन्ध का दामाद था। कंस की स्त्री अर्थात् जरासन्ध की बेटी ने जरासन्ध को कृष्ण के विरुद्ध उत्तेजित किया, जिसने मथुरा पर चढ़ाई करके यादवों के साथ घोर संग्राम किया। उसे पराजित कर भगवान् बलरामसहित द्वारकापुरी में आ गये। यहाँ ही पौंड्रक, नरकासुर, पञ्चजन, कालयवन, प्रलम्ब और द्विविद

आदि दैत्यों का वध किया। वाण के साथ भी युद्ध हुआ परन्तु वह भगवान् शंकर का भक्त था अतः शंकर की सिफ़ारिश पर उसे अभयदान दे दिया। युधिष्ठर के राजसूययज्ञ में शिशुपाल भगवान् कृष्ण का सत्कार होता देखकर जल गया और उन्हें गालियाँ देने लग गया। भगवान् ने वहाँ ही सुदर्शनचक्र के साथ उसका सिर काट गिराया। इससे उत्तेजित हो शिशुपाल के मित्र शाल्व सौभ और दन्तवक्र ने भगवान् के साथ युद्ध किया। घोरसंग्राम के वाद भगवान् ने उन्हें भी मार गिराया।

## जय–विजय का उद्धार.

स्मरण रहे कि यह शिशुपाल और दन्तवक्र वही विष्णुभगवान् के द्वारपाल जय और विजय ही थे जो भगवान् सनत्कुमारजी के शाप से विकुण्ठ से पतित हो गये थे और जिन्हें भगवान् सनत्कुमार ने ही कह दिया था कि भगवान् से वैर-भाव रखकर तुम तीन जन्म में फिर अपने पद को प्राप्त कर लोगे। वे पहले जन्म में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु वने, जिन्हें भगवान् ने वराह तथा नृसिंहावतार धारण करके मारा। दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकरण हुए, जिन्हें भगवान् ने रामावतार धारण करके मारा और तीसरे जन्म में शिशुपाल तथा दन्तवक्र हुए, जो अव भगवान् कृष्ण के हाथों से मारे गये। तीनों जन्म पूरे हो गये। यही कारण है कि दोनों के मरने पर उनकी देहों से एक दिव्यज्योति निकल कर भगवान् की देह में समा गई। भगवान् सनत्कुमारजी के शाप को पूरा करके दोनों जय और विजय ने निजपद को प्राप्त कर लिया।

## विदेशियों से देश की रक्षा.

जरासन्ध कईवार भगवान् कृष्ण से युद्ध में हार चुका था, फिर भी वह वदला लेने के उपाय सोचता ही रहता था। एकवार उसने कालयवन आदि विदेशियों की सहायता ले कर मथुरा पर चढ़ाई की। भगवान् को कालयवन के आने का पता लगा तो आपने सारा मथुरादेश ख़ाली करा दिया। उसी समय सव यादव द्वारका में जा वसे थे। यद्यपि पहले भी कईवार जरासन्ध आदि शत्रुओं ने मथुरा पर चढ़ाई की थी। परन्तु उस समय मथुरा को ख़ाली नहीं कराया गया, केवल कालयवन और उसके विदेशी साथियों के आने की ख़बर सुनकर ही ऐसा किया गया। इस से प्रकट होता है कि भारत में विदेशीलोग सदैव लूट मार के विचार से ही आते रहे हैं। भारतवासी शत्रुता होने पर भी दूसरे को कभी नहीं लूटते थे। यही कारण है कि भगवान् कृष्ण ने भी पहले युद्धों में कभी देश को ख़ाली करने का विचार नहीं किया, विदेशियोंद्वारा चढ़ाई होने की ख़बर सुनकर तुरन्त देश ख़ाली कर दिया। इतिहास भी वताता है कि जो भी विदेशीशासक इस देशमें आया है उसने इस देश को लूटने की ही चेष्टा की है। कुछ लोग तो यहाँ के रत्न, धन, और अन्य पदार्थ ही नहीं अन्न भी खेंच ले गये और सोना, चाँदी, लोहा, ताम्वा तथा अन्यवस्तुओं की ख़ानों तक खोद ले गये हैं। मालूम नहीं विदेशियों की लूट-खसोट से वचने की शक्ति इस देशमें कव आएगी?

कालयवन के साथ कुछ देर युद्ध होता रहा। अन्त भगवान् उसके आगे भाग खड़े हुए। और पर्वत की उस गुफा में जा घुसे जहाँ मुचकुन्द पड़ा हुआ था। भगवान् ने भीतर जाते ही अपना पीताम्बर मुचकुन्द पर डाल दिया और स्वयं एक ओर बैठ गये। कालयवन भी आपके पीछे गुफा में गया। उसने मुचकुन्द को कृष्ण समझकर उसे लात मारी। उसी समय मुचकुन्द जाग उठा और उसने कालयवन को पकड़कर वहीं मार डाला। इस से प्रकट होता है कि भारतवासी शत्रुरूप से युद्ध करने के लिये आए हुए विदेशियों को भी अतिथि जान अपने हाथों से मारना उचित नहीं समझते थे। यद्यपि विदेशी सदैव उन्हें लूटने और स्त्रियाँ तक उठा ले जाने के लिये आते रहे हैं।

## यादवों का प्रभुत्व.

भगवान् कृष्ण और बलरामजी ने इसप्रकार अत्याचारी असुरों को परास्त करके यादवकुल की विजयपताका को दूर दूर तक फहराया। मालूम होता है उन आर्यवीरों ने जितने भूमिभाग में अपनी विजयपताका को फहराकर वहाँ आर्यसभ्यता का प्रचार किया उसी का नाम उस समय आर्यवर्त था जिसे अब एशिया नाम से पुकारा जाता है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं. कि यादवों की गृहकलह के कारण छप्पनकरोड़ यादवों का नाश हुआ था। इस भारतदेश में केवल यादवों की छप्पनकरोड़ सँख्या थी, इस में कोई रहस्य मालूम होता है। क्योंकि यदि केवल यादवों की सँख्या ही छप्पनकरोड़ थी तो अन्य सब जातियों को मिलाकर भारत की जनसँख्या कितनी रही होगी? इसका अर्थ तो यही मालूम होता है कि जिन देशों में यादवकुल का आधिपत्य कायम हो गया था उनमें यादव और यादवराज्य के अधीन काम करने वालों की कुल सँख्या छप्पनकरोड़ हो गई होगी और यादवराज्यान्तर्गत होने के कारण उन्हें यादव ही पुकारा जाता होगा। यादवों की गृहकलह के कारण छप्पनकरोड़ यादवों के नाश का अर्थ उन सबका पतन ही प्रतीत होता है। क्योंकि अधिकारप्राप्त और सम्मानित पुरुष का पतन भी उसकी मृत्यु से बढ़कर माना जाता है। इस बात के प्रमाण तो अबतक भी अफरीका, यूनान और ग्रीस आदि मुसलमान-देशों में मिलते हैं। पंजाब के एक राजा ने अपनी योरुपयात्रा नामक पुस्तक में लिखा है कि हम यूनान और ग्रीस आदि देशों के नवाबों के अनेक सहभोजों में शामिल हुए जहाँ उन्हों ने कईबार हमें रामलीला और कृष्णलीला जैसे नाटक दिखाए। जिनमें सब बातें वैसी ही थीं जैसी अपने देश में रामलीला तथा कृष्णलीला में देखी जाती हैं। अन्तर केवल इतना ही था कि नाम कुछ कुछ बदले हुए थे। जैसे राम के स्थान में रिम्मू और लक्ष्मण के स्थान में लक्खी। हमने उनसे पूछा कि जिन लोगों का तुम स्वाँग बनाते हो वे कौन थे? उन्हों ने उत्तर में कहा—यह हमारे बड़े धर्मात्मा बज़ुर्ग हुए हैं, बस हम इतना ही जानते हैं। इन नाटकों में बड़े बड़े नवाबों के लड़के लड़कियाँ ही भाग लेती हैं दूसरा कोई शामिल नहीं हो सकता।"

इस से पता चलता है कि उन देशों में यह रामलीला तथा कृष्णलीला उन दिनों की प्रचलित है, जब वे देश आर्यजाति के अधीन थे और उनमें आर्यसभ्यता का प्रचार हुआ था। परन्तु दुःख का विषय है कि हिन्दूजाति की गृहकलह ने हमेशा

ही उसे बुरे दिन दिखाए हैं और उसी गृहकलह के कारण आज भी यह देश और जाति-विदेशियों से पददलित हो रही है। परन्तु कितने खेद की बात है कि हिन्दू-जाति इतनी दुर्दशा के बाद भी गृहकलह को दूर करने के लिये तैयार नहीं है।

उस समय भी भगवान् कृष्ण और श्रीबलरामजी के प्रताप से यादवजाति की बढ़ रही प्रतिष्ठा को देखकर कुछ लोग ईर्षा करने लग गये थे। जरासन्ध स्वयं कईवार युद्ध करके हार चुका था। यदुवंशियों के पक्षपाती होने के कारण उसने सैकड़ों छोटे छोटे राजाओं को क़ैद कर लिया हुआ था। एक बार भगवान् उन राजाओं की विपत्ति दूर करने के लिये भीमसेन को साथ लिये ब्राह्मणवेष में जरासन्ध के पास पहुँचे। वहाँ भीमसेन का जरासन्ध से मल्लयुद्ध कराया। भीम के हाथ से जरासन्ध मारा गया। सब राजाओं को क़ैद से मुक्त किया और जरासन्ध की गद्दी पर उसके बड़े लड़के को बैठा आए।

भगवान् कृष्ण के मानवचरित्र का दूसरा भाग महाभारतयुद्ध में उनका भाग है। भगवान् सदैव अनाथों के नाथ असहायकों के सहायक और निर्बलों के बल रहे हैं। अतः यहाँ भी आपने सदैव निर्बल और असहाय पाण्डवों की ही सहायता की है, यद्यपि कौरव और पाण्डव दोनों ही उनके समान सम्बन्धी थे।

जब महाराज पाण्डु राजसिंहासन पर थे तो वे धृतराष्ट्र और उनके परिवार के सुख आराम का अपने परिवार से अधिक ध्यान रखते थे। पर दैवगति, महाराज पाण्डु का शरीरान्त हो गया और गद्दी पर धृतराष्ट्र बैठ गये। महाराज पाण्डु पाँच पुत्र और उनकी माता कुन्ती को पीछे छोड़ गये थे। राजसिंहासन पर बैठते ही महाराज धृतराष्ट्र अपने भाई पाण्डु के उपकारों को भूल गये और उनकी सन्तान तथा विधवा धर्मपत्नि-कुन्ती के साथ परायों का सा व्यवहार करने लग गये। महाभारत में लिखा है कि उन्हें रहने के लिये एक छोटा सा मकान दे दिया। खाने पहरने के लिये मामूली दिया जाता था और वह भी इतना कि जितना एक समय के लिये भी मुशकिल से काफ़ी हो सके। दूसरे समय भोजन के लिये उन्हें फिर माँगने जाना पड़ता था। धृतराष्ट्र से भी अधिक उसका बड़ापुत्र दुर्योधन पाण्डवों को देखकर जला करता था। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र और पाण्डु के पाँच पुत्र इकट्ठे ही खेला करते थे। खेल कूद में भी कोई न कोई ऐसी बात रोज़ हो जाती थी जिससे दुर्योधन और उसके अन्य भाइयों को हार्दिक जलन प्रकट हुए बिना न रहती थी।

एक दिन कोई षड्यंत्र रचकर कौरवों ने पाण्डवों को कहा-चलो आज नदी पर खेलेंगे और वहाँ ही इकट्ठे भोजन करेंगे। पाण्डव भी उनके साथ चले गये। वहाँ भोजन करके और सब तो उठ बैठे परन्तु भीम खाते ही रहे। उस समय कौरवों ने भीम को खाने के लिये वे लड्डू दिये जिनमें विष मिला हुआ था। उस विष से भीमसेन मूर्छित हो गये। कौरवों ने उसे उठाकर नदी में फेंक दिया और वापिस घर आ कर कह दिया कि भीम अधिक खा जाने के कारण मर गया था इसलिये हम उसे नदी में फेंक आए हैं। कुन्ती और उसके बाक़ी चारों पुत्र रातभर रोते रहे। उधर भीम मरा तो था नहीं: विष से मूर्छित ही हो गया था। पानी में गिरने पर उसका विष दूर हो गया और वह दूसरे दिन नदी से निकल कर आ गया। भीम के आने पर सारा भेद खुल गया, परन्तु बड़े बूढ़ों ने भी लड़कों की शरारत कह कर इस ब-

टना को टाल दिया। मालूम होता है, पाण्डवों को मार देने के षड्यंत्र के साथ धृतराष्ट्र भी सहमत थे, परन्तु भीष्मपितामह द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि के भय से प्रकट रूप में अपने लड़कों के ऐसे कृत्यों की निन्दा ही किया करते थे।

## पाण्डवों को मारने का षड्यंत्र.

विदुरजी और भीष्मपितामह की देखरेख में पाण्डव कुछ स्याने हो गये। अब दुर्योधनादि को उनके मारने का एक और उपाय सूझा। उन्हों ने इन्द्रप्रस्थ से दूर गंगा के किनारे घास, सन बारूद और लाख का एक भवन तैयार कराया और कुन्ती तथा उसके पुत्रों को उसमें रहने के लिये भेज दिया। विदुरजी को भी इस षड्यंत्र का पता लग गया। उन्हों ने पाण्डवों को उसका सारा भेद समझा दिया और वह सुरंग भी बता दी जिससे वे विपदा आने पर बाहर निकल सकते थे और जिसका प्रबन्ध विदुरजी ने मकान बनानेवालों से मिलकर पहिले ही कर लिया था।

पहिले ही रचे हुए षड्यंत्र के अनुसार धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने अपने नौकरोंद्वारा आधीरात्री के समय उस मकान को आग लगवा दी जब कुन्तीसहित पाण्डव निश्चिन्त सो रहे थे। आग लगानेवाले आदमियों ने बाहिर से मकान के सब दरवाज़ों और खिड़कियों के सांकल चढ़ा दिये ताकि पाँचो पाण्डवों में से कोई बाहिर न निकल सके। आग लगते ही मकान एकदम भक-से जलने लगा। पाण्डव हड़बड़ा कर उठे। उनके चारों ओर धुआँ फैला हुआ था और अग्निज्वालाएं धधक रही थीं। विदुर के संकेतानुसार भीम ने एक स्तम्भ उखाड़ डाला जिससे सुरंग का द्वार खुल गया। उसी सुरंग के रास्ते वे विदुर का धन्यवाद करते हुए कुछ दूर एक जंगल में जा निकले। उस समय पाण्डवों की दशा बड़ी ही करुणाजनक थी। जाड़े के दिन, आधी रात का समय, ओढ़ने के लिये एक एक धोती के सिवा दूसरा कोई वस्त्र नहीं, पाँव में जूते तक नहीं। कंटीले जंगल में नंगे पाँव सरदी से ठिठुरते हुए उस भयानक रात्रि में अपने सुकुमार बच्चों को चलते देखकर, माता कुन्ती के हृदय पर जो बीतती थी और माता के कष्ट को अनुभव कर के पुत्रों को जो दुःख होता था उसका अनुमान करके भी दिल बैठ जाता है।

पाण्डवों के इसप्रकार जल कर मर जाने की खबर दिन निकलते तक बिजली की तरह सारे देश में फैल गई। सारी प्रजा में हाहाकार मच गया। भीष्मपितामह, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ। धृतराष्ट्र और उसके पुत्र लोकदिखावे के लिये तो शोक करते थे परन्तु अन्दर से बड़े प्रसन्न थे।

माता सहित पाँचों पाण्डव कईवर्ष तक छिपेछिपे जंगलों में फिरते रहे। जब द्रोपदी का स्वयम्वर हुआ तब ब्राह्मणवेष धारण कर यह लोग भी उसमें दर्शकरूप में शामिल हुए और वहाँ अर्जुनद्वारा मत्स्यभेदन कियेजाने पर द्रोपदी ने उनके गले में जयमाल डाल दी। इनके ब्राह्मणवेष को देखकर लोगों में इस बात की बड़ी चर्चा चल गई। तब इनको अपना परिचय देना पड़ा। लोगों ने जब सुना कि यह पाँचों भाई पाण्डु के पुत्र हैं तब उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। क्योंकि पहले सब लोगों को यही निश्चय था कि अपनी माता कुन्तीसहित पाँचोंपाण्डव मकान में जल कर मर गये हैं। उस स्वयम्वर में धृतराष्ट्र के पुत्र भी गये हुए थे। पाण्डवों को जीवित देखकर उन्हें बड़ा खेद हुआ। अपने दिलों में जलते कुढ़ते रहे।

## दुर्योधन का कपट.

पाण्डवों के जीवित होने और द्रोपदी के साथ विवाह करने का समाचार हस्तिनापुर में भी पहुँचा। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुर आदि पाण्डव हितैषियों के ज़ोर देने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को फिर बुला लिया और राज्य का बे-आबाद आधा भाग उन्हें दे दिया। पर पाण्डवों ने थोड़े ही दिनों में अपने बुद्धिकौशल तथा पुरुषार्थ से उस भाग को भी स्वर्ग का नमूना बना लिया और अनेक राजाओं को अपने पक्ष में कर लिया। कौरव उनको देखकर पहले ही बहुत जलते थे पाण्डवों की ऐश्वर्यवृद्धि ने और भी जलती पर तेल का काम किया। हरसमय उनके नाश के उपाय सोचे जाने लगे। एक दिन उन्हों ने युधिष्ठर को जुआ खेलने के लिये इन्द्रप्रस्थ में बुलाया। दुर्योधन ने अपनी ओर से अपने मामा शकुनी को युधिष्ठर के साथ जुआ खेलने बैठाया। शकुनी महाधूर्त था, जुए के सब दावपेंच का उस्ताद था, उसने कपट करके युधिष्ठर का सब धनमाल, राज्य, भाई, शरीर, स्त्री सारांश यह कि सर्वस्व जीत लिया और अन्त में युधिष्ठर से बारहवर्ष वनवास और एकवर्ष अज्ञातवास की शर्त लगवा कर भी कपट से जीत ली।

युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ के समय कहीं दुर्योधन पाँव फिसल कर गिर गया था और इसपर द्रोपदी ने उसकी हँसी उड़ाई थी। वह हँसी दुर्योधन के दिल में सदैव काँटे की तरह चुभती रही॥ युधिष्ठरद्वारा सब कुछ हार देने पर दुर्योधन को सर्वप्रथम उस हँसी का दण्ड देने की ही सूझी। उसने दुश्शासन को आज्ञा दी कि इसी समय द्रोपदी को केशों से पकड़कर घसीटते हुए दरबार में उपस्थित किया जाए। दुश्शासन ने भी दुर्योधन की आज्ञानुसार ही द्रोपदी को केशों से जा पकड़ा और घसीटता हुआ सभा में ले आया। सभा में भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, विकर्ण और शकुनी आदि सब छोटे बड़े बैठे थे। एक ओर पाँचों पाण्डव भी उपस्थित थे। दुर्योधन ने लज्जा को त्यागकर सब के सामने दुश्शासन को आज्ञा दी कि इसीसमय द्रोपदी को नग्न करके मेरी जाँघों पर बैठाओ। दुश्शासन झपट कर द्रोपदी की साढ़ी खेंचने लग गया। द्रोपदी रोती पीटती सब उपस्थित बड़े बूढ़ों तथा पाण्डवों से रक्षा की प्रार्थना करने लगी परन्तु किसी ने भी दुश्शासन को रोकने का साहस नहीं किया। सब गर्दनझुकाए चुप बैठे रहे। द्रोपदी की पुकार भगवान् कृष्ण ने सुनी। उनकी कृपा से साढ़ी ही इतनी बड़ी हो गई कि दुश्शासन खेंचता खेंचता थक गया, परन्तु साढ़ी का अन्त नहीं हुआ। गाँधारी को पता लगा तो उसने सभा में आकर अपने पुत्रों को इस कुकर्म से रोका।

## पाण्डवों की उदारता.

माता कुन्ती को विदुर के घर और सुभद्रा आदि स्त्रियों को मायके भेजकर द्रोपदी को साथ लिये पाण्डव वन को चले गये। दुर्योधन को अब भी शान्ति नहीं हुई। वह वनों में भी पाण्डवों को कष्ट देने के षड्यंत्र रचता रहा। शाप देने के लिये दुर्वासाऋषि को भेजा, जयद्रथद्वारा द्रोपदी का हरण कराया। स्वयं भी कई बार अनेकयोद्धाओं को साथ ले जा कर उन्हें कष्ट देता रहा। एक बार पाण्डवों को

सताने के लिये ही दुर्योधन सेनासहित जा रहा था कि मार्ग में गन्धर्वों का राजा चित्ररथ मिल गया। जब चित्ररथ को मालूम हुआ कि दुर्योधन विपदा के मारे पाण्डवों को कष्ट देने के लिये सेना लिये जा रहा है तो उसने दुर्योधन को लानत मलामत की। इसपर कहा सुनी हो गई और दुर्योधन तथा चित्ररथ में लड़ाई होने लग गई। चित्ररथ ने दुर्योधन की सेना को मार भगाया और दुर्योधन को गिरफ-तार करके ले चला। यह समाचार पाण्डवों को भी मिल गया। महाराजयुधिष्ठर ने अर्जुन को आज्ञा दी कि जाकर अपने भाई दुर्योधन को चित्ररथ से छुड़ाओ। अर्जुन, भीम और द्रोपदी नहीं चाहते थे कि दुर्योधन जैसे दुष्ट को गन्धर्वों से छुड़ाया जाए परन्तु महाराजयुधिष्ठर ने यह कहकर ज़बर्दस्ती अर्जुन को भेज ही दिया कि इसमें हम सब की बदनामी है, दुर्योधन फिर भी हमारा भाई है, उसे गन्धर्वों से छुड़ाना चाहिये। अर्जुन ने चित्ररथ से युद्ध कर दुर्योधन को छुड़ा लिया। इस उपकार और उदारता का दुर्योधन जैसे पत्थरदिल पर भी इतना प्रभाव पड़ा कि उसने अर्जुन को इन्द्रप्रस्थ चलकर अपना आधा राज्य ले लेने के लिये कहा। परन्तु अर्जुन ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि हम तो वनवास की प्रतिज्ञा पूरी करके ही लौटेंगे उस समय जो मनमें आए हमें दे देना। पर मालूम होता है दुर्योधन यह बात भी इस भय से ही कह रहा था कि गन्धर्वों से छुड़ाकर पाण्डव स्वयं उसे कष्ट न दें। क्योंकि उसने अर्जुन के उपकार को एक दिन भी स्मरण नहीं रक्खा। वापिस राज-धानी में पहुँच कर पाण्डवों को कष्ट देने के षड्यंत्र फिर उसी प्रकार रचने लग गया।

## कौरव—पाण्डवयुद्ध.

पाण्डव बारहवर्ष वनवास और एकवर्ष गुप्तवास की अवधि पूरी करके वापिस आए और कौरवों से अपने राज्यभाग की माँग की। परन्तु दुर्योधन ने उनकी माँग को घृणा के साथ ठुकरा दिया। पाण्डवों ने भगवान् कृष्ण से यह बात कही। तब भगवान् सुलह कराने के लिये स्वयं दूत बनकर दुर्योधन के पास गये और उसे युद्ध का परिणाम समझाकर यहाँ तक भी कह दिया कि पाण्डव नहीं चाहते जनता का रुधर बहे। तुम आधा राज्य नहीं देना चाहते तो निर्वाह के लिये पाँच ग्राम ही पाण्डवों को देदो, वे इतने पर ही सन्तुष्ट हो जायंगे। परन्तु घमण्डी दुर्योधन ने उनकी भी एक न सुनी। बल्कि भगवान् को भी साफ़ सुना दिया कि—

"सूच्यग्रे सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च भेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि विनायुद्धेन केशव॥

सूई का अग्रभाग जितनी भूमि को रोक सकता है उससे आधी भी विना युद्ध के पाण्डवों को देने के लिये तैयार नहीं हूँ। यदि पाण्डवों को राज्य लेने की इच्छा है तो उसका फैसला तलवार से ही हो सकता है। उनमें समर्थ है तो आयं, युद्ध करें अन्यथा देश से निकल जाएं। माँगने से कहीं राज्य मिला करते हैं?" यहाँ तक ही बस नहीं की, पाण्डवों का पक्ष समर्थन करने के कारण, दुष्ट दुर्योधन भगवान् कृष्ण को ही गिरफतार करने की धृष्टता करने लगा। रोग को असाध्य अवस्था तक पहुँच चुका देखकर ही भगवान् सुलह से निराश हो गये और पाण्डवों के साथ इसप्र-

कार अत्यन्त निर्दयतापूर्ण अन्याय होने पर ही आपने उनका पक्ष समर्थन किया था। इस पर भी यदि कोई भगवान् पर महाभारतयुद्ध कराने का लाञ्छन लगाता है तो उसे अपनी समझ का ही इलाज कराना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत युद्ध में भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, और कर्ण आदि अनेक अपूर्वयोद्धा, तत्ववेत्ता, ज्ञानी, नीतिज्ञ महापुरुष भी मारे गये, जिनकी भगवान् ने भी कईबार प्रशंसा की थी। परन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अर्थदासता, सांसारिक सम्बन्ध या समय के प्रभाव के कारण उनमें भी ठकुरसुहाती कहने या करने की निर्बलता आ गई थी। जिसप्रकार क़ानून से अनभिज्ञ एक मूर्खग्रामीण की अपेक्षा क़ानून का ज्ञाता एक वकील अपराध करने पर अधिक दण्ड का अधिकारी होता है, उसीप्रकार अन्याय का समर्थन या अत्याचार देखकर भी उपेक्षा करने के कारण वे लोग भी दण्ड के अधिकारी थे। सच्ची बात तो यह है कि उनके बल पर ही कौरव सबप्रकार के अन्याय और अत्याचार करते थे। फिर उनका लिहाज़ कैसे किया जा सकता था?

## महाभारत के लिये उत्तरदायीराजाओं का दोष.

जैसे धर्म और साधुजनों की रक्षा के लिये भगवान् ने दैत्यों का संहार किया वैसे ही महाभारतयुद्ध में निर्बल और न्यायानुमोदितपक्ष पाण्डवों की सहायता करके आपने उन राजाओं को भी दण्ड दिया जो धर्म के मर्म को जानने की शक्ति रखते हुए भी दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करते थे या अन्याय और अत्याचार करनेवालों की सहायता करते थे। जिन लोगोंद्वारा अथवा जिन लोगों की आँखों के सामने भरीसभा में द्रौपदी जैसी निर्दोष अबला को बलात्कार नग्न करने का साहस किया गया, कपट से जूए के बहाने युधिष्ठिर जैसे महात्मापुरुष का सब कुछ छीन लिया गया, मकान को आग लगाकर बेख़बर सोए हुए मनुष्यों को भस्म करने का यत्न किया गया। विपदा के मारे जंगलों में भटकनेवाले मनुष्यों पर अत्याचार किये गये। उपकार के बदले में सदैव अपकार किये गये-वे लोग अवश्य दण्ड के अधिकारी थे। भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि हम लोगों ने अर्थ के दास होकर धर्माधर्मविवेक की पर्वाह नहीं की।

## भगवान् कृष्ण की न्यायप्रियता.

एक बात यह भी है कि जिसप्रकार पूर्वकथन के अनुसार अवतार धारण करते समय भगवान् किसी विशेषशरीर की अपेक्षा नहीं रखते क्योंकि सर्वशरीर उन्हीं की माया का प्रकाश हैं और धर्मरक्षा तथा पाप का नाश करते समय किसी विशेष रूप उपाय की अपेक्षा नहीं रखते क्योंकि उनके समस्त कर्म निरिच्छित निरपेक्ष, तटस्थ और साक्षीरूप से होते हैं और उन कर्मों के फलाफल का उनपर आरोप नहीं हो सकता, वैसे ही उन्हें पाप का दण्ड देते समय भी किसी विशेषव्यक्ति तथा दल का कोई लिहाज़ नहीं होता। यही कारण है, कि जिस यादवजाति की उन्नति के लिये उन्हों ने इतना यत्न किया, जिस यादवजाति ने दैत्यों को दण्ड देकर धर्म की रक्षा करने में भगवान् की सदैव सहायता की। जब उसमें भी शक्ति और सांसारिक ऐश्वर्य का अभिमान आ-जाने से उद्दण्डता आ गई, तो आपने उस

यादवजाति को भी दुर्वासा ऋषि के शाप से बचाने का कुछ भी यत्न नहीं किया प्रत्युत बिलकुल बेपर्वाही से उसे नष्ट हो जाने दिया। यद्यपि भगवान् सोलहकला-सम्पन्न अवतार थे सर्वशक्तिमान् थे और उस शाप से यादवजाति को बचाना उनके वास्ते मामूली बात थी। यही क्यों? भगवान् कृष्ण के दर्शन करनेवालों पर तो किसी का कोई शाप प्रभाव ही नहीं डाल सकता। ओस की बूंद तब तक ही भूमि अथवा शरीर को गीला कर सकती है जब तक सूर्यभगवान् के दर्शन नहीं होते। सूर्य निकल आने पर ओस रह ही कहाँ सकती है? नारदजी को दक्ष का शाप था कि वे दो घड़ी से अधिक समय तक एकस्थान पर नहीं रह सकते। परन्तु आप द्वारका में आकर भगवान् के पास बरसों रहा करते थे। दक्ष का शाप कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। फिर दुर्वासाजी के शाप से ही यादवों की रक्षा करना क्या कठिन था? परन्तु उनमें उद्दण्डता आगई थी, शक्ति का अभिमान हो गया था और ऐसी अवस्था में उन्हों ने औचित्यानौचित्य का विचार करना भी छोड़ दिया था। अन्य की तो बात ही क्या। एकबार स्वयं बलरामजी तीर्थाटन करते हुए नैमिषारण्य में पहुँच गये। उस समय वहाँ सूतजी ऋषियों को पुराणों की कथा सुना रहे थे। बलरामजी के पहुँचने पर अन्य सब ऋषि तो उनके स्वागत के लिये खड़े हो गये व्यासगद्दी पर बैठे हुए होने के कारण केवल सूतजी ही बैठे रहे। इस से बलरामजी ने क्रोध में आकर वहीं उन का वध कर दिया। जब यादवों के प्रधान नेता बलराम ही इतने घमण्डी हो गये तब दूसरों की तो बात ही क्या? भगवान् कृष्ण तो सदैव ऋषिमुनियों का आदर करते हैं। निर्धन सुधामा के पाँव अपने हाथों से धोते हैं, युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में पादप्रक्षालन की सेवा सम्भालते हैं परन्तु बलरामजी, व्यासगद्दी की प्रतिष्ठा के कारण न उठने पर, सूतजी का वध कर डालते हैं। इस से सिद्ध होता है कि यादवों ने भगवान् कृष्ण को नहीं पहचाना था या अधिकार मद में उन्हें भूल गये थे और "दीपक तले अन्धेरा" वाली लोकोक्ति चरितार्थ करने लग गये थे। मालूम होता है, वे शक्ति के अभिमान में वैसे ही भगवान् कृष्ण को भूल रहे थे जैसे सांसारिक सुखोपभोग में फँसकर जीवहृदयस्थ परमात्मा को भूल जाता है।

## यादवों में अधिकारमद.

पुराणों से यह भी पता चलता है कि उस समय यादवों में अनेक दुर्गुण और दुर्व्यसन भी पैदा हो गये थे। शराब का दौर सदैव चलता रहता था। ऋषिमुनियों और महापुरुषों से हँसीमज़ाक करते थे। यही दुर्गुण उनके नाश का कारण हुआ। एकबार ऋषि, मुनि, सिद्धपुरुष द्वारका चतुर्मास व्यतीत कर के उठे और पहले दिन कुछ दूर जाकर दूसरे गाँव में पडाव किया तो कुछ उच्छृंखल यादवों की एक मण्डली शिकार खेलती हुई वहाँ ही पहुँच गई। ऋषियों का मज़ाक़ उड़ाने के विचार से उन्हों ने अपने में से एक साम्बनामक नवयुवक को स्त्री के वस्त्र पहनाए और उसके पेट पर कोई वस्तु बाँध गर्भिणी स्त्री का रूप बनाकर ऋषियों के पास पहुँचे। कपटयुक्त प्रणाम कर एक दूसरे से सैनत लड़ाते और मुस्कराते हुए बैठ गये। कुछ देर बाद एक ने कहा-भगवन्! हम लोगों की एक प्रार्थना है आज्ञा हो तो निवेदन करें।

ऋषियों में से एक महात्मा दुर्वासाऋषि, जो यादवों के गुरु थे, बोले—कहो बेटा! तुमको जो कहना है निःशंक कहो। तब उन लोगों ने कहा—यह साम्ब की वहू हमारे साथ आई है। इसकी और हम लोगों की भी यह जानने की उत्कट इच्छा है कि इसके पेट से लड़की होगी या लड़का। आप हमारे यहाँ बहुत दिन रहे, कईवार आप लोगों से पूछने की इच्छा हुई, परन्तु बड़ों से लज्जा के कारण न यही आप तक पहुँची और नही हम लोग पूछने का साहस कर सके। आज यहाँ आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं।

मालूम होता है इन लोगों की धूर्तता से ऋषिलोग द्वारका में ही तंग आए हुए थे। यही कारण है कि उनकी कपटभरी बातें सुनकर ऋषि को क्रोध आ गया और उन्होंने उसी क्रोध में कह दिया—इससे ऐसा मूसल पैदा होगा जो तुम्हारे सारे कुल का नाश कर देगा। ऋषियों के प्रचण्ड क्रोध को देखकर वे लोग वहाँसे भागे और द्वारका में आकर अपनी सारी करतूत कह सुनाई। साम्ब के पेट पर से कपड़ा खोला तो उसमें से सचमुच ही एक मूसल निकला। यादवों ने अपने उस मूसलरूप काल को मिटाने के लिये रेती से रगड़कर वालू में मिला दिया और रगड़ते रगड़ते जो शेष छोटा सा टुकड़ा रह गया उसे नदी में फेंक दिया। वालू में मिले हुए मूसल के रेते से वह दूब पैदा हुई जिससे यादवों ने एक दूसरे का नाश किया। नदी में फेंका हुआ टुकड़ा मछली ने खा लिया, मछली व्याध के हाथ आ गई और उसमें से वह टुकड़ा निकलने पर व्याधने अपने तीर पर चढ़ा लिया। कहते हैं उस तीर पर वही टुकड़ा चढ़ा हुआ था जो हिरण समझ कर व्याध ने भगवान् कृष्ण के पैर में मारा था। इस से प्रकट होता है कि भगवान् कृष्ण ने शक्ति रखते हुए भी यादवों में उद्दण्डता आजाने पर उनकी कोई सहायता नहीं की।

## भगवान् के अवतार का हेतु.

उपरिवर्णित अवतारों में एक श्रीकृष्ण ही पूर्ण अवतार हैं, शेष सब अंशावतार हैं। पूर्णावतार के उपदेश सर्वकाल तथा सर्वदेश के लिये समान रूप से लाभकारी होते हैं। परन्तु अंशावतार कभी कभी किसी विशेष उद्देश्य को लेकर भी होते हैं जिनके सामने किसी विशेष देश अथवा काल में फैल रहे पाप को रोक कर धर्म तथा धार्मिकजनों की रक्षा और किसी धर्मनाशक विशेषव्यक्ति या दल को दण्ड देने का कार्य होता है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् को अवतार धारण करने की आवश्यकता उसी अवस्था में पड़ती है जब उनकेधर्म पर आपत्ति आती है। अन्यथा जहाँ विभूतियुक्त जीवों के आने से काम चल सके वहाँ वही कार्य साध लेते हैं। यही कारण है कि वैदिकधर्मानुयायी भारत देश में तो धर्मरक्षार्थ स्वयं भगवान् अवतार धारण करते रहे हैं और अन्य देशों में, जहाँ समूचे वैदिकधर्म का प्रचार तो नहीं परन्तु उसके कुछ एक सिद्धान्तों का ही देश-काल और बुद्धिभेद के कारण कुछ परिवर्तनों के साथ प्रचार हुआ है, वहाँ सदैव विभूतियुक्त महापुरुषों का ही प्रादुर्भाव होता रहा है। योरोप के विद्वानों ने भी पूर्णखोज के बाद यही निश्चय किया है कि संसार में सब से पहिला धर्मग्रन्थ वेद ही है। कुरान में अनेक जगह बाइबल के वर्णन आये हैं, बाइबल में तौरेत का, तौरेत में ज़म्बूर का और ज़म्बूर में ज़न्दावस्था का उल्लेख मिलता है। भारतेतर

देशों में धर्मविषय को प्रतिपादन करनेवाली पुस्तक ज़न्दावस्था के पहिले की कोई नहीं मिलती। परन्तु ज़न्दावस्था में वेद का उल्लेख पाया जाता है। इसी आधार पर धार्मिक इतिहास का अनुसन्धान करनेवाले योरोपियन विद्वानों ने निश्चय किया है कि पृथिवीतल पर सब से पहला धर्मपुस्तक वेद ही है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि सारे संसार को धर्मशिक्षा वेदभगवान् से ही प्राप्त हुई है, पर धर्म की राजधानी भारतदेश ही रहा है। यही कारण है कि वैदिकधर्म की रक्षा के लिये भगवान् का अवतार भी सदैव भारत में ही होता है, अन्य किसी देश में नहीं। अन्य देशों में विभूतिसम्पन्न जीव ही आते रहे हैं जैसे ईसा, मूसा, ज़रदश्त, मोहम्मद आदि। जिसप्रकार भारत में भी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुमारिल वीरवैरागी, महाराणा प्रताप, शिवाजी, रामकृष्णपरमहंस, लोकमान्य तिलक जैसे दैवी विभूतिसम्पन्न महापुरुष धार्मिक तथा नैतिक सुधारों के लिये आते रहे हैं, और अब भी विद्यमान हैं। इसीवास्ते भगवान् गीता में कहते हैं–

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

संसार में विभूति अथवा शक्तिरूप में जो कुछ भी विद्यमान है वह मेरे ही तेज का अंश है। कहने का प्रयोजन यह कि संसार में जीवोंद्वारा जो अलौकिक कार्य होते हैं वे भगवान् की विभूति अर्थात् शक्तिद्वारा ही सम्पन्न होते हैं। परन्तु जो कार्य ब्रह्माण्ड में विशेष विकृति आ जाने से विभूतियुक्त जीवों की सामर्थ्य के बाहिर होते हैं उनको पूर्ण करने के लिये भगवान् स्वयं अंशावतार आदि रूपों में आविर्भूत होते हैं। इन अवतारों के कृत्य में कहीं कहीं एक का दूसरे से अथवा एक ही अवतार के कृत्यों में परस्परविरोध भी झलक जाता है। जैसे भगवान् के गुणावतारों में ही ब्रह्मा सर्जन करते हैं तो भगवान् रुद्र संहार। ब्रह्माजी सृष्टि उत्पन्न करके सब को सृष्टिवृद्धि की प्रवृत्ति में लगाते हैं तो सनत्कुमारजी निवृत्ति का ही उपदेश करने लग जाते हैं और नारदजी भी कर्मबन्धन का नाश करनेवाले मुक्तिपथ का ही झण्डा उठा लेते हैं। ब्रह्माजी के वर से हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, और रावण आदि असुरों को शक्तिप्राप्त हुई परन्तु वराह, नृसिंह और राम आदि अवतार धारण करके भगवान् ने उनकी सारी शक्ति को मट्टी में मिला दिया। परशुरामजी ने पृथिवी को निःक्षत्रिय कर देने का बीड़ा उठा लिया तो राम ने पुनः क्षत्रियों को शक्तिशाली बना दिया। इसका कारण यही है कि आंशिक अवतार किसी विशेष उद्देश्य को सन्मुख रख कर आविर्भूत होते हैं। जिसप्रकार डाक्टर फोड़े को चीर कर आपरेशन के घाव को मिटाने के लिये उसपर मरहम (मल्हम) लगाता है वैसे ही धर्मविरुद्ध चल रहे प्रवाह को रोकने के लिये जो बन्द लगाया जाता है उसकी भी कोई सीमा होती है। एकप्रवाह को रोकने के लिये जो दूसरा प्रवाह चलाना पड़ता है पहिला प्रवाह रुक जाने पर दूसरा भी व्यर्थ हो जाता है, अतः उसको भी रोक दिया जाता है। जैसे ब्रह्माजी ने सृष्टिरचना के उद्देश्य से मानवसृष्टि को प्रवृत्ति में लगाया परन्तु निवृत्ति के विना केवल प्रवृत्ति से ही जगत का कल्याण हो नहीं सकता था। अतः सनत्कुमारजी तथा नारदजी

ने निवृत्तिधर्म के प्रचार का भी बीड़ा उठाया। परशुरामजी ने क्षत्रियों में बढ़ रहे अत्याचार, अभिमान और उद्दण्डता को रोकने के लिये उनकी शक्ति को नष्ट किया तो वह आवश्यकता पूरी हो जाने पर भगवान् राम ने क्षत्रियों के गौरव तथा शक्ति को फिर बढ़ा दिया।

धर्मरक्षा तथा पाप का नाश करने के लिये अवतारों ने कभी राजसी सत्ता से भी काम लिया है। परिस्थिति के अनुसार उस समय ऐसा ही करना उचित था। वस्तुतः जगतकल्याणरूप उद्देश्य के सात्त्विक होने से उन कृत्यों में भी भगवान् की सात्त्विकीशक्ति का ही प्राधान्य रहता है। क्योंकि अवतारधारण करने का मुख्य प्रयोजन तो धर्म की रक्षा तथा पाप का नाश ही होता है। दैत्यों को दण्ड देते समय भी उनके लिये भगवान् में वैसे ही वैरभाव नहीं होता जैसे पुत्र को माता पिता और शिष्य को गुरु दण्ड देते समय भी उससे वैरभाव नहीं रखते, किन्तु उसका हित ही अभीष्ट होता है। इसी वास्ते भगवान् कहते हैं, धर्मसंस्थापन के लिये ही साधुओं का परित्राण और दुष्टों का नाश करता हूँ। दोनों उपायों को काम में लाते हुए उद्देश्य एक ही होता है।

इसी प्रकार भगवान् कहते हैं—"जन्मकर्म च मे दिव्यम्" किसीरूप में आएं और कोई भी उपाय प्रयोग में लाएं वह सब जगतकल्याण के लिये ही होता है। उसमें भगवान् स्वयं निरिच्छित, निरपेक्ष, तटस्थ और साक्षी ही रहते हैं। जैसे किसी की टाँग पर चोट लगानेवाला तो दण्ड का अधिकारी होता है परन्तु टाँग का घाव असाध्य होजाने पर समूची टाँग को काट डालनेवाला डाक्टर दण्ड का अधिकारी नहीं होता। क्योंकि वह रोगी के कल्याण के लिये ही ऐसा करता है। वैसे ही निरिच्छित, साक्षी और तटस्थ रूपसे जगतकल्याण के लिये ही नाना रूपों को धारण करनेवाला और नाना कृत्यों का कर्ता होने से भी भगवान् पर उनके फलाफल का आरोप नहीं हो सकता। इसी वास्ते गीता में कहा है—

"दण्डो दमयतामस्मि"

दमनकारियोंमें दण्ड (दमनशक्ति) मैं हूँ। अर्थात् मोहिनीरूप में दैत्यों और वामनरूप में बलि के छलने, रामरूप में ताड़का शूर्पणखा बाली आदि को सज़ा देने, जालन्धर का गर्व तोड़ने, परशुरामरूप में क्षत्रियों को शिक्षा देने और कृष्णरूप में दैत्यों तथा अत्याचारीराजाओं का संहार करने में मैं ही दण्डरूप में विद्यमान हूँ। इस उद्देश्य से किये गये कृत्यों अथवा धारण किये गये रूपों का मेरे साथ कोई सम्पर्क नहीं।

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु॥

यद्यपि देव तिर्यक् और मनुष्य शरीर को आधार बनाकर अवताररूप में अनेक लीलाएं किया करते हैं तथापि जगत का पालन और कल्याण सत्त्वगुणद्वारा ही होता है।

# देवर्षिनारद.

---

## ( ३ तरङ्ग )

### नारदपरिचय.

**अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिंशार्ङ्गधन्वनः ।**
**गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयन्त्यातुरं जगत् ॥**

उदासीन मुनियों की गुरुप्रणाली के अनुसार आदिम उदासीनाचार्य भगवान् सनत्कुमारजी के शिष्य देवर्षिनारद हुए हैं जो चौबीस अवतारों में तीसरे अवतार कहे गये हैं। वेद ( संहिता ) ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, स्मृति, इतिहास, पुराण ज्योतिष, अधिक क्या? सँस्कृतसाहित्य के किसी भी ग्रन्थ को उठाकर देखो वही नारदमहिमा, नारदउपदेशों और नारदीयसिद्धान्तों से भरा हुआ मिलेगा। सारा सँस्कृतसाहित्य नारदमहिमा से वैसे ही भरा हुआ है जैसे यह जगत सर्वव्यापक ब्रह्म से ओतप्रोत है। उसमें कहीं पर नारदजी पूर्णकरुणामय दयालु साधु के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं कहीं धर्मरक्षा में तत्पर वीरयोधा के रूप में। कहीं शान्ति, ऐक्य और प्रेम की त्रिवेणी का संगम बने हुए हैं तो कहीं भीषणयुद्धों तथा विप्लवों की नीव डाल रहे हैं। कहीं राज्यसभा के प्रधानमंत्रीपद पर आरूढ देखे जाते हैं तो कहीं राज्यसिंहासनों को तोड़ते फोड़ते दिखाई देते हैं। कहीं पर अभ्युदय और सांसारिक ऐश्वर्य के उच्चशिखर पर विराजमान हैं तो कहीं वही तंत्री हाथ में लिये गोविन्दयश गाते वनों में अलमस्त घूम रहे हैं। कहीं पर उनकी वीणा की मधुरझनकार गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के झरोंकों में से सुनाई देती है तो कहीं पहाड़ों की गुफाओं के अन्दर झनझना रही है। कहीं देवताओं के साथ विमानों पर बैठे देवलोक की हवा खा रहे हैं कहीं सामान्यमनुष्यों की भाँति अधःपतन के गर्त में पड़े हुए हैं। कहीं साक्षात् क्षमा, दया और सहनशीलता की मूर्ति बने बैठे हैं तो कहीं प्रचण्डक्रोध का रूप। कहीं पर साधारण मनुष्यों की धमकियाँ सुनकर उनसे क्षमा की याचना करते दिखाई देते हैं तो कहीं स्वयं भगवान् को भी डाँट डपट बता रहे हैं। कहीं गम्भीर धार्मिकनेता के रूप में खड़े हैं तो कहीं धुरन्धरराजनीतिज्ञ का कर्तव्य पालन कर रहे हैं। कहीं धार्मिक अथवा राजनैतिक विप्लव को देखकर अत्यन्त चिन्तित और अधीर हो रहे हैं कहीं स्वयं ही विप्लव खड़े करने की धुन में मस्त हैं। कहीं पर अपनी वाक्पटुता से निर्बल और हतोत्साह लोगों में युद्ध-भूमि में कूदने का साहस पैदा कर रहे हैं तो कहीं पर महारथियों के दिल तोड़ देते हैं। कहीं पर किसी नियम की रक्षा में जान तक की बाज़ी लगा देते हैं कहीं स्वयं ही उस नियम की अवहेलना करने में संकोच नहीं

करते। एक जगह शान्ति का अवतार हैं दूसरीजगह कलहरूपी काल। किसीको निवृत्ति का उपदेश करते देखे जाते हैं किसीको सर्वसम्पत्ति पर लात मारने की प्रेरणा कर रहे हैं। कहीं पूर्णविरक्त तो कहीं आसक्त। कहीं वैष्णव हैं कहीं शैव। कहीं भक्त हैं कहीं भगवान्। कहीं इष्ट से उपदेश सुन रहे हैं, कहीं उसी इष्ट को स्वयं उपदेश कर रहे हैं। कहीं राजा हैं कहीं प्रजा। कहीं देवताओं को दैत्यों के विरुद्ध भडका रहे हैं कहीं स्वयं देवताओं के हाथों से दैत्यों की रक्षा कर रहे हैं। किसीसे राज्याधिकार छीन रहे हैं तो किसीको इन्द्रपद तक सौंप रहे हैं। कहीं पर एक सिद्धान्त का मण्डन कर रहे हैं कहीं पर खण्डन।

सारांश यह कि नारदजी हर बात में, हर जगह और नानारूपों में दिखाई देते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास की कोई भी ऐसी महत्त्वपूर्ण धार्मिक अथवा राजनैतिक घटना नहीं घटी जिसमें किसी न किसी रूप में नारदजी का सम्बन्ध न रहा हो। प्रत्येक बड़े बड़े धार्मिक और राजनैतिक परिवर्तनों के समय नारदजी की गणना विशेषपात्रों में ही रही है। इसी वास्ते नारदमहिमा से अनभिज्ञ अथवा धर्म की पर्वाह न करनेवाले लोगों ने नारदजी को कलहप्रिय सिद्धकर रक्खा था। जैसे महाभारत के गदापर्व में नारदजी को :"प्रकर्त्ता कलहानाँच नित्यं च कलह प्रियः" कहा है। यही नहीं वाल्मीकिरामायण आदि ग्रन्थों के टीकाकारों ने तो नारद शब्द के अर्थ करते हुए, कलह करानेवाला, लोगों को परस्पर लड़ाने में तत्पर रहनेवाला, जनता को नष्ट करनेवाला भ्रम में डालनेवाला आदि अर्थ भी किये हैं।

ज्योतिष के ग्रन्थों में भी नारद का स्थान कलह का निवासस्थान कहा है यथा—

"शुक्लादितिथ्यो गतवासराढ्या, मन्दैर्युता राम विभाजिताः स्युः। एकावशेषे सुरराजलोके स्यान्नारदो मृत्युगतेद्वितीये। शेषैस्त्रिभिर्भोगिपुरेऽवतिष्ठेत तत्रैवयुक्तं खलु यत्र संस्थः।"

शुक्लप्रतिपदा से गततिथिपर्यन्त तिथियों की गणना करके उनमें गतवारों के साथ ९ और जोड़दिये जाएं। कुल को तीन पर विभक्त करने पर एक बचे तो नारद का वास स्वर्ग में, दो बचे तो मर्त्यलोक में और तीन बचे तो पाताल में होता है। जहाँ नारद का स्थान हो वहीं युद्ध का स्थान होता है।

परन्तु लोगों के ऐसे विचार होने पर भी भगवान् नारद सब लोगों में आदर और श्रद्धाभक्ति की दृष्टि से देखे जाते हैं। युद्धभूमि में उतरे हुए दोनोंपक्ष उनपर पूर्णविश्वास रखते हैं। सर्व देव, मनुष्य और असुर उनका हृदय से स्वागत करते हैं। सारा संस्कृतसाहित्य तो नारदमहिमा से भरा ही पड़ा है। सर्व ऋषि मुनि, देवता, असुर और छोटे से बड़े तक सर्वमनुष्य, बल्कि स्वयं भगवान् भी नारदजी की स्तुति करते थकते नहीं।

इस से पता लग सकता है कि नारदजी का कितना ऊंचा स्थान है। पुराणों से विदित होता है कि दैत्यदानवों से लेकर देवताओं तक, भिक्षुक से चक्रवर्तीराजा तक, और मूर्ख से लेकर बड़े से बड़े विद्वान पण्डित तक सब नारदजी के लिये प्रेम और श्रद्धा रखते हैं। दूसरों से भय उत्पन्न होने पर, कोई राजनैतिक उलझन पड़ जाने पर और किसी दार्शनिक, धार्मिक अथवा नैतिकविषय के समझ में न आने

पर सब नारदजी को ही स्मरण किया करते हैं। कोई कैसी भी विकट समस्या क्यों न हो नारदजी उसे सहज में ही सुलझा देते हैं। अतः "नारदः कलहप्रियः" कहने वाले लोग भी सदैव नारदजी पर ही भरोसा रखते हैं।

कारण यही है कि नारदजी भगवान् विष्णु के अवतार हैं और उनका प्रत्येक-कार्य लोकोपकार, लोकशिक्षा, धर्मप्रचार तथा धर्मरक्षा के लिये होता है। जिसप्रकार भगवान् तथा सूर्य की सत्तास्फूर्तिद्वारा होने वाले शुभाशुभकर्मों के फलाफल के भगवान् और सूर्यदेव भागी नहीं होते वैसे ही भगवान् विष्णु के अवतार नारदजी का भी, हरकार्य को लोकोपकार और धर्मरक्षा के निमित्त तटस्थ तथा उदासीनरूप से करने के कारण, उन कार्यों के फलाफल से कोई सम्पर्क नहीं होता।

नारदजी के जीवन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आप सदैव सत्यसंकल्प और सत्यव्रत रहे हैं। कुटिलनीति को कभी पसन्द नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति को उसके भले की साफ सीधी और खरी बात कह देते हैं। यदि किसी देवता ने उनसे कुछ पूछा तो विना सङ्कोच उसके भले की बात उससे कह दी और यदि दैत्य-दानव ने पूछा तो विना भेदभाव के जो यथार्थ उत्तर हुआ उसे सुना दिया। इसी-वास्ते लोगों में उन्हें कलहकारी सिद्ध कर दिया गया है। क्योंकि यदि देवताओं ने उनसे दैत्यों के छल बल तथा षड्यंत्रों से बचने का उपाय पूछा तो सत्यव्रत होने के कारण जो ठीक उपाय हुआ आपने कह दिया। दूसरी ओर यदि दानवों ने देवताओं के विरुद्ध कोई बात पूछी तो यथार्थ उत्तर उन्हें भी दे दिया। जिस बात में जिसका भला है उसे वही बात कहने में नारदजी को कभी सङ्कोच नहीं हुआ। यदि वही बात देवताओं तथा दानवों में कभी कलह का कारण भी हो गई हो तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नारदजी ही कलह-कारी हैं। सूर्य्य के प्रकाश में जगत के सब व्यवहार सुचारूरूप से चलते हैं। परन्तु कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जिनके लिये वही प्रकाश हानिकारक और घातक बन जाता है। वे प्राणी यदि सूर्य्य पर ही दोष लगाने लग जाएं तो लगाएं। पर सूर्य्यभग-वान् उनकी निर्बलता के लिये उत्तरदायी नहीं हो सकते। इसीप्रकार नारदजी तो सत्यव्रत हैं और सबको यथार्थ बात बतलाते हैं, यदि उनबातों से लोग कलह का अंकुर निकालें तो नारदजी का इसमें क्या दोष ?। इससे प्रकट हुआ कि नारदजी की कलहकारिता केवल लोकापवादमात्र ही है और उसका कारण यही मालूम होता है कि दोनों विरोधिदलों को उनके भले की कही हुई यथार्थ बातें दोनों के लिये अरुचिकर हो जाती हैं। नारदजी ने यदि देवताओं को उनके भले की यथार्थ बात कह दी तो दैत्य बिगड़ गये और यदि दैत्यों को उनके भले की यथार्थ बात कह दी तो देवता बिगड़ गये। इसप्रकार दोनों नारदजी को कलहकारी कहने लग गये। परन्तु नारदजी को तो कुटिलनीति पसन्द ही नहीं। वे तो सत्य और यथार्थ ही कहेंगे। कोई बुरा माने चाहे भला। क्योंकि वे सत्यसंकल्प हैं। कहने का प्रयोजन यह कि नारदजी पर कलहकारिता का दोष इसीप्रकार लगाया मालूम होता है वस्तुतः इसका कोई आधार नहीं। दूसरे, यदि दैत्यों के उपद्रवों के विरुद्ध देवताओं को भड़काने का नाम कलहकारिता भी हो सकता है, जो नारदजी अकसर करते रहे, तो इस कलहकारिता का नाम चुग़लख़ोरी नहीं हो सकता।

# ( ४ तरङ्ग )

## नारदजी का आविर्भाव विद्याध्ययन और वैराग्य.

प्राचीन इतिहास में नारदजी के अनेकजन्मों का वर्णन मिलता है। ब्रह्मांजी के मानसपुत्र तो आप थे ही पर इतिहास में आपके अन्यजन्मों की कथाएं भी पाई जाती हैं। कहीं उपवर्हण नाम से गन्धर्वयोनि में विराज रहे हैं और पचास स्त्रियों के साथ विवाह कर रक्खा है। कहीं गोपराज द्रुमल की धर्मपत्नी कलावती के गर्भ से उत्पन्न होकर दासीपुत्रनारद नाम से प्रसिद्ध हैं। कहीं कश्यप के घर में उत्पन्न हो काश्यपनारद नाम धरा रक्खा है और कहीं भगवान् के पार्षदों में ही विचरते देखे जाते हैं। कहीं ब्राह्मणपुत्र बने बैठे हैं और कहीं भगवान् के अन्तःकरण में ही समाधि लगाए बैठे हैं। परन्तु पुराणों की नारदविषयककथाओं से यह एक बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि भिन्न भिन्न जन्मों को धारण करने वाले नारदजी वही हैं जिनकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के मानसपुत्रों के साथ हुई है और जो भगवान् विष्णु का अवतार हैं। दूसरे हमारे चरित्रनायक वही देवर्षि नारद हैं जिनकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के उन दस पुत्रों के साथ हुई है जो चौदह मन्वन्तरों में प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में उत्पन्न हुए हैं। अतः ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के समय से ही आपकी मानवलीलाओं का वर्णन प्रारम्भ करना उचित होगा।

ब्रह्माजी की स्वतंत्रमानसशक्ति से, धारणावती (बलवती) इच्छा से, जो सृष्टि उत्पन्न हुई थी उसको मानससृष्टि कहा गया है। चौदह मन्वन्तरों में प्रथम स्वायम्भुवमन्वन्तर में सृष्टिकर्त्ता चतुराननजी ने मानसीसृष्टि उत्पन्न की। अपने भिन्न भिन्न अवयवों से ऐसे दस पुत्र उत्पन्न किये जिन को मानसीसृष्टि कहा जाता है। उनमें दसवें श्रीनारदजी हैं जिनकी उत्पत्ति ब्रह्माजी की गोद से "उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे" हुई है। उन्हीं नारदजी की महिमा महर्षिनारद, देवर्षिनारद, ब्रह्मर्षिनारद, महामुनिनारद आदि नामों से शास्त्रों में गाई गई है।

### विद्याध्ययन.

नारदजी ने सर्वप्रकार की परा तथा अपरा विद्याओं का अध्ययन अपने पिता श्रीब्रह्माजी से ही किया था। उन्होंने कौनकौनसी विद्याओं का अध्ययन किया था? यह बताना कठिन ही नहीं असम्भव है। जब पढ़ानेवाले गुरु ब्रह्माजी और पढ़नेवाले भगवान् विष्णु के अवतार देवर्षिनारदजी हों तो विद्याओं का पारावार ही क्या रह जाता है और हमारे ऐसे जीव उसको वर्णन कैसे कर सकते हैं? फिर भी छान्दोग्यउपनिषद् में नारदजी ने आत्मतत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करते हुए भगवान् सनत्कुमारजी को संक्षेपतया बताया है कि अबतक कौनकौनसी विद्याओं का अध्ययन कर चुके हैं। नारदजीद्वारा अध्ययन की गई विद्याओं के विषय में वही यहाँ भी उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा।

**सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं, चतुर्थ मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको-**

वाक्य मेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्या मेतद्भगवोध्येमि ।

नारद बोले—भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद का पूर्णतया अध्ययन किया है। पञ्चमवेद इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प गणित, उत्पातविद्या, निधि, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, दर्शन, निरुक्त, धनुर्विद्या, गायनविद्या और इन सर्वविद्याओं को पूर्णतया पढ़ा है।" इस से पता लग सकता है कि नारदजी को ब्रह्माजी ने किनकिन विद्याओं का अध्ययन करा दिया था। नारदजी की विद्याओं का इसी से पता चल सकता है कि नारदजी से अध्ययन की हुई विद्याओं के नाम सुनकर भगवान् सनत्कुमारजी ने उन्हें सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित किया था। ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रथम ब्रह्मखण्ड के २३ वें अध्याय में लिखा है कि—

## प्रवृत्ति से वैराग्य.

जब नारदजी सर्वप्रकार की विद्याओं का अध्ययन कर पूर्ण विद्वान् हो गये तब एकदिन ब्रह्माजी ने उनसे कहा-पुत्र! तुम सर्वविद्याओं को पढ़ चुके हो अब जो कुछ मैं कहता हूँ उसको ध्यानपूर्वक सुनो और अपना कर्तव्य समझकर उसका पालन करो।

सर्वेषामपि वन्द्यानां जनकः परमो गुरुः।
विद्यादाता मंत्रदाता द्वौ समौ च पितुः परौ ॥४॥
तवाहं जनकः पुत्र! विद्यादाता च पालकः।
ममाज्ञा च मत्प्रीत्या कुरुदारपरिग्रहम् ॥५॥
स च शिष्यः सोऽपिपुत्रो यश्चाज्ञां पालयेद्गुरोः।
न क्षेमं तस्यमूढस्य यो गुरोरवचस्करः ॥६॥
स पण्डितः सच ज्ञानी स क्षेमी सच पुण्यवान्।
गुरोर्वचस्करो यो हि क्षेमं तस्य पदे पदे ॥७।
सर्वेषामाश्रमाणाश्च प्रधानः पुण्यवान् गृही।
स्त्रीपुत्रपौत्रयुक्तश्च मन्दिरं तपसः फलम् ॥८॥
पितरः पूर्वकाले च तिथिकाले च देवताः।
सर्वेगृहस्थमायान्ति निपानमिव धेनवः ॥९॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं कुर्वन्ति गृहिणः सदा।
इहएतद् सुखं पुण्यं स्वर्गभोगः परत्र च ॥१०॥

बेटा! मनुष्य के लिये सर्वमाननीय लोगों में परममाननीय पिता है परन्तु उससे भी बढ़कर माननीय तथा पूज्य विद्यादाता तथा मंत्रदाता गुरु है। मैं तेरा पिता हूँ और साथ ही विद्यादाता गुरु भी हूँ। इस लिये मेरी प्रसन्नता के लिये तू मेरी आज्ञा को मानकर विवाह करले। निश्चय जान कि वही सच्चापुत्र और वही शिष्य है जो पिता तथा गुरु की आज्ञा का पालन करता है। जो मूढपुरुष गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता उसको संसार में सुख नहीं मिल सकता। निःसन्देह वही पण्डित, वही ज्ञानी, वही पुण्यात्मा और संसार में वही सुखी है जो गुरुवचनों का पालन करता है। सर्वआश्रमों में प्रधान गृहस्थाश्रम ही है। स्त्री पुत्र, पौत्रादि युक्त गृह महान् तप का फल होता है। इसलिये गृहस्थाश्रमी ही पुण्यात्मा है। जैसे जल पीने के लिये जलाशय पर गौएं आती हैं वैसे ही गृहस्थ के पास समय समय पर पितृगण और देवगण आया करते हैं। गृहस्थ लोग ही नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान करके इस लोक तथा परलोक में सुख भोगते हैं। इसप्रकार धर्माचरण द्वारा यश, पुण्य और धन आदि सम्पादन कर यदि गृहस्थ इस संसार को छोड़ भी जाता है तो वह मरा हुआ भी जीता ही रहता है और कीर्तिरहित पुरुष जीता भी मरे हुए के समान है।

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः।
उवाच पितरं भीतः शुष्ककण्ठोष्ठतालुकः ॥१३॥

ब्रह्माजी के वचनों को सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदजी सहम गये ओष्ठ सूख गये और रुद्धकण्ठ से बोले—

एकदावाग्विरोधेन चोभयोस्तात पुत्रयोः।
हानिर्बभूव दैवेन महतीवाऽयशस्करी ॥१४॥

पिताजी! पहिले भी एकबार हम दोनों पितापुत्र में वादविवाद हो गया था जिससे हम दोनों को ही अकीर्तिकारिणी हानि उठानी पड़ी थी। मैं गन्धर्व और शूद्रयोनि में भटकता फिरा और आप संसार में पूजा से रहित हो गये। अब बहुतकाल के अनन्तर मैं आपके शाप से मुक्त हो फिर से आपका पुत्र बना हूँ। भगवन्! निरन्तर विरोध बना रहने से हानि के सिवा कोई लाभ तो हो नहीं सकता। पिताजी! आपसे ही यह उपदेश सुना हुआ है कि पिता, गुरु, स्वामी, भाई और पुत्र वही है जो भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति दृढ कराए।* दयालु पिता तो कुमार्ग में जानेवाले अपने पुत्रों को उस ओर से रोकते हैं और उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त कराते हैं। पितृधर्म को जाननेवाला पिता अपने पुत्र को कृष्ण-भक्ति से हटाकर दूसरे मार्ग में कैसे प्रवृत्त कर सकता है? स्त्रीसंग अर्थात् विवाह करना तो केवल दुःखों का जनक है, उससे सुख की आशा हो नहीं सकती। वह तप, स्वर्ग, भुक्ति, मुक्ति तथा सर्वप्रकार के जीवहितकारी कर्मों का बाधक है। हे पिता! संसार में स्त्रियाँ साध्वी, भोग्या और कुलटा तीनप्रकार की होती हैं। स्त्रियों की यह तीनों ही श्रेणियाँ स्वार्थपरायण होती हैं। साध्वी स्त्री परलोक के

* स पिता स गुरुर्बन्धुः स पुत्रः समधीश्वरः। यः श्रीकृष्णपादपद्मे दृढांभक्तिं चकारयेत् ॥ १७ ॥

भय से यशस्वी पति की सेवा करती है, भोग्या भोगकामना से पति की सेवा करती है। जब तक सुन्दर वस्त्र, उत्तम भोजन, आदरमान और बहुमूल्य आभूषण मिलते रहते हैं तब तक ही स्नेहपूर्वक पति की सेवा करती है, अन्यथा झट आँखें बदल लेती है। तीसरी कुलटा कुलनाशिनी और कुलांगार स्त्री है जिसका हृदय प्रेम से शून्य होता है। वह अपने पति की सेवा भी कपटपूर्ण हृदय से करती है। सदैव काम से व्यथित रह कर परपुरुषों के समागम की ही इच्छा तथा प्रयत्न करती और सदैव जारपतियों की ही खोज में रहती है। वह दुष्टा जारपति को प्रसन्न करने के लिये निजविवाहित पति को मार देने तक तैयार हो जाती है। जो पुरुष ऐसी स्त्री पर विश्वास करता है उससे बढ़कर संसार में कोई मूर्ख नहीं है। भगवन्! इसप्रकार से तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने स्त्रियों को उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। इनके मनोभावों को दिव्यदृष्टिवाले स्वात्माराम महात्माओं के सिवा केवल शास्त्रज्ञान रखनेवाले पण्डित भी नहीं जान सकते, दूसरों की तो कथा ही क्या? स्त्रियों का हृदय क्षुरधारा के समान तीक्ष्ण और मुख गुलाबपुष्प के समान चित्ताकर्षक होता है। स्वार्थवश हो अमृत के समान मधुर वचन बोलती हैं परन्तु क्रोध में आकर उसी मुख से विषयुक्त तीरों के समान वचन निकालती हैं। इनके वचनों पर विश्वास करनेवाले पुरुष का पतन अवश्यम्भावी है। लोगों की दृष्टि में इनके कर्म ही आ सकते हैं पर इनके मनके अभिप्राय का जानना कठिन है। इन में अविनय, प्रबलता साहस, दोषबाहुल्य, छलबाहुल्य अनतिक्रमणीय माया आदि अनेक जगद्विजयी दोष सदा निवास करते हैं। इनमें पुरुषों की अपेक्षा काम आठगुणा, भूख द्विगुणी, निर्दयता चारगुणी और क्रोध छःगुणा अधिक रहता है। अपने निश्चय में सदा दृढ़ रहनेवाली होती हैं। जिन स्त्रियों में इतने दोष निवास करते हैं उनसे सुख की आशा कैसे की जा सकती है? विष्ठा, मूत्र, मेदा, मज्जा, अस्थिश्लेष्म के गृहरूप स्त्री के साथ क्रीड़ा करने में पुरुष क्या आनन्द लाभ कर सकता है? स्त्रीसंग से तेज का नाश उनके साथ वार्तालाप करने से यश का, प्रीति करने से धन का अतिभोगासक्ति से शरीर का संगत से पौरुष का, लड़ाई करने से मान का और उनका अवलम्बन लेने से सर्वस्व का नाश हो जाता है। फिर हे पिता! आप ही बताइये स्त्रियों में सुख कहाँ है? जबतक पुरुष धनवान् तेजस्वी और क्रान्तिमान् है सर्वप्रकार की योग्यता रखता है, तब तक ही वह स्त्री को वश में रख सकता है। पर जब रोगी, निर्धन, वृद्ध और कुरूप होजाता है तब स्त्री पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहता। फिर तो स्त्री लोकापवाद के भय से ही उसे कुछ थोड़ा खानेपीने को दे देती है सेवा और प्रेमभाव से नहीं। हे पिता! शास्त्रों का विचार जैसा मेरी समझ में आया है वैसा ही मैंने आपके सामने रख दिया है। आप तो आत्मारामयोगियों के भी ईश्वर हैं। सब कुछ जानते हैं। मुझ पर दया कीजिये और मुझे स्त्रीजाल में न फँसाइये। आप कल्पवृक्ष के समान भक्तों की सर्वकामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। मुझे भी आप कृष्णभक्ति ही प्रदान कीजिये।

इतना कहकर नारदजी कातरस्वर से रोदन करते हुए ब्रह्माजी के चरणों पर गिर पड़े और चरण पकड़कर तप करने के लिये बाहिर जाने की आज्ञा माँगने

लगे। तत्पश्चात् भक्तिभाव से सिर नीचा किये हाथ जोड़ ब्रह्माजी की प्रदक्षिणा की और वनको जाने के लिये तैयार हो गये।

जगत के विधाता ब्रह्माजी भी पुत्र को वनको जाते देख संसारीजीवों के समान उच्चस्वर से रोदन करने लगे। नारदजी को छाती से लगाकर वारवार उसका मुख चुम्बनकरने लगे। पश्चात् उन्हें गोदी में वैठा लिया और शोकातुर मन से नारदजी को सम्बोधन कर ब्रह्माजी वोले—(अध्याय २४) पुत्र! तू तप करने जाता है तो फिर मुझे इन सांसारिक झगड़ों से क्या प्रयोजन है? मैं भी कृष्णभगवान् का साक्षात्कार करने के लिये गोलोक को जाता हूँ। तुम्हारे वड़े भाई सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार पहले ही तपस्वी हो गये हैं। अव तुम भी मुझे छोड़ कर तप करने जाते हो तो मुझे संसाररचना के कर्म से क्या प्रयोजन है? तुम्हारे मरीचि, अङ्गिरा भृगु प्रभृति भ्राता आप अपना काम देखेंगे।

हे वत्स! तुम जाओ मैं रोकता नहीं, पर तुम एकवार फिर मेरी वात को ध्यान पूर्वक सुनकर उस पर अच्छीतरह विचार कर लो। उसके वाद तुम्हें जो ठीक जँचे वही करना। मैं तुम्हें वेद का रहस्य सुनाता हूँ। वेद का रहस्य यह है कि मनुष्य क्रममर्यादा का अनुसरण करके ही उन्नति कर सकता है, उसका उल्लंघन कर के नहीं। सर्वविचारशील पण्डित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ही इच्छा रखते हैं। यही चतुर्वर्गफल वेद में कहे गये हैं और सत्पुरुष भी इनकी प्रशंसा करते हैं। पुत्र! वेदविहित कर्म का नाम धर्म और वेदवर्जित कर्म का नाम अधर्म है। वेद में लिखा है कि द्विजाति का वालक प्रथम यज्ञ में यज्ञसूत्र-यज्ञोपवीत को धारण कर वेदाध्ययन करे फिर अध्ययन समाप्त हो जाने पर गुरु को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा ले घर में आजाए। उत्कृष्ट और सदाचार सम्पन्नकुलवाली, सुशिक्षिता, सुशीला एवं गृहकार्य में कुशल निर्दोष कन्या के साथ विवाह करे। सद्वंशजा, कुलीना और साध्वीकन्याएं सदा अपने पति की सेवा में तत्पर रहती हैं। उनमें किसी कुचेष्टा की आशंका भी नहीं की जा सकती। पद्ममणि की खदान में कांच पैदा नहीं हो सकता। सदाचारी कुलों की कन्याओं के भाव सदा पवित्र रहते हैं। मातापिता के दोष से अथवा अनाचार दूषित वंशमें उत्पन्न होने वाली अशिक्षिता कन्याएं ही स्वतंत्रता से अनाचार में प्रवृत्त होती हैं। तुम्हें यह वात कभी न भूलनी चाहिये कि सव स्त्रियाँ दुष्टा नहीं होतीं। साध्वी स्त्री तो साक्षात् लक्ष्मी का स्वरूप होती है। मनुष्येतर विपर्यीयोनियों की स्त्रियाँ अथवा स्वर्ग से पतित हुई वेश्याएं ही मानवजाति में स्त्रीरूप में उत्पन्न हो कर कुलटा होती हैं। साध्वी स्त्री तो निर्धन निर्गुण और जड पति की भी श्रद्धाभक्ति से सेवा करती है। कुलटास्त्री धन, वल, रूप यौवन सम्पन्न पति की सेवा से भी जी चुराती और उसकी निन्दा करती रहती है। बुद्धिमान् तथा सत्पुरुष सर्वगुणसम्पन्न सद्वंशजा कन्या के साथ ही विवाह करते हैं और सन्तान के सामर्थ्य हो जाने पर वृद्धावस्था में वनको तपस्या करने चले जाते हैं। यही मार्ग पुरुष के लिये सुखावह है।

हे वत्स! यह तो मैं भी कहता हूँ कि अग्नि की धधकती ज्वालाओं में वैठना सर्प के विल में वास करना, और शूलों की शय्या पर लेटना अच्छा, लेकिन अनाचारिणी कटुभाषिणी तथा कुलटा स्त्री के साथ रहना अच्छा नहीं। क्योंकि अग्नि

आदि का दुःख तो घड़ी आध घड़ी होता है, प्राण निकल जाने पर मनुष्य दुःख से छूट जाता है, दुष्टा स्त्री आयुभर जलाती रहती है और पद पद पर पुरुष को सूली पर लटकाती है। परन्तु कुलीन स्त्रियाँ तो साक्षात् भगवती का रूप हैं। उनके संग से पुरुष के दोनों लोक सुधर जाते हैं। उनके साथ विवाह करने में तो लाभ ही लाभ है। दूसरे हे पुत्र!

**मत्तोऽधीतस्त्वया वेदो मह्यं च गुरुदक्षिणाम्।**
**पुत्र! देहीदमेवेह कुरु दारपरिग्रहम् ॥१६॥**

तूने मुझसे वेदाध्ययन किया है, तुमको मुझे गुरूदक्षिणा देनी चाहिये। वह गुरूदक्षिणा मैं तुमसे धन दौलत नहीं मांगता किन्तु यही मांगता हूँ कि तुम विवाह करलो—मेरी बात मान जाओ। मैं तुमको यह भी बतला देता हूँ कि मनु वंशज महाराज सृञ्जय के घरमें एक कन्या ने जन्म लिया है। भारतवर्ष में जन्म लेकर वह तेरे ही निमित्त तप कर रही है, लक्ष्मीजी की अंशावतार है। उस कन्या को स्वीकार करके उसके तपको सफल कर। पुत्र! भारतवर्ष में किया हुआ जीवों का तप कभी निष्फल नहीं जाता। कभी न कभी अनिच्छापूर्वक भी तुझे उस कन्या के तप के अधीन होना पड़ेगा। जब तुझे ऐसा करना ही पड़ेगा तो तू मेरी बात ही क्यों नहीं मान लेता? पुरुष को ब्रह्मचर्य के उपरान्त पहले गृहस्थाश्रमी फिर वानप्रस्थी और तदनन्तर उदासीन तपस्वी होना चाहिये, यही श्रुतिनिर्णीत और सर्व सम्मत सिद्धान्त है। तू तो वैष्णव है, घर में रहकर ही कृष्णभक्ति कर। जो पुत्र अपने अन्तरबाह्य परमात्मा को ही देखता है उसे तप की क्या आवश्यकता, और जो अन्तरबाह्य परमात्मा को ही वर्तमान नहीं देखता उसे तप करने से भी क्या लाभ हो सकता है? यह ठीक है कि तपस्याद्वारा हरि की आराधना करनी चाहिये। शास्त्र की ऐसी आज्ञा है। फिर भी जो पुरुष सोते जागते उठते बैठते, खाते पीते, चलते फिरते हर काम में कृष्ण को ही स्मरण करता है उससे बढ़ कर तपस्वी कौन हो सकता है? इसलिये पुत्र! मेरी बात मानकर घर में ही कृष्ण की भक्ति कर।

**कामिन्यां सुखसम्भोगः स्वर्गभोगात्सुदुर्लभः।**
**तद्दर्शनमुपस्पर्शं वाञ्छन्त्येव मुमुक्षवः ॥२६॥**

स्त्रीसुखभोग तो स्वर्गसुख से भी दुर्लभ है क्योंकि स्त्री के दर्शन स्पर्शन की इच्छा मुमुक्षु लोग भी करते रहते हैं। उससे भी अधिक सुखकर पुत्र-दर्शन है। अन्य सब वस्तुओं से अधिक स्त्री प्यारी होती है इसीवास्ते लोग उसे प्रिया कहते हैं। परन्तु सौ स्त्रीप्रेम से भी अधिक पुत्र-प्रेम है। पुत्र से प्रिय कोई वस्तु नहीं "सर्वेभ्यो जयमन्विच्छेत् पुत्रादेकात् पराजयम्" पुरुष अन्य सब पर विजय पाने की इच्छा करता है एक पुत्र से ही पराजय का आकांक्षी रहता है। संसार में शरीर से बढ़कर कोई वस्तु प्यारी नहीं परन्तु पुत्र शरीर से भी अधिक प्यारा है। यही कारण है कि पुरुष पुत्र को सर्वस्व अर्पण कर देता है। इतना कहकर ब्रह्माजी चुप हो गये और नारदजी के मुँह की ओर देखने लगे।

तब ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीनारदजी बोले—

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि वेद के सर्वरहस्यों को जानने और अन्वयव्यतिरेकद्वारा स्वयं सर्वप्रकार का अनुभव रखनेवाला पिता अपने पुत्र को असन्मार्ग में क्यों प्रवृत्त कराता है? पिता! जल के बुद्बुदे के समान यह सारा संसारविनश्वर और जलरेखा के समान यह त्रिलोकी मिथ्या है। ऐसे संसार में आस्था रखना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? जिस पुरुष का मन परमात्मा की भक्ति को छोड़ कर विषयों में चलायमान होता है उसका दुर्लभ मानवजन्म निष्फल ही समझना चाहिये। इस संसारसागर में कौन किसकी स्त्री और कौन किसका पिता, पुत्र, भाई, बन्धु है? कर्मरूप तरङ्गों के प्रभाव से एक का दूसरे से संयोग और कर्मतरङ्गनाश से वियोग हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि कर्मबन्धनों को काटने के लिये पुत्र अथवा शिष्य को जो सुकर्म में प्रवृत्त करता है वही सच्चा पिता और गुरु है। जो दुर्बुद्धि पैदा करता या दुष्कर्मों की ओर चलाता है, वह पिता या गुरू नहीं, शत्रु है। विभो! मैंने तो इतना ही वेद का तात्पर्य समझा है, इससे आगे मेरी बुद्धि जाती नहीं। आप भक्तों की कामना को पूर्ण करनेवाले हैं आप मुझे कृष्णमंत्र का उपदेश दीजिये और उनके स्वरूप का ज्ञानकराने की कृपा कीजिये। मेरी यही अभिलाषा है। मनुष्य प्रथम अभिलषित कार्य हो जाने पर ही दूसरे कार्य में प्रवृत्त होता है और उससे उसे सन्तोष भी होता है। कृष्णदर्शन की मनोकामना को पूर्ण करके मैं आपकी इस आज्ञा का भी पालन करूँगा।

नारदजी के वचनों को सुनकर कमलासन-ब्रह्माजी प्रसन्न हो गये और बोले—वत्स! बुद्धिमान् पुरुष को पिता से अथवा स्वामी से कभी मंत्र ग्रहण न करना चाहिये। क्योंकि इनसे ग्रहण किया हुआ मंत्र चतुर्थाश्रमियों के लिये सुखदायी नहीं होता।* प्राक्तनकर्मसंस्कारद्वारा ही पुरुष मंत्र, गुरु, स्वामी, विद्या, स्त्री, सुख, दुःख और भय आदि को प्राप्त कर सकता है, अपनी इच्छा से नहीं। भक्तों के सुखधाम ज्ञानियों के गुरु शान्तस्वरूप शंकर ही तुम्हारे प्राक्तन गुरू हैं, उनसे ही कृष्णमंत्र का उपदेश ग्रहण करो। और श्रीनारायणजी के पास जाकर भगवत कथा सुनो। उसके बाद फिर मेरे पास आ जाना।

ब्रह्माजी का यह आदेश सुनकर नारदजी ने उनके चरणों में प्रणाम किया और शिवलोक को चले गये। कैलास पर पहुँचकर वहाँ—

हरेः स्तोत्रं च कवचं मंत्रं पूजाविधिं परम्।
हरं ययाचे देवर्षि र्ध्यानञ्च ज्ञान मेव च॥१॥
स्तोत्रं च कवचं मंत्रं ध्यानं पूजाविधिन्तथा।
तत्प्राक्तनीयं ज्ञानं च ददौ तस्मै महेश्वरः॥२॥ अध्याय २६

नारदजी ने भगवान् शंकर से कृष्णस्तोत्र, मंत्र, कवच पूजाविधि ध्यान तथा ज्ञान की याचना की। भगवान् शंकर ने उनको प्रार्थना को स्वीकार कर उन्हें मंत्र, स्तोत्र, कवच, अतिप्राचीन ज्ञान, पूजाविधि आदि सब बतला दिया। अनु-

* पत्युर्मन्त्रं पितुर्मन्त्रं न गृह्णीयाद्विचक्षणः। विविक्ता श्रमिणां चैव न मन्त्राः सुखदायकाः॥

ध्यानकालीन दिनचर्या का भी उपदेश किया। और भी धर्मों के गुह्यरहस्यों का शंकरजी से ज्ञान प्राप्त कर नारदजी अपने अनुष्ठान में जुट गये।

अभीष्टसिद्धि के लिये नारदजी कई हज़ार वर्ष तक तप करते रहे। अन्त में उनका मनोरथ सफल हुआ। भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए। भगवान् शंकर की कृपा से और भी अनेक रहस्यों का साक्षात् अनुभव हुआ। भगवान् के दर्शन कर वहाँ से आप बदरिकाश्रम को चल दिये। जहाँ भगवान् नारायणजी की सेवा में रहकर नाना अलौकिक कथाएं सुनते रहे। चिरकाल तक बदरिकाश्रम में रहने के बाद एक दिन आप ब्रह्मलोक को जाने के लिये तैयार हो गये। जब भगवान् नारायणजी से जाने की आज्ञा मांगी तब भगवान् ने उन्हें सम्बोधन कर कहा—

बेटा! तुम जिस मार्ग पर चलना चाहते हो वह है तो अत्यन्त कल्याणकारी परन्तु तुम्हारे उस मार्ग में एक भारी बाधा उपस्थित हो रही है, उसको दूर किये बिना तुम अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकते। इसलिये सर्वप्रथम तुम्हें उस बाधा को दूर करना चाहिये। तदनन्तर निश्चिन्त होकर उस उदासीनधर्म चतुर्थाश्रम में प्रवेश करो जिसका तुम्हारे बड़े भाई सनत्कुमारजी प्रचार कर रहे हैं। तुम्हारे मार्ग में वह बड़ी बाधा, मनुवंशज महाराज सृंजय की एक कन्या है जो तुम्हें अपना पति बनाने के उद्देश्य से घोर तपस्या कर रही है। नारद! यह निश्चय जानो कि उसका तप कभी निष्फल नहीं जा सकता। तप के अधीन समस्त जगत है। तपसे देव, यक्ष, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, सिद्धसाधक सब वशमें किये जा सकते हैं। तुम जाकर पहले उस कन्या के साथ विवाह करके उसके तप को सफल करो। फिर कुछ काल पश्चात् जैसा तुम्हारे मनमें आए वैसा करना।

वत्स! गत एक कल्प में तुम उपबर्हण नाम गन्धर्व थे। उस समय तुम्हारी पचास स्त्रियाँ थीं। उन स्त्रियों में से एक अति सुन्दरी, सती और पतिव्रता स्त्री ने शंकरजी की आराधना कर वरदान में तुमको पतिरूप से माँग लिया था। वही स्त्री पूर्वशरीर को छोड़कर महाराज सृंजय की कन्या के रूप में उत्पन्न हुई है। स्वर्णग्रीवा उसका नाम है। वही तुम्हारे वास्ते घोर तप कर रही है। भगवान् शंकर जो वर उसे दे चुके हैं वह अन्यथा नहीं हो सकता। ललाटपट पर लिखे हुए विधाता के लेख को कोई मिटा नहीं सकता। तुम उसके साथ विवाह ज़रूर करो।

**"नारायणवचः श्रुत्वा हृदयेन विदूयता"**

ब्रह्मवैवर्त कृष्णजन्मखण्ड अध्याय १३० श्लोक ९

भगवान् नारायण के वचन सुनकर नारदजी मन ही मन बड़े दुःखी हुए। फिर भी होनहार के आगे सिर झुकाकर 'सत्यवचन' कहते हुए भगवान् के चरणों पर प्रणाम किया और वहाँ से विदा हो गये।

**"प्रणम्य प्रययौ शीघ्रं नारदः सृंजपालयम्"**

भगवान् नारायण को प्रणाम करके वहाँ से विदा हो नारदजी सृंजयस्थान पर ही पहुँचे और स्वयं महाराज की कन्या स्वर्णग्रीवा को देखा। महाभाग्य-

शालिनी विष्णुभक्तिपरायणा तपस्विनी स्वर्णग्रीवा को देखकर नारदजी ब्रह्मलोक में पहुँचे और अपने पिता ब्रह्माजी को प्रणाम कर सारा हाल कह सुनाया।

नारद को विवाह करने के लिये तैयार देखकर ब्रह्माजी बड़े प्रसन्न हुए, सारे देवताओं की बरात सजाकर महाराज सृञ्जय के यहाँ पहुँचे और नारदजी के साथ महाराज की बेटी स्वर्णग्रीवा का विवाह करा लाए।

विवाह करके नारदजी की काया ही पलट गई। कहाँ स्त्रियों से इतनी घृणा करते थे, पिता के इतना ज़ोर देने पर भी विवाह के लिये तैयार नहीं हुए थे, और कहाँ अब यह अवस्था हो गई कि स्त्री को ही सर्वसुखों की खान समझने लग गये—

> नारदस्तु मुनिश्रेष्ठो बाधितः पूर्वकर्मणा।
> यस्य यत् प्राक्तनं विप्र तत्केन विनिवार्य्यते ॥२३

मुनियों में श्रेष्ठ नारदजी पूर्वकर्मों के वशीभूत हो स्त्रीदाम में स्वयं ही बन्ध गये। मालूम नहीं अब उनका आत्मचिन्तन आत्मरमण और आत्मक्रीडन कहाँ चला गया? विषयभूमि में स्वतंत्र विचरने के लिये इन्द्रियअश्वों को खुला छोड़ दिया। अब तो विषयचिन्तन विषयरमण और विषयक्रीडन ही उनका दिन रात का शुग़ल बन गया। यहाँ तक कि हरसमय अपनी स्त्री के प्रेमप्रसाद की चिन्ता में ही रहने लगे। इतने प्रेमासक्त हुए कि कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ध्यान न रहा। स्त्री को साथ लिये वनों और उपवनों में विहार करते रहते। सारांश, स्त्री के प्रेमजाल में ऐसे फँसे कि पहिला सारा ही ज्ञान भूल गया।

## उदासीनधर्म की दीक्षा.

एक दिन आप ब्रह्मलोक के किसी उपवन में सैर करते थक गये तो वहाँ ही आराम करने के लिये एक सघन वटवृक्ष की छाया में बैठ गये। नारदजी अपनी स्त्री के साथ प्रेमालाप में मग्न थे कि उन्हें पञ्चवर्षीय बालक के समान शरीर, ब्रह्मतेज से दीप्तिमान् दिगम्बरवेष भगवान् सनत्कुमारजी अपनी ओर आते दिखाई दिये। अपने बड़े भाई को देखकर नारदजी उनके स्वागत सत्कार के लिये खड़े हो गये। साष्टांग प्रणाम किया और उन्हें एक उच्च आसन पर बैठा कर स्वयं हाथ जोड़ कर उनके सामने खड़े हो गये।

स्त्रीप्रेम में फँसकर नारद के जीवन में आए हुए परिवर्तनों को देखकर भगवान् सनत्कुमारजी हँसने लगे और नारद को फिर से अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश करने लगे (वह उपदेश भगवान् सनत्कुमारजी के जीवनचरित्र में विस्तारसहित लिख दिया है अतः उसके यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, पाठक वहाँ ही पढ़ लें)

भगवान् सनत्कुमारजी के उपदेश से नारदजी का ज्ञानदीपक फिर प्रकाशमान् हो गया। उन्हें यह देखकर ग्लानि सी हुई कि किधर जाना था और किधर को चल रहे हैं। वहीं अपने बड़े भाई भगवान् सनत्कुमारजी के पाँव पकड़ लिये और उनसे उदासीनमुनिदीक्षा लेकर फिर से अपने जीवन का रुख़ बदल दिया। भगवान् सनत्कुमारजी ने भी इस अवसर से पूरा पूरा लाभ उठाया। मालूम होता है उन्हें

भी उससमय चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म का प्रचार करने के लिये नारदजी जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ, सर्वगुणसम्पन्न तथा सर्वविद्याओं में निपुण प्रचारक की आवश्यकता थी। उन्हों ने केवल नारदजी की उन्नति के लिये ही नहीं लोकोपकार के लिये भी नारदजी को उदासीनधर्म में दीक्षित करना आवश्यक समझा और झट दीक्षित करके उदासीनधर्म के प्रचार का काम उसे सौंप दिया।

मालूम होता है जब भगवान् सनत्कुमार और नारदजी ने सृष्टिवृद्धि में लग जाने से इनकार कर दिया था उसी समय ब्रह्माजी की सृष्टि में निवृत्ति और प्रवृत्तिधर्मानुगामी दो दल बन गये थे और एक दूसरे दल के पथ से उदासीनता प्रकट करने के कारण उनमें पारस्परिकमतभेद विरोध का रूपधारण कर गया था। इस लिये प्रवृत्तिधर्मानुयायी दल भी ज़ोर शोर से अपने मत का प्रचार करने लग गया था और ब्रह्माजी के उदाहरण के कारण उनका ज़ोर भी बढ़ रहा था। ब्रह्माजी का प्रभाव ही कम न था इसपर भी उनके अन्य पुत्र मरीचि भृगु प्रभृति सब प्रवृत्तिधर्म का प्रचार करने में ही लगे हुए थे। इससे लोग स्वाभाविक ही प्रवृत्तिधर्म को सर्वश्रेष्ठ मानने और निवृत्तिधर्मानुयायियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लग गये थे। और तो और, परमशान्तस्वरूप भगवान् सनत्कुमारजी जैसे सर्वहितचिन्तकों को भी तंग किया जाता था, जिसके लिये उन्हें कभी कभी दण्ड आदि देकर लोगों का सुधार करना पड़ता था। मालूम होता है, ऐसी परिस्थिति में भगवान् सनत्कुमारजी भी ऐसे व्यक्ति की खोज में थे जो निवृत्तिधर्म के प्रचार का काम सम्भाले। जब नारदजी में पुनः वैराग्य उत्पन्न हो गया तो उन्हों ने देख लिया कि यही निवृत्तिधर्म की रक्षा का काम सुचारुरूप से कर सकता है। तब उन्होंने गृहस्थधर्म के बन्धनों की पर्वाह न करके नारदजी को उदासीनधर्म की दीक्षा देदी और उन्हें निवृत्ति-चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म की रक्षा और प्रचार के काम पर लगा दिया।

नारदजी ने ज्ञान का उदय होते ही अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार उदासीनधर्म के प्रचार पर कमर बांध ली। यह गुण तो नारदजी का प्रसिद्ध ही है कि वे जिस काम को हाथ में ले लेते उसको पूरा करके ही दम लेते हैं और रात दिन उसी में लीन रहा करते हैं। उदासीनधर्म के प्रचार को भी आपने इसी लगन के साथ प्रारम्भ किया।

## दक्ष के पुत्रों को उदासीनधर्म की दीक्षा.

नारदजी की उदासीनधर्मप्रचार की लगन का पता इस एक बात से ही चल सकता है कि आपने एक ही दिन में दक्ष प्रजापति के दसहज़ार पुत्रों को उदासीनधर्म में दीक्षित किया था। यह कथा श्रीमद्भागवत् षष्ठ स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में इसप्रकार लिखी है—

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोप बृंहितः।
हर्यश्व संज्ञानयुतं पुत्रान जनयद्विभुः ॥१॥
अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप !
पित्राप्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥२॥

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
संगमो यत्र सुमहन् मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥३॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूत मलाशयाः ।
धर्मेपारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥४॥
तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यंत्रिताः ।
प्रजा विवृद्धयेयत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्शह ॥५॥

पञ्चजन प्रजापति की असिक्नी नामक कन्या दक्षप्रजापति के साथ व्याही गई थी। प्रजासर्जन में समर्थ हुए उस प्रजापति के यहाँ, परमात्मा की कृपा से, उस पाञ्चजनी कन्या से प्रथम दसहज़ार पुत्र उत्पन्न हुए। यह सब लड़के समानस्वभाव, समानआकार, समानवय और समान ही विद्यावल पौरुप वाले थे। दक्षने उन्हें प्रजा सर्जन की आज्ञा दी। इसपर वे सब पश्चिमदिशा की ओर तप करने चले गये। उन्हों ने यह निश्चय कर लिया था कि तप पूरा करके पिता की आज्ञा का अवश्य पालन करेंगे। दक्ष के वे हर्यश्व नामक पुत्र सारे ही सिन्धुनद और समुद्र के संगम पर ऋषि, मुनि तथा सिद्धों से आकीर्ण नारायणसर तीर्थ पर पहुँच गये। उस सर का जल पीने तथा उसमें स्नान करने से सबका अन्तःकरण शुद्ध हो गया और उनमें पारमहंस्यधर्म एवम् आत्मज्ञानोपयोगिनी बुद्धि भी पैदा हो गई। फिर भी पिता की आज्ञापालनार्थ प्रजासर्जन की योग्यता प्राप्त करने के लिये महान् तप करने लग गये। प्रजावृद्धि की योग्यता प्राप्त करने में लगे हुए उन हर्यश्वों को नारदजी ने देखा और कूटोक्तिभाषा में उन्हें कहने लगे—

## हर्यश्वों की परीक्षा.

हर्यश्वगण ! तुम लोग जगतके पालक होते हुए भी मूढ ही प्रतीत होते हो। भला तुम बिना पृथिवी का अन्त देखे प्रजाएं कैसे उत्पन्न करोगे ? एक पुरुषवाला राष्ट्र, निर्गमरहित द्वारवाला विल, अनेक स्वरूप धारण करनेवाली कुटिला स्त्री, पुंश्चली—पति पुरुष, पच्चीस धातुओं का बना हुआ अद्भुतगृह, उभयतोवाहिनी नदी, विचित्रकथा कहनेवाला हंस, क्षुरा और वज्र से बना हुआ स्वयं घूमनेवाला चक्र आदि को जबतक स्वयं नहीं देख लेते, तबतक प्रजा की उत्पत्ति कैसे करोगे ? आश्चर्य तो यह है कि तुम स्वयं विद्वान् न होते हुए अपने विद्वान् पिता के अनुरूप आदेश को न जानकर सृष्टिसर्जन का साहस करते हो !

## दक्षपुत्रों की कुशाग्र बुद्धि.

नारदजी की इस कूटोक्ति को सुनकर हर्यश्वगण अपनी सहजात कुशाग्रबुद्धि-द्वारा उसपर विचार करने लगे। वे परस्पर विचार करते हुए कहते हैं—नारदजी के कथन में पृथिवी नाम क्षेत्र अर्थात् जीवसंज्ञक लिंगशरीर का है जो आत्मा के बन्धन का कारण है। अन्त शब्द का अर्थ निर्वाण अर्थात् नाश है। तब उसका भाव यही

हो सकता है कि पृथिवीरूप लिंगशरीर का नाश किये विना मोक्ष के अनुपयोगी नानाकर्मों को करने से लाभ क्या? अर्थात् कुछ लाभ नहीं।

किसी दूसरे का आश्रय न लेने वाले सर्वसाक्षी ईश्वर को ही नारदजी ने पुरुष कहा है। उस नित्यमुक्त परमात्मा को साक्षात्कार न करके ईश्वर को असमर्पित नानाकर्मों के करने से लाभ क्या? ऐसे सर्वकर्म निष्फल हैं, यही उनके कथन का रहस्य है।

अदृष्टनिर्गमबिल प्रत्यक्ब्रह्म ही है। जिसप्रकार बिलस्वर्ग-पाताल को गया हुआ पुरुष लौट नहीं सकता उसी प्रकार बिलरूप प्रत्यक् ब्रह्म को प्राप्त होकर भी इस संसार में नहीं लौट सकता। उस प्रत्यक्ब्रह्म को न जानकर विनश्वर स्वर्ग के साधनभूत कर्मों से जीव को लाभ क्या?।

बहुरूपा कुटिला स्त्री से नारदजी का तात्पर्य बुद्धि है। वही रज आदिक विमोहक गुणयुक्त स्वैरिणी स्त्री के समान है। उस विषयप्रवण बुद्धि के अवसान अर्थात् विवेक का नहीं लाभ किया तो विषय सञ्चय करने वाले अशान्तिकर कर्मों से पुरुष को लाभ क्या? दुराचारिणी स्त्री के पति के समान विषयप्रवणबुद्धि से संसर्ग कर जीव नानाविध से पतित हो जाता है। उस विषयिणी बुद्धि की सुखदुःखात्मिक गतियों को न जानने वाले पुरुष के अविवेकयुक्त कर्मों का लाभ क्या?।

उत्पन्न और नाश करने वाली माया ही "उभय तो वाहिनी नदी" है। उस माया को ही नारदजी ने नदी शब्द से सूचित किया है। तप और विद्या उस नदी के दो कूल हैं उनको नाश करने के लिये ही काम, क्रोध, लोभ, अहंकारादि द्वारा वेगवती हो कर प्रवाहित रहा करती है। उसके स्वरूप को न जानकर ऐसी नदी के अधीन हुए पुरुष को नानाविध कर्मों के अनुष्ठान का लाभ क्या?

पचीस तत्त्वों का अन्तर्यामी पुरुष ही आश्चर्यरूप आश्रय है। वही कार्य कारणात्मक संघातरूप शरीर का अधिष्ठाता है। ऐसे अध्यात्मस्वरूपपुरुष को न जान कर केवल कर्मों से पुरुष का कैसे कल्याण होगा?

ईश्वरस्वरूप का प्रतिपादन करने वाला, जडचेतन की ग्रन्थी को सुलझानेवाला शास्त्र ही नारदजी का कहा हुआ हंस है। उस शास्त्र के मर्म को न समझकर कर्मों में परिश्रम करना व्यर्थ ही है। नारदजी का यही भाव है। किसी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व शास्त्रद्वारा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर लेना आवश्यक है।× ज्ञानमयद्वितीयजन्मदाता शास्त्र ही हमारा सच्चा पिता है, निवृत्ति ही उसकी मुख्य आज्ञा है। उसे जाने विना गुणमय प्रवृत्ति मार्ग का विश्वासीपुरुष शास्त्रीय आज्ञानुसार कर्मानुष्ठान में कैसे समर्थ हो सकता है?

**मोक्षेण ब्रह्मबुद्धीनां जीव मायान्तरात्मनाम्।**
**शास्त्रकालोपदेशाना मज्ञाने किमु कर्मभिः॥**

मोक्ष, ईश्वर, ब्रह्म, बुद्धि, जीव, माया, साक्षी, शास्त्र, काल, उपदेश इन सब गुह्य तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किये विना पुरुष की सर्वचेष्टाएं निष्फल हैं। इसलिये सर्व-

× समस्त जगत् को घुमानेवाला नितान्ततीक्ष्ण एवं भ्रमणशील चक्र है। उसको जाने विना असत् काम्यकर्मों का अनुष्ठान निरर्थक है।

प्रथम पुरुष को इन्हीं का अपरोक्षज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यही उपदेश हमें हमारे गुरु भगवान् नारदजी ने किया है।

इसप्रकार हर्यश्वगण ने एक मत से नारदजी के तात्पर्य का निश्चय कर अपने परमकृपालु गुरुदेव नारदजी की परिक्रमा कीं और फिर दण्डवत् प्रणाम किया। अब उन्हों ने उदासीन आश्रम को स्वीकारकर उस मोक्ष-धर्म-मार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया जहाँ से लौटकर जीव पुनः इस संसार में नहीं आता। नारदजी उन्हें और भी नाना आदेश उपदेश कर वीणा के साथ हरिकीर्तन करते परमात्मा के ध्यान में चित्त लगाए वहाँ से चल पड़े।

## नारदजी को दक्ष का शाप.

जब दक्ष प्रजापति को यह खबर मिली कि उसके सब पुत्रों को नारद ने अपने शिष्य बनाकर उदासीनमुनि धर्म में दीक्षित कर दिया है तब वे अपनी आशा पर पानी फिर गया देखकर बड़े दुःखी हुए। पुत्रों के शीलस्वभाव तथा सद्गुणों का स्मरण कर वारवार रोदन करने लगे। दक्ष के इस क्लेश का समाचार ब्रह्माजी को मिला तो वे उनके पास पहुँचे और समझा बुझाकर बड़ी मुशकिल से उन्हें शान्त किया। इसके बाद दक्षप्रजापति ने अपनी स्त्री असिक्नी से एक हज़ार और सबलाश्व नामक मानसपुत्र उत्पन्न किये। वे भी पिता की आज्ञा से प्रजासर्जन का निश्चय करके उसी नारायणसर तीर्थ पर तप करने के लिये चले गये जहाँ उनके बड़े भाई सिद्ध लोग तप कर रहे थे। उस पवित्रतीर्थ पर पहुंचते ही उनके चित्त भी निर्मल और शान्त हो गये। प्रणव का जाप करते हुए वे घोर तप करने लगे। उन्हों ने कई मास तक केवल जल पीकर व्यतीत किये। पश्चात् कितने ही मास तक वायु का सेवन करके ही गुज़ारे। इसप्रकार वे सर्वश्रेष्ठ मंत्र "ॐनमोनारायणाय" का जाप करते तप में लीन रहे। तप करते बहुत समय बीत गया तब प्रजा-सर्जन की योग्यता प्राप्त करने के लिये तप करने वाले उन सबलाश्वों के पास भी एक दिन नारदजी आए, और उन्हें भी उसी कूटभाषाद्वारा उपदेश करने लगे। हर्यश्वों को कही हुई सब बातें सबलाश्वों को भी सुनाकर नारदजी बोले—

हे भ्रातृवत्सल सबलाश्वो! मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है उस पर भलीप्रकार विचार करो और उन बातों को अच्छी तरह समझलो। मेरा कहना यही है कि तुम भी अपने बड़े भाइयों का अनुसरण कर अपना जन्मसफल करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। धर्म के रहस्य को जाननेवाले जो पुरुष अपने बड़े भाइयों-द्वारा ग्रहण किये उत्कृष्टमार्ग का अनुसरण करते हैं वही पुण्यात्मा और सच्चे अनुज कहे जाते हैं और शरीर त्यागने पर भी परलोक में देवताओं के साथ सहोदर के समान रहकर आनन्द भोगते हैं। उन्होंने भी नारदजी की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने पूर्वज भाइयों का अनुसरण कर उदासीनसम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। इसी सर्वशास्त्रसम्मत सर्वविद्वानों को समीचीन, आत्मविषयिनी-बुद्धिद्वारा प्राप्त करने योग्य, परमात्मा के अध्यात्मस्वरूप के अनुकूलसाधनभूत उदासीनधर्म के प्रताप से ही वे गतरात्रियों के समान लौटकर फिर प्रवृत्ति में नहीं आए और जन्म मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो, अमर पद को प्राप्त कर गये।

कुछ दिन बाद दक्षप्रजापति को इस घटना का भी पता लगा कि "सवलाश्व हज़ार पुत्रों को भी चतुर्थाश्रम की दीक्षा देकर नारदजी ने उदासीन बना लिया है" यह सुनकर दक्षजी अत्यन्त व्याकुल हुए। नारदजी पर बड़ा क्रोध आया। दैव-योग से उसीसमय नारदजी भी हरिगुण गाते वहीं पहुँच गये। उन्हें देखते ही दक्षप्रजापति आग बबूला हो गये। क्रोध से ओष्ठ फड़कने लगे, आँखें अंगारे के समान लाल हो गईं। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी क्रोधाग्नि सारे संसार को अभी भस्म कर डालेगी। उसी क्रोधावेष में नारदजी की भर्त्सना करते हुए बोले—अरे विश्वासघातक ठग! तूने साधुओं का वेष धारण कर मेरे बच्चों को ठग लिया है उन्हें भिक्षुकों के मार्ग पर चला दिया है, यह तो तूने अत्यन्त निर्दयतापूर्ण असाधुओं का सा काम किया है। जिन्हें अभी कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं और जो अभी देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण से मुक्त भी नहीं हुए उन्हें उदासीन बनाकर तूने उनका लोक और परलोक क्यों नष्ट कर दिया?

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मति भिद्धरेः।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहानिरपत्रपः ॥३८॥
तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम् ॥४३॥

अरे निर्लज्ज! तू ऐसा निर्दयी और बालकों के साथ धोखा करनेवाला होकर भी भगवान् के पार्षदों में रहता है। तू तो भगवान् और उनके पार्षदों को कलंकित करनेवाला है। परमात्मा के प्रियपार्षद तो सदैव जीवों पर दया करते हैं पर तू निष्कारण ही लोगों का अपकार करता फिरता है। यदि तू समझता है कि मेरे पुत्रों में वैराग्य उत्पन्न करके उन पर उपकार किया है तो यह भी तेरी मूढता ही है। क्योंकि तेरे ऐसे ज्ञानशून्यपुरुषद्वारा बुद्धिविचालन से वैराग्य नहीं हो सकता। सच्चावैराग्य न होने पर विषयों में राग बना ही रहता है। फिर चित्त में शान्ति कैसे हो सकती है? पर तेरे जैसे मूढ को समझाना ही क्या? तूने कर्ममर्यादा का पालन करनेवाले हम गृहस्थियों का दुःसह अपमान और नुकसान किया है। जिसे हम लोग बड़े धैर्य के साथ सहन करते रहे हैं। परन्तु तू अबतक अपनी चालों से बाज़ नहीं आया। अब फिर तूने हमारे पुत्रों को पथभ्रष्ट करके सन्तान छेदनरूप घोर पाप किया है। अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि तेरा सारा जीवन संसार में भ्रमण करते ही व्यतीत होगा, किसी एक जगह ठहर न सकेगा—सदा चक्कर काटता फिरेगा।

## नारदजी की उदारता.

नारदजी चुपचाप खड़े मुस्कराते हुए दक्ष की भर्त्सना को सुनते रहे। उन्होंने किसी एक बात का भी उत्तर नहीं दिया। हँसते हुए प्रसन्न वदन दक्ष के शाप को भी स्वीकार कर लिया। राजा परीक्षित को यह कथा सुनाते हुए शुकदेवजी कहते हैं—वास्तव में नारदजी का कोई दोष तो था नहीं, फिर भी दक्ष की भर्त्सना को

प्रसन्नवदन सुन और शाप को स्वीकार कर उन्हों ने अपनी उच्चकोटि की साधुता का ही परिचय दिया है।

# ( ५ तरङ्ग )

## नारदजी और धर्माधर्म विवेक.

ऊपर लिखित कथा को पढ़कर स्वाभाविक ही यह शंकाउत्पन्न हो जाती है कि जिन नारदजी के जीवन को स्वयं भगवान् ने आदर्श जीवन बताया है उनके "पिता के वारवार अनुरोध करने पर भी, पिता की आज्ञा का पालन करने से इन्कार करना गृहस्थ तथा वानप्रस्थआश्रमों के धर्मों का पालन किये विना ही चतुर्थाश्रम में प्रवेश करना और दक्ष के पुत्रों को भी वालअवस्था में ही चतुर्थाश्रम की दीक्षा देना" इन कार्यों को उचित कैसे ठहराया जा सकता है? जब कि श्रुति की यह आज्ञा है कि "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" ब्रह्मचर्य को समाप्तकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे और फिर वानप्रस्थ में रह कर चतुर्थाश्रम को ग्रहण करे। "प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः" सन्तानोत्पत्तिक्रम को कभी मत तोड़ो आदि।

इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पहलेप्रकरण में कर आए हैं। श्रुति स्मृति तथा शास्त्र प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया गया है कि वैराग्य हो जाने पर मनुष्य ब्रह्मचर्याश्रम से भी चतुर्थाश्रम ग्रहण कर सकता है। इसलिये वह विस्तृत विचार उसी प्रकरण में पढ़ लेना चाहिये, उन प्रमाणों को यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। उक्तशंका के उत्तर में यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि—

जीव का परमध्येय कैवल्यप्राप्ति ही है सर्व आश्रम तथा धर्म तो कैवल्यप्राप्ति का साधनमात्र हैं। निम्न उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी। जो लोग पैदल हरिद्वार की यात्रा करते हैं यदि वे सिन्ध के बड़े नगर कराची से चलते हैं तो उनके मार्ग में सक्खर, मुलतान, लाहौर, अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला, सहारनपुर आदि नगरों का आना आवश्यक है। उनको रास्ता बतानेवाला यही कहेगा कि कराची से सक्खर चले जाओ, सक्खर से मुलतान और फिर वहाँ से लाहौर, अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला और सहारनपुर आदि शहरों में होते हुए हरिद्वार पहुँच जाना। यद्यपि इस पैदल यात्रा के लिये भी गंगामाता के लिये श्रद्धाभक्ति और खर्च का होना आवश्यक है पर जिनके पास खर्च करने के लिये पर्याप्त धन है वे रेलगाड़ी में, मोटर में अथवा हवाई-जहाज़ में वैठकर कराची से सीधे हरिद्वार भी पहुँच सकते हैं। उन्हें रास्ते में किसी शहर में भी ठहरने की आवश्यकता नहीं। इसीप्रकार मनुष्य को मुक्ति तीर्थ की यात्रा में जहाँ शास्त्रों ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रमों में होते हुए चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी है वहाँ यह भी आज्ञा है कि यदि उसके पास त्याग, वैराग्य और ज्ञानरूप पर्याप्त खर्च है तो वह भी वैसे ही जहाँ से चाहे चतुर्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है जैसे गंगा का यात्री पैदल चलता हुआ भी चाहे जहाँ से हवाई जहाज़ में वैठकर सीधा हरिद्वार पहुँच सकता है।

## श्रेय और प्रेय.

नारदजी अपने पिता ब्रह्माजी से ही सब विद्याएं पढ़ चुके थे। जिससे वे भलीभाँति समझ गये थे कि—

**नित्यो नित्यानाश्चेतनश्चेतनामेको बहूनां योविदधाति कामान्।**
**तस्मात्सस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥**

कठ० ५, १४,

सर्व अनित्यपदार्थों में जो एकमात्र नित्य और सर्वचेतनों को जो चेतनशक्ति देनेवाला है, एवम् जो समस्त प्राणियों की कामना को पूर्ण करनेवाला है, जो धीर पुरुप अपने आत्मा में उसी का दर्शन करते हैं उन्हीं को सदा शान्ति और सुख रहता है, दूसरों को नहीं।

**पराचः कामाननुयन्ति बालास्तेमृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।**
**अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥** कठ० ४, २

अल्पबुद्धि लोग सांसारिक भोगों में चित्त लगा कर मृत्यु के फन्दे में फँस जाते हैं परन्तु धीर लोग अमृत–परमात्मा को ही जानने का यत्न करते हैं, अनित्य पदार्थों की कभी इच्छा भी नहीं करते।

**श्रेयश्चप्रेयश्च मनुष्य मेत स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।**
**श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दोयोगक्षेमाद्वृणीते॥**

कठ० २, ७, २

मनुष्य को श्रेय तथा प्रेय दोनों ही प्राप्त होते हैं धीरजन विचारपूर्वक इनकी एक दूसरे से तुलना करते और प्रेय को छोड़कर श्रेय को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु मूढजन प्राप्तविपयों की रक्षा और अधिकप्राप्ति की इच्छा से प्रेय को ही स्वीकार करते हैं।

इन द्वारा आज्ञाओं को ब्रह्माजी के मुख से ही सुनने और चिरकाल तक मनन करते रहने के बाद भी नारद जैसे अनन्य हरिभक्त और ज्ञानी का श्रेय को छोड़कर प्रेय को स्वीकार कर लेना कैसे सम्भव हो सकता था ?

**"विरोधिषु महीपाल! निश्चित्य गुरुलाघवम्"** म० भा० वनपर्व १३१, १२

दो धर्मों में परस्पर विरोध हो जाने पर गुरु लघु अर्थात् छोटे बड़े धर्म का विचार करना ही पड़ता है। नारदजी के सामने भी उस समय यही कसौटी थी और इसी कसौटी पर परखकर उन्होंने ब्रह्माजी के कहने पर भी प्रेय को छोड़ कर श्रेय को ही ग्रहण किया। भगवान् नारायण के कहने पर भी उन्होंने विवाह करना इस वास्ते स्वीकार किया कि परिस्थिति ही ऐसी हो गई थी—अर्थात् स्वर्णग्रीवा का तप नारदजी की श्रेयसिद्धि में बाधक हो रहा था। अन्यथा वे श्रेय को ही मुख्य समझते थे। यही कारण है कि सृष्टिवृद्धि की इच्छा से तप कर रहे

दक्षपुत्रों को भी आपने उदासीनमुनि धर्म में दीक्षित कर श्रेयसिद्धि के मार्ग पर डाल दिया ।

## आदर्शजीवन.

नारदजी का जीवन संसार के लिये आदर्शजीवन था। यदि नारदजी यह समझते हुए भी कि पुत्रमोह से ही ब्रह्माजी उन्हें सांसारिकवन्धनों में फँसा रहे हैं—वे नारद जैसे सुयोग्यपुत्र को सांसारिकसुखों से वंचित देखना नहीं चाहते, उनकी बात मान जाते तो न मालूम एक यही बात संसार में कितने परिवर्तनों और अनर्थों का कारण होती। "पिता की प्रत्येक आज्ञा का विना विचार किये मानना ही धर्म है" यदि नारदजी ऐसा उदाहरण कायम कर देते तो प्रह्लाद जैसा बालक अपने पिता की नास्तिकता के विरुद्ध सत्याग्रह करने का कभी साहस न कर सकता। भरत माता की आज्ञा की अवहेलना करके बड़े भाई राम की प्रतीक्षा में राज्य-सिंहासन को खाली न रखता और बलि भी गुरुआज्ञा को मानकर वामन भगवान् को भूमिदान करने से इन्कार कर देता। यही बातें मालूम नहीं कितने अनर्थों का कारण सिद्ध होतीं। फिर ब्रह्माजी एवं दक्षप्रजापति की यह इच्छा कैसे हो सकती थी कि उनके पुत्र श्रेयसिद्धि से वंचित रह जाएं? उनके शोक का कारण तो उनका वही वात्सल्यप्रेम था जो शत्रुओंद्वारा आक्रमण होने पर देश की रक्षा के लिये जा रहे पुत्र को देखकर दिल में गर्व अनुभव करने वाले पिता की आंखों से भी अश्रु गिरा देता है। नारदजी और दक्षपुत्र इस बात को भली भाँति समझते थे। इस लिये पिता की आज्ञा को न मानने से वे दोषी नहीं ठहर सकते।

अब रहा यह प्रश्न कि दक्ष के उन बालकों को जिन्हें अध्यात्मज्ञान कुछ भी नहीं था उदासीनधर्म में दीक्षित करना कैसे उचित हो सकता है?

नारदजी के जीवन में यह बात विशेषरूप से पाई जाती है कि वे किसी को कोई शिक्षा देने से पूर्व यह देख लिया करते थे कि शिष्य इस शिक्षा का अधिकारी है या नहीं? दक्षपुत्रों से कूटोक्ति में जो प्रश्न किये वे उन्हों ने परीक्षा करने के लिये ही किये थे। उन्होंने जिस सरलता और गम्भीरता से प्रश्नों का उत्तर दिया उससे नारदजी ने यह निश्चय कर लिया था कि यह लड़के पिता की आज्ञा से अपनी स्वाभाविकप्रवृत्ति के विरुद्ध सृष्टि उत्पत्ति की योग्यता सम्पादन करने में लगे हुए हैं, वस्तुतः यह ब्रह्मज्ञान के ही अधिकारी हैं। यदि वे लड़के ब्रह्मज्ञान के अधिकारी न होते तो निश्चय ही नारदजी की कूटोक्तियों का वह उत्तर कभी न दे सकते जो उन्हों ने उस समय स्वाभाविक सरलता और एकमत से दिया था और जिसे सुनकर नारदजी ने उन्हें चतुर्थाश्रम में दीक्षित करने का निर्णय कर लिया था। प्रत्येकशब्दध्वनि का अर्थ मनुष्य अपने उन भावों के अनुसार ही लगाया करता है जो उसके मन में सदैव घर किये रहते अथवा किसी शब्द पर तत्क्षण पैदा हो जाते हैं। घुग्घी पक्षी मालूम नहीं क्या कहता है, उसका अपना कोई भाव होता भी है या नहीं, परन्तु उसकी बोली सुनकर मुसलमान की धारणा होती है कि वह "अल्लाहू" कहता है। हिन्दू स्पष्ट सुनता है कि वह "राम तू" कह रहा है। सारांश, सब अपने अपने भाव के अनुसार ही उन शब्दों को सुनते समझते हैं। दक्षपुत्रों ने नारदजी की कूटोक्ति का जो अर्थ किया उससे भी उनके अपने

ही भाव प्रकट होते थे जिससे नारदजी को मालूम होगया कि ये लड़के अध्यात्म-ज्ञान की ओर स्वाभाविक ही झुकाव रखते हैं। यदि अपनी आन्तरिक आवाज़ के विरुद्ध, केवल पिता द्वारा वाध्य किये जाने पर, सृष्टिवृद्धि में लग जाएंगे तो यह इन पर घोर अन्याय होगा। ऐसी अवस्था में यदि उन्हों ने लड़कों को उदासीन धर्म में दीक्षित किया तो उन पर उपकार ही किया था। फिर इस उपकार के लिये भी नारदजी को कैसे दोषी ठहराया जा सकता है?

इस से नारदजी ने यह नियम भी वना दिया कि किसी व्यक्ति के अधिकारी हो जाने पर उदासीनसम्प्रदाय में दीक्षित होने में उसका वालकपन रुकावट न होना चाहिये। जो व्यक्ति जिस समय और जिस अवस्था में भी अपने आपको चतुर्थाश्रम का अधिकारी सिद्ध करदे उसे उसीसमय विना आयु का विचार किये दीक्षित कर देना चाहिये। नारदजीद्वारा स्थिर किये गये इस नियम का पालन आजतक उदासीन स्थानों में वैसे ही चला आ रहा है। उदासीनमहात्माओं के लिये श्रद्धा-भक्ति रखने वाले भक्तलोग अकसर अपनी सब से प्यारी सम्पत्ति-वालक भी भेंट कर दिया करते हैं। ऐसे वालकों को दीक्षा देने के लिये विशेषसमय अथवा आयु का कोई वन्धन नहीं। वे वालक जब भी अपने को अधिकारी सिद्ध कर देते हैं तब ही उन्हें दीक्षित कर लिया जाता है। जो सारी आयु योग्यता प्राप्त नहीं करते उन्हें आयुभर वैसे ही सेवा करते रहना पड़ता है।

## ( ६ तरङ्ग )

## महाराज प्रियव्रत को उपदेश.

स्वयम्भुव मनु के दो पुत्र—वड़े प्रियव्रत और छोटे उत्तानपाद—थे। राजकुमार प्रियव्रत होश सम्भालते ही तप करने के लिये मन्द्राचल पर्वत पर चले गये। कुछ समय के वाद नारदजी मन्द्राचल पर्वत पर गये तो उन्हों ने राजकुमार प्रियव्रत को वहाँ तप करते देखा। उसे ब्रह्मविद्या का अधिकारी जानकर नारदजी कुछ काल के लिये उसके आश्रम में ही रह गये और उसे विद्या पढ़ाने लगे। सरहस्य सांग वेद, इतिहास, पुराण, लौकिक विद्या, चौंसठ कलाओं सहित राजनैतिकविद्याएं सव अध्ययन कराईं और अष्टांग योग तथा राजयोग का अनुष्ठान कराकर उसे योगविद्या में भी पारंगत कर दिया। इसी वीच में समय समय पर नारदजी भक्ति तथा वेदान्त के गुह्य रहस्यों का भी अपनी अलौकिकप्रतिभाद्वारा राजकुमार को ज्ञान कराते रहे। नारदजी की कृपा से राजकुमार प्रियव्रत इन विद्याओं के ऐसे विद्वान वन गये कि अव उनकी चर्चा योगियों, ज्ञानियों, भक्तों और विद्वानों की सभाओं में होने लगी और मन्द्राचल में भी ऋषि, मुनि, सिद्ध साधकों की भीड़ रहने लगी। ऋषि, मुनि, महात्माओं के सत्संग और दैवी साधनों के अनुष्ठानद्वारा राजकुमार थोड़े ही समय में जीवन्मुक्तों की सी दशा को प्राप्त कर गये। लोगों से अपने पुत्र की कीर्ति सुनकर एक दिन मनुजी भी मन्द्राचलपर्वत पर गये और राजकुमार को प्रजापालन के लिये राज्यशासन सम्भालने की प्रेरणा की। परन्तु राजकुमार का जी उस ब्रह्मानन्द के रसास्वादन को छोड़ने को न चाहा जो उस समय

वैराग्य और भक्ति में प्राप्त हो रहा था। उन्होंने प्रवृत्ति को हानिकारक समझकर पिता के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। राजकुमार से साफ जवाब मिल जाने पर मनुजी को कुछ चिन्ता हुई। तब उन्होंने ब्रह्माजी को स्मरण किया। ब्रह्माजी भी शंकर तथा देवगणों को साथ लिये मन्द्राचलपर्वत पर पहुँच गये। मनुजी, नारदजी तथा प्रियव्रत ने यथाविधि उनका आगतस्वागत पूजा प्रतिष्ठा की। जब सब आसनों पर विराजमान हो गये तब मनुजी ने बात चलाई कि वे प्रियव्रत को राज्यशासन सम्भालने के लिये कहते हैं परन्तु प्रियव्रत इन्कार करते हैं।

## प्रियव्रत को राज्यशासन सम्भालने की प्रेरणा.

ब्रह्माजी ने प्रियव्रत को सम्बोधन कर कहा वत्स! तुम मेरी बात को ध्यान देकर सुनो। मैं जो कुछ कहूँगा वह ईश्वर का आदेश ही होगा अपनी ओर से एक शब्द भी न कहूँगा। ईश्वर का आदेश जानकर ही तुमको मेरी बात श्रद्धापूर्वक सुननी चाहिये और उसका उलंघन भी न करना चाहिये। पुरुष का कर्तव्य है कि परमात्मा की आज्ञा को समझे और अभिमान तथा कर्तृत्वभाव को त्याग कर सुख दुःख को सहन करे। मनुष्य को न प्रवृत्ति बन्धन में डालने वाली है और नही केवल निवृत्ति मोक्षदायिनी हो सकती है। मोक्ष का साधन तो परमात्मा की आज्ञा का पालन करना है। उसकी आज्ञा का पालन करते हुए तुम अपना कोई स्वत्व सन्मुख न रक्खो। फिर तुम्हें न कोई बन्धन होगा और नही किसीप्रकार का कोई कष्ट। तुम मुझे, भगवान् शंकर और अपने गुरु नारद को ही देखो। हम सब लोग उस परमात्मा की आज्ञा के वशीभूत हो अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। पुत्र! प्रजापालन के लिये ही तुम्हारा जन्म राजकुल में हुआ है तुमको भी परमात्मा की आज्ञा मानकर अपने इस कर्तव्य का पालन करना चाहिये। अपने पिता को अब राज्यकाज से अवकाश दो, समय आने पर इसीतरह तुमने भी अपने पुत्र को राज्यशासन सौंपकर मोक्षधर्म में प्रवृत्त हो जाना।

भगवान् शंकर और नारदजी ने भी ब्रह्माजी के कथन का अनुमोदन किया। तब राजकुमार को उनकी आज्ञा के सामने झुकना पड़ा और पिता के साथ घर चले गये। मनुजी प्रियव्रत को राज्यशासन सौंपकर स्वयं तप करने के लिये वन को चले गये। कुछ समय बाद प्रियव्रत के आग्नीध्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह राज्यशासन सम्भालने के योग्य हो गया। तब महाराज प्रियव्रत ने राज्यसिंहासन पर उसे बैठाया और स्वयं नारदजी से उदासीनमुनिधर्म की दीक्षा लेकर फिर मोक्षप्राप्ति के यत्न में लग गये। इस विषय में भा० स्कं० ५ अ० १ श्लोक ३८ में लिखा है—

परदेवता प्रसादाधिगतात्म प्रत्यवमर्शेनानु प्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथा दायं विभज्य भुक्त भोगांच महिषीं मृतकमिव स ह महा विभूतिमपहाय स्वयंनिहित निर्वेदो हृदि गृहीत हरि विहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानु ससार।

पृथवी के भिन्न भिन्न द्वीपों का राज्य अपने योग्य पुत्रों को सौंप, त्यागसामर्थ्य का लाभ और वैराग्य धारण कर भगवत् कृपा से प्राप्त आत्मविवेकद्वारा, राजमहिषी

तथा सम्पत्तिसहित महान् ऐश्वर्यशाली साम्राज्य का मृतक के समान त्याग करके महाराजप्रियव्रत दोवारा तपोवन जाकर नारदजी के उपदिष्टमार्ग का अनुसरण करने लगे।

## गायत्रीमहात्म्य

वराहपुराण के द्वितीय अध्याय में लिखा है—

महाराज प्रियव्रत राज्य को छोड़कर विशाला में तप करने लग गये थे। उन्हें मिलने के लिये एक दिन नारदजी वहीं आ गये। वहुत देर वाद अपने गुरू को देखकर महाराज उनके चरणों में लेट गये। विधिपूर्वक गुरुदेव की पूजासत्कार कर उनका चरणोदक लिया और उच्चासन पर वैठा कर चरण दवाने लगे।

**स्वागतादिभिरालापैः परस्परमवोचताम्।**
**कथान्तेनारदं राजा प्रपच्छ ब्रह्मवादिनम्॥** श्लोक ६०,

स्वागतादि के अनन्तर नाना कथाओं के विषय में गुरुशिष्य में वार्तालाप होने लगा। कुशलप्रश्न आदि की सव वातें हो चुकने पर राजा ने ब्रह्मवादी नारदजी से पूछा—भगवन्! इस सत्युग में आपने कोई आश्चर्यजनक वात देखी-सुनी होतो ऐसी कोई अलौकिक वात मुझे भी सुनाइये। आपसे ऐसी वातें सुने वहुत देर हो गई है। नारदजी वोले-प्रियव्रत! हाल ही में मैंने अपनी आंखों से एक आश्चर्यजनक घटना देखी है, मैं तुम्हें वही सुनाता हूँ सावधान होकर श्रवण कर।

## वेदसरतीर्थ पर गायत्रीदेवी के दर्शन.

कल की ही वात है, मैं श्वेतद्वीप में गया था। वहाँ सुन्दर विकसित कमल फूलों से सुशोभित एक सर था और उस सर के किनारे एक विशाललोचना कुमारी खड़ी थी। कन्या के रूप को देखकर मैं अतिविस्मित हुआ और उसके पास जाकर पूछा—सुन्दरी! तू कौन है। दैवी कन्या है या मानवी? किसकी पुत्री है? यहाँ पर तेरे आने और खड़ी रहने का प्रयोजन क्या है? यदि तुझे किसीप्रकार का संकोच न हो तो यह सव वातें मुझे वतला दे। मेरे प्रश्नों को सुनकर वह कन्या कुछ देर तक वैसे ही चुपचाप खड़ी मुझे देखती रही। प्रिय व्रत! यह सुनकर तू भी विस्मित होगा कि उस कन्या ने दृष्टिमात्र से मेरा सारा अध्यात्मज्ञान, वेद, शास्त्र, योग, वैदिकशिक्षा तथा स्मृतिविषयक ज्ञान हरण कर लिया। इस आकस्मिक आपत्ति का मुझे वड़ा ही खेद हुआ और मैं मन ही मन उस कन्या से क्षमा याचना करने लगा। उसी समय उस कन्या के शरीर में मुझे एक दिव्य पुरुष दृष्टिगोचर होने लगा। जिसके हृदय में एक दूसरा पुरुष विद्यमान दिखाई दे रहा था। ध्यानपूर्वक देखने से उस दूसरे पुरुष के हृदय में एक तीसरा पुरुष विद्यमान दिखाई देता था। वे तीनों पुरुष अनेक सूर्यों के सम्मिलित तेजपुञ्ज के समान तेजस्वी थे। उन पर दृष्टि टिक न सकती थी। मेरी आँखें चुँधिया गईं। तव मैंने आँखें वन्द कर लीं। कुछ देर के वाद फिर आँखें खोलीं तो वह कन्या तो वैसे ही खड़ी थी परन्तु उसमें वे तेजस्वी पुरुष दिखाई न देते थे। मैंने कन्या से नम्रतापूर्वक पूछा—भद्रे! कृपा करके यह तो वता दो कि मेरा सारा ज्ञान क्यों

नष्ट हो गया ? और मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि तेरे शरीर में वे दिव्यपुरुष कौन थे जिनके मुझे दर्शन हुए हैं ?

तब कन्या बोली—मैं सर्व वेदों की जननी हूँ। सावित्री मेरा नाम है। तू मुझे नहीं जानता इसीवास्ते मैंने ही तेरा सारा ज्ञान और वेदशास्त्र की शिक्षा को हरण किया है।[1] मेरे शरीर में स्थित जिस पुरुष को तुमने देखा है वह अति सुन्दर मनोहारी पुरुष ऋक् नामक वेद है। ऋग्वेद साक्षात् नारायण हैं अर्थात् स्वयं नारायण ही ऋग्वेद का रूप धारण कर मेरे शरीर में स्थित हैं। जो लोग इस का पाठ करते हैं उनके समस्त पापों को यह ऋग्वेद अग्निरूप हो भस्म कर डालते हैं। ऋग्वेद नाम पुरुष के हृदय में दूसरे जिस पुरुष के तुमने दर्शन किये हैं वे यजुर्वेद के रूप में ब्रह्माजी हैं और उनके भी हृदय में तीसरे पुरुष अतिनिर्मल सामवेद रूप में रुद्र हैं। यह सामवेद आदित्य के समान अन्धकाररूप पाप का नाश करते हैं[2]। हे नारद ! यह तीनों देव ही ऋक्, यजुः सामवेद हैं। तेरे प्रश्नों का संक्षेप में यही उत्तर है। अब तू अपने ज्ञान को पुनः ग्रहण कर और इस वेद सर नामक सर में स्नान कर। इस सरमें स्नान करने से तुझे तेरे अन्य जन्मों का हाल भी स्मरण हो जायगा। प्रियव्रत ! इतनी बात कहकर वह कन्या मेरे देखते देखते वहाँ पर ही तिरोहित हो गई और उस वेद सरमें स्नान करके मैं इधर चला आया।

## गायत्री वेद और वेदस्वरूपपुरुष का रहस्य.

इस कथा को सुनकर महाराज प्रियव्रत ने आश्चर्य से पूछा—भगवन् ! क्या आप सचमुच ही सावित्री-गायत्री को नहीं जानते थे ? गायत्री, वेद और वेदस्वरूप पुरुष का जो रहस्य है कृपया मुझे भी वह बतलाइये। नारदजी बोले—राजन् ! गायत्री का नाम ही सावित्री है। वेद के मंत्र स्वाधिष्ठातृदेवता का स्वरूप ही हैं। इसलिये गायत्रीमंत्र और उसका अभिमानी देवता सावित्री भी एक ही हैं। गायत्री-मंत्र के जाप के समय मंत्र के देवता सावित्री का ध्यान, पूजन और अर्चन आवश्यक है। वैदिक तथा शास्त्रीयज्ञान को जाग्रत एवं स्थायी बनाए रखने के लिये पुरुष को गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिये। परन्तु मैं भगवद्ध्यान, भगवदर्चन, भगवन्मंत्र जाप के सिवा अन्य किसी देवविषयककर्म को वैसा महत्त्व न देता था। यही कारण है कि माता सावित्री के साक्षात् दर्शन होने पर भी मैं उन्हें पहचान न सका। भक्तिज्ञान, कर्म तथा उपासना के विचार से जो लोग गायत्री का स्वाध्याय छोड़ देते हैं। उनका ज्ञान कभी स्थायी नहीं रह सकता। वत्स ! जब तक किञ्चित भी देहाभिमान शेष है पुरुष चाहे जिस आश्रम में हो उसके लिये आश्रमधर्मों के समान ही गायत्री का सविधि अनुष्ठान भी आवश्यक है। मैंने आश्रम तथा भक्ति के भरोसे गायत्री के विधि सहित स्वाध्याय को छोड़ देने की भूल की थी. इसीवास्ते मेरा सारा ज्ञान अपहरण कर लिया गया। जब मैंने गायत्री के स्वरूप को हृदय में धारण कर

१ माताहं सर्ववेदानां सावित्री नाम नामतः। मां न जानासि येनत्वं ततो वेदाहृतास्तव ॥ ७५ ॥

२ य एष मच्छरी रस्थः सर्वाङ्गश्चारु शोभतः। एष ऋग्वेद नामा तु वेदो नारायणः स्वयम्। वन्हिभूतो दहत्याशु पापान्युच्चारणा दनु ॥ ७६ ॥ एतस्य हृदये योऽयं दृष्ट आसीत्त्वयात्मजः। स यजुर्वेद रूपेण स्थितो ब्रह्मा महाबलः ॥ ७७ ॥ तस्याप्युरसि संविष्टो य एषशुचिरुज्ज्वलः। स सामवेद नामा तु रुद्ररूपी व्यवस्थितः ॥ ७८ ॥ एष आदित्यवत्पापान्याशु नाशयते स्मृतः ॥ ७९ ॥

उनसे ही सविधिउपासना का रहस्य जाना और फिर कभी ऐसी भूल न करने का निश्चय कर लिया तब गायत्री माताकी कृपा से मेरा ज्ञान पहिले से भी अधिक वैभवशाली होकर मुझे प्राप्त हो गया। अब मैं तुम्हें भी यही सलाह देता हूँ कि चतुर्थाश्रम उदासीनधर्म में प्रवेश हो जाने के विचार से कहीं गायत्री का विधि सहित स्वाध्याय न त्याग देना। जबतक देहाभिमान का सर्वथा नाश न हो जाए तब तक नित्यकर्म जानकर गायत्री का स्वाध्याय करते ही रहना।

हे सौम्य ! श्रुति भगवती कहती है "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्" यह कार्य कारणात्मक जगत अक्षरस्वरूप ओम् ही है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सारा जगत ब्रह्म ही है। इन श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि ओम् और ब्रह्म एक ही हैं। "तस्य वाचकः प्रणवः" इस सूत्र से भी ओम् ब्रह्म है, ऐसा ही सिद्ध होता है। क्योंकि शास्त्रों में वाच्यवाचक में अभेद बतलाया गया है। जब प्रलयकाल में सारा जगत अपने अपने कारणों में लय होकर माया में लीन हो जाता है, तब माया जगत के सर्वसँस्कारों को लेकर अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म में लीन हो जाती है। उस समय केवल एक ब्रह्म ही रह जाता है। वही ब्रह्म ओम् रूप है। पुनः सृष्टि रचना का समय आने पर भी त्रिगुणमयी स्पन्दनात्मिका माया का प्रथम उद्बोधन ओम् रूप ब्रह्म से होता है। शास्त्रीयपरिभाषा में सृष्टि कार्योन्मुखी स्पन्दनात्मिकामायाविशिष्टचेतन का नाम ही मायाशबलब्रह्म है। उसी को योगी लोग ब्रह्मस्वरूपिणी परावाक् भी कहते हैं। परावाक्स्वरूप मायाशबलब्रह्म ही जगत का उपादान तथा निमित्तकारण है। चैतन्य का आभास निरन्तर माया पर पड़ते रहने के कारण ज्ञानशक्तिप्रधानसत्वगुण माया के अन्य रजस्तम गुणों को अभिभूत कर लिया करता है। उसी ज्ञानशक्तिप्रधानसत्त्वगुणात्मिकामाया का नाम ही शास्त्रों में महतत्त्व कहा है। महतत्स्वरूपात्मिका मायाविशिष्टचेतन का नाम सूत्रात्मा है। यही परावाक् का किञ्चितस्थूलरूप समष्टिपश्यन्ती वाक् है। जिसप्रकार ओम् ब्रह्मस्वरूप है उसीप्रकार परावाक् भी मायाशबलब्रह्मस्वरूप कही गई है। जिस प्रकार माया के ब्रह्म में आविर्भूत हो जाने से ब्रह्म का ही मायाशबलब्रह्म विस्तार है उसी प्रकार ओम् का विस्तार गायत्री है। इसलिये गायत्री ही परारूप है। वही सावित्री है और वही परागायत्री वेदत्रयी की और वही देवत्रयी की जननी है। ज्ञानमयी परावाक्रूप मायाशबलब्रह्म का विस्तार महत्तत्वोपाधिक सूत्रात्मा ही पश्यन्ती कही गई है। परा और गायत्री दोनों एक हैं और दोनों ही ज्ञानस्वरूपा हैं। परा का विस्तार पश्यन्ती है तो गायत्री का विस्तार ऋग्वेद है। सत्त्वगुण की प्रधानता होने के कारण माया में औपाधिक ज्ञान है औपाधिक ज्ञान होने पर क्रिया का होना स्वाभाविक है। इसलिये औपाधिकज्ञान निमित्त से क्रियाशीलरजोप्रधान अहंकार का आविर्भाव होता है। क्रियाशील पदार्थ का अनेकविध से रूपान्तरित होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि रजोप्रधान अहंकार नानाविध से रूपान्तरित होता है। अनेकविध रूपान्तरित अहंकाररूपात्मकमायाविशिष्टचेतन का नाम हिरण्यगर्भ है। इसलिये ओम् रूप ब्रह्म का हिरण्यगर्भ चतुर्थ विस्तार, परा रूप मायाशबल ब्रह्म का तृतीय, और पश्यन्तीरूप सूत्रात्मा का द्वितीय विस्तार है। जब सूत्रात्मा और पश्यन्ती दोनों एक हैं तो हिरण्यगर्भ तथा मध्यमा को भी एक ही मानना पड़ेगा। क्योंकि जिसप्रकार जगत सूक्ष्मरूप से हिरण्यगर्भ में अभिव्यक्त

हो जाता है उसीप्रकार मध्यमा में भी शब्दात्मकरूप से जगत अभिव्यक्त रहता है। हिरण्यगर्भ का स्थूलविस्तार विराट् है और मध्यमा वाक् का विस्तार वैखरी। जिस प्रकार विराट् के शरीर में तमोगुण का निवास हुआ है उसीप्रकार वैखरी में भी। कारण, दोनों में अचेतनता विद्यमान है। यद्यपि वैखरी और विराट् में वैसे एकता प्रतीत नहीं होती जैसे परा और मायाशवलब्रह्म में, पश्यन्ती और सूत्रात्मा में एवं मध्यमा और हिरण्यगर्भ में होती है। अर्थात् औरों में जैसे शब्द और अर्थ एक ही प्रतीत होते हैं उसप्रकार वैखरी तथा विराट् में प्रतीत नहीं होते। परन्तु पृथक् पृथक् अर्थ प्रतीत होने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि व्यवहार दशा में शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष रहा करते हैं। शब्द में अर्थ का भान, चाहे वह मनोमय ही क्यों न हो, और अर्थ में शब्द की प्रतीती होती ही है। अर्थात् शब्द चाहे जैसा हो, अर्थ शब्दप्रयोग का उद्भासक ही होता है। इसप्रकार शब्द और अर्थ में एक विचित्र प्रकार की एकता प्रतीत होती है। हिरण्यगर्भ से आविर्भूत होनेवाले विराट् ही शंकर हैं और मध्यमा से आविर्भूत होनेवाले वैखरीवाक् सामवेद हैं। वैखरी का अर्थ के साथ ऐक्य न होने से वैखरीरूप साम केवल शब्दमात्र प्रयोग में आता है अर्थात् साम का व्यवहार केवल गीतिमात्र में किया जाता है, अन्य किसी व्यवहार में नहीं। सिद्ध हुआ कि वैखरी के आत्मभूत देव साम हैं तो विराट् के आत्मभूत देव शंकर।

## सूत्रात्मा और विराट्.

शास्त्रों में सवजगह सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ एक ही अर्थ में आते हैं। कारण, वीजवृक्षरूप से सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ में अभेद माना गया है और हिरण्य गर्भ की ही सूक्ष्म अवस्था का नाम सूत्रात्मा है। सापेक्षित सूक्ष्मस्थूलभाव के विचार से ही यहाँ पर सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ दो रक्खे गयें हैं। एक दूसरा कारण यह भी है कि सूत्रात्मा के शरीर में सत्त्व की प्रधानता है और हिरण्यगर्भ के शरीर में रज की। श्रीमद्भागवत् के वेदान्त और सांख्यमिश्रित सिद्धान्त का भाव यही है। शंकर और विष्णु में परस्पर उपास्य-उपासक भाव है। उपासना की प्रकृष्टता में शंकर को "विष्णुरहम्" की अभिमति रहती है और विष्णु को "शंकरोऽहम्" की। इसप्रकार दोनों देवों में भिन्नता होने पर भी अभिन्नता है। यही कारण है कि पुराणों में कहीं पर विराट् के अभिमानी शंकर को बतलाया गया है और कहीं पर विष्णु को। शास्त्रों में भगवान् विष्णु तथा शंकर दोनों को ही ईश्वर कहा गया है। परन्तु ईश्वर तो एक ही है, दो नहीं हो सकते। असल में ईश्वर को उपाधिभेद से दो प्रकार का कथन किया गया है, वास्तवस्वरूप से नहीं। शास्त्रों में कहीं कहीं पर विष्णु और शंकर की एक दूसरे से उत्कृष्टता प्रतिपादन की गई है। परन्तु उस से एक को दूसरे से छोटा बड़ा बनाने का प्रयोजन नहीं होता, किन्तु भावुकों की श्रद्धा और भावना की उत्कृष्टता प्रकट करना ही प्रयोजन होता है। शैव तथा वैष्णव दृष्टि से मायाशवलब्रह्म ही महारुद्र तथा महाविष्णु हैं। उपासकगण अपने अपने दृष्टिकोण से एक ही भाव को महारुद्र तथा महाविष्णु के स्वरूप में देखा करते हैं। लक्ष्य एक है और उस लक्ष्य में शैव और वैष्णवों का अपूर्व ऐक्य स्थापन हो जाता है। सूत्रात्मा तथा विराट् का सं-

गमरूप हिरण्यगर्भ है। यही कारण है कि हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा तथा विराट् के धर्मों से प्रभावित रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि विराट् तथा सूत्रात्मा दोनों भिन्न भिन्न होते हुए भी हिरण्यगर्भ में एक हो जाते हैं क्योंकि सूत्रात्मा का विकास हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भ का विकास विराट् है।

मायाशवलब्रह्मरूप परा है, उसका अभिमानी देवता सावित्री है। महत्तत्त्व विशिष्टचेतनरूप पश्यन्ती है, उसका अभिमानीदेव विष्णु भगवान् है। अहंकार विशिष्टचेतनरूप मध्यमा है, उसके अभिमानी देव ब्रह्माजी हैं। स्थूलजगतविशिष्ट चेतनरूप बैखरी है इसके अभिमानी देव शंकर हैं। ब्रह्म के स्वरूप-मायाशवलब्रह्म, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और विराट् हैं और उसी ब्रह्म के विशेषरूप अर्थात् अवतारभूतरूप महाविष्णु, महारुद्र या गुणावतार विष्णु, ब्रह्मा तथा शंकर हैं। ओम् रूप ब्रह्म के स्वरूप परा पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी हैं। इस वाक्प्रक्रिया में ब्रह्म का दिव्यस्वरूप ॐ है, परा का दिव्य अर्थात् विशेषस्वरूप गायत्री, पश्यन्ती का ऋग्वेद, मध्यमा का यजुः और बैखरी का दिव्यस्वरूप साम है।

## मायारूपसावित्री.

यह जानकर कि परा और मायाशवलब्रह्म पश्यन्ती और सूत्रात्मा, मध्यमा और हिरण्यगर्भ एवं बैखरी और विराट् एक ही हैं, शंका उत्पन्न हो सकती है कि एक में यह अनेकता क्यों है? विचार किया जाय तो इस शंका का समाधान अपने आप ही हो जाता है। क्योंकि हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि पुरुष की शक्तिरूप माया से ही ऐसी अनेकता घटित होती है। उसी अनन्तमहिमायुक्त महाशक्तिरूप माया का विशेपरूप अर्थात् अवतार सावित्री है। माया और चेतन यही दो भाव मायाशवलब्रह्म में हैं और यही जगत का बीजभूत हैं। जगत में जहाँ चैतन्यधर्म की प्रधानता रहती है वहाँ पुँस्त्वभाव का विकास होता है। अर्थात् मायाशवलब्रह्म से ही चैतन्यधर्मप्रधान पुँस्त्वधारा का और उसी से मायाधर्मप्रधान स्त्रीत्वधारा का आविर्भाव हुआ है। इसप्रकार से मायाशवलब्रह्म के मायाधर्मप्रधान अंश का अवतारभूतविशेपस्वरूप सावित्री और चैतन्यधर्मप्रधान अंश का अवतार महाविष्णु या महारुद्र हैं।

## वेदपूजा का फल.

प्रियव्रत! यही मायारूपसावित्री जगज्जननी है। यही कारण है कि उसके हृदय में वेदत्रयरूप विष्णु, ब्रह्मा और शंकर मुझे दृष्टिगोचर हुए। गायत्री के हृदय में ऋग्वेद; ऋग्वेद के हृदय में यजुर्वेद और यजुर्वेद के हृदय में सामवेद निहित हैं। इसीक्रम से उनका आविर्भाव भी होता है। इसीवास्ते सावित्री के हृदय में ऋग्वेदरूप नारायण, ऋग्वेदनारायण के हृदय में यजुर्वेदब्रह्मा और यजुर्वेदब्रह्मा के हृदय में सामवेदरूप रुद्र विद्यमान हैं। हे सौम्य! ऋग्वेदग्रन्थ भगवान् विष्णु का ही विग्रह है। जो लोग धूप, दीप, गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, भजनकीर्तन आदि द्वारा, श्रद्धाभक्तिभाव के साथ ऋग्वेद की पूजा करते हैं उनलोगों को भगवान् की कृपा से भगवान् विष्णु के साक्षात् दर्शन, ऋग्वेद का अलौकिकज्ञान और पश्यन्ती का साक्षात्कार प्राप्त होता है और वे आत्मज्ञान लाभ कर मुक्त हो जाते हैं। और इसी विधि से

जो लोग यजुर्वेद का पूजनअर्चन करते हैं उन्हें भगवान् चतुरानन का साक्षात्कार, दिव्यकर्मों का ज्ञान और मध्यमावाणी के दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है एवम् ब्रह्माजी की कृपा से मुक्त हो जाते हैं। इसीतरह सामवेद की पूजा करनेवालों को भगवान् शंकर का साक्षात्कार होता है और वे संसार में ऋद्धिसिद्धिसम्पन्न होकर प्रभुता लाभ करते और भगवान् शंकर की कृपा से ज्ञान लाभकर भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। जो लोग तीनों वेदों का पूजन श्रद्धाभक्तिसहित करते हैं वे सर्व देवों के कृपाभाजन हो जाते हैं और संसार में अनन्तमहिमा के अधिकारी होकर मुक्त हो जाते हैं। राजन्! इस संसार में वेदपूजा से बढ़कर मनुष्य के अभ्युदय तथा श्रेयसिद्धि का दूसरा कोई सुगम-उपाय नहीं है। वत्स! तुम्हें भी अपने आश्रम में वेदपूजा का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये। इस एकान्तस्थान में यदि तुम्हें किसी कष्ट का सामना हो अथवा तुम्हारे जपतप में किसीप्रकार की कभी कोई बाधा पड़े तो विधिपूर्वक पुरुषसूक्त का स्वाध्याय किया करो। उससे सर्वप्रकार की विघ्नबाधाएं अपने आप दूर हो जाती हैं। इस कथन की पुष्टि में मैं तुम्हें एक आपबीती घटना का हाल सुनाता हूँ, ध्यान देकर उसे श्रवण करो।

राजन्! एक समय भगवान् विष्णु के दर्शन करने के लिये मैं श्वेतद्वीप में गया। वहाँ यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ रहने वाले सब लोग समान ऐश्वर्य वाले और विष्णु के स्वरूप को ही धारण किये हुए हैं। लाखयत्न करने पर भी मैं उनमें भगवान् विष्णु को पहचान न सका। इससे मेरा चित्त अतिव्याकुल हुआ। और भगवान् के दर्शनों के लिये तप करने लग गया। एकहज़ार वर्ष तक तप करता रहा। अन्त में भगवान् प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे दर्शन दिया। भगवान् ने उस समय मुझे कहा—पुत्र! तेरे तप से मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ जो इच्छा हो वर मांग। मैंने उन्हें प्रणाम कर प्रार्थना की—भगवन्! आप मुझ पर यदि प्रसन्न हैं तो कृपा कर मुझे वह साधन ही बतलाइये जिससे शीघ्रातिशीघ्र आपके दर्शन हो सकते हैं। * तब भगवान् बोले—मेरे दर्शन अतिशीघ्र करने का साधन पुरुषसूक्त का विधिपूर्वक स्वाध्याय है × मेरे जो भक्त समाहित होकर श्रद्धापूर्वक पुरुषसूक्त का स्वाध्याय करते हैं मुझे अपना स्थान छोड़कर अर्थात् निर्विशेषरूप को छोड़कर सविशेषरूप में, उन भक्तों के पास जाना ही पड़ता है। मेरे दर्शन अति शीघ्र करानेवाला यही सरल उपाय है।

उस दिन से जब कभी भगवान् के सविशेषरूप में दर्शन करने की इच्छा होती है तब पुरुषसूक्त का स्वाध्याय करके ही कर लेता हूँ, वर्षोंतक तप करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रियव्रत! वेदभगवान् गुरुओं के भी गुरु हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही संदिग्धविषयों का निर्णय वेदभगवान् से ही करते और कल्याण का मार्ग पाते हैं। इस लिये प्रत्येक उदासीनधर्मानुयायी का कर्तव्य है कि जहाँ भी रहे अपने आश्रम में वेदपूजा सदैव करता रहे।

---

* वराहपुराण अध्याय ६६। सहस्रमेकं वर्षाणां ध्यातस्त्वं भुवनेश्वर। त्वत्प्राप्तिर्येन तद्ब्रूहि यदि तुष्टोऽसि मेऽच्युत ॥९॥

× पौरुषं सूक्तमास्थाय ये यजन्ति द्विजाश्रुमाम्। ते मां प्राप्स्यन्ति सततं संहिताध्ययनेन च ॥१०॥

इसी उपदेश के अनुसार उदासीनमहात्मा वेद का स्वाध्याय करना सदैव अपना कर्तव्य समझते हैं। भगवान् वेद ही उदासियों का पूज्य तथा धार्मिक इष्टग्रन्थ और वेदप्रदर्शित मार्ग उनका श्रेयमार्ग है। वेदमार्ग को पुष्टि देनेवाले सांख्य तथा वेदान्तदर्शन भी इनके पाठ्य तथा श्रद्धेय ग्रन्थ हैं। इसी भाव से भगवान् श्री चन्द्र ने स्वरचित मात्रा में उपदेश किया है कि—

**गुरु अविनाशी खेल रचाया। अगम निगम का पन्थ बताया॥**
**गुरु अविनाशी सूषम वेद। निर्वाण विद्या अपार भेद ॥ इति॥**

## (७ तरङ्ग)

### ध्रुव को उपदेश.

महाराज प्रियव्रत के छोटेभाई का नाम उत्तानपाद था। इनकी सुरुचि और सुनीति नामक दो राणियाँ थीं। सुरुचि से उत्तम पैदा हुआ और सुनीति से ध्रुव। महाराज उत्तानपाद सुनीति से अधिक प्रेम रखते थे। सुनीति का स्वभाव बड़ा चिड़चिड़ा था। वह सुनीति के विरुद्ध महाराज के कान भरती रहती थी और सौतियाडाह से पाँच छः वर्ष के अबोध बालक ध्रुव पर भी उच्छृंखल कटूक्तियों का प्रहार करती रहती थी। उसके प्रेमपाश में फँसे हुए महाराज न केवल ऐसी अनुचितबातों से उसे रोकने का कभी साहस न करते थे बल्कि उसके डरसे सुनीति तथा ध्रुव से प्रेमव्यवहार भी नहीं कर सकते थे।

एक रात्रि को शयन के समय ध्रुव पिता को प्रणाम करने गये। आगे महाराज उत्तम को गोदी में लिये खेला रहे थे। उत्तम को पिता की गोदी में बैठा देखकर ध्रुव भी बालस्वभाववश गोदी में बैठने के लिये पिता की जाँघों पर चढ़ने लगा। उसी समय सुरुचि वहाँ पहुँच गई। ध्रुव के इस प्रयत्न को देखकर सुरुचि की भँवें तन गईं। क्रोधावेश में बड़बड़ाते हुए ध्रुव को धक्कादेकर महाराज से दूर कर दिया और कहा—अरे भाग्यहीन! तू महाराज की गोदी और राज्यसिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं है। तुझे उत्तम के बराबर बैठने का साहस कैसे हुआ? बेशक राजकुमार तू भी है, परन्तु सुरुचि के पेट से तेरा जन्म नहीं हुआ। तू अपनी औक़ात नहीं देखता और ऐसी जगह बैठने का संकल्प कर रहा है जहाँ उत्तम के सिवा दूसरा कोई बैठने का अधिकारी नहीं हो सकता। तुझे इतना भी ज्ञान नहीं कि तेरा यह संकल्प इस जन्म में पूरा नहीं हो सकता। यदि महाराज की गोदी में बैठने का चाव है तो जाकर तप कर और समाधिद्वारा इस शरीर को त्याग कर सुरुचि के उदर से जन्म ले। फिर तेरी यह अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

### ध्रुव के दिल पर चोट.

ध्रुव यह सब चकित-सा खड़ा सुनता रहा। अन्त में बालसुलभहठपूर्वक बोला—माताजी! देखो उत्तम पिताजी की गोदी में बैठा है, फिर मैं क्यों न बैठूँ? सुरुचि

कुछ झुँजलाकर फिर कहने लगी। मूढ़! तुझे बता तो दिया कि उत्तम मेरे पेट से पैदा हुआ है और तू उस भाग्यहीन सुनीति के पेट से। उत्तम मेरा पुत्र है और तू सुनीति का। इसवास्ते तेरा वह अधिकार नहीं जो उत्तम का हो सकता है। अब समझा?

ध्रुवने कहा माता! जैसी तू उत्तम की माता है वैसी मेरी भी मां है। उत्तम के समान मैं भी तेरा पुत्र हूँ। फिर मैं उत्तम के बराबर क्यों नहीं बैठ सकता? सुरुचि बोली—तू मेरा पुत्र कैसे बन सकता है? तेरा जन्म तो सुनीति के पेट से हुआ है। ऐसी अभागी स्त्री के पेट से पैदा होने वाले लड़के को मैं अपना पुत्र कैसे मान सकती हूँ? उत्तम बीच ही में बोल उठा—माता तू ऐसी उच्छृंखल कटूक्तियों से दयार्द्रहृदया माता सुनीति का क्यों अपमान करती है? सुरुचि बोली—उसका अपमान कैसे न करूँ? वह क्रूराशया और अनेकव्रती है। यतिलोगोंद्वारा पति के लिये मारण मोहन वशीकरण आदि कर्मों का अनुष्ठान कराया करती है। मेरा वस चले तो उसको इन कर्मों का उचित दण्ड दिये विना कभी न छोड़ूँ। यह सुनकर ध्रुव ने अंगुलियों के साथ अपने कान बन्द कर लिये और कहा—माता! मनुवंश की वधुवदन के अयोग्य यह शब्द आपके मुख से कैसे निकल आए। ऐसी वातें आपको शोभा नहीं देतीं। सुरुचि बोली—तू भी तो उसी के पेट से पैदा हुआ है तुझे ये वातें कैसे भली लग सकती हैं? इसीवास्ते मैं कहती हूँ कि तू उस दुष्टा का पुत्र है, महाराज के प्रेम और राजसिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता।

## भ्रातृस्नेह.

घबराकर ध्रुवने फिर कहा--माता! बस करो, दया करो। आपके ऐसे कठोर शब्दों को सुनने के लिये मेरे प्राण समर्थ नहीं हैं। भाई उत्तम राज्यशासन को सम्भालें उनके इस अधिकार को मैं हाथ जोड़कर स्वीकार करता हूँ। भगवान् आप सब का कल्याण करें और सदैव आपलोगों को विरोधी षड्यंत्रों से बचाए रक्खें, मैं भगवान् से भी यही प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे सौ बार मन्दभाग्य क्रूराशय और दुष्ट कहें, मुझे इसका तनिक भी खेद न होगा। क्योंकि आप भी माता सुनीति के समान ही पूज्यमाता हैं। पर जिसप्रकार आपके विरुद्ध आपका यह अभागापुत्र कोई कुवचन सुनने के लिये तैयार नहीं, वैसे ही माता सुनीति के लिये कोई अपमानजनकशब्द सुनने में असमर्थ है। इसके बाद महाराज के सामने हाथजोड़कर ध्रुवने कहा--हे कृपामृतार्द्रहृदय पिताजी! आपका यह मन्दभाग्यपुत्र आपके श्रीचरणों में प्रणाम कर यहाँ से जाने की आज्ञा मांगता है। इतना कह, भरे हुए दिल के साथ मातापिता के चरणों पर सिर झुकाकर ध्रुव वहाँ से चल दिया। उत्तम इन सब वातों को चकित-सा बैठा सुनता रहा। जब ध्रुव चलदिये तो उसके दिलपर चोट-सी लगी। फूटफूट कर रोने लग गया और भागकर ध्रुव के गले से लिपट गया। और बोला---आर्य! आर्य!! आप यह क्या कर रहे हैं? आपके विना मैं एक क्षणभर भी यहाँ रहना नहीं चाहता। आप घर में रहें चाहे वन में, आप का यह दास तो आपके साथ ही रहेगा। माता के निन्दापूर्ण और अपमानजनकशब्दों का दुःख हम दोनों को एक-सा ही है। अब मैं भी यहाँ नहीं रहना चाहता। इतना कह कर उत्तम ध्रुव के गले से लिपट कर रोने लगा।

ध्रुवने कहा—भाई! तुम यह क्या करते हो? तुम्हें रुदन करते देखकर मेरा धैर्य छूट रहा है। भाई! छोड़ दो मुझे और शान्ति से वैठो। तुम ऐसा हठ करके माता सुरुचि के कोपपात्र क्यों वनते हो। हमारे वास्ते तो सुनीति और सुरुचि दोनों एक जैसी माताएं हैं। प्यारे भाई! जिसप्रकार हमारी माता सुरुचि प्रसन्न रहे तुम वैसा ही करो। घर में रह कर सुख भोगो मुझे इसी से प्रसन्नता होगी। उत्तम बोला—भाई! मैं तो तुम्हें छोड़ नहीं सकता। जहाँ चलोगे तुम्हारे साथ ही जाऊँगा। तुम्हारे विना मैं यहाँ कैसे रह सकता हूँ? इतने में सुरुचि ने आकर उत्तम का हाथ पकड़ लिया और बोली—अरे मूढ! तू कल्पवृक्षवुद्धि से इस विषवृक्ष का क्यों आश्रय लेता है? देखता नहीं यह दुर्विनीत किसप्रकार अपनी चर्वज़वानी से मुझे डरा रहा है। छोड़ इस विषधर को, यह प्रेम का अधिकारी नहीं है। ध्रुव बोला—माता जैसा कैसा भी है, यह दास आपकी दया का ही पात्र है। यह कहकर ध्रुव वहाँ से चल दिया।

## माता का हृदय.

ध्रुव के चले जाने पर सुरुचि ने महाराज को सम्बोधन कर कहा—प्राणनाथ! देखा इस पड्वर्षीय वालक का क्रोध? किसप्रकार आँखें दिखा रहा था। इसकी बातों से तो प्रकट होता है कि किसी दिन हम लोगों को यह अवश्य मारने का यत्न करेगा। मालूम नहीं वह दुष्टा इसको अभी से कैसी पट्टी पढ़ा रही है। इसका वस चले तो मुझे, आपको और उत्तम को जीवित न छोड़े। इसकी वातों से साफ प्रकट होता है कि हम लोगों के लिये यह भारी विपत्ति सिद्ध होगा। इसलिये इस भावीविपत्ति से वचने का उपाय यही है कि इस लड़के को शीघ्र ही देश से निकाल दिया जाए। महाराज सुरुचि को चिन्ता में देखकर वेचैन हो गये और उसे सान्त्वना देते हुए वोले—सवेरे इसविषय पर मन्त्रियों के साथ विचार किया जायगा और फिर जैसी तेरी इच्छा होगी वैसा ही किया जायगा।

इधर तो ये वातें हो रही थीं दूसरी ओर सुनीति ध्रुव की प्रतीक्षा में वैठी चिन्ता कर रही थी कि ध्रुव अपने पिताजी को प्रणाम करने गया था, अवतक वापिस नहीं आया। डेढ़प्रहर रात्रि व्यतीत हो गई, अवतक वहाँ क्या करता है? न जाने क्यों नहीं आया। घबराकर उसने अपनी सखियों से कहा—ध्रुव अभी तक नहीं आया। मेरे हृदय में उद्वेग हो रहा है। भगवान् करें कुशल हो। न जाने क्यों मेरे मन में अशुभ आशंकाएं उत्पन्न हो रही हैं जिन में मेरा हृदय वार वार कांप उठता है। सुनीति यह वातें कर ही रही थी कि उसी समय ध्रुव ने आकर माता के चरणों पर सिर रखकर कहा—माता! ध्रुव का प्रणाम स्वीकार हो! सुनीति ने गद्गद् हो ध्रुव को छाती से लगा लिया और कहा वत्स! तेरी मनोकामना पूर्ण हो। ध्रुव ने कहा माता तेरे आशीर्वाद की सफलता तेरे ही अधीन है। सुनीति वोली—वेटा, तेरी वात मेरी समझ में नहीं आई। तेरे इस गम्भीर वचन का क्या अर्थ है, यह मुझे साफ साफ वता।

## ध्रुव और उसकी माता का सम्वाद.

ध्रुवने कहा—माता की आज्ञा का पालन करता हूँ। मेरी मनोकामना भगव-

त्कृपा के बिना पूर्ण नहीं हो सकती और भगवत्कृपा तपश्चरण के बिना दुर्लभ है। इसलिये माता की आज्ञा लेकर तपस्या करने के लिये वन में जाने की इच्छा रखता हूँ। सुनीति ने कहा—बेटा! तेरी अवस्था तप करने की नहीं है। तेरे सब पूर्वज पहले सर्वविद्याओं को सीखने के बाद गृहस्थाश्रम में सर्वसुखों का उपभोग कर अनुभव प्राप्त करते रहे हैं। फिर अन्तिमवय—वृद्धावस्था में राज्य का परित्याग कर वन में तप करने के लिये चले जाते थे। तुम्हें भी इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। ध्रुव बोला—मां! तेरा कथन सत्य है पर उन लोगों की माता सुनीति नहीं थी। सुनीति का पुत्र तो बाल्यावस्था में ही तप करने की प्रतिज्ञा कर चुका है। सुनीति ने कहा—बेटा! मैं बेचारी कौन हूँ। गङ्गा, यमुना और सरस्वती के समान पवित्रमाताओं के उदर से जन्म धारण करनेवाले महापुरुष भी अन्तिम-अवस्था में तप करने के लिये वनों में गये हैं। ध्रुव बोला—माता! तुझ से भी सहस्रगुणा अधिक गुणोंवाली उनकी माताएं रही हों इस में मुझे कुछ कहना नहीं है, पर मेरी विमाता सुरुचि जैसी उनकी कोई विमाता नहीं थी। क्यों, बता उनमें से किसी की ऐसी विमाता थी? सुनीति ने कहा—बेटा! पहेलियाँ कहकर मुझे क्यों परेशान करता है। तेरी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। साफ साफ बता क्या बात है? आज तू कैसी बहकी बहकी बातें कर रहा है।

ध्रुवने कहा—यदि ऐसी ही आज्ञा है तो लो सुनो! आज माता सुरुचि ने मुझे कहा है कि "यदि राजपद की इच्छा है तो घोरतपद्वारा सुनीति से प्राप्त शरीर को त्याग दे और फिर सुरुचि के उदर से जन्म धारण कर" इसलिये मैं तो तप करने के लिये वन में जाऊंगा। ध्रुव के कथन को सुनकर 'हा दैव! हा ईश्वर! हाय मेरे कर्म फूट गये, मैं अनाथा मारी गई' ऐसा कहती हुई सुनीति सिर पीटती मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ी। दासियाँ उसके मुखपर शीतल सुगन्धित जल छिड़क कर पङ्खा करने लगीं। सुनीति को होश में लाने के उपचार किये गये। उसकी दशा को देखकर सब सखियाँ व्याकुल हुई नानाउपाय करने लगीं। कुछ देर के बाद राणी को सुध आई तो वह फिर ध्रुव को गोदी में बैठाकर रोने लगी। ध्रुव ने कहा—मां तू इतनी कातर क्यों हो रही है। एक मामूली सी बात के लिये धैर्य क्यों छोड़ रही है। जबतक आप का यह पुत्र संसार में है तबतक आपको कोई चिन्ता न करनी चाहिये। दूसरे, हे माता!

"सोयं देवो हृदयदयितः श्रीसुधासिन्धुजाया। दीनानाथ प्रणतजनता वत्सलो विश्वभर्त्ता। येनानेके तरुण करुणा लोकनै रङ्क रङ्का अप्युर्व्यास्ते जलधि परिधेर्निमिता एकनाथाः॥"

वे ही लक्ष्मी के प्राणप्रिय विष्णुभगवान् आप के धैर्य का कारण होने चाहियें जिन्होंने अपने अद्भुत कृपाकटाक्ष से अनेक दाने दाने के लिये आतुर लोगों को समस्त महीमण्डल के सम्राट् बना दिया। असहाय, दीन और अनाथ लोगों की सुध लेनेवाले वेही विश्वम्भर हैं। सुनीति बोली—बेटा! तू सच कहता है। जिस दीनानाथ भगवान् ने गज की आर्त्तपुकार सुनकर उसे ग्राह के बन्धन से क्षणमात्र में आकर छुड़ा दिया, वेही करुणासागर दयार्द्रहृदय भगवान् अपने दीन हीन अनन्य

शरण भक्तों को विपत्तिसागर से बचाने के लिये, इस संसार में सदा सर्वदा जागते ही हैं। उन श्रीजी के हृदयेश्वर, सर्व के सुहृद भगवान् के अतिरिक्त तुम्हारे दुःखों का अन्त करनेवाला दूसरा कोई नहीं देखती हूँ। बेटा! तू भी उसी आर्त्तभयभञ्जन भक्तवत्सल भगवान् का आश्रय ग्रहण कर और घर में रह कर ही उसका भजन कर। तेरी यह स्वल्प आयु तथा कमल से भी सुकोमल शरीर घोरतप के कष्ट सहन करने के योग्य नहीं। वे प्रणतार्त्तप्रणयी भगवान् तेरे कष्ट को दूर कर देंगे। ध्रुव ने कहा—माता! भगवदाराधनरूप धनार्जन का स्थान तो तपोवन ही है, भवन नहीं। इसवास्ते मुझे तपोवन में जाने की ही आज्ञा दीजिये।

सुनीति ने फिर कहा—बेटा! भक्तवत्सल भगवान् तो निर्मलभक्ति से प्रसन्न होते हैं और भक्ति घर में रहकर भी हो सकती है। फिर तू भी उस वरद, भक्त-भावनदेव की भक्ति घर में ही कर। प्रियपुत्र उत्तम इस सुन्दरराज्य का शासन सौ वर्ष तक निष्कंटक करता रहे। इससे मुझे परमसन्तोष होगा। पर तेरे मुखदर्शन का सुख मेरे लिये साम्राज्यसुख से भी सहस्रगुणा अधिक है—

**विना त्वया मरिष्यामि शफरीव विनाम्बुना।**
**मायाहि वत्स! मायाहि मायाहि वन्तपोवनम्॥**

मेरे लाल। तेरे चले जाने पर जल विना मछली के समान मैं तड़प-तड़प कर मर जाऊँगी। इसलिये बेटा वन को मत जा, मत जा मेरी यह बात ज़रूर मान ले। ऐसा कहती हुई सुनीति फिर मूर्छित हो गई।

शीतोपचारद्वारा जब उसे पुनः होश आई तब ध्रुव को गोदी में बैठाकर रुदन करने लगी और बोली—तेरे अभ्युदय के लिये मैं स्वयं ही भक्तवत्सल भगवान् का आराधन करूँगी और तू यहीं रहकर प्रणतजनों के पारिजातसमान अपने पिता की सेवा कर। कुछदिनों में अवश्य सफल मनोरथ होगा। यदि तू ज़रूर जाना ही चाहता है तो मुझे भी अपने साथ ले चल। देखो ध्रुव! मुझ पर स्वामी की कृपा दृष्टि नहीं है, न मेरे पास सम्पत्ति और राजवैभव है। ऐसी अवस्था में तेरे चन्द्र-मुख का दर्शन कर ही मैं अपने प्राणों को धारण कर रही हूँ। तेरे साथ रहकर मैं इन सब दुःखों को भूल जाऊँगी। तू ही बता तेरे विना मैं यहाँ कैसे रह सकूँगी।

ध्रुव बोला—माता! तू पराधीन है, तू तपोवन में कैसे जा सकती है? दूसरे मैं बालक हूँ, तुझे साथ कैसे ले जा सकता हूँ। सुनीति ने कहा—तब बेटा! तू भी तपोवन को मत जा, हम दोनों यहाँ रहकर ही भगवद्भक्ति करेंगे। पुत्र! मुझ पर स्वामी की भी कृपा न रहे राज्यवैभव और धनसम्पत्ति भी न हो फिर एक तेरे दर्शन करके मैं इस रङ्कदशा में भी स्वर्गसुख का अनुभव करूँगी। ध्रुवने कहा—माँ! जैसे मेरा वियोग तेरे हृदय को व्यथित कर रहा है, वैसे ही तेरे चरणों का वियोग मेरे लिये भी असह्य हो रहा है। फिर भी हमें इस दुःख का अधिक विचार न करना चाहिये। मैं राज्यवैभव अथवा सम्पत्ति के लोभ से तपोवन को नहीं जाता। आपके उदर से जन्म लेनेवाला यह ध्रुव इस सुखसामग्री को तृण के समान समझता है। मैं तो एक महान् कार्य के लिये तपोवन जा रहा हूँ और आपसे आ-ग्रहपूर्वक आज्ञा माँग रहा हूँ। आज मुझे माता सुरुचि ने कहा है कि तेरा जन्म

मन्दभागिनी सुनीति से हुआ है, इसवास्ते तू नृपासन पर बैठने का अधिकारी नहीं। उसके यह शब्द मेरे हृदय में शूल के समान चुभ गये हैं। मेरे इस जख़्म का मल्हम यही है कि जिस पद को मेरे पूर्वज भी प्राप्त नहीं कर सके भक्तवत्सल भगवान् को प्रसन्न कर उसी पद को प्राप्त करूँ और इसप्रकार त्रिलोकी में तेरी कीर्ति का विस्तार करूँ। माता मेरे जीते लोग तुझे मन्दभागिनी कहें तो मेरा जीना व्यर्थ ही है। अब तो मैं यह निश्चय कर चुका हूँ कि देवाधिदेव भगवान् को प्रसन्न कर तेरी भाग्यशालीनता का सूर्य त्रिलोकी में चमकाऊँगा। इसलिये हे माता अपने इस पुत्र के प्रयाणसमय का प्रणाम स्वीकार कर और प्रसन्न होकर जाने की आज्ञा दे। निश्चय जान कि थोड़े ही दिन बाद फिर तेरी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा। इतना कहकर ध्रुव ने माता के चरणों पर सिर रख दिया।

सुनीति ने सोचा ध्रुव का उत्साह सामान्यता का उल्लंघन कर चुका है अब इसके साथ अधिक हठ करना व्यर्थ है। उसने ध्रुव को उठाकर छाती से लगा लिया और मुख चूमकर कहा—बेटा! यदि तू दृढ संकल्प करचुका है तो मैं तेरा उत्साह भंग नहीं करती। भगवान् तुझे सफल मनोरथ करें, तेरा मार्ग कल्याणमय हो। सर्ववायु सुखप्रद और सर्वजल मंगलकारी हों, सर्ववनदेवता तेरा हितचिन्तन करें। तेरे पूर्वजों के अगणितपुण्य तेरी अभीष्टसिद्धि में सहायक हों। इसप्रकार माता ने अनेकविध आशीर्वाद देकर पुत्र को विदा किया। ध्रुव के तपोवन चले जाने पर माता पुत्र के कल्याणार्थ शिवजी की उपासना करने लगी।

## ध्रुव को नारदजी के दर्शन.

राजमहलों से निकलकर ध्रुव अभी दो चार कोस ही गये होंगे कि रास्ते में उन्हें नारदजी के दर्शन हो गये। मुनि को देखकर ध्रुव ने उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। मुनिजी ने आशीर्वाद देकर पूछा—कहो बेटा! इसीअवस्था में तपोवन जानेका कारण क्या है? ध्रुव ने आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई। ध्रुव की आत्मकथा सुनकर नारदजी बोले—वत्स! अभी तो तुम्हारी अवस्था खेलने कूदने की है। मातापिताद्वारा ताड़ना किये जाने पर तुम्हें इतना असन्तुष्ट न होना चाहिये। इसअवस्था में भी तुम्हें मानापमान का ज्ञान हो गया हो, तब भी मानापमान का विचार तो अज्ञानकारणक मोह से ही पैदा होता है। क्योंकि जीव अपने कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख भोगता है। भाग्यवशात् जो भी सुखदुःख सिर पर आ पड़े उसको ईश्वरेच्छा जानकर धैर्यपूर्वक सहन कर लेने में ही सन्तोष मानना चाहिये। अपनी माता के उपदिष्टमार्ग से जिसकी कृपा को प्राप्त करना चाहता है, वह परमात्मा तो दुराराध्य है। विनाज्ञान के उसे कैसे प्रसन्न कर सकोगे? पूर्णत्यागी मुनिगण अतितीव्रसमाधियोगद्वारा भी जिसको प्राप्त करने में बहुधा असफल रहते हैं तुम उसे कैसे प्राप्त कर सकोगे? बेटा! ऐसा हठ न करो। कष्ट सदा नहीं रहते जिसप्रकार रात्री के बाद दिन आता है वैसे ही दुःख रूपरात्री के बाद सुखरूप दिन भी अवश्य चढ़ता है। मैं तुम्हारा उत्साह नहीं तोड़ता, कष्ट में और भी कष्ट सहन करने के लिये तैयार होने पर मन किसी न किसी समय धैर्य छोड़ बैठता है। जिससमय तुम्हारे सुकर्मों का उदय हो जाए, उस समय बेशक भगवान् को प्रसन्न करने का यत्न करना। उस समय सफलता की भी आशा हो सकती है। याद रक्खो, दुःख

भोगने से पापों का क्षय होता है और सुख भोगने से पुण्यों का। सुखदुःखात्मक दोनों दशाओं में अभिमानरहित होकर जो अपने आपको अविक्षिप्त रखता है, वह अवश्य मुक्त हो जाता है। मुमुक्षुपुरुष को बड़ों के लिये श्रद्धा छोटों के लिये स्नेह और समानलोगों के लिये मैत्री का भाव रखना चाहिये। फिर वह कभी दुःखित या विक्षिप्त न होगा।

नारदजी के वचनों को सुनकर ध्रुव बोला—भगवन्! मेरे ऐसे दुर्दर्श दुःखीपुरुषों की शान्ति का उपाय आपने बता दिया, यह आपकी बड़ी अनुग्रह है। पर माता सुरुचि के वाग्बाणों से विद्ध इस क्षत्रियबालक के हृदय में आपका बताया हुआ उपाय बैठता ही नहीं। महाराज! आप भगवान् चतुरानन से जन्मधारण कर हाथ में वीणा लिये सूर्य के समान संसारीजीवों का कल्याण करते फिरते हैं। इस बच्चे की दीन दशा पर दया करके इसके हठ को पूरा करने की कृपा कीजिये और कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे आपका यह दास अपनी दुःखी माता की कीर्ति को स्थाई बनाने के लिये ऐसा पद प्राप्त करने में समर्थ होजाए जो आजतक न इसका कोई पूर्वज प्राप्त कर सका हो नहीं कोई और मनुष्य। भगवन्! आप भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। आपके दर्शन करते ही मुझे तो निश्चय हो गया है कि भगवान् ने मेरे बालहठ की रक्षा के लिये ही यह मेल कराया है। महाराज! कृपा कीजिये, मेरे हृदय के गहरे घाव को देखिये और ऐसा ही उपाय बताइये जो इस घाव को दूर करदे। यह कहते हुए ध्रुव की आँखें डबडबा आई और उसने हाथजोड़कर अपना सिर नारदजी के चरणों पर रख दिया।

## नारदजीद्वारा मन्त्रोपदेश.

ध्रुव की बातें सुनकर नारदजी प्रसन्न हो गये। प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा—वत्स! तेरी माता ने जो मार्ग तुझे बताया है तेरे वास्ते वही हितकर है। भगवान् वासुदेव ही तेरा कल्याण कर सकते हैं, इसवास्ते तू उन्हीं का भजन कर। यह स्मरण रक्खो कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षप्राप्ति का उपाय भगवान् के चरणों की सेवा ही है। देख, मैं तुझे एक युक्ति बतलाता हूँ। तू यमुनाजी के तट पर मधुवननामक वन में चला जा। उसी वन में भगवान् निवास किया करते हैं। वहाँ, प्रतिदिन श्रीकालिन्दीजी के पवित्रजल में स्नान किया करना और देवदर्शनादि योग्यकर्मों का अनुष्ठान करने के अनन्तर पहले स्वस्तिकादि आसन से बैठने का अभ्यास और फिर शनैः शनैः त्रिविधप्राणायामद्वारा प्राण, इन्द्रिय और मनके चांचल्यादि दोषों को दूर करने का यत्न करना। इसके बाद समाहितमन से भगवान् के शरणागतपालक और करुणानिधिस्वरूप का ध्यान करने लग जाना। वह स्वरूप ऐसा है कि उनका मुख तथा नेत्र सदा ही प्रसन्नता से खिले रहते हैं। वे भगवान् सदा ही प्रसादाभिमुख हैं। उनकी नासिका बड़ी सुन्दर, अतिकमनीय भौहें, मनोहर कपोल। सारांश यह कि उनके सब अंग तरुण और बड़े ही रमणीय हैं। उनके स्वरूप के सामने देवताओं का स्वरूप भी लज्जित होता है। भक्तों के मन को हरण करनेवाले भक्तभावन भगवान् के नेत्र अरुण हैं। श्रीजी से भगवान् का अंक शोभित है। यह प्रणतों के आश्रयदाता भगवान् का शरणागतपालक, सुखकर और करुणानिधिरूप है। वनमाला धारण किये हुए हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्म से भगवान् की

चारों भुजाएं शोभित हैं। सिर पर मुकुट, कानों में मकराकृत कुण्डल, भुजाओं पर केयूर, कलाईयों पर वलप, गले में कौस्तुभमणि और शरीर पर कौशेय पीतपट शोभित हैं। चरणयुगल में कांचनमय नूपुर शोभा दे रहे हैं। मेघ के समान उनका वर्ण है। इसप्रकार वर्णन करते हुए भगवान् नारद आनन्दमग्न हो गये। कुछ देरचुप रहने के वाद नारदजी फिर वोले—ध्रुव! भक्तों के मन तथा नयनों के आह्लादक भगवान् के ऐसे मनोहारि, शान्त और कमनीय स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। इसस्वरूप का ध्यान करने की विधि यह है कि सारे स्वरूप का ध्यान करने से पहले भगवान् के प्रकाशमय नखरूपमणियों से युक्त चरणयुगल को अपने हृदयपुण्डरीक में स्थापित कर उनका पूजन किया जाए। तदनन्तर अनुरागपूर्वक अवलोकन करनेवाले, मन्दमुस्कान से भक्तों के मन को हरनेवाले, वरदानियों में श्रेष्ठ भगवान् का समाहित मन से ध्यान करना चाहिये। इसप्रकार भगवान् के परम मङ्गलमयस्वरूप का ध्यान करनेवाले का मन विषयों से परमनिवृत्ति लाभ कर लेता है और वह भगवत्स्वरूप में ही लीन हो जाता है। जिससमय भगवत्स्वरूप में मन समाधिस्थ न हो उससमय भगवन्मन्त्र का जाप करते रहना चाहिये और समयोचित प्राप्त शुचि जल, पत्र पुष्प और फलादि से भगवान् की द्रव्यमयी प्रतिमा का पूजन करना चाहिये। हे राजकुमार! "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" इस गोपनीयमन्त्र का जाप करो। विधियुक्त इस मंत्र का जाप करने से मनुष्य सात दिन में देवताओं का दर्शन कर सकता है। तुम भी इसी मंत्र का जाप और इसके द्वारा ही भगवान् की पूजा किया करना। इसप्रकार भक्तद्वारा शारीरिक, वाचिक और मानसिक पूजा किये जाने पर सर्व के हृदयों में विराजमान भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं और भक्त की अभिलाषा को पूर्ण कर देते हैं, यह निश्चय जानो। इतना ही नहीं ऐन्द्रिकविषयों से विरक्तपुरुष उत्कृष्टभक्तियोग का अवलम्बन लेकर भगवत्कृपा का भाजन वन जाता है और फिर परमपद का लाभ कर मुक्त हो जाता है। नारदजी से इसप्रकार उपदेश ग्रहण कर शिशुध्रुव ने उनकी परिक्रमा की और आज्ञा लेकर दण्डवत्प्रणाम करता हुआ पवित्रमधुवन नामक तपोवन को चला गया।

## ध्रुव का घोरतप और भगवत्साक्षात्कार.

मधुवन में पहुँचकर ध्रुव ने नारदजी के उपदेशानुसार तप करना आरम्भ कर दिया। नारदजी की कृपा से, ध्रुव ने वहाँ तप करते हुए छः मास में ही भगवान् का साक्षात्कार और अचलपदवी का लाभ कर लिया। छः मास के तप से ही जगत में उसकी कीर्ति अचल होगई। भक्तराज ध्रुव ने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर लिया।

भगवान् नारद सदैव उपदेश ग्रहण करने वाले अधिकारी के भाव को देखते थे। और उसी के अनुसार उसकी उन्नति का उपाय वतलाया करते थे। आप चाहते तो दक्षपुत्रों की तरह ध्रुव को भी उदासीनमुनि होने के लिये उत्साहित कर सकते थे पर ऐसा करने से ध्रुव को कुछ लाभ नहीं हो सकता था। वल्कि लाभ के स्थान में हानि की अधिक सम्भावना हो सकती थी। क्योंकि ध्रुव के मन में सांसारिक महत्त्व प्राप्त करने की वासना ही तीव्र हो रही थी। इसलिये नारद जी ने ध्रुव की अभिलाषापूर्ति का उपाय ही उसे वताया। इस से सिद्ध होता है कि नारदजी उपदेश करते समय पहिले अधिकारी के भाव और रुचि को देखते थे और उसी के अनुसार उसकी उन्नति का उपाय वतलाते थे। दक्ष के पुत्रों की

उन्हों ने परीक्षा करली और जब यह देखलिया कि इनमें ज्ञानप्राप्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तब उन्हें उदासीनमुनि दीक्षा देकर जन्ममरण के बन्धन से मुक्त कर दिया। दूसरी ओर यद्यपि ध्रुव के वैराग्य में कोई कमी न थी। इस से बढ़ कर वैराग्य की परीक्षा क्या हो सकती है कि राज्यसुख का लोभ और माता के आँसू भी उसे अपने प्रण से डिगाने में असमर्थ रहे। पर उस समय ध्रुव में सांसारिकमहत्त्व प्राप्ति की इच्छा ही बलवान हो रही थी इसवास्ते नारदजी ने भी उदासीनमुनि-धर्म की दीक्षा न देकर उसकी इच्छा के अनुसार ही उन्नति और सफलता का ठीक मार्ग बतला दिया। यदि उसको भी उदासीनमुनि दीक्षा से दीक्षित कर देते तो ध्रुव दुवधा में ही पड़ा रह जाता, कोई लाभ नहीं उठा सकता था। कारण, मन तो उसका सांसारिक कीर्ति की धुन में ही सदैव लगा रहता। ऐसी अवस्था में उदासीनमुनिदीक्षा उसे क्या लाभ पहुँचा सकती थी। अन्यथा योग्य अधिकारी मिलने पर नारदजी उसे उदासीनदीक्षा से दीक्षित करने से कभी चूके नहीं। जैसे आपने हाविर्धान के पुत्र प्राचीनवर्हि और प्राचीनवर्हि के पुत्र प्राचेताओं को भी मुनिदीक्षा देकर उदासीनसम्प्रदाय में उनका प्रवेश करादिया था। प्राचीनवर्हि तथा प्राचेताओं की उदासीनमुनिदीक्षा का वर्णन श्रीमद्भागवत् के चौथे स्कन्ध के पचीसवें तथा इक्कीसवें अध्याय में किया गया है। जिससे प्रकट होता है कि उदासीन सम्प्रदाय में राजन्यवर्ग का सन्निवेश प्रारम्भ से ही अधिक रहा है। यह भी एक कारण है कि प्रतिग्रहरूप धर्मादासम्पत्ति को यह सम्प्रदाय सदा घृणा की दृष्टि से देखता रहा है।

## ( ८ तरङ्ग )

## नारदजी के उपदेश का प्रभाव.

शूरसेन के कुल में चित्रकेतु नामक एक राजा हुए हैं। आप बड़े ही धीर, वीर, विद्वान, प्रजावत्सल और दयालुप्रकृति के महीपाल थे। परन्तु इनके यहाँ अभीतक कोई पुत्र न हुआ था। पुत्रलाभार्थ इन्होंने अनेक ब्याह किये पर पुत्रदर्शन का सौभाग्य प्राप्त न हुआ। राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण आप सदैव-खिन्न रहा करते थे। एकदिन कहीं भ्रमण करते हुए महर्षि अंगिरा आपके दरबार में आ गये। महाराज चित्रकेतु ने बड़ी श्रद्धाभक्ति से महर्षि का स्वागतसत्कार किया और एक उत्तम पवित्रस्थान में उनका आसन लगवा दिया। महाराज प्रेम और श्रद्धा के साथ स्वयं ही महर्षि की सेवासुश्रुषा करने लगे। वार्तालाप में समय पाकर महाराज ने अपने अपुत्रत्व के हार्दिककष्ट को ऋषि से निवेदन किया। राजा की आत्मकथा सुनकर ऋषि बोले—राजन्! आप पुत्रेष्टियज्ञ का अनुष्ठान कराइये, उससे आप अवश्य सफल मनोरथ होंगे। ऋषि की आज्ञा से महाराज यज्ञ-सामग्री का प्रबन्ध करने लग गये। दूरदूर से याज्ञिकलोग बुलाए और महर्षि अंगिरा की देखरेख में ही यज्ञ प्रारम्भ हो गया।

## चित्रकेतु को पुत्रदर्शन.

समय पर जब यज्ञ समाप्त हुआ तब महर्षि अंगिरा ने मन्त्रपूत यज्ञावशेष चरु राजा को देकर कहा—यह चरु ले जाकर अपनी बड़ी राणी को दे दो। इसको खाने से एक बालक अवश्य उत्पन्न होगा। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है, वह बालक मातापिता के लिये जहाँ हर्षजनक होगा वहाँ शोक का कारण भी होगा। यह कहकर महर्षि अंगिरा अपने आश्रम को चले गये। उधर राजा ने वह चरु अन्तःपुर में ले जाकर महर्षिद्वारा निर्दिष्टविधि से अपनी बड़ी राणी को खिला दिया। समय आने पर उस राणी से एक अतितेजस्वी सुन्दर बालक का जन्म हुआ। टीकासाहिब के जन्म पर सारी प्रजा में आनन्दोत्सव मनाया गया। महाराज के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने स्नान कर सुन्दर पवित्र वस्त्र पहने और ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन और वेदपाठ कराया। जातकसँस्कार के अनन्तर सुवर्ण, रजत, वस्त्र तथा नानाविधभूषण ब्राह्मणों को दान किये। याचकों की सब कामनाएं पूर्ण की गईं। सबजगह सबलोग बालक को आशीर्वाद देते हुए उसकी कुशलक्षेम के लिये भगवान् से प्रार्थना करने लगे।

## राजकुमार की मृत्यु.

वृद्धावस्था में महाराज चित्रकेतु को राजकुमार के दर्शन हुए थे। अतः उसपर महाराज का स्नेहदिनप्रतिदिन बढ़ने लगा। राजकुमार के कारण ही दूसरी राणियों की अपेक्षा राजकुमार की माता से भी महाराज का प्रेम अधिक हो गया। परिणाम यह हुआ कि दूसरी राणियाँ राजकुमार और उसकी माता से द्वेष करने लगीं। जब वे देखतीं कि राजा राजकुमार को गोदी में खेलाकर बड़ा प्रसन्न होता और उसकी माता का बड़ा आदरसत्कार करता है तब वे मन ही मनः बहुत कुढ़तीं और ईर्षा से जलभुन जाया करती थीं। राणियों की इस ईर्षा का पता महाराज को भी लग गया तो महाराज भी उनके साथ उपेक्षा का व्यवहार करने लग गये। इस पर राणियाँ महाराज से भी द्वेष रखने लग गईं। परिणाम यह हुआ कि वे राणियाँ महाराज, पटरानी और राजकुमार को मारने का षड्यंत्र रचने लग गईं।

एकदिन अवसर पाकर उन राणियों ने राजकुमार को विष दे दिया। विष दिये जाने के बाद राजकुमार सो गया और फिर नहीं उठा। कुमार की माता को यही मालूम था कि उसका लाल सोया हुआ है। पर वह ऐसी नींद सो गया था कि जिस से फिर कभी कोई जागा नहीं। जब कुमार को सोए बहुत देर हो गई तो माता का दिल धड़कने लग गया। अचानक अशुभभावनाएं दिल में पैदा होने लग गईं। दाहिना अंग फड़कने लगा। घबराकर राजकुमार की शय्या के पास पहुँची और मुखपर से वस्त्र उठाकर देखा तो कुमार की आँखें उलटी हुई थीं। शरीर काला पड़ गया और प्राणों तथा नाड़ियों की गति बिल्कुल बन्द हो चुकी थी। पुत्र की अवस्था देखते ही "हा हतास्मि" कहते हुए राणी मूर्छित हो भूमि पर गिर गई। राजकुमार की मृत्यु और राणी की दशा देखकर सब दासदासी चिल्ला चिल्ला कर रोने लग गये। राजा को पता लगा तो वे भी रोते पीटते गिरते पड़ते महलों में पहुंचे और मृतपुत्र को देखकर मूर्छित हो गये। यह दुःखद समाचार बिजली के

समान सारी राजधानी में फैल गया। राजगुरु, राजपुरोहित, अमात्य और अन्य राज्यकर्मचारी तथा राजा के समीपी राजमहल में एकत्र हो गये। महर्षि अंगिरा और नारदजी आदि मुनियों को भी योगबलद्वारा महाराज चित्रकेतु की दयनीय अवस्था का पता लगा तो वे भी राजमहल में आ गये। राजा और राणी की मूर्छा दूर करने का यत्न किया जाने लगा। उन्हें कुछ होश आया तो पुत्र की लाश को गोद में लिये फूटफूट कर रोने लगे। उनके करुण क्रन्दन को सुनकर सब के दिल फटे जाते थे। राजा के दुःख से दुःखी हुए सब प्रजाजन भी रोने लगे। सब ऋषि मुनिगण अनेकप्रकार से तत्त्वज्ञानोपदेशद्वारा महाराज को सान्त्वना देते थे परन्तु राजा के मन पर उन उपदेशों का कुछ प्रभाव न पड़ता था। जब और सब ऋषिमुनि राजा को ढाड़स बन्धाने के यत्न में असफल रहे तो महर्षि अंगिरा ने नारदजी से निवेदन किया कि मुनिमहाराज! हमसे तो राजा का शोक किसीप्रकार दूर हुआ नहीं, इस काम को आप ही जैसे हो सके करिये। क्योंकि दूसरे के मनपर प्रभाव डालने की जो शक्ति आपकी वाणी में है दूसरे किसी की वाणी में नहीं। इस समय आप ही महाराज के शोकरूप रोग को दूर करने में समर्थ वैद्य हैं। किस प्राणी का कल्याण किस उपाय से हो सकता है, यह विवेक भगवान् की ओर से आपको ही प्राप्त है। आपके उपदेश की युक्ति अमोघ है। उपस्थित सर्व ऋषिमुनियों की यही इच्छा है कि आप शोकसागर में डूब रहे इस दम्पत्ति को बचालें। सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार, ऋभु, भृगु, अत्रि, देवल, असित, व्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, उदत्त, आसुरि, पतञ्जलि, वेदशिरा, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज ये सारे ही दैवी ऐश्वर्यसम्पन्न ज्ञाननिष्ठा वाले महापुरुष हैं, परन्तु संसार के शोकरूप रोग को दूर करने की विशेषकुशलता परमात्मा ने आप ही को दी है। आप ही राजा का शोक दूर करने में समर्थ हैं।

## नारदजीद्वारा मृतात्मा का आह्वान.

ऋषिमुनियों की आज्ञा मान कर श्रीनारदजी ने अनेकविध से पारमार्थिक उपदेश किया। परन्तु उस से राजा तथा राणी के मन की पुत्रवियोगरूप शोकाग्नि किसी प्रकार भी शान्त नहीं हुई। पश्चात् नारदजी ने मृतराजकुमार की आत्मा का आह्वान किया। जब आत्मा आकर मृत शरीर में प्रवेश कर गया, तब राजकुमार को सम्बोधनकर नारदजी कहने लगे—हे जीवात्मन्! तेरा कल्याण हो! देख तेरे इस शरीर के सम्बन्धी माता, पिता तथा अन्य सगासम्बन्धी तेरे विना अतिव्याकुल हो रहे हैं। इसलिये इनके ऊपर दया करके तू इसी राजकुमारशरीर में रहकर नानाप्रकार के राजकीय दुर्लभ भोगों को भोग। समय आने पर राज्यशासन को अपने हाथ में लेकर प्रजा का पालन करना।

श्री नारदजी के वचनों को सुनकर राजकुमार का आत्मा कहने लगा-भगवन्! कर्मशृङ्खलाओं से बँधा हुआ मैं दैव, तिर्यक् और मनुष्ययोनियों को प्राप्त करता आया हूँ। उन कितनी ही योनियों में कभी ये लोग मेरे पुत्र हुए और कभी इस समय के समान मैं इनका पुत्र हुआ। इसप्रकार से सारे जीव इस संसार में समय समय पर सब के बन्धु, मित्र, मध्यस्थ, उदासीन, वैरी इत्यादि होते ही रहते हैं। जिस

प्रकार पैसा, रुपया, अशर्फी आभूषण आदि समय समय पर सब की मिल्कियत में आते रहते हैं उसीप्रकार जीव का सम्बन्ध भी सब के साथ होता रहता है। भगवन्! संसार में जीवितप्राणी का सम्बन्ध भी अनियत रहता है। क्योंकि जो गो महिष आदि एक समय पुरुष के पास हैं, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दूसरे के हाथ बेच दिया जाता है। उस समय उनका सम्बन्ध खरीदने वाले के साथ हो जाया करता है। उससमय खरीदनेवाला पुरुष उन पशुओं में अपना ममत्व कर लेता है। जबतक किसी का किसी के साथ सम्बन्ध है तबतक ही परस्पर, एक दूसरे के साथ ममत्वबुद्धि रहती है। इसी नियम के अनुसार अभिमान से रहित यह नित्य जीव, जबतक मातापिता आदि के सम्बन्धवाले किसी भी शरीर में रहता है तभी तक शरीर सम्बन्ध से उन में इसका ममत्व रहता है। शरीर का विच्छेद होते ही वह ममत्व धीरे धीरे नष्ट हो जाता है। भगवन्! यह आत्मा नित्य, विकार-शून्य, सूक्ष्म, सर्व का आश्रय, स्वयंप्रकाश और प्रभु है, इसलिये अपनी मायाशक्ति के गुणोंद्वारा अपने आप को विग्रहरूप में ले आता है। न इसका अपने आप के सिवा कोईअत्यन्त प्रिय है और न कोई वैरी। केवल यही अद्वैतस्वरूप सर्वबुद्धियों का साक्षी और सर्वकर्त्ताओं के गुणदोष का देखनेवाला है। यह आत्मा न तो किसी गुण को ग्रहण करता है और न कर्मफल का भोक्ता है। यह तो सदा उदासीन के समान स्थित रहा करता है और ईश्वर होकर कार्य कारण का द्रष्टामात्र है। इतना कहकर राजकुमार की आत्मा उस शरीर को छोड़कर फिर चली गयी। अपनेपुत्र के आत्मा का उपदेश सुनकर महाराज चित्रकेतु और राणी बड़े विस्मित हुए और पुत्रमोह तथा उसके वियोगजन्य शोक को परित्याग कर दिया। राजकुमार के मृत-शरीर को लेजाकर उसकी और्द्धदैहिक क्रिया कर दी। राजकुमार के मारने वाली सब राणियाँ बालहत्या के दोष से हतप्रभा हो गईं और अपने पाप की निवृत्ति के वास्ते प्रायश्चित्तकर्मों का अनुष्ठान करने लगीं। महाराज चित्रकेतु ने भी संसार को अन्धकूप समझ कर राजपाट त्याग दिया, यमुनाजी में स्नान कर नारदजी के चरण पकड़ लिये और उनसे दीक्षा लेकर परमार्थ के पथिक बन गये।

## (९ तरङ्ग)

## प्रह्लाद की रक्षा.

महाराज चित्रकेतु का चरित्र श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के १४-१५-१६ अध्यायों में लिखा है। इस कथा से श्रीनारदजी के सर्वोपरि उपदेश कौशल्य का पता चलता है। और यह भी विदित होता है कि इस देश में प्रेताह्वान की प्रथा नवीन नहीं, बल्कि बहुत पुरानी है। योगशक्तिद्वारा जहाँ स्वतन्त्र रूप से ऐसे कार्य लिये जाते थे वहाँ हमारे पूर्वज मृत, अन्ययोनियों अथवा गर्भमेंस्थित आत्मा-ओं को उपदेश भी दिया करते थे। अभिमन्यु का माता के गर्भ में ही चक्रव्यूहकी युद्धविद्या का ज्ञान प्राप्त करना, प्रह्लाद का अपनी माता के गर्भ में भक्तियोग का ज्ञानलाभ करना आदि योगविद्याचमत्कार विषयक अनेकों ही कथाएं पुराणों में वर्णित हैं। यदि उन सब कथाओं को यहाँ लिखा जाय तो ग्रन्थ का कलेवर बढ़

जायगा। उन में से केवल भक्तप्रवर प्रह्लाद की जन्म कथा ही यहाँ पर लिखी जाती है। क्योंकि प्रह्लाद के चरित्रों के साथ श्रीनारदजी का खास सम्बन्ध रहा है और प्रह्लाद के गुरु भी श्रीनारदजी ही हैं। नारदजी ने ही अपनी योगशक्तिद्वारा प्रह्लाद को गर्भ में भक्तियोग का उपदेश किया था। नारदजी देवर्षि हैं और देवगण के साथ इनका जाति तथा धर्म का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध की दृष्टि से प्रह्लाद जैसे दैत्यकुलोत्पन्नव्यक्ति के प्राणों की रक्षा करना देवजाति के लिये अनिष्टकारी था। पर नारदजी इसवात को भलीप्रकार समझते थे कि यदि विरोधिजाति के किसीव्यक्ति में भी दैवी सम्पत्ति के लिये पक्षपात का भाव हो तो उसकी रक्षा अवश्य होनी चाहिये। उसके साथ भी द्वेषभाव रखना भूल है। अन्यायी के साथ उसके अन्याय के उत्तर में कठोर व्यवहार करना नैतिकदृष्टि से ठीक हो सकता है और इससे अपनी जाति को लाभ भी पहुँच सकता है। पर अन्यायी लोगों में यदि कोई न्याय और धर्म का समर्थन करनेवाला मनुष्य पैदा हो जाए तो न्याय के पक्षपातियों को उसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। विरोधिजाति का होने के कारण किसी धर्मात्मा पुरुष को भी हानि पहुँचाने का यत्न करना अनुचित पक्षपात है और ऐसा व्यवहार अपनी जाति के लिये भी हानिकर हो जाता है। विरोधिजाति के भी धर्मात्मा लोगों की रक्षा करना दोनों जातियों में प्रेम का बीज लगा देता है। इसी विचार से नारदजी ने प्रह्लाद की रक्षा की। उन्होंने योगदृष्टिद्वारा यह जान लिया था कि हिरण्यकशिपु के घर में जन्म लेनेवाले बालक पर दैवी सँस्कारों का प्रभाव पड़ा हुआ है। यदि इसकी रक्षा की जाए तो इससे न-केवल दैत्यजाति का ही गौरव बढ़ेगा बल्कि वह देवताओं का उद्देश्यसिद्ध होने में भी भारी सहायता करेगा। देवगण के धर्म की महिमा बढ़ाने का अद्वितीय साधन बनेगा और इसके चरित्रों से संसार का महान् कल्याण होगा। इन्हीं सब बातों को देखकर श्रीनारदजी स्वजातीय देवगणों की इच्छा के विरुद्ध इन्द्र की क़ैद से प्रह्लाद की रक्षा करने पर कटिबद्ध हो गये। सर्वप्रथम प्रह्लाद की माता को श्रीनारदजी ने छुड़ा लिया। और जबतक प्रह्लाद का जन्म नहीं हो गया तबतक उस अनाथा का भरणपोषण करते रहे। देवगण कहीं इसका वध न कर दें, इस भय से उसे अपने आश्रम में ही रक्खा और उसको अपनी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होने दिया। देवराज इन्द्र के विरोध की कुछ भी परवाह नहीं की। देवगण एक ओर थे और नारदजी दूसरी ओर। इतना साहस और त्याग का कार्य श्रीनारदजी ने स्वजाति और धर्म के गौरव के लिये ही किया था, जिसे देवगण मोह तथा द्वेषवश भूल रहे थे। दैत्यगण भी ऐसे त्यागी और परोपकारी महात्मा के उपकार को नहीं भूले। यही कारण है कि श्रीनारदजी पर दैत्यों को भी वैसा ही विश्वास था जैसा देवगण को हो सकता था।

## प्रह्लाद की आत्मकथा.

श्रीनारदजी के प्रह्लाद सम्बधी इस उत्तमचरित्र को श्रीवेदव्यासजी श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के सप्तम अध्याय में इसप्रकार लिखते हैं कि "जब भक्तराजप्रह्लाद अपने गुरु के पास विद्याध्ययन करते थे तब एक दिन एकान्त में सब दैत्य बालकों ने मिलकर प्रह्लाद की अलौकिक भगवद्भक्ति को देखकर, उनसे भक्ति और अध्या-

त्मविद्याप्राप्ति का कारण पूछा। सब बालक प्रह्लाद के सामने बैठ गये। और बार-म्बार प्रह्लाद के अलौकिकज्ञान की प्राप्ति का कारण पूछने लगे। प्रह्लाद बालकों की उत्कटजिज्ञासा देखकर हँसते हुए कहने लगे कि हे प्रियमित्रो! आपकी इस ज्ञान-पिपासा को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं अपना आदि से लेकर अबतक का सारा वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे आपलोग ध्यान देकर श्रवण करें। मेरे जीवन-वृत्तान्त को समझकर उस पर चलने का प्रयत्न करोगे तो उससे आपलोगों का बड़ा कल्याण होगा। अच्छा! अब आप लोग ध्यान देकर श्रवण करें। मेरा चचा हिर-ण्याक्ष संसार में एक अद्वितीय योगी और योद्धा था। राजस स्वभाववश वह इस पृथिवी को नाश करने का प्रयत्न करने लगा। उसके इस दयाशून्य प्रयत्न को देख कर भगवान् ने वराहरूप धारण कर उसका वध कर डाला। मेरे पिता हिरण्यक-शिपु को जब अपने भाई की मृत्यु का हाल मालूम हुआ तो वह अति दुःखित हुआ। भाई के वियोग से दुःखित होकर मेरा पिता भगवान् विष्णु से वैरशोधन के उपाय सोचने लगा। उसने सोचा-यदि मैं योग और तपद्वारा हिरण्यगर्भ की शक्तियों को अपने में आविर्भूत कर लूँ तो अवश्य ही सफलमनोरथ हो सकूँगा। उसने इस सत्यसिद्धान्त को समझ लिया था कि चेतन ही इस संसार में सत्यवस्तु है, उससे भिन्न सब अतथ्य है। उसने विचार किया कि उस चेतन के साथ सब का अभेद है तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी कि चैतन्य के साथ निरन्तर अभेद स्था-पन रखकर योग और तपद्वारा मैं हिरण्यगर्भ की शक्तियों को प्राप्त कर लूँ। हिर-ण्यगर्भ की शक्तियाँ मेरे हाथ में आ जाने पर मैं विष्णु का विष्णुत्व धूल में मिला दूँगा। संसार से ईश्वर की मान्यता उठा दूँगा। ईश्वर की जागृति का कोई भी मार्ग न रहने दूँगा। पञ्चभूतों के समान ही ईश्वर को परार्थ बना दूँगा। इसप्रकार निश्चय कर मेरे पिता राज्यकोश का प्रबन्ध ने दूसरों को सम्भाला और स्वयं तप करने के लिये बाहिर मन्द्राचलपर्वत पर चला गया। जब देवगणों को यह ज्ञात हुआ कि मेरा पिता तप करने के लिये राज्य छोड़कर दूर देश में चला गया है तो देव-ताओं ने दैत्यों को दण्ड देने का अच्छा अवसर जान, इन्द्र की अध्यक्षता में एक बड़ी भारी देवसेना लाकर हमारी राजधानी पर अचानक चढ़ाई करदी। देवताओं और दैत्यों का युद्ध हुआ। उस युद्ध में दैत्यों की पराजय हुई। सब दैत्य युद्धभूमि छोड़ कर भाग निकले। इन्द्र ने मेरी माता को कैद कर लिया। उससमय मैं अपनी माता के गर्भ में था। जिस समय मेरी माता को कैद कर इन्द्र लिये जा रहा था उस समय मेरी माता की दशा बड़ी करुणाजनक थी। भय और अपमान के ख़्याल से कभी कभी मूर्छित हो जाती थी। होश आने पर पागलों के समान उसकी दशा हो जाती थी। कभी आत्मघात का प्रयत्न करती तो कभी उच्चस्वर से कुररी के समान चिल्ला चिल्लाकर रोदन करने लगती। इसी अवसर पर श्रीनारदजी मार्ग में मिल गये। आर्द्रहृदय नारदजी मेरी माता की दयनीयदशा को देखकर, इन्द्र से कहने लगे कि हे इन्द्र! यह दैत्यराज की पत्नी निरपराध है, इसे कष्ट देना तुम्हें योग्य नहीं। इस परमसती स्त्री को कष्ट देने से तुम्हारा कल्याण न होगा। सती-साधु को कष्ट देकर तुम अपना ही विनाश कर बैठोगे। इस लिये जल्दी से इसे तुम मुक्त कर दो। यदि मेरी बात न मानोगे तो तुम यह समझ लो कि तुम्हें मेरे कोप का भाजन

होना पड़ेगा। श्रीनारदजी के वचनों को सुनकर इन्द्र भयभीत हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा। कि भगवन्! मैं इसे किसीप्रकार का भी कष्ट न दूँगा, यह मेरी कैद में तब तक ही रहेगी जबतक इसके बालक का जन्म न हो जायगा। बालक का जन्म हो जाने पर इसे छोड़ दूँगा। देवगण के वैरी हिरण्यकशिपु के दुर्विषह्य वीर्य को यह धारण किये हुए है, उसे हम जन्मते ही नष्ट कर देने का विचार रखते हैं। इन्द्र की बातों को सुनकर श्रीनारदजी कहने लगे कि हे देवराज! यह हिरण्यकशिपु का बालक निर्दोष है। यह ईश्वर का बड़ा भक्त होगा, भगवान् इसके रक्षक होंगे तू इसका वध कर न सकेगा। यदि तुम लोग अज्ञतावश इसका अनिष्ट करने का प्रयत्न करोगे तो तुमलोगों को ही हानि उठानी पड़ेगी। मैं तुम से अनुरोध करता हूँ कि तुम इस राजमहिषी को छोड़ दो। श्रीनारदजी के इन वचनों को मान कर इन्द्र ने उनकी परिक्रमा करके प्रणाम किया और मेरी माता को मुक्त कर स्वयं स्वर्ग को चले गये। तब मेरी माता अपनी भावीरक्षा के लिये मुनि से रोदन करती हुई प्रार्थना करने लगी।

मेरी माता की प्रार्थना को सुनकर दयार्द्रहृदय श्रीनारदजी उसे अपने आश्रम में ले गये और आश्वासन देते हुए कहने लगे कि हे पुत्रि! जबतक तेरा पति लौट कर नहीं आ जाता तबतक तू इस आश्रम में सुखपूर्वक निवास कर। यहाँ पर तेरी ओर कोई आँख उठाकर भी न देख सकेगा। मेरी माता भी मुनि के आश्रम में रहना अपने लिये हितकर समझकर वहाँ ही रहने लगी और अपने गर्भ की रक्षा के लिये भक्तिपूर्वक ऋषि की सेवा करने लगी। मुनिमहाराज भी मेरी माता के दुःख को भुलाने के लिये तथा मुझे दैवीभावों से संस्कृत करने के लिये प्रतिदिन धर्म और ज्ञान के गुह्यतत्त्वों का उपदेश किया करते थे। समय अधिक गुज़र जाने तथा स्त्रीस्वभाव के कारण मुनि के उस दिव्य उपदेश को मेरी माता तो भुला बैठी परन्तु मुझ पर मुनि की विशेष अनुग्रह है कि उनका धर्मोपदेश तथा ज्ञान मुझे अबतक बराबर याद है।

## देहात्मविवेक.

प्यारे मित्रो! यदि आपलोग मेरे वचनों पर श्रद्धा तथा विश्वास करोगे तो आपलोगों को भी देहात्मविवेकिनी बुद्धि प्राप्त होगी। जो उपदेश मैंने श्रीनारदजी से सुना था उसमें से कुछ अंश आप लोगों को सुनाता हूँ, उसे ध्यान देकर श्रवण करो।

जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और विनाश ये षड्विकार शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। यह बात ठीक है कि जिसप्रकार वृक्ष के रहने पर ही ईश्वर-मूर्ति-कालद्वारा ये छः विकार वृक्ष के फलों में दृष्टिगोचर होते हैं उसीप्रकार आत्मा के आश्रय से ही देह में कालशक्ति से षड्विकार दृष्टिगोचर होते हैं। इस लिये यह मानना पड़ता है कि शरीर विनश्वर हैं परन्तु आत्मा, नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सर्व का आश्रय, अविक्रिय, स्वप्रकाश, सर्व का कारण, व्यापक, असङ्ग, अनावृत्त है, इन्हीं बारहप्रकार के लक्षणों से आत्मस्वरूप का निश्चय करके शरीरादि में अहं-ममभाव तथा मोह का परित्याग करदो। अपरोक्ष आत्मज्ञानजिज्ञासु को चाहिए कि जिसप्रकार सुनार या न्यारिया खदान के पत्थरों में मिले हुए

सुवर्ण को युक्ति से प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार अध्यात्मयोगरूप युक्ति से शरीरादि से भिन्न ब्रह्मस्वरूप-आत्मतत्त्व को प्राप्त कर ले। मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा ये आठ प्रकृतियाँ हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चस्थूलभूत ये सोलह विकृत भाव हैं। इन चौवीसतत्त्वों में एक आत्मतत्त्व साक्षीरूप से विद्यमान है। इन चौवीस तत्त्वों के संघात्मक अपने अपने शरीरों में आत्मा की खोज करनी चाहिये। अव्यग्र हो कर शुद्धमन से सृष्टि और लय को प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का विचार कर अन्वयव्यतिरेक के शास्त्रीय प्रकार का अनुसरण और सर्वमायिक प्रपञ्च के निषेध के अवधिभूत आत्मतत्त्व का निश्चय कर संसार से मुक्त होने का यत्न करना चाहिये।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये अवस्थाएं बुद्धि के परिणाम हैं। एक ही आत्मतत्त्व इन तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है। गन्ध में अनुगतवायु के समान गुणात्मक क्रियाजन्य बुद्धि का परिणामभूत जाग्रदादि अवस्थाओं में अनुगत आत्मतत्त्व को उनसे विलग ब्रह्मस्वरुप से साक्षात्कार करें। अज्ञानमूलक बुद्धि के गुणकर्म निमित्तक यह संसार असत्य भी है तो भी पुरुष को स्वात्मज्ञान का उदय न होने से स्वप्न के समान अनुभव होता ही रहता है। इसलिये आप लोगों को चाहिये कि त्रिगुणात्मक कर्मों के वीजभूत अज्ञान को जलाने का प्रयत्न करें। जाग्रदादि बुद्धि की अवस्थाओं को अवरुद्ध करनेवाला केवल आत्मयोग ही है और इसीसे अज्ञानबीज भस्म किया जा सकता है। विना भगवत्कृपा के आत्मयोग की सिद्धि दुष्कर है। इसलिये सर्वप्रथम ईश्वरभक्ति आवश्यक है। वैसे तो आत्मज्ञान उदय होने के अनेक साधन हैं परन्तु मेरे गुरुदेव का वतलाया हुआ सर्वोत्तम साधन यह है कि जिस प्रकार के कर्म, उपासनादिद्वारा भगवान् में प्रीति पैदा हो वही आत्मज्ञान का उत्तम साधन कहा जा सकता है। ईश्वरप्रीति के जनक अन्तरंग साधन भक्तिपूर्वक गुरुशुश्रूषा, सर्व को परमात्मा का स्वरूप समझकर उपार्जित धन का यथायोग्य दान करना, साधु और ईश्वरभक्तों का सत्सङ्ग करना, सर्व कर्मों के फल को ईश्वर में अर्पण कर परमात्मा की आराधना करना, श्रद्धापूर्वक परमात्मा की कथाओं का श्रवण करना, स्वयं ईश्वर का गुणानुवाद गायन करना, भगवत्प्रतिमाओं का प्रेमपूर्वक अर्चनपूजन करना, उनके चरणारविंद का ध्यान करना, भगवान् ही एक सत्य है उनसे भिन्न नाम रूपात्मकभाव सत्याभासमात्र हैं वही परमात्मदेव सर्वभूतों में विराजमान हो रहे हैं, ऐसा मनमें निश्चय कर यथाशक्ति दानमान से सबका आदर करना। ऐसा अनुष्ठानात्मक आचार बना लेने पर आपलोग अपने आप ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर तथा मनसहित पञ्चज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करलोगे। यही सब ईश्वरप्रीतिरूप सम्पत्ति के चोर तथा डाकू हैं। इनपर विजय मिल जाने पर भगवत्प्रीति का उदय अपने आप ही हो जाता है। जब भगवत्प्रीति का सँस्कार आप लोगों में होने लगेगा तब आप लोगों को इसप्रकार की अवस्था का अनुभव हुआ करेगा।

## कृतकृत्य भक्त.

भगवत्प्रीति का हृदय में उदय होते ही परमात्मा के लीलाविग्रह से किये गये नानाविध चरित्रों को सुनकर शरीर रोमाञ्चित हो जाया करेगा। मनोमल प्रक्षा-

लिनी अश्रुधारा का आविर्भाव होगा, कभी गद्गद्कण्ठ से प्रेमोन्मत्त होकर उच्च-स्वर से गाने लगोगे तो कभी परमात्मा के विरह का अनुभव कर रुदन करने लगोगे। इसप्रकार परमात्मविषयकप्रेमधारा प्रवल होती जायगी। ऐसी दशा में आप लोग कभी कभी अपनी शारीरिक दशा को भी विस्मृत हो जाया करोगे। उस समय आप लोगों की दशा ग्रहग्रस्त पागल की-सी हो जाया करेगी। कभी आप अट्टहास करोगे तो कभी निर्लज्ज होकर नाचोगे, चिल्लाओगे, प्रिय का ध्यान करोगे शोकसूचक लम्बी लम्बी श्वासें लोगे, कभी नारायण! नारायण!! नारायण!!! नामों का उच्चारण करोगे, कभी सब को हरिरूप समझ कर उन्हें प्रणाम करोगे। हे मित्रो! जब अपने आप ही ऐसी अवस्थाओं का अनुभव आप लोगों को होने लगेगा तब समझना कि हमलोगों में स्थिररूप से भगवत्प्रेम उदय हो गया है। स्थायी भगवत्प्रेम के उदय होते ही तुमलोग सर्वप्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे। ईश्वर भावना की प्रवलता से आपलोगों का मन तथा शरीर परमात्मा के स्वरूप का अनुकरण करने लगेगा। इस से आपलोगों का अज्ञान और वासनाएं नष्ट हो जाएंगी। अज्ञान और वासनाओं के क्षय होते ही आपलोग भगवान् को प्राप्त कर लोगे। ऐ भ्राताओ! यह हरिमिलन रागद्वेषयुक्त अन्तःकरणवाले देहधारी के संसारचक्र का नाशक है। यह ब्रह्मनिर्वाण है। यही मोक्ष है। यही निरतिशयानन्द है। आत्मज्ञानियों का परमधन है। यह सब मातृकल्पा भगवद्भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये आपलोग भी भक्तिभावपूर्वक हृदयस्थ परमात्मा का भजन करो। पैतृक आसुरीय अज्ञान का त्याग कर दो।

## आत्मप्राप्ति का साधन.

ऐ असुरवालको! आकाश के समान हृदय में वर्तमान, अपने तथा सर्वप्राणियों के सखा भगवान् की उपासना करने में क्या कोई परिश्रम है? हरिसेवा छोड़कर विषयों के सम्पादन तथा सेवन से क्या कोई लाभ है? स्त्री, पुत्र, धन, पशु, घर, पृथिवी, ख़ज़ाना द्रव्यादिक तो सारे ही क्षणभङ्गुर हैं और भोक्ता की आयु को क्षीण करनेवाले हैं। फिर इन विनश्वरपदार्थों से जीव का क्या कल्याण हो सकता है? इसीप्रकार यज्ञ उपासनादि से प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी विनश्वर हैं। वे भी सातिशयादिक दोषों से दूषित हैं। दृष्ट तथा श्रुतदोषों से रहित भगवद्भक्ति ही आत्मप्राप्ति के वास्ते उत्तम साधन है। इसलिये आप सब लोग भगवान् का भजन किया करो। देखा जाता है कि कोई विद्वन्मानी पुरुष किसीविशेष प्रयोजन के लिये कोई कर्म करता है, पर उसे उसके अभिलषित ध्येय के विपरीत ही फल प्राप्त होता है। चित्त की निस्तरङ्गावस्था में सुख का आविर्भाव होता है। तरङ्गित चित्त में सुख तिरोहित हो जाता है। जीव सदा यही चाहता है कि उसके दुःखों का विनाश हो और सुख की प्राप्ति हो। पर यह कभी हो नहीं सकता कि क्रिया से, चेष्टा से, इच्छा से किसी जीव को सुख प्राप्त हो सके। सुख प्राप्त होगा तो सर्वप्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति से ही होगा निश्चेष्ट—निस्तरङ्गचित्त में जब सुख का आविर्भाव होगा तब सर्वप्रकार के दुःखों का नाश हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये आप सब को कर्म से सुख प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिये। यही पथ आप लोगों के लिये कल्याणकारी है। इस संसार में पुरुष जिस शरीर के लिये नानाविध की काम्यवस्तुओं की इच्छा करता तथा उनके सम्पादन करने में प्रयत्न

करता है, वह शरीर तो दूसरे का भोग्य तथा विनश्वर है। जब अतिसमीपी शरीर की यह दशा है तो स्त्री, पुत्र धनादि की कथा ही क्या है? स्वयं आनन्दस्वरूप इस आत्मा का तुच्छ धनादि से क्या हित हो सकता है? ऐ असुरो! विचारो तो सही कि प्राचीन कर्मों से क्लेशित हुए इस शरीरधारी जीव का गर्भवासादि अवस्थाओं में क्या निजस्वार्थ है? यह देहाभिमानी जीव आत्मानुवर्ती देहद्वारा कर्म करता है और फिर उन्हीं कर्मों से देह प्राप्त करता है। इसप्रकार इस जीव के अपने स्वरूपाज्ञान से कर्म देहात्मिक शृङ्खला का विच्छेद होने में नहीं आता। यदि देहकर्मात्मिक शृङ्खला का विच्छेद करना चाहते हो तो अपने स्वात्मभूत हरि का निष्कामभाव से भजन करो। वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आश्रय है, उसका भजन करने से ये सब अपने आप ही आ मिलते हैं। देव असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, इनमें कोई भी हरि का भजन कर सुखी हो सकता है, जिसप्रकार हम लोग हैं। द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, पाण्डित्य, दान, तप, यज्ञ, शौच, व्रत सुशीलत्वादि ही प्रसन्नता के कारण नहीं, किन्तु परमात्मा की प्रसन्नता का कारण तो निष्काम भक्ति ही है। इससे अतिरिक्त दूसरे साधन ईश्वरप्रीति के लिये निष्फल ही हैं। इसलिये अपने समान सब के दुःखसुख का ख़्याल रखते हुए, हे दानवो! परमात्मा की भक्ति करो। हे दैत्यगण! यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ शूद्र, खग, मृग, स्थावर भी भगवद्भक्ति के अवलम्बन से मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। प्यारे भाइयो! इससंसार में इतना ही पुरुष का उत्कृष्ट स्वार्थ महापुरुषों ने बतलाया है कि "एकान्त भक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्" सब में परमात्मा का ही दर्शन करते हुए परमात्मा की भक्ति करो। इसप्रकार सारे बालक प्रह्लाद के उपदेश को श्रवण कर अतिप्रसन्न हुए और उसको छाती से लगाकर सब ने कृतज्ञता प्रगट करते हुए परमात्मा की भक्ति करने की प्रतिज्ञा की। बालकों के सहित भक्तराज प्रह्लाद अपने गुरुदेव श्रीनारदजी का गुणानुवाद गायन करने लगा। भक्ति से नतमस्तक कर ध्यान में गुरुदेव के चरणों में अपना शीश रक्खा। श्रीनारदजी ने अपनी अमोघ दिव्यदृष्टि से दिव्यगुणयुक्त बीज देखा था, उस बीज को अपनी दया दृष्टि से रक्षित रख कर तथा अपने उपदेशामृत से परिपुष्ट कर वृक्षरूप में ले आए थे, वही वृक्ष अब अपने दिव्यगुणों का प्रसार कर रहा है। संसार के जीव उन गुणों से लाभ उठाकर संसारामय से मुक्त हो रहे हैं। श्रीनारदजी ने भक्तराज प्रह्लाद की रक्षा कर संसार का महान् उपकार किया है। यदि प्रह्लाद के जीवनचरित्र का अस्तित्व संसार में न होता तो श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और आस्तिक्य के स्वरूप का बहुत कम जीवों को निश्चय होता। सम्भव है ईश्वरसत्ता की मान्यता संसार से कब की उठ गई होती। ईश्वर है, इसका दानवों को भी निश्चय हो गया। यदि बिना किसी युक्ति के सर्वव्यापक ईश्वरसत्ता को सिद्ध किया है तो प्रह्लाद ने ही किया है।

## (१० तरङ्ग)

## नारदजी की न्यायप्रियता.

प्रह्लाद का दिव्यजीवन बनाने में श्रीनारदजी का ही हाथ था। प्रह्लाद की रक्षा करने में श्रीनारदजी ने अपने जातीयभावों की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। वे धर्म-

दृष्टि को ही सदा सुरक्षित रक्खा करते हैं। न्यायपथ से कभी च्युत नहीं होते। जातीयता के विचार से श्रीनारदजी देवताओं के पक्ष के हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में देव और दैत्य समान हैं। यही कारण है कि उभयपक्षों में श्रीनारदजी किसी को अप्रिय नहीं हैं। अपने इस प्रकार के आचरणों से श्रीनारदजी ने उदासीनों के प्रवृत्तिधर्म को स्पष्ट कर दिया है। एक उदासीनसाधु को चतुर्थाश्रमरूप उदासीनाश्रम के किसी भी नियम का उल्लंघन न करते हुए जनसमाज में किस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिये, ये सब व्यवहारधर्म उनके आचरणों से पता लग जाता है। आगे चलकर श्री भगवान् वेदव्यासजी ने श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के एकादश अध्याय में बलि और इन्द्र का युद्ध वर्णन किया है। देवताओं और दैत्यों का यह जातीय युद्ध था। इस युद्ध में उभयपक्ष के बड़े बड़े बली योद्धा काम आए। सब से अधिक दैत्यों को क्षति हुई। दैत्यराज बलि इन्द्र के साथ युद्ध करता हुआ घायल होकर रणभूमि में मूर्छित हो गया। इसके बाद देवराज इन्द्र ने कितने ही दैत्ययोद्धाओं का वध कर डाला। इन्द्र के द्वारा नमुचि का वध हो जाने पर दैत्यसेना अनाथ हो गई। दैत्यगण इधर उधर भागने लगे। दैत्यगण को घेर घेर कर देवगण विनाश करने लगे। श्रीनारदजी से दैत्यों की यह दयनीय दशा देखी न गई। उसी समय देवर्षि श्रीनारदजी ने युद्धभूमि में आकर देवताओं को उस निर्दय कार्य से रोक दिया। दैत्यगण अपने प्राण बचाकर अपने लोक को चले गये। एवं देवगण भी स्वर्गलोक को चले गये। युद्ध में काम आए दैत्यों को शुक्राचार्यजी ने सञ्जीविनीविद्या के प्रभाव से जीवित कर लिया और बलि भी उन्हीं की कृपा से राज़ी हो गया। इस प्रकार से दैत्यों की रक्षा हो गई। यदि श्रीनारदजी इस युद्ध के समय में अपने विश्वव्यापकप्रेम का परिचय न देते और अपने जातीयहित को सामने रखते तो दैत्यों की रक्षा असम्भव थी। दैत्यों की रक्षा का श्रेय श्रीनारदजी को ही है। यह है नारदजी की साधुता का एक उज्ज्वल निदर्शन, जो उनके महत्त्व को सूचित कर रहा है। क्या ऐसी दशा में नारदजी कभी कलहप्रिय कहे जा सकते हैं। जिसप्रकार देवताओं को अन्याय और अत्याचार से रोकने का प्रयत्न नारदजी किया करते थे उसीप्रकार दैत्यों को भी सन्मार्ग में चलने का उपदेश दिया करते थे, परन्तु दैत्यगण राजसप्रकृति के थे, इनलोगों में उनका उपदेश सफल नहीं होता था, इसीवास्ते दैत्यों के दर्पदलन के वास्ते कभी कभी आप भी देवताओं की सहायता में प्रवृत्त हो जाते थे।

## दानवों को सावधान करने का यत्न.

मत्स्यपुराण के १३४ वें अध्याय में श्रीव्यासजी लिखते हैं कि एकसमय देव और दानवों का बड़ा भयानक युद्ध हुआ। दानवों ने देवताओं को पराजित किया। दानवलोग देवताओं को ढूँढ-ढूँढ कर मारने तथा कष्टदेने लगे। शंकरजी ने देवताओं की इस विपत्ति और दानवों के अन्याय को देखकर दानवोंके वध करने का विचार किया। जब नारदजी को यह पता लगा कि श्रीशंकरजी स्वयं दानवों का वध करना चाहते हैं तो दयालुमुनि का हृदय दया से द्रवीभूत हो गया। दानवों का किसी प्रकार का अनिष्ट न हो इसविचार से उन्हें समझाने के लिये आप स्वयं उनके नगर त्रिपुर में चले गये। त्रिपुर में नारदजी के पहुँचने पर दानवों ने मुनि का बड़ा आदरसत्कार किया। कुशलप्रश्न के अनन्तर परस्पर वार्तालाप प्रा-

रम्भ हुई तो मय-नामक दानव ने हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक प्रणामकर मुनि से पूछा कि हे मुने! हमारे नगर की देवप्रतिमाओं से प्रस्वेद निकलता रहता है, उल्कापात हो रहे हैं, रासभ, घोड़े, इत्यादिक असमय में बोल रहे हैं, शृगाली दिन में ही बोलती हुई सुनी जाती है। नगर में दिन में ही तारे दीखने लगते हैं। विना वायु के ही नगर के झण्डे वारम्वार अपने आप ही टूटटूट कर गिर पड़ते हैं। नगर में समयसमय पर लोहूमिश्रित जल की वृष्टि होती है। भगवन्! बहुत क्या कहें प्रतिदिन हमलोगों के तथा नगर के विनाश के सूचक अपशकुन देखने में आते हैं। इससे हमलोग सदा चिन्ता से व्याकुल रहते हैं। भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं, आन्तर तथा बाह्यजगत के परिवर्तनों को जाननेवाले हैं। इस प्रकृतिराज्य की कोई भी ऐसी बात नहीं जिसे आप न जानते हों। सब बातें आपको हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हैं। कृपा करके बतलाइये, इन अपशकुनों का कारण क्या है? आप समदर्शी हैं। इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि आप हमारे हित की कोई बात छिपा न रक्खेंगे। मय की बात सुनकर देवर्षिनारद कहने लगे कि हे दानवो! मेरी बात को हृदयद्वार को खुलाकरके सुनो! तुमलोगों ने बल-पराक्रम और ऐश्वर्यमद से उन्मत्त होकर धर्मपथ का उल्लंघन किया है। यही कारण है कि तुमलोगों को तुम्हारे विनाश की सूचनाएं पहले से मिल रही हैं। अब भी समय है अपने धर्मध्वंसक विनाशकारी और अन्यायपूर्ण कृत्यों को छोड़ दो। पिछले कुकृत्यों के लिये पश्चाताप करो। वेदशास्त्रप्रतिपादित धर्मपथ का अनुसरण करो। तब भावी दुःखों से तुम्हारा निस्तार हो सकता है। निश्चय जानो कि अब आपलोगों का विनाशकाल बहुत-समीप आ गया है। पापघट पूर्ण भर गया है। वह अब फूटना ही चाहता है। यह अपशकुन यही बतला रहे हैं। यदि अपना हित चाहते हो तो धर्म का आश्रय लो। धर्म का क्या महत्त्व है, इसे समझो और विचारो।

शृणुदानव तत्त्वेन भवन्त्यौत्पातिका यथा। धर्मेति धारणेधातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते। धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते।१७। स इष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते। इतरश्चानिष्टफल आचार्य्यैर्नोपदिश्यते॥ १८॥

मय को सम्बोधितकर मुनिजी ने कहा हे मय-दानव! तुम्हारे नगर में प्रतिदिन औत्पातिक अपशकुन होने का वास्तविक कारण यह है कि तुमलोग धर्म के स्वरूप को भूले हुए हो और अधर्म में प्रवृत्त हो रहे हो। यही तुम्हारे अनिष्ट का कारण है। देखो, हम तुम को धर्मशब्द की निरुक्ति बतलाते हैं, उसको ध्यानपूर्वक श्रवण करो। धृञ्, धातु का अर्थ धारण और महात्म्य है "धरतीतिधर्मः" अर्थात् संसार को धारण करनेवाले, पोषण करनेवाले तथा उसका महत्त्व बढ़ानेवाले का नाम धर्म है। तात्पर्य यही है कि जिसके निमित्त से स्थिति की अवधि और महत्त्व बढ़े, वही धर्म है। आचार्यगण इष्ट के प्रापक को ही धर्म कहते हैं। इससे सर्व विपरीतकर्म अनिष्ट के प्राप्त करानेवाले हैं। यही कारण है कि आचार्यलोग उनका कभी उपदेश नहीं करते। तुमलोग भी धर्मपथ के पथिक

वनो, उसीसे तुम्हारा कल्याण होगा। यदि अपने चिर अभ्यस्त कुपथ को न छोड़ोगे तो निश्चय जानो कि तुमलोगों का नाश करने के लिये स्वयं भगवान् शंकर आ रहे हैं। उनकी क्रोधाग्नि में पतङ्गों के समान सब भस्म हो जाओगे। परमात्मा तुमलोगों को सद्बुद्धि दे, न्याय तथा धर्म की प्रीति तुम्हारे हृदय में पैदा हो जाय, यही हमारी हार्दिक इच्छा है। और यही एकमात्र तुम्हारी रक्षा का उपाय है। इतना कहकर श्रीनारदजी हरिगुणगान करते हुए चले गये। श्रीशंकरजी के चढ़ाई करने का समाचार सुनकर शोक तो अवश्य हुआ, परन्तु दैत्यों पर नारदजी के उपदेश का अधिक प्रभाव नहीं हुआ। वे लोग अपने पूर्वमार्ग का ही अनुसरण करते रहे। कुछ दिनों के वाद देव और दानवों का युद्ध प्रारम्भ हो गया। देवसेना के प्रधानसेनानायक भगवान्शंकर थे। देवदानवों का युद्ध बहुत दिनों तक होता रहा। अन्त में भगवान्शंकर ने क्रोध में आकर एक ही वाण से दानवोंसहित त्रिपुर को भस्मसात् कर दिया। देवताओं की विजय हुई।

## वाणासुर को दण्ड.

इस कथा से यह पता चलता है कि श्रीनारदजी सबके हितचिन्तक थे। उनके वास्ते देवदानव और मानव सब समान थे। परन्तु हरएक पक्ष के लोग अपने अपने स्वभानुसार ही उनके उपदेश का अनुसरण करते थे। वलि और इन्द्र के युद्ध के समय में नारदजी ने देवताओं को युद्ध वन्द करने को कहा तब नारदजी की आज्ञा के सामने उनलोगों ने नतशिर होकर युद्ध वन्द कर दिया। परन्तु जब उन्होंने मयादि दानवों को धर्म पर चलने की आज्ञा दी तब उन्होंने नारदजी के उपदेश को सुना अनसुना कर दिया। देवताओं की इस सुशीलता को देखकर ही कभी कभी नारदजी उनकी प्रत्यक्षरूप से सहायता किया करते थे। ऐसा वे इसलिये नहीं करते थे कि उनको देवताओं का पक्ष था किन्तु वे तो धर्म और धर्मात्मा लोगों की रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इसी भाव की एक कथा, जो नारदजी से सम्बन्ध रखती है, श्रीव्यासजी ने स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्डान्तर्गत तृतीयरेवाखण्ड के २६ वें अध्याय में लिखी है। जो इसप्रकार है कि एक समय वाणासुर देवताओं को बहुत तंग करने लगा। सब देवगण मिल कर ब्रह्माजी के पास गये और उनसे वाणासुर के उत्पात से रक्षा करने की प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने कुछ सोच विचार कर उन सब को शंकरजी के पास भेज दिया। आशुतोष ने उनकी करुणाजनक दशा को देखकर उनको आश्वासन दिया। और कहने लगे कि आप सब जाओ, हम आपके दुःखों के दूर करने का कोई न कोई उपाय अवश्य करेंगे।

तत्पश्चात् शंकरजी ने सब के सुहृद् परोपकारी नारदजी को स्मरण किया। शंकरजी के स्मरण करते ही नारदजी वहाँ पर आ उपस्थित हुए। भगवान् शिवजी को प्रणाम कर नारदजी कहने लगे भगवन्! आपने इस दास को कैसे याद किया? शिवजी बोले—इस समय देवताओं पर बड़ी विपत्ति है। वाणासुर अपने पराक्रम के मद में अन्धा हो कर उन्हें बहुत कष्ट दे रहा है। आप उनकी विपत्ति दूर करने में सहायता कीजिये। वाणासुर को उसकी राणियों के पतिव्रतधर्म का बल है। इस लिये आप उसके पास जा कर उसकी राणियों के चित्त को उनके पति से विचलित

कर दें। इस कार्य के करने में आप ही समर्थ हैं। हे मुने! आप धर्माधर्म के विवेक को स्वयं जानते ही हैं अतः इस विषय में आपसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। शंकरजी के वचनों को सुनकर नारदजी वाणासुर से मिलने के लिये चले गये। वाणासुर के दरवार में पहुँचे तो उसने वड़ी श्रद्धा से नारदजी का सत्कार किया; और दण्डवत् प्रणाम कर एक उच्च आसन पर बैठाया। परस्पर कुशलप्रश्न के अनन्तर नारजी ने वाण से अन्तःपुर में जाकर उसकी पतिव्रता राणी का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। वाण ने कुछ भृत्य साथ देकर नारदजी को अन्तःपुर में भेज दिया। वाण की पटरानी नारदजी के दर्शन कर वड़ी प्रसन्न हुई। पाद्यअर्घादि तथा परिक्रमा करके मुनिजी को प्रणाम किया और उत्तम पवित्र आसन पर विराजमान करा दिया। राणी ने मुनि से वहुत प्रकार के धर्मों का रहस्य पूछा, नारदजी राणी की वुद्धिमत्ता और सुशीलता को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि राजमहिषी! तू हम से कोई वर मांग। राणी ने कहा भगवन्! आपकी मुझ पर कृपा है तो मुझे यही वर दीजिये कि कर्माधीन हो कर जव भी इस संसार में जन्म लेना पड़े तव ही मेरा पति वाणासुर ही हो। यही वर मैं आप से चाहती हूँ। नारदजी ने कहा ऐसा ही होगा। राणी को आशीर्वाद दे कर चलने लगे तो उन्हें देवकार्य की स्मृति हो आई। तव नारदजी ने ऐसे प्रभावोत्पादकशब्दों में राणी के सामने वाणासुर के धर्मविरुद्ध कृत्यों का चित्र खेंचा कि वह सुनकर चकित रह गई। उसी समय राणी का मन पति की ओर से विचलित हो गया। शंकरजी के पास पहुँच कर आपने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसी समय शंकरजी ने एक वाण अभिमन्त्रित कर वाणासुर के राज्य में चला दिया, जिस से वाणासुर का सारा राज्य नष्टभ्रष्ट हो गया। उस वाणाग्नि से जव वाणासुर जलने लगा तव वह अपने शिर पर शङ्करलिङ्ग धारण कर उनकी शरण में आया। भूतभावन भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो कर उसे अभय प्रदान किया। इसप्रकार वाणासुरमानमर्दन में नारदजी ने भगवान् शङ्कर का स्वयं साथ दिया है।

## वाणासुर की राणी को उपदेश.

वाणासुर की राणी धर्माचारिणी और तपस्विनी स्त्री थी। पतिव्रता होने के कारण उसका पति वाणासुर उसके तप से अयोग्यलाभ उठा रहा था और उसके तपःप्रभाव का प्रयोग धर्म तथा देवताओं को हानि पहुँचाने में कर रहा था। राणी का धर्मप्रेम इसी से प्रकट होता है कि नारदजी के जाने पर उसने धर्मविषयक प्रश्न करके अपनी प्रवल धर्मजिज्ञासा का परिचय दिया। जिस पर नारदजी उसका धर्मप्रेम देखकर इतने प्रसन्न हुए कि शंकरजी की आज्ञा भूलकर उसे वर माँगने के लिये कहने लग गये। राणी को तप में लगे रहने के कारण वाणासुर की धर्मविरुद्ध कार्रवाइयों का पता ही न था। वह उसे धर्मात्मा ही समझती थी। इसीवास्ते उसने नारदजी से यही वर माँगा कि उसका जव भी संसार में जन्म हो तव वाणासुर ही पति मिले। पर जव नारदजी से राणी को वाणासुर की धर्मविरुद्ध कार्रवाईयों का पता लगा तो वाणासुर की ओर से उसका दिल खट्टा हो गया। इसके वाद वाणासुर राणी की तपश्चर्या से अयोग लाभ नहीं उठा सका। इस कथा से जहाँ पत्नी के धर्म का प्रभाव और नारदजी के उपदेश का अचूक असर सिद्ध

होता है वहाँ यह भी प्रकट होता है कि नारदजी दैत्यों का विरोध उसी अवस्था में करते थे जिस में उनकी धर्मविरुद्ध कार्यवाहियाँ असह्य हो जाती थीं। वाणासुर के अत्याचार सीमा का उल्लंघन कर चुके थे। इसका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि स्वयं भगवान् शंकर को उसके अत्याचार रोकने की चिन्ता करनी पड़ी और उन्हीं ने ही नारदजी को वाणासुर की पत्नी का मन वाणासुर की ओर से खट्टा करने के लिये भेजा। अन्यथा नारदजी के जीवन से यह वात स्फुट होती है कि उन्हें किसी विशेष व्यक्ति अथवा जाति के साथ कोई द्वेष न था। वे सब को एकदृष्टि से देखते थे। यदि उन्हें कभी किसी का विरोध करना पड़ा है तो केवल धर्मरक्षा के लिये ही करना पड़ा है। यही कारण है कि देव, दानव और मनुष्य सदैव उन्हें अपना हितचिन्तक जानकर उनके लिये पूर्ण श्रद्धाभक्ति प्रकट करते रहे हैं। जिस प्रकार नारदजी को दैत्यों से कोई द्वेष न था वैसे ही आपको देवताओं का कोई पक्ष न था। यह निम्नलिखित कथा से स्फुट होता है।

## नारदजी की गुणग्राहकता.

स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड के अन्तर्गत केदारखण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीवेदव्यासजी लिखते हैं कि एक समय विश्वरूप नामक ब्राह्मण ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ में उस ब्राह्मण ने दैत्यों की उन्नति के लिये भी वलिप्रदान किया। ब्राह्मण के इस व्यवहार से क्रुद्ध हो कर इन्द्र ने उसका वध कर डाला। ब्रह्महत्या के निमित्त से इन्द्र क्षीणपुण्य हो गया। वह इन्द्रपद से च्युत हो जाने पर कहीं जल में छिपकर दिन व्यतीत करने लगा। इधर राजा से शून्य स्वर्ग को देख कर देवताओं को चिन्ता हुई। राजा से विहीन प्रजा नष्ट हो जाया करती है, ऐसा सोचकर स्वर्ग का राजा चुनने के लिये उन लोगों ने देवताओं की एक महती सभा का आयोजन किया। किस को स्वर्ग का राजा वनाया जाय? इस विषय पर सब से सम्मति माँगी गई। नारदजी ने महाराज नहुष को राज्यगद्दी देने का प्रस्ताव उपस्थित किया। उनका यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। और महाराज नहुष स्वर्ग के राजा वना दिये गये। किसी आजान देव को छोड़कर मानव देव नहुष को स्वर्ग का राजा बनाना यह देवताओं का एक प्रकार से अपमान था। परन्तु श्रीनारदजी ने अपनी गुणग्राहकता का परिचय देकर नहुष को ही राजा वनाया। नारदजी का यह कार्य उनके निष्पक्षभाव को सूचित कर रहा है।

नारदमुनि सर्व के हितचिन्तक हैं। सर्व का हित साधन करना यही उनका मुख्यलक्ष्य है। आप रावण कुम्भकर्णादि को भी हरप्रकार से समझाने का प्रयत्न किया करते थे। परन्तु वे लोग तामसप्रकृतिवशात् उनके उपदेश को ग्रहण न कर सके। इससे उनका विनाश हुआ। स्त्रीजाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये आप स्वयं श्रीनारायणजी से अनेकविध के उपाय पूछते हैं और उनका संसार में प्रचार करते हैं। लोगों के कष्ट निवारण के लिये ही आपने श्रीनारायणजी से गायत्री आदि मन्त्रों के अनुष्ठान की विधियाँ जानकर संसार में प्रसिद्ध कीं। इन सब कथाओं का विस्तार से वर्णन आध्यात्मरामायण और देवीभागवत में किया गया है। अवतारलीलाओं में तो ये एक प्रधान पात्र का काम करते रहे हैं। एक समय, श्री सीताजी के रावणद्वारा हरण होजाने पर जब भगवान् राम एक विरही मनुष्य की दशा का

अपने चरित्र से दिग्दर्शन करा रहे थे तो उस समय आप इष्ट का ख़्याल छोड़ कर उन्हें उपदेश देते हैं। उनका यह विनोदमय चरित्र भी देवीभागवत में लिखा है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और भगवान् कृष्ण को वैष्णव लोक में चलने के लिये आप ही आकर प्रेरित करते हैं। सरस्वती के तट पर उदासीन हो कर बैठे हुए श्री वेदव्यास को उपदेश देकर उनके चित्त की खिन्नता को दूर कर भागवतादि ग्रन्थों की रचना करने की प्रेरणा करते हैं। इन सब बातों का वर्णन पुराणों में मिलता है।

## (११ तरङ्ग)

## मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा.

वैसे तो श्रीनारदजी की परहितचिन्ता पुराणेतिहास प्रसिद्ध ही है परन्तु संसारीजीवों के उद्धार के लिये वैदिकपञ्चदेवप्रतिमास्थापन और तीर्थयात्राप्रचार का जो कार्य नारदजी ने किया है, वह उनके महत्त्व को अद्वितीय सिद्ध कर रहा है।

### मूर्तिस्थापन.

श्री व्यासजी स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डान्तर्गत कौमारिकाखण्ड के ४२ वें अध्याय में लिखते हैं। एक समय अर्जुन के पूछने पर नारदमुनि अपने चरित्रों को सुनाने लगे। आपने कहा—हे अर्जुन! मैं एक समय भ्रमण करता हुआ नैमिषारण्य तीर्थ में पहुँच गया। वहाँ पर सवजगह फिरा और भगवान् विष्णु के स्थान की खोज की, परन्तु कहीं पर भी विष्णुमन्दिर का पता न लगा। इस से मेरे चित्त में बड़ी ग्लानि पैदा हुई। मैंने सोचा।

**यत्र नैव हरिः स्वामी तीर्थे गेहेऽथ मानसे।**
**शास्त्रे वा तद्सत्सर्वं हांसं तीर्थं न वायसम्॥३॥**

यह तीर्थ ही कैसा जहाँ पर भगवान् का पूजन नहीं। अर्जुन! वह तीर्थ, वह गृह, वह मन और वह शास्त्र निष्फल है जहाँ पर भगवान् का निवास न हो और उनका गुणानुवाद न किया जाता हो। मैंने कहा यह तीर्थ अपूर्ण है और केवल नाममात्र के लिये संसार में तीर्थ प्रसिद्ध है, मैं भगवान् की प्रतिमा का यहाँ पर स्थापन कर इसकी त्रुटि को दूर कर दूँगा। हे धनञ्जय! मैं वहाँ ही भगवान् के अष्टादशाक्षर मन्त्र का जाप करते हुए तप करने लग गया। इसप्रकार तप करते सौ वर्ष गुज़र जाने पर गरुडस्थ भगवान् विष्णु के दर्शन हुए। मुझपर प्रसन्न होकर भक्तवत्सल पतितपावन भगवान् ने कहा-वत्स! मैं तुम्हारे इस तप से बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। तुम अपनी इच्छानुसार वर माँगो। भगवान् के इन कृपामृतपूर्ण शब्दों को सुनकर मैं उनके चरणोंपर गिर पड़ा और विनयपूर्वक कहा—भगवन्! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो प्रथम श्वेतद्वीप में आपके जिस स्वरूप का मैंने दर्शन किया था उसस्वरूपयुक्त शक्ति की एक कला को यहाँ स्थापन कीजिये।

यही मेरी अभिलाषा है। मेरी इस प्रार्थना को सुनकर भगवान् ने तथास्तु कहा और वहीं अन्तर्हित हो गये। तत्पश्चात् मैंने श्वेतद्वीपनिवासी भगवान् विष्णु की मूर्ति की स्थापना नैमिषारण्य में की। हे परंतप! जो प्राणी मेरी स्थापन की हुई उस प्रतिमा का कार्तिक सुदी एकादशी के दिन विधिवत् पूजन करता है वह ब्रह्महत्या जैसे महापातकों से मुक्त हो जाता है और मरने पर उसका विकुण्ठ में वास होता है।

## सूर्यप्रतिमा.

आगे चलकर (स्कन्दपु० मा० कौ० खण्ड के ४३ वें अध्याय में) नारदजी अर्जुन से कहते हैं कि—

ततोहं पार्थ भूयोऽपि जनानुग्रह काम्यया।
प्रत्यक्षदेवं मार्तण्ड मत्रानेतु मियेषह ॥१॥

हे पार्थ! इसके बाद मैंने लोकोपकार की इच्छा से प्रत्यक्षदेव भगवान् सूर्यनारायण को इस क्षेत्र में ले आने की इच्छा की। भगवान् आदित्य की अपरम्पार महिमा है।

नमस्कारादिसंयुक्तं रविरित्यक्षरद्वयम्।
जिह्वाग्रेवर्तते यस्य सफलं तस्य जीवितम् ॥७॥

भगवान् आदित्य के, नमस्कार से संयुक्त 'रवि' यह दो अक्षर जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में निवास करते हैं, उसीका जीवन सफल है। हे किरीटी! यही सब बातें सोचसमझ कर मैंने केवल वायुमात्र का आहार कर भगवान्आदित्य के लिये सौ वर्ष तक तप किया। सौ वर्ष पूरे हो जाने के बाद जब भगवान्सूर्यनारायण का साक्षात् हुआ तो उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—वत्स! वर माँग। उनकी इस आज्ञा के उत्तर में मैंने कहा—देवेश! राजवर्धन-नामक राजा ने तथा अन्य पूर्वकालीन महापुरुषों ने आपकी जिस पतितपावनी शक्ति की आराधना की थी, उसी शक्ति की एक कला को इस क्षेत्र में स्थापन कीजिये। मेरी इस प्रार्थना पर सूर्यनारायण 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। इसके पश्चात् मैंने वहाँ महादित्य-नामक सूर्यप्रतिमा की स्थापना की। अष्टोत्तरशत नामों से भगवान् आदित्य का स्तवन किया। मेरे स्तवन को सुनकर सूर्यनारायण ने कहा कि जो लोग छष्ठी अथवा सप्तमी की तिथियों में यहाँ पर मेरी प्रतिमा का अर्चन करेंगे और शुद्धमन से इस स्तोत्र से मेरा स्तवन करेंगे, उन लोगों की सर्व प्रकार की अभिलाषाएं पूर्ण होंगी।

## शक्तिप्रतिमा.

श्रीव्यासजी (स्कं० पु० माहे० कौ० अ० ४७ में) लिखते हैं कि अर्जुन से श्रीनारदजी कहने लगे कि पार्थ! भगवान् सूर्यनारायण की प्रतिमा स्थापन हो जाने के बाद मैंने अपने मन में विचार किया कि यहाँ पर शक्ति की स्थापना भी अवश्य होनी चाहिये। क्योंकि

"ये च शक्तिं न मन्यन्ते तिरस्कुर्वन्ति चाधमाः।
योगीन्द्रा अपि ते व्यक्तं भ्रश्यन्ते काशिजा यथा ॥६॥
वाराणस्यां किल पुरा सिद्धयोगीश्वराः पुनः।
अवमन्य च ते शक्तिं पुनर्भ्रंशमुपागताः ॥७॥

जो अधमलोग शक्ति को नहीं मानते और अज्ञानवश उसका तिरस्कार करते हैं। काशी में जन्म लेने वाले योगियों के समान वे योगभ्रष्ट हो जाते हैं। चाहे वे आरूढ योगीराज ही क्यों न हों। सुना जाता है कि वाराणसी में पहिले कुछ ऐसे सिद्धयोगी रहते थे जो शक्ति को नहीं मानते थे। उनलोगों ने एक समय जगज्जननी महाशक्ति का अपमान किया। इस महापातक का फल यह हुआ कि वे लोग अपनी अनुत्तम योगनिष्ठा से च्युत होकर संसारप्रवाह में बह गये। ऐसी ही अनेक घटनाओं को देखकर मैंने प्रथम इस क्षेत्र की चारों दिशाओं में चार महाशक्तियों के स्थान स्थापन कराए। पूर्वदिशा में सिद्धाम्बिकादेवी का स्थान निर्मित हुआ। दक्षिणदिशा में तारादेवी का, पश्चिमदिशा में भास्करशुभादेवी का और उत्तरदिशा में योगनन्दिनी-नामकदेवी का स्थान बनाया गया। इन महाशक्तियों के स्थानों के अतिरिक्त नौ और महाशक्तियों के स्थान वहाँ निर्माण कराए। ऐ अर्जुन! त्रिपुरा, कोलम्बा, कपालेशी, एकवीरा, हरसिद्धिः, चण्डिका, सुवर्णाक्षी, महादुर्गा और त्रैलोक्यविजया, ये उनके नाम हैं।

हे पाण्डुपुत्र! जो कोई इन महाशक्तियों का ध्यान करेगा और श्रद्धाभक्तिपूर्वक इनका अर्चनवन्दन करेगा उसकी सर्वकामनाएं पूर्ण होंगी, ऐसा मैंने उन देवस्थानों को वरदान भी दिया।

## तीर्थयात्रा के लिये प्रोत्साहन.

हे अर्जुन! उस नैमिषारण्यक्षेत्र में मैंने एक सर भी अपने हाथ से बनाया है। उस सर का माहात्म्य अलौकिक है। उसका माहात्म्य देवताओं को भी मिलना दुर्लभ है। उस तालाब के खोदने में मुझे परिश्रम भी बहुत करना पड़ा और समय भी अधिक व्यय हुआ था। मैं दर्भांकुर की शलाका से प्रथम मृत्तिका खोदता, पश्चात् उस मट्टी को ताम्रपात्र में भरकर बाहर डाला करता था। मैं स्वयं अकेला ही इस कार्य को किया करता था। इसप्रकार से जब वह तालाब तैयार हो गया तब मैंने पृथिवीभर के तीर्थों का जल ला कर उसमें डाला और फिर उसे जल से पूर्ण कर दिया।

हे पार्थ! जो लोग श्रद्धापूर्वक उस तालाब में स्नान कर ब्राह्मणों को दान तथा पितरों का तर्पण करते हैं उनके इस पुण्यकृत्य से अनन्तकाल तक उनके पितृगण तृप्त रहते हैं। हे अर्जुन! वह सर नारदीयसर नाम से प्रसिद्ध है। उसी सर के किनारे पर एक मन्दिर बना हुआ है जिसमें मेरी प्रतिमा स्थापित है। मेरी उस प्रतिमा का दर्शन भी लोगों के कल्याण का साधक है।

लोगों को तीर्थों की यात्रा करने का प्रोत्साहन श्रीनारदजी स्वयं अपने आचार से दिया करते थे। स्कन्दपुराण के द्वितीयवैष्णवखण्ड के अन्तर्गत पुरुषोत्तममा-

हात्म्य में व्यासजी लिखते हैं कि एक समय जैमिनिऋषि महर्षियों को नारदमुनि का चरित्र सुनाते हुए कहते हैं कि-किसी समय नारदजी महाराज इन्द्रद्युम्न के पास गये। महाराज ने मुनि का अनेक प्रकार से आदरसत्कार किया। आतिथ्यसत्कारकृत्य पूर्ण हो जाने के बाद जब सबलोग स्वस्थचित्त हो कर बैठ गये तब राजा ने विनयपूर्वक मुनि से अपने कल्याण का साधन पूछा। राजा के अभिप्राय को जानकर नारदजी ने विष्णुभक्ति की उत्कर्षता वर्णन करते हुए कहा—

नराणां भ्रमतां विष्णुभक्ति रेका सुखप्रदा।
निरालम्बे द्वन्द्ववात प्रोद्यतेऽस्मिन् सुदुस्तरे ॥७८॥
निमग्नानां भवाम्बोधौ विष्णुभक्तिस्तरिः स्मृता।
आश्रित्यैकां भगवतीं विष्णुभक्तिं तु मातरम्॥ "७९
सन्तः सन्तुष्ट मनसो न तु शोचन्ति जातुचित्॥

कर्मवश इस संसार में भ्रमण करनेवाले जीवों को केवल एक विष्णुभक्ति ही सुखप्रदा है। आलम्बनविहीन, द्वन्द्वरूप अन्धेरियों से तरङ्गित इस संसारसमुद्र में डूबनेवाले जीवों के उद्धार के लिये विष्णुभक्ति ही एक नौका है। इसप्रकार भक्ति की महिमा सुनकर महाराज ने भक्ति का लक्षण पूछा तो उसके उत्तर में मुनि ने कहा—

"कामक्रोधाभिभूतानां दृष्ट्वायान् यं न पश्यताम्।
लब्धये चाभिचाराय भक्तिः स्यान्नृप तामसी॥८३॥
यशसे चातिरिक्ताय परस्य स्पर्द्धयापि वा।
प्रसङ्गात्परलोकाय भक्तिः सा राजसी स्मृता॥८४॥
आमुष्मिकं स्थिरतरं दृष्ट्वाभावान् विनश्वरान्।
पश्यताश्रमवर्णोक्तान् धर्मान् नैव जिहासता॥८५॥
आत्मज्ञानाय या भक्तिः क्रियते सातु सात्त्विकी।
जगच्छेदे जगन्नाथो नान्यच्चापि च कारणम्॥ ८६॥
अहं च न नतो भिन्नो मत्तोऽसौ न पृथक्स्थितः।
हीनं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षेण भावनम्॥८७॥
दुर्लभा भक्तिरेषाहि मुक्तयेऽद्वैत संज्ञिता॥"

हे राजन्! परमात्मा को न जाननेवाले कामक्रोधाभिभूत जीवों को अधीन करने अथवा उनके मारने के वास्ते जो भक्ति की जाती है वह तामसीभक्ति कही गई है। यश के लिये, दूसरे से अपना उत्कर्ष सिद्ध करने के लिये, परलोकप्राप्ति के लिये अथवा किसी अन्य निमित्तवश जो भक्ति की जाती है वह भक्ति राजसी कहलाती है। परलोक को, अविनाशी और इस संसार के पदार्थों को विनाशी देखनेवाले और आश्रम तथा वर्ण के विहितधर्मों को न त्यागनेवाले लोग आत्मा ज्ञान के वास्ते जो भक्ति करते हैं वह भक्ति सात्त्विकी है। जीव के संसाररूप-बंधन के काटने में केवल भगवान् भजन ही समर्थ है, दूसरा कोई साधन नहीं। "मैं उससे भिन्न नहीं और वह मुझसे भिन्न नहीं। वह बाह्य-उपाधियों से रहित है।" शुद्धमन से सदा ऐसी भावना दृढ करते रहना ही सात्त्विकी भक्ति है। यही अद्वैत नामवाली भक्ति मुक्ति के लिये उत्कृष्ट है। संसार में इसप्रकार की भक्ति अतिदुर्लभ है। हे राजन्! जिसप्रकार से भी हो, तुम भी इसी भक्ति के लिये यत्न करो। मुनि के वचन सुन कर राजा ने कहा—

" येन साक्षात्कृतो विष्णुः परमात्मा परात्परः।
स त्वं मन्मन्दिरायात स्त्वदन्यः साधु स्त्वकः॥ "

जिन्हों ने परात्पर परमात्मा भगवान् विष्णु के दर्शन किये हैं, वेही मुनिमहाराज मुझे कृतकृत्य करने के लिये मेरे गृह में आकर दर्शन दे रहे हैं। आपकी इस परोपकारपूर्ण दयालुता को देखकर मैं यही समझता हूँ कि आप से बढ़कर इस संसार में कौन श्रेष्ठ साधु हो सकता है।

महाराज इन्द्रद्युम्न ने मुनि से प्रार्थना की—भगवन्! तीर्थदर्शन की उत्कट अभिलाषा है। यदि आप मेरी इस अभिलाषा को पूर्ण करदें तो आपकी मुझ पर बड़ी अनुग्रह होगी। मुनि ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और दोनों ही रथ पर स्वार होकर तीर्थाटन के वास्ते चलदिये। नारदजी ने राजा को अनेक तीर्थों के दर्शन कराए। भ्रमण करते हुए एकदिन एकाम्रवन में पहुँचे। वहाँ पर कोटिलिङ्गेश के दर्शन किये और वहाँ ही नारदजी की कृपा से भूतभावन भगवान् त्र्यम्बक के दर्शन हुए। इसके पश्चात् नारदजी ने राजा से कहा कि तुम वन में आगे जाकर नीलकण्ठ के दर्शन कर आओ। हम कुछदिन यहाँ पर ही निवास करेंगे।

महाराज इन्द्रद्युम्न नीलकण्ठ की यात्रा करके लौट आए तो फिर तेजस्वी भगवान् नरसिंहजी तथा गणपतिजी के दर्शन किये। पश्चात् यात्रा समाप्त कर दोनों ही राजधानी में आ गये। राजा के यहाँ कुछ दिन और निवास करके नारदजी ब्रह्मलोक को चले गये। तीर्थ और प्रतिमापूजन के प्रचार की अनेकों ही कथाएं पुराणों में लिखी हैं। विस्तार भय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। मूर्तिपूजन के प्रचारकों में से प्रधानप्रचारक श्रीनारदजी ही मिलते हैं। मूर्तिपूजा में ऐसा कौनसा विशेष महत्त्व है कि श्रीनारदजी जैसा भक्तशिरोमणि तत्त्वज्ञानी महापुरुष भी इसका प्रचार करते रहे? इस विषय में श्रीसनत्कुमारजी के चरित्र में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, इसलिये दोबारा लिखना पिष्टपेषण के समान अनावश्य है। तो भी उपासक लोगों के हित के लिये पञ्चदेवों के स्वरुपों के रहस्य के विषय में यहाँ भी चार अक्षर लिख देना उचित प्रतीत होता है।

# ( १२ तरङ्ग )

## पञ्चदेवोपासना.

यह सर्व मुनिजन सम्मत सिद्धान्त है कि यह स्थूल ब्रह्माण्ड भाव का ही विकासमात्र है। उनका कथन है कि प्रलय के बाद सृष्टि के प्रारम्भकाल में अविद्या में जीवों के समस्त संस्कार जब सृष्टि के अनुकूल होते हैं तब परमात्मा के मायारूप अन्तःकरण में, "एकोहं बहुस्याम्" इसप्रकार का भाव उदय होता है। यह भाव ही नामरूपात्मक जगत् के स्वरूप में परिणत हो जाता है। संसार के नामरूपात्मक होने का कारण यह भी है कि हरएक प्रकार का भाव ही तो नामरूप से प्रकट हुआ करता है। जिसका जैसा भाव होता है वैसा ही वह मुँह से बोलता और उसका आकार भी वैसा ही हो जाता है। इसीप्रकार परमात्मा का भाव ही नामरूपात्मक जगत् के रूप में दृश्यमान हो रहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा से भाव और भाव से नामरूपात्मक जगत् का विकास होता है। इसी नामरूपात्मक जगत् के बन्धन में जीव पड़े हुए हैं। अब यदि कोई जीव इस बन्धन से अपने आप को मुक्त करना चाहेगा तो उसे प्रथम नाम रूप का सहारा अवश्य लेना होगा। अनादिकाल से यह जीव नामरूपात्मक भावों को ही अपना स्वरूप मानता चला आया है। रागद्वेषनिबन्धन ऐसे ही पदार्थों के साथ प्रवृत्ति-निवृत्ति का व्यवहारक्रम चला आ रहा है। इसलिये हरएक प्राणी का प्रेम या द्वेष नामरूपात्मक पदार्थों के साथ ही बना रहता है। अज्ञेय, अस्पर्श भावों में इसकी प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं देखी जाती। यह ठीक है कि मन इन्द्रिय का अविषय सच्चिदानन्दब्रह्म को प्राप्त करके ही जीव मोक्षपद को प्राप्त कर सकता है, परन्तु जबतक नामरूपात्मक स्थूलभावों में प्रीति है, देहाभिमान बना हुआ है, पूर्णवैराग्य और विवेकस्थिति का उदय नहीं हुआ, तबतक ब्रह्मनिष्ठा का प्राप्त होना असम्भव है। इसीवास्ते सर्वसाधारण जनसमाज के हित को मन में रखकर पूज्यपाद महर्षियों ने सगुणमूर्तिपूजा का विधान किया है। जब साकारमूर्ति में स्थैर्यभाव को लाभ कर लेता है और इसप्रकार सगुणउपासना में दृढता का लाभ हो जानेपर उपासक का चित्त उसके वशीभूत हो जाया करता है। तब इसके बाद ही पुरुष निर्गुण ब्रह्म की उपासना में समर्थ हो सकता है। मुक्ति का कारण जिस नामरूप का अवलम्बन महर्षिगण बतला गये हैं वह नामरूप जीवों के बन्धन का कारण नहीं किन्तु मुक्ति का दाता है। वह है भगवान् का दिव्य नाम और दिव्य रूप। नामरूपरहित भगवान् के नामरूपों की कल्पना करके उपासकगण उनमें लीन हो जाते और भावराज्य में पहुँच कर भावग्राही परमात्मा को प्राप्त कर लिया करते हैं। जगत् के सर्जन, पालन तथा संहार करनेवाले जितने भाव हैं और जिन्हें समाधिनिष्ठ मुनियों ने साक्षात् अनुभव किया है, उन भावों का जिनरूपोंद्वारा साक्षात् हो सकता है, उन्हीं रूपों की, सगुण उपासना की प्रतिमाओं में प्रतिष्ठा की गई है। अब आगे इसी रहस्य का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

## भगवान् विष्णु.

रूपरहितपरब्रह्म और विराट्रूप परमात्मा के रूप की कल्पना भावुक लोग इस प्रकार से किया करते हैं कि क्षीरसमुद्र में शेषनाग पर भगवान् शयन कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मीजी उनकी चरणसेवा कर रही हैं। उनकी नाभि से कमल की और कमल से श्रीब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई है। भगवान् का घननीलवर्ण है। कौस्तुभमणि से युक्त हार गले में धारण किये हुए हैं। भगवान् की चारभुजाएं हैं और उन चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। यही जगत् के आदि-कारण भगवान् भक्तों के हृदयसरोज में विहरण करते हैं। अब देखना यह है कि प्रकृति के साथ निराकार परमात्मा की किन किन लीलाओं को देखकर भावमयी इस सगुणस्वरूप की यह कल्पना की गई है। समष्टिजीवों के सँस्कार ही सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले क्षीरसमुद्र हैं। शास्त्रों में सँस्कारों को कारणवारि भी कहा गया है। इन्हें क्षीर इसलिये वताया गया है कि क्षीर के समान ही सँस्कारों में उत्पत्ति और स्थिति की शक्ति विद्यमान है। उन्हीं में प्रलय के समय भगवान् शयन करते हैं। आकाश ही शेषनाग है। उसी के ऊपर भगवान् शयन कर रहे हैं। आ-काश अनन्त है, इसलिये उसकी अनन्तता को सूचन करनेवाले शेषनाग के अनन्त फण हैं। क्योंकि भगवान् स्वयं अनन्त हैं तो उनकी आकाशरूप शय्या भी अनन्त ही होनी चाहिये। शेषनागजी का दूसरा नाम अनन्त भी इसीभाव का सूचक है। सर्वभूतों में आकाश ही अतिसूक्ष्म भूत है। अन्यभूतों की अपेक्षा से यह व्यापक भी है। इसकी व्यापकता को लेकर ही लोग भगवान् की सर्वव्यापकता का निश्चय किया करते हैं। इस आकाश से भी परे परमात्मदेव का स्वरूप है। आकाश की नीलिमा से भगवान् के स्वरूप या वर्ण की कल्पना की गई है। श्रीलक्ष्मीजी ही प्रकृति (माया) हैं। माया भगवान् के अधीन है। इसलिये उसे श्रीलक्ष्मीजी के रूप में भगवान् की चरणपरिचारिका मान लिया गया है। लक्ष्मीरूप माया के सम्बन्ध से भगवान् सृष्टि उत्पन्न करने के योग्यसँस्कार समुदाय को बनाते हैं। इसलिये भगवान् सँस्कारसमुदायरूप क्षीरसमुद्र में शयनकिया करते हैं। प्रलयाव-सान में परमात्मा अपनी चैतन्यशक्ति-बीज को उसमें अर्पण करते हैं। तभी प्राचीन संस्कारसमुदाय सृष्टि पैदा करने में समर्थ हैं, क्योंकि सँस्कार स्वयं जड हैं।

व्याकृत अवस्थापन्न प्रकृति को कमल माना गया है और हिरण्यगर्भ को ब्रह्माजी। व्याकृतावस्थापन्न प्रकृति से प्राणतत्त्वप्रधान हिरण्यगर्भ पैदा होता है। शास्त्रों में वतलाया गया है कि भगवान् की नाभि से कमल और कमल से श्रीब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। सर्व जीव भगवान् की माला की मणियाँ हैं। उन मणिरूप सब जीवों में सूत्ररूप से भगवान् विद्यमान हैं। इसी जीवमणिमाला को भगवान् अपने गले में धारण किये हुए हैं। सच्चिदानन्दस्वरूप कूटस्थचैतन्य ही शुभ्र कौस्तुभमणि है। वही माला के मध्य में शोभित है। चतुर्वर्गप्रापककर्मों को करते हुए जीव इस संसार में रहते हैं। उन्हीं कर्मोंद्वारा इस संसार की स्थिति है। भाव यह है कि चतुर्विधकर्म ही एकप्रकार से इस विराट् के रक्षक हैं और वही विराट् के रक्षकरूप चतुर्विधकर्म भगवान् के चार हाथ हैं। भगवान् सर्वजीवों के कर्मफल प्रदाता हैं। उन चतुर्विधकर्मों के फलों के अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सूचक ही शंख, चक्र, गदा और

पद्म हैं। इन सब चिह्नों का भाव यह है कि संसार में जो प्राणि धर्म करता है उसका सर्वत्र मङ्गल होता है और वही पुरुष वैदिकज्ञान का अधिकारी है। इन्हीं भावों का सूचक भगवान् के हाथ में शङ्ख है। शङ्ख सर्वमङ्गलकृत्यों के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में बजाया जाता है। हरएक वेद का मन्त्र प्रणव उच्चारणपूर्वक बोला जाता है। प्रणवशब्द की ध्वनि स्वाभाविकरीति से शंख से निकला करती है।

जो पुरुष सदा अर्थनिबन्धनकर्मों में प्रवृत्त रहता है उसके कर्म के फलरूप अर्थ का सूचक दूसरे हाथ में भगवान् सुदर्शनचक्र धारण किये हुए हैं। जो पुरुष सदा-कामनिबन्धनकर्मों में आसक्त रहता है, उसके इस कर्मफलरूप काम के सूचक गदा को तीसरे हाथ में धारण किये हुए हैं। और जो पुण्यात्मा मोक्षसाधनों में रत है, उसके ध्येय मोक्ष के चिह्न पद्म को भगवान् अपने हाथ में धारण किये हुए हैं। भगवान् विष्णु विराट् के अभिमानी हैं। इस लिये विराट्स्थितिदशा से भगवान् का शरीर नानाविध के अलङ्कारों से अलंकृत रहता है। ब्रह्माण्ड के स्थितिकाल में यह पृथिवी सदा हरीभरी और नवीन रहा करती है। इसलिये भगवान् का शरीर भी सदा यौवनअवस्था में रहा करता है। इस ब्रह्माण्ड में सौन्दर्यभाव का विकास भी सदा बना रहता है, इसलिये भगवान् का शरीर भी सौन्दर्ययुक्त रहता है।

भगवान् विष्णु का आकाशतत्त्व के साथ आधिदैविक सम्बन्ध है, इसलिये आकाशगामी गरुड़जी उनके वाहन हैं। इन सबभावों के अनुसार भगवान् विष्णु की प्रतिमा बनाई जाती है। जिसप्रकार माता पुत्र के चित्र में पुत्रभाव का दर्शनकर वात्सल्यरस में निमग्न हो जाती है, चित्त को चित्र के रूप में लय करती हुई उसे एकप्रकार से साक्षात् पुत्र का दर्शन होने लगता है, उसीप्रकार उपासक भगवान् की मूर्ति का दर्शन कर भगवत्प्रेम में निमग्न होकर साक्षात् परमात्मा के दर्शन करने लगता है।

## श्रीचतुरानन.

माया में तीन गुण हैं। सत्त्वगुण के अभिमानी विष्णुजी हैं, रजोगुण के अभिमानी ब्रह्माजी और तमोगुण के अभिमानी शङ्करजी हैं। शास्त्रों में सत्त्वगुण का वर्ण श्वेत, रजोगुण का रक्त और तमोगुण का वर्ण कृष्ण बतलाया गया है। ब्रह्माजी रजोगुण के अभिमानी हैं, इसलिये उनका वर्ण रक्त है। बिना ज्ञान के क्रियासम्पन्न हो नहीं सकती। अर्थात् रजोगुण क्रियाशील तो अवश्य है, परन्तु उसकी क्रिया को सफल बनाने के लिये ब्रह्माजी ज्ञानसूचक हंस को अपना वाहन बनाए हुए हैं। ज्ञानरूप हंस की सहायता से ब्रह्माजी कार्य्य करने में समर्थ हैं। समष्टि लिङ्गशरीर ही हिरण्यगर्भ कहा जाता है। इसी हिरण्यगर्भ के अभिमानी ब्रह्माजी हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ का अवतार ही ब्रह्माजी हैं। लिङ्गशरीर में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार यही चार प्रमुख हैं। व्यष्टि के समान समष्टि में भी यही चारों प्रमुख हैं। इन्हीं चारभावों के सूचक ब्रह्माजी के चार मुख हैं। विसृष्टिरूप कार्य में रजोप्रधानबुद्धि की सूचक ब्रह्माजी की शक्ति श्रीसरस्वतीजी हैं। व्यक्तावस्थापन्न ब्रह्माण्ड ही ब्रह्माजी का आसन है। शास्त्रों में इसी ब्रह्माण्ड को कमल कहा गया है, और इसीके लिये कहीं कहीं पृथिवीशब्द भी व्यवहृत किया गया है। गगनचुम्बी सुमेरुपर्वत ही उस कमल की कर्णिका है। उसी पर विराजमान् हो कर श्रीचतुरानन सृष्टिसर्जन कार्य किया करते हैं। इन्हीं सब भावों को लेकर

ब्रह्माजी की मूर्ति का विधान किया जाता है। यहाँ पञ्चदेवमूर्तिपूजा प्रकरण में ब्रह्माजी के स्वरूपवर्णन की आवश्यकता तो नहीं थी तो भी पाठकों की जानकारी के लिये संक्षेप से उनके स्वरूप का वर्णन कर दिया गया है।

## भगवान् शंकर.

भगवान् शंकर चाँदी के पर्वत के समान गौर हैं। मस्तक में शशिकला शोभायमान है। हस्ती के शुण्ड के समान चार भुजाएं हैं। उनमें परशु, मृग, वर और अभय को धारण किये हुए हैं। कटि में व्याघ्रचर्म धारण किये हैं। उन मुक्ति के दाता भक्तहितकारी शिवजी के तीन नेत्र और पाँच मुख हैं। भगवान् शिवजी का यह स्वरूप सृष्टि, स्थिति और प्रलयभाव का सूचक और जीव की आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मुक्ति का भी द्योतक है। इतना ही नहीं भगवान् शिवजी के इसी मङ्गलमय स्वरूप से तमोमय संहारभाव को धारण करने से रुद्रमूर्ति भी प्रगट होती है। इस से स्पष्ट प्रकट है कि भगवान् शंकर में एक शान्तिमय शिवभाव और दूसरा प्रलयकारी रुद्रभाव विराजमान है। वैसे तो शास्त्रों में भगवान् शंकर के अनेकप्रकार के रूप निरूपण किये गये हैं परन्तु वे सब इन्हीं दो भावों के अन्तर्भूत हैं। भगवान् शंकर की कृपा से उन्हीं के शरीर पर ही समस्त प्रकृति का विलास प्रकाशित होता है इस लिये उनका शरीर गौर है, पञ्चमुख तथा त्रिनेत्र हैं। उनका शरीर गौर होने का कारण यह भी है कि जिस केन्द्र पर समस्त प्राकृतिकवर्णों का विकास होता है वहाँ श्वेत ही वर्ण होता है। जैसे सूर्य से सब रङ्गों का विकास होता है तो सूर्यभगवान् श्वेत हैं। शंकरजी के पञ्चमुख प्राकृतिक पञ्चतत्त्वों को सूचित कर रहे हैं। भगवान् के दोनों नेत्र तो पृथिवी और आकाश के सूचक हैं, तृतीयनेत्र बुद्धि के अधिदैव सूर्य वा ज्ञानाग्नि का सूचक है। इसी ज्ञानाग्निरूप तृतीयनेत्र के खुलने से काम भस्म हो गया था। मनका अधिदैवरूप चन्द्र भगवान् के मस्तक पर विराज रहा है। इसप्रकार से उनके ईश्वरभाव के द्वारा संसार का प्रकाश हो रहा है। इसी ईश्वरभाव को लिये हुए भगवान् शंकर हाथ में तीनों गुणों के सूचक त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। इस त्रिगुणरूप त्रिशूल पर जगत्‌रूप काशीपुरी विराजमान् है। जबतक त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अन्दर शिवजी की सत्ता रहेगी तबतक जगत्‌रूप काशीपुरी का नाश न होगा। भगवान् शिव एक हाथ में काम का सूचक मृग धारण किये हुए हैं, दूसरे में धर्म का सूचक वर, तीसरे में अर्थ का सूचक परशु और चौथे हाथ में मोक्षसूचक अभय धारण किये हुए हैं। इसप्रकार शिवजी के इस स्वरूप से उनका ईश्वरभाव प्रकट किया गया है। भगवान् शंकर के प्राकृतिक प्रलयकारी दोनोंभाव निम्नलिखितरूप से प्रकट होते हैं।

## शिवभाव का रहस्य.

जिससमय परमात्मा तामसिकशक्ति को धारण कर समस्त ब्रह्माण्ड का नाश कर देते हैं उसे प्राकृतिकप्रलय कहा जाता है। सृष्टिप्रलयकर्त्ता शिवजी का यह प्रथम भाव है। जिससमय जीव अपने आप को ब्रह्म में मिला देता है और अपनी भेदात्मिक सत्ता को अतिशय करके दूर कर देता है और उस जीव के जीवभाव का सर्वथा ही नाश हो जाता है, केवल ईश्वरभाव अर्थात् ब्रह्मभाव अवशिष्ट रहजाता

है, इस दशा का नाम आत्यन्तिक प्रलय है। इसप्रलय के साथ परमात्मा का ख़ास तौर से सम्बन्ध रहता है, इसलिये शिवजी का यह द्वितीयभाव है। प्राकृतिकप्रलयभाव के सूचक रुद्रस्वरूप में शिवजी भूत, भविष्यद् और वर्तमानकाल के भेद से युक्त प्रलयकारी काल का सूचक त्रिशूल हाथ में धारण किये हुए हैं। दूसरे आत्यन्तिक प्रलयकारी भाव दशा में वही त्रिशूल आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का सूचक है। क्योंकि त्रिविध दुःखों से दुखी हुआ पुरुष ही इस संसार से मुक्त होने के लिये भगवान् की शरण लेता है। प्राकृतिक प्रलयकारी रुद्रभाव में शिवजी मुण्डमाली, भस्मावलिप्त, श्मशानवासी, भुजङ्गधारी, कभी व्याघ्रचर्मधारी तो कभी कपर्दी, विषपायी और डमरूधारी हैं। जिसप्रकार स्थूल, सूक्ष्म शरीर कार्यसँस्कारों के सहित अविद्यात्मक कारण शरीर में अवस्थान करते हैं, उस कारण शरीर में स्थूल और लिङ्गशरीरों का केवल वीजरूप से सँस्कार मात्र अवशेष रहता है। यही कारण शरीरविशिष्ट चेतन की समष्टि ही रुद्र हैं। कारण शरीरविशिष्ट चेतन, जो शरीरद्वय के नष्ट हो जानेपर अवशिष्ट रह जाता है, उन्हीं सब प्रलयकालीन जीवों की स्थिति की सूचक भगवान् शंकर के गले में मुण्डमाला पड़ी हुई है। स्थूल का अन्तिम परिणाम भस्म है। इस स्थूलब्रह्माण्ड को भस्मरूप में ले आनेवाले शंकर हैं। इसभाव को सूचन करने के लिये उनके शरीर में भस्म लगी रहती है। सुषुप्ति अवस्थारूप महाप्रलय ही श्मशानभूमि है। वही रुद्रजी के निवास का स्थान है। काल भगवान् के अधीन है। इसभाव को वतलाने के लिये आप महाविषधर सर्प को धारण किये हुए हैं। अतिशौर्यशाली तथा वली जीवों पर शासन करने में समर्थ हैं, इस भाव को प्रकट करने के लिये आप ने व्याघ्रचर्म और हस्तिचर्म को धारण कर रक्खा है। संसार के अनिष्ट से अनिष्टकारी पदार्थों को भी अनुकूल वनाने में समर्थ हैं इस भाव को प्रकट करने के लिये विषपान किया करते हैं। इस जगत् को विनाश की ओर अग्रसर करनेवाले रात्रिदिवसरूप डमरु को धारण किये हुए हैं। जिससमय जीव अपनी सत्ता को शिवभाव में लीन कर देता है उससमय उस जीव से द्वन्द्वात्मक कर्मों से युक्त प्रकृति के नानाप्रकार के धर्म अपने आप ही निवृत्त हो जाते हैं। सर्वप्रकार के विरुद्धधर्म उसके अनुकूल हो जाते हैं। इसवात को प्रकट करने के लिये शंकरजी सर्प को अपना अलंकार वनाए हुए हैं। जिनकी श्रीपार्वतीजी गृहिणी हो, कुवेर जिनके भण्डारी हों, ऐसा होने पर भी आपका श्मशान का निवास, शरीर में भस्म का धारण करना, हाथ में भिक्षापात्र लेकर भिक्षा माँगना, यह सव आत्यन्तिकप्रलय के साधनभूत त्यागवैराग्यादि को प्रकट करते हैं। भगवान् शंकर अपने इसप्रकार के आचार से जीवों को वतला रहे हैं कि जो संसार की सर्वप्रकार की विभूतियों को छोड़कर हाथ में भिक्षापात्र को ग्रहण कर साधु हो जाता है और वैराग्य के उद्दीपन के लिये श्मशानों में निवास करता है वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मुमुक्षु के प्राप्यलक्ष्य भाव को सूचन करने के लिये आप दिगम्बर हैं। क्योंकि ब्रह्मभाव सर्वप्रकार के परिच्छेदों से शून्य है, यही मुमुक्षु का प्राप्यलक्ष्य है। प्रथम रूप में, ब्रह्माण्ड के साथ काल का सम्बन्ध है, ब्रह्माण्ड की आयु के अनुसार महाकालरुद्र भी परिच्छिन्न है। इसलिये रुद्र को व्याघ्राम्बरधारी कहा गया है। अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव—शिवभाव किसीप्रकार के आवरण में नहीं आ सकता इस-

लिये भगवान् शंकर दिगम्बर हैं। शास्त्रों में सत्त्वगुण और तमोगुण को परस्पर मिथुनवृत्तिक बतलाया गया है। जगत् में अर्थात् प्रकृति में जिन दो वस्तुओं का स्वाभाविक सम्बन्ध हो वे वस्तुएं मिथुनवृत्तिक कही जाती हैं। जैसे धर्म और अधर्म, दिन और रात्रि, मृत्यु और जन्म इत्यादि ये सब मिथुनवृत्तिक भाव कहे जाते हैं। इसीप्रकार सत्त्वगुण और तमोगुण ये दोनों भी मिथुनवृत्तिक हैं। दोनों में शक्ति भी तुल्य है। सत्त्वगुण यदि जीव को उन्नत करता है तो तमोगुण उसी-प्रकार वैसी शक्ति से ही अधोगति की ओर ले जाता है। इसलिये सत्त्वगुण और तमोगुण में अन्योन्य मिथुन सम्बन्ध है। सत्त्व के अभिमानी विष्णु और तमोगुण के अभिमानी भगवान् शंकर हैं। इसलिये इन दोनों देवों में परस्परतन्मयासक्ति का भाव विद्यमान है। तन्मयासक्ति का भाव होने से ही तमो-अभिमानी शंकरजी गौर हैं और सत्त्वअभिमानी विष्णुजी काले हैं। यदि ऐसा न होता तो भगवान् विष्णु गौर होते और भगवान् शंकर कृष्ण होते। पृथिवी में तमोगुण की प्रधानता है इसलिये शास्त्रों में पृथिवी के अभिमानी देव भगवान् शंकर को लिखा गया है। पृथिवी का सब से उच्च प्रदेश हिमालय पर्वत ही उनका शिर है। हिमालय से जगतपावनी पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजी का आविर्भाव होता है, इस भाव को प्रकट करने के लिये शंकरजी गङ्गाजी को अपने मस्तक पर धारण किये हैं। सत्त्वगुण का पूर्णविकास होने पर ही धर्म का विकास होता है। पशुजाति में सब से अधिक सत्त्वगुण का विकास गोजाति में है। इसलिये धर्म का सूचक बैल ही शिवजी का वाहन वृषभ है। यही सब प्रकृतिलीला निबन्धन भावों के अनुसार श्रीशिवजी के स्वरूप का संक्षिप्तरहस्य है।

अथर्व वेद के ग्यारहवें काण्ड के द्वितीयसूक्त में भी शंकरजी के स्तवनरूप से उन के स्वरूप का वर्णन किया गया है। पाठकों के निश्चय के लिये उस सूक्त के आदिम तथा अन्तिममन्त्र का उल्लेख यहाँपर किया जाता है।

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहिता मायतां मा विस्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥१॥
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥१६॥

हे भव! हे शर्व! मुझे सुखी करो। हे भूतों के पतियो! मेरे पास रक्षा के लिये सब ओर से आओ। हे पशुओं के पतिओ! आप दोनों को नमस्कार है। तुम दोनों धनुषों में धरे हुए विस्तृत वाण को मुझपर मत छोड़ो। आप हमारे द्विपद मनुष्यों को और चतुष्पद पशुओं को मत मारो॥१॥ हे रुद्र! तुम को सायंकाल, प्रातःकाल, रात्रि और दिनमें भी नमस्कार है। मैं भवदेव तथा रुद्रदेव दोनों को नमस्कार करता हूँ। यहाँपर वेद में वर्णित भगवान् शंकर के वही दोनों स्वरुप हैं जिनका वर्णन ऊपर शिव और रुद्र रूप से किया जा चुका है। इसप्रकार से सिद्ध हो गया कि शिवमूर्तिपूजा कोई अशास्त्रीयविधि नहीं किन्तुवेदशास्त्रविहित सिद्धान्त है।

# शिवलिङ्गपूजा.

शिवमूर्ति के अतिरिक्त शास्त्रों में शिवलिङ्ग पूजा का भी वर्णन पाया जाता है; उसका भी कुछ थोड़ा सा वर्णन नीचे दिया जाता है।

हरएक पुरुष को अपने अनुभव में आनेवाली उसकी अपनी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं। इन तीनों अवस्थाओं में जागरित अवस्था में स्थूलशरीर, स्वप्न में लिङ्गशरीर और सुषुप्ति में कारण का स्पष्टरूप से अनुभव होता है। स्थूलशरीरों की समष्टि विराट् है, लिङ्गशरीरों की समष्टि हिरण्यगर्भ है और कारणशरीरों की समष्टि ईश्वर है। ऐसा बहुतशास्त्रों का सिद्धान्त है। जिसप्रकार व्यष्टि भाव में स्थूल और लिङ्गशरीर अङ्ग संयुक्त है और कारणशरीर अङ्गों से रहित है अर्थात् निरवयव भाव में है, उसीप्रकार विराट् और हिरण्यगर्भ भी अवयवों से युक्त और ईश्वरभाव अवयवों से विहीन है। तमोगुण के अभिमानी भगवान्रुद्र हैं, अविद्या में तमोगुण प्रधान है, इसलिये अविद्याविशिष्ट चेतन ही ईश्वरभाव है। कारण ब्रह्म है, शिवभाव है। जिसप्रकार व्यष्टिभाव में कारण शरीररूप अविद्या से शिवस्वरूप चैतन्य आवृत प्रतीत होता है इसीप्रकार से कारण ब्रह्मरूप ईश्वर, अविद्या से आवृत है। जीव को उसका अपना निरावृत तुरीयावस्था का स्वरूप अननुभूत है, इसलिये उसमें परिछिन्नता का भाव आगया है और इसीलिये वह संसारी है। परन्तु ईश्वरभाव में अविद्यारूप उपाधि होनेपर भी 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' अर्थात् अविद्या को अतिक्रमणकर स्थित रहनेवाले अपने स्वरूप का परमात्मा को ज्ञान है, इसलिये परमात्मा असंसारी हैं। व्यष्टिभाव में सोपाधिक चेतन से अभिन्न तुरीयभाव शुद्ध है। उसी प्रकार सोपाधिक ईश्वरभाव से शिवभाव-ब्रह्मभाव अभिन्न रहता हुआ भी मोक्ष का आश्रय है। इस से यह सिद्ध हुआ कि शिवभाव-ब्रह्मभाव निरावृत है और ईश्वरभाव अविद्यारूप उपाधि से आवृत है। माया-प्रकृति-अविद्या की सूचक जलहरी है। उस जलहरी के मध्य में आवृतअंश ईश्वर है, जलहरी से बाहर निकला हुआ निरावृतभाग शिव का सूचक है। जिस वस्तु के अंग व्यक्त न हों वह वस्तु पिण्डीभाव में ही होती है। सुषुप्ति अवस्था में प्रतीयमान विशिष्ट आत्मभाव और ईश्वरभाव में अंग व्यक्त नहीं, इसलिये ईश्वरभाव की प्रतीक होगी तो पिण्डीरूप में ही होगी। उस अव्यक्त ईश्वर की प्रतीक को पिण्डीभाव में दिखलाना ही युक्तियुक्त है। केवल शंकरजी की ही ईश्वरभाव की प्रतिमा पिण्डीरूप नहीं है किन्तु भगवान् विष्णु की भी ईश्वरभाव अर्थात् अव्यक्त अवस्था की प्रतिमा पिण्डीभाव में होती है। भगवान् के अव्यक्त भाव की प्रतिमा शालिग्राम हैं। शिवरूप सत्ता को पाकर प्रकृति स्वयं ही विकाररूप में प्रवाहित हो जगत को पैदा करती है। इस भाव को सूचन करने के लिये पिण्डी का आश्रय जलहरी-अर्घा गोल न होकर एक ओर दीर्घ रहा करती है। लिङ्गपुराण में लिखा है कि—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥

लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षात् महेश्वरः।
तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥

लिङ्ग के मूल में ब्रह्माजी मध्य में त्रिलोकीनाथ विष्णुजी और उपरिभाग में प्रणव नाम वाले भगवान् शंकरजी स्थित हैं। लिङ्गवेदी अर्थात् जलहरी अर्घा महादेवी हैं। लिङ्ग साक्षात् महेश्वर हैं। लिङ्गवेदी और लिङ्गपूजन से सर्वदेव और सर्वदेवियों का पूजन हो जाता है। लिङ्गपुराण की इस उक्ति से कलुषित अन्तःकरण वालों की इस धारणा का निराकरण हो जाता है जो यह समझते हैं कि लिङ्गपूजा अश्लीलभाव को लेकर चलाई गई है। यदि शिवलिङ्ग पूजन का भाव अश्लील होता तो वेद से लेकर सर्व सच्छास्त्रों में इसका विधान न होता। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण के समान प्राचीन ग्रन्थों में भी लिङ्गपूजा का विधान मिलता है। उपासना-प्रधान पुराणों में तो सब से अधिक लिङ्गपूजन के ही लेख मिलते हैं। विस्तार भय से उन सबप्रमाणों को यहाँ पर नहीं लिखा गया। वाल्मिकिरामायण के उत्तरकाण्ड में लिखा है कि—

यत्र यत्र च यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥४२॥
वालुकावेदि मध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः।
अर्चयामास गन्धाढयैः पुष्पैश्चागुरुगन्धिभिः॥ ४३॥

राक्षसों का राजा रावण जहाँ जहाँ जाता था सुवर्ण की मूर्ति साथ ले जाया करता था। रेत की वेदी बना कर उस मूर्ति को स्थापित करता फिर उत्तमगन्धवाले पुष्पादि से उस मूर्ति का पूजन किया करता था। श्रीवाल्मीकिजी के लेख से यही सिद्ध होता है कि लिङ्गपूजन प्रथा अतिप्राचीन है।

इसलिङ्गपूजा में विशेष क्या भाव है? यह बताकर इसप्रकरण का उपसंहार करेंगे। शास्त्र का यह सिद्धान्त है, जिसे पहिले भी अनेकबार लिखा जा चुका है, कि जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है उसीका अवलम्बन लेकर जीव लय की ओर अग्रसर हुआ करता है। चैतन्यरूप लिङ्गसत्ता और जगत् प्रसविनी प्रकृति सत्ता से ही इस ब्रह्माण्ड का विकास हुआ है। उन्हीं दो सत्ताओं की प्रतीक लिङ्ग और वेदी के रूप में अधिकारी के लिये स्थापित की गई है। जब उपासक इसीव्यापक भाव को अपने मन में स्थापित करके शिवपूजन करता है तब उसका चित्तस्थूल की सहायता से सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता में लीन होने में समर्थ हो जाता है। अन्त में इस भावप्रधान उपासना की दृढता से वह अनन्तविस्तारमयी माया की लीला से मुक्त होकर अर्थात् कार्य ब्रह्म की सहायता से ही कार्यब्रह्म से मुक्त होकर कारण ब्रह्म में स्थिति लाभकर मोक्षलाभ कर लेता है। यही लिङ्गपूजन का प्रधान उद्देश्य है। इसीलिये शास्त्रों में लिङ्गपूजन का महत्व अधिक वर्णन किया गया है।

## श्रीशक्तिजी

भगवान् विष्णु तथा शंकरजी की पूजा अनेकविध से शास्त्रों में बताई गई है। प्रकृतिलीला वैचित्र्य से भगवान् जिनरूपों में विशेषरूप से आविर्भूत होते हैं उन्हीं-रूपों का पूजन प्रतिमाद्वारा अनेकविध से किया जाता है। इसीप्रकार जगज्जननी जगदम्बिका के भी अनेकस्वरूप हैं। उन स्वरूपों का पूजन भी शास्त्रों में अनेक-विध से लिखा गया है। महाशक्ति के सर्वस्वरूपों में श्रीदुर्गाजी का स्वरूप ही प्रधान है और प्रधानतया उसीके पूजन का प्रचार भी है। अपरिमित कान्ति, तेज, ऐश्वर्य से युक्त माता का स्वरूप है। श्रीदुर्गाजी के दस हाथों में दसप्रकार के अस्त्र-शस्त्र शोभित हैं। आप सिंह पर विराजमान हो रही हैं। आपके द्वारा वध किया हुआ महिषासुर आपके चरणों में पड़ा हुआ है। उनके एक ओर गणेशजी विराजमान हैं तो दूसरी ओर श्रीलक्ष्मीजी। एक ओर स्वामीकार्तिकेय तो दूसरी ओर श्रीसरस्वतीजी विराज रही हैं।

जगदम्बा श्रीदुर्गाजी शुद्धसत्त्व शरीरिणी हैं, इसलिये वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूपिणी हैं। शुद्धसत्त्व में ही पूर्णतया ब्रह्मभाव का आविर्भाव होता है। इसलिये श्रीदुर्गाजी का स्वरूप सर्व दिव्यवैभवों से सम्पन्न है। माता का शरीर शुद्धसत्त्वगुण है। शास्त्रकारों ने इसभाव का बोध उसके दिव्यऐश्वर्यों के वर्णन से कराया है। माता का दसोंदिशाओं में आधिपत्य है। इसभाव को उसके दसहाथों से प्रकट किया गया है। दयाक्षमादि दसधर्मों का पालन करनेवाले उपासकों को फल प्रदान करने के लिये दसोंहाथों में धारण किये हुए अस्त्रशस्त्रादि दसचिन्ह हैं। रजोगुण जगदम्बा के वशवर्ती है। इसभाव को उनके वाहनसिंह से प्रकट किया गया है। रजोगुण को अपने अधीन और अपनी इच्छा का अनुवर्ती बनाकर-रजोगुण से परवर्ती तमो-गुण को शक्तिविहीन-प्राणविहीन बना दिया है। इसभाव का सूचक तमोगुणरूप महिषासुर माता के चरणों में मरा पड़ा है। समस्त ऐश्वर्य और सम्पत्ति माता के अधीन है। इसभाव को श्रीलक्ष्मीजी की मूर्ति से सूचित किया गया है। समष्टिबुद्धि पर माता का ही आधिपत्य है। इसभाव को बुद्धि के अभिमानी देव श्रीगणेशजी सूचित करते हैं। मनोबल तथा शारीरिकबल माता ही की कृपादृष्टि से प्राप्त होता है। इसभाव को बल के अभिमानीदेव भगवान् सेनानी से सूचित किया गया है। सर्व दैवीविद्याओं की एकमात्रजननी श्रीदुर्गाजी हैं। इसभाव को श्रीसरस्वतीजी से सूचित किया गया है। अन्यदेव तथा शक्तियों के सहित ये देवगण साञ्जलि और समा-हित होकर माता की स्तुति करते हुए उसकी कृपादृष्टि की याचना कर रहे हैं। माता के इसी दिव्य ईश्वरीभाव को लेकर भावमयी माता की प्रतिमा बनाई जाती है और उसकेद्वारा माता के उस दिव्यभाव के दर्शनों की इच्छा भावकलोग रखते हैं। संक्षेप में यही माता के सगुणस्वरूप की प्रतिमा का रहस्य है।

## सूर्य भगवान्.

दिव्य ऐश्वर्य प्रकट करनेवाले परमात्मा के अनन्तस्वरूपों में उनका आदित्य-स्वरूप सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हुआ है। समय समय पर महर्षिगण तथा देवगण ने भग-वान् सूर्य से अनन्तविद्याएं लाभ की हैं। अपने उपासकों को ज्ञानप्रदान कर उन्हें

मोक्ष की ओर अग्रसर करनेवाले भगवान् सूर्य ही हैं। ईश्वर ने ब्रह्माण्ड में अपनी ईश्वरता को किसी रूप में प्रत्यक्ष दिखाया है तो वह आदित्य का रूप ही है। नानाविध के उज्ज्वल रत्नों से खचित मुकुट भगवान् के सिर पर शोभायमान है। सुवर्णकान्ति के समान प्रचण्ड दीप्तिमान् केशकलाप आप के स्वरूप को दुर्धर्ष बना रहे हैं। आप अपने हाथ में केवल एक दिव्य कमल धारण किये हुए हैं। सात घोड़ों से युक्त एक रथ पर विराजमान हैं। आपके सन्मुख बैठकर अरुण रथ चला रहे हैं। बालखिल्यगण आगे आगे चलकर वैदिकमन्त्रोंद्वारा सदा आपकी स्तुति किया करते हैं। भगवान् सूर्य मोक्ष के दाता हैं, इस भाव का सूचक आप के हाथ में कमल है। कार्यब्रह्म में प्रकाश सप्तरंग की किरणोंद्वारा ही प्रकाशित हुआ है, इस भाव को सूचित करने के लिये सात रंग के अश्व रथ में जुते हुए हैं! अन्य किसी साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वप्रकाश ब्रह्म ही इस संसारचक्र को चलाता है, इसभाव को आपका एकचक्र रथ ही सूचित कर रहा है।

उदासीनसम्प्रदाय सामान्यरूप से पञ्चदेवोपासक है, फिर भी इस सम्प्रदाय के आराध्यदेव आदित्यभगवान् ही हैं। सूर्योपासना का रहस्य बतलाते हुए गुरुजन अपने शिष्यों को आदित्यभगवान् के पूर्वोक्तस्वरूप का ही उपदेश किया करते हैं। और साम्प्रदायक देव सूर्य्य भगवान् ही हैं, यह भी निश्चय करा देते हैं। यही उदासीनों में परम्परागत प्रथा चली आ रही है।

## श्रीगणेशजी.

श्रीगणेशजी की आकृति छोटी है, शरीर स्थूल है, मुख गजेन्द्र का है, उदर विशाल और सुन्दर है। जिनके गण्डस्थलों से मदधारा स्रवित हो रही है और भ्रमरगण चारों ओर से गण्डस्थलों पर एकत्रित हो रहे हैं। अपने दाँत से शत्रुओं को विदारण कर, उनके ख़ून का शरीर में अवलेपन कर सिन्दूर के अवलेपन की-सी शोभा को धारण किये हुए हैं। अष्टसिद्धियाँ और नवनिधियाँ साक्षात् विग्रह धारण कर उनकी सेवा में उपस्थित हैं। इन्हीं श्रीपार्वतीजी के पुत्र श्रीगणेशजी की देवगण अहर्निश सेवा करते हुए उनकी कृपादृष्टि की याचना किया करते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि गणेशजी परमात्मा के बुद्धिरूप हैं। इसलिये भावुक उपासक गणेशजी के सगुणस्वरूप में संयम करता हुआ परमात्मा की मायारूप बुद्धिवृत्ति में चित्त को लीन कर लेता और सर्वप्रकार के दिव्य ऐश्वर्यों को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

गीता में दो प्रकार की बुद्धियों का वर्णन आता है। जो बुद्धि संसार के द्वैतभाव को नष्ट कर अद्वैतभावरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म में अवस्थान करा दे, वही व्यवसायात्मिकाबुद्धि अर्थात् सुबुद्धि कही जाती है। और जो बुद्धि परमात्मा को विषय न करती हुई, अद्वैतमय परमतत्त्व में समस्तसंसारप्रपञ्च का विस्तार करे, वह अव्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् कुबुद्धि कही जाती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि में प्रपंच तनु हो कर अद्वैतभाव में लीन हो जाता है। इसभाव को गणेशजी के खर्व शरीर से सूचित किया गया है। व्यवसायात्मिका बुद्धि के उदय होते ही सर्वप्रकार की ऋद्धिसिद्धि योगी में आ उपस्थित होती है। परमात्मा तो सदा ही सुबुद्धि वाले हैं, इसलिये उनमें नित्य ही ऐश्वर्य विद्यमान रहा करते हैं। इस भाव को प्रकट करने

के लिये गणेशजी के पास हरसमय ऋद्धिसिद्धि उपस्थित रहती है। व्यवसायात्मिकाबुद्धि सारग्राहिणी और शक्तिशालिनी होती है, इसभाव को गणपतिजी के स्थूलतनु से सूचित किया गया है।

प्रकृति के कार्यभूत परमात्मा के राज्यरूप जगत् का नियन्त्रण करने के लिये परमात्मा की विभूतिरूप देवगण जगत् के भिन्न भिन्न विभागों में नियुक्त हैं। संसार का कोई भी भाव देवअधिकार से खाली नहीं। सब पदार्थों की नियामक चेतन सत्ता-उनमें देवरूप से विद्यमान है, इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये मनुष्येतर प्राणियों को उनका वाहन बनाया गया है या किसी प्राणि के अङ्ग को उनके शरीर में दिखलाया गया है। मनुष्येतर प्राणियों में से हाथी सब से अधिक बुद्धिमान है और गम्भीरस्वभाव है। अप्रकट रूप से बुद्धिसत्त्व सब में विद्यमान है, इस समष्टि बुद्धि के अधिष्ठाता देव गणेशजी हैं, इस भाव को सूचित करने के लिये ही श्रीगणपतिजी गजवदन हैं। "व्यवसायात्मिकाबुद्धि रेकेह कुरुनन्दन! भगवान् की इस उक्ति के अनुसार सुबुद्धि एक है और वह सदा अद्वैतभाव की ओर ही प्रवाहित रहा करती है। गणेशजी इसी बुद्धि के अधिष्ठाता देव हैं। इस भाव को सूचित करने के लिये वे एक रदन हैं। अव्यवसायात्मिकाबुद्धि विस्तारवाली होती हुई भी गम्भीरता से विहीन होती है। परन्तु सुबुद्धि में ऐसा नहीं, वह गाम्भीर्यभावयुक्त है। इस भाव को सूचित करने के लिये गणेशजी लम्बोदर हैं। व्यवसायात्मिकाबुद्धि द्वारा ही ज्ञानामृत का क्षरण होता है। उसके पान करने के लिये ही मुमुक्षुओं को भ्रमरों से सूचित किया गया है। सुबुद्धि में ही अद्वैतभाव की निष्ठा होती है। यह अद्वैतभाव ही उसका अप्रतिहतगतिवाला अस्त्र है। सुबुद्धि में अद्वैतभाव के उदय होते ही प्रपञ्चविस्तारकप्रकृति के रजोगुण और तमोगुण मृतप्राय हो जाते हैं। इन दोनों गुणों के कार्यभूत लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहंकारादि विनष्ट हो जाते हैं। इस से ज्ञात होता है कि सुबुद्धि इन सब की घातिका है। इस भाव को सूचित करने के लिये गणेशजी ने दन्तप्रहार से अपने विरोधियों का वध करके उनके ख़ून को अपने वदन पर लगा रक्खा है। राजस और तामसधर्मों के विनष्ट हो जाने पर जिसप्रकार अद्वैतनिष्ठ महापुरुष की शोभा बढ़ जाया करती है, और ब्रह्मवर्चस प्रकाशित होकर प्रातःकाल के सूर्य के समान उसका शरीर कान्तिमान् हो जाया करता है, उसीप्रकार गणेशजी का शरीर ख़ून के लगने से भयानक न प्रतीत होकर अतिसुन्दर प्रतीत होता है। शैलसुताहेमवती श्रीपार्वतीजी ही आद्याप्रकृति हैं। उसीप्रकृति के सात्विकअंश से व्यवसायात्मिकाबुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसीभाव को सूचित करने के लिये शास्त्रों में गणेशजी का जन्म श्रीपार्वतीजी से हुआ बताया गया है। अव्यवसायात्मिका-कुतर्कबुद्धि को ही गणेशजी के वाहन मूषकरूप से दर्शाया है। सुबुद्धि ही कुतर्कबुद्धि को दबाने में समर्थ है। जिसप्रकार चूहा वस्तु के गुणों का ध्यान न रखकर उसे काटकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कुतर्कबुद्धि भी भाव के सारासार को न देखती हुई उसे खण्डन कर व्यर्थ बना देती है। इसीलिये सुबुद्धिरूप गणेशजी का वाहन कुतर्करूप चूहा बनाया गया है। जिस महापुरुष में सुबुद्धि जितनी विशाल होती है, उसकी अपेक्षा से उसमें कुतर्क भी उतनी ही स्वल्प होती

है। इस भाव को सूचित करने के लिये गणेशजी उतने ही विशालकाय और उनका वाहन चूहा उतना ही छोटा है। यही गणपतिजी के स्वरूप का संक्षेप में रहस्य है।

## वेद में पञ्चदेवोपासना.

**प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित् उरुगायाय वृष्णे,**
**य इदं दीर्घम् प्रयतम् सधस्थ मेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः।**

ऋ० मण्डल १, सूक्त १५४, मं० ३

मन्म=मननीयम् स्तवनीयम्, शूषम्=वलम्, गिरिक्षिते=वचिनिवसते, गिरौ-चित्रकूटे, क्षीयति-निवसतीति गिरिक्षिद्राम स्तस्मै वा, क्षिनिवासगत्योः क्विपि तुकि च साधुः, उरुगायाय=उरुभिः-वहुभिः, गायाय-गीयमानाय, वृष्णे=कामानाम् वर्षित्रे, मनोरथपूरकाय, विष्णवे=सर्वव्यापिने विष्णुदेवाय, प्रैतु=प्रकर्षेण प्राप्नोतु, वल प्राप्तौ प्रकर्षश्च विष्णुना तस्य नित्यसंवन्धः। श्रुतं हि श्वेताश्वतरोपनिषदि "परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च" इति स्वभाविकी=नित्या चतुर्थी च कर्मणि ज्ञेया, तदीयमपरं विशेषमाह यः = विष्णुः, सधस्थम् = सहस्थानम्, प्रयतं=नियतं, लोकत्रयं, एकइत्=एक एव द्वितीयवर्जितः सन्, त्रिभिः पदेभिः=पदै श्चरणै, विममे=विशेषेण मितवान् वामनावतार इति भावः।

अर्थात्—उस सर्ववासी, अनेकों से गीयमान, मनोरथपूरक सर्वव्यापी विष्णु को मननयोग्य वल हो, जिसने अकेला तीनपदों से तीनलोकों का माप किया।

**तरणिर्विश्वदर्शितो ज्योतिष्कृदसि सूर्य विश्वमाभासि रोचनम्॥**

(ऋक्० मण्डल १, सूक्त ५०, मं० ४)

सूर्य=आकाशगामिन् देव! त्वम् तरणीः=भूयसो मार्गस्य गन्ता, "योजनानाम् सहस्रे द्वे द्वे शते द्वंच योजने एकेन निमिषार्धेन क्रम माण नमोऽस्तुते"-इत्युक्तेः-ज्योतिष्कृत्=ज्योतिषां चंद्रादीनां कर्ता, रात्रौ जलमयेषु चन्द्रादिषु प्रतिविम्बितैः तम-सोऽपनोदनात्, किञ्च रोचनं=रोचमानम्, दीप्यमानम् विश्वमाभासि=वस्तुजातम् प्रकाशयसि अपिवा सूर्यः अन्तर्यामितया सर्वप्रेरक तरणी मुमुक्षणां संसाराब्धेस्तार-यिता विश्वदर्शतः, विश्वैः=सर्वै तस्य वभुत्सुभि र्द्रष्टव्यः साक्षात् कर्तव्यः, अधिष्ठान साक्षात्कारैक निवर्त्यत्वादारोप्यस्य ज्योतिष्कृत्=चन्द्रद्युत्पादकः चन्द्रमा मनसो जात इति श्रुतेः, असि=भवसि रोचनं=विश्वं, आभासि=स्वप्रकाशेन प्रकाशयसि, जडजातश्च चिद् भास्यत्वात्-तथा च श्रूयते-तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासः सर्वमिदं विभाति-इति-अस्य सूर्य सूक्तस्य त्रयोदश मन्त्राः।

अर्थात् हे सूर्य! तुम अनन्त मार्गगामी हो, सकल विश्वक दर्शनीय हो, चन्द्रादिक के कर्त्ता हो, समस्त वस्तुजाल को प्रकाश करने वाले हो।

**कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे वोचेम शन्तमं हृदे॥**

ऋ० म० १, सू० ४३, मन्त्र १

कत्=कदा आकारलोप श्छान्दसः, रुद्राय=तन्नाम्ने देवाय, मीढुष्टमाय=अतिशयेन कामानां वर्षित्रे, हृदे=अस्माकं हृत् स्थाय, शन्तमं=अतिशयेन सुखकरं स्तोत्रं, वोचेम=पठेम; पुनः कीदृशाय, प्रचेतसे=प्रकृतज्ञानाय तव्यसे=अतिशयेन तविता, तवीयान्

तस्मै प्रवर्त्यकाय, तुश्छन्दसीति ईयसुन् तुरि ष्ठेमेयःस्वितित्रिलोपःईकार लोप श्छान्दसः।
अस्य रुद्रसूक्तस्य नव मन्त्राः॥

अर्थात्—विपुलमनोरथदाता, हमारे हृन्निवासी, प्रकृतज्ञानी, सकल प्रवर्धक रुद्र के लिये कब हम सुखकारक स्तोत्र को पढ़ेंगे।

**गणानाम् त्वा गणपतिम् हवामहे, कविं कवीनामुपम श्रवस्तमं ज्येष्ठ राजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः श्रुण्वन्नूतिभिः सीदसादनम्॥**

ऋ० मण्डल २, सूक्त २३, मन्त्र १

हे ब्रह्मणस्पते=ब्रह्मणः परिवृढस्य कर्मणः पते=पालक गणानाम्=देवसंघानाम् विद्याधरादिभेदेनाऽनंतानाम् संबन्धिनं गणपतिं=द्विरदाननम् शिवतनयं कवीनाम्=क्रान्तदर्शिनाम्, कविं=क्रान्तदर्शिनम्, उपम श्रवस्तमम् उपमीयतेऽनयेत्युपमा, सर्वेषामन्नानामुपमानं श्रवो अन्नं यस्य सः उपम श्रवा; पूर्वान् माधातोः करणेऽङ्ङ्याते रिति ह्रस्वत्वम् अतिशयेन स उपम श्रवस्तमः तम् स्वान्नोपमित सर्वान्नातमम् ज्येष्ठ राजं=ज्येष्ठानाम–प्रशस्यतमानाम् देवानां राजानं भूपतिं सर्वदेवोत्तमं, ब्रह्मणं=मन्त्राणाम् स्वामिनं त्वा–त्वाम्, हवामहे=वयं स्तोतारोऽस्मिन् कर्मण्याह्वयामः नः अस्माकं स्तुतिं आश्रुण्वन्=आकर्णयन्, ऊतिभिः=रक्षणैः सादनं=सदनं यज्ञशालाम्, सीद=आसीद, आगत्य प्रविशेत्यर्थः।

अर्थात्—हे कर्मों के पालक! आप विद्याधरादिगणों के पति, त्रिकालदर्शी, अमितान्नवान्, सकल देवोत्तम, मन्त्रों के स्वामी हो। हम स्तोता सब आपको आह्वान देते हैं, हमारी स्तुति श्रवण कर रक्षणोपेत हमारी यज्ञशाला में प्रवेश करो।

**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो, गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥**

शुक्लयजु अ० १६ कण्डिका २५

गणेभ्यः=देवानुचरा भूतविशेषा गण स्तेभ्यः, गणपतिभ्यः विश्वनाथ महाकालेश्वरादिवत् पीठभेदेन भिन्नेभ्यो द्विरद वदनेभ्यः, वः युष्मभ्यम् च समुच्चये, नमोनमः इतिद्विरुक्ति रादरार्थः; व्रातः=संघः, व्रातपतयो यूथपतय स्तेभ्यः गृत्सा मेधाविनः, विलक्षणं रूपं येषाम् ते विरूपाः, दिगम्बर परमहंस जटिला स्तुरीयाश्रमिण स्तेभ्यः विश्वं सर्वरूपं येषां ते विश्वरूपाः, ब्रह्माद्वैत दर्शनेन सर्वेष्वात्मभाव मापन्ना ज्ञानिनः तेभ्यः। शिष्टं समानम्।

अर्थात्—देवानुचरगणविशेषों को, संघाधिपतियों को बुद्धिशालियों को दिगंबर परमहंस जटिलादि चतुर्थाश्रमियों को सकलात्मदर्शियों को नमस्कार हो।

**तामग्नि वर्णाम् तपसा ज्वलन्तीम् वैरोचनीम् कर्मफलेषु जुष्टाम्, दुर्गां देवीं शरण महं प्रपद्ये सुतर सितरसे नमः सुतर सितरसे नमः॥**

(अष्टमाष्टकस्य सप्तमाध्याये चतुर्दशवर्गान्तरं पञ्चविंशति ऋगात्मकमिदं परिशिष्टं तत्राद्यं द्वादशो मन्त्रः)

ताम्=लोकत्रयख्याताम्, अग्निवर्णाम्=वह्निसमानरूपां, तपसा=तेजसा, ज्वलन्तीम्=दीप्यमानाम्, वैरोचनीं=तन्नामिकां विरोचनः प्रह्लादपुत्र स्तदुपास्यां वा, कर्मफलेषु जुष्टां=कर्मणां फलं-कर्मफलं तस्मै तत्प्रापणाय पा शरवत् क्षिप्रकार्यकारिणी शक्तिस्तया जुष्टां=सेविताम्, कर्मफलावाप्ति हेतु शक्ति समन्वितां कर्मफलेषु कर्मफलनिमित्तं जुष्टां अनुष्टातृभिराराद्धां, देवीं=दिव्यां दुर्गाम् भगवतिं शक्तिं, शरणं=आश्रयं, प्रपद्ये=यामि, सुतरसि=शोभनं तरोवेग स्तदुपलक्षितं बलं यस्मिन् इति सुतरस्तस्मिन् बलवति तरसे=बलीय तद्रूपेणावस्थितायै भगवत्यै नमः नतिरस्तु। द्विरुक्तिरादरार्थः ॥

अर्थात्—मैं उसलोकत्रयख्यात, अग्निसमानरूपवाली, तेज से देदीप्यमान होनेवाली, वैरोचन नाम की, कर्मफलदान में सामर्थ्यवाली देवी दुर्गा का आश्रयग्रहण करूँगा; बलवति भगवति को नमस्कार हो।

## पावका नः सरस्वती वाजेभि र्वाजिनीवती, यज्ञं वष्टु धियावसुः॥

शुक्लयजु अ० २० कण्डिका ८४

मधुछन्दोदृष्टा सरस्वती देवत्येयं गायत्री, पावका=शोधिका, पवनं पावः पुनाते यज्ञ् तं कथयति आतोऽनुपसर्गे कः, वाजेभिः=अन्नैः, वाजिनीवती=वाजिन्यन्नवती यज्ञक्रिया साधियते यस्या तादृशीयज्ञक्रियाधिष्ठात्री, सरस्वती देवी नः=अस्माकं यज्ञं, वष्टु=अभिलष्यतु अस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छतु। योहि यदिच्छति स तत्रागच्छति।

अर्थात्-पवित्रशालिनी सरस्वती अन्नसहित हमारे यज्ञमें आने की अभिलाषा करे।

## इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः
## कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥

अथर्व० काण्ड ३ सूक्त १० मन्त्र १३

इन्द्रपुत्रे, सोमपुत्रे=इन्द्रचन्द्र ग्रहणमुपलक्षणम् सर्वोत्पादिके दुर्गे प्रजापतेः=जगदीश्वरस्य दुहिता=शृंगाररस दोग्ध्री पत्नीः असि=भवसि। अस्माकं कामान् मनोरथान् पूरय साधय, नः=अस्माकं, हविः तदुपलक्षित मुपहृतमिष्टान्न फल पुष्पादिकं, प्रतिगृह्णाहि=स्वीकुरुष्व।

अर्थात्—हे सर्वोत्पादक दुर्गे! तुम जगन्नियन्त की दुहिता हो, हमारी पुष्पफलरूपी हविको स्वीकार कर हमारे मनोरथों को पूरा करो।

## सगुण उपासना का फल.

सच्चिदानन्दमय, मनबुद्धिइन्द्रियागोचर, मायातीत निर्गुण ब्रह्म कुछ विलक्षण ही है। तो भी वही परमात्मा चित्तभाव से विष्णुरूप में सत्भाव से शिवरूप में ज्योतिर्भाव से सूर्यरूप में, बुद्धिभाव से गणेश के रूप में और शक्तिभाव से देवी के रूप में प्रगट होते हैं। विष्णु, शिव, सूर्य, शक्ति और गणपति–सगुण ब्रह्म के इन्हीं पाँच रूपों को जीवों के कल्याण के लिये महर्षियों ने शास्त्रों में वर्णन किया है। कारण इसका यही है कि विना सगुण के अवलम्बन के कर्म और उपासना का सुचारुरूप से सफल होना असम्भव है। कर्मोपासना के सफल हुए विना सात्त्विक शुद्धि असम्भव है। सात्त्विकशुद्धि हुए विना ज्ञान का होना दुष्कर है। विना ज्ञान

के जीव को मुक्ति कहाँ ? पूर्वोक्तप्रकार से सगुणब्रह्म के स्वरूप और वैसे ही उनकी प्रतिमा के रहस्य को अपने गुरुजनों से निश्चय करके, गुरुभक्तिपरायण शिष्यलोग इष्ट के स्वरूप की उपासनाद्वारा अपने परमार्थ पथ को निर्विघ्न बना लिया करते हैं। जब निर्गुणब्रह्मभाव सगुणरूप से उपासक के सम्मुख ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी के सम्बन्ध से आविर्भूत होता है, तब उस उपासक का चित्त, यदि विशेषरूप से चिद्भाव का अवगाहन करने वाला होगा तो, विष्णुस्वरूप में परिणत होकर उपासक को विष्णुभगवान् के दर्शन करा देगा। इसीप्रकार सद्भावावलम्बीचित्त शंकर के, ज्योतिर्भावावलम्बी सूर्य के, बुद्धिभावावलम्बी गणपति के और सर्वव्यापिनीशक्ति का अवलम्बी चित्त जगज्जननी जगदम्बा के दर्शन कराता है। इन्हीं पाँच भावों की उपयोगिता का दर्शन कर महर्षियों ने एक ही सगुणब्रह्म को पञ्चधा रूपों में वर्णन किया है। भिन्न भिन्न दृष्टि से पूर्वकथित पाँचों ही स्वरूप सगुणब्रह्म के प्रदर्शक होते हुए भी भाव में विभेद होने से उनके अनुसार पाँच रूप बन गये हैं। विष्णु, शिव, सूर्य, गणपति और शक्ति ये पाँचों ही स्वरुप उपासना में स्वतन्त्रदेवरूप से नहीं ग्रहण किये जाते किन्तु इन पाँचों में से हरएक को ईश्वररूप से ग्रहण किया जाता है। पुराणों की आलोचना करने से यह पता चलता है कि भागवतादि जितने वैष्णव पुराण हैं, उन सब में केवल भगवान् विष्णु ही को ईश्वर ठहरा कर उन्हीं के द्वारा जगत की तथा ब्रह्मा, शिव आदिक सर्वदेवों की उत्पत्ति कही गई है। इसी प्रकार शिवपुराण में शिव ही ईश्वर हैं और उनसे जगत तथा विष्णु ब्रह्मा आदि देवों की उत्पत्ति कही गई है। गणेश पुराण में गणपति, सूर्यपुराण में सूर्य, देवीभागवत में देवी ही ईश्वर और उससे सब की उत्पत्ति कथन की गई है। पुराणों में इस प्रकार से पञ्चदेवों के स्वरूप वर्णन को देखकर ही यह निश्चय करना पड़ता है कि भाववैचित्र्य से एक ही परमात्मा के पाँचों स्वरूप हैं। इन पाँचों देवों को छोड़कर और किसी देव को किसी पुराण में ईश्वररूप से वर्णन नहीं किया गया। इससे सिद्ध होता है कि ये पाँचों देव कोई अलग अलग देव नहीं, किन्तु ईश्वर के ही स्वरूप हैं। हर एक उपासक अपनी विशेष भौतिकप्रकृति के अनुसार इन पाँचों ईश्वरीयस्वरूपों में से किसी स्वरूप की उपासना करता हुआ उनके नामरूप में चित्त को लगा सकता और स्व स्व इष्ट का साक्षात्कार कर अपने अपने कल्याण का उपाय कर सकता है। इसी वास्ते नारदजी ने पञ्चदेवपूजन का प्रचार विशेषरूप से किया है। अपने आचार्य की चलाई हुई प्रथा का अनुसरण उदासीन महात्मा अबतक बराबर करते चले आ रहे हैं।

## ( १३ तरङ्ग )

## पाञ्चरात्रशास्त्र.

महाभारत में लिखा है कि जब राजा जनमेजय को उपदेश करते हुए श्रीवैशम्पायनजी पुण्यपापरहित वासनातीत लोगों की परम्पराप्राप्तगति का वर्णन कर चुके और यह बतला चुके कि जिनकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं वे लोग अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणगतियों की उपेक्षा कर वासुदेव-पुरुषोत्तम को प्राप्त करते हैं। तब

राजा जनमेजय ने कहा यह तो मुझे निश्चय हो गया है कि यह एकान्तिकधर्म ही सर्वश्रेष्ठ और नारायण को अधिक प्रिय है। इस एकान्तिकधर्म का अनुसरण करने वाले निष्कामभक्त परमपद का लाभ करते हैं। उनकी गति विधिपूर्वक वेद उपनिषद् का पाठ करनेवाले सर्वप्रिय लोगों की अपेक्षा उत्तम जान पड़ती है। अब यह बतलाने की भी कृपा कीजिये कि इस एकान्तिकधर्म का पालन करनेवाले महापुरुषों के आचरण कैसे होते हैं, और उन आचरणों का प्रचार कब से हुआ है अर्थात् किस देवता अथवा ऋषि ने कब इस धर्म का उपदेश किया है?

## सात्वतधर्मपरम्परा.

राजा जनमेजय के इन प्रश्नों के उत्तर में वैशम्पायनजी ने कहा—राजन्! जिस पाञ्चरात्रशास्त्र में यह धर्म वर्णन किया गया है वह आदियुग में सामवेद के साथ ही प्रकट हुआ था और सर्वप्रथम इस धर्म को स्वयं नारायण ने ही धारण किया था। इसकी परम्परा के विषय में एकबार अर्जुन ने भी देवर्षि नारद से प्रश्न किया था। नारदजी ने अर्जुन के प्रश्न का जो उत्तर दिया था वही मैं तुम्हें भी सुनाता हूँ, सावधान होकर श्रवण करो। नारदजी ने कहा—अर्जुन! आदियुग में नारायण के मुख से जब ब्रह्माजी का मानसजन्म हुआ था, स्वयं नारायण ने भी इसीधर्म के सहारे देव तथा पितृकर्म किये थे। नारायण से यह धर्म फेनप ऋषियों को प्राप्त हुआ और उन ऋषियों ने चन्द्रमा को इसका उपदेश किया। उस युग में इस से आगे यह धर्म फैलने न पाया। पर जिससमय ब्रह्माजी का दूसरा चाक्षुषजन्म हुआ उस समय ब्रह्माजी ने चन्द्रमा से यह धर्म श्रवण किया। फिर ब्रह्माजी ने इसधर्म का उपदेश रुद्र को किया। जब रुद्र ने सत्ययुग में योगावलम्बन किया तब उन्हों ने इसका उपदेश वालखिल्यों को किया। इसके बाद यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया। ब्रह्माजी के तीसरे महद्वाचिक जन्म में नारायण ने फिर इसधर्म का प्रचार किया। नारायण से यह धर्म सुपर्णनामक ऋषि को प्राप्त हुआ, जिसने पाञ्चरात्रशास्त्र की तीन वार आवृत्ति की। उसी से इस धर्म का नाम त्रिसौपर्णव्रत पड़ा। इस दुश्चरव्रत का वर्णन ऋग्वेद में भली भाँति किया गया है।

सुपर्णऋषि से उस त्रिसौपर्णव्रत का विधान जगत् के प्राणरूप वायु ने प्राप्त किया। वायु से विघसाशी ऋषियों को मिला और उन ऋषियों से समुद्र ने प्राप्त किया। इसके बाद नारायण में समाहित हो यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया। तदनन्तर जब ब्रह्माजी का श्रवणज अर्थात् अनाहतध्वनिरूप चतुर्थजन्म हुआ तब जगत्पति नारायण ने उन्हें कहा-पुत्र! मैं तुम्हें बल और तेज प्रदान करूँगा तुम मुख और पाद से प्रजा उत्पन्न करो। तुम मुझ से सात्वतधर्म ग्रहण करो और सत्ययुग की स्थापना करो। यह सुनकर ब्रह्माजी ने भगवान् नारायण को प्रणाम किया और उनसे पाञ्चरात्रजनित श्रेष्ठधर्म को संग्रहसहित प्राप्त किया। लोकपितामह ब्रह्माजी को सात्वतधर्म का उपदेश कर नारायण तो अन्तर्धान हो गये और ब्रह्माजी जगत् को उत्पन्न करने में लग गये। तब सर्वप्रथम आदियुग सत्ययुग उत्पन्न हुआ जिससे सात्वतधर्म का सर्वत्र प्रचार हो गया। तदनन्तर सात्वतधर्म की विधि अनुसार ब्रह्माजी ने देवेश्वर हरि का पूजन किया और फिर लोककल्याणार्थ यह धर्म स्वारोचिषमनु को पढ़ाया।

स्वारोचिषमनु ने यह धर्म अपने पुत्र शङ्खपद को पढ़ाया, शङ्खपद ने अपने औरसपुत्र दिक्पाल सुवर्णाभ को पढ़ाया। परन्तु त्रेतायुग में यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया।

हे राजन्! जब ब्रह्माजी का नासत्य-नामक पाँचवाँ जन्म हुआ तब भगवान् नारायण ने फिर ब्रह्माजी को इस धर्म का उपदेश किया। ब्रह्माजी से सनत्कुमारजी ने और उनसे वीरण-नामक प्रजापति ने यह धर्म पढ़ा। वीरण से रैभ्यमुनि, रैभ्य-मुनि से सुव्रतमुनि और दिक्पालकुक्षि ने पढ़ा। परन्तु समय पाकर यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया। इसके अनन्तर जब ब्रह्माजी का छठवाँ अण्डज जन्म हुआ तब फिर यह धर्म ब्रह्माजी के अन्तःकरण में प्रकट हुआ। ब्रह्माजी ने वर्हिषद ऋषियों को इस धर्म का उपदेश किया, जिन्होंने सामवेदीज्येष्ठ-नामक एक ब्राह्मण को यह धर्म पढ़ाया। उसी समय से इस धर्म का नाम ज्येष्ठसामव्रत भी पड़ा है। उस ब्राह्मण से यह धर्म अविकम्पन-नामक राजा को प्राप्त हुआ। इसके बाद यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया।

श्रीवैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! ब्रह्माजी का सातवाँ जन्म भगवान् की नाभि से हुआ। युगान्तर के समय भगवान् ने फिर इस भागवतों के परमाराध्य-धर्म का उपदेश ब्रह्माजी को किया। ब्रह्माजी ने यह धर्म दक्षप्रजापति को पढ़ाया। आगे दक्षप्रजापति ने अपने ज्येष्ठदौहित्र और सविता के अग्रज आदित्य को, आदित्य ने विवस्वान् को, विवस्वान् ने अपने पुत्र वैवस्वतमनु को, वैवस्वतमनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को पढ़ाया। इक्ष्वाकु ने सर्वलोकों में इस धर्म का प्रचार कर दिया। पर समय पाकर यह धर्म फिर भगवान् नारायण में लीन हो गया।

## भगवान् नारायणद्वारा नारदजी को सात्वतधर्मोपदेश

जब नारदजी बदरिकाश्रम में नारायण के पास गये, तब उन्हों ने नारायण को प्रणामकर पूछा—भगवन्! वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और पुराणों में आपकी कीर्ति का गान किया गया है आप सर्वोत्तम अमृत और मातारूप जगत के धाता, शाश्वत और अजन्मा हैं। भूत और भविष्यकाल का समस्त जगत आप में स्थित है। गृहस्थादि चारों आश्रम, जगत् के मातापिता और सनातन गुरु आप ही हैं। गृहस्थाश्रमी लोग अनेक मूर्तियोंद्वारा आपका ही भजन करते हैं। इसपर भी मैं आपको किसी का पूजन करते देखता हूँ। हे देवेश! आप किस देवता का पूजन किया करते हैं और वे कौन से आपके पितर हैं जिनका आप तर्पण करते रहते हैं? कृपया यह बात मुझे बतलाइये, क्योंकि अबतक मुझे यह बात मालूम नहीं हुई।

उत्तर में नारायण बोले! देखो नारद! जो बातें मैं तुम्हें बतलाने लगा हूँ ये मेरी अतिगुप्त बातें हैं जो मैं किसी को नहीं बतलाता। पर तुम मेरे प्रियभक्त हो इसवास्ते तुम्हें बतला रहा हूँ। तुमने किसी दूसरे के आगे इन गुप्तबातों को प्रकट न करना। अच्छा लो ध्यान देकर श्रवण करो। जो इन्द्रियातीत, अज्ञेय, अव्यक्त और अचल ध्रुवतत्त्व है वही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। वह रज, सत् और तमोगुण से रहित है फिर भी त्रिगुणात्मक अव्यक्त की उत्पत्ति उसी से होती है। जो देव सत्कारण और असत्कार्य रूप है, देव तथा पितृकार्यों में उसीका मैं सदा पूजन किया करता हूँ। क्योंकि उससे बढ़कर दूसरा कोई परमदेव नहीं है। उसकी ही यह आज्ञा है कि देव तथा पितृकर्मों को करना चाहिये। ब्रह्मा, स्थाणु,

मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, विवस्वान्, सोम, कर्दम, क्रोध, अर्वाक् और क्रीत ये इक्कीस प्रजापति उसीसे उत्पन्न हुए हैं और ये सब उस परमदेव की इस मर्यादा का पालन किया करते हैं। पितृकर्म उसीके उद्देश्य से करने चाहिये, इस रहस्य को जानकर द्विजोत्तम लोग आत्मज्ञान का लाभ करते हैं। स्वर्गवासीजीव भी उसको नमस्कार करते और उसकी कृपा से निर्दिष्टगति को प्राप्त करते हैं। शास्त्रों में मुक्तों की गति को क्षेत्रज्ञ कहा है। जो लोग पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, सत्रहगुणों और पन्द्रहकलाओं से रहित हैं वही मुक्त कहलाते हैं। क्षेत्रज्ञ सर्वगुणसम्पन्न भी है और निर्गुण भी है। उसका दर्शन ज्ञानद्वारा ही किया जा सकता है। मेरी उत्पत्ति भी उसी से हुई है। यही जानकर मैं उस सनातन परमात्मा की आराधना करता हूँ। जो वेदज्ञ और आश्रमी विधिपूर्वक उस परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनको वे मुक्ति प्रदान करते हैं। जो लोग उसी की भावना में लीन होकर एकान्ततत्वस्थिति को प्राप्त कर चुके हैं वे परमात्मरूप में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। हे नारद! तुम मेरे परम-भक्त हो इस वास्ते मैंने यह अतिगोप्य रहस्य तुमको बतलाया है।

नारदजी ने हाथजोड़ प्रणाम कर कहा—भगवन् जिस कार्य्य का सम्पादन करने के लिये आपने धर्म के घर में चार मूर्तियों से जन्मधारण किया है, उसी कार्य्य को साधने के लिये मैं आपकी आद्याप्रकृति का दर्शन करना चाहता हूँ। भगवन्! मैंने वेद का स्वाध्याय और तपश्चर्या की है। कभी असत्यभाषण नहीं किया। मैं गुरू-सेवापरायण हूँ, लोगों की गुप्त बातें कभी प्रकट नहीं करता। हाथों, पैरों, उदर और उपस्थ को कभी अनिष्ट में प्रवृत्त नहीं होने दिया। सदैव आदिदेव की शरण में रहता हूँ, शत्रु और मित्र को एकदृष्टि से देखता हूँ। मैं शुद्धसत्त्व हूँ, अतः मुझे ईश्वर के दर्शन होने चाहिये।

## नारदजी श्वेतद्वीप में.

भगवान् नारायण से आज्ञा लेकर नारदजी ने उनका पूजन किया और वहाँसे चल दिये। आकाशमार्गद्वारा मेरुपर्वत पर पहुँचे जिसके एक एकान्त शिखर पर कुछ-देर विश्राम किया। इसके बाद उन्हों ने वायव्यकोण की ओर दृष्टि डाली तो उन्हें एक अद्भुत दृश्य दिखाई दिया। उन्हों ने देखा, उत्तर की ओर क्षीरसागर में श्वेत-द्वीप नामक एक द्वीप है, जिसमें रहनेवाले लोगों के शरीर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। न उन्हें भूख लगती है न प्यास। वे सब श्वेत रंग के पुरुष हैं और उनके शरीरों से सुगन्ध निकल कर चारों ओर फैल रही है। वे निष्पाप हैं। उनके शरीर और हड्डियाँ वज्र के समान हैं। वे दिव्यरूपधारी, दिव्यलक्षणयुक्त, योगबलसम्पन्न और मानापमान-भाव रहित हैं। छत्र जैसे विशाल मस्तिष्क, मेघ के समान गम्भीर आवाज़ और रेखायुक्त पादतल हैं। उनके मुखों में साठसाठ दाँत, आठआठ डाढ़ें और कई कई जिह्वाएं हैं। वे अपनी अनेक जिह्वाओं से सूर्यरूप विश्वमुखदेव को चाटा करते हैं। समस्त वेद, धर्म, देव तथा मुनिगण उन्हीं सर्वेश्वर के वशीभूत हैं। नारदजी ने उन तेज-स्वीपुरुषों का पूजन किया और फिर उनकी पूजा को ग्रहण कर एकाग्रमन से नि-र्गुण तथा सगुण विश्वात्मा की स्तुति करने लगे।

## भगवान् के दर्शन.

हे देवादिदेव! आप सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, निर्गुण, लोकसाक्षी, देहद्वयप्रकाशकजीव, क्षेत्रज्ञ, पुरुषोत्तम और अनन्त हैं, अतः आपको प्रणाम है। आप स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इस शरीरत्रय को भस्म करनेवाले पुरुष और महापुरुष हैं, सत्त्व, रज तमोगुण के रूप तथा निर्गुण, तीनोंगुणों के सङ्घातरूप होने से प्रधान हैं। अमृत अमृताख्य अर्थात् देवरूप हैं, अनन्ताख्य, व्योम, सनातन, व्यक्त, अव्यक्त, ऋतधाम, आदिदेव और कर्मफलदाता नारायण हैं, और आप वसुपद, प्रजापति, वनस्पति, महाप्रजापति, ऊर्जस्पति, वाचस्पति, जगत्पति, मनस्पति, दिवस्पति, मरुत्पति, सलिलपति और पृथिवीपति हैं अतः आपको वारम्वार नमस्कार है। इन नामोंद्वारा देवादिदेव की स्तुति करके अन्त में नारदजी ने कहा—हे भक्तवत्सल परमदेव! मैं आपके दर्शनों के लिये आया हूँ। आप एकान्तदर्शन और मोक्षस्वरूप हैं, मेरी यह अभिलाषा पूर्ण कीजिये।

इस पर भगवान् ने प्रसन्न होकर नारदजी को दर्शन दिये। तव नारद ने गद्गद् हो वाणीको वश में कर लिया और भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। नारदजी की नम्रता देखकर दयालु भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—नारद! यह एकत, द्वित और त्रित महर्षिगण मेरे दर्शनों के लिये ही यहाँ आए थे, पर उनको मेरे दर्शन नहीं हुए। तुम एकान्तक योगी और योगियों में श्रेष्ठ हो इसलिये तुम मेरे दर्शन कर सके हो। देखो! मेरा यह शरीर धर्म के घर में उत्पन्न हुआ है, अतः तुम भी सदा धर्म का ही सेवन करो। हे नारद! मैं इस समय तुम पर वहुत प्रसन्न हूँ, जो इच्छा हो वर मांगलो और जहाँ से आए हो वहाँ ही चले जाओ। भगवान् के इन दयायुक्त वचनों को सुनकर नारदजी वोले—भगवन्! आप विश्वदर्शी, सर्वमूर्तिमय, सिंहस्वरूप, महाप्रभु और सनातन हैं, जव आपके दर्शन हो गये तो अव मुझे शेष किस वस्तु की इच्छा हो सकती है। मुझे आपके दर्शन मिल गये, सव कामनाएं पूर्ण हो गईं, अव मैं और वर क्या माँगूँ?

## सात्वतधर्मोपदेश.

भगवान वोले—अच्छा, अव तुम जहाँ से आए हो वहाँ ही चले जाओ। ताकि यह जो अनाहारी चन्द्रवर्चस लोग एकाग्रमन से मेरा ध्यान कर रहे हैं, इनके ध्यान में विघ्न न पड़े। ये सव महाभाग्य सिद्ध पुरुष हैं और ये ही सर्वप्रथम मोक्षपथावलम्बी हुए हैं। ये लोगनिश्चय ही मुझ में प्रवेश करेंगे। क्योंकि ये रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर मेरे ध्यान में लीन हैं। जो लोग अतीन्द्रिय, त्रिगुणरहित, सर्वसाक्षी और चैतन्यलोगों के आत्मा कहे जाते हैं, वे सव प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होते। जो पुरुष जन्मरहित, शाश्वत, निर्गुण, निष्क्रिय और चौवीसतत्त्वों से परे पचीसवाँतत्त्व कहलाता है वही एकमात्र ज्ञानदृश्य है। जिस में प्रवेश करके द्विजसत्तम मुक्त हो जाते हैं। जो शुभाशुभ कर्मों से कभी लिप्त नहीं होते, उन्हीं सनातन वासुदेव को परमात्मा जानकर उनकी महिमा और माहात्म्य को समझो। सत्त्व, रज ओर तम ये तीनोंगुण सर्वशरीरों में विद्यमान रहते हैं, परन्तु

क्षेत्रज्ञ जीव निर्गुण होता हुआ भी इन तीनों गुणों का भोक्ता है, गुणस्रष्टा होने पर भी गुणाधिक है। हे नारद! पृथिवी जल में, जलं अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में और मन उस अव्यक्त में लीन हो जाता है। पर वह अव्यक्त भी निष्क्रिय पुरुष में लीन हो जाता है। इसप्रकार अवसानकाल में उस सनातन पुरुष के सिवा और कोई नहीं रहता। अर्थात् इस वासुदेव के विना इस स्थावर जङ्गम जगत् का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। पृथिवी जल, वायु, आकाश और अग्नि मिलकर शरीर संज्ञक होते हैं और जो क्षिप्रकारी अदृश्य होकर उसशरीर में प्रवेश करता है वह उत्पन्न न होकर भी उत्पन्न हुए के समान शारीरिक चेष्टाओं का निर्वाह करता है। इस शरीर में जो प्रवेश करता है वही जीव है और व्यूहविशेष, विश्वविधायक, सङ्कर्षण और शेष नाम से वही प्रभु माना जाता है। शुभकर्मोंद्वारा जिस से पुरुष जीवन्मुक्ति पाते और प्रलयकाल में जिस में सब-प्राणी लीन हो जाते हैं, सर्वभूतों के प्राणरूप वही प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध होते हैं। सङ्कर्षण से उत्पन्न होनेवाला ही कर्त्ता, कारण और कार्यरूप है। यह समस्त स्थावर जंगमात्मक जगत् प्रद्युम्न से उत्पन्न होता है, इसी का नाम अनिरुद्ध है। यही सब कार्यों में व्यक्तरूप से दृष्टिगोचर होनेवाला ईश्वर है। क्षेत्रज्ञ और निर्गुणस्वरूप कहे जानेवाले भगवान् वासुदेव ही संकर्षण अर्थात् जीव हैं, सङ्कर्षण से उत्पन्न होनेवाले प्रद्युम्न मन हैं और प्रद्युम्न से उत्पन्न होनेवाला अनिरुद्ध ही अहङ्कार और ईश्वर है। हे नारद! जगत् का नियन्ता और गुरू मैं ही हूँ। तुमको यह न समझना चाहिये कि मैं दिखलाई पड़ता हूँ, इसवास्ते रूपवान हूँ। मैं इच्छामात्र से क्षणभर में विलीन हो सकता हूँ। यह सारा स्थावर जंगमात्मक जगत् मुझ से ही उत्पन्न हुआ है। फिर भी तुम मुझे निष्क्रिय निर्गुण, निष्फल, निर्द्वंद्व और निष्परिग्रह पचीसवाँ पुरुष जानो।

## सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा.

हे नारद! मैंने अपनी चारोंमूर्तियों का रूप तुम्हें बताया। परन्तु मुझे यहाँ तक ही परिमित न समझ लेना। मैं ही कर्त्ता कार्य और कारण हूँ। सबजीव मुझ में ही स्थित होते हैं। सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा और सर्वगामी मैं ही हूँ। प्राणियों के शरीर नष्ट होने पर भी मैं नष्ट नहीं होता। तुम इस समय मेरे जो दर्शन कर रहे हो, यह मेरी माया है। नारद! सर्वलोकों के आदिभूत ब्रह्मा मेरे अनेक विषयों का मनन किया करते हैं। मेरे क्रोधवश रुद्रदेव मेरे ललाट से उत्पन्न हुए हैं। यह देखो, मेरी दाहिनी ओर एकादशरुद्र, बाईं ओर द्वादश आदित्य, सामने सुरोत्तम आठों वसु और पीछे नासत्य, दक्षप्रजापति और सत्यात्मा सप्तर्षि खड़े हैं। तुम ध्यानपूर्वक मेरे इस शरीर में वेद, यज्ञ, अमृत, महौषधियों, अणिमाआदि अष्टसिद्धियों, यम, नियम, लक्ष्मी, कुकुदमिनी, कीर्ति, पृथिवी, वेदमाता सरस्वती और तपस्या आदि को पृथक् पृथक् मूर्तियों में निवास किये हुए देखो। यही नहीं, मूर्तिरहित सत्, रज और तम, और मूर्तिमान् आकाशचारी ध्रुव, अम्भोधर, चारोंसमुद्र, नदियाँ, तालाव तथा समस्त पितृगण मेरे इस शरीर में निवास करते हैं। हे नारद! समस्तपितरों का एकमात्र मैं ही पिता हूँ और मैं ही उत्तमरीति से श्रद्धापूर्वक अर्पण किये गये हव्यकव्य को पश्चिमोत्तर समुद्र में हयशिरा होकर

ग्रहण करता हूँ। इसलिये देवकार्यों से भी पितृकार्य श्रेष्ठ हैं। हे नारद! यज्ञरूप-धारी ब्रह्मा को मैंने ही उत्पन्न किया है। उन्होंने उत्पन्न होकर सर्वप्रथम मेरा ही पूजन किया था। जिसपर प्रसन्न होकर मैंने उन्हें वरदान दिया कि—सृष्टि के आरम्भ में तुम मेरे पुत्र तथा सर्वलोकों के अध्यक्ष होगे और अहङ्कार को उत्पन्न करने के कारण तुम्हारा नाम विधाता होगा। कोई मनुष्य तुम्हारी स्थापित की हुई मर्यादा का उल्लंघन न कर सकेगा। देवता, असुर, ऋषि, मुनि तथा पितर तुम से वरदान प्राप्त किया करेंगे। हे चतुरानन! देवकार्य साधन के लिये मैं भी उत्पन्न होकर पुत्र के समान सदैव तुम्हारी आज्ञाओं का पालन किया करूँगा।"

## अवतार धारण करने का उद्देश्य.

हे नारद! मेरी चतुर्थमूर्ति ने उस अव्ययशेष को उत्पन्न किया जिसे लोग संकर्षण कहते हैं। वह संकर्षण ही प्रद्युम्न को उत्पन्न करता है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। अनिरुद्ध के नाभिकमल से ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है। जिसप्रकार इस संसार में सूर्य उदय और अस्त होता है उसीप्रकार कल्प के आदि में यह सृष्टि उत्पन्न और अन्त में नष्ट हुआ करती है। जैसे सूर्य के अदृश्य होने पर बलवान् काल फिर उसे ला उपस्थित करता है, वैसे ही मैं भी वराहरूप धारण कर सागरमेखला एवं सत्त्वगुण से आक्रान्त नष्टप्राय पृथिवी को बलपूर्वक फिर अपने स्थान पर लाऊँगा और अभिमानी दैत्य हिरण्याक्ष को मारूँगा। नृसिंहरूप धारण कर यज्ञों का नाश करने वाले दितिपुत्र हिरण्यकशिपु को मार कर देवताओं के कार्यसिद्ध करूँगा। विरोचन का पुत्र बलि नामक दैत्य देवताओं और असुरों से अवध्य होकर इन्द्र को उसके राज्य से निकाल बाहर करेगा। उससमय मैं अदिति के गर्भ से वामन नाम से द्वादशआदित्यरूप में उत्पन्न हो कर इन्द्र को उसका राज्य और अन्य सर्वदेवताओं को निजनिज स्थान वापिस दिला कर बलि को पाताल में बसाऊँगा। त्रेतायुग में भृगुवंश में परशुराम रूप में उत्पन्न हो कर मदान्ध क्षत्रियों का संहार करूँगा। त्रेता तथा द्वापर के सन्ध्याकाल में दाशरथि रामरूप में अवतार लूँगा। उसीरूप में पुलस्त्यकुल को कलङ्कित करनेवाले राक्षस रावण को उसके सहायकों सहित मारूँगा। प्रजापति के पुत्र एकत और द्वितऋषि अपने भाई त्रित पर अत्याचार करने के कारण वानरयोनि में उत्पन्न होंगे। उस समय वेही मेरी सहायता करेंगे। द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल में कंस आदि दैत्यों का वध करने के लिये मथुरा में कृष्णरूप से वसुदेव के घर अवतार लूँगा और उसी समय अदिति को कष्ट देनेवाले नरकासुर, भीमासुर तथा मुर आदि दानवों का भी संहार करूँगा और प्रागज्योतिषपुरवासी दानवश्रेष्ठ को मार कर उसकी समस्त धनसम्पत्ति को द्वारका में ले जाऊँगा। महेश्वर, महासेन और सहस्रभुजा वाले बलिपुत्र बाणासुर को पराजित कर सौभनिवासी मानवों का संहार करूँगा। हे नारद! तदनन्तर गर्गमुनि के तेज से परिपूरित कालयवन को मरवा डालूँगा और मगध के राजा जरासन्ध का भी अपने बुद्धिकौशल से अन्त करा दूँगा। धर्मपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल का वध करूँगा और फिर अकेले धनञ्जय-अर्जुन की सहायता से भू भार उतारूँगा। फिर यदुवंशियों में घोरप्रलय करने के बाद अपनी

चारों मूर्तियों को धारण करूँगा और इस प्रकार अपरिमेय कार्यों को पूर्ण कर ब्रह्माजी द्वारा सत्कारित हो निज लोक को जाऊँगा। जिससमय वेदश्रुति नष्ट होगी उस समय मैं उसका उद्धार करूँगा। इस प्रकार समय समय पर अवतार धारण करके मैं लोककार्य किया करता हूँ। हे नारद! तुमने इससमय मोक्षनिष्ठायुक्त बुद्धि का अवलम्बन ले कर जिसप्रकार मेरे दर्शन किये हैं इसप्रकार ब्रह्मा को भी दर्शन नहीं हो सकते। तुम भक्तिमान् हो इसीवास्ते मैंने तुमको प्राचीन तथा भविष्य रहस्य भी बताए हैं।

## सात्वतधर्मप्रचार परम्परा.

इसप्रकार सात्वतधर्म अर्थात् पाञ्चरात्रशास्त्र का नारदजी को उपदेश कर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। इसके बाद नारदजीद्वारा इसधर्म का किसप्रकार प्रचार हुआ? महाभारत में इसका विस्तारसहित वर्णन किया गया है।

नारायण मुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः।
ब्राह्मणः सदने तात यथा दृष्टं यथा श्रुतम्॥
ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम्॥

धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं। देवर्षिनारद ने जो पाञ्चरात्रशास्त्र भगवान् नारायण का दर्शन करने के समय सुना था वही उपदेश उसने फिर ब्रह्माजी से चारों वेदों सहित सुना। उस जगह जितने ऋषि उपस्थित थे उन सबको नारदजी ने वही उपदेश सुनाया। उन ऋषियों से सूर्यदेव ने सुना और फिर सूर्यदेव ने अपने अनुगामी साठहज़ार ऋषियों को सुनाया। सूर्य के अनुगामी ऋषियों ने सुमेरुपर्वत निवासी ऋषियों को सुनाया। यही उपदेश देवताओं से सुनकर मुनिराज असित ने पितरों को सुनाया। इसीपरम्परा से मेरे पिता शान्तनु ने सुना और उन्हों ने ही मुझे सुनाया था। जैसा मैंने उनसे सुना वैसा ही तुमको सुना दिया है। यह पाञ्चरात्रशास्त्र बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसप्रकार सुरासुर ने समुद्र को मथन कर अमृत निकाला था वैसे ही प्राचीनकाल में तत्त्वज्ञानी ब्राह्मणों ने वेद, पुराण तथा सांख्यादिशास्त्रों का मथन कर यह पाञ्चरात्रशास्त्ररूपी अमृत निकाला है। जो मनुष्य श्रद्धाभक्ति से इस शास्त्र को पढ़ता अथवा सुनता है, वह निश्चय ही श्वेतद्वीप में जाता और वहाँ सहस्रार्चियुक्त परमपद पाता है। इसके सुनने से जिज्ञासु को मनवाञ्छित फल मिलता है और भक्तों को गन्तव्यगति प्राप्त होती है। हे युधिष्ठिर! तुम भी उस पुरुषोत्तम भगवान् का भजन करो। ऐसा करने से वे सनातनदेव तुम पर प्रसन्न होंगे।

## नारदजी की उदारता.

उपर्युक्त कथा से प्रकट होता है कि पाञ्चरात्रशास्त्र, जिसको महात्मालोगों ने महोपनिषद् कहा है, नारदजीद्वारा ही जनता तक पहुँचा है। यह कल्याणकारी उपदेश

पहले देवताओं के पास ही गुप्तमन्त्र के रूप में रहा। परन्तु जब सर्वहितचिन्तक नारदजी के पास यह ज्ञान आया तो उन्होंने ही ऋषियोंद्वारा इसका सर्वत्र प्रचार कर दिया। इसीवास्ते यह सात्वतसंहिता नारदपाञ्चरात्र नाम से प्रसिद्ध है। इस महोपनिषद् में पचीस परिच्छेद और ३४९२॥ श्लोक हैं और परिच्छेदक्रम से शास्त्रावतरण, उपासनाविधि, सुषुप्तिव्यूह, मन्त्रोद्धार, सूक्ष्मव्यूह देवता की अन्तर्याग तथा बहिर्यागविधि, चतुरात्म्याराधनविधि, व्रतविधि, सांवत्सर व्रतविधि, विभवदेवता की अन्तर्याग तथा बहिर्यागविधि, मण्डलध्यानविधान, कुण्डललक्षण वर्णन, पातालनिलय, भगवान् की विभवमूर्ति और उनके अस्त्रों एवं भूषणों के देवताओं के ध्यान की विधि, स्नानविधान, दीक्षाङ्गभूत, पापशान्ति, कल्पवर्णन, वैभवीय नृसिंहमन्त्रोद्धार, आराधन, अधिवासदीक्षा, वर्णाध्वविज्ञान, आचार्याभिषेकविधि, समयाचार, अधिकारीमुद्राभेद, विभवदेवता के पिण्ड तथा मन्त्रोद्धार का वर्णन, प्रतिभाप्रासाद का लक्षण और प्रतिष्ठादिविधि का विस्तृत वर्णन है। यह शास्त्र मन्त्रसिद्धान्त, आगमसिद्धान्त, तत्त्वसिद्धान्त और तन्त्रसिद्धान्त इन चार भागों में विभक्त है और इसकी पाद्मपद्मोद्भव आदि एक सौ आठ संहिताएं प्रसिद्ध हैं। जिनमें भगवान् के मुखारविन्द से प्रकाशित होने के कारण सात्वतसंहिता, पौष्करसंहिता और जयसंहिता प्रधान मानी जाती हैं। इन रत्नत्रयसंहिताओं के अन्तर्गत सात्वतसंहिता भगवान् वासुदेव ने द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में संकर्षण को सुनाई थी। वही संहिता भगवान् नारदजी ने मलयाचलपर्वत पर ऋषियों को सुनाई।

इस से प्रकट होता है कि यह अलौकिकज्ञान नारदजीद्वारा ही संसार को प्राप्त हुआ है। नारदजी का संसार पर यही एक ऐसा उपकार है कि जिससे वह कभी उऋण नहीं हो सकता। नारदीय पाञ्चरात्रशास्त्र से यह भी सिद्ध होता है कि नारदजी का हृदय कितना उदार और विशाल है। सात्वतधर्म की परम्परा के सिलसिले में पाठक पढ़ चुके हैं कि कितनी वार कितने लोगों के पास यह कल्याणकारी धर्म आया, पर वह आगे संसार में नहीं फैल सका। परन्तु नारदजी को ज्यों ही इस धर्म का ज्ञान हुआ त्यों ही उन्हों ने मलयाचलपर्वत पर ऋषियों को पढ़ा कर इसको संसार में फैला दिया। इस से उनके हृदय की परोपकारपूर्णता का ही परिचय मिलता है। भगवान् का धन्यवाद है कि नारदजी के धर्मानुयायी उदासीनमहात्मा में यह भाव अवतक पाया जाता है। उनके पास जो भी धन या सम्पत्ति आती है उसे सर्वसाधारण में बाँट कर ही प्रसन्न होते हैं। आजकल भी अच्छे और पवित्र भोजनों के जितने भण्डारे उदासीनस्थानों में अथवा उदासीनधर्मावलम्बीमहात्माओं की ओर से होते हैं दूसरे किसी सम्प्रदाय या जाति में नहीं देखे जाते। इसका कारण यही है कि उदासीनमहात्माओं के पास जो भी कीमती वस्तु आती है वे उसे सर्वसाधारण में बाँट देने में ही आनन्द अनुभव करते हैं। यह सब नारदजी जैसे उदासीनमहात्माओं की कृपा का ही फल है, जिन्हों ने परोपकार के भाव से तत्त्वज्ञानविषयक गुप्त रहस्यों को भी सर्वसाधारण तक पहुँचाने का यत्न किया है। उदासीनमहात्माओं को अपने बड़ों के ऐसे उपकारों का सदैव गर्व रहता है, इसवास्ते वे भण्डारों तथा ऐसे ही परोपकारपूर्ण कार्योंद्वारा अपने बड़े बूढ़ों का अनुकरण करते रहते हैं।

# ( १४ तरङ्ग )

## संस्कृतसाहित्य में नारद्जी का स्थान.

भगवान् नारद के ज्ञानभण्डार के रत्नों की गणना का विचार करना भी धृष्टता है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, आदिगुरु हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान को जाननेवाले हैं। फिर उन ज्ञानस्वरूप भगवान् के मानस अवतार नारदजी के ज्ञान का क्या पारावार हो सकता है। भगवान् नारदजी के रचे हुए ग्रन्थों से ही यह वातसिद्ध हो जाती है कि उनके ज्ञानसागर की कोई सीमा नहीं है। जिसविषय के पुस्तक को उठाकर देखो उससे ही यह साफ प्रकट होता है कि इस विषय के नारदजी पूर्णज्ञाता हैं। आप परमभागवत हैं। भगवान्भक्ति का ही अधिक प्रचार करते रहे हैं। आपके रचे हुए भक्तिसूत्रग्रन्थ से ज्ञात होता है कि इसविषय की जिस गहराई तक आप पहुँचे हैं दूसरा कोई क्या पहुँचेगा। यही कारण है कि संसार के जिस-धर्म में भी भक्ति का कुछ अंश दिखाई देता है, वह नारदजीद्वारा प्रचार किये गये भक्तिमार्ग का ही अनुकरणमात्र है। नकेवल भारतीय धर्मों में भक्ति का अङ्ग नारदजी को कृपा का फल है, भारतेतर देशों में पैदा होनेवाले मतमतान्तरों के भी भक्तिविषय पर नारदजी के भक्तिमार्ग की छाप है। सारांश यह कि आज संसार में जहाँ कहीं भी भक्ति का चिह्न दिखाई देता है वह सब नारदजी की कृपा का ही फल है। और वह परमभागवत नारदजी के रचे हुए भक्तिसूत्र की छाया मात्र है। केवल भक्तिसूत्र से ही नारदजी के भक्तिविषयक अलौकिकज्ञान का पता नहीं चलता, पुराणों में नारदजीद्वारा समय समय पर किये गये उपदेशों से भी उनके भक्तिविषयक ज्ञानभास्कर की किरणें सर्वत्र फैल रही दिखाई देती हैं। विद्वान् ब्राह्मणों को प्रणाम करते देखकर जब भगवान् कृष्णने शंका की तो उसके उत्तर में नारदजी ने जो भाषण किया। शुकदेवजी को उपदेश करते हुए जिन दिल में उतर जानेवाले शब्दों में आपने भगवद्भक्ति का मार्ग बताया। भगवद्भक्तों के लिये ये सब महत्त्व की चीज़ें हैं। नारदजी के एक एक शब्द से उनका हार्दिक भक्तिभाव टपकता है। कारण यही है कि नारदजी भक्तिमार्ग के कोरे उपदेशक ही नहीं हैं। स्वयं-परमभागवत हैं और अपने आचरण से संसार में भगवद्भक्ति का प्रचार करने वाले हैं।

## हरिगुणगान के लिये गानविद्या प्राप्ति.

इसीवास्ते हर समय हाथ में वीणा लिये हरिगुण गान करते फिरते हैं। भक्ति के प्रेम में ही आपने गानविद्या का अभ्यास किया। आपके गानविद्या सीखने की कथा भी बड़ी मनोरञ्जक है। ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि एक समय भगवान् विष्णु के दरबार में तुम्बरु-नामक एक गन्धर्व गा रहा था। उसका गाना सुनकर नारदजी को मालूम हुआ कि वे तो तुम्बरु जैसा गा नहीं सकते। इससे पहले जब भजन गाते हुए भगवद्भक्ति में लीन हो जाया करते थे तो उन्हें ऐसा मालूम होता था कि उनसे अच्छा कोई गा नहीं सकता। पर आज तुम्बरु का गाना सुनकर उन्हें बड़ी ईर्ष्या हुई। भगवान् विष्णु ने नारदजी का भाव जानकर उन्हें समझाया कि आप अभी गाना सीख रहे हैं और गन्धर्व लोग गाने में प्रवीण होते हैं। आपको

इस पर ईर्ष्या न करनी चाहिये। यदि आप इस विद्या में निपुण होना चाहते हैं तो उलूकेश्वर गन्धर्व के पास जाकर गानविद्या सीखिये। नारदजी उलूकेश्वर के पास गये और दीर्घकाल तक उससे गानविद्या सीखते रहे। जब यह मालूम हो गया कि अब इस विद्या को पूर्णतया जान गये हैं तब आप विष्णु के पास न जा कर पहले तुम्बरु की ओर ही गये। क्योंकि तुम्बरु को गानविद्या में हराने की आपको धुन-सी लग गई थी। तुम्बरु के स्थान के पास पहुँचे तो उन्हें बहुत-सी स्त्रियाँ तथा पुरुष मिले, जिनके कई एक अङ्ग टूटे हुए थे और दुःख से रो रहे थे। नारदजी ने उनसे कष्ट का कारण पूछा तो वे स्त्रियाँ और पुरुष बोले-हम राग-रागनियाँ हैं। जब कोई व्यक्ति नियमविरुद्ध गाता है तो हमारे अङ्गभङ्ग हो जाते हैं और हमें बड़ा कष्ट होता है। फिर कोई सङ्गीतकला का ज्ञानी पुरुष नियमपूर्वक गाता है तब हमारे अङ्ग ठीक होते हैं। इस समय किसी नारदजी-नामक महात्मा के नियम-विरुद्ध गाने के कारण हमारे अङ्गभङ्ग हो गये हैं। अब हम तुम्बरु के पास जा रहे हैं कि वह नियमपूर्वक गाए और हमारे अङ्ग फिर ठीक हो जाएं। उसके गाने पर हमारा कष्ट दूर हो जायगा और हम उसका धन्यवाद करते हुए ख़ुशी ख़ुशी अपने घरों को जायंगे।

यह सुनकर नारदजी लज्जित हुए और तुम्बरु को परास्त करने का हठ छोड़ कर विष्णुभगवान् के पास चले गये। भगवान् ने नारदजी का बड़ा आदरसत्कार किया और पूछा आप आज इतने उदास क्यों हैं? नारदजी ने अपनी उदासी का कारण उपरोक्त ग्लानि बताया तो भगवान् बोले—आप इसबात की ग्लानि न करें। अभी आप गानविद्या में निपुण नहीं हुए। कुछदिन धैर्य से प्रतीक्षा कीजिये, हम आपकी यह अभिलाषा पूर्ण कर देंगे। हम शीघ्र ही कृष्णरूप में व्रज में अवतीर्ण होंगे, उस समय आप हमारे पास आइये, आपको सङ्गीतविद्या का पूर्णज्ञान करा देंगे। नारदजी को सङ्गीतविद्या सीखने की लगन लगी हुई थी। जब भगवान् ने मथुरा में अवतार धारण किया तब नारदजी उनके पास आए और उन्हें सङ्गीतविद्या सिखाने की प्रतिज्ञा स्मरण कराई। इसपर भगवान् ने नारदजी को सङ्गीवविद्या सीखने के लिये अपनी धर्मपत्नियों के पास भेज दिया। वहाँ आप बहुतदेर तक सङ्गीतशास्त्र का अभ्यास करते रहे। दो वर्षतक जाम्बवती तथा सत्यभामा से गानविद्या सीखते रहे। इसपर भी उन्हें सङ्गीतशास्त्र का पूर्णज्ञान न हुआ। अन्त में भगवान् की आज्ञा से दो वर्षतक रुक्मिणी की शागिर्दी की। तब कहीं उन्हें सङ्गीत-शास्त्र का पूर्णज्ञान हुआ। अब उनकी जिगीषावृत्ति भी लुप्त हो गई। तुम्बरु को परास्त करने का विचार रहा ही नहीं।

सङ्गीतविद्या सीखने के लिये नारदजी ने इतना परिश्रम अपने भक्तिभाव को सरस बनाने के लिये ही किया था। ताकि भगवद्भक्ति प्रचार अपने आचरण से अधिक प्रभावोत्पादक ढङ्ग से किया जाए। कहने का प्रयोजन यह कि केवल संस्कृतसाहित्य में ही नहीं अन्यभाषाओं के साहित्य पर भक्ति की जो रंगत दिखाई देती है वह नारदजी महाराज के प्रचार का ही फल है। आज भी उदासीन म-हात्मा नारदजी के सङ्गीतद्वारा भक्तिप्रचार का अनुकरण कर रहे हैं। उदासियों के स्थानों में आज भी धर्मप्रचार के साधनों में संकीर्तन को विशेषमहत्त्व प्राप्त है।

## नीतिनिपुणता.

नारदजी केवल भक्तिज्ञान में ही निपुण हैं, ऐसा भी नहीं है। पुराणों में उनके राजनीतिविषयक उपदेश भी विशेष महत्त्व रखते हैं और उनसे प्रकट होता है कि इसविषय में दूसरा कोई उस गहराई तक नहीं पहुँच सका जहाँतक आप पहुँचे हैं। प्रश्नों के रूप में आपने युधिष्ठिर को राजनीति की जो शिक्षा दी है उसे पढ़कर आज भी बड़े बड़े राजनीतिज्ञ चकित रह जाते हैं। वे प्रश्न राजनीति के सूत्र समझने चाहियें। संसारभर की राजनीति उनमें भरी हुई है। यही नहीं, पुराणों में और भी अनेक जगह ऐसी कथाएं आती हैं जिनसे नारदजी की नीतिनिपुणता का परिचय मिलता है। फिर नारदजी नीति का उपदेश करते समय कोरे सिद्धान्तों को ही नहीं दोहराते बल्कि प्रत्येक अधिकारी के भले की और समयानुकूल शिक्षा देते हैं। महाराज युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुँचकर जब दुर्योधन की पदवी को देखकर कुढ़ने लगे तो नारदजी ने वह फटकार बताई कि धर्मराज चुप रह गये। आपने कहा—युधिष्ठिर! यह स्वर्ग है, यहाँ ईर्षालु का काम नहीं। दुर्योधन क्षात्रधर्मपालन के कारण इस पद का अधिकारी हुआ है। यहाँ इसके साथ द्वेषभाव रखना तुम्हें योग्य नहीं। अब इसके साथ प्रेम का व्यवहार रक्खो। कहने का प्रयोजन यह कि सँस्कृतसाहित्य में राजनीति की शिक्षा देनेवालों में भी नारदजी का स्थान ही सब से ऊँचा है। यह तो मानी हुई बात है कि दूसरी भाषाओं में भी राजनीति की जो शिक्षा है वह सँस्कृतसाहित्य से ही ली गई है। इस से सिद्ध है कि संसारभर को राजनीति की शिक्षा देनेवालों में नारदजी का स्थान ही सब से ऊँचा है।

यही क्यों? सँस्कृत में अनेक बड़े बड़े ग्रन्थ भी यातो नारदजी के कथन किये हुए सिद्धान्तों को लेकर रचे गये हैं या उनकी प्रेरणा से ही तैयार हुए हैं। यद्यपि नारदजी के अपने रचे हुए ग्रन्थ गिनती के ही मिलते हैं पर अनेक इहलौकिक तथा पारलौकिक शास्त्रों के आचार्य, उपदेशक, जन्मदाता अथवा उनकी रचना के लिये प्रेरणा करनेवालेऔर ग्रन्थलेखक को सूत्ररूप में ग्रन्थ का विषय समझाकर उत्साहित करनेवाले भगवान् नारदजी ही रहे हैं।

## मूलरामायण के कर्त्ता नारदजी.

यह तो प्रसिद्ध ही है कि श्रीमद्भागवत की रचना की प्रेरणा करनेवाले भगवान् नारदजी ही हैं। जब श्रीवेदव्यासजी ने आपसे महाभारतादि ग्रन्थों की रचना के बाद भी चित्त अस्थिर रहने का कारण पूछा तब नारदजी ने कहा—यह तो ठीक है कि आपने लोगों के कल्याण के लिये महाभारत जैसे ग्रन्थरत्न में वेदों का भाव खोलकर रख दिया है। पर अब लोगों को शान्तिदायिनी भगवद्भक्ति का रसास्वादन कराने का भी यत्न करना चाहिये। फिर आपको भी अकथनीय शान्ति का आनन्द अनुभव होगा। इससे प्रकट है कि श्रीमद्भागवत जैसे भागवतों के प्राण ग्रन्थ की रचना के लिये प्रेरणा करनेवाले भगवान् नारदजी ही थे। शास्त्रों के अवलोकन से यह भी मालूम होता है कि अनादि, अकृत और अपौरुषेय संस्कृतसाहित्य के पश्चात् जिस संस्कृतकाव्य की सर्वप्रथम रचना हुई उस आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण की भी आदिकवि श्रीवाल्मीकि ऋषि ने उस मूल रामायण के आधार पर

ही रचना की है जिसका उपदेश आपको नारदजी ने किया था। महर्षि वाल्मीकिजी को नारदजी ने जिस मूलरायायण का उपदेश किया था उसे महर्षिजी ने नारदजी के उपकार के लिये कृतज्ञता प्रकट करते हुए प्रथमकाण्ड के प्रथमसर्ग में रख दिया है। मूलरामायण के एक सौ श्लोक हैं जो "ओंतपःस्वाध्यायनिरतं" से आरम्भ होकर माहात्म्यसूचक "पठन्द्विजो" पाठतक समाप्त होते हैं। इसीमूलरामायण के ग्रन्थसंगति सम्बन्धी प्रथमश्लोक के अगले चारश्लोकों में महर्षि वाल्मीकिजी के वे सोलहप्रश्न हैं जिनके उत्तर में नारदजी ने उन्हें मूलरामायण सुनाया। वाल्मीकिजी के प्रश्न यह हैं—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतंलोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चरित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु कोहितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातु मेवं विधं नरम्॥

महर्षिवाल्मीकिजी पूछते हैं भगवन्! मर्त्यलोक में प्रशस्तगुणयुक्त कौन है? दिव्यास्त्र और बलसंयुक्त वीर्यवान्, श्रौत-स्मार्तधर्मों को जाननेवाला, अनेक अपकारों के मुकाबले में एक उपकार को भी बहुत माननेवाला, हरअवस्था में यथाश्रुत तथा यथादृष्ट कहनेवाला सत्यवक्ता, आपत्तिकाल में भी धर्मव्रत को दृढ़ता से निभानेवाला दृढ़व्रत, सच्चरित्र पुरुष, सर्वभूतहितैषी, सरल, आत्म अनात्मपदार्थों के तत्त्व को जाननेवाला, लौकिकव्यवहार और प्रजारंजनरूप राजनीति की चतुराई में समर्थ, काम से भी अधिकसुन्दर, अन्तःकरण को वश करनेवाला आत्मावान्, जितक्रोध, द्युतिमान्, अनसूयक, जिसके क्रोध से देव असुर सब भयभीत रहते हैं, ऐसा पुरुष इस मर्त्यलोक में कौन है? यह मुझे बतलाइये। आप इनप्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं इसवास्ते ऐसा मनुष्य जानने की इच्छा रखता हूँ।

निःसन्देह वाल्मीकिजी ने यह सोलह प्रश्न लोकहितेच्छा से ही किये थे और उन्हों ने इन प्रश्नों द्वारा रामचरित को ही मर्त्यलोक में प्रचारित करने की इच्छा की थी। उनके भाव को जान कर नारदजी बोले—आपने जिनगुणों से युक्त मनुष्य का पता पूछा है उनगुणों में तो अनेक ऐसे हैं जो किसी मर्त्यलोकवासी में हो ही नहीं सकते। फिर भी हम तुम्हें ऐसा महापुरुष बतलाते हैं, सावधान होकर सुनो। इन गुणों से युक्त एक ही महापुरुष इक्ष्वाकुवंश में राम-नाम से उत्पन्न हुए हैं जो नियतात्मा, महावीर्यवान्, द्युतिमान्, बुद्धिमान्, नीतिमान्, श्रीमान्, वाग्मी, वशी,

विपुलस्कन्द, महाबाहु, कम्बुग्रीव, विशालजङ्घा, महाधनुर्धारी, गूढ़जत्रु, और शत्रुञ्जय हैं। वे श्यामवर्ण, परमप्रतापी और लक्ष्मीजैसी गृहलक्ष्मी सीतासहित शोभायुक्त हैं। इसके साथ ही धर्मज्ञाता, धृतिमान्, दृढ़प्रतिज्ञ और प्रजापालक हैं। वें समस्तजीवों के धर्म और धर्मात्माजनों के रक्षक हैं। इस प्रकार भगवान् राम के अनेक गुणों को कहकर नारदजी ने महर्षि वाल्मीकिजी को रामचरित सुनाना आरम्भ कर दिया। जिसे सुनकर वाल्मीकिजी वड़े प्रसन्न हुए और अपनीशिष्यमण्डली सहित नारदजी की पूजा की। नारदजी के चले जाने पर वाल्मीकिजी उस रामचरित का चिन्तन करने लग गये। वाल्मीकिजी के प्रश्नों के उत्तर में जो उपदेश नारदजी ने किया था उसी को मूलरामायण कहा जाता है।

इसके बाद एक दिन व्याध द्वारा क्रौंच-वध और "मां निषाद प्रतिष्ठां त्वम्" आदि श्लोकरूप में वाणी निकलने पर वाल्मीकिजी तमसातट पर चिन्ता में बैठे थे कि उस समय ब्रह्माजी ने आकर उनसे कहा—

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः।
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः॥

(वाल्मी० रा० कां० १ स० २ श्लो० ३२, ३३)

श्री ब्रह्माजी बोले—हे वाल्मीकिजी! आप परम बुद्धिमान् और सर्वव्यापी धर्मात्मा श्रीरामजी के चरित को कहिये। यदि आपका यह विचार हो कि यह कार्य वड़ा कठिन है और आपसे न हो सकेगा तो हम तुम्हें निश्चय दिलाते हैं कि यह काम उतना कठिन नहीं है। आपने भगवान् राम का जो भी गुप्त अथवा प्रकट चरित नारदजी से सुना है उसे ही विस्तार के साथ कहिये।

इतना कहकर ब्रह्माजी तो अन्तर्धान हो गये और श्री वाल्मीकिजी नारदजी के उपदेशानुसार रामचरित लिखने लग गये। इससे सिद्ध होता है कि संसार के आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण की रचना भी नारदजी की कृपा का ही फल है। यही समझ कर उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा अन्य धर्मग्रन्थों की भाँति वाल्मीकि रामायण को भी वड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ पढ़ा करते हैं। उनकी वाल्मीकिरामायण के लिये श्रद्धा का कारण जहाँ यह है कि इस ग्रन्थ में भगवान् राम का गुणानुवाद किया गया है वहाँ दूसरा कारण यह भी है कि वे वाल्मीकिरामायण को अपने आचार्य भगवान् नारदजी की ही रचना समझते हैं।

## ज्योतिष–शास्त्र.

नारदसंहिता में अठारह ज्योतिषाचार्य्यों का उल्लेख मिलता है जिनके नाम यह हैं—ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, चन्द्रमा, लोमश, मरीचि, अङ्गिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, मयदैत्य, गर्ग, कश्यप और पराशर। इन आचार्य्यों के समय में उनके सिद्धान्त, संहिता और होरा भेदात्मक ज्योतिषग्रन्थ रहे होंगे, परन्तु इस

समय जो ज्योतिषविषयकसाहित्य मिलता है, उससे यही प्रतीत होता है कि वह सब का सब नारदजी के सिद्धान्तों के आधार पर ही लिखा हुआ है। कारण, ज्योतिषशास्त्र के जो मुख्य तीन स्कन्ध माने गये हैं इससमय वे नारदजी के सिवा अन्य किसी आचार्य्य के भी पूर्णरूप से नहीं मिलते। ज्योतिष के जितने ग्रन्थ मिलते हैं वे सब यातो नारदजी के ज्योतिषसिद्धान्तों के आधार पर लिखे गये हैं या नारदजीरचितग्रन्थों की नक़लमात्र हैं। आजकल भी ज्योतिष का सब से बढ़कर प्रामाणिक ग्रन्थ सूर्य्यसिद्धान्त माना जाता है। इस विषय के शेषग्रन्थ अधिकतर सूर्य्यसिद्धान्त की सहायता से ही लिखे गये हैं। परन्तु उस सूर्य्यसिद्धान्त में भी ज्योतिष के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करनेवाले एक सौ के लगभग श्लोक नारदीयसिद्धान्त से ज्यों के त्यों नक़ल किये गये हैं। सूर्य्यसिद्धान्त में कुल पाँचसौ श्लोक हैं। पर यदि उसमें से नारदीयसिद्धान्त के लगभग एकसौ श्लोक निकाल दिये जाएं तो ज्योतिष के इस प्रामाणिक तथा प्राचीनग्रन्थ में शेष कुछ भी नहीं रहता। क्योंकि उसके शेष चारसौ श्लोक यातो नारदीयसिद्धान्त से लिये गये श्लोकों की व्याख्यामात्र हैं या विस्तार। सूर्य्यसिद्धान्त का तो उदाहरण के रूप में यहाँ उल्लेख किया गया है। ज्योतिषविषय का कोई भी ग्रन्थ उठाकर देखें उसमें सब जगह नारदजी के सिद्धान्त ही दृष्टिगोचर होंगे और वेही सिद्धान्त उस ग्रन्थ का आधार मालूम होंगे। नारदीय सिद्धान्तों का आश्रय लिये विना ज्योतिषविषय पर लेखनी उठानेवालों के लिये कोई चारा भी न था। क्योंकि पूर्णरूप में यदि ज्योतिषशास्त्र उपलब्ध होता है तो वह नारदरचित ही है। दूसरे किसी आचार्य्य का तो यदि कोई सिद्धान्तविषयक ग्रन्थ मिलता है तो संहिता का कहीं पता नहीं, यदि संहिता मिल जाए तो होरा नहीं।

## फलितज्योतिषज्ञान.

इससे सिद्ध हुआ कि इससमय संसार में यदि ज्योतिषशास्त्र पूर्णरूप में मिल रहा है तो यह भी उदासीनाचार्य भगवान् नारदजी की कृपा का ही फल है। नारदजी गणितज्योतिषविषय के केवल ग्रन्थलेखक ही हों, ऐसा भी नहीं। बल्कि वे ज्योतिषशास्त्र का पूर्णरूप से क्रियात्मकज्ञान रखते हैं। उनका फलितज्योतिषविज्ञान भी इतना बढ़ा चढ़ा है कि वह बड़े बड़े नामी ज्योतिषियों को भी चक्कर में डाल देता है। सनत्कुमारसंहिता में लिखा है कि एकसमय ब्रह्मादिदेव भगवान् शंकर को मिलने के लिये कैलास पर गये। जब शंकर के निवासस्थान के द्वार पर पहुँचे तो वहाँ कोई पहरेदार खड़ा न था। सब हैरान होकर सोचने लगे कि भगवान् शंकर तक अपने आने की सूचना कैसे पहुँचाई जाए। उसीसमय देवर्षि नारदजी भी वहाँ पहुँच गये। उनको देखकर इन्द्र ने कहा—भगवन्! अच्छा हुआ इससमय आप आ गये, नहीं तो यहाँ कोई द्वारपाल न देखकर हमें तो चिन्ता हो रही थी कि अपने आने की सूचना अन्दर कैसे पहुँचाई जाए। आप कृपा करके सोचकर बताइये कि इससमय भगवान् शंकर क्या कर रहे हैं? हम उनके पास जा सकते हैं या नहीं? भगवान् नारद ने ज्योतिषविद्या के अनुसार इन्द्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा—ज्योतिषशास्त्र के अनुसार आपकी यह यात्रा बहुत बुरे मुहूर्त में हुई है। देखना कहीं विना सोचे विचारे अन्दर न चले जाना अन्यथा परिणाम अच्छा न

होगा। आपका प्रश्न रतिमुहूर्त में हुआ है। अतःनिश्चय ही भगवान् शंकर इससमय रतिक्रीड़ा कर रहे हैं। परन्तु भावी के वशीभूत देवताओं ने नारदजी के उत्तर की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनलोगों ने अग्निदेव को वृद्धब्राह्मण के रूप में अपने वहाँ आने की ख़बर पहुँचाने के लिये अन्तःपुर में भेज दिया। आगे भगवान् शंकर सचमुच ही रतिक्रीड़ा में लगे हुए थे। अन्यपुरुष को आया देखकर पार्वतीजी लज्जित हो गईं और उन्होंने देवताओं को शाप दे दिया। देवताओं ने नारदजी की बात पर विश्वास न करने का फल पा लिया।

इससे प्रकट होता है कि नारदजी का ज्योतिषशास्त्र के अनुसार किया हुआ कथन अचूक होता था। जिसपर विश्वास न करने का फल देवताओं ने प्रत्यक्ष देख लिया। ज्योतिषशास्त्र के आधार पर नारदजी की कही हुई भविष्यद्वाणी सदैव सत्यप्रमाणित होती थी। जब कौरवों की सभा में कपट करके युधिष्ठिर का जुए में सबकुछ जीत लिया गया, उससमय कौरवों की राजसभा में जाकर भगवान् नारद ने यह भविष्यद्वाणी की थी कि आज से चौदहवें वर्ष दुर्योधन के पाप से और भीम तथा अर्जुन के हाथ से समस्तकुरुकुल का नाश हो जायगा। आपकी यह भविष्यद्वाणी अक्षरशः सत्य निकली। जिससे प्रकट होता है कि नारदजी केवल ज्योतिष के ही पूर्णज्ञानी नहीं बल्कि त्रिकालदर्शी और दूरदर्शी भी हैं। कहने का प्रयोजन यह कि ज्योतिषशास्त्र में भी सब से ऊँचा स्थान उदासीनाचार्य भगवान् नारदजी का ही है। लोगों को भी विदित था कि नारदजी का वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। इसीवास्ते जब पार्वतीजी के शारीरिक लक्षण देखकर नारदजी ने रहस्यपूर्ण शब्दों में वे लक्षण हिमालय तथा मैना को बताए तो वे उनका ठीक अर्थ न समझकर बड़े चिन्तित हुए। क्योंकि वे ज़ानते थे नारदजी के वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकते।

## धर्म के लक्षण.

पुराणों तथा स्मृतियों को पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् नारद जी का स्थान राजनीति में भी बहुत ऊँचा है और उनके बताए हुए राजनैतिक विचारों से अब भी संसार बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकता है। इसका निश्चय करने के लिये युधिष्ठिर को प्रश्नव्याज से किया हुआ नारदजी का उपदेश ही पर्याप्तप्रमाण है। उनकी राजनैतिक शिक्षा विषयक कथाओं को लिखने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा। यहाँ केवल उनके धर्म उपदेश का ही थोड़ा सा नमूना लिख दिया जाता है। जिस से पाठकों को मालूम हो जायगा कि उनके धर्मविषयक उपदेशों के शब्द भी कैसे तुले हुए होते हैं और जो कुछ उन्हों ने एक बार कह दिया है उससे आगे बढ़ने का आजतक कोई साहस नहीं कर सका।

श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में लिखा है कि जब भगवान् नारद महाराज युधिष्ठिर को प्रह्लाद की कथा सुना चुके तब महाराज युधिष्ठिर ने प्रार्थना की— भगवन्! आप धर्म के परमगोप्य तत्त्व को भी जाननेवाले और सदैव तप ध्यान में निरत रहनेवाले साधु महात्मा हैं। आपसे बढ़कर धर्म का उपदेश करनेवाला दूसरा कोई नहीं मिल सकता। इसलिये आप मुझे वर्णाश्रमाचारसहित सनातन धर्म का भी उपदेश कीजिये।

नारदजी ने उत्तर में कहा—मैं तुम्हें उसी सनातनधर्म का मर्म सुनाता हूँ जिसका उपदेश मैंने भगवान् नारायण से सुना था, सावधान होकर सुनो।

धर्म को जानने के चार साधन हैं, वेद, महर्षियोंद्वारा रचित वे स्मृतियाँ जो वेद के विरुद्ध नहीं, सदाचार और अन्तःकरण की साक्षी। धर्म को जानने के ये चार प्रकार बतला कर नारदजी ने आगे धर्म के तीस लक्षण बतलाए हैं। *

वे हैं–सत्य, दया, तप, शौच, सहिष्णुता और मनःसंयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, साधुमहात्माओं की सेवा, ग्राम्यधर्म से क्रमशः विरति, निष्कामभाव से कर्मफल त्याग, वृथालाप का त्याग, प्राणीमात्र को आत्मा के समान समझना, अपने अधिकार में आए हुए अन्नादिपदार्थों को सब प्राणियों में बाँटकर स्वयं प्रयोग में लाना। भगवान् की नवधाभक्ति के लिये कथा आदि सुनना, कीर्तन करना और भगवान्‌लीलाओं को स्मरण करना, भगवत्मूर्तियों की सेवापूजन और प्रणाम करना। नम्रता, भगवज्जनों के लिये दास्यभाव, भगवान्‌चरणारविन्द से प्रेम रखना और तन, मन, धन अर्पण करना, यही धर्म के लक्षण हैं।

नारदजीद्वारा मनुष्यमात्र के लिये बताए हुए इन धर्मों का पालन करके प्रत्येक मनुष्य उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। उदासीनधर्मावलम्बी महात्मा अपने आचार्य के बताए हुए इन नियमों का बड़ी श्रद्धा से पालन करते हैं।

इसके बाद नारदजी ने परमहंसपद प्राप्ति की विधि कैसे सुन्दर और चित्ताकर्षक ढङ्ग से बताई है। वे कहते हैं–संसार का मोह त्याग कर धैर्य से धर्माचरण में लगा हुआ पुरुष एक दिन अपने परिश्रम में सफल हो जाता है। संतोषी पुरुष की सब क्रियाएं एक लोटे से भी सध सकती हैं पर लोभ में फँसे हुए पुरुष के लिये कुबेर का खज़ाना भी काफ़ी नहीं है। इसवास्ते सन्तोष ही सफलता की कुञ्जी है। आगे तीर्थों के वर्णन को देखो तो ऐसा प्रतीत होता है कि नारदजी प्रत्येक तीर्थस्थान और भूगोल के चप्पे चप्पे को भलीप्रकार जानते हैं। देवसभाओं के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि आप संसारभर की सँस्थाओं का हरसमय का पूर्णज्ञान रखते हैं। किस किस विषय को लिया जाए, जिस ओर दृष्टि उठाओ यही प्रतीत होता है कि नारदजी उस विषय के पूर्ण ज्ञाता हैं। हाँ भी क्यों न? आप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् के मानस अवतार हैं। इसवास्ते आप भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं।

कहने का प्रयोजन यह कि जिधर भी दृष्टि डालो भगवान् नारदजी का स्थान सबजगह सर्वोच्च ही दिखाई देता है।

## वेदों में नारदजी का वर्णन.

भगवान् नारदजी का वर्णन केवल पुराण, इतिहास, स्मृति आदि ग्रन्थों में ही नहीं, आपका वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के १३ वें

* सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमोदमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेच्छा मौनमात्म विमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मस्सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

सूक्त के ऋषि नारदजी ही हैं। पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में लिखा है कि जब भगवान् विष्णु ने हयशिरा-नामक दैत्य को मार कर वेदों की रक्षा की और वेद प्रयाग में लाकर ऋषियों के सुपुर्द किये तब से जिस ऋषि के सुपुर्द जो सूक्त अथवा मन्त्र हुए उनके वेही ऋषि कहलाए। नारदजी के सुपुर्द ऋग्वेद के आठवें मण्डल का १३ वाँ सूक्त हुआ, उसके वेही ऋषि हुए। निरुक्तकार यास्कजी ने लिखा है "साक्षात्कृतधर्माण ऋषियो बभूवुः" आचार्य व्याडी का कथन है कि "अनूचानत्वे सति मन्त्रार्थाहन समर्थत्वम् ऋषित्वम्" अर्थात् विवाद उठ खड़ा होने पर मन्त्रों का अर्थ करने में जो समर्थ हों वेही ऋषि हैं। इस से प्रकट होता है कि भगवान् के वेदों की रक्षा का विधान करने के समय जिन ऋषियों ने सर्वप्रथम वेद सूक्तों अथवा मन्त्रों को प्राप्त किया था जो वेदों का अर्थ करने में समर्थ हैं वेही ऋषि हैं। उनमें भगवान् नारदजी का नाम भी मोटे अक्षरों में लिखा मिलता है।

इसीप्रकार अथर्ववेद में भी भगवान् नारदजी का वर्णन मिलता है। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में अथर्ववेद के प्रचार की जो परम्परा लिखी है उससे पता चलता है कि सर्वप्रथम विश्वकर्त्ता तथा भुवनगोप्ता ब्रह्माजी ही हुए हैं। उन्हों ने समस्तविद्याओं में प्रधान वेदविद्या अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को पढ़ाई। वही वेदविद्या अथर्वा ने अङ्गिरा को, अङ्गिरा ने भरद्वाज को और भरद्वाज ने अङ्गिरस को पढ़ाई। हम पीछे लिख आए हैं कि ब्रह्माजी के दसपुत्रों में एक अंगिरस भी हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में ब्रह्मद्रोही प्राणी की दुर्गति का वर्णन करते हुए अंगिरसजी ने नारदजी से कहा—

**तं वृक्षा अपसेधन्ति छायां नो मोपगा इति।**
**यो ब्राह्मस्य सद्धनमभि नारद मन्यते॥** (५, १९, १९)

हे नारद! ब्राह्मण के उत्तमधन, गोभूमि को जो कोई ज़बर्दस्ती छीनने का यत्न करता है उसको वृक्ष दुतकारते और कहते हैं तू हमारी छाया में नहीं बैठ सकता।

कहने का प्रयोजन यही है कि नारजी के नाम का उल्लेख वेदों में भी हुआ है।

## त्रिकालदर्शी नारदजी.

कुछ चोर एकबार कहीं चोरी करके माण्डव्यऋषि के आश्रम में जा छिपे। सिपाही पीछे लगे हुए थे। उन्होंने चोरों के साथ माण्डव्यऋषि को भी गिरफ्तार कर लिया। राजा ने सब को फाँसी का दण्ड सुनाया। चोरों के साथ माण्डव्य ऋषि भी फाँसी के तख्तेपर खड़े कर दिये गये। उसीसमय राजा को यह पता लग गया कि यह तो ऋषि हैं और चोरों के साथ निर्दोष फाँसी पर लटकाए जा रहे हैं। तब उन्हें फाँसी के तख्ते से नीचे उतार लिया और क्षमा माँगी। वहाँ से छूटते ही माण्डव्यऋषि यमराज के पास पहुँचे और डाँटकर पूछा कि हमको फाँसी जैसा घोरदण्ड मिलने का कारण बताओ। यमराज बोले—भगवन्! बाल्यकाल में आपने एक टीड़ी को कुश से छेदा था, उसीका यह दण्ड है। ऋषि बोले बाल्यकाल में अज्ञानवश मुझ से वह अपराध हो गया था। उसका इतना कठोर दण्ड? अच्छा इस अन्याय के लिये तुम सौवर्षतक शूद्रयोनि में रहो। माण्डव्यऋषि के इसी शाप के कारण यमराज दासी के गर्भ से विदुर के रूप में उत्पन्न हुए। जब महाभारतयुद्ध से बचे हुए कौरव-पाण्डवों का भी अन्तसमय समीप आ

गया तब विदुरजी धृतराष्ट्र के पास जाकर बोले—राजन्! हमलोगों का भी मृत्यु-समय निकट आ गया है। यह वह दारुणभय है जो किसी के रोकने से रुक नहीं सकता और जिस में मनुष्य के प्रियतम प्राण भी छूट जाते हैं। यदि यह कहोकि घर, राज्य तथा अन्यसुख छोड़े नहीं जाते तो भाई! सोचो, पिता, भाई, सुहृद् और पुत्रआदि सब गये। जवानी बीत गई, बुढ़ापे ने शरीर शिथिल कर दिया। नेत्र पहले से ही बन्द हैं। अब कानों से भी कम सुनाई देने लग गया है और बुद्धि-विवेक भी मन्द पड़ गया है। पेट की पाचकशक्ति निर्बल हो गई और दाँत गिर गये हैं। कफ तथा क्रोध बढ़ गये हैं, पराए घर में रहते हो, अब भी संसार का त्याग करने के लिये तैयार नहीं हो। सच है, मनुष्य की जीने की आशा बड़ी बलवान् ह। यही आशा आपको भीमसेन का दिया हुआ अन्न कुत्ते की भाँति खाने के लिये बाध्य करती है। यदि कहो कि वे हमारे ही भतीजे हैं, कोई ग़ैर नहीं तो जिनको आग में जलाने का उद्योग किया, विष खिलाकर मार डालना चाहा, जिनकी स्त्री को भरी सभा में वस्त्रहीन करना चाहा, जिनका छल से राज्य छीन लिया, उनके दिये अन्न को खाकर जीते हो, इसमें क्या सुख है! इस बात को भी जाने दो। यदि धनादि को त्यागना नहीं चाहते और जीने की इच्छा रखते हो तब भी यह शरीर जराजीर्ण हो एक दिन पुराने वस्त्र की भाँति अपने आप ही गिर पड़ेगा फिर पहले ही इस संसार को त्यागकर ईश्वर का भजन करने क्यों नहीं चलते? भाई! जो पुरुष विरक्त हो स्नेहबन्धन को काट दे और इस संसार को त्यागकर बिना किसी से कुछ कहे अपना स्वार्थ साधने के लिये वन को चला जाए वही धीर, बुद्धिमान् और पुरुषोत्तम है। जिसके हृदय में आप ही आप अथवा किसी के उपदेश से ज्ञान उत्पन्न हो जाए और फिर वह हरि का भजन करता हुआ संसार से विरक्त हो घर से चला जाए वह पुरुष मनुष्यों में उत्तम माना जाता है। अब आप विलम्ब न कीजिये, इसीसमय हिमालयपर्वत पर जाकर भगवद्भजन में लीन हो जाइये। आपने जो कुछ अबतक किया है उसका फल भी आपको विदित हो गया है और आपने यह भी जान लिया है कि जितना समय और बीतेगा उतना ही बुद्धि तथा धैर्यआदि गुणों को काल अधिक नष्ट करदेगा। अब आपको और अधिक कुछ जानना भी नहीं है।

विदुरजी के इस उपदेश से महाराज धृतराष्ट्र के ज्ञानचक्षु खुल गये और वे बन्धुबान्धवों के स्नेहपाश को तोड़कर उसीसमय विदुरजी के दिखलाए हुए मोक्ष-मार्ग पर चल पड़े। सुबल की पुत्री पतिव्रता, अतिसाध्वी महाराणी गांधारी ने जब पति को जाते देखा तो वह भी उनके पीछे चल पड़ी। दोनों हिमालय पर्वत की ओर चले गये, जहाँ जाते हुए महात्मा पुरुष वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे युद्धभूमि को जाते समय शूरवीर पुरुष।

इधर महाराज युधिष्ठिर ने प्रातःकाल उठकर स्नानध्यान पूजापाठ के बाद ब्राह्मणों को प्रणाम किया। गाय, भूमि, सुवर्ण, अन्नआदि दान किया और वृद्ध चाचा-चाची के चरण छूने के लिये उनके भवन में गये। पर वहाँ भवन में धृतराष्ट्र और गांधारी को न देख कर घबरा गये और वहाँ बैठे हुए सञ्जय से पूछा—हे सञ्जय! हमारे वृद्ध एवम् नेत्रहीन चाचाजी कहाँ गये? हमारी अम्बा (चाची)जी कहाँ हैं? हमारे सुहृद् चाचा विदुरजी कहाँ गये हैं? मुझ दुष्टबुद्धि ने उनके पुत्रों को मार डाला।

पुत्रों के मरने से वे परमव्याकुल रहते हैं। कहीं इसीकारण हमारी चाची गांधारीसहित वे गङ्गाजी में तो नहीं गिर पड़े। हमारे पिता के मरने पर जिन्हों ने हम बालकों की परमस्नेह से रक्षा की, वे दोनों चाचाजी कहाँ चले गये? सञ्जयजी पहले ही व्याकुल हो रहे थे। वे युधिष्ठिर को देखकर रोने लग गये और फिर धैर्यधारण कर आँख पोंछते हुए बोले—हे कुलनन्दन! मैं नहीं जानता तुम्हारे चाचाचाची कहाँ कब और किस विचार से चले गये हैं। मुझे तो उन महात्माओं ने ठग लिया है। सञ्जय और युधिष्ठिर में यह बातचीत हो ही रही थी कि वहाँ तुम्बरुगन्धर्वसहित नारदजी पहुँच गये। भाईयोंसहित उठकर महाराज ने नारदजी की पूजा की और फिर उनसे बोले—भगवन्! मैं नहीं जानता मेरे दोनों चाचा कहाँ चले गये और पुत्रों के दुःख से दुःखी परमपतिव्रता चाचीजी कहाँ चली गईं। इस अपार सन्देहसागर से पार लगानेवाले कर्णधार आप ही हैं।

## युधिष्ठिर को भावी घटना की सूचना.

यह सुनकर मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् नारदजी बोले—राजन्! तुम किसी बात की चिन्ता न करो। यह सब जगत् उस ईश्वर के ही वश में है जिसकी आज्ञा का पालन सब लोक तथा लोकपाल करते हैं। वही कालरूप भगवान् सब प्राणियों का परस्पर संयोग वियोग करता है। जैसे नाथे हुए बैल रस्सियों से बँधे हुए उनके वशमें रहते हैं वैसे ही वेदवाक्य में बँधे हुए विविध वर्णाश्रमधारी जीव उसी ईश्वर के वशमें हैं। जैसे खेलनेवाले बालक की इच्छा से एकत्र खिलौनों का संयोग-वियोग होता है वैसे ही ईश्वर की इच्छा से मनुष्यों का संयोगवियोग होता है। यदि आप जीवरूप से इसलोक को अविनाशी या देहरूप से नाशवान् मानते हैं अथवा शुद्धब्रह्मरूप से नाशवान् वा अविनाशी कुछ भी नहीं मानते, तो सबप्रकार से चाचा चाची की चिन्ता करना उचित नहीं है। केवल अज्ञानकृत मोह से उत्पन्न स्नेह के कारण ही उनका शोच करते हो। आत्मा को मायामोह में फँसानेवाले अज्ञान से उत्पन्न इसभाव को छोड़ो कि हाय, चाचा चाची अनाथ हैं, वे मेरे बिना कैसे जी सकेंगे। राजन्! यह पञ्चतत्त्व से बना हुआ शरीर काल, धर्म तथा माया के गुणों के अधीन है, यह शरीर दूसरे शरीर की रक्षा कर कैसे सकता है? जो स्वयं सर्पद्वारा डसा गया है वह दूसरे को सर्प से कैसे बचा सकता है? देखो, जिनके हाथ नहीं हैं उनको हाथवाले, जिनके पैर नहीं हैं उनको चार पैरवाले, चार पैरवालों को दो पैरवाले इसीप्रकार छोटे जीवों को बड़े जीव भक्षण कर जाते हैं—छोटी मछलियों को बड़ी मछलियाँ खा रही हैं। संसार में कौन किसका बनता है। सबकी वृत्ति ईश्वर ने बनादी है इसका शोच करना वृथा है। आप मायावश जगद् और जीव को ईश्वर से अलग देखते हो, यही कारण है कि आपको शोक और मोह हो रहा है। ईश्वर एक है। आप जो हस्तपादादियुक्त और हस्तपादादिरहित जीव देखते हो वे सब ईश्वर हैं और इनके भीतर आत्मारूप से जो विराजमान् है वह भी ईश्वर है। यह जानकर अपने पराए का भेद त्याग दो और सर्वत्र एक ही ईश्वर को देखो। पर यह स्मरण रक्खो कि इस जगत् को असत्य जानकर आपको अभी से विरक्त न होना चाहिये। क्योंकि सुरद्वेषीभूपरूप दानवों का संहार करने के लिये अवतार लेनेवाले भगवान् भूतभावन अभी द्वारका में स्थित हैं। वे सब देवताओं का कार्य कर चुके हैं अब केवल यादवकुल का संहार करना ही शेष रह गया है। उसकी

प्रतीक्षा करो और उस समय तक तुम भी पृथिवी का पालन करते रहो। फिर भगवान् के साथ ही परमधाम को चले जाना। आपके चाचा अपनी स्त्री गांधारी तथा छोटे भाई विदुरसहित हिमवान् के दक्षिण की ओर ऋषियों के आश्रम में चले गये हैं और सप्तस्रोत-नामक स्थान पर तप कर रहे हैं। सप्तस्रोत वही जगह है जहाँ सप्तऋषियों की प्रसन्नता के लिये गंगाजी वहाँ गिर कर सातधाराओं में वही हैं। वे वहाँ नित्यस्नान तथा विधिसंहित हवन करके केवल जल पीकर शान्त चित्त से सम्पूर्णकामनाशून्य होकर रहते हैं। उन्होंने योगासन और प्राण (श्वास) को जीत लिया है और इन्द्रियों को रूप-रस आदि विषयों से हटा लिया है। वे अब हरिका भजन करके तीनोंगुणों से उत्पन्न काम, क्रोध आदि मलों को त्याग और पूर्णावस्था को प्राप्त कर चुके हैं। आपको चाहिये कि इससमय पूर्णत्यागी धृतराष्ट्र के पास जाकर उनकी समाधि में कोई विघ्न न डालें। राजन्! आज से पाँचवें दिन योगी धृतराष्ट्र अपने कलेवर को त्याग देंगे। पति के शरीर को योगाग्नि में भस्म होते देखकर पतिव्रता गांधारी भी उसी अग्नि में प्रवेश करके जल जायगी। इस दृश्य को देखकर विदुरजी हर्ष तथा शोकपूर्ण हृदय से वहाँ से तीर्थयात्रा करने चले जायंगे।"

इतना कहकर भगवान् नारद तुम्बरुसहित स्वर्ग को चले गये और महाराज युधिष्ठिर ने चाचा चाची के लिये शोक करना त्याग दिया। इसके बाद शीघ्र ही युधिष्ठिर को अपशकुन दिखाई देने लग गये। उससमय अर्जुन भगवान् कृष्ण के साथ द्वारकापुरी को गये हुए थे। युधिष्ठिर ने देखा-जब जो ऋतु होना चाहिये वह नहीं होता अर्थात् हेमन्त में वसन्त और वसन्त में शिशिर हो रहा है। मनुष्य क्रोध, लोभ और झूठ से भरे हैं और पापद्वारा आजीविका करते हैं। मित्रों के साथ कपट और द्वेष करने लग गये हैं। इन्हें देखकर एक दिन महाराज ने घबराकर भीमसेन से कहा—देखो भीम! सात मास हो गये, तुम्हारे भाई अर्जुन अभीतक वापिस नहीं आए। मुझे अत्यन्त भयानक अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। मेरी बाईं जांघ, आँख और बाहु बार बार फरकते हैं। देखो उदय हो रहे सूर्य की ओर देखकर सियारी रो रही है, इसके मुखसे अग्नि की ज्वालाएं निकल रही हैं। वह देखो, कुत्ता मेरी ओर मुँह किये निडर की भाँति रो रहा है। मेरे वाहन घोड़े रो रहे हैं। गऊओं की आँखों से आँसू बह रहे हैं। भूकम्प से पृथिवी और पर्वत कांप रहे हैं। बिजली घोर भयानक गरजना करती है और भूमि पर गिरती है। आँधियों से चारों ओर अन्धकार छा जाता है। बादलों से रुधिर की वर्षा होती है। सूर्य का तेज मन्द पड़ गया है। आकाश में तारागण आपस में टकराते हैं। नदी सरोवर और मनुष्य क्षोभ को प्राप्त हो रहे हैं। बछड़े दूध नहीं पीते। गऊओं के थनों से दूध उतरता नहीं। देवताओं की मूर्तियों से प्रस्वेद बह रहा है और वे मानो व्याकुल हो रही हैं। बागबगीचों की शोभा जाती रही है। इन अपशकुनों को देखकर मेरा जी घबरा रहा है। मालूम होता है नारदजी का कथन शीघ्र ही सत्य होनेवाला है। महाराज युधिष्ठिर भीम से यह सब कह ही रहे थे कि उसी समय मुर्झाए हुए अर्जुन आ गये और उन्हों ने रोते हुए यादवों के नाश की समस्त घटना महाराज को सुना दी।

इससे विदित होता है कि भगवान् नारद हस्तामलकवत् तीनोंकाल की घटनाओं को जानते हैं। उन्होंने जब युधिष्ठिर को होनेवाली घटना से सूचित किया तो युधिष्ठिर को दृढ विश्वास हो गया कि निःसन्देह ऐसा ही होकर रहेगा। और जब युधिष्ठिर को अपशकुन दिखाई देने लगे तो निश्चय हो गया कि नारदजी का कथन पूरा होने का समय आ गया है।

# ( १५ तरङ्ग )

## नारदजीवन से शिक्षा.

कहाँतक कहा जाए, नारदजी की महिमा अपार है। उनके ज्ञानभण्डार की थाह पाना, उनके उपकारों की गिनती करना, उनकी लोककल्याणार्थ की गई लीलाओं को वर्णन करना, मनुष्यशक्ति से बाहर है। नारदजी ब्रह्माजी के मानस-पुत्र और भगवान् विष्णु के मानस-अवतार हैं। इसलिये उनमें अलौकिक ईश्वरीय शक्तियों का होना निर्विवाद ही है। मनका धर्म चञ्चलतामय माना गया है। भगवान् के मानस अवतार नारदजी इसीवास्ते अप्रतिहतगतिवाले हैं। परोपकार के उद्देश्य से आप सर्वदा और सर्वत्र घूमते रहते हैं।

भगवान् के मानसअवतार होते हुए भी आप संसार को शिक्षा देने के लिये भगवद्भक्ति में सदैव लीन रहते हैं इसीवास्ते वीणा को कभी अलग नहीं करते। संसार में भी मोक्ष की दाता भगवद्भक्ति का ही प्रचार करते फिरते हैं। उन्हें जब भी मालूम होता है कि किसी भक्त के शुभ कर्म उदय हुए हैं और उसके हृदय में भगवद्भक्ति के प्रेम का अंकुर फूटा है तब आप वैसी ही ममताभरी विह्वलता के साथ उसके पास पहुँचते हैं जैसे चिर से बिछुड़ी हुई गाय अपने बछड़े की ओर भागती है और जो भक्त जिस सहायता का अधिकारी होता है वही उसे पहुंचा कर सफलता के मार्ग पर डाल देते हैं। दक्ष के पुत्रों को चतुर्थ उदासीनधर्म की दीक्षा देने के समय से लेकर स्वर्ग में महाराज युधिष्ठिर का भ्रम दूर करनेवाले उपदेश तक आप एक ही लगन उत्साह तथा हार्दिकप्रेम के साथ लोकोपकार का यह कार्य्य करते देखे जाते हैं। ध्रुव का बालहठ देखकर आप उसको मार्ग में ही जा मिले और सफलता की युक्ति बताकर उसके बाल हठ की रक्षा की। श्रीवेदव्यासजी शुकदेवजी और आदिकवि वाल्मीकिजी को वे गुरु बताए कि उनके जीवनों और कृत्यों से आज तक संसार अपूर्व लाभ उठा रहा है और जब तक यह संसार रहेगा तब तक उन महात्माओं के पुण्यकार्य्यों से लाभ उठाता रहेगा। सत्यबात मुँह पर कहते हुए नारदजी को कभी संकोच नहीं हुआ और नही उन्हों ने कभी यह विचार किया है कि उनके वचनों को सुननेवाला कोई मनुष्य है, दैत्य है, देवता है या स्वयं भगवान् हैं। कोई भी हो नारदजी उसे साफ और खरी बात सुनाते समय यह कभी विचार नहीं करते कि सुननेवाले के मन पर उनके सत्यवचन का प्रभाव कैसा पड़ेगा। प्राणीमात्र को दयादृष्टि से देखनेवाले नारदजी उपकार करते समय कभी इस बात का विचार भी नहीं करते कि जिसपर वे उपकार कर रहे हैं वह किस जाति का प्राणी अथवा मनुष्य है। वे सबको एक दृष्टि से देखते हैं और भगवान् सूर्य के समान सब को ज्ञानप्रकाश का दान करते हैं। हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद दैत्यकुल में ही पैदा होनेवाला था परन्तु योगदृष्टि से उसके भावी जीवन की झलक देखकर नारदजी ने गर्भ में भी उसकी रक्षा की।

धर्मप्रचारकार्य के लिये तो नारदजी हरसमय कटिबद्ध रहते हैं। इसकार्य को करते हुए उन्हें कभी थकावट अनुभव नहीं हुई। प्रश्नकर्त्ता को तो उत्तर पाने का उत्साह होता ही है, पर यदि किसी ने नारदजी से धर्मविषयक कोई प्रश्न कर दिया है तो उत्तरदाता नारदजी में प्रश्नकर्त्ता से भी अधिक उत्साह देखा जाता है। यदि

वह प्रश्न भक्तिविषयक हो फिर तो कहना ही क्या, नारदजी प्रश्नकर्त्ता का अहसान मानने लगजाते हैं। यही कारण है कि नारदजी का कोई भी उपदेश कभी प्रभाव डाले विना नहीं रहा। कोई कितना शोकातुर और दुःखी क्यों न हो नारदजी के उपदेश से उसका सब शोक तथा दुःख काफ़ूर होजाता है। क्रोधी का क्रोध लोभी का लोभ और सांसारिक मोह में फँसे हुए लोगों का मोह तत्क्षण दूर करने की जो शक्ति नारदजी की अमृतवाणी में है वह दूसरी जगह देखी नहीं जाती। इसीवास्ते मनुष्य क्या देवता भी किसी कठिन समस्या के समय नारदजी को ही स्मरण करते हैं और उन्हें देखते ही सब कठिनाइयों के दूर हो जाने का निश्चय कर लेते हैं। इसीवास्ते एकवार भगवान् नारद श्रीवासुदेवजी के घर गये तो वासुदेवजी ने उनकी पूजा करने के बाद पवित्र आसन पर बैठाकर कहा—भगवन्! जैसे मातापिता का आगमन सन्तान के लिये सुख देनेवाला होता है अथवा भगवद्भक्त महात्माओं का आगमन दीन दुःखीजनों के लिये कल्याणकारी होता है उसीप्रकार आपका आगमन भी सब देहधारियों के लिये मङ्गलकारी है क्योंकि आप साक्षात् हरि की मूर्ति अर्थात् कला हैं। देवताओं के कर्मों से प्राणियों को सुखदुःख दोनों मिलते हैं परन्तु आप ऐसे अच्युतमय साधुओं के आचरणों से सर्वदा सुख ही मिलता है। देवतालोग शरीर की छाया के तुल्य कर्मानुसार फल देनेवाले हैं अर्थात् जो जिसभाव से जिसप्रकार देवताओं को भजता है उसे देवता भी वैसा ही फल देते हैं, परन्तु दीनों पर दया करनेवाले साधुलोग निरपेक्षभाव से लोगों का कल्याण करते हैं, चाहे कोई उनको भजे चाहे न भजे। भगवन्! आपके आगमन से ही हम कृतार्थ हो गये, फिर भी जिस धर्मोपदेश को सुनकर मनुष्य सर्व प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है वह आपके मुखारविन्द से सुनने की इच्छा रखते हैं, कृपा कीजिये। (भा० स्क० ११ अ० २)

भगवान् नारद आदर्श चतुर्थाश्रमी उदासीन साधु महात्मा हैं। एक साधु की दृष्टि से नारदजी का जीवन सर्वप्रकार से पूर्ण मिलेगा। साधु की दृष्टि में मनुष्यमात्र ही क्यों प्राणिमात्र में कोई भेदभाव नहीं रहता। नारदजी ने उनके सामने क्रियात्मकरूप में "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श रख दिया है। साधु को सदैव परोपकार में ही लगे रहना चाहिये, यह "परोपकाराय सतां विभूतयः" की शिक्षा भी भगवान् नारद ने ही दी है। साधु को धर्मरक्षा तथा धर्मप्रचार के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। इस के लिये परिश्रम करनेवालों में नारदजी से आगे कोई नहीं बढ़ सकता। साधु में भगवान् के साक्षात् दर्शन करा देने की शक्ति होनी चाहिये और होती है, इसका निश्चय करानेवालों में भी भगवान् नारदजी का नाम सब से ऊपर लिखा हुआ मिलता है। साधु को जन्म मरण के बन्धन काटने में समर्थ होना चाहिये, इसकी क्रियात्मिक शिक्षा नारदजी ने यह दी है कि न केवल उन्हों ने आत्मज्ञान का उपदेश करके अनेकों के भवबन्धन काट दिये, स्वयं भी अमर हैं। ब्रह्माजी की मानसीसृष्टि के समय से अब तक हैं और अन्त तक रहेंगे। वे क्षय विनाश से रहित अविनाशी हैं। एक कृतकृत्य साधुमहात्मा के वश में सब विभूतियाँ और शक्तियाँ हो सकती हैं, नारदजी ने इस बात को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। ब्रह्मविद् महात्मा ब्रह्म ही हो जाते हैं और सब देव, मनुष्य, दानव, तथा प्राणी उनके प्रभुत्व एवम् महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नारदजी ने न केवल इतना ही सिद्ध कर दिया है किन्तु यह भी बतला दिया है कि वासनातीत परम भागवत

पुरुष के वश में स्वयं भगवान् भी रहते हैं। भगवान् अपनी वात को टाल देते हैं, परन्तु अपने भक्त की वात को टालना नहीं चाहते। सिद्ध महात्मा किसी भाग्यवान् और श्रद्धावान् को ही मिलते हैं, इसीवास्ते नारदजी अमर होते हुए भी सब को दिखाई नहीं देते।

उदासीन सम्प्रदाय को इसवात का गौरव है कि उसके आचार्य ऐसे ऐसे आदर्श साधु रहे हैं। उनके पदचिन्हों पर चलने में प्रत्येक उदासीन महात्मा गर्व अनुभव करता है और वह उसी आदर्श की ओर आगे बढ़ने के यत्न में सदैव लगा रहता है जिसका उपदेश भगवान् नारदजी कर गये हैं। उदासीन महात्मा नकेवल नारदजीद्वारा प्रचार किये गये धर्मसिद्धान्तों का पालन और मनन ही करते रहते हैं आगे जनता में भी उनका निरन्तर प्रचार किया करते हैं। वेदाध्ययन, शास्त्रानुशीलन, मूर्तिपूजा, पञ्चदेवोपासना, तीर्थ, व्रत, अष्टाङ्गयोग आदि सिद्धान्तों की जिस श्रद्धाभक्ति और प्रेम से उदासीनमहात्मा रक्षा तथा प्रचार करते हैं अन्य किसीजगह कम देखने में आयगा। यह सब भगवान् नारदजी और उनका अनुकरण करनेवाले उदासीन ऋषिमुनियों के अथक परिश्रम का ही फल है। भगवान् परमहंसद्वारा लगाए और भगवान् सनत्कुमार और भगवान् नारद आदि आचार्योंद्वारा सेंचन किये हुए इस कल्पवृक्ष में सब से निरालापन यह है कि इस कल्पवृक्ष की छाया के नीचे शान्ति तथा परमसुख का लाभ करनेवाले महात्मा आत्मज्ञान के लिये यत्न करते हुए भी निष्काम और उदासीनभाव से भगवद्भक्ति आदि सात्त्विक कर्मों में लोक कल्याणार्थ लगे रहते हैं।

## अवधूतदत्तात्रय के २४ गुरु.

श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में कथा आती है कि जब भगवान् कृष्ण निजधाम को जाने से पूर्व यादवों की सफाई करनेवाले थे तब भगवान् ने अपने एकाग्रचित्त प्रियभृत्य उद्धवजी को चतुर्थाश्रम ग्रहण का उपदेश करते हुए अवधूत दत्तात्रयजी की एक पुरातन कथा सुनाई। आपने कहा—एक समय उस सत्-असत् का विवेक रखनेवाले निर्भय युवा अवधूत से राजा यदु ने पूछा—आप इतने विद्वान् होकर भी इसप्रकार एक अबोध बालक की भाँति कर्मासक्ति से शून्य रहकर विचरते हैं। सब लोग कामनारूप दावानल में जल रहे हैं पर आप गंगाजल में अवस्थित गज के समान विषयताप से कोरे बचे हुए प्रतीत होते हैं। यह निर्मलबुद्धि आपको कहाँसे मिली है ? उत्तर में अवधूतमहात्मा विनयपूर्वक बोले-राजन् ! इस अवस्था तक पहुँचने के लिये मैंने २४ प्राणियों के व्यवहार से शिक्षा ग्रहण की है। पृथिवी से क्षमा और सहिष्णुता की शिक्षा ली है। लोग पृथिवी को खोदते उस पर मलमूत्र फेंकते हैं परन्तु पृथिवी तनिक भी विचलित न होकर सबको अपनी गोद में उठाए रहती है। विवेकी साधुपुरुष को भी पृथिवी के समान सहनशील रहकर अपकार करनेवालों के साथ भी क्षमा का वर्ताव करना चाहिये। पर्वतों से यह सीखा है कि साधु को विना किसी प्रत्युपकार की भावना के अपने जीवन की सब चेष्टाओं को परोपकार में ही लगा देना चाहिये। जैसे वृक्ष उनको काटने जलाने और उखाड़नेवाले को भी विना सङ्कोच पत्ते, छाल, जड़ गोंद, फूल, फल, लकड़ी, कोयला और राख आदि से लाभ पहुँचाते हैं वैसे ही साधु को बुराई करनेवालों के साथ भी भलाई ही करनी चाहिये। दो प्रकार के वायु के समान, प्राणवायु केवल आहा-

रमात्र की अपेक्षा रखकर रूप-रस आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखता और वाह्य-वायु गन्ध आदि गुणों तथा शीतोष्णधर्मों से युक्त होता हुआ भी स्वयं निर्लिप्त रहता है, आत्मज्ञानी को भी शारीरिकधर्मों से युक्त होते हुए भी अपने आपको शारीरिक गुणदोषों से अतीत समझना चाहिये। जैसे आकाश घटादि में रहता हुआ भी अखण्ड, निर्लिप्त और समन्वयरूप से व्यापक है और मेघ, वायु आदि का आधार होता हुआ भी उनसे अलग है, वैसे ही साधुपुरुष भी अपने आपको कालकृत तेज, जल, अन्नमय शरीर से अलग समझे। जल के समान स्वाभाविक स्निग्ध, निर्मल, मधुर तथा तीर्थतुल्य रहकर दर्शनस्पर्शनकीर्तनद्वारा लोगों को पवित्र करता रहे और सब का मल धोने का प्रयत्न करे। अग्नि के समान तेजस्वी-ज्ञानी, तपी, भजनानन्दी, दीप्तिशाली और दुर्धर्ष रहकर स्वतः ही जो कुछ प्राप्त हो उसे पेट के पात्र में रखले, न अधिक की इच्छा करे और नही सञ्चय करे। जैसे अव्यक्तगति से काल के द्वारा चन्द्रमा की कलाएं घटते वढ़ते रहने पर भी चन्द्रमण्डल कभी घटता बढ़ता नहीं वैसे ही सब कालकृत अवस्थाएं देहकी हैं आत्मा की नहीं और कालगति से शरीर ही उपजते तथा नष्ट होते हैं आत्मा नहीं। जिसप्रकार सूर्य पृथिवी का जल खेंचकर समयानुसार वर्षा करता है वैसे ही साधु महात्मा को भी विद्या और ज्ञान को सीखकर संसार में फैलाना चाहिये। अवधूतजी राजा यदु से कहते हैं—कबूतर-कबूतरी पक्षियों का एक जोड़ा वड़े स्नेह और सुख से जंगल में रहता था। उनके यहाँ बच्चे पैदा हो गये। एक दिन दोनों पक्षी चोग चुगने गये हुए थे कि पीछे एक चिड़ीमार ने आकर उनके बच्चों को पकड़ लिया। चिड़ीमार के जाल में बच्चे फँसे ही थे कि दोनों पक्षी वापिस आगये। बच्चों को जाल में तड़पते देखकर कबूतरी से न रहा गया वह भी जाल में गिर कर फँस गई और इसके वाद कबूतर भी परिवार के विना अपना जीवन व्यर्थ जानकर जाल में आ फँसा। कबूतरों के उस जोड़े से यह शिक्षा ग्रहण की कि जो व्यक्ति गृहस्थ के पालन में आसक्त रहते हैं वे कबूतर के समान दुःखित होकर कष्टों का शिकार होते हैं। यह मनुष्यजन्म मुक्ति का खुला हुआ द्वार है इसको पाकर भी जो लोग उस पक्षी की भाँति विषयों में आसक्त होते हैं वे मूढ़ हैं और शास्त्र में उन्हें आरूढच्युत कहा गया है।

अजगर से यह शिक्षा ली है कि सुखदुःख स्वयमेव ही प्राप्त होते रहते हैं ज्ञानीपुरुष को इनकी इच्छा न करनी चाहिये। दैवाधीन जो थोड़ा बहुत, अच्छा बुरा नीरस सरस आप ही से मिल जाए उसे उदासीन भाव से खा लेना चाहिये अन्यथा निराहार दशा में भी बहुतकाल तक धैर्य धारण कर निरुद्यम पड़ा रहे, शरीर का भरणपोषण करने की चिन्ता न करे। मुनि महात्मा को सागर की भाँति प्रशान्त गम्भीर, दुरवगाह्य अनतिक्रमणीय, अनन्तपार और अक्षोभ्य रहना चाहिये। सागर जिसप्रकार वर्षाऋतु की भरी हुई नदियों को पाकर फूलता नहीं और ग्रीष्मऋतु की नदियों को सूखी हुई देखकर कभी सूखता नहीं, वैसे ही आत्मज्ञानी साधु को भी समृद्धकामनाओं को पाकर प्रसन्न और कामनाओं के पूरा न होने पर क्षुभित न होना चाहिये। पतङ्ग से यह सीखा है कि जो लोग इन्द्रियों के वश में होकर रूप आदि पर मोहित हो जाते हैं वे नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं।

भ्रमर से यह सीखा है कि मुनि को उतना ही आहार करना चाहिये जिससे शरीर की शक्ति वनी रहे—शिथिल न हो। अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा अन्न लेकर

खाना चाहिये। एक ही घर का आश्रय लेनेवाला उस भ्रमर के समान नष्ट होता है जो विशिष्ट गन्ध के लोभ से एक ही कमल में रहकर सूर्यास्त के समय कमल के सम्पुट में फँस जाता है। जिसप्रकार मधुकर सर्वप्रकार के फूलों से सारवस्तु ग्रहण करता है वैसे ही महात्मा को सब शास्त्रों से सारांश ग्रहण करना चाहिये। हाथ और पेट को ही पात्र बनाकर आहारमात्र से प्रयोजन रक्खे, दूसरे समय के लिये संचित न करे। संचित करनेवाला मधुमक्षिका के समान अपनी सम्पत्तिसहित नष्ट होता है। चाहे लकड़ी की स्त्री क्यों न हो भिक्षुक उसे पैर से भी स्पर्श न करे, अन्यथा हथनी के अंगसङ्ग की लालसा करनेवाले हाथी के समान गढ़े में गिरकर पराधीनता में जकड़ा जायगा। मधुहारी के मक्षिकाओं का मधु ले जाने से यह सीखा है कि जो लोग धन को दान पुण्य में नहीं लगाते उनका धन दूसरे ही खाते हैं। व्याध के मधुर गीतों को सुनकर हरिण उसके जाल में फँस जाता है। हरिणीपुत्र ऋष्यशृंग स्त्रियों के ग्राम्यगीत सुनकर उनके चंगुल में फँस गये। इससे यही शिक्षा ली है कि वनवासी यति ग्राम्यगीतों को सुनने की आदत न डाले। स्वाद के वश मीन मांस के टुकड़े में छिपे हुए कांटे को नहीं देखता और फँस जाता है, इसलिये ज्ञानीपुरुष रस का स्वाद न डाले। क्योंकि जबतक जिह्वा इन्द्रिय को नहीं जीता तबतक अन्य इन्द्रियों को जीत लेने पर भी कोई जितेन्द्रिय नहीं कहला सकता। पिङ्गला वेश्या आधी रात्रि तक किसी धनपति की प्रतीक्षा में जागती रही। जब कोई न आया तो उसे वैराग्य हो गया और उसने अपने पिछले कुकर्मों के लिये पश्चाताप करते हुए प्रतिज्ञा कर ली कि अब धन के बदले धर्म न बेचूँगी। किन्तु रूखासूखा खाकर अपने आत्मा में स्थित भगवान् से ही प्रेम करूँगी। उससे मैंने यह शिक्षा ली कि पुरुष के आशारूप सब बन्धनों को काटनेवाला वैराग्य ही है। बिना वैराग्य के देहबन्धन को काटने का दूसरा कोई उपाय नहीं। कुररी पक्षी बच्चों के मोह में कष्ट पाता है। उनसे अलग होजाने पर उसे कोई कष्ट नहीं। बालक से निश्चिन्तता और भोलापन सीखा है। भोलाभाला निरुद्यम बालक और माया से अतीत ज्ञानीपुरुष ही निश्चिन्त और परमानन्द में मग्न रहते हैं। धान कूटते समय एक कुमारी कन्या के चूड़ियों को तोड़कर दो दो रख लेने पर भी शोर बन्द न हुआ। अन्त में उसने केवल एक एक चूड़ी रहने दी फिर शोर नहीं हुआ। इस से मैंने यह शिक्षा पाई कि बहुत लोगों का एकत्र रहना कलह और अनिष्ट का कारण है। साधु के लिये एकान्तवास ही लाभदायक हो सकता है। बाण बनाने वाले से चित्त को एकाग्र करना, आसन लगाना, श्वास को वश करना, वैराग्य से वशीभूत और अभ्यास से स्थिर कर के मन को अपने लक्ष्य परमात्मा में लगाना सीखा है। सर्प से यह सीखा है कि मुनि अकेला ही विचरण करे, अपने रहने का स्थान नियत न करे, गुहा आदि में पड़ रहे, हरसमय सावधान रहे और अल्पभाषी होकर इच्छानुसार घूमता रहे। ऊर्णनाभि से यह सीखा है कि एकमात्र नारायण देव कल्प के आदि में अपनी माया से इस विश्व को प्रकट करते हैं और फिर प्रलयकाल में अपनी कालशक्ति द्वारा सब शक्तियों को अपने में लीन कर सर्वाधाररूप से एक अद्वितीय शक्ति अवशिष्ट रहते हैं। सब शक्तियां क्रमशः अपने अपने कारण में लीन होकर अन्त में सब परमकारण में समा जाती हैं। भगवान्

की इसी विशुद्धस्थिति को वेदों में कैवल्यमोक्ष कहा गया है। राजन्! वही परमानन्द मोक्षरूप परमेश्वर अखण्ड आत्मानुभवरूप काल के द्वारा अपनी त्रिगुणमयी माया को सचेष्ट करके सृष्टि के सूत्रस्वरूप महत्तत्त्व को प्रकट करते हैं। महत्तत्त्व से तीनों गुणों अर्थात् विविधविश्व की सृष्टि करनेवाला त्रिविध अहंकार प्रकट होता है। सूत्रस्वरूप महत्तत्त्व में ही यह विश्व ओतप्रोत है और अध्यात्मप्राणवायु महत्तत्त्व ही से जीवात्मा संसार में प्रवृत्त है। जैसे ऊर्णनाभि अपने मुख से जाला फैलाकर सृष्टि रचता और समेट लेता है वैसे ही भगवान् इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। पेशस्कृत् से यह सीखा है कि मनुष्य एकाग्रमन से जिस ओर ध्यान लगाता है उसीका रूप वन जाता है। हे राजन्! मैंने अपने शरीर से भी वहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की है इसलिये इसे भी शिक्षादाता गुरू मानता हूँ। क्योंकि यद्यपि यह शरीर अनित्य है पर मोक्ष का द्वार भी यह मनुष्यशरीर ही है।

अवधूत दत्तात्रयजी ने जो शिक्षा चौवीस शिक्षादायक गुरुओं से प्राप्त की वह सव शिक्षा उदासीनधर्मावलम्बियों को और उदासीनधर्मावलम्बियोंद्वारा समस्त संसार को एक भगवान् नारदजी के जीवन से ही मिलती है। नारदजी धीर, गम्भीर और क्षमावान् हैं किसी अनुकूल अथवा प्रतिकूल अवस्था में विचलित नहीं होते, अतः नारदजी का जीवन हमें सहिष्णुता और गम्भीरता की शिक्षा देता है। पर्वतों और वृक्षों के समान सदैव परोपकार में ही रत रहते हैं इस से आप हमें परोपकार की शिक्षा देते हैं। वायु के समान विषयों की ओर से निरपेक्ष हैं इस से आप इन्द्रिय विषयों के त्याग का पाठ पढ़ाते हैं। घटाकाश के समान शरीर विशेष में रहते हुए भी आप महाकाशरूप ब्रह्म में लीन रहते हैं इस से आप साधुता का मुख्य लक्षण व्यापक वुद्धि तथा अद्वैतभाव की शिक्षा देते हैं। संसार में रहते हुए निर्लिप्त रहने का उपदेश करते हैं। जल के समान शीतल, निर्मल, स्निग्ध, तीर्थतुल्य पवित्र और भक्तों को शान्तिदाता हैं। अग्नि के समान तेजस्वी, तपपरायण और संसार के पापरूप मलों का नाश करनेवाले हैं। जिसप्रकार कालस्थान तथा दृष्टिदोष से चन्द्रमा छोटा वड़ा दिखाई देता है वास्तव में चन्द्रमण्डल में कोई परिवर्तन नहीं होता वैसे ही अपने अपने भाव तथा ज्ञान के अनुसार लोगों को नारदजी चाहे भिन्न भिन्न रूपों में दिखाई देते हों परन्तु उनके वास्तविकस्वरूप में कोई भेद नहीं है। नारदजी सूर्य भगवान् के समान सव जगह ज्ञानवृष्टि करते हैं। स्वाभाविक ही सांसारिक वन्धनों से स्वतंत्र हैं। अपने स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु संसार का उपकार करने के लिये ही अप्रतिहतगति से घूमा करते हैं। सागर के समान प्रशान्त गम्भीर दुरवगाह्य ज्ञानभण्डार के स्वामी अनन्तपारमहिमा हैं और अपने आचरण से ऐसी ही शिक्षा संसार को देते हैं। पतङ्ग के समान भगवच्चरणारविन्द के प्रेम में लीन हैं। भगवद्ध्यान में भगवान् का ही रूप वने हुए हैं!

सारांश यह कि आज भी उदासीन धर्मावलम्बियों में जो धैर्य, दया, क्षमा, सहिष्णुता, परोपकार, विश्वप्रेम, इन्द्रियदमन, ज्ञान, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, उदारता, नीतिनिपुणता, विद्वत्ता प्राणीमात्र के लिये शुभकामना आदि भाव पाए जाते हैं ये सव भगवान् नारदजी आदि उदासीन आचार्यों की शिक्षा का ही फल हैं।

# श्रीतमुनिचरितामृत

## उत्तरार्ध

### पञ्चम प्रवाह

#### प्रथम तरङ्ग ।

## बाभ्रव्यचरितम्

महामुनि सनत्कुमार और नारद का विस्तृतजीवन लिखने के अनन्तर अब हम नारदमुनि के योग्यशिष्य उदासीनमुनि बाभ्रव्य का संक्षिप्तपरिचय पाठकों को देते हैं। स्कन्दपुराण के माहेश्वरीखण्डान्तर्गत कौमारिकाखण्ड के ५४वें अध्याय में कथा आती है कि एक समय नारदजी अर्जुन से कह रहे हैं, "हे अर्जुन! हमने एक क्षेत्र में पञ्चदेवप्रतिमाएं स्थापित करवाई हैं। ताकि अपनी अपनी प्रकृत्यनुसार प्रत्येक मनुष्य, जो जिस देवता पर श्रद्धा रखता हो उसी देवता का, अर्चन ध्यानादि करने से अपने अन्तिमलक्ष्य तक पहुँच सके। इस कृत्य से प्रसन्न हो कर ब्राह्मणों ने वहाँ हमारी प्रतिमा भी स्थापित कर दी है। उनकी हार्दिक एवं शुद्ध श्रद्धा से बाध्य हो कर मैं उस मूर्ति में वास करता हूँ। जो मनुष्य मानसिक, वाचिक, कायिक, इन त्रिविध पापों से छूटना चाहता है वह कार्तिक शुक्ला एकादशी के दिन मेरी उस प्रतिमा का पूजन करे। यथा—

ममापि पार्थ तत्रास्ति, मूर्तिर्ब्राह्मणकाम्यया,
तामहन्न त्यजाम्यङ्ग च्छत्रदण्डविभूषिताम् ॥ १ ॥
कार्तिकस्य तु या शुक्ला, भवत्येकादशी शुभा।
तस्यां मदर्चनं कृत्वा, सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ २ ॥

( स्कन्द० मा० कौ० अ० ५४ )

अर्जुन! छत्रदण्डादि से भूषित वहाँ पर मेरी प्रतिमा है। मैं उस को कभी भी त्यागता नहीं हूँ, अर्थात् उस मूर्त्ति में मैं निरन्तर रहता हूँ। कार्त्तिक शुक्ला एकादशी के दिन उस प्रतिमा का पूजन करनेवाला समस्त पापों से छूट जाता है।

अर्जुन बोले " भगवन्! मेरे मन में एक सन्देह है, यदि आपकी आज्ञा हो तो उस के निवारणार्थ आप से कुछ पूछूँ ?"

उत्तर में नारद ने कहा, " अर्जुन! निश्शङ्क हो कर पूछिये!

भगवन्! आप इतने परोपकारी हैं; विश्वभर की शुभ कामना करते रहते हैं। परस्पर उपास्यदेव की भिन्नता के कारण लोगों में कलह आदि न हों, अतएव आपने एक ही स्थान पर पञ्चदेव प्रतिमाएं स्थापित कराई। यह कार्य आपका संसार के हित के

लिये अद्वितीय है। इतना ही नहीं, ब्राह्मणों ने आप के इस अद्वितीय कार्य पर मुग्ध हो कर आप की प्रतिमा भी वहाँ स्थापित कर दी। फिर कुछ समझ में नहीं आता आपमें जब इतने सद्गुण विद्यमान हैं तो, यह चञ्चलता कहाँ से आ गई? मुझे सन्देह हो रहा है, यह चपलता क्या वास्तविक है? कृपा कर मेरे इस सन्देह को दूर कीजिये।

इतना कह कर अर्जुन चुप हो गये और नारदजी ने अपने निकटस्थ शिष्य बाभ्रव्य की ओर देख कर मुस्करादिया। बाभ्रव्य बुद्धिमान् थे। नारदजी के सङ्केत को समझ गये। और अर्जुन से कहने लगे-महाबाहो! यही प्रश्न एक बार राजाधिराज उग्रसेन ने भगवान् कृष्ण से पूछा था। मैं भी आप को वही सुनाता हूँ। प्रचेता के पुत्र दक्ष थे। पाञ्चजनी उनकी धर्मपत्नी थी। उन्हों ने सृष्टि के विस्तारार्थ १० हज़ार पुत्र पैदा किये; जिन का नाम हर्यश्व था। वे तप करने के लिये नारायण तीर्थ में गये। जब स्वल्पकाल में ही उग्रतप करने के कारण उनके अन्तःकरण स्वच्छ हो गये, संसारोपकाररत महामुनि नारदजी तब वहाँ पहुँच गये। मुनि ने कुमारों को उदासधर्म की दीक्षा के अधिकारी जान कर दीक्षा दे दी और आत्मविद्या का उपदेश किया।

जब यह समाचार दक्ष ने सुना तो उन्हें बहुत बुरा लगा। परन्तु कर क्या सकते थे? नारदमुनि के उपदेशों को अपने बेटों के मन से दूर करना असम्भव जान कर दक्ष ने १ हज़ार पुत्र और उत्पन्न किये और इनका नाम शबलाश्व रक्खा। वे भी हर्यश्वों की तरह नारायण तीर्थ में तप करने चले गये और अन्त में महामुनि नारद से आत्मविद्या का उपदेश ले कर उदासीन मुनि बन गये। अब तो दक्ष प्रजापति इस असह्य घटना को सहन न कर सके। मारे क्रोध के पागल हो गये। यहाँ तक कि क्रोधावेश में महामुनि को दो शाप दे डाले। यथा—

सृष्टिमार्गात्सुतान्वीक्ष्य नारदेन विचालितान्,
अवस्थानं न लोकेषु भ्रमतस्ते भविष्यति।
भव पैशून्यवक्ता च द्वितीयानां प्रचालनात्।
इतिशापद्वयं प्राप्य द्विविधात्मजचालनात्।

( स्कन्द० मा० कौ० अ० ५४ श्लो० २२-२३ )

नारद के आध्यात्मिक उपदेश से संसार से विरक्त हुए अपने बेटों को देख कर दक्ष ने ये दो शाप मुनि को दिये—

आप संसार में कहीं पर भी देर तक ठहर न सकें, और आप इधर की उधर और उधर की इधर बातें बनाने में रत रहें। दो प्रकार के बेटों को संसार से विरक्त बनाने के अपराध में दक्षने दो प्रकार के शाप दिये। हे अर्जुन! यही कारण इनकी अस्थिरता का है। महामुनिजी यदि चाहते तो आसानी से इन दोनों शापों से मुक्त हो सकते थे। परन्तु उन्हों ने दक्ष का अपमान करना उचित न समझा। थोड़ी देर के लिये मान लो, यदि मुनि जी उस के शापों को उपेक्षा से देखते तो और लोग भी उन की अवहेलना करने लग जाते। नारदजी ने इस मर्य्यादा को बनाए रखने के लिये इन दोनों शापों को अपने ऊपर ले लिया।

हे अर्जुन! तब भगवान् कृष्ण ने उग्रसेन को नारद का वह स्तोत्र सुनाया जिस को देवराज इन्द्र प्रतिदिन पढ़ा करते थे।

भगवान् ने कहा–मैं भी उसी स्तोत्र से नारद की स्तुति किया करता हूँ। यथा—

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम्;
महेन्द्रगदितेनैव स्तोत्रेण शृणुया नृप।

( स्कन्द मा० कौ० अ० ५४-२६ )

भगवान् कहते हैं–हे उग्रसेन! इन्द्रद्वारा कथित उस प्रसिद्ध स्तोत्र से मैं उस पुण्यदर्शन ऋषि की स्तुति करता हूँ। तब वह सारा स्तोत्र भगवान् ने उग्रसेन को सुनाया। उसमें नारदजी के समग्र कर्तव्यों का वर्णन है। पहले आप एक वेदमन्त्र में पढ़ चुके हैं कि देवराज ने विश्वामित्र से उदासधर्म की दीक्षा ली और श्रीकृष्ण का उदासीन होना तो जगत्प्रसिद्ध है। महामुनि नारदजी उदासीनाचार्य हुए हैं। अतएव अपने आचार्य के स्तोत्र का पाठ करना इन्द्र और कृष्ण को नितान्त आवश्यक था और वे प्रतिदिन करते भी थे। उस स्तोत्र में जितनी बातें हैं वे सब उदासीनों के सर्वसाधारण गुण हैं। हरेक उदासीन को अपने में ऐसे गुण पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसे उदासीनों का पुरातन स्तोत्र कहना चाहिये। युगयुगान्तरों से उदासीन महात्मा इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते आए हैं। अतः वर्तमान उदासीनों का भी परमकर्तव्य है कि वे अपने इस प्राचीनस्तोत्र को अपनाएं। हम इस बात पर फिर ज़ोर देते हैं; प्रत्येक उदासीन महात्मा इसका पाठ प्रतिदिन करे। यह स्तोत्र अपने जीवन को उच्च बनाने के लिये आदर्शरूप है। अब स्तोत्र लिखा जाता है—

## कृष्णोक्तनारदस्तोत्र.

श्रुतचारित्रयोर्जातु, यस्य हंता न विद्यते;
अगुप्तश्रुतचारित्रं, नारदं तं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

अरतिः क्रोधचापल्ये, भयन्नैतानि यस्य च;
अदीर्घसूत्रं धीरञ्च, नारदन्तन्नमाम्यहम् ॥ २ ॥

कामाद्वा यदि वा लोभाद्वाचं यो नान्यथा वदेत्।
उपास्यं सर्वजन्तूनां नारदं तं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

अध्यात्मगतितत्त्वज्ञं क्षान्तं शक्तं जितेन्द्रियम्।
ऋजुं यथार्थवक्तारं नारदं तं नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या नयेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धं नारदं तं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥
सुखशीलं सुखं वेषं–सुभोजं स्वाचरं शुभम्;
सुचक्षुषं सुवाक्यञ्च नारदं तन्नमाम्यहम् ॥ ६ ॥
कल्याणं कुरुते गाढं पापं यस्य न विद्यते ।
न प्रीयते परानर्थैः योऽसौ तन्नौमि नारदम् ॥ ७ ॥
वेद, स्मृति, पुराणोक्त धर्मे यो नित्यमास्थितः ।
प्रियाप्रियविमुक्तन्तं–नारदं प्रणमाम्यहम् ॥ ८ ॥
अशनादिष्वलिप्तश्च, पण्डितं नालसं द्विजम् ।
बहुश्रुतं चित्रकथम्, नारदं प्रणमाम्यहम् ॥ ९ ॥
नार्थे क्रोधे च कामे च, भूतपूर्वोऽस्य विभ्रमः ।
येनैते नाशिता दोषाः; नारदं तन्नमाम्यहम् ॥ १० ॥
वीतसम्मोहदोषो यो दृढभक्तिश्च श्रेयसि ।
सुनयं सत्रपं तञ्च, नारदं प्रणमाम्यहम् ॥ ११ ॥
असक्तः सर्वसङ्गेषु यः सक्तात्मेति लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी, नारदन्तन्नमाम्यहम् ॥ १२ ॥
न त्यजत्यागमं किञ्चिद्यस्तपो नोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो यस्यात्मा तमहं नौमि नारदम् ॥ १३ ॥
कृतश्रमं कृतप्रज्ञं न च तृप्तः समाधितः ।
नित्यं यत्नाप्रमत्तश्च नारदं तन्नमाम्यहम् ॥ १४ ॥
न हृष्यत्यर्थलाभेन योऽलाभे न व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तमहं नौमि नारदम् ॥ १५ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमकातरम् ।
कालज्ञश्च नयज्ञश्च शरणं यामि नारदम् ॥ १६ ॥

( स्कन्दपुराण० माहेश्वर खण्डान्तर्गत कौमारिका खण्ड के ५४ वें अध्याय में २७ से ४३ तक १६ श्लोक । )

पूर्वोक्त १६ श्लोकों का हिन्दी भाषा में भावार्थ दिया जाता है ।

विश्वभर में जिन के सदाचार, और विद्या के विरुद्ध, कोई एक शब्द भी न कह सकता था । जो पूर्ण विद्वान् और अद्वितीय सदाचारी थे । जिनके अजेय विज्ञान और सदाचार का कोई भी पराभव न कर सकता था । विद्या और सदाचार के बलपर जो विश्व विख्यात थे । जिनके विज्ञान और सदाचार की रक्षा भगवान् विष्णु स्वयं किया करते थे । ऐसे विश्वप्रसिद्ध महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । ( १ )

जो प्रत्येक कार्य को बड़े चाव से किया करते थे ! क्रोध, चपलता, तथा भयादिकों ने तो जिन्हें छुआ तक न था । बड़े से बड़े कार्य को नितान्त परिश्रमद्वारा स्वल्पसमय में समाप्त करने वाले, धैर्यान्वित तथा विश्ववन्द्य महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हुँ । ( २ )

किसी विशेषकामना अथवा लोभादिक कुत्सित भावों से प्रेरित होकर जो कभी भी अनृतभाषण नहीं करते । जिन्हें संसार के समस्त जन्तु अपना उपास्यदेव समझते थे । मैं ऐसे महामुनि को प्रणाम करता हूँ । ( ३ )

अध्यात्मविद्या में पारङ्गत, सहिष्णु, सर्वशक्तिसम्पन्न, जितेन्द्रिय, सरलस्वभाव, और सत्यवादी महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । (४)

तेज, यश, बुद्धि, नीति, नम्रता, कुल और अद्वितीय तप से जगदादरणीय नारद को मैं प्रणाम करता हूँ ( ५ )

जिनका अनुकरणीय जीवन लोगों को आदर्श का काम देता है । जो स्वयं सुखस्वरूप और लोकोपकारार्थ सर्वत्र घूमते रहते हैं । सात्त्विकभोजनप्रिय, श्रेष्ठ, सदाचारी, मङ्गलस्वरूप, सर्वत्र समदृष्टि, ऐसे सदुपदेशक महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । ( ६ )

जगत्कल्याणकारी, निष्पाप, कुमार्ग से दूरस्थ, महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । ( ७ )

वेद स्मृति पुराणों द्वारा कथित धर्म के अनुयायी, यह प्रिय है और यह अप्रिय इत्यादिभावों से मुक्त उदासीनमुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । (८)

सांसारिक वासनाओं से विमुक्त, विद्वान् , उत्साही, शास्त्रीय नियमों के पालक, समस्त शास्त्रों के वेत्ता, विचित्रचरित्र नारदमुनि को मैं प्रणाम करता हूँ । ( ९ )

काम, क्रोधादिकों के विख्यात विजेता, संसार के रागादिक दोषों के विनाशक, नारदमुनि को मैं प्रणाम करता हूँ । ( १० )

रागादिक दोषों से मुक्त, परब्रह्म को भक्ति में तत्पर, सुमार्गगामी, अधम कार्यों से दूरस्थ, अथवा राजों महाराजों को सदुपदेश द्वारा कुवासनाजाल से बचानेवाले जगत्पूज्य महामुनि नारद को मैं प्रणाम करता हूँ । (११)

जो असङ्ग रहते हुए भी संसार का उपकार करने के कारण सक्त की भाँति प्रतीत होते थे। जिन्हें कभी किसी विषय में सन्देह हुआ ही नहीं। ऐसे महामुनि नारद को मैं नतमस्तक प्रणाम करता हूँ। (१२)

जिन्होंने किसी शास्त्र, अथवा तद्विहितमार्ग का त्याग अर्थात् उल्लङ्घन नहीं किया। जो समस्त भविष्य का पूर्णपरिचय प्राप्त कर उसी के अनुसार अपना कार्यक्रम निर्धारित करते थे। जिन्हों ने तप को कभी भी उपजीविका का सहारा नही बनाया; अर्थात् उसे केवल अपवर्ग का साधन समझा। जो साधारण तप पर ही निर्भर न रह कर उग्र तप में रत रहते थे। जिन्हों ने कभी एक पल भी व्यर्थ नहीं गँवाया, जिन का सङ्कल्प सदैव सफल होता था, मैं उन को साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। (१३) परिश्रमी और वेदवेदाङ्गादि समस्त शास्त्रों के विज्ञाता, प्रतिपल समाधिप्रिय, सदैव सावधान, अपने पुरुषार्थ से कभी भी प्रमत्त न होनेवाले महामुनि को मैं प्रणाम करता हूँ। (१४)

जिन्हें किसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति से आनन्द, और अत्यन्त प्रियवस्तु का अप्राप्ति से क्षोभ न होता था। हिमालय को भाँति अचलमति, संसार से विरक्त, नारद मुनि को मैं प्रणाम करता हूँ। (१५)

पवित्रात्मा, साहसी, सर्वव्यवहारकुशल, नीति के अद्वितीय विद्वान्, समय की सूक्ष्म एवं त्वरितगति के परीक्षक सर्वगुणसम्पन्न महामुनि नारद की मैं शरण जाता हूँ। (१६)

बाभ्रव्य कहते हैं, अर्जुन! अब मैं समझता हूँ; तुम्हारे मनका सन्देह दूर हो गया होगा।

अब पाठक समझ गये होंगे ये बाभ्रव्य मुनि नारद के शिष्य थे। छाया की भाँति सदैव इन के साथ रहते थे। यथा—

**स च बाभ्रव्यनामा वै हारीतस्यान्वयोद्भवः।**
**ब्राह्मणो नारदमुनेः समीपे वर्तते सदा॥**

(मा० कौ० अ० ५४–१० स्कन्द)

[1]हारीतवंशीय बाभ्रव्य नामक एक ब्राह्मण नारद के पास हर समय रहा करता था। यही बाद में उदासधर्म को दीक्षा ले 'बाभ्रव्यमुनि' इस नाम से विश्व में प्रसिद्ध हुआ।

बाभ्रव्यमुनि कुशक वंश के थे। इस वंश के विश्वामित्रप्रभृति समस्त महापुरुष उदासीन होते चले आए हैं। अतः बाभ्रव्यमुनि के उदासीन होने में कोई सन्देह नही रह जाता। इन का कुशकवंश होना पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र से प्रमाणित है:—

"मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः" (अ० ४, पा० १ सू० १०६।) अर्थ मधु और बभ्रु शब्द से गोत्रापत्यार्थ में यञ् प्रत्यय होता है, यदि ब्राह्मण और कौशिक वाच्य रहें। इस तरह कौशिक अर्थ में बाभ्रव्य शब्द सिद्ध होता है। और कौशिक नाम कुशक वंशधर का ही है।

१ टि. ये कुशकवंश के ही महापुरुष होंगे।

# दाल्भ्य मुनि

महामुनि दाल्भ्य जी वाभ्रव्य के शिष्य हुए हैं। इन की कथा छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के अष्टम खण्ड में आती है।

एक वार शिलक शालावत्य (शलावत का पुत्र) चैकितायन दाल्भ्य (चिकितायन का पुत्र और दल्भ्यगोत्री) और प्रवाहण जैवलि (जीवल का पुत्र) ये तीनों एक स्थान में इकट्ठे हुए। ये तीनों उद्गीथ (साम का वह भाग जिसे उद्गाता गाता है) के अद्वितीय विद्वान थे। उन में परस्पर यह विचार चल पड़ा कि साम का वास्तविक आश्रय क्या है। इन में शिलक और दाल्भ्य ब्राह्मण थे और जैवलि क्षत्रिय राजा था। यह ब्रह्मविद्या में एक प्रगल्भ विद्वान था।

जैवलि ने उन दोनों से प्रार्थना की कि प्रथम आप दोनों अपने अपने विचारों को इस विषय में प्रगट करें। प्रथम शिलक ने दाल्भ्य से पूछा—कृपया वतलाइये!

साम का आश्रय क्या है—?

दा०—स्वर!

शि०—स्वर का आश्रय?

दा०—प्राण।

शि०—प्राण का?

दा०—अन्न।

शि०—अन्न का आश्रय?

दा०—जल।

शि०—जल का आश्रय?

दा०—द्युलोक।

शि०—उस का सहारा?

दाल्भ्य ने कहा हम साम को स्वर्गलोक से आगे ले जाना नहीं चाहते। अर्थात् स्वर्ग लोक को ही साम का वास्तविक आश्रय ठहराते हैं, कारण, साम स्वर्ग की भाँति स्तुत किया जाता है। ऋचा ही स्वरविशेष का आश्रय साम कहलाती है। स्वर प्राण से बनता है। प्राण अन्न से, अन्न जल से उत्पन्न होता है। जल द्युलोक से आता है। अतः यही द्यु साम का आश्रय है।

यहां पर उदासीनमुनि दाल्भ्य का यह पक्ष था कि स्वर्ग से आये हुये जलों से प्राण को जीवन मिलता है। प्राण से उद्गीथ गाया जाता है। अतः उस उद्गीथ का परम आश्रय स्वर्ग लोक है। यह सुनकर शिलक ने कहा महामुने! आपका यह पक्ष कुछ सन्दिग्ध है। क्यों कि स्वर्ग दृढस्थितिवाला नहीं है। तब दाल्भ्य ने कहा कृपया आप ही इस विषय को स्पष्ट कीजिये।

शिलक ने कहा—स्वर्ग का आश्रय पृथिवी है। और यही साम का आश्रय है। साम की स्तुति पृथ्वी के तौर पर की जाती है। सब भूतों का आधार पृथ्वी है। स्वर्गलोक भी इसी का सहारा लेता है। अग्नि में किये गये होमादि द्युलोक को पुष्ट करते हैं।

इन दोनों के परस्पर वार्तालाप के अनन्तर जैवलि ने कहा—भगवन्! आपका पक्ष भी ठीक नहीं है। आप पृथ्वी को साम का आश्रय ठहराते हैं। वह तो अनित्य पदार्थ है। अतः आपका पक्ष भी सन्देह से वाहर नहीं।

तव शिलक ने कहा—कृपया आप ही हमारे इस भ्रमको दूर कीजिये ।

जैवलि कहने लगे—पृथ्वी का आश्रय आकाश है। सारे भूत इसी से उत्पन्न हो कर अन्त में इसी में लय हो जाते हैं। आकाश सव का परम आश्रय है। इसी को मैं उद्गीथ का आश्रय मानता हुँ। यहां जैवलि का अभिप्राय आकाश से परब्रह्म के ग्रहण करने का है। अन्त में साम का मूल परब्रह्म ही ठहरा।

देखिये! पूर्वोक्त कथा में दाल्भ्य का संवाद स्पष्ट है। ये उन दिनों में सामवेद के प्रधान तीन पण्डितों में से एक थे। इन्हीं का दूसरा नाम वकदाल्भ्य था। ये महापुरुष सामवेद का गान नितान्त श्रद्धा से किया करते थे।

## दाल्भ्य द्वारा अन्नविद्या का आविष्कार।

दाल्भ्य इस वात की चिन्ता में थे कि किसी न किसी तरह किसी ऐसी विद्या का आविष्कार किया जाय जिस से वेदस्वाध्यायरत लोग अन्न प्राप्ति की चिन्ता से सदा के लिये छूट जायँ। क्यों कि उदरपूर्ति का प्रश्न विद्वानों को अधिक क्लेशित करता है। इसी विचार से एक दिन वे एकान्त में सामगान करने के लिये चले गये। वहां पर उन्हों ने एक विलक्षण घटना देखी जिस के द्वारा वे अन्नविद्या सीख गये। जिस महान् कार्य के अन्वेषण में वे वहुत दिन से सयत्न थे उस दिन उस में वे सफल हो गये।

यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के १२ वें खण्ड में आती है। जिसे हम यहाँ संक्षेपतः लिखते हैं। एक दिन महामुनि वकदाल्भ्य स्वाध्याय के लिये निर्जन स्थान में पहुँच गये। वहां पर उन्हों ने एक विशाल श्वेत कुत्ते को देखा। जिस के पास खड़े और वहुत से कुत्ते अन्न की प्रार्थना कर रहे हैं। तव वड़े कुत्ते ने उन से कहा-अच्छा तुम हमारे पास कल प्रातः आओ। इस सारी घटना को वकदाल्भ्य तटस्थ वैठे दूर से देखते रहे। दूसरे दिन दाल्भ्यमुनि उस आश्चर्यमयी घटना की वाट जोहने लगे। आगामी प्रातःकाल जिसप्रकार ऋत्विज लोग वहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करते समय एक दूसरे को पकड कर चलते हैं, ठीक उसी तरह वे भी एक दूसरे की पूँछ को मुँह में लिये वहां आपहुँचे। तदनन्तर वे एक स्थान पर मिलकर वैठ गये। निम्न लिखित मन्त्र का गान करने लगे।

ॐ ३ मदा ३ मों ३ पिवा ३ मों ३ दैवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ ऽन्नमिहा २ ऽहरदऽन्नपते ३ ऽन्नमिहा २ हरा २ ऽऽहरो ३ मिति। (छा० प्र० १ खण्ड १२, मं. ५)

हिन्दी—'ओम्' हम खायें, ओम् हम पीयें, । ओम् देव वरुण प्रजापति सविता हमारे लिये अन्न लाए। हे अन्न के मालिक अन्न लाओ। लाओ ओम् इति।

इस घटना से महामुनि दाल्भ्य अन्नविद्या सीख गये। वास्तव में यहां रहस्य यह है कि मुनि के स्वाध्याय से प्रसन्न हो कर हिरण्यगर्भ मुख्य प्राण ने और वाणी प्रभृति इन्द्रियों ने कुत्तों का रूप धारण कर उस पर अनुग्रह किया। इस कथा में निर्दिष्ट मंत्र शौव उद्गीथ कहलाता है। क्यों कि इस का द्रष्टा श्वा है। यहां पर मुख्य प्राण का कुत्ता वन कर आना एक गुप्त रहस्य रखता है। मांगना श्ववृत्ति है। अतः अपने परमप्रियभक्त वकदाल्भ्य को अनिवार्य कुत्सित वृत्ति से मुक्त करने के लिये हिरण्यगर्भरूप मुख्य प्राणने इस विद्या का दान कर उनपर महान अनुग्रह किया। इस अद्वितीय विद्या को पाकर वकदाल्भ्य ने अपना सारा जीवन सामवेद

के प्रचार में बिताया। इस विद्या के आविष्कार के अनन्तर वेदपाठियों का जीवन सुखमय बन गया। प्रथम जिस उदरपूर्तिके लिये वे अपने प्राणों से भी प्रिय स्वाध्याय को छोड कर कार्य्यान्तर में प्रवृत्त हो जाते थे। अब वह प्रतिबन्धक उन को सदा के लिये छोड गया। बडे कुत्ते तथा छोटे कुत्तों का आपस में ही वार्तालाप करते रहना और बकदाल्भ्य से कुछ भी न कहना यह भाव रखता है कि मुख्य प्राण प्रथम ही जानते थे कि बकदाल्भ्य एक विरक्त उदासीन महात्मा है। इसे यदि वर मांगने को कहा जायगा तो यह हमारी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखेगा। क्यों कि उन दिनों के उदासीनों में यह विशेषता थी। यदि उन्हें कोई तीनों लोकों का राज्य भी दे तो भी लेने से इन्कार कर देते थे। इस भाव से प्रेरित हो कर हिरण्यगर्भ मुख्य प्राण ने एक ऐसा उपाय निकाला जिस से बकदाल्भ्य से बोलना भी न पड़े और जिस विद्या को वे उसे देना चाहते थे वह दी भी जाय। अन्त में ऐसा ही हुआ। बकदाल्भ्य जी अजगरी वृत्ति को अधिक पसन्द करते थे। ये नहीं चाहते थे कि एक वेदों का विद्वान् उदरपूर्ति से तङ्ग आकर किसी के यहां अन्नयाचनार्थ जाय। यही कारण था कि उन्हों ने इस विद्या के आविष्कार के लिये अपने मनमें एक दृढ संकल्प पैदा किया। जबतक वेद के विद्वानों में इस विद्या का पूर्ण प्रचार रहा तब तक वे साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है बड़े से बड़े सम्राट् को भी तुच्छ समझते थे: क्यों कि सच्चे विद्वानों को सिवाय अन्न के अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। इस की पूर्ति वे इस विद्या के द्वारा करने लग गये। फिर उन्हें किसी की क्या आवश्यकता। वेदवेत्ता ऋषिमुनियों का ऐसे निर्जन स्थानों में रहना; जहां मानवीय चिन्ह तक मिलना कठिन था, इस रहस्य से खाली न था। बात भी ठीक है मनुष्यों के सामाजिक जीवन का प्रधानकारण उदरपूर्ति ही है। इस की चिन्ता मिट जाने पर मनुष्य साक्षात् ईश्वर स्वरूप हो सकता है। हमें खेद से लिखना पड़ता है कि देश तथा जाति की अधन्यता के कारण आज ऋषिसन्तान उस परम कृपालु बकदाल्भ्य की अन्नाविष्कारिणी विद्या को भूल गई है! अतः क्या विद्वान क्या मूर्ख सभी दर दर भीख मांगते फिरते हैं। आज यदि हम उस विद्या को जानते होते तो हमारे लाखों भाई भूख से तड़प २ कर प्राण न गँवाते।

धन्य बकदाल्भ्य महामुनि जिन्हों ने घोर परिश्रम से सामवेद के पवित्र गान से प्राणों को प्रसन्न कर उस अलौकिक विद्या को पाया। परन्तु हमलोगों ने उसे आगे बढ़ाने की अपेक्षा सर्वथा भुला दिया। ब्रह्मलोक में महामुनि बकदाल्भ्य की आत्मा इस दुःखमय घटना से हार्दिक वेदना अनुभव कर रही होगी। पाठको! कितने दुःखका विषय है! इस अमूल्य विद्या की तरह और अनेकों दुर्लभ विद्याओं से हम वञ्चित हो चुके हैं। उन विद्याओं में से हमारे पास आज यदि एकभी होतो तो संभव है कि हमें ये दिन देखने न पड़ते। यहां हमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। अन्त में इतना कहना पर्य्याप्त है कि दाल्भ्य मुनि सामवेद के अद्वितीय विद्वान और संसार के सब से बड़े उपकारकों में से एक थे।

## महाभारतसार में दाल्भ्यमुनि।

इन की कथा महाभारतसार में भी आती है जो पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ संक्षिप्त लिखी जाती है।—

२

महाभारत के संग्राम के अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर राजसिंहासन की शोभा बढाने लगे। यद्यपि वे धर्मानुसार प्रजापालन में रत हो गये थे; परन्तु यह विचार उन के मन में वारवार आता था कि महाभारत में हुए नरसंहार का कोई वृहत्प्रायश्चित्त होना चाहिये। यहाँ तक कि वे इस विचार की तरङ्गोंमें वहते २ व्याकुल हो उठे। इसी विषय में परामर्श लेने के लिये परमपूज्य महामुनि व्यासदेव जी को बुलाया गया। महामुनि व्यासदेवजी ने पर्य्याप्त देरतक सोच विचार कर कहा—राजन्! इस विषय में अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आपका विचार यदि प्रायश्चित्त करने का है ही तो अश्वमेध यज्ञ करिये। क्यों कि इस से बढ़कर अन्य कोई पवित्र-कार्य मुझे देखने में नहीं आता। शास्त्रों में समस्तपवित्र कार्यों से इसे ही अधिक महत्त्व दिया गया है। तब धर्मराजयुधिष्ठिर व्यासदेव जी की आज्ञानुसार अश्वमेध यज्ञ करने लगे। घोड़े के रक्षक महावाहु अर्जुन वने।

यहाँ पर यह लिख देना भी आवश्यक है कि उस समय को स्थिति के अनुसार पाण्डवों का अश्वमेध यज्ञकरना वडे़ महत्त्व का कार्य था। कौरवों पर विजय पाने के अनन्तर इतने विशालराज्य के उत्तराधिकारी पाण्डव ही थे! अतः सर्वसाधारण जनता में शुद्धधार्मिक मर्य्यादा की स्थापना के साथ २ संसार के राजों महाराजों पर अपनी दिग्विजय का महत्त्व जमाना आवश्यक था। यह इतना विशाल कार्य केवल अश्वमेध यज्ञ की सफलता पर ही अवलम्बित था। अतः इसे सफल बनाने में पाण्डव शीघ्र तत्पर हो गये

## अश्वमेध यज्ञ।

अश्वमेध यज्ञ के रहस्य से अनभिज्ञ लोग इसके विषय में वेशक वे जो कुछ चाहें कहें; परन्तु हम कहे विना नहीं रह सकते कि इस विशाल पवित्र कर्म की तह में एक रहस्य है; जिसे हम पाठकों के आगे स्फुट करते हैं

प्रथम तो इस बात पर विचार करना चाहिये कि अश्वमेध यज्ञ करना कोई आसान कार्य न था। इस का वीड़ा वही राजा उठाता था, जो अपने धन जन तथा सैन्यवल को संसार के अन्य राजों और महाराजों के सैन्यवल से प्रवल समझता था। अश्वमेध यज्ञ में सर्वसाधारण का सफल होना कठिन ही नहीं असम्भव है। पाण्डवों को अपनी विशाल भुजाओं के वल पर भरोसा था। अत एव उन्हों ने इसे आरम्भ किया। कई एक यहां पर यह कह उठेंगे कि पाण्डवों का अश्वमेध यज्ञकरना तो भूतपूर्व नरसंहार का प्रायश्चित्तविशेष था। तो फिर अश्वमेध की मर्य्यादानुसार दिग्विजय में भी तो नरसंहार अवश्यंभावी था। अतः यह तो प्रायश्चित्त के स्थान में वल्कि और भी अधिक पाप को वढाना था। इस के उत्तर में हम यह कहेंगे कि ऐसे लोगों ने अश्वमेध यज्ञ के रहस्य को ही नहीं समझा। अतएव वे ऐसे २ प्रश्नों पर उतर आते हैं। महाभारत का युद्ध नीतिप्रधान कार्य था। और अश्वमेध एक धर्मप्रधान कार्य है। अश्वमेध में दिग्विजय तो अङ्गरूपेण होती है। वस्तुतस्तु सर्वत्र एकधर्म की स्थापना करना प्रधान लक्ष्य होता है। प्रथम तो इस की सफलता में नरसंहार की संभावना ही नहीं होती क्यों कि हम प्रथम लिख आये हैं कि अश्वमेध यज्ञ करने का साहस वही राजा कर सकता है जिस की प्रत्येक शक्ति ने समस्तसंसार पर अपना आतंक जमा रक्खा हो। अतः उसके

धार्मिक अश्व को रोकने का किसी को भी साहस नहीं होता। तो भला बतलायें फिर नरसंहार को स्थान कहां रहा। मानलो यदि किसी राजाने ऐसा दुस्साहस किया भी तो, वह अपने किये हुये कुकृत्य का फल भोगता है। ऐसे राजे का मारना पाप में प्रविष्ट नहीं हो सकता; जो विश्वभर के अकल्याण का कारण बनता हो। अतः ऐसी स्थिति की नरहत्या धार्मिक और नैतिक मर्यादानुसार अधिक निन्दनीय नहीं समझी जा सकती। उसे पराजित करना मानों विश्वभर में एकता का सूत्रपात तथा सत्यशान्ति की स्थापना करना है। अतः संसारभर के जनसमाज के लिये कुछ मनुष्यों को उनके पाप का फल चखा देना पाप नहीं कहा जा सकता। दूसरा विचार यहां पर यह भी है कि जिस प्रकार समुद्र में फैंकी आग किसी को कुछ क्षति नहीं पहुँचा सकती, इसी प्रकार इस विशाल पवित्र कार्य के अपरिमित पुण्य के आगे तन्मर्य्यादापालनार्थ उत्तेजित होकर किये गये जनसंहार का पाप किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचा सकता। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अश्वमेध करना मानों अपनी विश्वविजय का गौरव बढाना है। अश्वमेध के दो फल होते हैं एक लौकिक दूसरा पारलौकिक। यह धर्मप्रधान कार्य होने के कारण प्रथम गौण और दूसरा प्रधान होता है। लौकिक तो यह है— अपनी दिग्विजय के साथ साथ देशभर में एकता का सूत्रपात हो जाता है। देशभर का एक ही धर्म हो जाता है। समस्त जनता एक ही छत्र के नीचे आने के कारण अपने आप को एक बृहत्परिवार के रूपमें देखती है। आपस के घरेलू झगड़ों के मिटते ही लोग अपने को उन्नत बनाने में लग जाते हैं। आर्थिक उन्नति के साथ २ परमार्थ की ओर भी झुकने लगते हैं। यह सब कुछ अश्वमेध का फल नहीं तो और क्या है? सबसे बड़ा कार्य इससे यह होता है कि खण्डराज्यों की निरंकुशता के नाश के अनन्तर एक विराट् साम्राज्य की स्थापना होती है। देश पृथक् २ भागों में विभक्त नहीं रहता। अतएव इसमें नये जीवन का आजाना एक साधारण बात होती है। प्रत्येक देश को जितनी निरंकुश खण्डराज्यों से हानि पहुंचती है स्यात् ही किसी अन्य प्रकार से पहुंचती हो।

एक ही देश जबतक स्वतंत्र खण्डराज्यों में विभक्त होता है तो उसी देश के मनुष्य एक दूसरे को विदेशी और अपना शत्रु समझते हैं; क्यों कि समय समय पर उन्हें आपस में लड़ने झगडने का अवसर मिलता ही रहता है। हम यहां पर उदाहरण के तौर पर इतना कहना ही पर्य्याप्त समझते हैं कि भारत में विदेशी शक्तियों की सफलता का मूलकारण भारतीय खण्डराज्यों का होना ही है। हम इस विषय को अधिक बढाना नहीं चाहते क्यों कि यह प्रश्न हमारे विषय से बाहर तथा नैतिक है। हम इस समय धार्मिक प्रवाह में बह रहे हैं तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि मुस्लिम विजेताओं का भारत में सफल होना कदापि सम्भव न था यदि उस समय भारत में खण्ड राज्य न होते। नीतिकुशल अङ्ग्रेजजाति ने तो भारत की इस त्रुटि से पूरा पूरा लाभ उठाया है यह बात विवादास्पद नहीं है। आप जिस इतिहास में चाहें पढ सकते हैं। पाठक! आप जरा सोचें, क्या यह सर्वस्वनाश उस अश्वमेध की पवित्रप्रथा के उठ जाने से नहीं हुआ?

हम पूर्ण निश्चय से कहते हैं, जबतक भारत में अश्वमेध करने वाले साहसी वीर

नरेश होते रहे, तबतक हमारी ओर किसी को आँख उठाकर देखने का साहस तक नहीं हुआ। अतः मानना पडेगा, अश्वमेध जैसा कोई अन्य पवित्रकार्य नहीं हो सकता; जिससे विश्वभर का कल्याण हो सके।

इस का दूसरा प्रधान फल है स्वर्गादिकों की प्राप्ति, जिस का वर्णन आप शास्त्रों में सविस्तर देख सकते हैं। अत एव लौकिक और पारलौकिक फलों के देनेवाले अश्वमेध यज्ञ को करने के लिये महामुनि व्यासदेवजी ने धर्मराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया।

## अर्जुन वकदाल्भ्य संवाद।

यह आप पहले पढ चुके हैं कि उस यागीय अश्व का रक्षक महाबाहु अर्जुन निश्चित हुआ। आगे आगे घोडा चलता था और पीछे पीछे अर्जुन के सेनापतित्व में वह पाण्डवों की अनुपम सेना चलती थी। किसी किसी समय भगवान कृष्ण भी उन के साथ रहते थे। भगवान ने सोचा कि किसी न किसी तरह अर्जुन के मन में संसार से विरक्ति पैदा करनी चाहिये। अतएव वे दिग्विजय में सेनापति के रूप में घोड़े के पीछे २ घूम रहे अर्जुन को समुद्रोल्लङ्घन कर एक निर्जन टापु में ले गये। वहाँ पर अर्जुन ने एक अद्‌भुत मुनि को देखा। जो एक पेड के नीचे पत्तों पर ही लेट रहा था। न रहने को कोई पास कुटिया थी और नहीं वदन पर कोई वस्त्र था। पाणिपात्र, दिगम्बर, और भूशायी मुनि के पवित्र दर्शनों से अर्जुन का मन पिघल कर मोम बन गया। जन्मजन्मांतरों के पापों का नाश होते ही अर्जुन ने अपने आप को एक नये रूप में पाया। बहुतदेरतक अर्जुन मुनि की ओर एकदृष्टि से देखता रहा। अन्त में अर्जुन ने साञ्जलि हो कर कहा—महामुने! यदि आज्ञा हो तो मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ। मुनिने कहा—वत्स! आनन्द से पूछ। अर्जुन ने कहा तपोनिधे! आप न तन पर वस्त्र पहनते हैं और नहीं रहने के लिये कोई कुटियादिक बनाते हैं। आप के पास न मैं कोई पात्र ही देखता हूँ। यह क्या कारण है? भगवन्! मेरे इस तुच्छ सन्देह को दूर करने की कृपा करें।

मुनि ने कहा—" अर्जुन! इन बातों का क्या पूछना है यह तो एक साधारण बात है। यह सारा विश्व जिसे तू देख रहा है विद्युत् की तरह चञ्चल और विनाशी है। हमे यहां चार दिन रहना है। *क्या कुटिया बनाएं। और क्या वस्त्रादिक

---

* महाभारतसार अध्याय ९५ वकदाल्भ्य उवाच—

क्लेशावहो दारपरिग्रहोऽयं पापाद्धि नूनं हि भवेदधोगतिः।
तत्पोषणे कार्यमकार्यमेतद्विचार्य धर्मो नितरां विनश्यति ॥ १६ ॥
नष्टे विचारे कुत एव मोक्षस्तृष्णा वरिवर्त्ति नृणामतीव।
मृता मदीयाः खलु वत्स, सद्यो वृद्धिंगताः क्लेशवहा भवेयुः ॥ १७ ॥
तथा बहूँश्चात्र किशोरसंघान् दास्यत्यनन्तो वहवः प्रसूताः।
पुत्राः कथञ्चित् प्रभवन्ति पौत्रा, वेदान्तशास्त्राणि मुखे पठेयुः ॥ १८ ॥
विधाय चैषां भविता कथंचिद्द्रक्ष्याम्यहं पुत्रसुखं कदाचित्।
एवं सदा चिन्तयते गृहस्थः स्त्रीपाशबद्धो ननु धर्ममार्गम् ॥ १९ ॥
अतो मयाकारि न दारसंग्रहो न पर्णशाला विहितात्पमायुः ॥

धारण करें। पता नहीं किसदिन इस विनाशी शरीर का नाश हो जायगा। इस की रक्षा के लिये वस्त्रादिकों का धारण करना अथवा कुटिया बनाना वृथा है। विवाह कराकर सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर मनुष्य सांसारिक बन्धनों में मृत्यु तक फँसा रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य गृहस्थ में पड़ कर पतन की ओर अधिक झुकने लगता है। जाति तथा देश का कल्याण मनुष्य जितना ब्रह्मचारी रह कर सकता है, उतना गृहस्थ की विषैली झञ्झटों में गिर कर नहीं। इन विचारों से प्रेरित हो कर हम आज तक अविवाहित ही हैं।"

अर्जुन ने चकित हो कर पूछा—महाराज! आप कब से यहाँ रहते हैं? मुनि बोले अर्जुन! क्या बताएँ! हमारे देखते देखते विश्व में हजारों परिवर्तन हो चुके हैं। हमारे देखते देखते तू और कृष्ण कितनी बार हो चुके। और हमने कईवार महाभारत के संग्राम देखे हैं। विश्व के वन और पर्वत कई बार बसे और अनेकों बेर उजड चुके हैं।"

अर्जुन यह सुन कर चकित हो गया और मन में सोचने लगा, धन्य हैं ये मुनिराज जो इतनी बडी आयु को एक साधारण समय का भाग जान कर इस प्रकार संसार से विरक्त हो कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अर्जुन की आँखों के सामने वह महाभारत का भयानक दृश्य साक्षात् आ उपस्थित हुआ। अर्जुन अपने आपको मन ही मन में कोसने लगे। धिक्कार है हमको जिन्हों ने चार दिन की तुच्छ जिन्दगी के लिये अपने भाइयों का रक्त बहाया। क्या यह अविद्या नहीं? इस प्रकार अर्जुन का मन स्वच्छ हो कर संसार से विरक्ति के समुद्र में गोते खाने लगा। संभव है पाण्डवों के हिमालयगमन में अर्जुन का यह वैराग्य ही मूल कारण बना हो। हमारे शास्त्र मनुष्य को अकर्मण्य न होने तथा कर्मवीर बनने का आदेश देते हैं। साथ ही मनुष्य को प्रवृत्तिसरिता में डूबने से बचा कर निवृत्ति के निर्भय मैदान में डट जाने को कहते हैं। भगवान कृष्ण ने सोचा कि कहीं अर्जुन राज्य के झगडे में पड़ कर प्रजापीडक तथा लोभी न बन जाय। अतएव उसे संसार से विरक्त करना आवश्यक था। उस समय अर्जुन का यह वैराग्य बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। अन्यथा कह नहीं सकते कौरवों और पाण्डवों की भाँति अब केवल पाण्डवों में ही परस्पर कलह तथा पक्षपात चल जाता। धन्य हैं वे उदासीन दाल्भ्य जिन की साधारण बातचीत से अर्जुन संसार से विरक्त हो गया। ऐसे २ महात्मा ही संसार के उद्धरण में समर्थ हो सकते हैं।

क्या ही पवित्र जीवन है! क्या ही अलौकिक भाव हैं! धन्य है वह स्थान जहां वे घूमते होंगे। धन्य है वह वृक्ष जिसके पवित्रपत्र अपने बदन पर प्रचण्ड-मार्तण्ड की असह्य किरणों की उष्णता का सहन कर मुनि के शरीर पर शीतल छाया करते होंगे। क्या मुनिका जीवन अनुकरणीय नहीं है?

जब संसार के उपकार में लगे तो सब से आगे बढ गये। एक ऐसी अद्भुत अन्नाविष्कारिणी विद्या का अविष्कार किया जिसे देख सारा संसार चकित रह गया। जब त्याग की ओर झुके तो आदर्श का काम किया। ये दोनों घटनाएँ इनके जीवन में अधिक महत्त्व रखती हैं। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि जिस

प्रकार पहले इस उदासधर्म में ऐसे ऐसे महापुरुष होते रहे हैं उसी तरह अब भी उत्पन्न हों। क्यों कि यह महापुरुषप्रसवा सम्प्रदाय है। महामुनि दाल्भ्य के समय केवल भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि संसारभर में हिन्दुओं का राज्य था। और सारा विश्व वेदों का पुजारी था। हम महाभारत में पढते हैं—महाभारत के युद्ध में चीन के राजा भगदत्त, इयुरोप के विडालाक्ष, अमेरिका के बभ्रूवाहन, ईरान के शल्य, कंदाहार के शकुनि, प्रभृति सम्मिलित हुये थे। तब सब मिलाकर संसार में ४००० राज्य थे। ये सभ के सभ हस्तिनापुर के चक्रवर्ती के अधीन रहते थे। महाभारत का युद्ध विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व हुआ। यद्यपि इस बात में लोगों का बड़ा मत भेद है; परन्तु अधिक लोग इसी को प्रमाणित मानते हैं। उनदिनों में भी संसार में अनार्यजातियाँ थीं; परन्तु वे हिन्दुओं से प्रत्येक कलाकौशल में कम होने के कारण हिन्दुओं के विरुद्ध सिर न उठा सकती थीं। यदि कहीं मुकाबले पर आती भी थीं तो मुँह की खाकर पराजित हो जाती थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि महाभारत के समयतक हिन्दु-जाति का सौभाग्यसूर्य नितान्तप्रकाश से चमकता रहा। अन्त में हम इतना कह देते हैं कि महामुनि सनत्कुमार, नारद, बाभ्रव्य और दाल्भ्य इन चारों के समय में सारासंसार हिन्दुओं से शासित और वेदों के मानने वाला था। यहाँ का प्रत्येक कलाकौशल का ज्ञान बढाचढा था और विश्वभर के ज्ञानप्रेमी यहां से ज्ञान प्राप्त करते थे।

## " जयमुनि "

जयमुनि जी ने महामुनि दाल्भ्य से उदास धर्म की दीक्षा ली। तदनन्तर वे चतुर्थाश्रमी होकर देश के कल्याण में लग गये। महाभारत के युद्ध के बाद भारतीय जनता में अनेकों त्रुटियाँ आ घुसी थीं परन्तु प्रातःस्मरणीय जयमुनि जी के नितान्तपरिश्रम से वे दूर कर दी गईं। अन्यथा कह नहीं सकते उससमय की जनता असमञ्जस में पड कर अज्ञान के किस गहरे गर्त्त में जा गिरती। अच्छे अच्छे विद्वान धर्मोपदेशक तथा शूर वीर जब महाभारत के युद्ध में काम आ चुके तो उससमय सर्वसाधारण जनता किंकर्तव्यमूढ सी होगई थी। जाति के रक्त में शिथिलता का आना आरम्भ हो चुका था। किसी सच्चे मार्गप्रदर्शक के बिना जनता पथभ्रष्ट हो कर धर्माधर्म के स्वरूप में सन्दिग्ध होने लगी थी। ऐसी भयानक स्थिति में महामुनि जयमुनि की निष्काम जातिसेवा नितान्त प्रशंसनीय एवम् अनुकरणीय है। इन के जीवन की घटनाओं से पता चलता है कि जब इन्हों ने अपना कार्य आरम्भ किया तो वह कोई इतना सर्वव्यापी आन्दोलन न था; परन्तु स्वल्पसमय में ही हम इन के कार्यक्षेत्र को एक विशालरूप में देखते हैं। इस से यह पता चलता है कि उस समय देश मे इनके कार्य की अत्यन्त आवश्यकता थी। इनके कार्यक्षेत्र का इतनी जल्दी देशव्यापी होना यह सिद्ध करता है कि ये उस कार्य को अपने सच्चे मन से करते थे। प्रचार के अन्यसाधनों के इलावा ये मुनि इतिहास का शिक्षा देना अधिक पसन्द करते थे। अतएव इन्होंने भारत के सर्वश्रेष्ठ इतिहास महाभारत को अपना लिया। इसी की कथा सर्वत्र करने लगे। कथा करते समय ये लोगों के सामने उनके पूर्वजों के आदर्श रख कर कहा करते थे, देखो! तुम्हारे पूर्वज

कितने उच्च एवम् धार्मिक महापुरुष थे । तुम किस प्रवाह में वह रहे हो । आओ फिर हम सब मिल कर अपने पूर्वजों के मार्गो पर चलना आरम्भ करें। इस प्रकार भाँति भाँति के उपदेश दिया करते थे ।

इतिहास के सम्बन्ध में इन का यह विचार था कि किसी जाति के पुरातन इतिहास का उस में पूर्णतया प्रचार करना मानो जलाभाव से सूख रही जातिरूपी लता को जलदान कर फिर से उसे पल्लवित और पुष्पित करना है। यदि कोई जाति किसी आपत्ति के कारण या प्रमाद से अपना इतिहास खो बैठी है तो निस्सन्देह यह समझना चाहिये कि वह अपना सर्वस्व लुटा चुकी और मरणासन्न है। जाति के होनहार युवकों का भावीजीवन उस के पुरातन इतिहास के अनुकरणीय आदर्शों के अनुसार बनता है। मनुष्य आदर्श का पुजारी है। यदि इसे अपने इतिहास का आदर्श नहि मिलता तो यह अन्य जातियों के महापुरुषों का अनुकरण करने लगता है। जिसका परिणाम अन्त में भयङ्कर सिद्ध होता है। इतिहास के द्वारा हम भूतकाल की तह में पडे हजारों ही नही लाखों वर्षों के पदार्थों का, मनुष्यजाति के आचरणों का, तथा भौगोलिक स्थिति और उस पर रहने वाले तमाम जन्तुओं का दिग्दर्शन सा कर लेते हैं।

असभ्य जातियों का भूतकाल नहीं होता, वे जो कुछ देखती हैं उसे ही समझ सकतीं हैं। वे नहीं जानतीं आज से दो सौ वर्ष पूर्व संसार की स्थिति क्या थी। सभ्यजातियाँ इस से प्रतिकूल होती हैं। उससमय जयमुनि जी ने इतिहास के ज्ञानद्वारा ही जाति को कर्तव्यमार्ग दिखा दिया। पुरातन भारतीय जनता का पूर्ण इतिहास प्रायः महाभारत में मिलता है अतएव उन्हों ने उसी के प्रचार को सर्वत्र उपयुक्त समझा।यद्यपि महाभारत इन्हों ने स्वयं नही लिखा परन्तु जनता में उसका प्रचार अधिकतर इन्हों ने ही किया। उस समय की भारतीय जनता ईन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ उद्धारक मानती थी। संभव है तब लोगों ने भारत में इनके बहुत से स्मारकभवन या अन्य चिन्ह वगैरह बनाए हों जिन में से आज किसी का मिलना कठिन है। उनकी एक बात हमें मिलती है जिस से पता चलता है कि वे किस प्रकार देश में आदरणीय एवं परमाराध्य थे। देश में महाभारत के निरन्तर प्रचार से लोग महाभारत को जयमुनि का एक प्रतिनिधि समझने लगे थे। महामुनि जी जातिसेवा करने के कारण लोगों के प्राणप्रिय बन गये थे। भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोग यही चाहते थे कि जयमुनि जी उन्ही के यहां सर्वदा धर्मोपदेश करते रहें। परन्तु यह बात कैसे सम्भव थी। उनको तो प्रत्येक प्रान्त से एक सा प्रेम था। जब लोग उन के चले जाने पर अधिक व्याकुल होते और उनके पास दर्शन देने के लिये बारम्बार सन्देश भेजते तो परमदयालु जयमुनि जी क्षुब्ध से हो उठते। अन्त में यह निश्चय हुवा कि जो लोग उनका दर्शन करना चाहें वे महाभारत का दर्शन करें और जो उनका धर्मोपदेश सुनना चाहें वे इस का पाठ करें और दूसरों को सुनाएं।

इस विचार ने उन्ही के समान महाभारत का आदर लोगों के मन में पैदा कर दिया। अत एव लोगों ने उन के प्रेम में आ कर महाभारत का नाम जय रख लिया। जब कभी किसी धार्मिक पुरुष को किसी धार्मिक विषय में सन्देह हुआ, झट जय उठा कर देख लिया। जयमुनि में लोगों के भक्तिभाव, अगाध श्रद्धा और कृतज्ञता

यहां तक ही परिमित न रही अपने सच्चे उद्धारक का नाम संसार में सदावास्ते अमर करने के लिये कृतज्ञ महाभारत के सँस्कर्त्ताओं ने महाभारत के प्रत्येक पर्व के आरम्भ में

" नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत् "

यह श्लोक लिख दिया।

इस से निस्सन्देह यह प्रतीत होता है कि लोग जय (महाभारत) को ही जयमुनि का प्रतिनिधि समझते थे।

अन्य शास्त्रों के पढने से हमें मालूम होता है उन दिनों में यहाँ यह प्रथा भी प्रचलित थी, कि ग्रन्थों का नाम अधिकतर प्रचारक के नाम पर होता था। क्यों कि जनता तो उसी को पहचानती थी जो उस के सन्मुख उस वस्तु को ला कर रख देता था। इसी प्रथा के अनुसार महर्षि वेदव्यास के शिष्य जैमिनि मुनि ने स्वरचित पूर्वमीमांसा में "आख्या प्रवचनात्" यह सूत्र लिखा है। इस से स्पष्ट है कि कठ और तित्तरि प्रभृति ऋषिओंद्वारा वेद की जिन जिन शाखाओं का प्रचार जनता में हुआ उन का नाम उन के प्रचारकों के नाम पर तैत्तिरीय और काठकादि प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह महाभारत के प्रचारक के नाम पर महाभारत की आख्या का व्यवहार होना सन्देहास्पद नहीं हो सकता।

महर्षिव्यासप्रणीत महाभारत के जयनाम होने में विद्वानों का मतभेद है। कै एक विद्वान यह विचार भी रखते हैं कि व्यासदेवजी की भाँति उन के शिष्य जैमिनि मुनि ने भी एक भारत लिखा था। उसी का नाम जय था जो लुप्त हो जाने के कारण समग्र तो नहीं मिलता उस का एक भाग, जिस का नाम जैमिनि अश्व-मेध है, आज कल भी मिलता है। इन दोनों महाभारतों की कथाओं में महान अन्तर है। कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है जिस विषय पर महर्षि वेदव्यासजी लिखते थे, उसी विषय पर जैमिनि मुनि अवश्य लेखिनी उठाते थे। दोनो की वर्णनशैली पृथक् पृथक् है। व्यासदेवजी ने वैदिकश्रुतियों के सम्बन्ध में उत्तरमीमांसा लिखा तो जैमिनिजी ने श्रुतिव्यवस्थाविषय को ले कर पूर्वमीमांसा लिखा। अतः यह बात स्पष्ट है कि जैमिनिजी ने महाभारत लिखा था जो किसी कारणवश या प्रमाद से लुप्त होने के कारण नहीं मिलता। खैर कुछ भी हो महाभारत के प्रचारद्वारा जो जाति का कल्याण हुआ उसका श्रेय जयमुनि को ही प्राप्त है। कौन कह सकता है। यदि जयमुनि महा-भारत का प्रचार न करते तो महाभारत से सर्वसाधारण जनता परिचित होती या न। उन के इस प्रशंसनीय कार्य के लिये हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

नैतिक और धार्मिक प्रचार करना उदासीनों में आरम्भ से चला आता है। नारद तथा सनत्कुमार के विस्तृतजीवन में आप पढ चुके हैं, किसप्रकार समय समय पर वे दोनों महापुरुष संसार का कल्याण करते आए हैं।

बाभ्रव्य के शिष्य दाल्भ्य की अज्ञाविष्कारिणी विद्या संसारप्रसिद्ध है। महा-भारत के संग्राम के बाद पतन की ओर बढ रही हिन्दु-जाति को उस के पूर्वजों के चरितसुधा को पिला कर उसे सदा के लिये अमर कर देनेवाले जयमुनि का

चरित आप अभी पढ ही रहे हैं। ये मुनि नारायण पर अधिक श्रद्धा रखते थे। कुछ ऐसा देखने में आता है जो व्यक्ति जितनी उच्च होती है, उसका आदर्श भी उससे कईभाग अधिक ऊँचा होता है। नारायण भगवान् विष्णु का अवतार हुए हैं और उन्हों ने एकवार मोक्षाश्रम पर घिर रहे विपत्ति के काले वादलों को दूर किया था। संभव है नारायण पर जयमुनि की अगाध श्रद्धा का यही कारण हो कि वेभी तो धार्मिकमर्यादा के स्थापक तथा जातिरक्षक हुए हैं।

जयमुनिजी देवी की (शक्ति की) सात्त्विकमूर्ति सरस्वती के उपासक थे। उन्हीं से लेकर स्वरस्वतीपूजन उदासीनमहात्माओं में आजतक चला आता है। वैसे तो अधिकारिभेदतः सात्त्विक, तामस, राजसादि अनेकों देवी की मूर्तियाँ हैं, परंतु वे केवल देवी की सात्त्विकमूर्ति सरस्वती के पूजन का प्रचार अधिकतर जनता में किया करते थे। विष्णु के अवतार नारायण हमारे २४ अवतारों में से एक हैं। विष्णु की पूजा तथा सात्त्विक देवीमूर्ति सरस्वती का पूजन सिद्ध करता है कि वे उदासीनसंप्रदाय के नियमों का पालन भलिभाँति किया करते थे। क्यों कि पञ्चदेव की समभाव से पूजा करना केवल उदासधर्म में ही मिलता है। उनका विष्णु तथा सरस्वती का पूजनकरना सिद्ध करता है कि वे पञ्चदेव को समभाव से पूजते थे। महाभारत के पठनपाठन के आरम्भ में ये अधिकतर वागधिष्ठातृदेवी सरस्वती तथा संसार के रक्षक विष्णु के अवतार नारायण का पूजन कराया करते थे। निरन्तर और विस्तृतप्रचार के कारण इनकी शिष्यश्रेणी में यही नियम असाधारण बन गया। इनके उससमय के इतिहास के प्रचार से जो भाव हिन्दुजाति के मनमें घर कर गये थे वे आज भी प्रत्येक सच्चे हिन्दु के हृदय में जीवित हैं। संसार के लोग हिन्दु-जाति की पुरातनता का इतिहास पढ कर अपने दाँतोंतले अङ्गुली दवाने लगते हैं। आजतक संसार में अनेकों जातियाँ उत्पन्न हुईं और चलती बनीं परन्तु हिन्दु-जाति पूर्ववत स्थिर एवं पुष्पित और पल्लवित है। इस का प्रधान कारण समय समय पर परमपूज्य जयमुनि जैसे महापुरुषों को अपार कृपा ही हो सकती है। इस वात का हमें वडा ही खेद है कि आजकल जयमुनि का कोई स्मारकभवन नहीं मिलता। उनदिनों में तो उनके नाम से नगर नगर और गाँव गाँव में स्मारक भवन वनाये गये थे। जहाँपर प्रतिदिन जय अर्थात् महाभारत की कथा हुआ करती थी। अच्छा इतना कहकर ही सन्तोष करलेना पडता है कि इस भयानक समय में हमें जितना उनका चरित मिलाहै उतना ही बहुत है।

## "सञ्जीवन" मुनि.

सञ्जीवनमुनि महाभारत के प्रसिद्धप्रचारक जयमुनि के शिष्य हुए हैं। इन का समय युधिष्ठिर की प्रथम शताब्दी है। ये मुनि सञ्जीवनीविद्या का प्रयोग करना पूर्णतया जानते थे। यह वहीविद्या है जिसके प्रयोगद्वारा देवासुरसङ्ग्राम में मृतासुरों को उनके गुरु शुक्राचार्य पुनर्जीतवित कर देते थे।

पुराणों में वहुतसी इसप्रकार की कथाएँ आती हैं जिनम हम पढते हैं कि देवतालोग दैत्यों से वहुधा पराजित होकर वन, पर्वत तथा अन्य निर्जनस्थानों में जाकर शरण पाते थे।

विचारने से पता चलता है, दैत्यों के बल की वृद्धि का प्रधानकारण यह सञ्जीवनी विद्या ही थी। किसी कारणवश देवतालोग इसविद्या से वञ्चित हो गये। अतएव वे पग पग पर मुँह की खाकर गिरने लगे। इस के प्रतिकूल इसी विद्या के सहारेपर दैत्यों की दिनदूनी रातचौगुनी उन्नति होने लगी। सर्वत्र अशान्ति का राज्य हो गया। विश्व के सात्त्विकभावों पर तामसभावों ने अपना अधिकार जमा लिया। जब देवतागणों का सर्वत्र अपमान होने लगा तो बृहस्पति का सुपुत्र कच इस जातिअपमान को सहन न कर सका। उसने देवजाति के सङ्कट मिटाने का बीड़ा उठाया और सोचा यदि सञ्जीवनीविद्या देवजाति के हाथ में आ जाय तो हमारी भी दैत्यों के बराबर शक्ति हो सकती है। पाठक नारद के जीवन के आरम्भ में "कच और देवयानी" इसशीर्षक के नीचे भलिभाँति पढ चुके हैं कि देवजाति में सञ्जीवनी विद्या लाने के लिये कच ने किस तरह असह्य कष्ट सहे। निरन्तर तीन बार मृत्यु का आलिङ्गन किया। तब कहीं जाकर देवजाति में यह अद्भुत विद्या आई।

इस विद्या का कितना अद्भुत महत्त्व था। इस के बिना देवजाति का सारा बल निस्सार था। भाव यह है कि बड़ी से बड़ी जातियों का उन्नत अथवा अवनत होना इस की प्राप्ति या अप्राप्ति पर अवलम्बित था।

यह विद्या देवजाति से मनुष्यजाति में कब और कहाँ आई और इसके लाने वाला या प्रचारक कौन था, इस विषय की इतिहास में कोई घटना नहीं मिलती। हाँ, महाभारत के बादतक इसका मनुष्यजाति में होना बहुत जगह मिलता है। युधिष्ठिर की प्रथमशताब्दी में उदासीन महात्मा सञ्जीवनमुनि इसविद्या के अद्वितीय विद्वान् थे। इन्हों ने ही काश्यप ऋषि को इस का भलिभाँति प्रयोग करना सिखाया था। महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत ४१, और ४२ वें अध्याय में यह कथा आती है कि जब काश्यप ने यह सुना कि एक मुनिकुमारद्वारा परीक्षित को यह शाप मिला है कि वह सातवें दिन मर जायगा तब काश्यप के मनपर एक गहरीचोट लगी। परीक्षित जैसे धर्मात्माराजा का संसार से उठ जाना देश तथा जाति की अधन्यता ही है। तब काश्यप ने, वहाँ जाकर अपनी सञ्जीवनी विद्याद्वारा धर्मात्मा राजा को बचाना ही श्रेयस्कर समझा।

राजसभा की ओर से न बुलाये जाने पर भी काश्यप का वहाँ जाना कई एक भाव रखता है। प्रथम यह कि एक प्रजापालक धर्मात्मा राजा के प्राण बचाना जाति तथा देश की सेवा का रूपान्तर है। आप पढ ही चुके हैं कि काश्यप ने सञ्जीवनमुनि से इसविद्या को सीखा था। सञ्जीवन मुनि के गुरु जयमुनि ने इतिहास के प्रचारद्वारा नष्टभ्रष्ट हिन्दुजाति को जीवन दान दिया। उन्हीं से जाति सेवा के भाव सञ्जीवन मुनि में आए। सञ्जीवनमुनि के संसर्ग से काश्यप भी इन्हीं भावों से प्रेरित हो कर हिन्दु-जाति के सच्चेसेवक परीक्षित को अकाल मृत्यु से बचाने के लिये गया। दूसरा कारण यह है कि सञ्जीवनी विद्याद्वारा राजा के प्राण बच जाने पर इस विद्या का महत्त्व संसार में अधिक बढ जायगा। जो लोग इसपर विश्वास नहीं करते वे भी इस के श्रद्धालु बन जायँगे। तीसरा यह कि अपने आश्रम की आर्थिक त्रुटि दूर करने के लिये राजा से कहा जायगा।

जिस से ऋषि कुमारों का शिक्षण निर्विघ्न एवं अनायास होता रहेगा। परीक्षित की चिकित्सार्थ काश्यप का जाना सुनकर तक्षक ब्राह्मण का वेष वना कर उसे मार्ग ही में जामिला। तक्षक ने कहा, भगवन्! आप कहाँ जा रहे हैं?

काश्यप—परीक्षित की चिकित्सा करने के लिये।

तक्षकः—आपका वहाँ सफल होना कठिन है, अतः आप यदि लौट जायँ तो अच्छा रहे।

काश्यप—मुझे अपनी विद्यापर पूर्णविश्वास है और मैं अवश्य राजा परीक्षित को जीवित करूँगा।

तक्षक-अच्छा, यदि आपको अपनी विद्यापर इतना विश्वास और अभिमान है तो लो मैं इस वृक्ष को दग्ध करता हूँ, आप इसे फिर पत्रित और पुष्पित कीजिये। काश्यप ने तव तक्षकद्वारा दग्ध कियेगये वृक्ष की भस्म लेकर अपने विद्या के प्रयोग से एक हराभरा वृक्ष तैयार कर दिया। अव तो तक्षक चकित हो कर मन ही मन में भयभीत होने लगा।

तव तक्षक ने नम्रता से कहा, विद्यानिधे आपकी विद्या अद्‌भुत और सत्य है, इस में कोई सन्देह की वात नहीं।

परन्तु आपभी तो जानते ही हैं, ऋषि का शाप अन्यथा नहीं हो सकता। यदि आप वहाँ पहुँच भी गये, आप सत्यसमझें, संभव है, दैवात् आपको अपनी विद्या का प्रयोगावसर ही न मिले। तवतो आपको लाभ के स्थान में हानि उठानी पड़ेगी। काश्यप ने योगदृष्टि द्वारा समस्तघटना का पूर्ण परिचय प्राप्तकर तक्षक का वचन मान लिया। तव तक्षक ने उनकी अद्‌भुत विद्यापर मुग्ध होकर प्रचुर धन राशि से उनका सादर पूजन किया।

परीक्षित के परलोक सिधारने के वाद सर्वसाधारणजनता में काश्यप और सञ्जीवनी विद्या के विरुद्ध तरह तरह के भाव वढने लगे। लोगों की धारणा यहां तक वढने लगी कि यदि काश्यप सञ्जीवनीविद्या जानते होते तो वे अवश्य इस अवसर को हाथसे न जाने देते। इसप्रकार लोगों की उच्छृङ्खलता से काश्यप ऋषि भी क्षुब्ध से हो उठे। अतएव वे इसविद्या को आगे लोगों में न फैलासके। सञ्जीवनीविद्या का ह्रासकाल यहीं से आरम्भ होता है। कितने खेदकी वात है, जिसविद्या की प्राप्ति के लिये कच ने अपने प्राणों को भी न्यौछावर कर दिया था वह लोगों की अधन्यता से लुप्तप्राय होगई।

इसी विषय में एक और भी किंवदन्ती सुनने में आती है। संभव है यह किसी पौराणिककथा के आधारपर प्रचलित हो।

पुराणों में पर्य्याप्तअन्वेषण करने परभी हमें इसका कोई आधार न मिला। वह यह है कि जव काश्यप मार्ग में जारहा था तो तक्षक एक सोने की छड़ी वनकर उसके मार्गमें पड़गया। ज्योंही उसे काश्यप ने उठाया त्योंही उसने उसे डस लिया और काश्यप मृतप्राय होकर अन्त में सदा के लिये इस भारतभूमि से वियुक्त हो गया।

खैर, कुछभी हो, परन्तु युधिष्ठिर की प्रथमशताब्दी में सञ्जीवनीविद्या का प्रचार हमारे यहाँ अवश्य था। यहाँपर यह लिखदेना भी आवश्यक है, यद्यपि

सर्वसाधारण में यह विद्या न रही परन्तु उदासीनमहात्माओं में इसविद्या की परम्परा आरम्भ से लेकर विक्रम की १७ वीं शताब्दीतक निरन्तर बनी ही रही है।

. उदाहरणार्थ—सन्देहसागर और उदासीनमञ्जरी में वर्णित उदासीनाचार्य श्रीचन्द्रमुनि के मृतसञ्जीवन चमत्कार हैं। सन्देहसागर में एकजगह लिखा है कि जहाँगीर का बेटा राजकुमार खुर्रम एकदिन राजप्रसाद से गिरकर मरगया। भाग्यवशात् श्रीचन्द्रमुनि भी उससमय वहां थे। तब राजा की प्रार्थना सुनकर उन्होंने अपनी सञ्जीवनी विद्याद्वारा उसबालक को ज़िन्दा कर दिया॥ काश्मीर में एक विधवाब्राह्मणी का बेटा इसविद्या से श्री चन्द्रमुनिने जीवित किया जिसकी वंशपरम्परा काश्मीर में आजकल भी विद्यमान है। कथा इस तरह है:—

श्रीचन्द्रमुनि तीर्थोंपर भ्रमण करते करते एकबार काश्मीर पहुँचे। बाल्यावस्था में इन्होंने यहाँ परही विद्याध्ययन किया था। पता चलते ही सारे सहपाठी दर्शनार्थ दौड़े दौड़े आए। इसीतरह प्रतिदिन सत्सङ्ग होने लगा.

एकदिन सत्सङ्गीभक्त अपने नियतसमय के बहुतपीछे वहाँ पहुँचे। मुनि जी ने देरका कारण पूछा तो उत्तर मिला कि बालकृष्ण नामक एकबच्चा मकान से गिरकर मृतप्रायः हो गया। उसी के प्राण बचाने में हमलोग लगे रहे। अन्त में वह मरही गया। मुनिने उनकी बातको असत्य बतलाया, तब वे उसे मुनि महाराज की शरण में ले आए। मुनि ने देखते ही कहा, यह मरा कहाँ है, जरा ध्यान से देखो, यह तो हँस रहा है। लोगों ने उस को हँसते देखा और चकित होकर मुनि के चरण पकड़लिये। अन्तमें उस के माता पिता ने उस को मुनि के चरणों पर ही चढा दिया। मुनि के कथनानुसार वह बाल हँसता हँसता उठ खड़ा हुआ। अतएव उसका नाम बालकृष्ण से बालहास हुआ। अन्त में येही महात्मा एक उदासीन शाखा के सञ्चालक हुए। इस घटनाका विस्तृत वर्णन पाठक इसी ग्रन्थ में आगे पढेंगे। ( उदासीनमञ्जरी )।

धन्य हैं वे सञ्जीवनमुनि जो एक ऐसीविद्या के पण्डित थे जिसके द्वारा वे यदि चाहते तो इसदेश को स्वर्गतुल्य बना सकते थे। परन्तु वे परमात्मा के नियमों का उल्लङ्घन करना न चाहते थे। अतएव उन्हों ने उस विद्या का अधिकप्रयोग करना उचित न समझा।

काश्यप को सञ्जीवनीविद्या की शिक्षा देते समय उन्हों ने साथ में यह कहा था कि यह विद्या सबजगह काम आने की वस्तु नहीं है, और न ही इस से कोई व्यक्तिगतस्वार्थ सिद्ध हो सकता है।

अतः जब तुम्हें कोई उपकार का कार्य अथवा देश या जाति का कार्य करना हो तो इसे काम में लाना। सञ्जीवन मुनि की इस अनुकरणीय शिक्षा से पता चलता है कि वे कितने उच्चमहापुरुष थे।

## पद्ममुनि

सञ्जीवन के अनन्तर युधिष्ठिर की ८ वीं शताब्दी तक १७ मुनि हुये। इनके इतिहास के सम्बन्ध में बहुतखोज की गई, परन्तु अन्त में हताश होकर चुप रहजाना पड़ा। पद्ममुनि के सम्बन्ध में जितनी इतिहाससामग्री प्राप्त हुई है, उस के आधारपर

यहाँ लिखाजाता है। सञ्जीवनमुनि से लेकर पद्ममुनितक अर्थात् युधिष्ठिर की प्रथमशताब्दी से ८ वीं तक ७०० वर्ष के अरसे में भारत में अनेकों परिवर्तन हो गये। आप सञ्जीवनमुनि के गुरु जयमुनि के चरित में पढ चुके हैं कि जब महाभारत के संग्राम के बाद भारत में भाँति भाँति की त्रुटियाँ आ घुसीं, तब जयमुनिजी ने सर्वत्र घूम घूम कर भारत के पुरातन इतिहास के उपदेशों द्वारा लोगों को सावधान कर दिया। तब लोगों म फिर एकबार वेही पुरातन भाव आगये। जिस का परिणाम यह हुआ कि कुछकाल के लिये हिन्दु–जाति पतन के सागर में डूबने से बच गई। यह एक अटल नियम है, संसार में वही होता है जो ईश्वर को स्वीकृत हो। हिन्दु–जातिका सदा के लिये उन्नत रहना परमात्मा को स्वीकृत न था। अतएव जयमुनि से १५० वर्ष बाद तक भारत में कोई विशेष घटना नहीं घटी। लोग जयमुनि द्वारा बताये मार्ग पर चलते रहे और अपना जीवन सुखमय बिताते रहे। युधिष्ठिर से २५० वर्ष बादतक भारत में हम बहुतकुछ नूतनता पाते हैं। भारत के शासकों में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। एक दूसरे के मिटाने में हीं अपनेआप को कृतकृत्य समझता था। परिणाम यह हुआ बलवान दुर्बलों को सताने लगे। जिसके जोकुछ हाथलगा वह उसी का मालिक बन कर बैठ गया। राज्यशासन की शिथिलता में धार्मिकनियम विकृत होने लग गये। वेदविरोधियों को अपना कार्यक्रम बढाने के लिये यह एक सुनहरी मौका हाथ लग गया। इस समयतक भारत में हो नहीं, बल्कि विश्वभर में श्रौतस्मार्त धर्म का पूर्णप्रचार था। इन घरेलूझगड़ों के कारण हमारी सबसे बड़ी दो हानियाँ हुईं।

प्रथम यह कि जब भारतीय नरेश आपस में ही नित्य नयेझगड़े करने लगे तो वे द्वीपान्तरों की ओर अधिक ध्यान न दे सके। परिणाम यह हुआ कि वे सब के सब स्वतन्त्र राष्ट्र हो गये। भारत से धार्मिक उपदेशकों ने वहाँ जाना बन्द कर दिया, कारण यह था कि भारत की नैतिकस्थिति में विकृति होते ही धर्म की नैया डगमगाने लगी। विदेशयात्रा का समुचितप्रबन्ध न होने के कारण धर्मोपदेशक चुप होकर बैठ गये। तबसे द्वीपान्तरों की धार्मिक और नैतिकस्थिति बदलने लगी। धीरे धीरे वहाँ हिन्दुसभ्यता का ह्रास और भिन्न २ राष्ट्रों की अपनी अपनी नूतन सभ्यता का विकास होने लगा।

दूसरी यह कि इसीसमय से वेदविरुद्ध मतोंकी स्थापनाएँ हुईं। उदाहरणार्थ–लौकायतिकधर्म की स्थापना युधिष्ठिरकी ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुई। इसके सञ्चालक चार्वाक नामक एक वेदविरोधी हुए हैं। इनका जन्म अवन्ती प्रदेशान्तर्गत शङ्खोद्धार नगरी में हुवा था। इनके पिता का नाम इन्दुकान्त और माता का नाम स्रग्विणी था। इन्हों ने वेदों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला प्रचार करना आरम्भ किया। भोली भाली जनता पर इसके विषैले उपदेशों का प्रभाव पड़े बिना न रहसका। श्रौतस्मार्त धर्म परसे लोगों का विश्वास उठने लगा। ७० वर्ष की अवस्था में चार्वाक का शरीर शान्त हो गया। पीछे से उसका शिष्य क्षपणिक उस धर्म का प्रचार करता रहा। इस धर्म के प्रचार से जनता में औरभी उपद्रव होने लगे। जहाँ पहले जयमुनि के स्मारकभवनों में नित्यप्रति महाभारत की कथा के इलावा स्मार्तविषयों का गहनविवेचन हुआ करता था, वहाँ तब ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व पर विवादमय कलह

होने लगे। पाठक ज़रा ध्यान दें क्षात्रशक्ति में प्रमाद आते ही एक जाति की कितनी क्षति हो सकती है यह बात पूर्वोक्त स्थिति से प्रमाणित है। उन दिनों में भारत की विकटसमस्या दिनप्रतिदिन भयङ्कररूप धारण कर रहीथी।

ऐसी विषमस्थिति में हम पद्ममुनि को वेदों का प्रचार करते पाते हैं। भला कब संभव था कि एक उदासीन महात्मा अपने शरीर में दम रहते रहते वेदों की निन्दा सुन सके। विशेष कर पद्ममुनि जिन्हों ने अपने सारे जीवन को ही वेदभगवान के ईश्वरीय आदेशों को घरघर पहुँचाने में लगा दिया कब सहन कर सकते थे। पद्ममुनि के पवित्रप्रचारप्रवाह में वहकर चार्वाकमतानुयायीलोग फिर वेदों के आदेश का पालन करने लगे। चार्वाक धर्म के प्रचारकों ने इनको विषादिकप्रयोगों से मारना चाहा परन्तु पद्ममुनि जी अपनी योगशक्तिद्वारा उन को कुटिलचालों को भलिभाँति जान लेते और ठीकअवसरपर स्वयं सावधान हो जाते। इन से सातसौवर्षपूर्व इन्हीं के पूर्वज जयमुनि ने जिस प्रकार हिन्दु-जाति को छिन्नभिन्न होने से बचाया था ठीक उसीप्रकार पद्ममुनिने भी लोगों पर अनुपम उपकार किये। पद्ममुनि और जयमुनि का लक्ष्य एकथा साधन भिन्न भिन्न थे। जयमुनिने समय की स्थिति के अनुसार इतिहास के ज्ञानद्वारा लोगों को वास्तविक धर्म की शिक्षादी और पद्ममुनि ने उस समय की स्थिति आगे रख कर वेदों द्वारा लोगों का उद्धार किया। पाठक, यह कोई अत्युक्ति नहीं, यदि उससमय परमदयालु पूज्यपद्ममुनि वेदों की सोचनीय दशा की ओर ध्यान न देते तो निस्सन्देह हिन्दु-जाति की ईश्वरीयसम्पत्ति तामसी चार्वाकमतानुयायियों की क्रोधाग्नि में जलकर खाक हो जाती। इस अद्वितीयकार्य के लिये सृष्टि के अन्ततक हिन्दु-जाती उनकी ऋणी रहेगी। प्रत्येक वेदभक्त उनके पवित्रचरणों का ध्यानकर नतमस्तिक होकर आजीवन साञ्जलि कृतज्ञता प्रकट करता रहेगा।

कर्मवीर कुमारिल का नाम तो प्रत्येकहिन्दू श्रद्धा से स्मरण करता है। कितनी अधन्यता की बात है, पद्ममुनि जैसे वेदोद्धारक तथा महोपकारक का नाम केवल इने गिने उदासीन महात्माओं की गुरुप्रणाली में ही हमें मिलता है। इसे हम देश, जाति, और इतिहास का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। पद्ममुनि के समय देश की नैतिकस्थिति पारस्परिक विरोध और फूट के कारण, और धार्मिकस्थिति चार्वाकमतानुयायियों के विषैले प्रचारके कारण पतनोन्मुखी होरही थी। पद्ममुनि जी ने इनदोनों स्थितियों के सुधारने में भाँति भाँति के प्रयत्न किये।

नैतिकसुधार के विषय में क्या २ परिवर्तन हुए यह बात अभी भूत के गर्भ में छिपी हुई ही है, परन्तु धार्मिकस्थिति का पता हमें पूरा पूरा मिला है, पद्ममुनि के प्रचारद्वारा लोग फिर वेदोंकी आज्ञाओं का पालन करने लगे।

पद्ममुनि जी एक धर्मप्रधान महापुरुष थे। इनका वेदों का अधिकप्रचार और रक्षण करना यहभाव रखता था कि यदि वेदों की रक्षा होगई तो समझो हिन्दु-जाति का सर्वस्व बचगया। जाति का साहित्य ही उसका वास्तविक जीवन होता है। उस की क्षति होते ही जाति का तत्त्व नष्ट हो जाता है। जिसका साहित्य सुरक्षित होता है चाहे वह कितनी भी बुरी दशा में क्यों न हो कभी न कभी

अवश्य उन्नत हो जायगी। इन भावों से अधिक प्रेरित हो कर पद्ममुनि ने उस समय अपने प्राणपण से वेदों की रक्षा की।

अन्यथा कह नहीं सकते परमपूज्य पद्ममुनि के पवित्र नाम की भाँति वेदेंका नाम भी इतिहासों के पृष्ठों पर होता या नहीं!

जीवनभर वेद का प्रचार करने के कारण जव शरीर को वृद्धावस्था में अधिक दुर्बलताने आ घेरा; तव पद्ममुनि जी को इस वात की चिन्ता मूकवेदना से भी अधिक तङ्ग करने लगी कि कहीं उनका शरीर शान्त होने के वाद फिर वेदों में लोगों की अरुचि न हो जाय। जिसका प्रधानकारण यहथा कि उनदिनों में लोगों की बुद्धि में दुर्बलता आने लग गई थी। और वेद का वास्तविकअर्थ जानने के लिये कोई साधन भी न था। लौकिक और वैदिक संस्कृत में महान् अन्तर होने के कारण लौकिक संस्कृत का व्याकरण वैदिकसंस्कृत के ज्ञानार्थ पर्य्याप्त न था। अतः किसी प्रगल्भ वेदवक्ता के विना वेदों का अर्थ जानना कठिन होने के कारण, लोगों की वेदों में अरुचिका होना सर्वथा संभव था। अतः मुनि जी इस वात से और भी शङ्कित थे कि कहीं वेदों का प्रचार कम होते ही फिर चार्वाकमतानुयायियों का विषैलाप्रचार ऋषिसन्तान में जोर न पकड़ जाय। प्रकृति का नियम कुछ ऐसा देखने में आता है, वह संकल्प, जिस में व्यक्तिगत स्वार्थ न हो, शीघ्र ही सफल हो जाता है। यही नियम हमारे पूज्य पद्ममुनि जी के साथ भी घटा। पूर्वोक्त प्रेरणा से प्रेरित हो कर पद्ममुनिजी अव इस विचार प्रवाह में वह रहे थे कि कोई ऐसी योग्य व्यक्ति मिले जिसे वैदिक व्याकरण लिखने में योग्य वनादिया जाय।

इतिहास से पताचलता है, जव कोई घटना अवश्यंभावी होती है तो उसके साधन अनायास इकट्ठे हो जाते हैं।

प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण के अद्वितीयनिर्माता पाणिनिमहाराज जव आचार्य कुल में पढने गये, तो पठन में ये कुछ शिथिल ही रहा करते थे। इनके अन्य सहपाठी इन से कुछ अधिक निपुण थे। पाणिनि जी को अपनी बुद्धि पर कुछ खेद और सहपाठियों पर कुछ ईर्ष्या हो गई। अतएव वे आचार्यकुल को त्याग इधर उधर भटकने लगे। इनके मन में यह वड़ी उत्कट इच्छा थी कि किसी न किसी तरह कोई अद्भुतशक्ति पैदा की जाए जिससे वेदादिपढने का संकल्प सफल हो सके; तव वे घूमते घूमते पद्ममुनि के आश्रम में आ पहुँचे।

पाणिनि ने किसी महात्मा के मुख से यह वात सुनी थी कि पद्ममुनि जी वेदों के अद्वितीय विद्वान और लोकोत्तर प्रतिभादायी रुद्रमन्त्र के ज्ञाता हैं। इसी विचार को लेकर वे वहां पहुँचे। वार्तालाप में पद्ममुनि ने पाणिनि से समस्त वृत्त जान लिया। पर्य्याप्तदिनों के वाद पाणिनि ने अपना वह पूर्वसंकल्प मुनि से कहा— मुनि ने कहा-वत्स! हम तुम्हारे मनके भाव समझ गये हैं। हम तुम को अवश्य उस रूद्रमन्त्र का दान करदेंगे परन्तु तुम को हमारी एक आज्ञा का पालन करना होगा वह यह है कि—जव तुम रुद्रमन्त्र के अनुष्ठानद्वारा भगवान् पशु-पति को प्रसन्न करके अलौकिकप्रतिभा प्राप्त करलो तो लौकिक और वैदिक संस्कृत का एक पूर्णव्याकरण लिखो जो कि पूर्व व्याकरणों से कुछ विशेपता रखता हो।

आजकल यद्यपि लौकिकसंस्कृत के व्याकरण तो मिलते भी हैं परन्तु वैदिकसंस्कृतके विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा-जो संस्कृतसाहित्य की सब से बड़ी त्रुटि है। वैदिक और लौकिक शब्दों में महान अन्तर है। यथा—लोक में एमः और वेद में 'एमसि' और गृह्णाति, के स्थान में गृभ्णाति, कृणुत की जगह कृणोतन, अश्विनौ के स्थान में अश्विन इत्यादि, वेद में लौकिकप्रयोगों से रूपान्तर मिलते हैं। अतः वेद समझने में लोगों को अधिककठिनता का सामना करना पड़ता है। वैदिकशब्दों से अपरिच होने के कारण कहीं लोगोंकी इस से अरुचि न हो जाय अतः तुमको एक लौकिक और विशेषतः वैदिकव्याकरण लिखना होगा। जिस से उदात्तादिस्वरों और लोकतः विलक्षण कार्यों का ज्ञान हो सके। पाणिनिने मुनि की पूर्वोक्त बातों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। और लोकोत्तर प्रतिभाप्राप्ति के अनन्तर एक अद्भूत व्याकरण लिखने का प्रण किया।

तब महामना मुनि ने पाणिनि को रुद्रमन्त्र का अनुष्ठान प्रकार बतादिया जिस के प्रयोगद्वारा शंकर ने प्रसन्न हो कर पाणिनि को अलौकि प्रतिभा के वरदान के इलावा णकारादि अनुबन्ध का समावेश कर वर्णसमाम्नाय अथर्वश्रुति का उपदेश किया। इस सानुबन्ध वर्णसमाम्नाय की सहायता से पाणिनि को अद्भुत और अद्वितीय व्याकरण की विलक्षण रचना करने में किसी कठिनता का सामना न करना पड़ा। पूर्वोक्त कथा उदासीनमुनिमालानिबन्ध में विस्तृतरूप में लिखी है। यहां हमने उसका संक्षेपतः परिचय दिया है।

पाणिनीयशिक्षा के आरम्भ में पाणिनि के शिष्यद्वारारचित यह श्लोक—

**येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।**
**कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।**

पूर्वोक्त कथा का आधार ले कर ही सार्थक हो सकता है। श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि-जिस पाणिनि ने शङ्कर से वर्ण समाम्नाय प्राप्त कर समस्त व्याकरण की रचना की, उसे प्रणाम है।

समस्त व्याकरण निबन्ध लेखकों ने आणादि प्रत्याहारों की रचना के लिये चतुर्दश सूत्रों का महेश्वर से आना माना है। आप उन के ग्रन्थों को आदि से अन्त तक पढ जाइये, किसी लेखक ने भी अपने ग्रन्थ में कहीं पर इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला कि ये महेश्वर से पाणिनि के पास किस प्रकार कब और कहां पहुँचे। यह भी सम्भव नहीं कि इस विषय का प्रश्न विद्वानों के मन में उठता ही न हो। हां, यह अवश्य है कि अन्वेषणक्लेश से भयभीत हो कर वे इस विषय की उपेक्षा कर गये। पर्य्याप्त अन्वेषण के अनन्तर हमें जो १४ सूत्रों का आगमन प्रकार मिला वह हमने पाठकों की सेवा में लिख दिया। अग्रे पाठका एव प्रमाणम्।

## "विधिदेव"

ये मुनि युधिष्ठिर की ११ वीं शताब्दी में हुए हैं। इन के गुरु सत्यमुनि थे। पद्ममुनि से ले कर विधिदेवतक ११ मुनि हुये हैं। शौनक के शिष्य व्याड़ी इन के परम मित्र थे। इन दोनों ने सत्यमुनि से उपनिषदों का अध्ययन किया था। व्याड़ी वेद

के अद्वितीय विद्वान् थे । "बृहद्देवता" नामक ग्रन्थ के रचयिता शौनक ने व्याड़ी को सस्वर वेद पढाया। व्याड़ी ने वेद पढने के आवश्यक नियमों के ज्ञानार्थ एक "विकृतिवल्ली" नामक पुस्तक की रचना की है। उस में उन्हों ने संहिता, पद, क्रम, जटा, घन, रथ, ध्वज, दण्ड, ये वेद पाठ करने के आठ मार्ग बताए हैं। वेद पाठ करने के ये आठ प्रकार वैदिकशब्दों के साधुत्व में सहायक होते हैं । यदि कहीं संहितापाठ में किसी शब्द की रचना में कुछ अन्तर आ जाय तो पूर्वोक्त आठ प्रकारों से उसे फिर साधु बनाया जा सकता है । वेदपाठ के भिन्नमार्ग निकालना एक यह भाव भी रखता है कि एक ही प्रकार के पाठ से लोगों को शीघ्र अरुचि हो जाती है । मानवप्रकृति में विकृति का आना एक आसान कार्य है। पाठ करने के भिन्न भिन्न प्रकारों में लोगों की अधिक रुचि बढती है । एक और बात यह भी है कि यदि एक ही मन्त्र का पूर्वोक्त आठ प्रकार से पाठ किया जाय तो वह मन्त्र कदापि भूलने का नहीं । क्योंकि बारम्बार आम्रेडित किया गया पाठ सदा कण्ठस्थ रहता है। वेद के सम्बन्ध में ऋषियों का भाँति भाँति का परिश्रम यह सिद्ध करता है कि ऋषि-मुनियों का वेद में असीमानुराग था।

व्याड़ी ने विधिदेव की अनुमति से एक संग्रहनामक पुस्तक पाणिनी के अष्टाध्यायी की व्याख्यारूपमें एक लक्षश्लोक में लिखी जो आज लुप्त हो जाने के कारण नहीं मिलती । इस की लेखनकला का अधिक कार्य विधिदेव के शिष्यगण किया करते थे और संशोधन का कार्य विधिदेवजी पर निर्भर था।

पस्पसान्हिक में शब्द की नित्यता और अनित्यता के विषय में विचार करते समय महाभाष्यकार पतञ्जलिजी ने पूर्वोक्त ग्रन्थ का परिचय दिया है। यथा "संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्" अर्थात् संग्रहग्रन्थ में इस विषय का विवेचन विस्तृतरूप में हैं । केवल परिचयमात्र ही नहीं प्रशंसा भी की है-यथा "शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः" अर्थात् दाक्षी के वंशज व्याड़ी की ग्रन्थरचना सुन्दर है। कैयट ने "संग्रह" को ग्रन्थविशेष लिखा है । विवर्णकर्त्ता नागेशभट्ट ने "संग्रहो व्याड़ीकृतो लक्षश्लोकात्मकः" यह लिखा है । पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों की रचनार्थ व्याड़ी को प्रोत्साहित करने वाले विधिदेवमुनि ही थे । विधिदेव का व्याड़ी को वेद और व्याकरण पर अद्वितीय ग्रन्थ लिखने के लिये प्रोत्साहित करना यह भाव रखता है कि इनके पूर्वज पद्ममुनि ने ही पाणिनि को रुद्रमन्त्र सिखला कर और उसे योग्य बनाकर अष्टाध्यायी ग्रन्थ लिखवाया था । विधिदेव के समय लोगों की बुद्धि इतनी दुर्बल हो गई थी कि वे अष्टाध्यायी को पूर्णतया समझने में असमर्थ थे। अतः अपने पूर्वज पद्ममुनि का परिश्रम सफल करने के लिये और लोगों में व्याकरण के बलद्वारा वेद प्रचार करने के लिये उन्होंने उस से ये दो ग्रन्थ लिखवाए । इस से स्फुट है कि उनकी वेद में अगाध श्रद्धा थी। संभव है, उन दिनों में वेदपाठ से लोगों को अरुचि पैदा हो गई हो । और जब विधिदेवद्वारा बताये गये वेदपाठ के आठप्रकार व्याड़ी ने अपने 'विकृतिवल्ली' नामक ग्रन्थ में लिखकर लोगों में प्रकाशित कर दिये तो फिर लोग वेदों के पाठ की ओर झुकने लगे । क्योंकि नूतनता ही मानवप्रकृति के आकर्षण का सर्वतः प्रधानकारण है । व्याड़ीद्वारा वेदविषय में 'विकृतिवल्ली' ग्रन्थ और व्याकरण पर 'संग्रह' ग्रन्थ का लिखवाना विधिदेव का एक अद्वितीय कार्य है । इनकी निवासभूमि गोदावरी त्र्यम्बुक थी ।

## " श्रुतिसिद्ध "

### निघण्टु और निरुक्त

विधिदेव से लेकर श्रुतिसिद्ध मुनितक ३ मुनि हुए। श्रुतिसिद्ध मुनि सुजन मुनि के शिष्य थे और ये युधिष्ठिर की १२ वीं शताब्दी में हुए हैं। इन के समकालीन यास्कमुनि वेदों के अद्वितीय पण्डित थे। यास्क को अपनी विद्वत्तापर पूर्ण अभिमान था। श्रुतिसिद्ध मुनि को छोड़कर विश्वभर में और कोई विद्वान् यास्क की टक्कर का न था। श्रुतिसिद्धमुनि पर यास्क की अगाध श्रद्धा थी। इसके दो कारण थे। प्रथम यह कि यास्क और श्रुतिसिद्ध का लक्ष्यैक्य था। जिस प्रकार यास्क वेदप्रचार में दत्तचित्त था, ठीक उसी तरह उस पवित्रकार्य में श्रुतिसिद्ध का प्रयत्न कम न था। अतः यास्क उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। दूसरा कारण यह था कि यास्क को जहांकहीं वेदवेदाङ्गों में कोई विषय सन्देहास्पद होता था, यास्क श्रुतिसिद्ध मुनि से उस में अपना सन्देह निवृत्त कर लिया करते थे। जबकभी किसी सन्दिग्धार्थक वैदिकशब्द का अर्थ पूछने यास्क उनके पास जाते तो श्रुतिसिद्ध जी अपने एक गुटके में उस शब्द को देख कर यास्क के सन्देह को दूर कर दिया करते थे। कभी कभी श्रुतिसिद्ध मुनि यास्क को बताया करते थे कि वेद में अमुक अर्थ के वाचक इतने शब्द हैं और यह शब्द वेद में इतनी जगह और अमुक अमुक अर्थ का वाचक हो कर इतनीबार आया है। इस शब्द का अमुकमन्त्र में यह अर्थ है और अमुक में यह। मुनि के इस प्रकार के वैदिक कठिनशब्दों के अन्वेषण पर यास्क मुग्ध हो रहा था। उनका प्रकाण्डपाडिण्त्य और विचारगांभीर्य यास्क के लिये अनुकरणीय था। इस ओर श्रुतिसिद्ध मुनि भी यास्क की पण्डिताई एवं वेदानुराग पर अत्यन्त प्रसन्न थे। उसके वेदप्रचार में तो मुनिजी सहयोग भी दिया करते थे। एकदिन मुनिजी से यास्कने कहा, "भगवन्! यदि आप इस पुस्तिका को मुझे देदें तो आपका मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह हो। वैसे तो मैं आपका अब भी ऋणी हूँ परन्तु इस अद्वितीय पुस्तक का दान कर मुझे अपना ऐसा ऋणी बनाइये कि मैं जन्मजन्मान्तर में भी आपके इस महान् उपकार से उऋण न हो सकूँ। आप विश्वास करें! इस में कोई मेरा व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। मेरा विचार है कि मैं इस पर एक संक्षिप्तभाष्य लिखकर वेदार्थ की प्राप्ति में प्रतिदिन बढ रही अड़चनों को दूर कर दूँ और आपके तो सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग कण्ठस्थ ही हैं, मुझे आपको इस की आवश्यकता भी नहीं दीखती।"

मुनि ने यास्ककी ओर देख कर कहा "धीमन्! आप जो कुछ कहते हैं, सब यथार्थ है। आप की वेदों पर अगाध श्रद्धा देख कर हम आप को यह वेदार्थभानु अर्थात् निघण्टु देते हैं। परन्तु ध्यान रहे! यह कहीं लुप्त न होने पाए। वैदिक कठिन शब्दों का ऐसा संग्रह फिर होना सम्भव नहीं है"। तब यास्क ने मुनि की इस उदारता पर हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की और मनही मनमें मुनि की श्लाघा की।

उस पुस्तक के नैघण्टुक, नैगम और दैवत ये तीन काण्ड और पाँच अध्याय थे। तब यास्क ने उस पर निरुक्त लिखा। जो ईश्वर की कृपा से आजकल भी मिलता है। निरुक्त औरनिघण्टु का पर्य्याप्तपरिचय प्राप्त करने के बाद वेदार्थ

जानना एक साधारण कार्य हो जाता है+। यास्क और विशेषतः श्रुतिसिद्ध मुनि ने वेदों और वेदमतानुयायियों पर जो महान् उपकार किया है वह इस सृष्टि के अन्त-तक चिरस्मरणीय रहेगा। वेसे तो आरम्भ से ही आवश्यकतानुसार उदासीन महात्मा वेदों का प्रचार करते आए हैं परन्तु श्रुतिसिद्ध मुनि का उपकार कुछ विशेष महत्व का कार्य है। आप प्रथम पढ आए हैं कि पद्ममुनि जी युधिष्ठिर की आठवीं शताब्दी में हुए और उन्होंने पाणिनि को रौद्रमन्त्र का दान कर तदनुष्ठान-द्वारा उस में योग्यता आने पर उस से वैदिक व्याकरण लिखाया। युधिष्ठिर की ११ वीं शताब्दी में विधिदेव ने उन के परमप्रिय मित्र व्याड़ीद्वारा लिखित विकृतिवल्ली और संग्रह ग्रन्थ की रचना में मार्गप्रदर्शक का काम किया। यद्यपि पद्म और विधि-देव के कार्य भी कममहत्व के नहीं है परन्तु श्रुतिसिद्ध का अलौकिककार्य एक अपने ही ढङ्ग का है।

## निघण्टु—कर्तृत्व में तीन पक्ष

निघण्टु के कर्तृत्व में लोगों का मतभेद है। कई एक यह कहते हैं कि निघण्टु के बनाने वाले ब्रह्मा के पौत्र और मरीचि के पुत्र कश्यप थे। इस पक्ष से हम पूर्णतया तो सहमत नहीं हैं, हां, सम्भावना का सहारा ले कर यह अवश्य कहेंगे कि हम पहले सप्रमाण लिख आए हैं; प्रजापतिं कश्यपमुनि उदासीन महात्मा हुए हैं। सम्भव है इन की शिष्यपरम्परागत निघण्टु श्रुतिसिद्ध के हाथ लग गया हो। क्योंकि वैदिकग्रन्थों की रक्षा तो उदासीनमुनि महात्मा अपने प्राणपण से करते आए हैं। श्रुतिसिद्धने और भी बहुत से व्याख्यागम्य शब्दों को मन्त्रों से निकाल कर इस के साथ जोड़ दिया हो, बाद में यास्क ने उन सब पर निरुक्त लिख दिया हो।

यहाँ दूसरा पक्ष यह है कि श्रुतिसिद्ध का ही दूसरा नाम कश्यपप्रजापति था। महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म के ३४२ वें अध्याय के ८६ वें श्लो०में कश्यप शब्द के साथ प्रजापति यह विशेषण भी आता है। परन्तु उस विशेषण मात्र से निघण्टु का कर्त्ता आदिम प्रजापति मानना नितान्त भूल होगी। क्योंकि आदिम कश्यप प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में हुए हैं। उससमय वेद केवल ब्रह्मा ही के पास थे, जनता में अभी उन का प्रचार न हुआ था। तो भला बतलाएँ उस समय किस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये निघण्टु लिखना पड़ा। हां श्रुतिसिद्ध के समय तो जनता में बहुतसी त्रुटियाँ आ जाने के कारण लोगों को वेद का समझना कठिन हो गया था। एतदर्थ परम-कृपालु श्रुतिसिद्धने निघण्टु लिखा यह सम्भव और युक्तियुक्त हो सकता है। जब हम अपनी पुस्तकों में पढते हैं कि वेदों का अधिक प्रचार जनता में त्रेतायुग में हुआ तो समझ में नहीं आता कि लोग किस आधार पर यह कह उठते हैं कि निघण्टु के

+इस विषय में यह गाथा प्रसिद्ध है कि जब यास्क श्रुतिसिद्ध मुनि से निघण्टु ले आए तो उस पर निरुक्त लिखने से पूर्व वे पुरातन निरुक्तों को देखना चाहते थे। परन्तु उन दिनों में किसी कारण, पुरातन निरुक्तों का मिलना कठिन हो रहा था। तब श्रुतिसिद्ध मुनि के आदेशानुसार यास्क ने परब्रह्म परमात्मा की "शिपिविष्ट" इस नाम से स्तुति की। तदनन्तर ईश्वर की प्रसन्नता से बहुत काल से लुप्तप्राय निरुक्तों का ज्ञान यास्क के मन में उत्पन्न हो गया। पूर्वोक्त कथा महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म के ३४२ वें अध्याय के ७१ वें श्लोक में स्पष्ट है. वहाँ भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, महाबाहो! विद्वान् यास्क ने शिपिविष्ट नाम से मेरी स्तुति की। तब मेरी प्र-सन्नता से उसने नष्टप्राय पुरातन निरुक्तों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

बनाने वाले आदिम प्रजापति थे। भागवत के ११ वें स्कन्धान्तर्गत १७ वें अध्याय के १२, १३ वें श्लोक में साफ लिखा है कि वेदों का प्रचार लोगों में त्रेता युग में हुआ

वेदप्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ १२ ॥
त्रेतामुखे महाभाग ! प्राणान्मेहृद्यात्त्रयी ।
विद्याप्रादुरभूत्तस्या–अहमासं त्रिवृन्मखः ॥ १३ ॥

( भागवत०, स्कन्ध ११, अध्याय० १७ )

हिन्दी—सृष्टि के आरम्भ में वेद के स्थान में केवल ओंकार था। भगवान् कृष्ण कहते हैं हे उद्धव ! मैं ही वृषरूपधारी धर्म था, अर्थात् मेरा ध्यान ही चतुश्चरणोपेतधर्म था। उस समय क्रियारूप यज्ञादिधर्म का आविर्भाव न हुआ था। मन और इन्द्रियों को विषयों से रोककर किसी एक ध्येय में लगा देना परमतप था। पूर्वोक्त तपपरायण निष्पाप मनुष्य मेरी भक्ति करते थे। आचारधर्मका विकास न होने से भगवदुपासनाधर्म का ही सर्वत्र साम्राज्य था। यह अवस्था कल्प के आदिम कृतयुग की थी। त्रेता के आरम्भ में आवश्यकतानुसार मेरे विराट् स्वरूप में विशेष स्पन्दन हुआ। परिणामरूप में मुझ विराट्पुरुष के हृदय से वेदत्रयी का अविर्भाव हुआ अर्थात् महर्षियों ने तपश्चर्य्या के प्रभाव से भेदकचाञ्चल्यादि दोषों को दूर करके मेरे समष्टि अन्तःकरण के साथ जब अपने व्यष्टि अन्तःकरणों का तादात्म्य लाभ किया तब समष्टि वैदिक विचार व्यष्टिकेन्द्रों में आने आरम्भ हुए। यही ऋषियों का मन्त्रदर्शन है। जिस व्यष्टिकेन्द्र में जो समष्टि विचार आया उस वैदिकविचारप्रतिपादक मन्त्र का वह ऋषि द्रष्टा कहलाने लगा। इस प्रकार अनन्त ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रसंघ वेद कहलाने लगा। यह ऋषियों की अपनी कृति न थी। केवल प्रभुमनःस्थित वेद की ही ऋषियों के योग्य हृत्पात्र में तपोऽनुरूप न्यूनाधिक रूप से स्थापना हुई। व्यास जी ने इसी भाव का सूचक मूल में हृत्पद दिया है। उस वेदत्रयी से प्रवृत्तज्योतिष्टोमादि यज्ञ, जिन के अनुष्ठान में होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ये तीन मुख्यतया अपेक्षित हैं, मेरा ही स्वरूप हैं। क्यों कि चित्रपटाङ्कित चित्रों का चित्रपट से अतिरिक्त क्या अस्तित्व हो सकता है ? देखिये इस से स्पष्ट है कि वेदों का प्रचार त्रेता के आरम्भ में हुआ। इस विषय में हम एक और उपनिषदों का प्रमाण देते हैं–" तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यँस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके "

( मुण्डकोपनिषत् मुण्डक १, ख० २, मं. १ )

कवियोंने ( क्रान्तदर्शि ऋषियोंने ) जिन कर्मों का वेद में साक्षात्कार किया जनता में उनका त्रेता युग में अधिक विस्तार हुआ। निश्चितफल को देने वाले कर्मों की कामना रखने वाले मनुष्य को उनका आचरण करना उचित है। क्योंकि संसार में उनके लिये यही कल्याण का मार्ग है। उक्तवेदवाक्य पूर्वोक्त पुराणोक्ति का आधार है। त्रेता में प्रचार होने के कारण वेदों का नाम भी त्रेता मिलता है। अतएव उक्त वाक्य में टीकाकारों ने त्रेता शब्दका एक पक्ष में वेदत्रयी अर्थ किया है।

दर्शन नाम अपूर्व विज्ञान का है। कर्मकाण्ड का सर्वतः प्रथम प्रचार लोकहित-कामना से वसिष्ठादिकों ने किया। उस समय सर्वसाधारण जनता उस कर्मकलाप को वसिष्ठादिकों की अपूर्वबुद्धिका विलासमात्र समझती थी। इस भूल का प्रधान कारण वेद के प्रचारका न होना ही हो सकता है। अतएव कर्मकलाप को वसिष्ठादिकों की कल्पनामात्र समझकर लोगों का उस से उपरतहोना स्वाभाविक था। कर्मकलाप वसिष्ठादिकों की कल्पनामात्र है लोगों की इस भ्रान्ति को दूर करने लिये और उन्हें कर्मकाण्ड की ओर आकर्षित करने के लिये मुण्डकश्रुति ने उस कर्मकलाप का वेदत्रयी में वर्णित होना बताया। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई कि त्रेता से पूर्व जनता में वेद का अधिक प्रचार न था। और तब वेदों की आवश्यकता भी न थी। निरुक्त में लिखा है "साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः" इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ मे ऋषियों को वैदिक तत्त्वों का पूर्णज्ञान योगद्वारा ही हो जाता था।

प्रकृति के नियमानुसार जब लोगों की बुद्धि विकृत हो गई तो ऋषियों को वेद का प्रचार पठनपाठनादि से करना पड़ा। केवल इतना ही था कि ऋषिगण वेदवाणी का उच्चारण कर देते थे और शिष्यलोग उसे याद कर लेते थे। बहुत दिन इसी तरह काम चलता रहा। समय के परिवर्तन के साथ साथ लोगों में भी नये नये परिवर्तन आते गए। मनुष्य जाति में इतनी त्रुटियाँ प्रविष्ट हो गईं जिन का सामना करने में यह दुर्बल सिद्ध हुई। परिणाम यह हुआ कि लोग पठपाठन से भी वेदशिक्षा का ग्रहण न कर सके। तब दयालु आचार्यों ने वेद के लुप्त होने के भय से तद्रक्षार्थ और अनायास तद्बोधार्थ निघण्टु तथा व्याकरणादि वेदाङ्गों की रचना की। उक्त समस्त कार्यक्रम का होना युधिष्ठिर से बहुत शताब्दियाँ बाद सम्भव हो सकता है, क्यों कि उस समय से पूर्व इस काम की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

पाठक! अब आप समझ गये होंगे कि आदिम प्रजापति कश्यप को निघण्टु का संकलयिता बताना केवल भूल ही नहीं बल्कि अक्षम्य अपराध है। पूर्वोक्त पुराण और वेद के प्रमाण से विशद है, वेदों का प्रचार जनता में त्रेता युग में हुआ। अतः उस से पूर्व, जब कि वेद का अधिक प्रचार न था, तो प्रजापति की निघण्टुरचना कोई अर्थ नही रखती।

वस्तुतस्तु वैदिक साहित्य के विकास का क्रम यह है। त्रेता में वेद का प्रचार हुआ; द्वापर में वेद सिखाया गया। द्वापर के बाद कलि के समय में जब शिक्षा-द्वारा भी जनता वेदज्ञान प्राप्ति में क्लेश अनुभव करने लगी तो वेदाङ्गों की रचना के समकाल में निघण्टु की रचना सङ्गत हो सकती है। क्रमानुसार वेदाङ्गों की रचना लगभग श्रुतिसिद्ध मुनि के काल में हुई। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि निघण्टु के कर्ता श्रुतिसिद्धमुनि ही थे। इन्हीं का दूसरा नाम कश्यप प्रजापति था इनके प्रजापति विशेषण के दो भाव हो सकते हैं। प्रथम यह कि वे प्रजा के संरक्षण में तत्पर रहते थे। यथाशक्ति लोगों को कुमार्ग से रोकते थे। दूसरा यह कि ये अपने तपोबल से प्रजा का सञ्चालन करते थे। समय समय पर ये लोगों को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराया करते थे। इन दोनों पक्षों में पति शब्द सार्थक है। सञ्चालक और पालक इन दोनों अर्थों में पति शब्द का प्रयोग मिलता है।

खैर कुछ भी हो, यह हमें मानना ही पड़ेगा, यदि श्रुतिसिद्ध मुनि निघण्टु लिख कर हमपर यह महान् उपकार न करते तो निस्सन्देह आज आर्यसन्तान वैदिकविज्ञान-मन्दिर के द्वार वन्द पाती। मुनिजी का वैदिकप्रकाण्डपाण्डित्य उनके सार्थकनाम और विशेषतः यास्क के वार्तालाप से पूर्णतया झलकने लग जाता है। उन के निघण्टु की अद्भुत रचना देख कर तो उनकी अद्वितीय विद्वत्ता और भी सप्रमाण हो जाती है। निघण्टु के कर्तृत्व में कहीं कहीं पर यह भी लिखा मिलता है कि आदिम प्रजापति द्वारा लिखित निघण्टु किसी कारण से लुप्त हो गया, तब फिर आवश्यकतानुसार इसे श्रुतिसिद्ध ने रचा। परन्तु इस पक्ष का खण्डन भी हमारी पूर्वोक्त युक्तियों से हो जाता है। क्योंकि आदिम प्रजापति के समय में तो वेदों का प्रचार था ही नहीं फिर किसके क्लेशनिवारणार्थ उसने निघण्टु लिखा। अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि निघण्टु के कर्तृत्व में जो तीन-पक्ष दिखलाए गये हैं, उन में द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है और हम उसे ही उपादेय समझते हैं।

## वेदमन्दिरस्थापना

श्रुतिसिद्ध मुनि के आचरणों से स्फुट है कि वे एक आदर्शव्यक्ति थे। वेद के प्रचारार्थ उन्हों ने अपना सर्वस्व अर्पित कर रक्खा था। प्रचारक्षेत्र में बहुतदिनतक निष्काम काम करने से प्राप्त अनुभव ने उन्हें बताया कि वेदप्रचारार्थ कोई स्थायी कार्यक्रम होना चाहिये। तब मुनि ने यह सोचा कि इस काम के लिये वेदमन्दिरों में वेदों की स्थापना और प्रतिदिन धूपदीपादिकों से उनकी अर्चना स्थायीप्रचार के कार्य में सहायक होगी। बात भी ठीक ही थी। हमारे बहुत से अवतार हो चुके हैं परन्तु सर्वसाधारण जनता अधिक भगवान् राम और कृष्ण से ही परिचित है। इस का प्रधान कारण यही है कि उक्त दोनों अवतारों का प्रचार जनता में पर्य्याप्त से भी अधिक है। लोग मन्दिरों में जाते हैं तो उन दोनों का दर्शन करते हैं। श्रव्य और दृश्य काव्यों में भी उक्त दोनों की महत्ता पाते हैं। अतः यह विशद है कि किसी के प्रचार को स्थायी बनाने के लिये, उस के मन्दिर बना कर उस की उन में स्थापना करना प्रधान कारणों में एक है। अधिकतया इसी विचार से श्रुतिसिद्ध मुनि ने सर्वत्र घूम घूम कर लोगों को उपदेशोंद्वारा वेदमन्दिर बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। मुनि के उपदेशों का लोगों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। स्वल्प समय में ही अनन्त वेदमन्दिरों की स्थापनाएँ हो गईं। सर्वत्र वेदों की पूजा होने लगी। यह बात वेदप्रमाण से सिद्ध है कि गुरु की भाँति वेद का पूजन करना चाहिये; अर्थात् श्रुति भगवती वेद को गुरुतुल्य बताती है। इस से स्फुट है कि पुष्पादिकों द्वारा गुरु की तरह वेद का भी पूजन वैदिक कार्य है। अब हम ऋग्वेद के उस मन्त्र को यहां चन्द्रभाष्य सहित लिखते हैं. जिससे विज्ञ स्वयं समझ लेंगे कि वेद में किस प्रकार उसे गुरु कहा है।

**मन्त्र–यो नो अग्ने अररिवाँ अघायु ररातिवा मर्चयति द्वयेन।**
**मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्मा अनुमृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः।**

(ऋ० मं० १, सू० १४७, मं० ४)

चन्द्रभाष्यम्–अग्ने=अग्निरूपेणावतिष्ठमान परमात्मन्! यः अररिवान्=अदाता, दानविरोधी, दानादिनिषेधकः, [रातेश्छान्दसः क्वसुः] अरातिवा=अदानवान्, स्वयमदाता, छान्दसो मत्वर्थे वनिप्, । अघायुः=शत्रुरिव अस्मदनिष्टकामः, पापेप्सुः, द्वयेन=मनसा वचनेन च नः=अस्मान्, मर्चयति=निर्भर्त्सयति, न्यक्करोति सर्वथाऽस्मदभिभवमभिलषतीति यावत् अस्मै पापात्मने, मन्त्रः=तदुपलक्षितः मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, गुरुः=उपदेष्टा, शिक्षकः, अस्तु=भवतु । एतेन वेदस्य गुरुं मत्वा देववत् पुष्पादिभिः सपर्य्या विधेया इति सूचितम् । अत एव श्रुतिसिद्धमुनिना देवप्रतिमेव बहुषु मन्दिरेषु वेदः स्थापितः, पुष्पादिभिः पूजितश्च । गुरुर्वेदपुरुषः, अस्य पापिष्ठस्य, स्वशिक्षया पापमपाकुर्वन् अनुग्राहको भवेत्। सः पुनः, अस्मदनिष्टकारी, निर्निमित्तसपत्नः दुरुक्तैः=दुष्टवचनैः, सत्पुरुषाक्रोशनादिलक्षणैः दूषितामपवित्रां तन्वम्=तनुं शरीरम्, अनुमृक्षीष्ट=वेदोपदेशेन अनुमार्ष्टु, प्रमार्जनं विदध्यात् । तच्छन्देन वेदो वा ग्राह्यः तत्रायमर्थः–स्वशिक्षया पापापाकरणेन दुर्वृत्तानुग्राहको गुरुरूपो वेदः पुनः=भूयः, तन्वम्=दुर्जनगात्रम्, अनुमृक्षीष्ट=स्वजपेन, स्वोक्तकर्मानुष्ठानेन वा, पवित्रीकरोतु ।

हिन्दी भावार्थ—जो मनुष्य दानादिक श्रेष्ठ कार्यों में विघ्न डालता है, स्वयं कभी भूल कर भी इन पवित्र कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता, प्रतिदिन परानिष्टचिन्तन में दत्तचित्त रहता है, मन और वाणी से हमारे तिरस्कारार्थ यत्न करता है, अर्थात् पग पगपर हमें नीचा दिखाना चाहता है, हम साञ्जलि प्रार्थना करते हैं, गुरु वेद पुरुष उस को सुमति दे, अपनी श्रेष्ठ शिक्षा से उसे परानिष्टचिन्तन से हटाकर सन्मार्गगामी बनाए, सत्पुरुषों के अपमान और निन्दादिक से अपवित्र हुए उस के मन और शरीर को प्रणवादिजाप, वेदोक्तयज्ञ और महायज्ञादिकों के अनुष्ठान से पवित्र करे ।

इस मन्त्र में वेद के लिये गुरु शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिसका भाव मन्दिरों में देव प्रतिमाओं की तरह पुष्पादिकों से वेद की पूजा करना है। इसी भाव को वेदविद्याविशारद श्रुतिसिद्ध मुनि ने समझा था । अतएव उन्हों ने अनन्त मन्दिरों में वेदपुरुष की स्थापना कर पुष्पादिकों से वेद की स्वयं पूजा की और आम जनता से करवाई। यह बात धार्मिक इतिहास वेत्ताओं से छिपी हुई नहीं । इसी प्रथा की झलक हम फिर एकवार विक्रम की १६ वीं शताब्दी में देखते हैं । भगवान् उदासीन मुनियों के मुख से वेदमन्दिर में वेदस्थापना तथा उसके पूजन का महत्त्व सुन कर भक्तशिरोमणि धनराय के शिष्य ज्ञानराय का व्रजभूमि तप्तग्राम में वेदमन्दिर बनाना श्रुतिसिद्ध मुनि के भूतपूर्व महान् उपकार का स्मरण दिलाता है । संभव है, औरङ्गजेब की कुटिलनीति से गोकुल की गिरफ्तारी के बाद यह वेदमन्दिर यवनोंद्वारा गिरा दिया गया हो। अतएव आज उसके खण्डहर-तक देखने को नहीं मिलते। इसी तरह श्रुतिसिद्ध मुनिद्वारा युधिष्ठिर की १२ वीं शताब्दी में स्थापित कराए गये अनन्त वेदमन्दिर बौद्धकाल के धार्मिकविप्लव में वेदविरोधियोंद्वारा गिरा दिये गये होंगे अन्यथा वे आज भी श्रुतिसिद्ध मुनि के मूर्तिधारी महान् उपकार के रूप में हमारे दृष्टिगोचर होते । इतिहास बताता है, उदासीन महात्माओं ने वेद के लिये अनुकरणीय और अनुपम आत्मत्याग किये हैं। आप महामुनि बाभ्रव्य के जीवन में पढ चुके हैं कि उन्होंने नितान्त परिश्रम से वेद की क्रमसंहिता का आविष्कार किया, जो कि वैदिकसाहित्य में अतुलनीय कार्य है । इस कार्य के

प्रमाण रूप में हम यहां ऋक्प्रातिशाख्य और महाभारत को उक्ति पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं। यथा " इति प्रबाभ्रव्यः उवाच च क्रमम्" ( ऋक्प्रा० ११: ) इस प्रकार उदासीन मुनि वाभ्रव्य ने क्रमसंहिता का प्रचार किया।

**पाञ्चालेन क्रमः प्राप्त स्तस्माद्भूतात्सनातनात्।**

**वाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः।**

( महा० शा० प, मो० अ० ३४२, १०० )

उस सनातन परमात्मा की प्रसन्नता से पाञ्चाल ने क्रमसंहिता प्राप्त की! बभ्रुवंशज वाभ्रव्य मुनि सब से प्रथम क्रमसंहिता के आविष्कर्त्ता के रूप में विश्वभर में प्रसिद्ध हुए। उक्तमहाभारत के कथन से और ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट के लेख से प्रतीत होता है कि वाभ्रव्य मुनिका आश्रम पाञ्चाल देश में था। यथा " इत्येवं बभ्रुपुत्रो भगवान् पाञ्चालः क्रमस्य वक्ता शिष्येभ्यः " ( उव्वटभाष्य ) इस प्रकार बभ्रु के पुत्र भगवान् पाञ्चाल ने शिष्यों को क्रमसंहिता का उपदेश किया। यह ऋक्प्रातिशाख्य के पूर्वोक्त पाठ पर उव्वट की उक्ति है। इस से स्फुट है कि क्रमसंहिता के आविष्कर्त्ता उदासीन मुनि वाभ्रव्य थे। आगे इन्हीं के शिष्य दाल्भ्य ने सामगान के द्वारा मुख्यप्राणरूप हिरण्यगर्भ की प्रसन्नता से अन्नाविष्कारिणी विद्या का आविष्कार किया। जिसका प्रधान लक्ष्य था वेदपाठियों को स्वावलम्बी बनाना। अतः वेदानुयायी जनता पर वाभ्रव्य की भाँति इनका उपकार भी अधिक महत्त्व की वस्तु था। फिर युधिष्ठिर की प्रथम शताब्दी में जयमुनि ने इतिहास का सहारा लेकर वेद का प्रचार किया। तदनु युधिष्ठिर की ८ वीं शताब्दी में पद्ममुनिने ने चार्वाकमतानुयायियों के प्रचार रूपी भयङ्कर बाढ में डूब रहे वेदों को रक्षा की। केवल इतना ही नहीं अपने रौद्रमन्त्र के अनुष्ठानद्वारा पाणिनि को योग्य बना कर एक अद्भुत वैदिकव्याकरण लिखवाया। उदासीन महात्माओं के इन महान् उपकारों से क्या हिन्दु-जाति कभी उऋण हो सकती है? आगे युधिष्ठिर की ११ वीं शताब्दी में विधिदेव मुनि ने विकृतिवल्ली और अष्टाध्यायी पर सङ्ग्रहनामक एक बृहद्ग्रन्थ अपने परममित्र व्याड़ीद्वारा लिखवाया। जिसके संशोधनादि का उत्तरदायित्व इन्हों ने अपने ऊपर लिया था। युधिष्ठिर की १२ वीं शताब्दी में श्रुतिसिद्ध मुनि का अनुपम उपकार आप अभी पढ चुके हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आरम्भ से आजतक वैदिक साहित्यवाटिका का रक्षण उदासीन महात्मा अपने प्राणपण से करते आए हैं। और आगे भी करते रहें गे

## सुवेशमुनि

सुवेशमुनि हिरण्यकेशमुनि के शिष्य थे। इन का समय वि० सं० पू० लगभग ५०० है। इन का अधिक समय बुद्ध के नास्तिकता के भावों से हिन्दुजनता के बचाने में व्यय हुआ जिस का विस्तृत वर्णन पाठक आगे पढेंगे। श्रुतसिद्ध से सुवेशमुनि तक ३४ मुनि हुए। इन कई शताब्दियों के अरसे का हमें कोई पूर्ण इतिहास न मिला जिस का हमें हार्दिक खेद है। इस बात पर हम पहले प्रकाश डाल आए हैं कि हमारा धार्मिक इतिहास प्रथम तो मिलता ही नहीं। यदि कहीं मिलता भी है तो वह छिन्नभिन्न अतएव अपूर्ण। इस का कारण भी हम वहाँ पर ही बता चुके हैं।

सुवेशमुनि का जीवन अद्वितीय और अद्भुत घटनाओं की एक लम्बी माला है। यदि हम उन घटनाओं को अभी यहाँ क्रमतः लिखना आरम्भ कर दें तो, वे जल्दीजल्दी पाठकों की समझ में आने की नहीं, अतः यह आवश्यक है कि यहाँ उन घटनाओं की भूमिका के रूप में सुवेशमुनि के समय की नैतिक और धार्मिक स्थिति का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाय। इतिहासावलोकन से पता चलता है, महाभारत के समय से विक्रम संवत् २९ तक मगधप्रान्त ही प्रायः वड़े वड़े नैतिक और धार्मिक आन्दोलनों का स्रोत रहा है। यहाँ की राजवंशावली महाभारत से विक्रम तक क्रमशः पूर्ण मिलती है।

## मगधराजवंशावली

भगवान् कृष्ण के समय मगध का राजा जरासंध था। इस के वाद वहाँ का शासक इस का पुत्र सहदेव हुआ, जो पाण्डवों के पक्ष में पहुँचा था। तदनु २३ पुश्त तक इन का राज्य निरन्तर चलता रहा। जरासन्धवंश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय था। इस के अमात्य शुनकने इसे मार दिया और अपने आप को मगध का शासक घोषित किया! यहाँ से जरासन्धवंश के हाथ से मगधराज्य जाता रहा और इस का शासक शुनकवंश हुआ इसवंश में ६ नरेश हुये। इस का शासन वहाँ १३० वर्षतक रहा। इस के वाद वहाँ का शासनसूत्र शिशुनाग के हाथ में चला गया। शिशुनाग का निश्चित समय ई० पू० ६५० है, ( वि० पू० ५९३ )। इस वंश में १० नरेश हुये, जिनका शासन निरन्तर २७८ वर्ष रहा। इसके वाद वहां का शासक नंदवंश हुआ। शिशुनागवंश का अन्तिम राजा महानन्दी था। इस का वेटा महापद्मनन्द हुआ। इस के आठ वेटे थे। ये ही ९ नन्द कहलाए। इनका शासन ५० वर्ष रहा। महान् सिकन्दर भारत में नन्दवंशके राज्यकाल में अर्थात् ई० पू० ३२६ ( वि० पू० २६९ ) में आया। इसके ४ वर्ष वाद मगधप्रान्त का अधिपति चन्द्रगुप्त वन वैठा। इस का पूरापूरा हाल आप आगे जाकर पढेंगे। चन्द्रगुप्त ने मौर्यवंश की नीव डाली। इस में दश नरेश हुये जिन का शासन १३७ वर्ष रहा। मौर्यवंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ था। यह नीति से अनभिज्ञ, विलासप्रिय, और वुद्धधर्म का अनुचित पक्षपाती था। इसके सेनापति पुष्पमित्र ने इसे मार डाला। पुष्पमित्र ने शुङ्गवंश की नीव डाली। इस वंश में ८ नरेश हुये। इन का शासन ११२ वर्ष रहा। शुङ्गवंश का अन्तिम राजा देवभूति हुआ। इस का अधिकतर समय व्यभिचारमें व्यतीत होता था। अतएव यह सर्वसाधारण की दृष्टि से गिर गया। परिणाम यह हुआ कि, एक दिन उसके मन्त्री वसुदेव ने उसे, जव कि वह कुकृत्य में रत था, मार डाला। इसीने ही मगधप्रान्त में कण्ववंश-राज्य की नीव वि० सं० पूर्व १६ ( ई० पू० ७३ ) में डाली। इस वंश में ४ नरेश हुये, जिन का शासनकाल ४५ वर्ष रहा। अर्थात् वि० सं० २९ तक मगधप्रान्त का शासक कण्ववंश रहा। इस वंश का अन्तिम राजा सुशर्मन था। इस प्रकार कृष्ण से लेकर विक्रम तक सात राजवंशों का पूरा वृत्तांत इतिहासों में पाया जाता है। छठे वंश के संस्थापक पुष्पमित्र ने हिन्दुधर्म को उन्नत वनाया। वहुत सी याज्ञिक प्रथाओं के प्रचार करने के इलावा उसने स्वयं अश्वमेध यज्ञ किया। उक्त राजवंश परिचय से हमें यह जान लेना चाहिये कि सुवेशमुनि के समय मगध का राजा विम्वसार था। वुद्ध का समय भी यही है।

अब यहाँ धार्मिक स्थिति के ज्ञानार्थ कुछ लिख देना उपयुक्त सिद्ध होगा। क्योंकि जिस प्रकार उस समय की नैतिक स्थिति उक्तवंशपरिचय से अनायास समझ में आने लगतो है, उसी तरह विशेष परिचय दे देने से धार्मिक स्थिति भी हस्तामलक वत् हो जायगी। यहाँ पर दोनों प्रकार की स्थितियों पर प्रकाश डालना यह भाव रखता है कि सुवेशमुनि का देश की धार्मिक और नैतिक दोनों स्थितियों के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। अतः पाठकों को दोनों का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ नितान्त आवश्यक है।

## चतुर्थाश्रम की श्रौत–स्मार्त्त शाखाओं का आरम्भ

हमारे शास्त्रों में लिखा मिलता है कि त्रेतायुग में दत्त और दुर्वासा के समय यति और मुनि, चतुर्थाश्रम की ये दो शाखाएँ हो गईं+। चन्द्र, दत्त, दुर्वासा ये तीन अत्रि के पुत्र थे। पुराणों में इन्हें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का अंश माना गया है। भागवत स्कन्ध ४ अध्याय प्रथम में यह कथा कुछ विस्तृतरूप में लिखी है। चन्द्र गृहस्थ रहे। दत्त और दुर्वासा दोनो मोक्षाश्रमी हुये। दत्त यतिश्रेणी और दुर्वासा मुनिश्रेणी के नेता माने गये। इन से पूर्व चतुर्थाश्रमियों में किसी प्रकार का भेद न था। चतुर्थाश्रमियों के लिये ब्रह्मसंस्थ और उदासीन इन दो शब्दों का अधिक प्रयोग होता था। दत्त और दुर्वासा बुद्धिवैभव और तपोबल में एक दूसरे से बढे चढे थे। दत्त शिखा और यज्ञोपवीतादिक नही रखते थे। दुर्वासा जटिल और यज्ञोपवीती थे। यहाँ पर इतना और जान लेना आवश्यक है कि दोनो शाखाओं में दोनो तरह के महापुरुष मिलते थे। कोई उपवीत धारण करता था और कोई नही। दत्तश्रेणी में उपवीतादित्याग की प्रथा अधिक थी, और धारण करने की बहुत कम। इसके विपरीत दुर्वासाश्रेणी में उपवीतादिधारण करने की प्रथा अधिक और त्याग की कम।

---

+मुनियतिभेदेन चतुर्थाश्रमिणां द्वैविध्यं न केवलं पुराणेषु वेदेष्वप्यक्षिलक्ष्यीक्रियते तत्र मुनयः—

मुनयो वातरशनाः। ऋ० १०। १३६। २।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा। ऋ० १०। १३६। ४।

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांऽस सत्रम्। ऋ० ८। १७। १४।

शुश्रोवः शुष्मः क्रुम्मी। ऋ० ७। ५६। ८।

इत्येतेषु व्याख्यातपूर्वेषु मन्त्रेषु निर्दिष्टाः कर्मयोगिनस्ते ज्ञानस्योत्पत्तेः प्राक् स्वान्तक्षालनाय, समुत्पन्ने पुनस्तस्मिन् ज्ञाने लोकसंग्रहाय च, चतुर्थाश्रमिणः सन्तोऽपि विहितकर्माणि स्वयमनुतिष्ठन्ति लोकैरनुष्ठापयन्ति च, तेषां तत्कर्मणा प्रीतमानसा इन्द्रादयो देवास्तेषु स्नेहातिरेकं सख्यं च चक्रिरे। यथाह वेदपुरुषः—

मुनि र्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः। ऋ० १० १३६। ४।

इन्द्रो मुनीनां सखा। ऋ० ८। १७। १४।

एत एव देवसुहृदो मुनयो 'ब्रह्मसंस्थाः' 'उदासीनाः' इति चोच्यते।

यतयस्तु वयं चतुर्थाश्रमिणः, नास्त्यस्माकं किंचिदपि कर्तव्यमित्यात्मानं कृतकृत्यं मन्यमाना वेदविहितकर्मकलापानुष्ठानात् स्वयं विरमन्ति, मोक्षाश्रम एव संसृति–सागरसंतरण–साधनं शान्ति–सदनं चेत्युपदिशन्तोऽन्यान् विरमयन्ति च, तेषां तदालस्य–साम्राज्य–प्रसारि, जगदनिष्टकारिकर्म नेन्द्राय रोचतेस्म। एतच्चैताभ्यामथर्वमन्त्राभ्यां स्पष्टमवबुध्यते—

चतुर्थाश्रम के कुटीचकादिभेद का विकास इसी समय से आरम्भ होता है। मोक्षाश्रमी रहते हुये भी मुनिश्रेणी को वैदिक कर्मकलाप से अरुचि न थी। अतएव जिज्ञासु अन्तःकरण की शुद्धि के लिये और ज्ञानी लोकमर्य्यादा रक्षणार्थ कर्तव्यपालन को ही श्रेयस्कर समझते थे। दत्तश्रेणी (यतिश्रेणी) के चतुर्थाश्रमी कर्मत्याग पर अधिक जोर देते थे। अतएव वे भिक्षा लेने जाना भी अच्छा न समझते थे। द्वापर के अन्ततक ये दोनों श्रेणियाँ उक्तरूप में ही चली आई। अतः परस्पर किसी विशेष अन्तर के न होने से इन की पृथगस्त्वि कहीं पर स्पष्ट वर्णित नहीं मिलता। इस के अर्थ ये नही हैं कि भेद का स्फुटवर्णन न मिलने के कारण परस्पर भेद था ही नहो। यदि विचारपूर्वक अन्वेषण किया जाय तो दत्त और दुर्वासा इन दोनों श्रेणियों में महान् अन्तर उपलब्ध हो सकता है। दोनो श्रेणियों में बहुत सी प्रथाएँ ऐसी भी हैं जो दोनोंमें समान हैं। उन्हीं के कारण कहीं पर जल्दीजल्दी भेद स्फुट प्रतीत नहीं होता। उद्देश्य में भी अधिक अन्तर न होने से समानता झलकती है। मुमुक्षु कहीं प्रवृति जाल में न फँस जायँ, इस भय से दत्त उन्हें कर्मत्याग का उपदेश देते थे। प्रव्रज्या की आड़ में कहीं आलस्य का साम्राज्य स्थापित न हो जाय अतएव दुर्वासामुनि चतुर्थाश्रमियों को कर्तव्यपरायणता की शिक्षा देते रहते थे। दत्त सर्वथा हृदय से कर्मत्याग को प्रधानता न देते थे, अतएव उन्हों ने यदु; सहस्रबाहुप्रभृतियों को कर्तव्यपरायणता का उपदेश दिया। यद्यपि दत्त का यह

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये। येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ।२०।९।३।

हे इन्द्र तत्=वक्ष्यमाणलक्षणं, ब्रह्म=परिवृढमन्नम्, सुवीर्यम्=शोभनवीर्योपेतमतिशयेनबलप्रदम् त्वा= त्वाम् यामि=याचामि, वर्णलोपश्चछान्दसः, कुतः, यतः पूर्वचित्तये=पूर्वा प्रथमा सर्वोत्तमा चितिः प्रज्ञा तस्यै तदर्थम्, तत्=अन्नम् प्रभवति इति शेषः, तदनशने श्वेतकेतोरधीतसर्वाम्नायविस्मृतेः छान्दोगोपनिषदि श्रुतत्वात् तदित्युक्तम् कीदृग् तदित्याह येन=ब्रह्मणाऽन्नेन, यतिभ्यः=कर्मभ्यो निवृत्तान् यतीन् परिहृत्यानादृत्य, भृगवे=तन्नामकाय महर्षये, धने हिते=अभिसंहिते दातुमभिलषिते सति तं भृगं प्रसादितवानसि, किंच–प्रस्कण्वम्=कण्वपुत्रमेतन्नामानमृषिम्, आविथ=ररक्षिथ, ये यतयोऽलसाः प्रव्रज्याभिमानमात्रेण कर्मभ्यो निवृत्तास्तेषु संजातक्रोधोमहेन्द्रस्तेभ्यो यादृशमन्नादिकं बलदाच्छिद्य भृगवे प्रस्कण्वाय च प्रादात्, विविधप्रज्ञानोत्पादकं तादृशमन्नादिकमिन्द्रादहं प्रार्थये सविनयमिति सरलार्थः। अत्र यतिभ्यः कर्मभ्यो निवृत्तेभ्यः सकाशादाहृत्येति सायणः॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
विभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य॥ अथर्व० २–५।३॥

तुराषाट्=तुरं, तूर्णं सहते अभिभवति शत्रून् इति तुराषाट्, "छन्दसि सहः" इति सहेर्ण्वि-प्रत्ययः, "सहे साडः सः" इति षत्वम्, मित्रः=सर्वप्राणिमित्रभूतो य इन्द्रः, वृत्रम्=एतन्नामानं त्वाष्ट्रम्, असुरम्, अवारकं मेघं वा, जघान=हतवान्। उक्तं हि यास्केन–तत् कोवृत्रो मेघ इति नैरुक्ता स्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ( नि० २, १६ ) इति तत्रदृष्यान्तः। यतीर्न=यतयो नाम नियमनशीला आसुर्यः प्रजाः ता इव। यद्वा अत्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचारशून्याः परिव्राजका विवक्षिताः। तानिव, तथा च कौषीतकोपनिषदि; इन्द्रवाक्यम् "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम्, अहनम्, अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" (इति कौ० उ० ३–१) तथा भृगुर्न=भृगुरिव वलम्=अङ्गिरसां सत्रम्, आसीनानां यज्ञसाधनभूता गा अपहृत्य स्थितम् वलनामानम् असुरम्, विभेद=विदारितवान्। एतत्सव सामर्थ्यम्, सोमपानप्रभावनिबन्धनम् इत्याह ससहे शत्रून् इति। सोमस्य पीतस्य मदे सति शत्रून् उदीरितान् ससहे अभिभूतवान्। एत्वाऽभ्यासलोपाभावश्छान्दसः।

एषु द्विविधेषु चतुर्थाश्रमिषु के श्रौताः ( वैदिकाः ) इति समोहितचेतसः सुधियः स्वयं विभावयन्तु॥

अभिप्राय न था कि कर्मों का त्याग सर्वथा कर दिया जाय, फिरभी प्रकृति के नियमानुसार द्वापर के अन्त में हम दत्तश्रेणी को अकर्मण्य पाते हैं। दीर्घदर्शी महामुनि दुर्वासा की श्रेणी अन्ततक कर्तव्यपरायण रही। अतएव दुर्वासाश्रेणी के चतुर्थाश्रमियों ने अपने निराले त्याग और अद्भुत कर्तव्यपरायणताद्वारा लोगों के मनों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। यहाँतक कि भगवान् कृष्ण भी उन्हें गुरु मानते थे*। त्रेता से लेकर द्वापर के अन्त तक अपने अनेक शिष्यों को साथ ले दुर्वासाने खूब धर्मप्रचार किया। दत्त प्रायः एकान्त में अकेले रहा करते थे। यही गुण उन के अनुयायियों में भी घर कर गया। जिस से वे आगे अधिक उन्नित न कर पाए और अकर्मण्य बन गये। गीता में भगवान् कृष्ण का संन्यास की कुछ कड़े शब्दों में समालोचना करना यही भाव रखता है। संभव है उस समय कर्म का सर्वथा त्याग कर देने के कारण दत्तश्रेणी के लोग संन्यासी; और दुर्वासाश्रेणी के चतुर्थाश्रमी कर्तव्य करते रहने परभी कमलपत्र की भाँति निर्मल एवं अनासक्त रहने से उदासीन कहलाने लग गये होंगे।

आरम्भ में चतुर्थाश्रमी के मुनि, ब्रह्मसंस्थ, उदासीन ये नाम पाए जाते हैं। त्रेता में परिव्राजक, श्रमण, यति ये नाम प्रचलित हुये। सर्वतः पश्चाद्भावी संन्यासी शब्द है, जो संभव है द्वापर के अन्त में प्रचलित हुआ होगा। कुछ समयतक यह शब्द दत्त और दुर्वासा की दोनोंही श्रेणियों में प्रयुक्त होता रहा। कुछ काला नन्तर दोनों श्रेणियों के नियमों में आकाश पाताल का अन्तर आ गया। दत्तश्रेणी में श्रौतनियमों की अप्रधानता और स्मार्तनियमों की प्रधानता होने लगी। दुर्वासाश्रेणी के चतुर्थाश्रमियों ने स्मार्तनियमों को प्रधानता न देकर श्रौतनियमों को ही अधिक महत्त्व दिया। उदासीन महात्माओं ने स्त्रीदर्शननिषेधप्रभृति स्मार्त निवृत्तिपथ के नियमों की ओर अधिकध्यान न देकर कर्मयोग को प्रधानता दी। अतएव दुर्वासा का राजमहलों में जाना और राजकुमारी कुन्ती का उन की सेवा करना पुराणों में वर्णित है। उदासीनमहात्माओं में प्रायः कर्मयोगी दुर्वासा के आचरणों का अनुकरण पाया जाता है। उदासीनाचार्य नारदजी राजभवन, अन्तःपुर तथा राजसभाओं में सर्वत्र घूमते थे। स्कन्दपुराण में नारद का बाणासुर के अन्तःपुर में उपदेशार्थ जाना साफ लिखा है। द्वारिकाधीश भगवान् का अधिकप्रेम होने के कारण नारद का प्रायः उन के भवन में ही निवास करना किसी से छिपा हुआ नहीं। कर्मयोगी मुनिश्रेणी में सर्वश्रेष्ठ प्राचीन उदासीनशब्द अधिकप्रयुक्त होने से उन्हीं मे रूढ़ हो गया।

इस स्थिति में दत्तश्रेणी का संन्यासी शब्द का अपनाना स्वाभाविक था। उनका कर्मत्याग भी उनके इस नाम के अपनाने में सहायक हुआ। आजकल के संन्यासी

---

*श्री भगवानुवाच—

यो यस्य चित्ते वसति न स दूरे कदाचन।  
खे सूर्यं कमलं भूमौ दृष्ट्वेदं स्फुटति प्रियाः॥  
भाण्डीरे, मे गुरुः साक्षात् दुर्वासा भगवान् मुनिः।  
आगतो प्रिया स्तस्य सेवार्थं गतवानहम्॥

गर्गसंहिता, माधुर्यखण्ड ४, अध्याय १। भाण्डीरे=व्रजमण्डलान्तर्गत षोड़शवटवनमध्ये द्वितीय वटवने।

शब्द के प्रेमी चतुर्थाश्रमी महात्माओं में दत्त की पूजा हमारे इस भाव को और भी पुष्ट बना देती है। दत्तश्रेणी का संन्यास शब्द का अपनानाही "दत्त से संन्यास चला" इस लोकोक्ति का आधार प्रतीत होता है। कुछभी हो परन्तु भगवान् कृष्ण के समय यति श्रेणि अकर्मण्यता का शिकार हो चुकी थी। अतएव, दत्त-शिष्य यदु के वंशधर भी उनकी उपेक्षा कर कर्मप्रिय दुर्वासाश्रेणी को ही मानने लग गये थे। कर्मयोग के पुजारी भगवान् कृष्ण तो उदासीन महात्माओं के वशंवद हो रहे थे। अतएव गीता में उन्होंने उदासीन महात्माओं की जीवनमुक्त और स्वकीय ईश्वरीयभाव से तुलना की है। इससे पता लगाया जा सकता है कि कृष्णभगवान् के मनमें उदासीनों का कितना ऊँचा आसन था। इतना ही क्या! उन्होंने अपने आप को भी उदासीन माना है। उदासीन महात्माओं के लिये इस से अधिक और गौरव का विषय क्या हो सकता है? साक्षात् भगवान् भी जिस सम्प्रदाय में अपनी गणना कर रहे हैं, क्या वह एक साधारण सम्प्रदाय है? भगवान् कृष्ण के पीछे चार्वाक मत के दमन करने में श्रौत चतुर्थाश्रमियों का साथ स्मार्त्त चतुर्थाश्रमियों ने भी दिया था। उक्तविचार से यह प्रगट होता है कि भिक्षाचरण, कषायाम्बरधारणप्रथा बुद्ध से बहुत पुरातन है। सर्वसाधारण जनता भिक्षुओं पर अगाध श्रद्धा रखती थी। बुद्ध का घर से निकल कर अपनी तल्वारसे अपनी चोटी-काटना और कोई मुझे पहचान कर पीछे घरवालों को पता न दे दे एतदर्थ अपने रेश्मी वस्त्रों के बदले एक कपटसाधुवेषधारी व्याध से भगवे लेकर अपने आपको छिपाने के लिये एक भिक्षुक का वेशधारण करना हमारे पूर्वोक्त विचार को और भी पुष्ट करता है। बुद्ध के समय राजगृह के पास एक सञ्जय नामक परिव्राजक रहता था। उसके मठ में २०० भिक्षुकों का रहना इतिहास प्रसिद्ध है। ये भिक्षुक भिक्षावृत्तिद्वारा अपनी प्राणरक्षा किया करते थे। बौद्धप्राप्ति से पूर्व राजकुमार सिद्धार्थ ने कोई नूतन प्रथा नहीं चलाई। अतः दृष्टपूर्व भिक्षुकों की शिखाच्छेद और कषायाम्बर धारणादि प्रचलित प्रथा का अवलम्बन ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भारतीय जनता में अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ भिक्षुक का वेशधारण करना आरम्भ से आजतक आवश्यक रहा है। अतएव केवल बुद्ध ने ही नहीं; अद्यावधि तमाम धर्माचार्यों ने उक्तवेष की शरण ली। बुद्ध के भिक्षुकसंघ के नियम प्रायः चतुर्थाश्रम की स्मार्त्तशाखा के अनुकरणमात्र थे। बुद्धधर्म में उपासक और श्रमण ये दो विभाग महात्मा बुद्ध ने स्थापित किये। उनके समय श्रमण विभाग का ही अधिक बल रहा। उपासकविभाग की गणना तो नहीं के बराबर थी। अशोक तक बुद्धधर्म हिन्दुधर्म से पृथक् न समझा जाकर हिन्दुओं के चतुर्थाश्रम की एक शाखा समझा जाता रहा। अतएव इस गड़बड़चौथ के समय समार्त्तशाखा के अधिक और कुछकुछ श्रौतशाखा के भिक्षुकभी इस नवीन शाखाके के एक आदरणीय गुणों सेआकर्षित हो कर इस में सम्मिलित हो गये।

यहाँ तात्पर्य्य यह है कि बुद्ध के समय चतुर्थाश्रम दो भागों में विभक्त था। एक का नाम श्रौत और दूसरे का नाम स्मार्त्त था। श्रौत शाखा में पञ्चदेव की समभाव से उपासना हुआ करती थी। स्मार्त्तचतुर्थाश्रमी केवल शिव को अधिक महत्त्व देते थे। श्रौतशाखा का नाम उदासी और स्मार्त्त का नाम संन्यासी प्रसिद्ध था। स्मार्त्तों में वेदपूजा की प्रथा न थी। सम्भवतः श्रौत और स्मार्त्त कल्पना का

आधार वेदपूजा ही हो। पराशरस्मृति के भाष्य में माधवाचार्य ने श्रौतस्मार्त्त की विवेचना इस प्रकार की है। जिन धर्मनियमों की प्रतिपादक श्रुतियाँ साक्षादुपलब्ध हों-उन्हें श्रौत समझना चाहिये। स्मार्त्त वे हैं जिनके प्रतिपादक वेदवाक्य साक्षात् तो उपलब्ध न हों किन्तु स्मृतियों में उल्लेख होने से उनका अनुमान किया जाता हो। सार यह हुआ कि प्रत्यक्ष-श्रुति-प्रतिपाद्य-नियम-कलाप को श्रौत कहते हैं, और अनुमिति-श्रुति के आधार पर स्वीकृत-नियम-कलाप को स्मार्त्त कहा जाता है। उदासीनों में अधिक उन्हीं नियमोंका आदर रहा है जो प्रत्यक्ष श्रुतियों में उपलब्ध हैं-यथा भिक्षाचरण, कषायाम्बरधारण करना। स्मार्त्तदण्डधारणादिक नियमों को ये अधिक महत्त्व न देते थे। इनका वस्त्रादिधारण करना निम्नलिखितप्रकार से है। उदासीनों के प्रथमाचार्य सनत्कुमार दिगम्बर थे। यथा-

पञ्चषड्-हायनार्भकाभाः पूर्वेषामपिपूर्वजाः।
दिग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम्।

(श्रीमद्भागवत-स्कन्ध ७, अ० १ श्लोक ३६)

ब्रह्मा के पुत्र सनकादिकमुनि ब्रह्माण्ड में विचरते विचरते अचानक विष्णु लोक में पहुँच गये। वे दिगम्बर (नग्न) और नितान्त पुरातन पुरुष थे। आश्चर्य यह था कि वे देखने में साधारण ५, ६, वर्ष के वालक के समान प्रतीत होते थे। अतः उन्हें साधारण वालक जान कर द्वारपाल जय और विजय ने उन्हें भगवान् के पास जाने से रोक दिया। इस कथा से स्फुट है कि सनत्कुमार जी दिगम्बर रहा करते थे। पुराणों में नारद का मृगचर्म पहनना मिलता है। मुनिआश्रमों में भी प्रायः वल्कल धारण करने को प्रथा अधिक थी। अतः उससमय के उदासीन मुनि वल्कल पहना करते थे। सर्वतः प्रथम अश्विनीकुमारों की दया से उदासीन मुनि विमद ने कषायाम्बर धारण किया। जिस की चर्चा ऋग्वेद में मिलती है। इसवात को हम प्रथम लिख आए हैं। शैवपरिव्राजकों में अधिक स्मार्तनि... की ही भरमार थी। अतएव वे स्मार्त्त कहलाते थे। स्मार्त्तों में दण्डधारणप्रथा अधिक प्रधान थी। उदासीन प्रायः दण्डधारण न करते थे। यदि कोई धारण कर भी लेता तो उसे रोका भी न जाता था। उदासीनमहात्मा अधिक उन नियमों का पूर्णतया पालन करते थे जिन का कोई वेदवाक्य साक्षादुपलब्ध होता था। दण्डधारण का प्रतिपादक कोई प्रत्यक्ष श्रुतिवाक्य न था अतएव उदासीनमहात्मा इसको अधिक महत्त्व की वस्तु नहीं समझते थे। उदासीनों के आचार्य ने भी दण्ड धारण नहीं किया। अतः उदासीनों ने इसे कोई आवश्यक चीज न समझ कर इस को उपेक्षा कर दी। हां, उदासीनमुनि दुर्वासा का दण्डधारणकरना हरिवंश पुराण के हंसडिम्भकाख्यान में मिलता है। संभव है कई एक उदासीनों का दण्ड धारण करना इन्हीं का अनुकरण हो।

### धार्मिक मतमतान्तरों का स्रोत मगधप्रान्त

अब यहाँ सुवेशमुनि के समय की नैतिक और धार्मिक स्थितियों का दिग्दर्शन पूर्णतया करा दिया गया है। इससे आगामी परिस्थिति पाठकों की समझ में अनायास आ जायगी। मगधप्रान्त में जिस प्रकार अनेक नरेश एक दूसरे से बढ

चढ कर होते आए हैं। उसीप्रकार भाँति भाँति के धर्म भी इसी आकर के रत्न-विशेष हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतभर में मगधप्रान्त ही नैतिक और धार्मिक आन्दोलनों का गढ रहा है। जैन और बुद्ध धर्म भी इसी प्रान्त में उत्पन्न हुये। अब यहां बुद्धमत से प्राचीन जैनधर्म का कुछ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। यह हमें बुद्धधर्म की कुछ बातें जानने में सहायक होगा।

## जैनधर्म

जैनमत बुद्धमत से पुरातन है। इसमें २४ तीर्थङ्कर हुये हैं। जिनमें आदिम ऋषभदेव है। " जैकोबी " आदि विद्वानों की राय है कि जैनमत के आदिप्रवर्तक पार्श्वनाथ हुये हैं। इनका समय ई० पू० ८ वीं ( वि० पू० ७ वीं ) शताब्दी है। उससमय मगध में शुनकवंश का राज्य था। ई० पू० ७१९ ( वि० पू० ६६२ ) में पार्श्वनाथ ने अपनी जीवनयात्रा समाप्त की। इनके बाद ई० पू० ६ ( वि० पू० ५ वीं ) ठी शताब्दी में जैनमतप्रचारक महावीर हुये। इनका जन्म ई० पू० ५४७ ( वि० पू० ४९० ) और देहावसान ई० पू० ४६७ ( वि० पू० ४१० ) में हुआ। महावीर लिच्छवी एक क्षत्रियघराने में पैदा हुये थे। जैनों के मुख्यभेद दो हैं– एक श्वेताम्बर, दूसरा दिगम्बर। दिगम्बर नग्न रहने में मोक्ष मानते हैं। इन के मन्दिरों में देवमूर्तियाँ भी नग्न होती हैं। जैनलोग नग्न साधुओं को अच्छा मानते हैं। श्वेताम्वर श्वेतवस्त्र रखते हैं। देवमूर्तियों को भी श्वेतवस्त्र पहनाते हैं। महावीर के गणधर सुधर्मा से १८ वें जिनचन्द्रसूरी वि० १३९ में हुए। इन्होंने इसमत की फिर से उन्नति की ऐसा प्रतीत होता है। अतएव इस का नाम जैनमत पड़ा। दूसरा कारण यह भी कहा जाता है कि जिन नाम तीर्थङ्कर का है। जिसधर्म में तीर्थङ्कर माने जाएँ वह जैनधर्म है। ६ ठी शताब्दी से इसकी फिर से उन्नति होने लगी। ई० ११४२, वि० संवत् ११९९ में कुमारपाल अनहलवाड़ा के राजा हुये। पसिद्धजैनाचार्य हैमचन्द्र इन्हीं के गुरु हुए। प्राचीन जैननिबन्धों के नष्ट हो जाने से इसराजा के समय नवीनजैनसाहित्य तैयार किया गया। १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में फिरसे जैनमत का ह्रास आरम्भ हो गया।

यहाँ पर इतना समझ लेना आवश्यक है कि जैनमत ने न तो कभी अधिक उन्नति ही की और नहीं इसका इतना पतन ही हुआ जिस से यह बिल्कुल नष्ट ही हो जाय। अतः आरम्भ से आजतक यह एक विचित्रसमस्या बना हुआ है। कुछ एक नियमोंपनियमों के इलावा इनके बाकुकी सारे नियम हिन्दुओं सेही मिलते जुलते हैं। जैनमत से हिन्दुधर्म की अधिक दो क्षतियाँ हुई हैं–प्रथम यह कि बुद्ध से २०० वर्ष पूर्व इन्होंने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। बुद्ध के जन्मतक लोगों के मन में इनके प्रचार के कारण हिन्दुधर्म के विरुद्ध भाँति भाँति के प्रश्न उत्पन्न होने लग गये थे। परिणाम यह हुआ कि बुद्धधर्म की वृद्धि में देर न लगी। दूसरी क्षति यह हुई कि इन्होंने जैनसाहित्य को हिन्दुधर्म को प्रतिद्वन्द्विता में वैसे का वैसा बना डाला। परिणाम यह हुआ कि यह चालाकी हिन्दुधर्म की पुरातनता से अपरिचित बहुत से इतिहास लेखकों को इस उल्झन में डाल देती है कि जैन साहित्य पुरातन है या हिन्दुसाहित्य?

## जीवनिर्मित नियमों की निस्सारता

यह एक नियम सा ही है जब किसी देश या जाति का पतन ईश्वर को स्वीकृत होता है, तो उस में भाँति २ के मतमतान्तर फैल कर परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और कलह का कारण बन जाते हैं। जबतक कोई जाति ईश्वरीयनियमों का पालन करती रहती है, तबतक उसमें आभ्यन्तरिक त्रुटियों का आना असंभव है। ज्योंही वह उन नियमों से थोड़ा सा इधर उधर होने लगती है तो झट पतन के गर्त्त में जा गिरती है। यही बात अक्षरशः हिन्दु-जाति के साथ घटती है। हमारे पूर्वजों का यह अटल विश्वास था कि जीव की बुद्धि में कभी वे नियम आ ही नही सकते; जिन से विश्वभर का शान्तिपूर्वक सञ्चालन हो सके। यह संभव है कि जीवनिर्मित नियम आरम्भ में बढे चढे दिखाई दें और अपने क्षणिकप्रकाश से लोगों की आंखों को चुँधिया दें परन्तु कुछदिन के अनन्तर उनकी निस्सारता लोगों के आगे आनी आरम्भ हो जाती है। ऐसा भी देखने में आता है कि लोग प्रथम, मानवीय नियमों पर मुग्ध हो कर ईश्वरीयनियमों की अवहेलना करने लगते हैं। परन्तु जब उन्हें अपनी यह भूल समझ में आती हैं तो फिर वे अपने पूर्व नियमों का पालन सहर्ष करने लगते हैं। आस्तिक जनता का विश्वास आरम्भ से अन्त तक उन्हीं नियमों पर रहता है, जिनका पालन उसके पूर्वज आरम्भ से करते आए हैं। प्रथम तो आस्तिक जनता भी मानवीयनियमों की वृद्धि देखकर क्षुब्ध सी हो उठती है परन्तु जब मानवीय नियमों की अवश्यंभाविनी निस्सारिता संसार में झलकने लगती है तो ईश्वरीयनियमों में उसकी और भी श्रद्धा बढ जाती है। स्वाभाविक वस्तु के आगे कृत्रिमवस्तु की पोल खुलते देर नही लगती। कृत्रिम नियमों का पालन करने से जनता अपने अन्तिम लक्ष्य तक नही पहुँच सकती। जिन जिन उद्देश्यों को लेकर वे नियम बनाए जाते हैं; उन से उनका सिद्ध होना भी कठिन होता है। क्यों कि मानवीय कार्य में विकृति का आना एक साधारण कार्य है। शान्ति, प्रेम, दया, ऐक्यप्रभृति सद्भावों के प्रचार की तो इनसे आशा करना भारी भूल है। हाँ, यह अवश्य है कि इनकी मनोहररचना के मोह में फँसकर जनता को जगत्पिता की आज्ञा के तिरस्कार का दण्ड अवश्य भोगना पड़ता है। जनता में मतभेद होते ही पारस्परिक कलहाग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएँ सर्वत्र धधकने लगती हैं। जिनका शान्त होना केवल भगवन्नियमावली का अवलम्बन ही होता है। ऋषियों का यह विश्वास रहा है कि बृहतीजगत्संस्था का सञ्चालन भगवन्नियमावली वेदाज्ञा के अनुसार ही पूर्णतया हो सकता है। कृत्रिम नियमों का सहारा लेकर चलनेवाली जाति संसार में अधिकदिन जीवित नही रह सकती। हिरण्यकश्यपु, रावणप्रभृति बड़े बड़े शूर वीर ईश्वर के नियमों की अवज्ञा के कारण संसार से शीघ्र ही चल बसे,आजकल उनका कहीं चिन्ह तक नहीं दीख पड़ता। एवमेव और भी अनेक जातियाँ इससंसार में आई और चार दिन अपनी चहल पहल दिखा कर सदा के लिये महानिन्द्रादेवी की गोद में सो गई। सिवाय इतिहास में उन के नाम के आजकल हम संसार में उन का और कुछ नहीं देख पाते। इस का कारण यही है कि उन जातियों ने ईश्वरके नियमों का पालन नहीं किया।

आरम्भ से ले कर आजतक हिन्दुजाति के जीवित रहने में प्रधानकारण यही है कि यह जाति ईश्वरीय-नियम वेदों के आदेश का पालन करती आई है। अत एव हमारे ऋषिमुनि वेदों को अपने प्राणों से भी प्रियवस्तु समझते थे। वेद रक्षा का प्रश्न आते ही ऋषिलोग अपने प्राणतक दे देने को उद्यत हो जाते थे। वे समझते थे कि देशसेवा और जाति की उन्नति इनकी आज्ञा के पालन पर अवलम्बित है। और यही परम धर्म है कि हम उनका भलिभाँति पालन करें। वास्तविक धर्म का ज्ञान वेदाध्ययन से ही हो सकता है। शरीर के समस्ताङ्गों की सजीवता के केन्द्र हृदय की तरह भारत का हृदय वेद है। अतः प्राणपण से भी इसकी रक्षा करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।

## वेद की शाखाओं का लोप

हिन्दुजाति के विरोधियों ने वेदों को नष्ट करने के लिये अनेकों यत्न किये परन्तु ईश्वरीयवाणी वेद का लोप ईश्वर को स्वीकृत न था। अतएव समयसमय पर भगवान् स्वयं इनकी रक्षा करते आए हैं। आरम्भ में ऋषिलोग वेद को लिपिरूप में लाने की अपेक्षा कण्ठस्थ कर लेना अच्छा समझते थे। अतएव शताब्दियों तक वेद का आसन ऋषियों के कण्ठ में ही लगा रहा। समय के परिवर्तन के साथ साथ लोगों में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक होता है। जब लोगों की बुद्धियों में दुर्बलता आगई तो प्रत्येकव्यक्ति को समस्तवेद का कण्ठ कर लेना असम्भव हो गया। ऐसी स्थिति में एक ही वेद चारभागों में बाँट दिया गया कि किसी न किसी तरह वेद सुरक्षित रहे। अनन्त आचार्यकुल स्थापित हुये। अनेक ब्राह्मणों ने वेदप्रवचन का काम अपने ऊपर लिया। समस्त आचार्यकुलों की शैली एक सी न थी। अतः मन्त्रों का आगे पीछे होना स्वाभाविक था। शनैः शनैः पाठनप्रणाली के भेद का नाम शाखा प्रसिद्ध हुआ। इन शाखाओं के भेदक प्रसिद्ध वेदप्रवक्ताओं के नाम थे। इसतरह वेद की अनन्त शाखाएँ हुईं। आजकल के विश्वविद्यालयों की भाँति प्रतिशाखा की पाठप्रणाली में विशेषता होने के कारण समस्त शाखाएँ भिन्नभिन्न समझी जाने लगीं। प्रत्येकशाखा की रक्षार्थ भारत में भिन्नभिन्न वेदविद्यालय स्थापित हुये। जबतक भारत में इन विद्यालयों का कार्यक्रम अपने चारुरूप से चलता रहा तबतक हिन्दु-जाति में अपूर्व वीरता, परस्पर शुद्धप्रेम, स्वार्थत्याग और आत्मसंयम का पूर्णराज्य रहा। कहीं पर यदि २० विश्व-विद्यालयों के स्थान में १० ही शेष रह जायँ तो वहां के विद्यासम्बन्धी ह्रास का अनायास ही पता लगाया जा सकता है। इसीतरह हमारे यहाँ वेद-विद्या के ह्रास का ज्ञान निम्नलिखित शाखालोप से हो सकता है। मौक्तिकोपनिषद् में वेद की ११८० शाखाओं का उल्लेख है। अर्थात् किसी समय भारत में इतने विद्यालयों में पृथक् पृथक् पाठनप्रणाली से वेद पढाया जाता था। आगे हम विष्णुपुराण में ११३६ पाते हैं। इससे पता चलता है कि विष्णुपुराण के समय वेद की ४४ शाखाएँ नष्ट हो चुकी थीं। महाभाष्यकार पतञ्जलिजी, जो बुद्ध के निर्वाणकाल में हुए हैं, वेद की ११३१ शाखाएँ वतलाते हैं। इससे पता चलता है कि विष्णुपुराण के समय से बुद्ध कालतक वेद की और ५ शाखाएँ लुप्तप्राय हो चुकी थीं। अर्थात् बुद्ध के समयतक ४९ वेदविद्यालय वन्द हो चुके थे। पाठक! कितने खेद का विषय है, आजकल

केवल ५, ७, शाखाएँ बड़ी कठिनता से मिलती हैं। हम यह पूर्व ही कह आए हैं कि ज्यों ज्यों हिन्दुजाति में वेद का प्रचार घटता गया; त्यों त्यों यह पतन की ओर बढती गई।

### धर्मगुरुओं का प्रमाद

उदासीन मुनियों ने वेद की रक्षा के लिये अनन्त यत्न किये, जिन के परिणाम रूप में हम आज भी वेदों का दर्शन कर रहे हैं। अन्यथा कह नहीं सकते, इतिहासों में भी इनका नाम होता या नहीं। पाणिनीयव्याकरण और यास्कीयनिरुक्त इन्हीं के उद्योग के दिव्यफल हैं, इसे पाठक पूर्व पढ ही आए हैं। अपने पूर्वजों की भाँति सुवेषमुनि ने भी अनेक नरेशों को प्रेरकर अनेकानेक वेदविद्यालय खुलवाए, जिनमें सहस्रों और लाखों की संख्या में ब्रह्मचारी विद्योपार्जन करते थे। उससमय विद्वत्समाज में एक दोष आगया था; जो वेदविद्या के ह्रास का प्रधान कारण हुआ। वह यह था कि उस समय के विद्वानों ने कल्पसूत्र, और जैमिनि-मीमांसा शास्त्र का पढना छोड़ दिया। ये दोनों शास्त्र ही कर्मकाण्ड के प्रधानस्तम्भ हैं। हमारे पुरातन विद्वान् कर्मकाण्ड की जटिलविधियों का अपूर्व विज्ञान इन्हीं के अध्ययन से सम्पादन किया करते थे। अतएव वे कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं की शङ्काओं का पूर्ण समाधान कर सकते थे। बुद्ध के समय के विद्वान् उन्हीं पद्धतियों पर अवलम्बित हो गये; जो कर्मपारगों ने समस्त–वेदादि–धर्म–पुस्तकों के दर्शपौर्णमासादि प्रकरणों की आलोचना कर, साधारण मनुष्यों को यज्ञादिकों की विधियों का ज्ञान कराने के लिये निर्माण की थीं। दूसरा दोष यह आगया था कि यज्ञादि कराने से यजमानों के यहाँ से प्रचुरधनराशि मिल जाने के कारण अनायासतः भोगोपकरण सम्पादित होने लगे। अतएव भोगलालसा–पिशाची ने धर्मगुरुओं के हृन्मन्दिर में अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया। विषयलम्पटता की बढी हुई मात्राने वेदाभ्यास के प्रधानतम साधन ब्रह्मचर्य के अनुराग में कुठाराघात किया। आलस्य के राज्य में धर्मगुरुओं की सन्तान वेदाभ्यास करने से दूर भागने लगी।

ऐसी स्थिति में पद्धतिपाठकर्ताओं से यज्ञों की पूर्णविधि की आशा दुराशा मात्र थी। यही, यज्ञादिकों में जनता के अविश्वास का कारण हुआ। इतना ही नहीं, याजकों पर भी लोगों की अश्रद्धा होने लगी। यज्ञों पर यजमान के हजारों रुपये खर्च आ जाते थे परन्तु वह सफलमनोरथ न होता था। यह बात भला सकाम पुरुष से कब सहन की जा सकती थी। तबसे जनता में वेद के विरुद्धभावों के और नास्तिकता के अङ्कुर पैदा होने लगे। जनता की जलती हुई वेद–विपरीत–भावनारूपाग्नि में बुद्ध के प्रचारने घृत का काम किया।

उससमय योगाभ्यास की स्थिति भी डामाडोल थी। लोग वाङ्मय संसार में योग के महत्त्व की डींगें तो बहुत हांकते थे परन्तु कहीं क्रियात्मक योग की गन्ध भी न थी। ऐसी स्थिति में धर्मप्रेमी, देश और जाति के हितचिन्तक महापुरुष बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। एक ओर से तो उनपर विधर्मियों के आक्षेप पर आक्षेप होने लगते हैं, और दूसरी ओर उनके सहधर्मी विधर्मियों के पञ्जे में फँसकर उनका साथ देना छोड़ देते हैं। ऐसे समय में उनका अटल विश्वास ही उन्हें प्रोत्साहित करता रहता है। समुद्र में भयङ्कर तूफान आ जाने के कारण पोत के छिन्नभिन्न हो जानेपर, समुद्र की भयङ्कर लहरों में डूब रहे एक समुद्रयात्री को किसी काष्ठखण्ड को पकड़कर समुद्रपार

करने की चेष्टा से उनके यत्न की तुलना की जा सकती है। एक ही क्षण में सारे नगर को डुबो देने वाले और बड़े वेग से दौडे आरहे किसी महानद के प्रवाह को अपने व्यक्तिगत यत्न से रोकने की इच्छा वाले एक अकेले नगर हितैषी की भाँति अपने कर्तव्यपालन की दृष्टि से धर्मवीर धर्मरक्षा के मैदान में निकला करते हैं।

यही स्थिति हमारे पूज्य उदासीन सुवेषमुनि की थी। ये पूर्ण योगीराज थे। इन के अलौकिक चमत्कार और सदुपदेशों से प्रभावित होकर धर्मपथभ्रष्ट लोग भी फिर से अपने पूर्वधर्म की शरण में आना आरम्भ करते थे। बुद्धकाल में इन्होंने यथाशक्ति हिन्दुधर्म की डूबती नैया बचा ली। बुद्धधर्म के प्रवाह में डूब रहे लागों को हस्तावलम्बन देकर बचालिया। इन्हीं के नितान्त परिश्रम से बुद्ध को वृद्धावस्था में असफलता के दर्शन करने पड़े। केवल इतना ही नहीसदियों तक बुद्धधर्म निर्जीव सा बना रहा। वैदिकधर्म के दुर्भाग्य के कारण सम्राट् अशोक बुद्धधर्म में दीक्षित हो गये। तब उन्होंने मृतप्राय बुद्धधर्म में फिर से जीवन डाल दिया। जो पहले चतुर्थाश्रम की एक साधारण शाखा के रूप में था, तब वह सर्वसाधारण में फैल गया।

## भगवान् "बुद्ध"

अब हम बुद्ध का संक्षिप्त परिचय देते हुये इनके धर्मप्रचार का विवर्णन और वैदिकधर्म की रक्षा के लिये सुवेशमुनि के नानाप्रकार के यत्नों और परिश्रमों का उल्लेख करते हैं। महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु के राजा, शाक्यजाति के क्षत्रिय शुद्धोदन के बेटे थे। इनके जन्मसे ही त्यागप्रधान विचार थे। इन्हों ने आचार्यकुल में विद्याभ्यास भी किया था। राजा शुद्धोदन ने इनके रहने के लिये भिन्नभिन्न ऋतुओं में निवास योग्य भिन्नभिन्न निवास भवन बनवाए थे। सुखमय जीवन के समस्त साधनों के होने पर भी बुद्ध का मन क्षणिक और विनाशी सांसारिक पदार्थों में आसक्त न होता था। अन्तमें इन्हें फँसाने के लिये इनके पिता ने इनकी शादी कर दी। इनकी धर्मपत्नी का नाम यशोधरा था। २८ वर्ष की अवस्था में इन के यहाँ एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। इसका नाम राहुल रक्खा गया। बुद्ध भगवान् ने इसे अपने आनन्दरूपी चन्द्रमा का ग्रासक समझा। अतएव ये उसे राहु कहा करते थे। सांसारिक बन्धनों में जकड़े जाने के भय से एकदिन राजकुमार सिद्धार्थ घोड़े पर सवार हो कर घर से सदा के लिये विदा हो गया। निरन्तर एक रात्री की यात्रा के बाद राजकीय वस्त्राभरण त्याग एक भिक्षुक का वेश बना लिया। चलते चलते राजगृह में पहुँच गये। वहां के राजा बिम्बसार ने इनका सादर स्वागत किया। क्योंकि राजा बिम्बसार साधुओं के परमभक्त थे। सुवेशमुनि के उपदेश से बिम्बसार ने एक विशाल विद्यालय स्थापित कर रक्खा था। उसमें ७०० विद्यार्थी पढते थे। उस विद्यालय के मुख्याध्यापक परमदार्शनिक पण्डित रुद्रक थे। बुद्ध ने अध्यात्मविद्याका अध्ययन इनसे किया था। बुद्ध को सर्व ग्रन्थों में तप की महिमा मिली। गुरुदेव से वार्तालाप के समय भी बुद्ध ने यही बात समझी कि तप ही सर्वश्रेष्ठ उन्नति का साधन है।

## राजकुमार सिद्धार्थ का घोर तप

यहां पर बुद्ध से इतनी भूल अवश्य हुई कि उसने गीता-उक्त तप के सात्विक, राजस, और तामस इन विभेदों पर मनोयोग न दिया। वे तामस तप को ही सर्वो-

त्तम समझ कर उसी में जुट गये। निरन्तर पाश्च, छः, वर्ष की घोर तपश्चर्य्या के बाद वे हताश से हो गये। शरीर में दुर्वलता यहाँतक बढ गई कि किसी किसी समय मूर्च्छित हो कर गिर पड़ते थे। शान्ति-प्राप्ति के स्थान में निराशा और हतोत्साहता के भयावह दृश्य उपस्थित होने लगे। अव उन्हें शास्त्रीय-सिद्धान्तों में कुछ सन्देह होने लगा। उनकी श्रद्धालता विफलता के आतप से मुर्झा-सी गई। इस असफलता से उन्हें हार्दिक दुःख हुआ। अतएव उन्होंने तपादिकों का सर्वथा त्याग कर दिया। इससे उनके जीवन में विचित्र परिवर्तन आ गया। अब वे भिक्षाचरण करने लगे। कुछदिन के बाद उनके शरीर में साधारण वल आ गया। इससे वे अपनी दिनचर्या का पूर्णतया पालन करने लग गये। इन के पाश्च साथी, जो राजगृह ब्रह्मचर्य्याश्रम से इनके साथ आए थे, इनके इस परिवर्तन से अप्रसन्न हो इन्हें वहां ही छोड़ कर चले गये। तव ये उसी स्थान में एक इङ्गुदी के नीचे ध्यान में मग्न हो गये। तब इनके मन में भाँति भाँति की विचारतरङ्गें उठने लगीं। ये सोचने लगे " क्या मैं ही निर्भ्रान्त-पथ का पथिक हूँ? अन्य समस्त विद्वान् भ्रान्त ही हैं। इस प्रकार किसी विचार के स्थिर न कर सकने के कारण ये क्षुब्ध-से हो उठे। जब अच्छे और बुरे विचारों ने इन्हें दवाना चाहा तब इन के संयम से वे स्वयं दब गये। बुद्ध विजयी हुये। तदन्तर वहां इन्हे प्रज्ञालाभ हुआ जिस का इन्हों ने अपने शिष्यवर्ग में प्रचार किया। तदारभ्य उस तरु का नाम वोधितरु और कुमारसिद्धार्थ का नाम " बुद्ध " पड़ा। इस स्थान से ये वनारस पहुँचे। तब से इन्हों ने जनता को उपदेश देना आरम्भ किया।

## बुद्ध का धर्मोपदेश और सफलता के कारण

अब इनके वे पूर्व पाश्च साथी भी इन से आन मिले। तीन, चार, मास में इनके कोई ५०, ६० शिष्य हो गये। अब तो बुद्ध का प्रचार दिनदूना रातचौगुना बढने लगा। इन्होंने अपने शिष्यों को सर्वत्र प्रचार करने के लिये भेजा। अपने शिष्यों से ये यह कहा करते थे—

**कुरु धर्मं कुरु धर्मं प्रसारय धर्मध्वजाम्।**
**प्रताड़य धर्मदुन्दभीं प्रपूरय धर्मशङ्खम्॥**

धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करो, विश्वभर में धर्म की पताका उड़ाओ। नगारे की चोट से लोगों का मन धर्म की ओर आकर्षित करो। सर्वत्र धर्म का विजयशङ्ख बजाओ। काशी से बुद्ध फिर राजगृह पहुँचे। यहां का राजा विम्बसार और उसकी प्रजा बुद्ध को प्रथमतः श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। अतः यहां पर इनके उपदेशों का जनता पर पर्य्याप्त असर पड़ा। इस समय रुद्रक परलोक सिधार गये थे और महामुनि सुवेश जी दक्षिणभारत की यात्रा कर रहे थे। वहां पर बुद्ध के विचारों का विरोध करने वाला कोई भी न था। अतः वहाँ पर इन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। बुद्धसिद्धान्तों के शीघ्र फैलने में और भी बहुत से कारण थे। जिन में दो चार ये हैं-बुद्ध के अलौकिक त्याग पर सर्वसाधारण जनता मुग्ध हो रही थी। आजतक किसी क्षत्रिय ने ऐसे विचारों का प्रचार न

किया था। अतः क्षत्रियों की इनके साथ वैसे भी जातिसहानुभूति थी। ब्राह्मणों में आलस्य आ जाने के कारण वैदिकसिद्धान्तों में लोगों की अरुचि सी हो गई थी। अतः वे तो एक सहारा ही ढूँढते थे। बुद्धने जब वेदों के विरुद्ध आवाज उठाई तो जनता एकदम इन की शरण में आ गई। वैदिकधर्म की उदारता और बुद्ध की अद्भुत सहनशीलता का भी उस की सफलता में गहरा हाथ है। सुवेशमुनि के अलौकिक चमत्कारों से प्रभावित नरेशों की भिक्षुओं पर अगाध श्रद्धा थी। बुद्ध भी भिक्षुक के वेश में प्रचार करते थे। अतः वे जो कुछ कहते जाते लोग उसे मानते जाते थे। आरम्भ में बुद्ध ने अवध और विहार में प्रचार किया। अवध के राजा प्रसेनजित अपनी राजधानी श्रावस्ती में बुद्ध को ले गये। भिक्षुकों के रहने के लिये उसने अपने राज्य में अनेकों विहार बनाए। बुद्ध एकवर्ष में आठ मास भ्रमण करते और चारमास एक स्थान में ही विताया करते थे। इस समय विम्बसारादिक कई एक नरेश बुद्ध के शिष्य बन चुके थे। अपनी जन्मभूमी कपिलवस्तु में बुद्ध भिक्षुक के वेश में गये। इनके इस वेश ने इनके परिवार के हृदय पर गहरा असर डाला। परिणाम यह हुआ कि सारा परिवार इनका शिष्य बन गया। इस तरह बहुत से नरेशों के इधर आजाने से बुद्धधर्म की बहुत उन्नति हुई।

## बौद्धधर्म के तूफान में वैदिकजनता

प्रभुता होते ही मद का आना स्वाभाविक है। अब बौद्धों की ओर से वैदिकधर्म के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला प्रचार होने लगा। अबतक तो वेदानुयायी लोग यही समझते रहे कि हमारे षड्दर्शनों की भाँति बुद्ध के भी स्वतन्त्र दार्शनिकविचार हैं। क्योंकि बुद्ध वेदोक्तत्याग और अहिंसा के सिद्धान्त पर अधिक विश्वास रखते थे। संभव है इन्हीं के कारण वैदिकधर्मी इन्हें अपना समझते रहे हों। यह बात तो सन्देहास्पद है कि बुद्ध दूसरों के धर्म का प्रतिवाद करते थे, हां, उनके अनुयायियों में यह दोष अब निस्सन्देह आगया था। इससे वेदानुयायी जनता दुखित होने लगी। इस समय बुद्धधर्म में बहुत से नरेश दीक्षित हो चुके थे। अतः तब बुद्ध धर्म से टक्कर लेना कोई आसान काम न था। विहार और अवध के नरेश प्रायः सारे ही बौद्ध हो चुके थे। अन्यप्रान्तों के राजालोग इस धार्मिक आन्दोलन से अपरिचित थे। सहसा किसी वैदिकधर्मी का कहा मान कर वे बौद्धनरेशों से भिड़ने को तैयार न थे। संभव है अन्य प्रान्त के महाराजों पर भी बुद्ध के त्याग का पर्य्याप्तप्रभाव पड़ा हो, जिस से वे बुद्धधर्म का प्रतिवाद करने को तैयार न थे। एक बात यह भी थी कि बुद्धधर्म में दीक्षित नरेशों का परस्पर एक संघ बन गया। अतः उन पर किसी अकेले राजा का हाथ उठाना अपनी मृत्यु मोल लेना था। इस समय वैदिकजनता को निराशा ने क्षुब्ध-सा कर रक्खा था। वह ऐसी व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव कर रही थी जो अपने अलौकिक चमत्कारोंद्वारा बुद्धधर्म में दीक्षित नरेशों पर अपना सिक्का जमा कर बुद्धराजसंघ के अभेद्य दुर्ग को छिन्नभिन्न कर दे। अपनी अद्भुत वाग्शक्तिद्वारा बौद्धों के निरन्तर अनर्गलप्रलाप को बन्द कर दे। शीघ्र ही ऐसा यत्न करे जिससे नवयुवकों के श्रद्धासौरभमय हृदयप्रसून बौद्धों के प्रचण्ड-कुतर्क-घर्म-पात से मुर्झाने न पाएँ। सोचते सोचते लोगों के मन में सुवेशमुनि का स्मरण आया, तमाम लोग एकस्वर से कह उठे,

"हां, इस समय बुद्धधर्मरूपी गहरेसागर में डूब रही वैदिकधर्म की नैया के कर्णधार बनने के योग्य केवल पूज्यपाद सुवेशमुनि ही हैं। जब अन्वेषण किया गया तो पता चला कि वे तो दक्षिणभारत की यात्रा कर रहे हैं। किसी न किसी तरह यह दुःख-समाचार उनके पास पहुँचाया गया कि आपके पूर्वजों के तरह तरह के परिश्रमों द्वारा आजतक सुरक्षित वैदिकवाटिका आज बौद्धोंद्वारा उजाड़ी जा रही है। बिना किसी नेता के हम कुछ करने में असमर्थ हैं। अतः शीघ्र आ कर वैदिकपताका को हाथ में लेकर उसे अपने नेतृत्व से अलंकृत करें। सुवेशमुनि उनदिनों में समुद्रतट पर घूम रहे थे। समुद्र के प्राकृतिकदृश्यों से परमात्मा की अगाध माया का साक्षाद्दर्शन कर रहे थे। मुनिजी का विचार समुद्र तीरपर ही एक कुटिया बना कर कुछ दिन निवास करने का था, परन्तु यह दुःखमय समाचार पाते ही मुनि को समुद्र के ये अद्भुत दृश्य त्याग देने पड़े। वहाँ से वे सीधे उत्तर भारत की ओर चल पड़े। कुछदिन की यात्रा के बाद राजगृह में राजा बिम्बसार के यहाँ आ टिके। मुनि का आगमन सुन राजा बिम्बसार अपने बेटे अजातशत्रु के साथ वहाँ मुनि के दर्शनार्थ आए।

## अजातशत्रुशिक्षण

सुवेशमुनि यहाँ पर वर्षों बाद पहुँचे थे। अतः दर्शनार्थ उत्सुक जनता की हरसमय भीड़ लगी रहती थी। एक सप्ताह तो इसी तरह बीत गया। मुनि बैठे बैठे लोगों के भावों की जाँच करते रहते थे। उन्होंने समझा कि वातावरण पहले से सर्वथा प्रतिकूल हो चुका है। वैदिककर्मपद्धति की तो बात दूर रही लोग ईश्वरास्तित्व में भी सन्देह करने लग पड़े हैं। मुनिजी ने इस भयङ्कर दृश्य को देख कर मन ही मन खेद प्रकट किया। वे पूर्ण उत्साही थे। उन्हें अपने योगबल पर पूरा भरोसा था। उनके त्याग का भी जनता पर पर्याप्तप्रभाव था। मुनिजी ने वैदिकधर्म की रक्षा करने की मन में ठान ली। उन्होंने वृद्धनरेशों से कुछ कहना सुनना अच्छा न जान कर, नवयुवक अजातशत्रु के हृदय में वैदिकधर्म के गौरव को चित्रित कर दिया। तदनन्तर बुद्धधर्म के शिक्षक, राजकुमार को वेदविरुद्ध अनेक कुतर्क सिखाते परन्तु सुवेशमुनि का दर्शन करते ही राजकुमार की तमाम शङ्काएँ दूर हो जातीं। मुनि का यत्न फला और फूला, अजातशत्रु के मन में वेदों के लिये अनन्यश्रद्धा जागृत हो उठी। अतएव उसे बुद्ध धर्म पर कुछ घृणा सी हो गई। अपनी राजधानी में वह बौद्धभिक्षुओं को देखना भी पसन्द न करता था। अतएव बुद्धधर्म में दीक्षित अपने पिता बिम्बसार के साथ वैदिकधर्मी राजकुमार अजातशत्रु का मन ही मन वैमनस्य हो गया। यह समाचार बुद्ध को भी ज्ञात हो गया। बुद्ध ने अपने २० वें चतुर्मास्य को वहां किसी तरह समाप्त कर भविष्य में प्रत्येक चतुर्मास्य को श्रावस्ती में बिताना अच्छा समझा। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित के पुत्र विरूधक सुवेशमुनि के उपदेशों से वैदिकधर्म में अनन्यश्रद्धा रखते थे। अतएव उसने अपने पिता को बुद्धधर्म का सहायक समझ कर राज्यसिंहासन से अलग कर दिया। बुद्ध को श्रावस्ती भी छोड़ देनी पड़ी और वे कपिलवस्तु को चल दिये।

## देवदत्त का आत्मबलिदान

बुद्ध का चचेराभाई देवदत्त, जो एकवार बुद्धधर्म में दीक्षित हो चुका था, सुवेश मुनि के प्रभावशाली उपदेशों से वैदिकधर्म की शरण में आ गया। वह देवदत्त वैदिकधर्मियों का नेता बना। और उसने अपने प्रियधर्म की रक्षा के लिये प्राण-पण से चेष्टा की। सुवेशमुनि के तपोबळ और त्याग का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि लोग बुद्ध से भी अधिक इन्हें मानने लगे। अतएव वृद्धावस्था में बुद्ध को नीचा देखना पड़ा। पाठक ! कितने खेद का विषय है-इसीसमय देवदत्त के श्रद्धेय पथ-प्रदर्शक सुवेशमुनि ब्रह्मलोक की यात्रा कर गये। अव सारा काम अकेले देवदत्त के कन्धों पर आन पड़ा। जिससे वह व्यग्र हो उठा। वीच में उसे अधिककार्य करने के कारण ज्वर आने लगा। वह रुग्णावस्था में भी पूर्ववत् कार्य में भाग लेता रहा। परिणाम यह हुआ कि ज्वर ने भयङ्कररूप धारण कर-लिया। अन्त में ज्वर राजयक्ष्मा में वदल गया। उसने वैदिकधर्म के प्रेम के आगे इस असह्य व्यथा को कुछ न समझा। वह अपने कार्यक्षेत्र में आगे पाओं वढाता ही गया। जिससे नवीन बुद्धधर्मियों के हृदय चिन्तित और क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने तपस्वी देवदत्त को कहीं अकेले जङ्गल में पाकर हाथ-पाओं बाँध कर किसी तालाव में फेंक दिया। वैदिकधर्म की रक्षा के लिये देवदत्त ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। इस षड्यन्त्र में वहुत कम मनुष्यों ने भागलिया और इसका पता बुद्ध भगवान् को भी न था। वैदिकधर्मी भी इस षड्यन्त्र का पता न लगा सके। इस गुप्तबलिदान का यह फल हुआ कि बुद्धधर्म की बढती हुई धारा एकदम रुक गई। लोगों की बुद्ध से श्रद्धा उठ गई। लोग उन पर तरह तरह के लाञ्छन लगाने लगे। यहाँतक कि मार्ग में चलते समय वे अपनी निन्दा भी सुना करते थे।

## बुद्ध का परलोक गमन

अव बौद्धों ने अपने वल का ह्रास देख कर वैदिकसिद्धान्तों पर टीका टिप्पणी करना छोड़ दिया। अतः धार्मिक सिद्धान्तों पर अव कोई विवाद का अवसर ही न रहा। इस के इलावा, सामाजिक प्रथाओं में अभीतक कोई अन्तर आया हो न था। इसलिये उदार वैदिकधर्मियों ने बौद्धभिक्षुओं को पुनः प्रेमदृष्टि से देखना आरम्भ किया। कुछ समय के लिये फिर परस्पर प्रेम की स्थापना हुई। वैदिकधर्म के परम श्रद्धालु राजा अजातशत्रु भी वैदिकधर्म की निन्दा छोड देने के कारण बौद्ध भिक्षुओं को प्रेम की दृष्टि से देखने लगे। अतएव बौद्धभिक्षु फिर राजगृह में आने जाने लगे। बुद्धधर्म की धारावरोध के कई कारण थे:-बौद्धों के वैदिकधर्म की निन्दा करने के कारण वैदिकधर्मियों का इन की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा होना, बौद्धभि-क्षुओं का स्त्रियों के साथ अधिक सहचार वढाना, निदर्शनार्थ, वैशाली की वेश्या आम्रवाली और कौशाम्बी की राणी श्यामवती के यहाँ निमन्त्रित हो कर जाना, और चिञ्चादि दुश्चरित महिलाओं का सायंसमय भिक्षुकसङ्घ में उपदेश सुनने आना। बौद्ध धर्मोपदेशकों में आहारशुद्धि का भी सर्वथा अभाव होना। उदाह-णार्थ-चुन्द नामक कर्मकार के यहाँ भिक्षुसङ्घ के आगे सुअर का मांस परोसा जाना प्रभृति। अन्त में इसी मांस के खाने के कारण बुद्ध का स्वास्थ्य बिगड़ गया

और वे ८० वर्ष की आयु में परलोकसिधार गये। बुद्धधर्म की स्थापनार्थ बुद्ध को बड़े बड़े कष्ट झेलने पड़े। बुद्ध नया धर्म स्थापित करना चाहते भी न थे; परन्तु उनके अनुयायी भिक्षुक सङ्घके नवीनधर्मस्थापना के अधिकानुराग ने उन्हें ऐसा करने के लिये वाध्य किया। बुद्ध का अन्तिमरात्री आनन्दनामक शिष्य को धैर्य दिलाने में व्यतीत हुई। बुद्ध के अन्तिम शब्द ये थे-" आनन्द ! अपनी स्वतन्त्रता के लिये सदा सयत्न रहो।"

## वैदिकधर्म के नेता

बुद्धधर्म का इतिहास लिखते समय इतिहासलेखकों ने प्रायः इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि सहसा बुद्धधर्म के आक्रमण को वैदिकधर्मियों ने कैसे रोका। वैदिकधर्मियों की ओर से अवश्य ही उसका प्रतिवाद हुआ होगा। ऐसी स्थिति में यह विचार भी उत्पन्न हुये विना नहीं रह सकता कि वैदिकधर्मियों के नेता कौन थे। इतिहासों में नितान्तान्वेषण करने पर भी हमें कोई ऐसी व्यक्ति नज़र नहीं आती जिसने उस समय नेतृत्व ग्रहण किया हो। हां, यदि कोई व्यक्ति उस समय अपने तन, मन, धन से वैदिक धर्म की रक्षा करती हुई दृग्गिोचर होती है तो वे सुवेशमुनि ही थे। इन्हीं के प्रशंसनीय उद्योग से वैदिकधर्मियों का अच्छा संगठन हो गया था। राजकुमार अजातशत्रु, धर्मवीर देवदत्त, अवध के राजकुमार प्रभृति अनन्त वैदिकधर्मी स्वधर्मरक्षा के लिये मैदान में निकल आए थे। हमें यहाँ खेद से लिखना पड़ता है कि वैदिकजनता ने उन धर्मवीरों के महान् उपकारों को भुलाकर कृतघ्नता का परिचय दिया है; बौद्धों ने उन धर्मवीरों के पवित्रचरित्र छिपाने की चेष्टा करते हुये देवदत्त के ऊपर अनन्त अनुचित लाञ्छन लगाए। अजातशत्रु को फिरसे बौद्ध होने का कलङ्क लगाया गया। पक्षपातपूर्ण लेखप्रणाली का अनुसरण करते रहना ऐतिहासिकों के सत्य और असत्य के निर्णय में प्रतिवन्धक होता है। यावत् मक्षिकास्थाने मक्षिकापात की शैली का अनुसरण होता रहेगा तावत् इतिहास की पवित्रकीर्ति कलङ्कित होने से सुरक्षित नहीं समझी जा सकती। अतः इतिहासलेखकों का यह प्रथमकर्तव्य है कि वे दूसरों की नकल पर ही सन्तोप न करें, परमात्मा ने उन्हें बुद्धि इसीलिये दी है कि वे " हंसो यथा क्षीर-मिवाम्बु मध्यात् " के अनुसार दूधका दूध और पानी का पानी अलग कर जनता के आगे रखदें।

## त्रिपिटकसंग्रह और बौद्धसभाएँ

बौद्धों के धार्मिकनियमों की निश्चित रचना के लिये प्रधान चार सभाएँ हुईं। प्रथम काश्यप के आधिपत्य में राजगृह में हुई। इस सभा का प्रधान कार्य "*त्रिपिटक" सङ्ग्रह था। उक्तसभा में अजातशत्रु ने उन्हें कुछ सहायता दी थी। इस समय अजातशत्रु की बुद्धधर्म से शत्रुता कम हो गई थी। इसी वात के आधार पर इतिहासलेखकों ने उसका फिर बौद्ध होना लिखा है। परन्तु यह वात असंभव है कि जो अजातशत्रु वैदिकधर्म के नाते से बुद्धधर्म के सहायक

* बौद्धों का एक धार्मिक ग्रन्थ। वे इसे बुद्ध की रचना मानते हैं। बौद्धों की चारों सभाओं में इसके चार संस्करण हुए।

अपने पिता का भी अनादर कर सकता है। क्या वह बिना किसी विशेष घटना के बुद्धधर्म में दीक्षित हो सकता है? कश्यप के कथन से उक्तसभा में आए हुये बौद्ध भिक्षुओं के अन्नादिका प्रबन्ध करना अजातशत्रु की उदारता का चिन्ह है। उदारता तो वैदिकधर्मियों की पैतृक सम्पत्ति है। क्या आजकल हिन्दू अन्यधर्म की संस्थाओं को सहायता नही देते? क्या वे केवल सहायता देने से, उसधर्म के अनुयायी हो जाते हैं? कहना पड़ेगा नहीं।

अजातशत्रु के पश्चात् कई एक नरेश बुद्धधर्म के प्रतिकूल हो गये। अतएव बुद्धधर्म की उन्नति का रुक जाना हमारे पूर्वोक्त विचार का और भी पोषक है। हमें यह लिखते समय हर्ष होता है कि "इतिहासतिमिरनाशक" के निर्माता राजा शिवप्रसाद ने हमारे विचारों का साथ दिया है। उन्होंने अजातशत्रु का बौद्ध होना नहीं माना। केवल अन्तमें बुद्धधर्म से उसका विरोध कम होना ही स्वीकृत किया है, जिससे बुद्धदेव को मगध में फिर जाने का मौका मिला।

प्रथमसभा से सौ वर्ष बाद वैशाली में बौद्धों की दूसरी सभा हुई। इसमें सातसौ भिक्षुक इकट्ठे हुये। इस समय परस्पर मतभेद हो जाने के कारण बुद्धधर्म १८ शाखाओं में विभक्त हो गया। तीसरी सभा सम्राट् अशोक के समय हुई। जिसमें सहस्र भिक्षु इकट्ठे हुए। अशोक ने इससभा में त्रिपिटक का पुनः संस्करण किया। इसके तृतीय संस्करण को बौद्ध "हीनयान" कहते हैं। चौथी सभा सिथीयनजाति के राजा कनिष्क के शासनसमय काश्मीर में हुई। इसमें ६०० विद्वान् इकट्ठे हुए। अबकी बार "त्रिपिटक" का संस्कृतभाषा में अनुवाद हुआ। इस संस्करण का नाम "महायान" हुआ। अशोक के उद्योग से 'हीनयान' का प्रचार दक्षिणभारत में हुआ और कनिष्क के उद्योग से महायान का प्रचार उत्तरभारत तथा तिब्बतादि देशों में हुआ। मत्स्यपुराणादि के भविष्यराजवंशवर्णन में अजातशत्रु का बौद्धहोना नही लिखा। जिससे पता चलता है कि उदासीनमुनि सुवेश के शिष्य अजातशत्रु अन्ततक वैदिकधर्मी रहे। आगे इसके वंशधर भी उदासीनमुनियों से गुरुमन्त्र लेते रहे। अजातशत्रु का पौत्र राजकुमार उदय उदासीन मुनियों का अनन्य भक्त था। उदासीनमुनियों के प्रभाव से ही अजातशत्रु के वंशधर उसके पीछे बौद्धों के चङ्गुल में न फँसे। इतिहासावलोकन से पता चलता है कि उदासीनमुनियों का बौद्धों से सङ्घर्ष होता ही रहता था। कारण यह था कि उदासीनमहात्मा आरम्भसे आजतक वेदों को ही अपना सर्वस्व मानते आए हैं; क्योंकि ये चतुर्थाश्रम की श्रौतशाखा में से हैं। अतः ये वेद पर किये गये प्रहार को सहार नही सकते थे। बौद्धों से इनका कोई स्वाभाविक द्वेष न था। केवल इतना ही कि वे वेद की निन्दा करते थे और हिन्दुत्व को मिटाना चाहते थे। उदासीन इसका विरोध करते थे। यद्यपि अन्य जनता पर बाद में भी बुद्धधर्म का प्रभाव कुछ कुछ पड़ रहा था, परन्तु राजकुमार उदय पर इस का तनिक भी प्रभाव न पड़ा। वह अपने पूर्वजों की भाँति उदासीनों का ही चरणसेवक बना रहा। राजकुमार उदय विवाद उपस्थित होने पर उदासीनमहात्माओं के सिद्धान्तों को ही अधिक महत्त्व देता था। अतः लोग उसे उदासीन कहते थे+। इतिहासलेखकों ने इसे

+देखिये, भारतवर्ष का इतिहास (मिश्रबन्धु) द्वितीय खण्ड, अध्याय २२, पेज ९० द्वितीय संस्करण।

साधारण बात समझ कर इसकी उपेक्षा कर दी। अन्वेषण करने से इसके द्वारा बहुत सी ऐतिहासिक भ्रांतियाँ दूर होती हैं और बहुत सी वास्तविक घटनाओं का पूरा पूरा पता चल जाता है। उदाहरणार्थ—अजातशत्रु का बौद्ध न होना, उसके पीछे उदासीनमुनियों के उपदेशों से प्रभावित बहुत से नरेशों की प्रतिकूलता में बुद्धधर्म का बजाय उन्नत होने के अवनत होना, चतुर्थाश्रम की श्रौत उदासीन शाखा का सप्रमाण होना प्रभृति। तात्पर्य यह है कि इतिहास के छोटे से छोटे संकेत भी बहुत अर्थ रखते हैं। जिनको इतिहासलेखक बहुधा उपेक्षा कर दिया करते हैं। यही कारण है, इतिहास सत्य की मूर्ति न बन कर एक भूल का पर्वत बन जाता है। पाठक सुवेशमुनि के चरितामृत का पान कर चुके हैं। इसीके अन्तर्गत जैन और बुद्धधर्म से भी कुछ परिचित हो ही गये हैं। यहाँ पर जैन और बौद्धों में जो परस्पर विशेषताएँ हैं, वे सङ्क्षेपतः लिखी जाती हैं।

## जैन और बौद्धों में भेद

जैन और बौद्ध वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते। यज्ञ से घृणा करते हैं और अहिंसा पर जोर देते हैं। दोनों के धर्मशास्त्र और धार्मिकप्रथाएँ भिन्न भिन्न हैं। जैन अपने तीर्थङ्करों को मानते हैं और बौद्ध बुद्धभगवान् की पूजा करते हैं। जैन अपने शास्त्रों को अङ्ग कहते हैं और बुद्धधर्मग्रन्थों का नाम त्रिपिटक है। बौद्ध, बुद्ध, धर्म, सङ्घ इन पर जोर देते हैं। जैन भक्ति, बुद्धि, सदाचार पर अधिक अवलम्बित होते हैं। बौद्ध जैनियों की तरह नग्नरहना, भूखे रह कर शरीर को सुखाना, तपस्या, और व्रतादिकों को आवश्यक नहीं समझते। सारांश यह है; इनकी कई एक बातों में समानता है, और बहुत से विषयों में मतभेद तथा स्वतन्त्रतभेद है। बहुत सी बातें ऐसी भी हैं, जो इन्हों ने हिन्दुओं से ली हैं यथा—जैनियों के श्रावक और मुनि, और बौद्धों के उपासक और श्रमण हिन्दुओं की ऋषि और मुनि शाखाओं का अनुकरण मात्र है।

## "सुयत्न मुनि"

यह बात हम पहले लिख आए हैं कि हिन्दुजाति जबतक वेदों की आज्ञा का पालन पूर्णतया करती रही, तबतक किसी विदेशीशक्ति का इस की ओर आँख उठाकर देखने का साहस तक नहीं हुआ। जैन और बौद्धों के विषैले प्रचारों से जब भारत का वातावरण कलुषित हो गया, तब विदेशी शक्तियों ने आपस में संगठन कर भारत पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। सच पूछो तो, यह वेदकी अवज्ञा का ही फल था। जब कोई देश या जाति प्रमादतः कोई महान् पापकर बैठती है, तो उसे उसका कटुफल भोगना ही पड़ता है। पूर्वकृत अक्षम्यपाप के कारण जब वह जाति दु:खसागर में गोते खारही होती है, तब चाहे कितने शुभचिन्तक उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणों पर खेल जायँ, परन्तु अपने पूर्वपाप का पूर्णप्रायश्चित्त उसे करना ही पड़ता है। आप पीछे पढ आए हैं, प्रतिशताब्दी में उदासीन महात्मा किसप्रकार हिन्दुजाति के लिये भाँति भाँति के आन्दोलन करते आए हैं। आप अभी पढ चुके हैं, बौद्धों के विषैले प्रभाव से हिन्दुओं को बचाने के लिये सुवेशमुनि ने अपनी जान लड़ा दी। यह काम यहाँ पर ही समाप्त नहीं हुआ। आगे उनके शिष्यगण भी उसी उद्देश्य को सामने रखकर प्रचार का काम करते ही रहे हैं।

## उदासीनसाधुओं की तपश्चर्या का सिकन्दर पर प्रभाव

बुद्ध के बाद बौद्धभिक्षुओं के दल के दल जहाँ तहाँ प्रचारार्थ घूमने लगे। तब सुवेशमुनि को शिष्यपरम्परा भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता में वैदिकधर्म का प्रचार करती रही। सुवेशमुनि से सुयत्नमुनि तक सातमुनि हुये। सुयत्नमुनि लोकपाल-मुनि के शिष्य थे। इन्होंने धर्मप्रचारार्थ एक नया ही मार्ग ढूँढ निकाला। वह यह था कि इन्होंने उदासीनमुनियों के भिन्न भिन्न मण्डल बनाए। एक एक संघ भ्रमण-व्याज से एक एक प्रान्त में प्रचार का काम करता था। सुयत्नमुनि जी अधिकतया इन बातोंपर जोर देते थे-तप, तत्त्वविज्ञान, और स्वतन्त्रता। इनके संघ भी लोगों का उक्तबातों पर ही अधिक ध्यान दिलाते थे! इतना यत्न होने पर भी भारत को दुर्भाग्य ने आ घेरा। सुयत्नमुनि के दिनों में मगध का शासन महापद्मनन्द के हाथ में था। इसीसमय महान् सिकन्दर भारत में आया। उनदिनों में झेलम और सिन्धु नदी के बीच के देश का राजा पुरु था। जब सिकन्दर सिन्धु को पारकर भारत में प्रविष्ट हुआ तो पुरु ने अपने सैन्यदलबल से सज्जित हो कर सिकन्दर का सामना किया। राजा पुरु एक वीर योद्धा था। उसकी सेना ने यूनानी सेना के दाँत खट्टे कर दिये। इतना करने पर भी विजयलक्ष्मी पुरु पर प्रसन्न न हुई। लड़ते लड़ते राजा पुरु के शरीर में ९ गहरे घाव लगे। अन्त में पुरु हार गया और विजयलक्ष्मी ने सिकन्दर को वर लिया। पुरु सिकन्दर के अधीन हो गया। सिकन्दर आगे बढा। सियालकोट होता हुआ व्यासानदी तक पहुँचा। वहाँ पर कई लेखकों ने लिखा है कि सिकन्दर की सेना ने बहुतलम्बी यात्रा का थी, अतएव थक जाने के कारण सैनिकोंने आगे बढने से इन्कार कर दिया; जिससे सिकन्दर के मन पर गहरी चोट लगी। यहाँ इतना अवश्य विचारना चाहिये कि जिस लम्बी यात्रा के कारण सिकन्दर के सैनिक व्यासनदी पर आकर थक गये थे, क्या वही लम्बी-यात्रा वापिस लौटने में उनके आगे न थी? अतः मानना होगा कि उनका पीछे लौटने का हेतु कोई और रहा होगा। वह यह कि सिकन्दर के सैनिकों ने राजापुरु के सैनिकों से ही भारत के बल का अनुमान लगा लिया होगा। अतः विफलता के भय से उन्हों ने लौटजाना ही अच्छा समझा। यहाँ से १० मास में सिकन्दर फारस पहुँचा। जून, ३२३ ई० पू० में, बेबीलोन नगर के पास ३२ वर्षकी अवस्था में उसने अपनी मानवलीला समाप्त की। यह बड़ा वीर और साहसी योधा था। इसने ई० पू० ३३४ से ३३१ तक, तीनवर्ष में एशियामाइनर, सीरिया, मिश्र और ईरान प्रभृति देशों को अनायास जीत लिया। भारतविजय की इच्छा इसके अभी मनमें ही थी कि मृत्यु ने आन गला दबाया। जिनदिनों में सुयत्नमुनि के साधुसंघ जहाँ तहाँ अपने तपोबल द्वारा लोगों को अलौकिकचमत्कार दिखा कर उनके मन को वैदिकसिद्धान्तों की ओर आकर्षित कर रहे थे, उन्हीं दिनों में पुरु और सिकन्दर की झेलमनदी के पास मुठभेड़ हुई। सुयत्नमुनि का एक साधुसंघ, जो पञ्जाब और सिन्ध में जहाँ तहाँ वैदिकसिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ, तप, तत्त्वविज्ञान और स्वतन्त्रता का उपदेश करता था, और इसलिये जिस का जनता पर लोकोत्तर प्रभाव था सिकन्दर को मिला था। सिकन्दर ने इस संघ के साधु-ओंकी आध्यात्मिकशक्तियों के चमत्कार और विलक्षण तपश्चर्य्या की प्रशंसा अपने

सैनिकों के मुख से सुन कर उनके दर्शनार्थ उत्कट अभिलाषा प्रगट की। उन महात्माओं को लाने के लिये सिपाही भेजे गये महात्माओं ने अपने आसन से उठकर जाने से इन्कार कर दिया। तब साश्चर्य होकर सिकन्दर स्वयं वहाँ पहुँचा। महात्माओं की तपश्चर्य्या, निर्भयता और निस्स्पृहता का सिकन्दर पर बड़ा असर हुआ। इसी मण्डली के दो साधु सिकन्दर को तक्षशिला में मिले। इनमें से एक जटिल और दूसरा परमहंस था। ये दोनों दिनभर तप करते रहते थे। दूर २ से लोग इनके दर्शनार्थ आया करते थे। इनमें से एक का नाम कल्याणश्रमणाचार्य्य था। जाते समय सिकन्दर इसे अपने साथ ले गया।

## उदासीनमुनि कल्याणश्रमणाचार्य्य

कल्याणश्रमणाचार्य की विचित्रघटना यहाँ संक्षेपतः लिखी जाती है। जिससे उससमय के भारतीयों की विलक्षण आरोग्यता तथा लोकोत्तर आत्मशक्तिका अनायास अनुमान लगाया जा सकता है। जब सिकन्दर फारस पहुँचा तो जलवायु के परिवर्तन से श्रमण को ज्वर ने आन घेरा। ज्वर इतने भयङ्कर रूप में आया कि उसे अपने शरीर से ग्लानि हो गई। तब उसने अपने शरीर त्यागने की इच्छा सिकन्दर के आगे प्रकट की। सिकन्दर उसकी इस इच्छा से चकित-सा हो गया। और उसे इस आत्मत्याग से आग्रहपूर्वक रोकने लगा। तब कल्याणश्रमणाचार्य ने मुस्करा कर कहा-आप किसी प्रकार का खेद प्रकट न करें। हमारे मत में शरीर का कोई महत्त्व नहीं। यह एक वस्त्र के समान है। समय समय पर बदलता ही रहता है। अब मैं वृद्धावस्था में पहुँच चुका हूँ। आज तक मुझपर कभी किसी रोग का आक्रमण नही हुआ। मेरे इस ज्वर ने सूचना दे दी है कि मेरा शरीरमन्दिर अब आत्मासम्राट के निवास योग्य नही रहा। अब मैं इस चोले का त्याग करना चाहता हूँ। अतः मुझे साधु की सच्चीमृत्यु मरने दिया जाय। तब वहाँ चिता तैयार करा दी गई। और उदासीन महात्मा कल्याण श्रमणाचार्य गले में फूलों के हार पहन कर उच्चस्वर से वेदमन्त्र गाता हुआ चिता की धधकती हुई भयङ्कर वन्हि-ज्वालाओं में जा बैठा। समाधिद्वारा ब्रह्मलीन होकर विनश्वर शरीर को अग्नि की भेंट कर दिया। धन्य हैं, ऐसे उदासीनमहात्मा जिनके विचित्रादर्श के श्रवणमात्र से हृदय पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसे महात्मा के दर्शन से सिकन्दर के मन पर कैसा प्रभाव पड़ा होगा। कई एक इतिहास लेखकों ने उसे ब्राह्मण लिखा है। इस विषय में वे भूल करते हैं। संस्कृत भाषा के नियमानुसार जो ब्राह्मण चतुर्थाश्रमी हो जाय वह श्रमण कहलाने का अधिकारी हो सकता है। ऐतिहासिक वैदिकधर्म के लिये प्रायः ब्राह्मण धर्म का प्रयोग करते हैं। संभव है, वैदिकधर्मानुयायी होने के कारण श्रमणाचार्य को उन्होंने केवल ब्राह्मण लिख दिया हो। उनकी श्रमणाचार्य उपाधि से उनका चतुर्थाश्रमी होना तो असन्दिग्ध है। उन्हें बौद्ध या जैन भी नही कहा जा सकता, क्योंकि ऐतिहासिकों ने उन्हें ब्राह्मण लिखा है। अतः उनका वैदिकधर्मी होना स्फुट है। उन्हें स्मार्त्तचतुर्थाश्रमी ( संन्यासी ) भी नहीं कह सकते, क्योंकि उन के नियमानुसार उनमें दाहप्रथा नहीं है। अतः उसे श्रौतचतुर्थाश्रमी (उदासीन) मानना ही युक्तियुक्त है। श्रौतचतुर्थाश्रमियों (उदासीनों) में आजकल भी दाहसंस्कारप्रथा प्रचलित है।

## भारत में प्रजातन्त्रराज्य

जिनदिनों में सिकन्दर यहाँ आया था, तब यहाँ भारत के कई एक भागों में प्रजातन्त्र राज्य विद्यमान थे। इन राज्यों की प्रजा अधिक अमृतसर और लाहौर के जिलों में रहती थी। ये लोग बड़े लड़ाके थे। इन में राजा का चुनाव प्रजा स्वयं करती थी। लोग जिसे योग्य समझते उसे राजा मान लेते थे। कुछ दिन के बाद उसे हटा कर दूसरा बैठा दिया जाता था। सिकन्दर से पूर्व ये लोग एकवार पुरु को हरा चुके थे। इनके बालकों पर मातापिता का व्यक्तिगत अधिकार न होता था। सारे नवयुवक और युवक राष्ट्र की सम्पत्ति समझे जाते थे। विवाहसंस्कार स्त्री और पुरुष की अनुमति के अनुसार होता था। ये राज्य बौद्ध-काल से लेकर गुप्तवंश तक रहे। पाठक पीछे कल्याणश्रमणाचार्य की कथा पढ ही चुके हैं। ये सुयत्नमुनि के किसी संघ के एक साधु थे। सुयत्नमुनि ने इनकी तरह औरभी कई मुनिरत्न और वीररत्न पैदा किये। इन्हींके एकसंघ के सञ्चालक, वेदपारग, प्रतापवान् मुनि के शिष्य सुषेणमुनि थे। सम्राट्चन्द्रगुप्त ने इन्हींसे उदासधर्म की दीक्षा लीथी। विस्तृत घटना इस प्रकार है—

## सुयत्नमुनि और भारतसम्राट् चन्द्रगुप्त

हिमालयपर्वत के नजदीक एक "मौर्य" देश था। इसदेश का नाम मौर्य इसलिये पड़ा था कि वहाँ मोर अधिकता से पाए जाते थे+। चन्द्रगुप्त वहाँ का एक तेजस्वी होनहार राजकुमार था। धीरे धीरे इसकी वीरता की प्रशंसा सर्वत्र फैल गई। मगध के राजा महापद्मनन्द ने इसे मारने की ठान ली। क्योंकि उसे भय था कि कहीं चन्द्रगुप्त उसका राज्य न छीन ले। चन्द्रगुप्त को जब यह समाचार मिला तो वह अधिक चौकन्ना हो गया। चन्द्रगुप्त को अपनी वीरता पर पूर्ण भरोसा था; फिरभी मगधेश की ओरसे उसे चिन्तित रहना पड़ता था। इसी चिन्ता से बाध्य हो कर एकदिन चन्द्रगुप्त पञ्जाब को चल दिया। रास्ते में उसे सुयत्नमुनि का सङ्ग मिला। चिन्तित और घबराये हुये राजकुमार को मुनि ने आश्वासन दिया और उसे उसदिन वहाँ ही ठहरा लिया। राजकुमार मुनि से बारबार आगे जाने की आज्ञा देने का अनुग्रह चाहता था। मुनि ने चन्द्रगुप्त के चन्द्रप्रभ-मुख की ओर करुणामय-दृष्टि से देख कर कहा 'वत्स! सोच में क्यों पड़ा है। तुझे किस का डर है। प्रभु तुझे सम्राट् बनाने की धुन में हैं। देखना कुछही दिनों में कालचक्र क्या क्या रङ्ग दिखाता है, मुनिवाक्यों से राजकुमार में विलक्षणवीरता का सञ्चार हो गया। अब चन्द्रगुप्त का भय जाता रहा, और उसके मन में मुनि के प्रति श्रद्धा के भाव पैदा हो गये। उनदिनों में भारतीयजनता की मुनियों पर अनन्य श्रद्धा थी। मुनि के परामर्शानुसार चन्द्र-गुप्त तक्षशिला की ओर चल दिया। सिकन्दर के आक्रमण के समय वह वहीं पर था। अब सुयत्नमुनि की भविष्यवाणी ने फलोन्मुखी होना आरम्भ किया। कुछ दिन बाद राजकुमार तक्षशिला से वापिस लौटा और उसे अर्थशास्त्र के निर्माता विष्णुगुप्त उपनाम चाणक्य से पर्य्याप्त से अधिक सहायता प्राप्त हुई। उनदिनों में मगधनरेश महापद्मनन्द के मन्त्री कात्यायन थे। इनका अपर नाम वररुचि था।

+सम्भवतः मयूर का अपभ्रंश 'मौर्य' बन गया होगा।

इन्होंने ही व्याकरण-वार्तिक लिखा था। इन्हीं को बुद्धिमत्ता से ही नन्द शक्तिशाली अतएव अजेय हो रहा था। ऐतिहासिकों की धारणा है कि नन्द के विशाल सैनिक वल से त्रस्त हो कर सिकन्दर की सेना ने व्यासनदी से आगे जाने से इन्कार कर दिया था। नन्द के दूसरे मन्त्री शकटार ( उपनाम राक्षस ) थे, जो किसी कारण से असन्तुष्ट हो कर चन्द्रगुप्त से जा मिले। तब चन्द्रगुप्त ने पञ्जाब में रह कर वहुतसा सैनिकवल संगृहीत किया। अपने प्रधानमन्त्री चाणक्य की अनुमति से उसने नन्दवंशपर आक्रमण कर मगध का राज्य छीन लिया। ई० पू० ३२२ में चन्द्रगुप्त मगध के राज्यसिंहासन पर वैठा। मुनि के वरानुसार इस का राज्य तमाम उत्तरभारत में फैल गया और चन्द्रगुप्त ही भारतीय-श्रृङ्खलावद्ध-ऐतिहासिक-युग का आदि सम्राट् हुआ।

## सम्राट् से उदासीनमुनि

सुयत्नमुनि अपने मण्डल को साथ लिये घूमते घूमते और प्रचार करते करते राजगृह पहुँचे। यहाँ उनके पूर्वज सुवेशमुनि का एक पुराना स्थण्डल था। इसे उदासीनमुनि अपने पूज्यपूर्वज का स्मारक समझ कर श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे। इसी स्थान पर राजकुमार अजातशत्रु को सुवेषमुनि के उपदेश से वैदिकप्रकाश मिला था और पथभ्रष्ट देवदत्त को फिर से सन्मार्ग का ज्ञान हुआ था। इसी स्थान पर परधर्मों के आक्रमण से वचाने के लिये वैदिकधर्म की रक्षा का कार्यक्रम निर्धारित हुआ था। अतः इसे पवित्रस्थान समझ कर उदासीनमुनियों का प्रति तीसरे वर्ष पुरुषोत्तममास में यहाँ एक वृहत्सम्मेलन हुआ करता था। सभी मण्डलपति स्वधर्मप्रचार का विवर्णन महामण्डलपति की सेवा में निवेदन किया करते थे। सुयत्नमुनि उससमय के महामण्डलपति थे। वैदिकधर्म की रक्षा में अधिक भाग लेने के कारण इनका इसपद से युक्तहोना स्वाभाविक था। इस शुभावसर पर मुनि के आगमन का समाचार पाते ही चन्द्रगुप्त ने आकर मुनि के दर्शन किये। उदासीनमञ्जरी में लिखा है कि सारे मुनिसमाज को निमन्त्रित कर चन्द्रगुप्त पाटलीपुत्र लेगया। सम्राट्ने वहां उदासीनमुनियों की अनन्यश्रद्धा और भक्तिभाव से सेवा की। सम्राट् का सुयत्नमुनि से अपूर्वप्रेम था। उसकी आँखों के आगे मुनि की मूर्त्ति प्रतिक्षण रहती थी। कुछदिन वहाँ ठहर कर सुयत्न मुनि वहाँसे अपने मण्डल के साथ दक्षिणभारत को चले गये, और वहाँ ई० पू० ३०२ में सुयत्नमुनि ब्रह्मलीन हो गये। उनके स्थान में सुषेणमुनि महामण्डलपति वने। राजगृह के उदासीनमुनिसम्मेलन पर सम्राट् ने सुयत्नमुनि के परलोकगमन का दुःखमय समाचार सुना। इस घटना से सम्राट् के हृदय पर गहरी चोट लगी। " प्रभु की इच्छा तुझे सम्राट् वनानेकी है " मुनि के ये शब्द चन्द्रगुप्त के कानों में प्रतिक्षण गूञ्जते रहते थे। इससमय उसे मुनि का वह उपदेश भी स्मृत्यारूढ हुआ कि मनुष्य की आयु का तृतीयांश तपोऽर्जन का है। इस तरह के विचारों में सम्राट् ने दो वर्ष कठिनता से विताए। अन्तमें उत्सुकता इतनी वढगई कि ५० वर्ष की आयु से पूर्व ही सम्राट् ने सुषेणमुनि से उदास धर्म की दीक्षा लेकर गोदावरी के तटपर घोरतप करना आरम्भ किया। निरन्तर १२ वर्ष के तपके वाद योगसमाधिद्वारा प्राणविसर्जन किया। गोदावरी के तटपर यह वही स्थान था जहाँ उदासीनों के पूर्वज विधिदेवमुनि रहा करते थे।

## चन्द्रगुप्त वैदिकधर्मी क्षत्रिय था

संसार में नरेश अनन्त हुये और होंगे। किसी को सहसा पूर्णमहापुरुष नहीं कहा जासकता। शौर्य, प्रवन्धचातुर्य्य, और त्याग ये तीनों गुण जीवन को पूर्ण वनाते हैं। चन्द्रगुप्त में ये तीनों अपनी अपनी पूर्णावस्था में थे। नन्दों को राज्य-च्युत कर के, उत्तरभारत में उसका विशालराज्य स्थापित करना उसके अद्वितीय शौर्य का परिचायक है। उसकी प्रवन्धकुशलता का पता चाणक्यलिखित अर्थशास्त्रावलोकन से चलता है। ५० वर्ष की अवस्था में विशालसाम्राज्य पर लात मार कर साधुहोना उसके त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है। कई एक ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति महापद्मनन्द की उपपत्नी मुरा नाम्नी नापितजाति की स्त्री के गर्भ से वताते हैं। इसके वंश के "मौर्य" नामपड़ने में भी यही हेतु वताते हैं। लेकिन, अधिकान्वेषण करने से विद्वानों ने इसपक्ष को निर्मूल ठहराया है। साथ ही यह भी निर्धारित किया है कि ये क्षत्रियकुमार थे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। मैकक्रिण्डल साहिब भी इसी पक्ष से सहमत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि कुलीनकुमार में ही शौर्य्यादिगुणों का होना संभावित है। चन्द्रगुप्त का साधु और क्षत्रिय होना जैन-लेखकों ने भी माना है। परन्तु जैनों ने उसे ५० वर्ष की अवस्था में राजत्याग कर जैन होना लिखा है। और इतिहासवेत्ता "स्मिथ" ने भी ठीक ठीक घटना का पता न चलने से उसी पर विश्वास कर लिया। परन्तु जैनियों ने और उन्हीं के आधार पर लिखने वाले अन्य ऐतिहासिकों ने चन्द्रगुप्त का जैन होना लिख कर अक्षम्य भूल की है। ५० वर्ष की अवस्था में राज्य त्याग कर चन्द्रगुप्तका सुषेणमुनि से उदासधर्म की दीक्षा लेना "उदाससम्प्रदायमात्रा" में साफ लिखा है; जिसकी रचना १७ वीं शताब्दी के महापुरुष, दाक्षिणात्य-गुरुदास जी ने की है। वहाँ यह लिखा है—

**तिनके भये महाव्रतधारी। नाम सुषेणमुनि अधिकारी।**
**चन्द्रगुप्तनृप को उपदेशा। तजा राज सो भये रिखेशा।**

(उदाससम्प्रदायमात्रा)

चतुर्वेदपारग प्रतापवान्‌मुनि के शिष्य सुषेणमुनि के उपदेश से सम्राट् चन्द्रगुप्त राज्यत्याग कर साधु हो गये। पाठक! इस प्रमाण से स्फुट है कि चन्द्रगुप्त वैदिकधर्मी सम्राट् थे। उनका जैन होना तो कठिन ही नही असंभव है। चाणक्य जैसे वेदभक्त की दया से जो भारतसम्राट् वना हो; जिसका समस्त जीवन वैदिक धर्मियों के सहवास से किसी समय भी रिक्त न रहा हो। उसका सहसा जैन होने का लेख ऐतिहासिकों की दृष्टि में कभी आदरणीय नही हो सकता। कितने दुर्भाग्य की वात है। प्रथम तो भारत का इतिहास ही अधूरा है। उस पर भी पक्षपात की वीमारी लगी ही रहती है। अतः भारतीयइतिहास-रत्न का यथार्थ पता चलना कठिन ही नही असम्भव हो गया है। तटस्थ लेखक भी सत्यघटना के शीघ्र न मिलने के कारण, अन्वेषणशिथिलता से साम्प्रदायिकभावों से क्लुषितघटनाओं का ही अनुकरण करके, अपना पीछा छुड़ाने का यत्न करते हैं। हम पूर्वोक्त घटनाओं का यथार्थ स्वरूप उदासीनमञ्जरी तथा उदास-सम्प्रदायमात्रा की सहायता से पूर्णतया

समझ पाए हैं। जैसा प्रथम लिखा गया है, वैसा ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। सार यह है कि तम्राट् चन्द्रगुप्त वैदिकधर्मी और उदासीनों का सेवक रहा। अन्त में राज्य त्याग कर उदासीनसाधु बन गया था।

## " सुनयमुनि "

सुनयमुनि सुयत्नमुनि के शिष्य थे। अपने गुरु की भाँति इन्होंने भी हिन्दु धर्म की रक्षा का बीड़ा उठा लिया। ये मुनि प्रथम तपद्वारा पर्य्याप्त-शक्ति-संपादन कर लेते थे। जिससे कार्यक्षेत्र में उतरते ही उन्हें सफलता मिलती थी। उस समय चन्द्रगुप्त के देह-त्यागानन्तर पाटलीपुत्र के राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी उसका बेटा बिन्दुसार हुआ। इसका शासन २८ वर्ष तक रहा। बिन्दुसार भी अपने पिता चन्द्रगुप्त की तरह राजगृह के सम्मेलन में उदासीन भिक्षुकों का सप्रेम स्वागत किया करता था। इस के शासन काल में कोई उल्लेखनीय नैतिक या धार्मिक आन्दोंलन नहीं हुआ। ई० पू० २७५ ( वि० पू० २१८ ) में उदासीन महामण्डलपति सुषेणमुनि ब्रह्मलीन हो गये। तदनन्तर उनके स्थान पर उन्हींके समान, योग्य सुनय मुनिजी महामण्डलपति चुने गये। अन्य उदासीनमुनियों के द्वारा इतना उच्च पद मिलने पर, सुनयमुनिजी ने प्रसन्नता प्रकट की, केवल इसलिये कि अब वे पहले से अधिक हिन्दुधर्म का प्रचार कर सकेंगे। समस्त-उदासीन-धर्म-प्रचार कमण्डल-विभाग का और भारतभर के धार्मिक-आन्दोलनों का उत्तरदायित्व अब सुनयमुनि पर आपड़ा। अतएव वे अधिक गम्भीर और अपने विशाल-उत्तरदायित्व के अनुरूप किसी वृहत्कार्य करने की चिन्ता में व्यग्र रहने लगे।

### अशोक का बुद्धधर्मप्रचार

समय ने अपना रङ्ग बदला। ई० पू० २७३ ( वि० पू० २१६ ) में बिन्दुसार परलोक सिधार गये। मौर्यराज्यशासन की बागडोर अशोक के हाथ में आगई। लगातार चारवर्ष के घरेलू झगड़ों के मिट जाने के अनन्तर, राजकुमार अशोक का राज्याभिषेक हुआ। अशोक से वैदिकधर्मी बहुत आशाएँ रखते थे। क्योंकि आरम्भ में अशोक के धार्मिक विचार उसके पिता से भी बढ कर थे। ऐतिहासिकों ने लिखा है कि अशोक के यहाँ प्रतिदिन ६० हजार ब्राह्मण भोजन किया करते थे। एकदिन अशोक ने एक वृद्ध बौद्धभिक्षु को देखा, जो नगर से भिक्षा लिये और आँखें नीचे किये जा रहा था। जिसके दर्शनमात्र से प्रतीत होता था मानो साक्षात् शान्तरस है। अशोक ने उससे राजभवन में चलने की प्रार्थना की। उसने स्वीकार करली। राजभवन में उसे एक ऊँचे आसन पर बैठा दिया गया। उस श्रद्धेयभिक्षु का उपदेश अशोक के मनपर जादू का काम कर गया। परिणाम यह हुआ कि अशोक ने उस भिक्षु से बुद्धधर्म की दीक्षा लेली। यह घटना उसके राज्याभिषेक के तीन वर्ष बाद हुई। तदनु अशोक का बेटा महेन्द्र और उसकी बहन संघमित्रा दोनों ने बुद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इन्होंने ही बाद में लंका में जाकर, बुद्धधर्म का प्रचार किया। उससमय अशोक ने बुद्धधर्म के प्रचारार्थ तरह तरह के यत्न किये। एक महासभा की गई, जिसमें बौद्धधर्म के मन्तव्य निश्चित किये गये। इसकार्य के लिये राज्य का एक विशेषभाग निश्चित किया गया। ६४०० उप-

देशक तैयार किये; जो जगह जगह प्रचारार्थ भेजे गये। बौद्धधर्म की पुस्तकों का सुधार किया गया। अपने धर्म के प्रचारार्थ स्थान स्थान पर स्तम्भ लगवाए गये। मृतप्राय बुद्धधर्म में अशोक के राज्य में फिर जान आगई। जहाँ तहाँ बुद्धधर्म की पताकाएँ फहराने लगीं। सहसा बुद्धधर्म की इसक्रान्ति से वैदिकधर्मी जनता घवरा उठी। इनके धार्मिकउत्सवों में राज्यशासन की ओर से हस्ताक्षेप होने लगे। याज्ञिक प्रथाएँ वलात् वन्द करा दी गईं। वैदिकधर्मियों के छोटे से छोटे आन्दोलन का समाचार भी नियतकिये हुये गुप्तचरों द्वारा अशोक के कानों तक तत्क्षण पहुँच जाता था। अशोक नहीं चाहता था कि मेरे राज्य में वैदिकधर्मी चूँ तक भी कर सकें। तात्पर्य यह है कि तव वेदानुयायी जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण सर्वथा कर लिया गया। हिन्दुधर्म की नैया बुद्धधर्म के तूफ़ान में डामा-डोल होने लगी। किसी योग्य कर्णधार के विश्वसनीय आश्वासन के विना लोगों को इसके अस्तित्व में सन्देह होने लगा। यह वात केवल गृहस्थों में ही नहीं, उदासीनमुनियों के मण्डलों में भी निराशतापिशाची का नग्ननृत्य होने लगा। कतिपय चतुर्थाश्रमी बुद्धधर्म के राजकीय स्वागत देखकर बुद्धधर्म की शरण जाने लगे। उक्त तमाम घटनाओं ने सुनयमुनि के मनपर कोई अधिक प्रभाव न डाला। वास्तव में यह अवसर सुनयमुनि की परीक्षा का था। उनका हिन्दुधर्म पर अटल विश्वास था। निराशता उनके पास फटकने भी न पाई। वे अन्ततक वैदिकधर्म की रक्षा के लिये यत्न पर यत्न करते ही रहे। वे सर्वसाधारण जनता को आश्वासन देते समय कहा करते थे-मत डरो ! प्रभु हमारी परीक्षा कर रहे हैं ! हमारा चिन्ता करना व्यर्थ है ! क्या कोई ईश्वरीयधर्म को मिटा सकता है? विश्वास करो ! मिटाने वाला स्वयं मिट जायगा। सुनयमुनि ने ऊपर से बुद्धधर्म का शाब्दिकप्रतिवाद कभी नहीं किया। वे क्रियात्मकप्रतिवाद किया करते थे। पर्य्याप्त सोच विचार के वाद, वे अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे कि समय की स्थिति के अनुसार वैदिकधर्म की उन्नति के लिये आध्यात्मिक वल वढाया जाय। अतः उन्होंने कुछदिन के लिये प्रचार का कार्य स्थगित कर दिया। अपने शिष्य मण्डल के साथ काश्मीर पहुँचे। वहाँ पर इन्होंने अपने शिष्यों को योगाभ्यास में लगादिया। इनके शिष्यों में से महामना अभयमुनि ने योग में वहुतशीघ्र उन्नति कर ली। स्वल्पसमय में ही योगशक्तिद्वारा अणिमादिकसिद्धियाँ प्राप्त कर लीं।

## "अभय मुनि"

इधर अशोक वृद्धावस्था में पहुँच चुके थे। इनकी तीन रानियाँ थीं। प्रथम असन्धिमित्रा, दूसरी चारुवाकी, तीसरी तिष्यरक्षिता। पहली रानी असन्धीमित्रा की मृत्यु के वाद तीसरी रानी अशोक ने वृद्धावस्था में व्याही थी। यह वड़ी कुलटा स्त्री थी। इसने अशोक के वेटे कुनाल, उपनाम धर्मवर्द्धन, को अपने प्राकृतिक प्रेम में फँसाने के लिये भाँति भाँति के यत्न किये। कुनाल एक अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय राजकुमार था। वह जितना अधिक वीर और सुन्दर था, उतना ही अधिक धर्मात्मा भी था। अतः उसने रानी के तमाम यत्नों को विफल कर उस के उस पापमयप्रस्ताव को घृणा की दृष्टि से ठुकरा दिया। इस विफलता से

रानी क्रोध से आग बबूला हो गई। अतः वह कुनाल पर प्रहार करने की घात में रहती थी।

दैवयोग से तक्षशिला में राजविद्रोह खड़ा हो गया। इसका समाचार जब अशोक के दरबार में पहुँचा तो वहाँ विद्रोहदमनार्थ कुनाल का भेजाजाना सर्व सम्मति से निश्चित हुआ। कुनाल पिता की आज्ञानुसार एक विशाल सेना लेकर तक्षशिला पहुँचा। अब उस कुलटा रानी को कुनाल पर प्रहार करने का अवसर हाथ लग गया। उसने अशोक की ओर से सेनापति के नाम एक कृत्रिमपत्र लिखा। उसमें लिख दिया कि पत्र देखते ही कुनाल की दोनों आँखें निकलवा डालना। पत्र के अन्त में राजा के कृत्रिमहस्ताक्षर कर दिये। पत्र पहुँचते ही सेनापति ने राजाज्ञा का पूर्णतया पालन किया। अन्त में जब षड्यन्त्र का पता अशोक को लगा तो उसने उस कुलटारानी को जीतेजी आग में जला दिया। धर्मवर्धन का पुत्र और 'संप्रति' का भाई जलोक जिसे अशोक ने पहले ही काश्मीर का शासक नियुक्त कर रक्खा था, अपने पिता को अपने पास काश्मीर ले गया। उनदिनों में अभयमुनि के योगचमत्कारों की चर्चा राजदरबार में भी फैल चुकी थी। अतएव जलोक अपने पिता कुनाल को साथ लेकर अभयमुनि की शरण में पहुँचा। वहाँ लोगों की भीड़ लग रही थी। कोई कुछ माँगता था और कोई कुछ। जलोक और कुनाल भी मुनि को प्रणाम कर बैठ गये। तब जलोक ने दोनों हाथ जोड़ कर कहा, "प्रभो मेरे पितापर दयादृष्टि कीजिये"। मुनि ने अपने अग्निकुण्ड से विभूति ली और कहा लो बेटा इसको आखों पर लगा दो। कुनाल की आखों पर विभूति लगते ही वे पूर्ववत् हो गईं।

## जलोक को वैदिकधर्मोपदेश

इस दिव्यशक्ति से प्रभावित हो कर जलोक मुनि के चरणों पर गिर पड़ा और दीक्षा लेने का आग्रह करने लगा। मुनि ने उसकी अनन्यश्रद्धा देख कर उसे गुरुमन्त्र दे दिया। सुनयमुनि की आशालता उनके योग्यशिष्य अभयमुनि के योगचमत्कारों से पल्लवित और पुष्पित होने लगी। वैदिकधर्मियों के भाग्यचक्र ने पलटा खाया। प्रतिदिन मुनि के संसर्ग से जलोक की वैदिकधर्म पर अगाध श्रद्धा हो गई। दिनवदिन जलोक बुद्धधर्म से घृणा करने लगा। मुनि ने उसे समभावतः पञ्चदेवोपासना सिखलाई। तदनु वह देवपूजा करने लगा। ऐतिहासिकों ने लिखा है कि कुनाल शिव और दुर्गा की पूजा किया करता था और काश्मीर में कईएक ऐसे मन्दिरों का पता चला है, जिन्हें जलोक और उसकी रानी ईशान देवी ने बनवाया था। इनके द्वारा उनमन्दिरों का बनाना सप्रमाण हो चुका है। मुनि की कर्मयोगशिक्षा के प्रभाव से जलोक एक अद्भुतवीर बन गया था। अतएव उसने विदेशियों के आक्रमणों से भारतकी केवळ रक्षा ही नही की बल्कि बहुतबार विदेशीविजेताओं को पराजित भी किया। उदाहरणार्थ, इसने बाखतर के राजा युथिदेमुस को पराजित किया था। इससमय धीरे २ वैदिकधर्म बल पकड़ने लगा। वैदिकधर्म के सौभाग्य से, ४१ वर्ष शासन करने के पश्चात् ई० पू० २३२ (वि० पू० १७५) में अशोक परलोक सिधार गया। इस के बाद ४७ वर्ष में मौर्य

वंश के ७ नरेश हुये। इनमें अन्तिम राजा वृहद्रथ था जो विलासी और सर्वथा नीतिशून्य था।

## " रोचिष्णु मुनि "

### मुनि के भाषण का सेनापति पुष्पमित्रपर विलक्षण प्रभाव

रोचिष्णुमुनि असयमुनि के शिष्य थे। ये परमोत्साही, तेजस्वी, और दृढप्रतिज्ञ मुनि थे। ये अभी नवयुवक ही थे। इन्होंने अपने गुरु के समान वैदिकधर्म का प्रचार ऐसे ढङ्ग से किया कि समस्तजनता का हृदय बुद्धधर्म से हट कर हिन्दुधर्म की ओर झुक गया। इन्होंने फिरसे भ्रमण कर, धर्मप्रचार का काम आरम्भ किया। उदासीनमुनिमण्डलों की स्थापना की। ये स्वयं काश्मीर से चल कर मगध देश में आए। अबके राजगृह में मुनिसम्मेलन बहुतवर्षों बाद हुआ। इनकी वर्णनशैली मनोहर थी। इन्होंने वदिकधर्मका महत्त्व वहाँ ओजस्वीशब्दों में बतलाया। इससे विधर्मियों के हृदय में भी इसधर्म के लिये श्रद्धा के भाव पैदा हो गये। इस सम्मेलन में शुङ्गवंशचूड़ामणि पुष्पमित्र भी पधारे थे। उन्हें मुनिका उपदेश सुन कर यह पता चला कि वैदिकधर्म बुद्धधर्म से बहुत अधिक महत्त्व रखता है। इसमें त्याग के साथ शौर्य का भी पूर्ण समावेश है। जिसका बुद्धधर्म में सर्वथा अभाव है। अतः बुद्धधर्म की शिक्षा व्यक्तिगतजीवन में उपयुक्त होने पर भी सामाजिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक-उन्नति का साधन होने पर भी बुद्ध-धर्म नैतिकपतन की ओर राष्ट्र को अग्रसर करता है। इसबात को विदेशिओं के आक्रमणों ने ही प्रमाणित कर दिया है। इसने पुरातनशुद्ध भावों में नवीन भावोंका संमिश्रण कर विष-सा उत्पन्न कर दिया है। जिसके बुरेप्रभाव से शनैः शनैः शौर्य विलुप्त होता जा रहा है। अब मेरी अन्तरात्मा मुझे आज्ञा नही देती कि मैं सम्राट् के डर से राष्ट्र को पतन की ओर लेजाने वाली शिक्षा का दास बना रहूँ। वक्तृता के इलावा पुष्पमित्र ने मुनि के योगशक्ति के अलौकिकचमत्कारों को भी देखा। तबतो पुष्पमित्र का मुनि के चरणों में झट सिर झुक गया। तब वह अपने हार्दिक वैदिकप्रेम को छिपा न सका। प्रेम से गद्गद् हो कर कहने लगा-प्रभो! मुझे बल दें जिससे इस तुच्छसेवक को वैदिकधर्म की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो। मुनि ने आश्वासन देते हुये कहा, तथास्तु। साथ ही बलवर्धक वेदमन्त्रों का उपदेश दिया। उन्होंके अनुष्ठान से पुष्पमित्र का तेज प्रतिदिन बढने लगा। अतएव पुष्प-मित्र की वेदों पर अनन्य श्रद्धा हो गई।

ई० पू० १८४ (वि० पू० १२७) में, सेनापति पुष्पमित्र ने वृहद्रथ को मार कर पाटलीपुत्र का राज्य संभाल लिया। यहाँ पर मौर्यवंश का राज्य नष्ट हो गया। अशोक की मृत्यु के बाद मौर्यवंश की अवनति होने लगी। जगह जगह शुङ्गवंशवाले विद्रोह मचाने लगे थे। अशोक के जीवन काल में भी लोग इसके धार्मिकपक्षपात से तङ्ग आ कर स्थान स्थान पर उपद्रव करने लगे थे। अशोक के बेटों में कोई ऐसा प्रभावशाली राजकुमार न था जो इतने विशाल राज्य को सँभाल सकता। अशोक के धार्मिकपक्षपात से प्रजा मौर्यवंश से अत्यन्त अप्रसन्न थी। अतएव बाहरी और भीतरी उपद्रवों के कारण मौर्यवंश का पतन हो गया।

## नरेश पुष्पमित्र का अश्वमेध यज्ञ

नीति के नियमानुसार राजा को अधिक धार्मिकपक्षपाती नहीं होना चाहिये। अन्यथा प्रजा के स्वतन्त्रविचारों पर आघात होने लगता है। अन्त में प्रजा में विकृति आते ही राजा के प्राण सङ्कट में पड़ जाते हैं। जब राजा नितान्त धार्मिक प्रवाह में बह जाता है तो वह प्रजा में शान्ति स्थापित करने के बदले धर्मप्रचार में जुट जाता है, जिससे प्रजा की व्यक्तिगतस्वतन्त्रता पर आघात होने लगता है। ऐसा होते ही प्रजा राजाके विरुद्ध तरह तरह के षड्यन्त्र रच कर विप्लव मचा देती है। मुगलसाम्राज्य और मौर्यसाम्राज्य का पतन आपस में बहुत समानता रखता है। अशोक के बुद्धधर्म के अनुचित पक्षपात के कारण मौर्यवंश का शीघ्र पतन हो गया। इसी तरह औरङ्गजेब के इस्लामी पक्षपात के कारण वह विशाल मुगलसाम्राज्य चन्दद्दिनों में ही छिन्न भिन्न हो कर मट्टी में मिल गया। अब मगध का शासनसूत्र शुङ्गवंशचूड़ामणि पुष्पमित्र के हाथ आ गया। यह वैदिकधर्मी राजा था। इसके द्वारा बौद्धमत फिर मृतप्रायः हो गया। तब मिनैण्डर ने सिकन्दर की भाँति भारतविजय की इच्छा की। अतएव उसने एक विशाल सेना इकट्ठी करके पञ्जाब, सौराष्ट्र, और अन्य प्राश्चात्यप्रदेश जीत लिये। मथुरा भी ले ली और चित्तौरगढ लेने की धुन में था। यह देख कर पुष्पमित्र ने उसे रण में पराजित कर मार भगाया। *

वृद्धावस्था में पुष्पमित्र ने एक अश्वमेध यज्ञ किया। महाभाष्यकार पतञ्जलि जी इसयज्ञ में शामिल थे। अतएव उन्होंने लिखा है-(इह पुष्पमित्रं याजयामः) अर्थात् पुष्पमित्र से हम यज्ञ कराते हैं। वसुमित्र की संरक्षता में घोड़ा छोड दिया गया। एक विशाल सेना को साथ लेकर वसुमित्र घोडे के पीछे २ हो लिया। घोड़ा सर्वत्र घूमा, उसको किसीने न रोका। जब अश्व सिन्धुनदीके किनारे पहुँचा तो उसे यवनों ने रोक लिया। जिन्हें वसुमित्र ने पराजित किया। अन्तमें यज्ञाश्व लौट कर मगध में आगया और यज्ञ सफल हुआ। वैदिकरीति से यह यज्ञ बहुत शताब्दियों के बाद हुआ। तमाम वैदिक जनता इससे बड़ी आल्हादित हुई।

---

* यूनानीनरेशों में भारतपर आक्रमणकरने वाले 'सिकन्दर, सिल्यूक्स, यूथिडेमस, एण्टिओक्स डेमिटियस, यूक्रेटाइडीज, मिनैण्डर नाम के आते हैं। इनमें सिकन्दर को छोडकर किसीने भी वास्तविक विजय नहीं पाई। मिनैण्डर के पीछे किसी ने भी भारत पर चढ़ाई नहीं की।

# श्रौतमुनिचरितामृत

## उत्तरार्ध

### छठा प्रवाह

### ( १ तरङ्ग )

### " चन्द्रमुनि "

पुष्पमित्र का अश्वमेध यज्ञ करना रोचिष्णुमुनि की प्रेरणा का फल था। शुङ्ग-वंश के शासन में वैदिकधर्म प्रतिदिन वल पकड़ता ही चला गया। मुनिमण्डल जहाँ तहाँ धर्मप्रचारार्थ फिर घूमने लगे। पुष्पमित्र की मृत्यु के वाद शुङ्गवंश का वल घटता ही गया। अतएव मगधसाम्राज्य छिन्नभिन्न होने लगा।

### भर्तृहरि और विक्रम

शुङ्गशासन के अन्तकाल में मालवाप्रदेश के :राजा भर्तृहरि थे। इनके छोटे भाई का नाम विक्रमादित्य था। भर्तृहरि की रानी का नाम पिङ्गला था। इसका अश्वपाल के साथ हार्दिक अनुराग था। विक्रमादित्य इस अनुचित कार्य से अश्वपाल को डपटा करते थे। अतएव पिङ्गला ने अप्रसन्न होकर विक्रमपर मिथ्या दोषारोपण कर दिया। परिणाम यह हुआ, अपने वड़े भाई की आज्ञानुसार विक्रम को मालवा से निकलना पड़ा। कुछदिन वाद मालवाधीश्वर भर्तृहरि को किसी ब्राह्मण ने एक अमरफल भेंट किया। राजा ने उसे अपनी प्राणप्यारी पिङ्गला को दे दिया। पिङ्गला ने आगे अपने प्राणप्रिय अश्वपाल की सेवा में भेज दिया। अश्वपाल से एक वेश्या के द्वारा वही अमर फल लौट कर राजा के हाथ में आ गया। जाँच करने पर सारा रहस्य स्फुट हो गया। रानी की दुश्चरित्रता से राजा पर वड़ा वुरा असर हुआ। भर्तृहरि का जीवन पलटा खा गया। वह राज्य त्याग कर साधु हो गया।

विक्रम का निर्वासन उसके अनुकूल पड़ा। क्योंकि उसने इतने दिनों में चन्द्र-मुनि के आश्रम में रह कर अपनी धार्मिक और नैतिक त्रुटियाँ दूर कर लीं। चन्द्र-मुनि सुतपामुनि के शिष्य और रोचिष्णु मुनि से पञ्चम स्थान पर थे। चन्द्रमुनि की कृपा से भारत में एक ऐसा रत्न पैदा हुआ, जिसका नाम आजतक भी प्रत्येक हिन्दुवालक की जिह्वा पर विद्यमान है। तव चन्द्रमुनि के आश्रम से जाकर विक्रम ने भर्तृहरि का राज्यसिंहासन सँभाल लिया। विक्रम के शासनकाल में मालवसा-म्राज्य का विस्तार हुआ। विक्रम ने इन्द्रप्रस्थ जीतकर काश्मीरतक अपना राज्य स्थापित किया।

### कविसम्राट् कालिदास

कविकुलकमल-दिवाकर कालिदास इनके प्रधान मन्त्री थे। विक्रम वेदभक्त और देवताओं के उपासक थे। इनकी न्यायपरायणता विश्वविख्यात है। कालिदास को

विक्रम ने काश्मीर का राजा बना दिया था। विक्रम का परलोकगमन सुनकर कालिदास साधु बन गये। विक्रम के गुरु चन्द्रमुनि उज्जयनी से अमरनाथ की यात्रा के लिये गये थे। इनके पूर्वज अभयमुनि से अमरनाथ-यात्रा की प्रथा उदासीन मुनियों में अधिक प्रचलित हो चुकी थी। जब चन्द्रमुनि काश्मीर में थे, तो इन्हीं से कालिदास ने उदासीनमुनिदीक्षा ली थी-ऐसा उदासधर्मकल्पतरु में लिखा है। कालिदास का अन्त में चतुर्था-श्रम-प्रवेश तो ऐतिहासिक मानते ही हैं। उसने किससे दीक्षा ली, यह किसी ने भी लिखने का कष्ट नहीं उठाया। इतिहासों में यह भी लिखा मिलता है कि विक्रम के गुरु चन्द्रमुनि थे। कालिदास को विक्रम के गुरु चन्द्रमुनि का ही शिष्य मानना युक्तियुक्त दीखता है। क्योंकि वे विक्रम के गुरु होने के कारण कालिदास के पूर्वपरिचित और श्रद्धेय बने हुये थे, और चन्द्रमुनि का गुरु-परम्परा से काश्मीर में आना जाना था।

## वास्तविक विक्रमादित्य

विक्रम के विषय में लोगों का बहुत मतभेद है। जिसे हम यहाँ सङ्क्षेपतः लिखते हैं। मुख्य विक्रमादित्य को भारतीय प्राचीननिबन्धों में प्रमारवंशीय लिखा है। धाराधिपति भोजराज इन्हीं के वंशधर थे; जिनका राज्याभिषेक १०१८ ई० (१०७५ वि०) में माना गया है। भारत में विक्रम नाम के ८ नरेश हो चुके हैं। जिनमें एक हूणारि यशोधर्मन, और द्वितीय शकारिगुप्तवंश का द्वितीयचन्द्रगुप्त था। और कई एक दाक्षिणात्य सोलङ्कीनरेश विक्रम नाम के हो चुके हैं। इससे ऐतिहासिक संसार में विवाद उपस्थित हो रहा है। इतिहासवेत्ता स्मिथ भी द्वितीयचन्द्रगुप्त को मुख्यविक्रम मानता है। कई एक विद्वानों की धारणा है कि मन्दसोरनरेश यशोधर्मन वास्तविक विक्रमादित्य है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के भाई उज्जयनी-पति, चन्द्रमुनि के शिष्य धार्मिक शिरोमणि संम्वत् के आरम्भ से कुछपूर्व मगधसाम्राज्य के कुछ दुर्बल होते ही, मालवसाम्राज्य के वर्द्धक विक्रम ही वास्तविक विक्रमादित्य थे। अकबर के समय हेमूवैश्य की भांति विक्रम के गौरवपर रीझ कर चन्द्रगुप्तादि नरेशों ने संभव है 'विक्रम, इस उपाधि को धारण किया हो। वस्तुतस्तु उनका नाम विक्रम न था। अन्यथा सम्वतारम्भ की संगति ठीक नहीं बैठती। यदि गुप्तवंश के द्वितीयचन्द्रगुप्त से सम्वत का चलाना स्वीकार किया जाय तो ईसा से ५७ वर्ष पूर्वका सम्वत्-आरम्भ समझमें नही आता। दूसरी बात यह भी है कि उसे क्या जरूरत थी कि अपने दादा का गुप्तसम्वत् छोड कर दक्षिणभारत में प्रचलित संवत् को अपने यहाँ प्रचलित करता। गुप्तवंश के द्वितीय चन्द्रगुप्त के दादाने गुप्तसम्वत्को (३ ७ ६ वि.) ३१९ ई०में चलाया था। राजालोगों में यह प्रथा आम प्रचलित है कि विजेतानरेश अपने नामपर ही सम्वत् चलाया करते हैं। उक्त बातोंसे सिद्ध होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त वास्तविक विक्रम न थे, अपितु विक्रमनामक उपाधिधारी थे। कुछ समझ में नही आता, जिस सम्वत् के सञ्चालक महापुरुषका नाम तक ज्ञात न हो, ऐसे सम्वत् का फिर से चलाना क्या सङ्गत हो सकता है? प्रोफैसर "आपटे" प्रभृति विद्वानों ने प्रबल तर्कों से कालिदास का होना प्रथम शताब्दि में सिद्ध किया है। कालिदास जिस महाराजकी सभाके रत्न हों, वह प्रथम शताब्दी में नहीं हुआ

यह कैसे माना जा सकता है। अतः मानना ही पड़ेगा, भर्तृहरि के भाई मालवाधिपति विक्रम ही वास्तविक विक्रमादित्य थे।

प्रतीत होता है, विक्रम अन्य भूपतियों की भाँति यशोलिप्सु न थे। अतएव उन्होंने अपनी कीर्ति के सूचक स्तम्भादिक नहीं बनवाए। उच्चकोटि के धार्मिक अपने दानादि का परिचय देना अब भी उचित नहीं समझते। अन्यथा उनके परम स्नेही कालिदास उनके कीर्तिकाव्य बनाने से कभी न रुकते। हाँ, यह अवश्य है कि उनके पीछे उनका कोई उत्तराधिकारी प्रतापी न हुआ-यही उनका पूरा इतिहास न मिलने का प्रधान कारण है। उस धर्मवीर का जनता के हृदय पर विलक्षण प्रभाव था। उसके बाद समाट् प्रथमचन्द्रगुप्त और समाट् हर्षवर्धन ने अपना अपना सम्वत् चलाना चाहा। परञ्च जनता ने उसे न अपनाया क्योंकि लोगों की दृष्टि में ऐसा करना प्रातःस्मरणीय धर्मवीर विक्रम का अपमान था। और तो क्या, द्वितीयचन्द्रगुप्त की मालवाधिपति विक्रमादित्य पर इतनी अनन्य श्रद्धा थी, जिसका अनुमान लगाना कठिन है। अतएव उसने अपने पितामह के चलाए हुये गुप्तसम्वत् के गुप्त हो जाने का ध्यान न रख कर प्रमार विक्रमादित्य के सम्वत् को ही अधिक महत्व दिया। इससे प्रतीत होता है कि उसने अपने अगाधप्रेम के कारण विक्रमादित्य उपाधिको अपने नाम का भूषण बनाया।

## ( २ तरङ्ग )

# " महेशमुनि "

### कनिष्क और वासुदेव

दाक्षिणात्य आन्ध्रों ने ( वि० २८ ) ई० पु० २९ में कण्ववंश के अन्तिम राजा को मार डाला। ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जयनी के महाराजा विक्रमादित्य के राज्य का अन्त लगभग इसी समय में इन्हों ने किया होगा। भारत में आन्तरिक विप्लव होते ही सिथियन जाति के कुशनों ( शकों ) ने भारतपर आक्रमण कर दिया। प्रथम शताब्दी से तीसरी के अन्ततक भारतभर में इन्हीं का राज्य रहा। इनका सब से बड़ा प्रतापी राजा कनिष्क ( वि० १३५ ) इ० ७८ में अभिषिक्त हुआ। यह बुद्धधर्म का मानने वाला था। इसके शासनकाल में बुद्धधर्म फिर जाग्रत हो उठा। कनिष्क का पौत्र वासुदेव १३८ ई० (१९५ वि०) में सिंहासनासीन हुआ। यह वैदिक धर्मी था। इसके सिक्कों पर शिव तथा नन्दी की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। इसके शासनकाल से बुद्धधर्म का ह्रास आरम्भ हो गया। इसके पश्चात् ( ३७६ वि० ) ३१९ ई० तक कोइ धार्मिक या नैतिक उल्लेखनीय घटना नही घटी। यह अवश्य हुआ कि दूसरी शताब्दी के अन्त में आन्ध्र और कुशनों के पारस्परिक सङ्घर्ष से भारतवर्ष खण्डराज्यों में विभक्त हो गया। तब कोई ऐसा प्रतापी राजा न था जो सब को एक पताका के नीचे ला सकता।

### क्रिश्चियनधर्म

इन्हीं दिनों में वि० ५७ में ईसाईधर्म की स्थापना हुई। इस के सञ्चालक महात्मा ईशू थे। इनको इसधर्म की स्थापनाकरने में अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। इनके सिद्धान्त हमारे वेदान्त के सिद्धान्तों से मिलते जुलते ही हैं। इनकी धर्म-

पुस्तक बाइबल है। जैकालियट का कथन है कि गीता और पुराणों के आधारपर बाईबल की रचना हुई है। ये लोग परस्पर भ्रातृभाव पर अधिक जोर देते हैं। महात्मा ईशू की मृत्यु के बाद इसधर्म का पचार इसके शिष्यों ने किया। पीछे से इसधर्म में बहुत परिवर्तन होगया।

## गोरक्षनाथ

ईसाकी प्रथम शताब्दी के आरम्भ में गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ हुये। विक्रमादित्य के बड़े भाई भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य बने। ईसा की ५ म :शताब्दी में धर्मनाथ नामक एक परमहंसस्वामी ने योगमार्ग को नाथसम्प्रदाय के रूप में बदल दिया। ईसा की तीसरी शताब्दी में वैष्णवसम्प्रदाय के :पुरातनाचार्य विष्णु स्वामी हुये। इन्होंने व्याससूत्र पर भाष्य और गीतापर व्याख्या लिखी थी।

## गुप्तवंश और हूणराज्य

चौथी शताब्दी में भारत के छोटे छोटे नरेशों को पराजित कर चन्द्रगुप्त ने (३७६ वि०) ३१९ ई० में गुप्तसाम्राज्य की स्थापना करके पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इसप्रकार नैतिक एकता की स्थापनाद्वारा भारत का महान् उपकार किया। गुप्तवंश २३४ वर्ष रहा। इसके आठ राजा हुये। इनमें चारतो सम्राट् और चार माण्डलिक थे। अर्थात् गुप्तवंश का राज्य ३१९ई० से (३७६ वि०) (५२७वि०) ४७० ई० तक साम्राज्य रूप में और (५२७ वि०) ४७० ई०से (६१०वि०) ई० ५५३ तक खण्डराज्य के रूप में रहा। गुप्तवंश के चतुर्थ सम्राट् कुमारगुप्त के समय मध्यएशिया से आकर हूणजाति ने भारतपर अजेय आक्रमण किया। तब कुमार गुप्त ने अपने शौर्य से हूणों को बड़ी बुरी तरह से परास्त किया। कुमार ने हूणों के साथ इस युद्ध में अपनी अलौकिक वीरता का परिचय देकर भारतीयगौरव को बढाया। कहा जाता है, वीर कुमारगुप्त इसी सङ्ग्राम में वीरगति को प्राप्त हुए। तोरमाण के अधिपतित्व में (५२७ वि०) ४७० ई० में हूणों का भारतपर फिर से प्रबल आक्रमण हुआ, जिससे गुप्तसाम्राज्य नष्ट हो गया। ५०० ई० के लगभग तोरमाण ने रजपूताना, गुजरात; मालवादि प्रान्तों को जीत कर हूणराज्य की स्थापना की। (५६७ वि०) ५१० ई० में इसका बेटा मिहिरगुल राजा बना। यह प्रथम बौद्ध हो कर, फिर किसी कारणवश शैव हो गया। कहा जाता है कि इसने बौद्धों के अनन्त स्तूप, विहारादि तुडवादिये। यह बडा ढीठ था। इसके राज्य में अनन्त अत्याचार हुये। अन्त में तङ्ग आकर देशी नरेशों ने परस्पर मिल कर एक राजसंघ बनाया। इस संघ के प्रधान नेता मगधनरेश, गुप्तवंशीय नृसिंहबालादित्य और मन्दसोर के मालवनरेश यशोधर्मन :थे :। ई० ५२८ में इस संघ ने सिन्धुतीरे काहरोर स्थानपर मिहिरगुल को पराजित कर बन्दी करलिया। गुप्तमहाराज ने दयाभाव से प्रेरित होकर उसे मुक्त कर दिया। मिहिरगुल ने भाग कर काश्मीर नरेश के यहाँ आश्रय लिया। कुछदिन के बाद इस दुष्ट ने अपने आश्रयदाता उदारात्मा काश्मीरपति को धोखे से मार डाला। तब इस ने व्यर्थ हि हजारों प्राणियों को तल्वार के घाट उतार दिया। इस प्रकार यह लोगों को मारता मारता सिन्धुतक पहुँचा। ५४० ई० में इस की अचानक मृत्यु हो गई। साथ ही हूणराज्यरवि सदा के लिये अस्त हो गया।

## चन्द्रगुप्तशिक्षण

लगातार ६ शताब्दियों की :धार्मिक और नैतिक स्थिति का संक्षेपतः परिचय दिया जा चुका है। अब हम पाठकों का ध्यान पूज्य महेशमुनि की ओर आकर्पित करते हैं। महेशमुनि जी जितानन्दमुनि के शिष्य हुये हैं। चन्द्रमुनि से महेशमुनि तक १४ मुनि हो चुके हैं। इनके बीच के मुनियों में किसी के जीवन-सम्बन्धी कोई घटना नहीं मिलती। हाँ, यह अवश्य है कि मुनियों में श्रौतधर्म के प्रचार का यत्न पूर्ववत् बना रहा। कनिष्क का बुद्धधर्म्मानुराग उन्हें अभिभूत न कर सका। इसकी कुछ झलक कनिष्क के पौत्र वासुदेव के वैदिकधर्मी होने में दिखाई पड़ती है। मुनियों के अविश्रान्त यत्न से बुद्धधर्म को धक्का लगना तो दूसरी शताब्दी से आरम्भ हो गया था; किन्तु पूर्णसफलता चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में हुई। धार्मिक जगत् में गुप्तराजगुरु महेशमुनि का उतना ही उच्चासन है, जितना नैतिकजगत में गुप्तवंश का है। महेशमुनि दक्षिणभारत से उत्तरभारत की ओर राजगृह में आए। यहाँ पर इनके पूर्वजों के बृहत्सम्मेलन हुआ करते थे। यह वही पुण्यभूमी थी जहाँ पर सुवेशमुनि ने बुद्धधर्म के आक्रमणों से श्रौतधर्म की रक्षा का पवित्रकार्य आरम्भ किया था। दूरदर्शी महेशमुनि का भारत में नैतिक एकता के अभाव पर बड़ा ही ध्यान था। वे इसे पतन का प्रधानकारण समझते थे। घरेलू झगड़ों में पड़े रहने के कारण, राष्ट्र में न तो किसी कलाकौशल की उन्नति होती है और न ही राष्ट्र बाह्य आक्रमणों का सामना करने में समर्थ रहता है। समस्त कार्यों की पूर्णता सङ्गठितशक्तिपर अवलम्बित है। अश्वमेधादि वैदिकप्रथाओं को नैतिक एकता का अङ्ग समझ कर दिलीपप्रभृति राजाओं ने इसे अधिक महत्त्व दिया था। महेशमुनि राजगृह का दर्शन कर इन्हीं विचारों पर तरह तरह के यत्न सोचते सोचते मगध में भ्रमण करते रहे। तब उनकी श्रीगुप्त के पौत्र, और घटोत्कच के पुत्र नवयुवक चन्द्रगुप्त से भेंट हुई। वह पाटलीपुत्र के पास एक छोटे से राज्य का शासक था। मुनि ने अपने लोकोत्तर उपदेशों से उसके हृदय में नैतिक एकता का महत्व अङ्कित कर दिया। राजकुमार के हृदय में नैतिक एकता की उत्कण्ठा प्रतिदिन बढने लगी। मुनि और क्षत्रियकुमार का यह संगम हिन्दु-धर्मसूर्य का प्रभातकाल था। सौभाग्यवश (३६५ वि०) ३०८ ई० में चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छवीवंश की राजकुमारी कुमारदेवी से हो गया। कुमारदेवी के पिता के यहाँ कोई उत्तराधिकारी न था। अतः श्वसुरराज्य पर भी उसी का आधिपत्य हो गया। चन्द्रगुप्त की शक्ति इससे और भी बढ गई। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने कुछ ही वर्षों में उत्तरभारत के तमाम छोटे छोटे राज्यों को जीत कर (३७६ वि०) ३१९ ई० में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना पाटलीपुत्र में की। अतएव महेशमुनि का वह शुभसङ्कल्प अब फूलने, फलने लगा।

## सूरवीरसमुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अद्वितीय वीर और विद्याप्रेमी था। बचपन में समुद्रगुप्त को एक बुद्धधर्मानुयायी वसुबन्धु ने बुद्धधर्म के संस्कार डालने आरम्भ किये। उस समय बुद्धधर्मप्रचारकों का एक दल था, जो अपना काम गुप्तभाव से करता रहता था। बहुत से भोले भाले वैदिकधर्मी इनके चंगुल में फँस कर अपने पूर्वधर्म से हाथ धो बैठते थे। बौद्धों की सङ्कीर्णता का यह एक ज्वलन्तनिदर्शन

है। इस गुप्तदल ने कई सदियों तक इसी तरह गुप्तभाव से बुद्धधर्म का प्रचार किया। समुद्रगुप्त पर महेशमुनि की अपार दया थी। अतः उस पर उन गुप्तदल वालों का कोई असर न हुआ। उद्गासरत्नाकर में लिखा है कि समुद्रगुप्त के हृदय में हिन्दुधर्म की भक्ति पैदा करने के लिये महेशमुनि ने एक विलक्षण ही उपाय सोच निकाला। वेदविरोधि वसुबन्धु की निन्दनीयचेष्टा का पता लगते ही मुनि पाटलीपुत्र में आए। एकान्त में गङ्गा के तीरपर नगर से दूर अपना आसन लगा लिया। चन्द्रगुप्त को भी अपने आगमन की सूचना न दी। राजकुमार समुद्रगुप्त अश्वारूढ हो कर प्रतिदिन सैर को जाया करते थे। उसदिन राजकुमार के घोड़े ने बलात् उस ओर जाने का रुख किया, जिधर मुनिमहाराज अपने आसन पर विराजमान थे। राजकुमार ने घोड़े को रोकने के लिये शतशः यत्न किये, परन्तु सबकेसब विफल हो गये। अन्त में तङ्ग आकर घोड़े को स्वतन्त्र छोड़ दिया। तीन चार मील की दौड़ के बाद घोड़ा मुनि के आसन के पास जाकर ठहर गया। राजकुमार ने उसे इधर उधर चलाना चाहा परन्तु वह प्रस्तरप्रतिमा की तरह बन कर खड़ा हो गया। राजकुमार इस विलक्षणघटना से चकित-सा हो गया: और इसका रहस्य जानने के लिये घोड़े से उतर कर इधर उधर टहलने लगा। सौभाग्यतः राजकुमार की दृष्टि समाधिस्थ मुनि पर जा पड़ी। अब तो कुमार की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। कुमार सहसा मुनि के चरणों में लेट गया। मुनि की आंखें खुलीं। कुमार पर मुनि के दृष्टिपात होते ही उसका हृदय शुद्ध हो गया। वसुबन्धु के दूषितभाव राजकुमार के हृदय में अब न ठहर सके। मुनि ने कुमार को वैदिकधर्म के महत्त्व का उपदेश दिया। साथ ही स्वाध्यायव्रतपालन की प्रतिज्ञा करवाई। तदारभ्य समुद्रगुप्त महेशमुनि को अपना गुरु मानने लगा। महेशमुनि पटना से अयोध्या चले गये। समुद्रगुप्त ने मुनि के उपदेशानुसार वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्ययन किया। वह विद्वानों की सङ्गति में बैठना अधिक पसन्द करता था। वह वेद पर किये आक्षेपों का निराकरण तर्कों द्वारा स्वयं किया करता था। समुद्रगुप्त ने मुनि की आज्ञानुसार उत्तरभारत को जीतकर दक्षिणभारत को जीता। फिर एक विशाल अश्वमेध यज्ञ किया। इसने सैंकड़ों सङ्ग्रामों में सफलता प्राप्त की, और अनेक बलवान् नरेशों को परास्त किया। इसके शरीर में सैकड़ों घावों के चिन्ह थे। अतएव यूरोपियन इतिहासलेखकों ने इसे भारतीय नैपोलियन कहा है। यह बड़ा वीर, तेजस्वी, यशस्वी, विद्वान्, पतिभाशाली कवि और योद्धा था। यह सङ्गीतविद्या का अद्वितीय पण्डित था। यह जिस लड़ाई में गया वहाँ से सफल होकर ही लौटा। इसने समस्तभारत को जीत कर अश्वमेध यज्ञ किया था। यह कट्टर वैदिकधर्मी था। अन्यधर्मावलम्बियों का निरादर नहीं करता था। लङ्कानरेश मेघवर्ण की प्रार्थना पर इसने उसे गया में बुद्धयात्रियों के लिये मठ बनाने की आज्ञा दे दी। कई एक यूरोपियन इतिहासलेखकों ने लिखा है कि समुद्रगुप्त जैसा राज्यप्रबन्ध किसी भी राजा नें कभी नहीं किया।

## महेशमुनि के तीन लक्ष्य

महेशमुनि के तीन लक्ष्य थे-नैतिक एकता, यज्ञादि प्रथाओं का पुनः प्रचार और पूर्वजों के विनष्टप्रायः स्मारकों का पुनरुद्धार करना। विजयी समुद्रगुप्त ने

अपने श्रद्धेयगुरु के ये तीनो लक्ष्य पूर्ण किये। दो की पूर्ति तो लिखी जा चुकी है। तृतीय का विवर्णन इस तरह है-समुद्रगुप्त महेशमुनि के दर्शनार्थ बहुधा अयोध्या जाया करते थे। वे अपने गुरु महेशमुनि से पाटलीपुत्र पधारने की बार-म्बार प्रार्थना किया करते थे। मुनि ने भगवान् राम को जन्मभूमि अयोध्या छोड़ कर जाना स्वीकार न किया; बल्कि अयोध्या वास का महत्त्व बतलाकर समुद्रगुप्त का चित्त भी अयोध्यानिवासकी ओर आकर्षित कर लिया। गुरुवचनवशंवद समुद्र गुप्त ने पाटली पुत्र की जगह अयोध्या को ही अपनी राजधानी बना लिया। अयोध्या में स-मुद्रगुप्त के आते ही नगर का रूप ही बदल गया। पुरातन स्मार्कभवनों की मुरम्मत सहज ही में होने लगी। इसका शासन (३८३ वि०) ३२६ ई० से (४३२ वि०) ई० ३७५ तक रहा।

## द्वितीय चन्द्रगुप्त

समुद्रगुप्त के बाद इस का बेटा द्वितीय चन्द्रगुप्त भारत सम्राट् बना। इस का जीवन प्राचीन विक्रमादित्य के साञ्चे में ढला हुआ था। अतएव जनता इन्हें विक्र-मादित्य कह कर पुकारती थी। लोकोक्ति यह भी है कि समुद्रगुप्त की राणी दत्तदेवी उज्जयनीपति प्रमार विक्रमादित्य की धार्मिक घटनाएँ बड़े चाव से सुना करती थी। अतएव उसके हृदय में वैसे ही पुत्र की लालसा उत्पन्न हुई। इसने अपने पति के साथ कई बेर महेशमुनि के दर्शन किये थे। राणी का यह विश्वास था कि यदि महेशमुनि का वचन हो जाय तो उसे वाञ्छित पुत्ररत्न की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। राणी इसविचार से चिन्तित रहने लगी। समुद्रगुप्त को यह अधिक प्रिय थी। अतएव समुद्रगुप्त ने राणी से बहुत बार चिन्ता का कारण जानना चाहा। राणी लज्जावशात् कुछ भी उत्तर न देती। राजा के अधिक आग्रहपर राणी ने महेशमुनि के दर्शनों की अभिलाषा प्रकट की। चन्द्रगुप्त ने मुनिमण्डल सहित महे-शमुनि से राजभवन में पधारने की प्रार्थना की। धर्मात्मा और श्रद्धालु राजा की बात को मुनि ने स्वीकार कर लिया। वृहत् मुनिभोज किया गया। समस्तमुनि राजभ-वन में पधारे। आगतमुनियों के चरणप्रक्षालन का कार्य राजा ने अपने ऊपर लिया। अन्य राणियों ने भी मुनिसेवा में भाग लिया। दत्तदेवी अपने हाथों से मुनियों को पङ्खा करतीं रही। उसकी प्रेममयी सेवा ने महेशमुनि का ध्यान उसकी ओर आकर्षित कर लिया। भोजनानन्तर तमाम मुनि यथो-चित स्थानपर बैठाये गये। समुद्रगुप्त ने दत्तदेवी की ओर संकेतकर महेशमुनि से हाथ जोड़ कर प्रार्थना की, प्रभो, यह कुछ दिन से खिन्न रहती है। पूछने पर भी कुछ नही बताती। एकदिन इसने आप के दर्शन की इच्छा प्रकट की थी। वह तो आपने कृपया पूर्ण कर दी। यह सुन कर मुनि ने दत्तदेवी से पूछा। बेटी, तू क्या चाहती है? राणी ने कहा-महाराज! आप से क्या छिपा है। आप सबके मन की जानते हैं। अन्तमें राणी ने मुनि के आगे अपना मनोरथ स्फुट शब्दों में कह दिया। मुनि ने कहा 'पुत्रि! प्रभु तेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे। मुनि के इस आशीर्वादानुसार दत्तदेवी के गर्भ से द्वितीयचन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ। महेशमुनि की दया से समुद्रगुप्त जैसे अन्यसद्गुणों से समलङ्कृत था वैसे ही योग्य पुत्ररत्न पाकर सुशोभित हुआ। समुद्रगुप्त के पिता और पुत्र दोनों का नाम चन्द्रगुप्त था। ऐसे तीन महापुरुषों का

साथ साथ होना संसार के इतिहास में बहुत कम पाया जाता है। यह महेशमुनि की दैवीशक्ति का ही दिव्यफल था। कई शताब्दियों के बाद इन तीनों के समय में हिन्दुओं की मानसिक, साहित्यक और अन्य सर्वप्रकार की उन्नतियाँ हुई। महेश मुनि के इस महान् उपकार के लिये सारा हिन्दुसंसार उनका सदा के लिये ऋणी रहेगा। गुप्तवंश के इन तीनों के लोकोत्तर उपकारों से हिन्दुजनता कभी भी उऋण नही हो सकती। राणी द्वितीयचन्द्रगुप्त को बचपन में ही विक्रमादित्य कह कर बुलाया करती थी। मातृभक्त द्वितीयचन्द्रगुप्त ने आदर्श धार्मिकजीवन से विक्रमादित्य बन कर माता के उच्च मनोरथ को सफल किया।

## चीनीयात्री फाहियान की भारतयात्रा

इस के समय फाहियान, चीनीयात्री भारत में आया। यह छः वर्ष तक भारत में घूमता रहा। उसकी सारी यात्रा में १५ वर्ष लगे। उसने तत्कालीन भारत का अच्छा चित्र खींचा है। वह भारत के प्रधान २ नगरों में सर्वत्र पहुँचा। भारत भ्रमण कर वह लंका चला गया। उसने पाटलीपुत्र का वर्णन बड़े मनोहर शब्दों में लिखा है। अशोक का भवन उसने स्वयं देखा। वह लिखता है नगर में दो विहार थे, जिनमें ६००, ७०० भिक्षुक रहते थे। भारत के लोग धनाढ्य और सुखी थे। कोई मिथ्याभाषण जानता ही न था। लोग भूल कर भी अभक्ष्यभक्षण न करते थे। कोई भी मदिरा न पीता था। बाज़ार में शराब और मांस की दुकानें न थीं। प्रजा स्वतन्त्र थी। बड़े से बड़े अपराधी को प्राणदण्ड न दिया जाता था। अर्थात् प्राणदण्ड प्रथा न थी। प्रजा के कार्यों में शासन की ओर से हस्ताक्षेप न होता था। तात्पर्य यह है कि द्वितीयचन्द्रगुप्त के जैसा शासन कहीं पर कभी नहीं हुआ। इस बातको विदेशी लेखकों ने भी स्वीकार किया है।

## महाराजा हर्ष

इसी समुन्नत गुप्त साम्राज्य को कुमारगुप्त के समय हूणों ने आक्रमण कर छिन्नभिन्न कर दिया। ईश्वर की गति विचित्र है, कौन जानता था कि जो गुप्तवंश हूणों द्वारा नष्ट भ्रष्ट किया गया था, एकदिन उसीका एक वीरयोधा इन आक्रमणकारियों को धूलमें मिला देगा। गुप्तवंशावतंस बालादित्य ने अपनी अलौकिक वीरता द्वारा, भारतमें हूणों के राज्यका अन्त कर दिया। ये वीर बालादित्य ५३५ ई० में परलोक सिधार गये। इनके उत्तराधिकारी द्वितीयकुमारगुप्त हुये। ये इतने प्रतापी न थे। अतः गुप्तसाम्राज्य ५५३ ई० (६१० वि० ) तक अपनी साधारणदशा में विद्यमान रहा। बालादित्यकी मृत्यु के बाद एक सौ वर्षका इतिहास भूत के गर्भ में छिपा हुआ है। गुप्तसाम्राज्य में दुर्बलता आतेही भारत खण्डराज्यों में विभक्त हो गया। छठी शताब्दी के अन्तमें थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने उत्तरभारत में अपने राज्यकी नीव डाली। कुछदिन राज्य करने के बाद यह ई० ६०४ (६६१ वि०) में परलोक सिधार गया। उनदिनों में उत्तरभारतमें हूणों ने विद्रोह मचा रक्खा था। उन्हें दबाने के लिये इनके बेटे राज्यवर्द्धन उधर गये हुये थे। पिताकी मृत्यु का शोकसमाचार सुन कर वे वापिस आए। राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण वे सिंहासनासीन हुये। इन्हें अभी राज्य करते हुयें अधिकदिन न हुये थे कि कन्नौज के राजा गृहवर्मन, जो इनके बहनोई थे, मालव नरेशके द्वारा मार दिये गये और इनको

बहन राज्यश्री वन्दी करली गई। इन्होंने यह दुःखमय समाचार पातेही अपने अजेय-दलवल-सहित मालवा नरेश पर चढाई करदी। परिणाम यह हुआ कि इनकी विशाल सेनाके आगे मालवा नरेश हार गये और वहांका राज्य इनके हाथ लग गया। जब ये वापिस अपनी राजधानी को लौट रहे थे, तो रास्तेमें ये बंगाल के राजा शशाङ्क द्वारा धोखेसे मार डाले गये। तदनन्तर ६०६ ई० ( ६६३ वि० ) में हर्षवर्धन वहाँके राजा बने। इन्होंने अपनी बहिन राज्यश्री की खोज आरम्भ की। राज्यश्री किसी न किसी तरह शत्रुओं के पञ्जे से छूट कर विन्ध्याचल की ओर दौड गई थी। अन्तमें निराश होकर, वह चिता में जलकर इस असार संसार का त्याग करना चाहती ही थी कि इतने में वहाँ उसे ढूँढते ढूँढते राजा हर्ष पहुँच गये। अपने प्रियभाई को वहाँ देखकर राज्यश्री के आनन्द का ठिकाना न रहा। हर्ष उसे वापिस ले आए। कुछदिन बाद हर्षके मनमें अपने राज्य बढाने की लालसा उत्पन्न हुई। अतएव उसने एक विशाल सेना तैयार की, जिसमें ५ हजार हाथी, २० हजार सवार, और ६० हजार पैदल सैनिक थे। इस सेना के द्वारा राजा हर्ष ने काश्मीर से आसाम और नैपाल से नर्मदा तक भारतवर्ष अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद इसका कोई उत्तराधिकारी तेजस्वी और शूरवीर न हुआ, अतः इसका इतना विशाल राज्य फिर आगे न बढ सका। हर्ष का शासन ६४७ ई० ( ७०४ वि० ) तक रहा। उपर लिखा जा चुका है किहर्ष से दो सौ वर्ष पूर्व बुद्धधर्म के नेता वसु-बन्धुने एक गुप्तदल की स्थापना की थी; जो निरन्तर दो सौ वर्ष तक अपना प्रचार का काम करता रहा। और आरम्भ में इसदल के नेता वसुबन्धु ने समुद्रगुप्त को अपने चङ्गुल में फँसाना चाहाथा, परन्तु वह उसमें सफल न हो सका। कारण यह था कि उनदिनों में उदासीन महेशमुनि ने वैदिक धर्मकी रक्षा का भार अपने बलवान कन्धों पर ले रक्खा था। महेशमुनि की असीम दया सेसमुद्रगुप्त वैदिकधर्मी बने रहे। अतएव वैदिकधर्म की डूबती नैया एकबार फिर तट पर जा लगी। अपने नेता वसुबन्धु की इस विफलता पर यद्यपि वह गुप्तदल निराश-सा हो गया था। परन्तु फिरभी उसने अपना काम पूर्ववत् जारी रक्खा। परिणाम यह हुआ कि दो सौ वर्ष के बाद फिर एकबार हर्ष के समय बुद्ध धर्म में जीवनसञ्चार हो गया। हर्षके पिता सूर्य की उपासना किया करते थे। हर्ष भी अपने पिताकी भाँति शिव और सूर्य के उपासक थे। वसुबन्धु की शिष्यश्रेणी के प्रभावशाली विद्वान् मित्रसेन के उपदेशोंका सम्राट् हर्ष के मन पर अद्भुत प्रभाव पडा। जिससे सम्राट्के उपास्य देवोंमें भगवान् बुद्ध भी आ विराजे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है, मित्रसेन उससमय के बुद्धधर्म के प्रधान नेता रहे होंगे।

## बौद्धों से शास्त्रार्थ

चीनीयात्री ह्यूनसाङ्ग ने मित्रसेन से ही ६३० ई० में ( ६८७ वि० ) बुद्धधर्म की शिक्षा प्राप्त की थी। यह यात्री भारतवर्ष में निरन्तर १६ वर्ष तक रहा। हर्ष का दूसरा नाम शिलादित्य भी था। यह प्रतिपाञ्चवें वर्ष प्रयाग में त्रिवेणीसङ्गम के दर्शनार्थ जाया करता था। वहाँपर यह अपने राजकीयकोश का समस्तधन दान कर देता था। यद्यपि स्वयं बौद्ध था, परन्तु श्रौतधर्मानुयायियों की स्वतन्त्रता में अधिक हस्ताक्षेप न करता था। इससमय बौद्ध और वैदिकधर्मियों के परस्पर

शास्त्रार्थ होने आरम्भ हो गये थे। हर्ष के दिनों में ही वैदिकधर्मी कुछ आगे बढने लग गये थे। वैदिकधर्मियों के यौक्तिक-विचारोंद्वारा निस्सार प्रमाणित हो रहे बुद्धधर्म को हर्ष ने अपने साम्राज्यप्रभाव से उन्नत और लोकप्रिय बनाना चाहा था, परन्तु इस में वह सफल न हो सका। भारत में बुद्धधर्म का तब अन्त होनेवाला था, अतः हर्षाभिलषित बुद्धधर्म की उन्नति तैलाभाव से बुझरहे दीपक की अन्तिम टिमटिमाट साबित हुई। उससमय के हिन्दुओं के यौक्तिकविचार की महत्ता का परिचय एक निम्नलिखित घटना से पूर्णतया मिलता है। चीनीयात्री ह्यूनसांग ने मित्रसेन से बुद्धधर्म की शिक्षा लेकर भारत में ही अपने प्रचार का काम आरम्भ कर दिया। इधर वैदिकधर्मी पण्डितलोग कड़े शब्दों में उसकी समालोचना करने लगे। परस्पर के शास्त्रार्थों में उसे सर्वत्र नीचा देखना पड़ता था। अतः हर्ष की ओर से यह आज्ञा निकाली गई कि "जो कोई इस धर्मोपदेशक को कुत्सितभावों से प्रेरित होकर छुएगा अथवा इसका अनिष्ट करने के लिये हाथ उठायेगा, उसे इस आज्ञा के अनुसार प्राणदण्ड मिलेगा। जो इसे अपशब्द कहेगा, उसकी जिह्वा निकाल ली जायगी। जो मनुष्य इसके उपदेशों से लाभ उठाना चाहेगा उसे इस आज्ञा से कोई भय न होगा।" पाठक! आप समझ गये होंगे, इस राजाज्ञा से यह तात्पर्य निकलता है कि उसदिनों में बुद्धसिद्धान्तों का प्रचार और रक्षादि, राजशक्ति पर अवलम्बित थे। सर्वसाधारण-जनता के मन से बुद्धधर्म का प्रभाव विदा हो चुका था। हम पूर्वोक्त राजाज्ञा का आधार लेकर यह कहने का साहस रखते हैं कि ह्यूनसांग वैदिकपण्डितों की अकाट्य युक्तियों के उत्तर देने में असमर्थ था। अतएव पण्डितलोगों पर मिथ्या और कुत्सित दोषारोपण कर हर्ष के द्वारा यह आज्ञा निकलवाई गई। बुद्धधर्म के लिये इस का परिणाम प्रतिकूल रहा।

६४३ ई० (७०० वि०) में हर्ष ने एक विशाल विद्वत्सभा की। इस में भी वैदिकधर्म के आगे बुद्धधर्म कों मुँह की खानी पड़ी, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें प्रमाण यह है कि उससभा के उस अधिवेशन के बाद हम बुद्धधर्म को :प्रतिदिन गिरते ही देखते हैं, और उधर श्रौतसिद्धान्तों में लोगों की रुचि और यत्र तत्र प्रचारवृद्धि देखते हैं। तब विद्वानों ने जहाँ तहाँ जनता में यह सिद्ध कर दिखाया कि बुद्ध के सिद्धान्त हमारे सांख्यदर्शन के विचारों की नकल हैं। हिन्दु-धर्म के अलौकिक दार्शिनिकविज्ञान की गरिमा का पता चलते ही भारतीयों के हृदय में बुद्धधर्म का आदर न रहना स्वाभाविक था। हिन्दु-धर्मप्रेमी विद्वन्मण्डली के प्रशंसनीय उद्योग से भारतीयजनता के हृन्मञ्जूपा में सन्निवेशित-विविध-दार्शिनिक विचार-रत्नों के समक्ष कृत्रिमबुद्धधर्ममणि की कान्ति धुन्धली पड़ गई। हां, दार्शिनिकविज्ञान-शून्य-विदेशों में बुद्धधर्म की महत्ता पूर्ववत् स्थिर रही। मनुष्य स्वभावतः नवीनता का प्रेमी है। बुद्धधर्म की पोल खुलते ही उसकी नूतनता का भी पाज (जोड़) साथ ही खुल गया। अतः अब बुद्धधर्म में कोई ऐसी छिपी चीज न थी जो लोगों के मनों को आकर्षित कर सके। वैदिकधर्मियों का जीवनाधार वेदों की पवित्रता और वैदिकयज्ञादिप्रथाओं का गौरव था। इनका गहरा सम्बन्ध पूर्वमीमांसा दर्शन से है। अतः विद्वत्समाज में जैमिनीप्रणीत पूर्वमीमांसा का अत्यन्त आदर हुआ। पूर्वमीमांसा के मर्मस्पर्शी विद्वान् तब कुमारिल हुये, जिन का विवर्णन पाठक आगे पढेंगे।

## भारत से बौद्धधर्मविसर्जन

कन्नौज के राजा यशोवर्मा के समय श्रौतधर्मियों की पूर्ण विजय हुई। भारत से बुद्धधर्म विदा-सा हो गया और उसकी जगह हिन्दु-धर्म ने सँभाल ली। तब कन्नौज हिन्दु-साम्राज्य का केन्द्र बन गया। जिस राजाज्ञा के सम्बन्ध में हम पहले लिख आए हैं, उससे हिन्दुओं में शीघ्र एक अद्भुत उत्तेजना फैल गई। उधर हर्ष की अकस्मात् मृत्यु होते ही बुद्धधर्म के पैर उखड़ गये। हर्ष के बाद ४० वर्ष तक कन्नौज में अराजकता रही। तदनु ६९३ ई० (७५० वि०) में हर्ष के मातुलवंश के यशोवर्मा वहां के शासक नियुक्त हुये।

बौद्धभारत को हिन्दुभारत में बदलने वाले प्रातःस्मरणीय धर्मवीराग्रगण्य कुमारिल थे। बौद्धों के साथ हिन्दुओं का शान्त धार्मिकसङ्ग्राम लगभग ११ सौ वर्ष होता रहा। समय समय पर राजकीय प्रोत्साहन से एक दूसरे को दबाता रहा। ७ वीं शताब्दी के मध्य में सम्राट् हर्ष के प्रोत्साहन से अस्तकाल की चमत्कृति दिखाता हुआ बुद्धधर्म ८ वीं शताब्दी के अन्त में भारत से सदा के लिये विदा हो गया। इस से पीछे पालवंश से सम्मानित होकर बुद्धधर्म का कुछ अस्तित्व मगधवङ्गाल में रह गया था। वहाँ पर मुसलमानों के आक्रमण होने से पालवंश का अन्त होते ही बुद्धधर्म भी लुप्त हो गया। यहां पर विचित्रघटना यह है कि बुद्धधर्म का जन्म-दाता भी मगध प्रान्त है और इसको भारत से सदा के लिये निर्वासित कर देने का सौभाग्य भी इसी को प्राप्त है। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यदि हम हिन्दु और बुद्धधर्म की तुलना करें तो हिन्दुधर्म में पर्य्याप्त से भी अधिक विशेषताएं मिलेंगी। उदाहरणार्थ, वैदिकधर्म धार्मिकविचारों के साथ राष्ट्रीयभावों की शिक्षा देता है। इस के प्रतिकूल, बुद्धधर्म राष्ट्रीयभावों को कुचलने का काम करता है। हम पीछे लिख आए हैं, वैदिकधर्मी पुष्पमित्र ने यवनराज मिनेण्डर को परास्त कर भारतीयस्वतन्त्रता की रक्षा की। शकारी द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) ने सिथियन जाति की बन्धनशृङ्खलाओं से भारतमाता को विमुक्त किया।

## राष्ट्रभक्त अर्जुननरेश का आत्म-बलिदान

सम्राट् हर्ष बुद्धधर्म से प्रभावित होने के कारण राष्ट्रीयभावों से कोरे थे। उनका समानधर्मी विदेशी चीनियों से हार्दिक स्नेह था। इन के शासनकाल में यहाँ चीनियों के लिये सर्वप्रकार की स्वतन्त्रताएँ थीं। अतएव उन का यहाँ आना जाना निरन्तर आरम्भ हो गया था। चीन के धार्मिक उपदेशकों के कारण हिन्दुओं की पुरातनसभ्यता पर असह्य आघात हुये। चीनियों की इस स्वतन्त्रता का परिणाम यह निकला कि चीन के सम्राट् ने नैपाल को अपने अधीन कर लिया। इस घटना ने राष्ट्रभक्त वैदिकधर्मियों को और भी शङ्कित कर दिया कि कहीं धर्मप्रचार की आड़ में चीनवासी भारत में अपना बल बढाकर देश को परतन्त्रता की शृङ्खलाओं में न जकड़ दें। अतएव वैदिकधर्मियों का चीनियों से मनमुटाव बना ही रहता था। हर्ष की मृत्यु होते ही तिरोहित के माण्डलिक राजा अर्जुन ने पूर्वोक्त भावों से प्रेरित होकर कुछ चीनीसिपाहियों को बन्दी कर लिया। अर्जुन एक कट्टर वैदिकधर्मी राजा था। अतएव वेदविरोधी विदेशी बुद्धधर्मप्रचारकों से घृणा करता था। महाशय चिन्तामणि वैद्य अर्जुन के विषय में ऐसा ही स्वीकार करते

हैं। तब किसी न किसी तरह चीनीदूत 'वङ्गवेन्त्से' वहां से भाग कर नैपाल पहुँच गया। तदनन्तर देशभक्त अर्जुन चीन सम्राट् के कोपानल की आहुति हुये; अर्थात् चीनसम्राट् की आज्ञा से तिब्बती और नैपाली सैनिकों ने धर्मवीर अर्जुन को सपरिवार नष्ट कर दिया। उससमय दुर्भाग्यवश उत्तरभारत के किसी भी राजा ने अर्जुन का साथ न दिया। इस का प्रधानकारण नरेशों का परस्पर द्वेषमात्र था। उस समय तो अन्य नरेशों ने प्रमादवश अर्जुन की विपत्ति को उपेक्षा से देखा; परन्तु स्वल्पसमयानंतर उन्हें उस भयङ्कर पाप का कटुफल चखना पड़ा। तब चीनियों के बृहत् दलबल से भारतीय नरेश आतङ्कित हो उठे। प्रतीत होता है, अर्जुन का सर्वनाश करने के अनन्तर चीनियों का साहस बढ गया होगा। अतएव वे अन्य नरेशों को भी आँखें दिखाने लग गये होंगे। यदि अन्य नरेशों ने उससमय अर्जुन का साथ दिया होता, तो आज उन्हें चीनी सैनिकों से भयभीत न होना पड़ता। चीनियों ने उससमय भारतीय नरेशों को केवल डरा धमकाकर ही नही छोड़ दिया; बल्कि बहुतों को अपने अधीन भी कर लिया। काश्मीर के करकोट राजवंश के इतिहासावलोकन से पता चलता है कि इस वंश का प्रथम राजा दुर्लभवर्द्धन हर्ष के समय काश्मीर का शासक था। इसके पुत्र दुर्लभक के बेटे चन्द्रापीड़ को ७२० ई० (७७७ वि०) में चीनसम्राट् की ओर से राज्यतिलक दिया गया। इस के तीसरे भाई मुक्तापीड़, उपनाम ललितादित्य को ७३३ ई० (७८० वि०) म चीन सम्राट् की अनुमति से काश्मीर का शासक बनाया गया। उक्त दोनों घटनाओं से स्फुट है कि हर्ष की मृत्यु के बाद जब भारत में अराजकता बढ रही थी, तो चीनीसैनिकों से डरकर काश्मीर नरेश ने उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया। इस से विदेशी चीनियों की भारतपर स्वाधिकार-लालसा में कोई सन्देह नही रह जाता। अतएव राष्ट्रभक्त अर्जुन ने हर्ष के मरते ही विदेशियों को यहाँ से निकाल देने का यत्न किया। यह बात ईश्वर को स्वीकृत न थी। अतएव अर्जुन नरेश सफल होने के स्थान में अपना सर्वनाश कर बैठे। देशभक्त अर्जुन का यह बलिदान अन्त में रङ्ग लाकर ही रहा। चीनियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये यहाँ बहुत यत्न किये परन्तु सब के सब व्यर्थ रहे।

## उदासीन शोभनमुनि के भव्यविचार

चीनीयात्री के पक्ष में हर्ष की राजाज्ञा के बाद उदासीन शोभनमुनि के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि, धर्मवृद्धि अधिकतया राजसत्तापर अवलम्बित है। ठीक इसीतरह राज्य भी धर्म के आश्रित होकर स्थिर होता है। वीरपुरुष का हँसते हँसते प्राणविसर्जन करना धार्मिक शिक्षा की ही महिमा है। धर्म, वीरता, राज्य, इन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत के क्षत्रिय महापुरुष जबतक क्षात्रधर्मकी महिमा को समझते हुये समर-भूमि में अपने प्राणपण से वीरता का परिचय देते रहें तबतक भारत का अकण्टक साम्राज्य बना रहा। अतएव संसार की किसी भी जाति को इस की ओर आँख उठाकर देखने का साहस नहीं हुआ। भारत में बुद्धधर्म की विषैली-शिक्षा ने क्षात्रधर्म के गौरव को नष्ट कर दिया। अतएव लोगों के हृदय से वीरता के भाव भी लुप्तप्रायः हो गये। वीरता ही जाति के जीवन का चिन्ह है। शौर्य के बिना जाति निर्जीव हो जाती है। जीवन का अन्त होते ही

जिस प्रकार शरीर निरर्थक और निस्सार हो जाता है, उसी तरह वीरता के अभाव में जाति भी निस्सार और भूभार-सी हो जाती है। मध्य एशिया से हो रहे आक्रमण यह सिद्ध करते हैं कि अब हिन्दुजाति अपने पुरातन शौर्य को खो बैठी है। सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण करके संसार की अन्य जातियों के पास यह सँदेश पहुँचा दिया 'कि आओ! अब समय है। भारत में हिन्दुजाति मृतप्रायः हो चुकी है। ऐसा अच्छा अवसर फिर हाथ न लगेगा। सबसे प्रथम मैंने यह मार्ग खोल दिया'। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतपर सिकन्दर के आक्रमण का समाचार पा कर, वे जातियाँ, जो कुछदिन पहले, भारत के नाम से थरथराती थीं, अब इस पर आक्रमण करने की तैयारियाँ करने लगीं। इन विचारों ने शोभनमुनि के शान्तमन को क्षुब्ध-सा कर डाला। पर्य्याप्त देर, सोच विचार के बाद उन्होंने यह बात निकाली कि अब दो प्रबल आन्दोलनों की आवश्यकता है-एक धार्मिक और दूसरा नैतिक। धार्मिक आन्दोलन तो विद्वानों द्वारा किया जा सकता है। दूसरे का स्वरूप यह है कि किसी जाति के उत्साही नेता के आधिपत्य में उसी जातिका संगठन किया जाय, जो स्वभावतः युद्धप्रिय हो और आजतक बुद्धधर्म की विषैली-शिक्षा से कोसों दूर रही हो। शोभनमुनि जी इसी धुन में भारत का भ्रमण करते करते राजस्थान पहुँचे।

वहाँ उन्हें एक हारीतनामक ब्राह्मणकुमार मिला। हारीत की अवस्था इस समय लगभग ३५ वर्ष की थी। मुनि जङ्गल में वहीं ठहरे जहाँ वह गुहा थी, जिस में कुमारबप्पा को हारीत का साक्षात्कार हुआ था। हारीत शोभनमुनि के उपदेश से गृहस्थ त्याग कर धर्मरक्षार्थ मुनिवेष में दीक्षित हो गये। तब मुनि ने हारीत को कई एक योग के प्रकार बतलाए। इसी समय मुनि के दूसरे शिष्य गोरक्ष मुनि हुये। तब आकस्मिक ही ६८१ ई. (७३८ वि०) में शोभनमुनि ब्रह्मलीन हो गये। उनका हारीत को अन्तिम उपदेश यह था:—

"हारीत! सच्ची गुरुसेवा यही है कि देश में आई हुई आन्तरिक दुर्बलता को विद्या, तप और योगादिबल से तथा धर्मप्रचार द्वारा दूर करना, और बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से देश की रक्षा के लिये वीरजातियों का संगठन करना।"

## (३ तरङ्ग)

# "हारीत मुनि"

हारीतमुनि के गुरुभाई गोरक्षमुनि उसी जङ्गल में तपश्चर्य्या करते रहे, और हारीतमुनि जी राजस्थान से कन्नौज की ओर आ गये। वहाँपर इन्हें यह देख कर बड़ा हर्ष हुआ कि वैदिकविद्वान् बुद्धधर्म के मुकाबले में बद्धपरिकर हो रहे हैं। उनके युक्तिपूर्वक उपदेशों से जनता का हृदय बुद्धधर्म से हटकर वैदिकधर्म की ओर आकर्षित हो रहा है। प्रतिदिन वैदिकधर्मियों की सङ्ख्या बढ रही है। कईबार मुनि ने बौद्ध और हिन्दुओं के परस्पर शास्त्रार्थ भी सुने।

### कनौज में हारीत मुनि के भाषणका प्रभाव.

वहाँ की पूर्ण स्थिति का अध्ययन कर हारीतमुनि ने वहाँ पर एक अन्तरंग

सभा की। उसमें प्रधान प्रधान वैदिकधर्मी आमन्त्रित किये गये। हारीतमुनि ने प्रथम उनके उद्योग की भूरि प्रशंसा की, तदनु उन्हें ये दो सम्मतियाँ दीं-प्रथम कि आजकल कन्नौज-राजसिंहासन रिक्त है। अराजकता बढ़ जाने से लोग अपने अपने प्रभुत्व के लिये लड़ रहे हैं। आपलोगों का यह प्रथम कर्तव्य है कि आप संगठित हो कर अपने विचारों के राजा को कन्नौज के सिंहासन पर बैठाएँ। इस से आपके हाथ में एक अद्भुत शक्ति आ जायगी। दूसरी यह कि विद्वन्मण्डल को संगठित किया जाय। अभी बौद्धों की अपेक्षा हमारे संगठन में बहुत कमी है। साथ ही ऐसे निबन्ध लिखे जायँ जिनमें वेदोक्त कर्मकाण्ड की महिमा और असङ्गत बौद्धमत का प्रतिवाद हो। यह कार्य एक ऐसे अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वद्रत्न के ऊपर दिया जाय जो तमाम सांसारिक कार्यों पर लात मार कर धर्मसेवा के लिये अपना समस्तजीवन अर्पित कर दे। उसका केवल स्वाध्याय ही लक्ष्य हो। साथ ही उसे गृहस्थसुख का सर्वथा त्याग करना होगा। क्योंकि स्वाध्याय जैसा पवित्र कार्य ब्राह्मचर्यव्रत पालन के विना, होना कठिन ही नहीं असम्भव है। विवाहित पुरुष अपने कुटुम्ब के भरणपोषण की चिन्ता से व्यग्र रहता है। वह समयाभाव से पूर्णस्वाध्याय नहीं कर सकता। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि अपने मिथ्याभिमान को त्याग कर उस धर्मवीर विद्वद्रत्न के हाथ में हमें आत्मसमर्पण कर देना होगा। हमारा यह परम कर्तव्य होगा कि हम उसके द्वारा निर्धारित कार्यपद्धति पर चलें। देखिये हमारे पूर्वपुरुष महेशमुनि ने गुप्तवंश के नरेशों को वैदिक उपदेशों से प्रभावित कर बुद्धधर्म के नेता वसुवन्धु की तमाम चेष्टाओं को विफल कर दिया। उस समय वैदिकधर्म के पुनरुत्थान में कोई त्रुटि शेष न रह गई थी। यदि थी तो केवल यह कि हमारा धार्मिक संगठन किसी एक नेता के नेतृत्व में न रहा। वैदिकधर्मी-पण्डितों के व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के भाव ने पल्लवित और पुष्पित वैदिकधर्म-तरु की जड़ों को पोला कर दिया। बौद्धों का धार्मिकसंगठन वसुवन्धु की शिष्यपरंपरा में एक नेता के नेतृत्व में निरन्तर चलता रहा। अन्तमें इसका परिणाम यह हुआ कि पिछली शताब्दी के मध्य में शिक्षणप्रणाली की बागडोर बौद्धभिक्षुओं के हाथ में चली गई*। जहाँ तहाँ विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पाठ्यविषय ही बुद्धधर्म-साहित्य हो गया। अतएव लोग विद्यालयों से कट्टरबौद्ध हो कर निकलने लगे। उस समय बुद्धधर्म के उपदेशकों ने अपने नितान्त परिश्रम से भारत का वायुमण्डल ही ऐसा तैयार कर दिया, जिससे बड़े बड़े लोगों परभी बुद्धधर्म का प्रभाव पड़े विना न रह सका। यहाँतक कि सम्राट् हर्ष भी मित्रसेन के उपदेशों से प्रभावित हो कर बुद्धधर्म की शरण में चले गये। तात्पर्य यह है कि पददलित बुद्धधर्म ने अपनी विचित्र संगठन-शक्ति से फिर एकबार हिन्दुधर्म को नीचा दिखा दिया। हारीतमुनि के इस उपदेश का वैदिकधर्मी जनता पर विचित्र प्रभाव पड़ा। यह वृत्त ६८५ ई० ( ७४२ वि० ) का है। हारीतमुनि जी तब इधर उधर देशदशा के निरीक्षण में लग गये। वैदिक धर्मियों ने मुनि के उपदेशानुसार कनौज में वैदिक राज्यस्थापना की चेष्टा आरम्भ

*छठी शताब्दी के मध्य में ह्वेनसांग चीनीयात्री भारत में भ्रमणार्थ आया। इसने तत्कालीन भारतीयशिक्षणप्रणाली पर सविस्तर लिखा है। जिससे यह प्रमाणित होता है।

की। उनके ८ आठ वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम से कनौज के राजा वैदिकधर्मी यशोवर्मन हुये।

## हारीत को शिष्यरत्न की प्राप्ति.

यह देख कर हारीतमुनि की प्रसन्नता की सीमा न रही। वे अपने प्रयत्न को सफल देख फूले न समाते थे। अब मुनि ने एक कार्य में सफलता प्राप्त करने के बाद, अपने दूसरे लक्ष्य की ओर दृष्टिपात किया। वह यह था कि जिस प्रकार यशोवर्मन के कनौज का शासक नियुक्त होने से वैदिकधर्मियों का नैतिकबल दृढ हो चुका था, उसी प्रकार उनके धार्मिकबल को दृढ और अजेय बनाने के लिये किसी ऐसे विद्वद्रत्न को पैदा करना था, जिसकी विचित्र-प्रतिभा के आगे संसार का मस्तिष्क अपनी हार मान जाय। अतएव उसी उद्देश्य को सामने रखकर मुनि ने भारतभ्रमण आरम्भ किया। साथ साथ वैदिकधर्म का प्रचार भी करते जाते थे, और अपने उच्चलक्ष्य की पूर्त्ति का साधन भी ढूँढते रहते थे। भ्रमण करते हुये मुनि उत्तरभारत से पूर्वदक्षिणभारत में जा पहुँचे। दैवयोग से वहाँ महानदी के तटपर "जयमङ्गल" ग्राम में मुनि को कुमारिल नामक शिष्य-रत्न की प्राप्ति हुई।

## बालक कुमारिल का वेदपर दृढविश्वास.

यह लोकोक्ति है कि कुमारिल के पिता के यहाँ एक बहुत पुरातन हस्तलिखित वेदपुस्तक थी। कुमारिल का यह दैनिककर्तव्य था कि वह अपनी वाटिका से भाँति भाँति के रंग विरंगे फूल लाकर उसपुस्तक का अनन्यश्रद्धा से प्रतिदिन पूजन किया करता था। सच कहा है "होनहार विरवान के होत चीकने पात," बालक कुमारिल की वेदपूजा दिनचर्या-सी बन गई थी। एकदिन उसके पिता ने उसकी श्रद्धा की परीक्षा करने के लिये वेदपुस्तक को नियतस्थान से उठाकर कहीं अन्यत्र रख दिया। कुमारिल जब वाटिका से फूल लाकर वेद की अर्चा करने लगे, तब उन्होंने वहाँ वेदग्रन्थ के दर्शन न करने के कारण करुणामय स्वर से रोना आरम्भ किया। पिताने उन्हें तरह तरह के प्रलोभन देकर प्रसन्न करना चाहा, परन्तु कुमारिल के आगे वे सबके सब व्यर्थ सिद्ध हुये। बालक कुमारिल नितान्त चिन्तापरायण होकर इधर उधर वेद की खोज करने लगे। अपने प्रियपुत्र कुमारिल की असह्य हार्दिकवेदना का सहन न करके उसकी माता ने उसके पितासे उसे वेद दे देने के लिये कई बार इशारा किया। परन्तु उसदिन कुमारिल का पिता हठात् अपने हृदय को कठोर कर, पुत्र के वेदसम्बन्धी अपूर्वप्रेम की परीक्षा के लिये तुला हुआ था। कुमारिल हाथों में फूल लिये उत्कण्ठित से हो कर इधर उधर घूमने लगे। उस समय कुमारिल की विचित्र दशा हो रही थी। वे कभी चिल्लाते थे और कभी वेद को इसतरह उपालम्भ देना आरम्भ करते थे। "भगवन्! मैंने कौनसा अक्षम्य अपराध किया! जिससे आप मुझे दर्शन देना उचित नहीं समझते। दयालो! मुझ बालक की दैन्यदशा पर आपको दया नहीं आती? दीनबन्धो! मैं समझ नहीं सका, आपकी इतनी अकारणकठोरता मुझे क्यों नीचा दिखा रही है? इसी तरह बोलते बोलते मध्यान्ह समय हो गया। पिता ने कुमारिल से भोजन करने को कहा। उत्तर मिला, मैं वेदार्चन करे बिना कभी अन्नजल ग्रहण न करूँगा। यह बात मैं साधारण शब्दों में नहीं कहता बल्कि प्रण करता हूँ। अन्तमें वेद न मिलने से घबरा-से गये। अतः पुनः पुनः मूर्छित हो कर गिरने लगे।

जब पिता उनकी दशा को आखों से देख न सके तब उन्होंने चुपचाप वेद की पुस्तक ला कर वहीं रख दी। जब कुमारिल होश में आए तो कहा ! बेटा ! उठो वेदभगवान् आगये हैं। इनके अर्चन से अपने मन को शान्ति दो। इन शब्दों ने कुमारिल के क्षुब्ध हृदय को शान्त कर दिया। निराशातप से मुर्झाई हुई कुमारिल की मनःकलिका पिता की शब्दसुधावृष्टि से फिर खिल उठी। कुमारिल फूल लेकर आगे बढे। अपने इष्टदेव का दर्शन होते ही जान में जान आ गई। कुमारिल ने पुष्पादिक से वेद की पूजा की और परमात्मा को धन्यवाद दिया। कुमारिल की यह विचित्र घटना उस समस्तप्रान्त में शीघ्र ही प्रसिद्ध होगई। इस बात की घर घर में चर्चा होने लगी, और लोग बालक के वेद पर इस लोकोत्तर विश्वास की प्रशंसा करने लगे।

उस प्रान्त में हारीतमुनि जी एकदिन सर्वसाधारण जनता में बैठे वैदिकधर्म का उपदेश कररहे थे। तब किसी प्रेमी ने कुमारिल की यह समस्तघटना मुनि को सुनाई। सुनते ही मुनि जी समझ गये। बस यह वही पुरुषरत्न है, जिसके अन्वेषण में हम सैंकडों कोश का चक्कर काट कर यहाँ पहुँचे हैं। अतएव मुनिमहाराज कुमारिल से भेंट करने के लिये वहाँ पहुँचे। इस गाँव का नाम जयमङ्गल था। कुमारिल जैसा सुनने में आया था मुनि ने उसे वैसा ही पाया। मुनि ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि ( योगबल ) से कुमारिल में कई चिन्ह ऐसे देखे जो उसके महापुरुषत्व के सूचक थे। अबतो मुनि के आनन्द का ठिकाना न रहा। मानो किसी को मनोवाञ्छित फल मिल गया।

## छात्रकुमारिल का हारीतमुनि से शास्त्राध्ययन।

कुमारिल इस समय ११ वर्ष के थे। अपने पिता यज्ञेश्वर से वे वेदादिसत्यशास्त्रों का अध्ययन कर रहे थे। कुमारिल के मनमें शास्त्रार्थों द्वारा बौद्धों का दमन करने की बचपन से ही बडी उत्कट इच्छा थी। अतएव कुमारिल बौद्धों को परास्त करने के उपायों के अन्वेषण में रहता था। हारीतमुनि से भी कुमारिल ने शास्त्रार्थ करने के प्रकार पूछे। मुनि ने साधुवाद से उसका उत्साह बढाते हुये कहा–वत्स ! वेदप्रतिपाद्य तीन विषय हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान। उपासना का सम्बन्ध ईश्वर और उसकी विभूति देववर्ग से है। बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते। अतः उपासनावाद को लेकर शास्त्रार्थ करना केवल अपने आपको फँसाना है। अतएव सफलता की संभावना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि उपासना को लेकर शास्त्रार्थ करने में बौद्धों को हमारे पर प्रहार करने का समय मिलता है। बुद्धिमत्ता तो केवल इस में है कि अपने सिद्धान्तदुर्ग को सुरक्षित रखते हुये दूसरे के मतदुर्गपर आक्रमण करे। कर्मास्तित्व को बौद्ध भी मानते हैं। अतः कर्म को प्रधानता देते हुये बौद्धों से शास्त्रार्थ करना उचित होगा। इस पक्ष में, उपासनावाद में ईश्वरास्तित्व की भाँति कर्मास्तित्व के विवाद में न फँस कर, अनायासतः बौद्धसिद्धान्त–दुर्गविध्वंस करने का अवसर हाथ लग जाता है। ज्ञानविषय को लेकर भी बौद्धों से शास्त्रार्थ किया जा सकता है। परन्तु विषय नितान्त गम्भीर है। सर्वसाधारण जनता उसके समझने में असमर्थ है। अतः इस मार्ग में अधिक लाभ नहीं। यदि बौद्ध ज्ञानवाद में परास्त भी हो जायँ तो भी इतना लाभ नहीं। अभी ऐसी स्थिति

पैदा नही हुई कि जनता ऐसे गहनविषय को समझ सके। अतः हमें जैमिनीमीमांसा को ही अधिक अपनाना चाहिये, यज्ञेश्वरभट्ट ने मुनि की इस रहस्यपूर्ण सम्मति को सुन कर मीमांसापढाने का कार्य मुनि को ही सौंप दिया। मुनि ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। स्वल्पकाल में ही मुनि ने पूर्वमीमांसा के शावरभाष्यादि-निवन्धों के गूढतम रहस्य कुमारिल को अधिगत करवादिये कुमारिल की अद्भुतप्रतिभा और मुनि के अपूर्व अध्यापनानुराग ने कुमारिल को शीघ्र ही सफल वना दिया। कुमारिल २ वर्ष में मीमांसाशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् वन गये। हारीतमुनि ने कुमारिल से गुरुदक्षिणा लेते समय यह प्रण करवाया कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वैदिकधर्म का प्रचार और देश की उन्नति करते रहना। हारीतमुनि शत्रुपराजय के प्रधानतम साधन शत्रुसिद्धान्तदुर्ग का परिचय प्राप्त करने के लिये बुद्धधर्म-ग्रन्थावलोकन की अनुमति देकर जयमङ्गल गाँव से कनौज की ओर चलदिये। इधर मुनि के उद्देशानुसार वैदिकधर्मी जनता अपने निहायत परिश्रम से एक कट्टर वैदिकधर्मी राजा यशोवर्मा को कन्नौज का शासक वना कर अत्यन्त हर्षित हुई। मुनिका आगमन सुनते ही कन्नौज की विद्वन्मंडली दर्शनार्थ सेवा में उपस्थित हुई। विद्वत्समाज ने अपना समस्तकार्यक्रम मुनि की सेवा में सविस्तर निवेदित किया। वाद में विद्वन्मण्डली ने साञ्जलि कहा-महाराज! आपके शुभाशीर्वाद से कन्नौज अव वैदिकधर्म का केन्द्र वन गया है। अव केवल यही इच्छा शेष है कि आपके आदेशानुसार कोई ऐसा विद्वान् मिले जिसके नेतृत्व में निरन्तर धार्मिकप्रचार होता रहे और धार्मिकनिवन्धों की रचना की जाय। मुनि ने अपने शिष्य कुमारिल की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुये कहा कि वह आपके नेता वनने के योग्य है।

## कोविदकुमारिल का वौद्धों से शास्त्रार्थ

कुमारिल ने हारीतमुनि से छः दर्शनों का पूर्णविज्ञान प्राप्त करने के वाद उन्हीं की आज्ञानुसार वुद्धधर्मपुस्तकें देखनी आरम्भ कीं। इस वृहत्कार्य में कुमारिल को वुद्धधर्माचार्य श्रीनिकेत से पर्य्याप्त सहायता लेनी पडी। इसी समय भट्टने इस वात का भी पूरा पूरा परिचय प्राप्त कर लिया कि किसतरह वुद्धधर्माचार्य्य अपने शिष्यों को वेदविरुद्ध कैसी २ तर्कें सिखाते हैं। वुद्धधर्म का पूर्णपरिचय प्राप्त करने के वाद कुमारिल के मन में वैदिकधर्म की स्थापनार्थ तरह तरह के विचार उठने लगे। वौद्धों के मुख से वेदविरुद्ध तर्कें सुन कर कुमारिल के हृदय में घाव हो जाते थे। शास्त्रार्थों में उन्हें परास्त कर उन्हीं के मुखसे वेदप्रशंसा सुनना ही इन गहरे घावों की मल्लहम थी। अतः अव कुमारिल चुप न रह सके।

इन्हीं विचारों में मग्न होकर एकदिन वे चम्पा में घूम रहे थे। घूमते घूमते ज्योंहि वे राजप्रसाद के नीचे पहुँचे त्योंही राजमहिषी, जो वैष्णवमतावलम्बिनी थी, चिन्तावश अकस्मात् वोल उठी, "किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति" अर्थात् क्या करूँ? और कहाँ जाउँ? ऐसा कोई महापुरुष दिखाई नही देता, जो वेदोद्धार का महान् कार्य अपने कन्धों पर ले!!! रानी के ये शब्द जव भट्ट के कान में पहुँचे तो उन्हों ने उत्तर दिया:—

मा !! विषीद, वरारोहे ! "भट्टाचार्यो"ऽस्मि भूतले !

अर्थात्—देवि ! चिन्ता मतकर, वेदसेवक मैं अभी इस संसार में विद्यमान हूँ । मैं वेदोद्धार के लिये अपनी जानपर खेलजानेवाली व्यक्तियों में से हूँ ।

रानी ने सन्तोषजनक उत्तर सुनकर भट्ट को ऊपर बुला लिया और प्रार्थना की कि आप मुझे कोई मुक्तिमार्ग बताइये; राजा जी मुझे बुद्धधर्म स्वीकार करने के लिये वाध्य कर रहे हैं ।

कुमारिल ने कहा कोई चिन्ता नही, आप इन श्लोकों को याद कर लें, और कभी कभी इनका अर्थ राजा से पूछते रहना । रानी ने वैसा ही किया । वे श्लोक ही इस तरह के थे जिनमें बुद्धधर्म की पूरी पोल स्फुट प्रतीत होती थी । परिणाम यह हुआ कि उन श्लोकों के कारण राजा का मन बुद्धधर्म से वदल गया । उस-समय कर्मवीर कुमारिल ने बुद्धधर्म के खण्डनार्थ ७ ग्रन्थ लिखे । धीरे धीरे वहाँ की जनता कुमारिल के उद्योग से वैदिकधर्म से कुछ सहानुभूति रखने लगी । अन्तमें भट्ट का इतना साहस वढा कि वे एकदिन अपने शिष्यों को साथ लेकर चम्पानरेश राजा सुधन्वा के दरबार में बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के लिये जा विराजे । यद्यपि राजा सुधन्वा बौद्ध था और बौद्धभिक्षुओं से उसका दरवार सदा भूषित रहता था; फिरभी भट्ट के अलौकिकपाण्डित्य से प्रभावित होकर दरवार को उनका स्वागत करना ही पड़ा । भट्ट अपने शिष्यों सहित जव दरवार में उचित आसन पर वैठ गये तो पास के तरुवर पर वैठे किसी कोकिल की मधुर ध्वनी उनके कानों में पड़ी । उसे सुनते ही भट्ट वोल उठे—

मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते, नीचैः काककुलैः पिक !
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेत् ।

( शंकरदिग्विजय, सर्ग १ श्लोक ६५ )

अर्थात्—कोकिल ! यदि तू, अकारण परदुःखदायी, नीच और वृथा काँय काँय श्रुतिकटु रव से लोगों के कानों में पीडा करनेवाले कौवों का सहचार छोड़ दे तो तू प्रशंसनीय हो सकता है । उक्त श्लोक का दूसरा अर्थ राजा सुधन्वा और बौद्धों पर भी घटता है । यहाँ पर गूढोक्ति अलङ्कार है । इसमें किसीके उद्देश्य से किसीको कुछ कहा जाता है । जैसे यहाँ पर. भट्ट का भाव यह है कि अयि क्षत्रियवंशावतंस वीर राजन् ! तू अपने ईश्वरदत्त अद्भुत गुणोंद्वारा विश्वभर को प्रसन्न कर सकता है । ईश्वर ने तुझे राजवंश में जन्म दिया है । क्यों व्यर्थ ही इन नास्तिक और अकर्मण्य वौद्धों के कुसङ्ग से अपनी निन्दा करा रहा है ? यदि तू संसार में प्रसिद्ध और प्रशंसनीय होना चाहता है तो इन विकृतान्तःकरण वौद्धों का साथ छोड़ दे । इस श्लोक को सुनते ही राजदरवारस्थित वौद्ध-विद्वत्समाज आग ववूला हो गया । मारे क्रोध के सव की आँखों से खून वर्षने लगा । दोनो ओरसे शास्त्रार्थ की घोषणा करदी गई । राजा सुधन्वा के सभापतित्व में शास्त्रार्थ होना आरम्भ हुआ । उदासीनमुनि हारीत के योग्य सुशिष्य कर्मवीर कुमारिल

की सिंहगर्जना से बौद्धविद्वानों के दिल दहलने लगे। अन्तमें पर्य्याप्त वादविवाद के अनन्तर कुमारिल के आगे बौद्धों को मुँह की खानी पड़ी+।

## धर्मवीर कुमारिल का आदर्शसाहस

इस शास्त्रार्थ से सुधन्वा और उसके राजकर्मचारी प्रकाण्डपण्डित कुमारिल के अद्भुत पाण्डित्य पर मुग्ध हो गये। यदि उस समय वहाँ वैदिकधर्मी जनता का कुछ वल होता तो तत्क्षण परास्त हुये बौद्धों को वहाँ से सदा के लिये विदा कर देते और कुमारिल को अपना धर्माचार्य वना कर नगर में वैदिकधर्म की पूर्ण स्थापना कर देते। परन्तु वहाँ तो नस नस में वुद्धधर्म की वीमारी ने अपना अधिकार जमा रक्खा था। अतः उस अद्भुत शास्त्रार्थ से भी वहाँ के राजा और प्रजा के सङ्कीर्ण हृदयों में वेद के लिये श्रद्धा का आसन न विछा। राजा ने कहा- शास्त्रार्थ में विजय पालेना कुछ ओर अर्थ रखता है। जो विद्वान् इस पुरोवर्ती पर्वत की सवसे ऊँची चोटी से अपने धर्म के विश्वास पर कूद जाय और नीचे पहुँच कर वह पहले की तरह सुरक्षित रहे तो मैं उसके धर्म को निर्विवाद स्वीकार कर लूँगा। यह क्रियात्मक प्रश्न को सुनते ही वौद्धों के चेहरों पर जरदी छा गई। वहुतों के पैरों के तले से जमीन निकलने लगी। तात्पर्य यह कि उन्होंने अपनी इस अकर्मण्यता से वुद्धधर्म पर अपनी हार्दिक अश्रद्धा प्रकट की; अन्यथा भरी सभा में एक दो तो ऐसे मनुष्य निकल ही आते जो धर्मपर विश्वास रख कर पर्वत परसे कूदने को तैयार हो जाते। राजा का उक्तप्रण सुनते ही कुमारिल की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उसे पूर्ण विश्वास था कि वह वेद के नाम पर यदि सागर में कूद पड़े तो उसे पानी डुवो नहीं सकता, और यदि धक् धक् जल रही ज्वालामालाकुल अग्नि में बैठ जाय तो वह उसे जला नहीं सकती, और यदि वह किसी ऊँचे पर्वत से कूदे तो उसका कोई अङ्ग भङ्ग नहीं हो सकता। संभव है इन वातों का पूर्ण अभ्यास कुमारिल को इनके गुरु हारीतमुनि ने इनकी छात्रावस्था में करवाया हो।

अन्तमें कुमारिल यह कह कर "कि यदि वेद प्रमाण हैं तो मेरी कोई क्षति न होगी" पर्वत की चोटी से कूद पड़े। नीचे आते ही उनकी एक आँख में कुछ चोट आई। कुमारिल के दर्शन करते ही राजा सुधन्वा ने वुद्धधर्म का त्याग और वैदिकधर्म को स्वीकार करने का दृढ संकल्प अपने मन में कर लिया। कुमारिल की आंख की चोट का सहारा लेकर यद्यपि वौद्धवावदूकों ने इनके विरुद्ध वहुत कुछ कहना आरम्भ किया, परन्तु राजा और प्रजा के मन कुमारिल के इस अद्वितीय आत्मत्याग और वैदिकधर्म पर अनन्य विश्वास से अव वुद्धधर्म से वदल कर वैदिकधर्म की ओर झुक चुके थे। अतः उनका किसी ने भी साथ न दिया। एकदिन एक सभा में व्याख्यान देते समय कुमारिल ने उस आंख की चोट का कारण यह वताया कि मैंने वेदविश्वासवाक्य में 'यदि' पद इस अभिप्राय से पढ दिया था कि आप लोगों को विदित हो कि वेद के प्रामाण्य में सन्देह

+ कन्नौजनरेश की विद्वन्मण्डली ने यहाँ पर ही कुमारिल के दर्शन किये। इन्होंने हारीतमुनि के मुख से कुमारिल को जैसा सुना था, उसे वैसा ही पाया।

करने से भी उसका कटुफल अवश्य चखना पड़ता है। कुमारिल के इस आत्मत्याग की चर्चा सर्वत्र फैल गई।

## आदर्श प्रायश्चित्त

इस समय राजा सुधन्वा भी वैदिकधर्मी हो चुका था। हारीतमुनि अपने प्रियशिष्य कर्मवीर कुमारिल के इस आत्मत्याग और विलक्षणसफलता का शुभ सन्देश सुन कर गद्गद् हो उठे। मुनि को इतनी प्रसन्नता स्यात् ही आगे कभी हुई हो! अव कुमारिल को जगह जगह से आमन्त्रण आने लगे। तव कुमारिल ने सर्वत्र घूम कर वैदिकधर्म का आजीवन प्रचार किया। अन्तमें प्रयागतीर्थ में त्रिवेणी के तटपर चिता वना कर अपने शरीर का अन्त कर दिया। कुमारिल का इस प्रकार देहत्याग करना यह भाव रखता है कि उन्हों ने वौद्धपण्डितों से वुद्धधर्म के सिद्धान्तों को समझा था। अतः हिन्दुसभ्यता के अनुसार कुमारिल को उनका कृतज्ञ होना चाहिये था, परन्तु कुमारिल के जीवन के लक्ष्य ने उसे ऐसा करने न दिया। अतः उस अक्षम्य अवज्ञा के प्रायश्चित्त में उन्होंने अपने शरीर को तुषाग्नि में दाह कर दिया।

यद्यपि उनका लक्ष्य समाजहितमय होने के कारण उनका उक्त अपराध सर्वथा क्षम्य भी था, परन्तु कुमारिल ने इस वात को महत्त्व न देकर प्रायश्चित करना ही अच्छा समझा। कई लोगों की यहाँ यह धारणा भी है कि जव कुमारिल अपना शरीर त्याग कर रहे थे तो वहाँ पर शङ्करस्वामी पहुँचे और उन्होंने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। परन्तु यह वात मिथ्या प्रतीत होती है; क्योंकि एक वेदभक्त दूसरे वेदोद्धारक को ऐसे समय जव कि वह इस संसार को सर्वथा छोड रहा हो, शास्त्रार्थ के लिये नही कह सकता। हां, यह संभव है कि शङ्कर ने उन से भविष्य में कैसे काम करना चाहिये-यह अवश्य पूछा होगा; क्योंकि कुमारिल कार्यक्षेत्र का अधिक अनुभव रखते थे।

राजतरङ्गिणी में लिखा है कि प्रसिद्धराजकवि भवभूति कुमारिल के ही शिष्य थे। प्रतीत होता है, चम्पानगरी के शास्त्रार्थ में कुमारिल की अपूर्व दार्शनिक योग्यता से आकृष्ट हो कर भवभूति कुमारिल के शिष्य वन गये होंगे। अतः उन्होंसे उसने पूर्वमीमांसा का ज्ञानार्जन किया। यशोवर्मा के दूसरे राजकवि वाक्पति भी कुमारिल के प्रशिष्य माने जाते हैं।

## इस्लाम और वौद्धजनता

इस समय महामुनि हारीत के यत्न से कुमारिल के नेतृत्व में धार्मिक-आन्दोलन सुचारुरूप से चलने लग गया था। वैदिकधर्म निरन्तर हजार वर्ष के संग्राम के वाद वुद्धधर्म को अभी पूर्णतया पराजित भी न कर पाया था कि अरव की ओर से एक और विपत्ति का काला वादल उमड़ पड़ा। जिसका संक्षिप्त-वर्णन यहां दिया जाता है।

इस्लाममत के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद का जन्म (६६४ वि०) ६०७ ई० में हुआ। इनकी मृत्यु के वाद इनके उत्तराधिकारी खलीफे कहलाए। आदिम चार खलीफे ये हैं-अवूवकर, उमर, उसमान, अली। यद्यपि मुस्लमानों में परस्पर अनेक भेद हैं. परन्तु प्रधान ये दो हैं-शिया और सुन्नी। शिया केवल अली

को ही मानते हैं, शेष तीनों को अनादर से देखते हैं। और सुन्नी चारों को ही समानभाव से देखते हैं। परमात्मा की माया विचित्र है। इस्लाम एक विचित्र क्रौर्य्य और शौर्य्य को ले कर जन्मा। इसीके सहारे इसने अपनी प्रथम शताब्दी में ही मिस्र, फ़ारस, स्पेन, विलूचिस्तानादि देशों को अपने अधीन कर लिया। तदनु मुसलमानों ने सिन्धदेश पर भी आक्रमण की तैयारी की। प्रथम कई एक आक्रमणों में मुसलमानों को मुँह की खाकर पीछे हटना पड़ा। परन्तु अन्तमें उमर के शासनकाल में मुर्गीराहाकिम ने कावुलनरेश जयपाल से विलूचिस्तान खोस ही लिया। यह हाकिम बाद में सिन्ध के राजा के हाथ से मारा गया। भारत के अफ़गानिस्तान और विलूचिस्तानादि प्रान्तों में इस्लाम की शीघ्र से शीघ्र सफलता का प्रधानकारण वहाँ के शासकों का बुद्धधर्मावलम्वी होना ही था। वे प्रायः धार्मिक समस्याएँ हल करने में लगे रहेते थे। उन्हों ने राज्यप्रवन्ध की ओर कभी आंख उठा-कर भी नहीं देखा था। वे अपना शौर्य और साहस खो चुके थे। अतः इस्लाम के अजेय आक्रमण के आगे वे न ठहर सके। बुद्धधर्म को तिलांजलि देकर मुहम्मदानु-यायी वन वैठे। हम यह कहने का साहस रखते हैं कि उन्हीं अकर्मण्य और धर्मा-न्धविश्वासियों ने मुसलमानों के लिये भारत का द्वार खोल दिया। सच पूछो तो, वे मुसलमानों के आगे यदि पीठ दिखाकर न भागते तो शीघ्र मुसलमानों को भारत पर आक्रमण करने का दुःस्साहस न होता। केवल इतना ही नहीं, वल्कि वे मुसल-मानों के सहायक वन बैठे। परिणाम यह हुआ कि भारत की स्थिति से पूर्णतया परिचित इन कुलाङ्गारों की वदौलत, मुसलमानों को भारतजीतना एक आसान काम हो गया। इन कायर शासकों के स्थान में यदि कोई वर्णाश्रमधर्मप्रेमी हिन्दू साहसी राजा होता तो संभव है, उन आक्रमणकारी मुसलमानों को लेने के देने पड़ जाते। संभव है मुसलमानों को अरव से भी भागना पड़ता। परन्तु यहाँ तो विधाता की इच्छा ही कुछ और थी, अतः ऐसा न हुआ। मुसलमानों ने भारतपर समय समय पर आक्रमण अवश्य किये, परन्तु उनके मन में हिन्दुनरेशों का आतङ्क अवश्य छाया रहता था। इसमें दृढतर प्रमाण यह है कि मूसा के द्वारा उत्तेजना दिलाने और जलीय सेना की सहायता भेजने पर भी खलीफा उमर ने सिन्धु पर चढाई करनें से इन्कार कर दिया। 'चच्च' के शासनकाल में अरवों के तीन आक्रमण विफल रहे। अरवों का चौथा आक्रमण 'चच्च' के पुत्र डाहर के शासनकाल में हुआ। इसवेर भी डाहर ने उन्हें मार भगाया। ७१२ ई० (७६९ वि०) में खलीफा वलीद के आदेश से कासिम के वेटे मुहम्मद के सेनापतित्व में अरवों का सिन्धु पर पाञ्चवाँ वृहत् आक्रमण हुआ। देवल और नर्वन के शासक वौद्धों ने अपने शौर्य का किञ्चित् भी परिचय न दिया। अतः कासिम ने अनायास ही इन दोनों नगरों को अपने अधिकार में कर लिया। इससे उसका धन, और जनवल के साहाय्य के इलावा, साहस भी द्विगुणित हो गया।

## कृतघ्नता का कटुफल

शिवस्तान के शासक वैदिकधर्मी वत्सराज ने मुसलमानों के साथ भिड़ने की तैयारी की; परन्तु वहाँ की वौद्धप्रजा ने यह कहकर उसका साथ देना छोड दिया कि लड़नाभिड़ना उनके धर्म के विरुद्ध कार्य था। "हम धर्मप्रचारक हैं। हम शान्तिप्रिय हैं। हमारा धर्म युद्धकरना नही सिखाता। एक हमें यह भी भय है

कि कहीं अरबवाले हमें लूट न लें।" ऐसीर विभीषिकाएँ दिखाकर वे मुसलमानोंसे सन्धि कर लेने पर उतारू हो गये। हिन्दुवीर वत्सराज युद्ध के विचार पर दृढ रहे। वे इस बात से पूर्णतया परिचित थे कि आँखें बन्द कर लेने से कपोत विड़ाल के पञ्जे से नही बच सकता।

कृतघ्न और देशद्रोही शिवस्थाननिवासियों ने मुहम्मद के पास यह सन्देश भेज दिया कि "क्या किसान और क्या व्यापारी हम सब ने वत्सराज का साथ देना छोड़ दिया है।" इस विश्वासघात का पता चलते ही वत्सराज ने ऐसी कृतघ्न और नीच प्रजा की रक्षा करना पाप समझ कर वहाँ से प्रस्थान कर दिया। नागरिकों का सन्देश पहुँचते ही मुहम्मद शीघ्र ही वहाँ आ धमका। और लगा लोगों को उनके पाप का फल चखाने। कई दिनतक नगर लुटता रहा। मुहम्मद ने लूटखसोट का सारा माल अपने सैनिको में विभक्त कर दिया। जब शहर लुट रहा था और सर्वत्र कतलेआम हो रहा था तब उस कृत्रिमधर्मप्रिय, अकर्मण्य बुद्धप्रजा को आँखें खुलीं और उसके मन में 'हिन्दुवीर वत्सराज" की स्मृति आने लगी। अब क्या हो सकता था "जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।" उक्त घटना से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बुद्धधर्म की शिक्षा मुहम्मद के सिन्ध जीतने में पर्य्याप्त से भी अधिक सहायक हुई। यदि उसे यवनाधिपत्य-स्थापिका कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नही।

## बुद्ध की शिक्षा और उस का परिणाम

महात्माबुद्ध ने भारतीय गृहकलहशमनार्थ इस भ्रातृभाववर्द्धिका शिक्षा का प्रचार किया था। उस समय किसी विदेशीशक्ति के आक्रमण का किसी ओरसे भय न था। ऐसी स्थिति में किसी अंशतक उनकी यह शिक्षा उपयुक्त हो सकती थी। हमें इस बात का अभिमान है कि महात्माबुद्ध ने एक ऐसे अभूतपूर्व और अद्भुत महान् कार्य का बीड़ा उठाया था, जिसके लिये आज संसार की केवल छोटी छोटी शक्तियाँ ही नहीं; बल्कि बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी तरस रही हैं। वह है विश्वभर में भ्रातृभावमयी वास्तविक शान्ति का राज्य। आज यूरोप में इसके लिये कई एक बृहत्संस्थाएँ भी स्थापित हो चुकी हैं; परन्तु वे अभीतक सफलता के द्वार से बहुत दूर हैं। हां, यह बात अवश्य है, यदि बुद्धानुयायी हिन्दुधर्म के खण्डन-मण्डन में न पड़ते तो संभव है, बुद्ध भगवान् इस विशाल कार्य में पर्य्याप्त सफल हो जाते। संसार के इतिहास में महात्माबुद्ध प्रथम महात्मा ही हैं, जिन्हों ने संसारभर को शान्ति का पाठ पढाना आरम्भ किया था। महात्माबुद्ध को यह देखकर दुःख हुआ कि संसार के तमाम मनुष्य विश्वनन्दनवन के भ्रातृभावरूप मधुरफल का रसास्वादन न करते हुये परस्पर विरोधाग्नि में सड़ रहे हैं। इन्होंने अपना स्वर्गीयजीवन नारकीय-यातनाओं का घर बना रक्खा है। क्याही अच्छा हो!! यदि ये सब शान्ति देवी के उपासक बनकर पारस्परिक-प्रेमपीयूष-पुष्करिणी में गोते लगाकर मानव-जीवन का वास्तविक लाभ उठाएँ। बुद्धभगवान् के पीछे उनके उक्तविचारों से प्रभावित होकर देश के नरेश, पण्डित, और बड़े बड़े दार्शनिकविद्वान् संसार के विविध-सुखों को पैर से ठुकरा कर भिक्षुक बन गये। उन्होंने परस्पर कलहव्याधि की जड़ काटने के लिये आजीवन उद्योग किया।

हमें यह देखकर हार्दिक खेद होता है कि भारतीय बौद्धमहापुरुषों ने विश्व-प्रेम की स्थापना की लालसा से अपनी जाति को वीरताहीन बना डाला। अतएव वह राष्ट्रीयस्वतन्त्रता और जातीयगौरव की रक्षा करने में असमर्थ हो गई। बुद्धधर्म की शिक्षा में सब से बढकर प्रथम अक्षम्य भूल यह थी कि महात्माबुद्ध और उनके अनुयायियों ने समस्तप्राणियों की तुलना अपने से की। नैसर्गिक और अनिवार्य्य विश्वविचित्रता की ओर ध्यान न दिया। अतएव वे शीघ्र ही इसपर विश्वास कर बैठे कि सभी मनुष्य एक ही साञ्चे में ढाले जा सकते है। अतः उन्होंने मनुष्यमात्र को सदाचारपथ का पथिक बनाने के लिये और संसार से सर्वथा दुराचारों का अस्तित्व मिटाने के लिये विश्वसंघर्ष को मिटाना चाहा। वे संसार से दुराचार दूरकरने में सफल न हो सके। हिन्दु-जाति की जीवनाधार वीरताप्रद संघर्षशक्ति के नाश हो जाने से उसका जीवन नष्ट हो गया। जीवन का प्रबलप्रमाण प्रतिरोध शक्ति में पाया जाता है। बुद्धधर्म के प्रचार से हिन्दुओं में प्रतिरोधशक्ति का सर्वथा अभाव हो चुका था। अतः भारतीयजनता को विदेशी-आक्रमणकारियों से पद-दलित होना पड़ा।

गीता के कथनानुसार विना क्रिया के कोई क्षणभर भी नही ठहर सकता। अतः जीवन के लिये संघर्ष एक आवश्यक वस्तु है। आजकल का विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है। अतः यह एक नियम ही है, जिस जाति में संघर्ष कम हो जाता है वह इस संसार से सर्वथा मिट जाती है। उत्साह, धैर्य्यादि समस्त उच्चगुण संघर्ष के ही प्रियबन्धु हैं। इनका उससे वियुक्त होकर रहना असम्भव है। विजयलक्ष्मी उत्साहादिगुणों की क्रीता दासी है।

## सिन्धुनरेश डाहर और मुहम्मदविनकासिम

हमें मुसलमानों के आक्रमण के समय दिखाई देता है कि हिन्दुओं में तब धैर्य की मात्रा बहुत कम हो गई थी। अतः एक आकस्मिकघटना के कारण हिन्दु सैनिक मैदान खाली कर देते थे। शत्रु की विजय का यह एक कारण बन जाता था। सिन्ध के एक सङ्ग्राम में उक्तघटना अक्षरशः घटी थी। मुहम्मद ने दरया पारकर सिन्धपर आक्रमण किया। सिन्धनरेश डाहर ने इसका लोकोत्तर वीरता से सामना किया। प्रातःकाल से सायंकाल तक युद्ध निरन्तर होता रहा। राजाडाहर के राजपूत सैनिकों की वीरता और कठोर-प्रहारों से अरबों के दिल दहल चुके थे। जाति के दुर्भाग्य से, राजाडाहर के हौदे को एक अग्निबाण से आग लग गई। इस की उष्णता से घबराकर हाथी दौड़कर पास की झील में घुस गया। जब राजा डाहर और उसका महावत झील से निकले तो दोनों शत्रुओं द्वारा कत्ल कर दिये गये। राजा के मरते ही सारी की सारी सेना भाग निकली। तदनु डाहर की रानी ने १५००० सैनिको कों साथ लेकर अद्भुतवीरता से मुहम्मद के दान्त खट्टे किये। रसद के निपट जानेपर जब विजय का कोई चिन्ह दिखाई न दिया तो अपनी सखियों को चिता में जलकर मरजाने की आज्ञा देकर आप स्वयं लड़ाई में लड़ती लड़ती वीरगती को प्राप्त हो गई। इसप्रकार सिन्ध अरबों के हाथ चला गया। ब्राह्मणाबाद के दुर्ग से डाहर की दो कन्याएँ मुहम्मदविनकासिम के हाथ लगीं।

उन्हें उसने उपहाररूप में खलीफा के पास भेज दिया। इन बालिकाओं को हिन्दु-जाति की मानरक्षा और अपने पिता का प्रत्यपकार ( बदला ) लेने के लिये एक अनोखा ढंग सूझा। वे खलीफा के पास पहुंचते ही फूट फूट कर रोने लगीं। खलीफा ने उनके रोने का कारण पूछा, उन्होंने उत्तर दिया कि मुहम्मदबिनकासिम ने आपके पास भेजने से पूर्व हमारे साथ दुर्व्यवहार किया। यह सुनते ही खलीफा ने क्रुद्ध होकर हिन्दोस्तान में सिपाहियों के पास यह हुक्म भेजा कि मुहम्मदबिनकासिम को कच्चे चमड़े में मढा कर बुगदाद भेज दो। खलीफा की आज्ञा पाते ही मुहम्मद वैसे ही चमड़े में मढा कर बुगदाद भेज दिया गया। वहाँ पर अपने पिता के घातक की लाश देखकर लड़कियों ने यथार्थ बात कह दी और स्वयं विष खाकर अपना अन्त कर लिया।

## हारीतमुनि के सत्सङ्कल्प की पूर्ति

डाहर की मृत्यु के बाद उसके दो बेटों ने चित्तौड़गढ में जाकर शरण ली। उन्हो के द्वारा इस दुर्घटना का शोकसमाचार राजस्थान में भी पहुँच गया। जब यही समाचार लोककर्णपरम्परया धर्मप्रेमी, राष्ट्रभक्त, महामना हारीतमुनि के कानों तक पहुँचा तो मुनि के सहानुभूतिपूर्ण, कृपालु, और परःदुखेन दुःखित हृदय में असह्य वेदना होने लगी। नीतिनिपुणमुनि के मन में बारंबार यह अद्भुत विचार उठने लगा कि कोई ऐसा धर्मवीर और राष्ट्रसेवक निकले, जिसके प्रचण्डप्रताप और लोकोत्तर भुजाबल से त्रस्त होकर विधर्मियों को सिन्ध से आगे बढने का साहस ही न हो। मुनि ने सोचा कि ऐसा नररत्न केवल धर्मप्राणा-राजपूत जाति में ही मिल सकता है। कारण, भारत का क्षात्रबल कुशिक्षा के कारण छिन्नभिन्न और नष्टप्राय हो चुका है। उस पुरातन हिन्दुशास्त्रबल की कुछ झलक यदि कहीं देखने में आती है तो वह केवल राजपूत जाति में। पर्याप्त सोच विचार के बाद मुनि ने यह दृढ निश्चय कर लिया कि अब तो वह पुरातन हिन्दुक्षात्रप्रतापानल, जो देश और काल के अनुसार अनुपयुक्त बुद्धशिक्षा-वृष्टि-वारि से अभिभूत-सा हो गया है, वैदिकधर्मोपदेशरूपी विजनवायु से आन्दोलित कर हमें फिरसे प्रचण्ड करना ही पड़ेगा। इससमय भारत की मानरक्षा की आशा केवल राजपूतोंसे की जा सकती है। धार्मिक-उत्तेजना ही इस्लाम की सफलता का प्रधान कारण है। प्रधानतया वे प्रान्त, जिनके धार्मिकविचार नितान्त दुर्बल हो चुके हैं, मुसलमानों के आगे शीघ्र ही पराजित हो बैठते हैं। हम इस बात की ओर ध्यानपूर्वक देख रहे हैं, अफगान, मिश्र, फारस, प्रभृति देशों ने किसतरह और कितनी जल्दी इस्लाम की नररक्त-प्यासी तलवार से त्रस्त होकर अपनी पुरातन सभ्यता छोड़ दी। सच तो यह है, अरबों ने धर्म के लिये मरना सीखा है। अतः उनका सामना करने में वही जाति समर्थ हो सकती है जिसमें जन्म से ही धर्म के लिये मरमिटने के भाव हों। भगवान् कृष्ण के दुर्लभ उपदेश हमें क्या सिखाते हैं! धर्म की रक्षा के लिये मृत्यु कल्याणकारी है। धार्मिकयुद्ध स्वर्ग का सदैव खुलारहनेवाला द्वार है। धर्मयुद्ध में सहस्रों प्राणियों की हत्या भी नही के बराबर और हिंसा में प्रविष्ट नही। आत्मसम्मान खोकर जीने से मरना कहीं अधिक अच्छा है। जातिपर विपत्ति का पहाड़ टूटते ही

ईश्वर के प्यारे उसका प्रतिकार करने के लिये अपने प्राणपण से मैदान में आ डटते हैं। गद्दार और कायर पुरुषकीटों को कहीं छिपने को भी जगह मिलनी कठिन हो जाती है। धन्य हो! प्रभु! क्या ही विचित्र उपदेश हैं! आज हमारी जाति को इन असह्य कष्टों का सामना करना न पड़ता, यदि उक्त पवित्रविचारों का स्रोत, जो हिन्दुजाति में सदियों से निरन्तर बहता चला आ रहा था, बौद्धकालमरुभूमि में पहुँच कर सूक न जाता। हमें पूर्ण विश्वास है। इन्हीं विचारों के प्रचार से शीघ्र ही हमारी जाति में फिर जान आ सकती है। यही इससमय भारत की मानरक्षा का वास्तविक उपाय है। ईश्वर की असीम दया से युद्धप्रिय राजपूतजाति में अभीतक उक्तविचारों के संस्कार विद्यमान हैं। वे यदि प्रयत्न किया जाय तो शीघ्र ही अपने पूर्वरूप में आ सकते हैं। मुनि का प्रतिक्षण इन्हीं विचारों में व्यय होने लगा। एकदिन जंगल में भ्रमण कररहे मुनि को एक होनहार बालक गौएँ चराता मिला। इसका नाम "बप्पा" था। मुनि ने अपनी दिव्यदृष्टि से देखकर इसे ही अपनी वीरशिक्षा का अधिकारी समझा। मुनि ने वीरबालक को पाकर परमात्मा को धन्यवाद दिया। बहुतदिन तक मुनिमहाराज इसे धार्मिकशिक्षा देते रहे।

## ( ४ तरङ्ग )

## "बप्पा"

यहां पर बप्पा का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। प्रथम यह जान लेना आवश्यक है, यह वीरवर बप्पा मेवाडपति, हिन्दुसूर्य, उदयपुर के राणों का पूर्वपुरुष है। इसके पूर्वजों का वंशपरिचय इस प्रकार है-भगवान् राम के पुत्र लव का वंशधर राजा "कनकसेन" लोहकोट का शासक हुआ। उसने सौराष्ट्र पर स्वाधिकार जमाने पर वल्लभीनगरी को अपनी राजधानी बनाया। इसके वंश में आगे प्रसिद्धराजा शिलादित्य हुआ। वल्लभीपर आक्रमण करते समय यह म्लेच्छोंद्वारा मार दिया गया। उससमय इसकी रानी पुष्पवती अपने पिता की राजधानी चन्द्रावती की ओर गई हुई थी। वापिस लौटने पर उसके पति की मृत्यु और वल्लभी के विध्वंस का शोकसमाचार उसे मिला। उससमय वह गर्भिणी थी। अतः सती होने का विचार उसे कुछदिन के लिये स्थगित करना पड़ा। जब वह बालक को पैदा कर चुकी तो अपनी सहचरी कमलावती नामक एक ब्राह्मणी के हाथ उसे सौंप कर आप सती हो गई। कमलावती ने इस नवजातशिशु का भरणपोषण बड़ी सावधानी से किया। पर्वत की गुहा में वह बालक पाला गया, अतः उस का नाम भी "गुह" ही निश्चित हुआ। पुष्पवती के आदेशानुसार कमलावती ने इसे ब्राह्मणोचित शिक्षा देनी चाही परन्तु गुह की प्रकृति इसमें प्रतिबन्धक बन बैठी। गुह अपनी उपमाता की इच्छा के प्रतिकूल भीलों से मिलकर जङ्गल में शिकार खेला करता था। अतएव वह भीलनवयुवकों का प्रेमपात्र बन गया। परिणाम यह हुआ कि उसने कुछदिन के बाद अपने मित्र भीलों की सहायता से ईदर के छोटे से राज्य पर अपना अधिकार जमालिया। इसकी मृत्यु के बाद वहाँपर इसके आठ उत्तराधिकारी निर्विघ्न और निरन्तर शासन करते रहे। अन्तिमराजा नागादित्य को स्वतन्त्रताप्रिय भीलों ने गुस्से में आकर मार डाला। उसका बेटा बप्पा उससमय तीनवर्ष का था।

कमलावती के वंशधर ब्राह्मणों ने एकवार फिर इस घराने की रक्षा की। वे इसे वहाँ से छिपा कर नागदा में ले आए।

## बालक वप्पा को एकलिङ्ग महादेव के दर्शन

वहाँ पर बप्पा धीरेधीरे बढने लगा। जब वह कुछ बड़ा हो गया तो घरवालों ने उसे गौएँ चराने लगादिया। परमात्मा की माया विचित्र है। एक राजवंश का होनहार बालक साधारण ब्राह्मणों की गौएँ चराता हुआ जङ्गलों में मारा मारा फिरता है। यह कौन जानता था कि एक न एक दिन इसी कुमार की कृपा से भारत के अमूल्य गौरव की रक्षा होगी। इसके चमकीले भाग्य से कोई भी परिचित न था। जिस जङ्गल में कुमार गौएँ चराने जाया करते थे, वह इधर उधर से कई एक पर्वतों से घिरा हुआ था। वहाँ पर कुमार वप्पा बहुत दिनतक गौएँ चराने का काम करता रहा। वहाँ पर एक विचित्र घटना घटी। वह यह कि वप्पा की धेनुओं में सब से अधिक दूध देनेवाली एक गाय दैवयोग से कम दूध देने लगी। तब घरवालों को वप्पा पर सन्देह होने लगा कि यही इस का दूध दोहकर पी जाता है। संभव है, यह स्वयं न पीकर किसी और को पिला देता हो! इसप्रकार भाँति भाँति की बातें घड़ी जाने लगीं। इन्हीं बातों से प्रभावित होकर वप्पा ने भी अब गौ की पूर्णतया चौकसीकरना आरम्भ किया। कुमार वास्तव में सच्चे थे। अतः घरवालों के सन्देह से वे मन ही मन बड़े दुःखी हुये। इसकी सचाई पर पहुँचने के लिये वे प्रतिक्षण यत्न करने लगे।

एकदिन कुमार ने अचानक देखा कि वह गौ एक कन्दरा की ओर जा रही है। कुमार भी चुप चाप पीछे पीछे हो लिये। गौ ने एक गुफा में जाकर एक बिल्व पत्रों के ढेरपर स्वयमेव दूध की धारें छोड़नी आरम्भ कीं। कुमार इसे चुपचाप खड़े देखते रहे। जब गौ अपना कार्य समाप्त कर चुकी तो वप्पा ने वहाँ जाकर बिल्वपत्रों को सावधानतया देखना आरम्भ किया। वहाँपर उन्हें एक शिवलिङ्ग का दर्शन हुआ। इसी शिवलिङ्ग का नाम पीछे से एकलिङ्ग महादेव पड़ा।

## योगिराज हारीत के आगे वप्पा का प्रण

कुमार ने आगे बढ कर एक योगी को देखा। ये वेही हमारे कुमारिल के गुरु महामना हारीतमुनि थे। वप्पा ने श्रद्धापूर्वक मुनि को साञ्जलि प्रणाम किया। मुनि ने आशीर्वाद देकर उसे अपने पास सादर बिठाया। मुनि ने कुछ धार्मिक कथायें सुनानी आरम्भ कीं। इन कथाओं के श्रवण से वप्पा की मुनिपर अगाध श्रद्धा हो गई। अतएव वह मुनि की सेवा में प्रतिदिन उपस्थित होने लगा। मुनि के मुख से प्रतिदिन धार्मिक उपदेशों का श्रवण कर, वप्पा के मन में धार्मिक भाव जाग्रत हो उठे। अतएव वप्पा उन्हें अपना गुरु मानते थे। कुमार की अनन्य श्रद्धा और प्रतिदिन की सेवा से प्रसन्न होकर मुनि ने उसे भाँति भाँति के धार्मिक उपदेश दिये। जब मुनि ने देखा कि वप्पापर धार्मिकरंग अच्छी तरह जम चुका है, तो मुनि ने उसका यज्ञोपवीत संस्कार करवाया। तदनु एक यज्ञ किया गया, जिसमें भवानी के आवाहनका कार्य मुनि ने स्वयं किया। भवानी ने प्रत्यक्ष हो कर कहा–"वरं ब्रूहि"! तब मुनि ने देवी से एक खड्ग और एक तीर वप्पा को

दिलवादिया। उसी समय मुनि ने उसे एकलिङ्ग के दीवानपद की उपाधि वितरण की। उस उपाधि को आजपर्य्यन्त उदयपुर के राणा सहर्ष धारण करते चले आते हैं। मुनि ने वप्पा को बहुतसी वीरता की वातें सुनाकर उत्साहित किया और यह भविष्यवाणी की तुम संसार में अद्वितीय महापुरुष होगे। मुनि की यह लोकोत्तर वाणी सुनकर वप्पा प्रेम से विव्हल होकर उनके चरणों पर लेट गया। मुनि ने उसे सादर उठाया और पीठपर हाथ फेर कर कहा–"बेटा! इस समय विधर्मियों के आक्रमण से देश और जाति को बचाना तुम्हारा प्रथम कर्त्तव्य है"। वप्पा ने हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! शरीर में प्राण रहते तक मैं आप की इस आज्ञा का पालन करता रहूँगा।" तब मुनि ने उसे अपने गुरुभाई गोपालमुनि के दर्शनार्थ जाने को कहा। (बहुत से इतिहासलेखकों ने गोपालमुनि का नाम गोरक्षमुनि भी लिखा है)

मुनि को प्रणाम कर वप्पा गोपालमुनि के दर्शनार्थ गया। वप्पा के साथ वार्तालाप करने से गोपालमुनि अत्यन्त प्रसन्न हुये। जब वप्पा वहाँ से वापिस लौटने लगा तो मुनि ने इसे एक होनहार भावीवीर समझकर इसे एक विचित्र तलवार दी। यह एक ऐसी अद्भुत तलवार थी कि जिसकी तीखीधारा पत्थर के काटने से भी कुण्ठित न होती थी। ऐसी अद्वितीय तलवार पाकर वप्पा का उत्साह द्विगुणित हो गया।

## सामन्त वप्पा की गज़नीविजय

तदनन्तर वीरवप्पा चित्तौर पहुँचे। वहाँ पर इनका मामा राजा "मान," जो मोरी वंश का था, राज्य करता था। उसने कुमार वप्पा का सहर्ष स्वागत किया। कुछदिन वाद वप्पा के अद्भुत गुणों से प्रभावित होकर राजामान ने इसे अपना प्रधान सामन्त बना लिया। इसके साथ राजा का अधिकप्रेम देखकर दूसरे सामन्त मन ही मन जलने लगे। कुछसमयवाद सिन्धपर अधिकार जमाकर मुसलमान राजस्थान की ओर बढने लगे। तब राजाने अपने सामन्तों को बुलाकर कहा कि सेना लेकर लड़ने जाओ। तब वे सबके सब एक स्वर में बोल उठे "हम कदापि लड़ने न जायँगे। आप उसे ही लड़ने भेजिये जिसका आप सबसे अधिक सम्मान करते ह।" तब बप्पा सेनापति बनाए गये और वे एक विशालसेना लेकर शत्रु का सामना करने को चले। यह घटना देख कर समस्तसामन्तों को भी अपना हठ छोड़कर वप्पा के साथ जाना पड़ा। इससमय वप्पा के साथ एक भीलों की सेना भी थी। आक्रमणकारी मुसलमानों के छक्के छूट गये, जब उन्हें वप्पा के साथ युद्धकरना पड़ा। वप्पा ने उन्हें बुरीतरह से पराजित किआ। वप्पा के शौर्य के आगे मुसलमानों को भागना पड़ा। वप्पा ने भी उनका पीछा किया। उसने गजनी से भी आगे तक उन का पीछा न छोड़ा। उनदिनों में गजनी का शासक सलीम था। वप्पा ने उसे गद्दी से उतार कर उसकी जगह अपने भतीजे को वहाँ का शासक नियुक्त किया! वप्पा की इस लोकोत्तरवीरता से ईर्षालु सामन्त भी इसे अपना श्रद्धेय मानने लगे। इस अद्वितीय विजय के बाद वप्पा एक अत्यन्त बलवान् वीर भारतभर में ही नहीं, अन्यदेशों में भी प्रसिद्ध हो गया। बाद में हम वप्पा को चित्तौर का राजा बना हुआ पाते है।*

* यह घटना टाडसाहिब के मत में ७२७ में हुई। गजेटियर इसे ७३३ ई० में मानते हैं।

वीरवप्पा के सम्बन्ध में एक यह भी लोकोकोक्ति प्रसिद्ध है कि उन सामन्तों से मिलकर वप्पा ने अपने मामा से चित्तौर का राज्य छीन लिया। परन्तु यह बात केवल कल्पना ही प्रतीत होती है। क्योंकि वप्पा एक धर्मात्मा महापुरुष थे। अतः उनके द्वारा यह विश्वासघात कदापि विश्वसनीय नहीं हो सकता। विशेषतया आदर्शमहात्मा हारीतमुनि के शिष्य होकर वप्पा ऐसा निन्दनीय कार्य कदापि नहीं कर सकते थे। हां, यह हो सकता है कि उनके मामा के पीछे कोई सन्तान न हो, अतः पीछे से वेही राज्य के उत्तराधिकारी ठहराए गये हों। इस प्रकार वीर वप्पा अपने अद्भुत बाहुवल से देश और जाति के अमूल्यगौरव की रक्षा करते करते बहुत दिन तक चित्तौर में शासन करते रहे। अन्त में हारीतमुनि के धार्मिक उपदेशों की मर्य्यादानुसार वीरवरवप्पा ७६३ ई० ( ८२० वि० ) में अपने बेटे को राज्यतिलक देकर आप स्वयं संसार से विरक्त हो गये। तब से वप्पा का शेषजीवन भगवान् शङ्कर की उपासना में व्यतीत हुआ।

## महामुनि हारीत के आदर्शशिष्य

प्रातःस्मरणीय हारीतमुनि ने धार्मिकवीर कुमारिल और नतिकवीर वप्पा–ये दोनों ऐसे रत्न पैदा किये, जिन्हों ने जाति के मान, और धर्म को बचा लिया। वप्पा के वंशधरों ने आरम्भ से लेकर मुस्लिमराज्य के पतनतक अपने अद्वितीय पराक्रमों से देश के गौरव की रक्षा की। भारत में केवल यही एक वंश था, जिसका विधर्मियों के आगे सिर न झुका। मुस्लिमआक्रमणों की चार लहरें भारत में भिन्नभिन्न समय में आईं। उनमें प्रथमलहर वह थी जिसने सिन्धपर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। शेष तीनों का वर्णन यथासमय लिखा जायगा। इन चारों का सामना करने का अमितगौरव केवल राजपूतजाति, विशेषतया वीरवप्पा के वंशधरों को प्राप्त है।

इसप्रकार, महामुनिहारीत का वप्पा–धार्मिकशिक्षण भारत की ओर बड़े वेग से बढरहे इस्लामनद के अवरोधार्थ एक दृढबन्ध सावित हुआ। महामुनि जी के धार्मिकसदुपदेशों और विविधसदुद्योगों से हिन्दुजाति में एक अद्भुत धार्मिक उत्तेजना फैल गई। जिसके प्रभाव से हिन्दुजाति के हजारों वीरपुरुष धर्म के नाम पर हँसते हँसते वीरगति को प्राप्त हो गये। मुसलमानों को यह बतादिया कि तुम्हारी अपेक्षा कई गुणा अधिक हम अपने धर्म के लिये मरना जानते हैं। इसी धार्मिक उत्तेजना के प्रभाव से हिन्दुजाति ने राजसिंह, वीर शिवाजी, वीर वैरागी प्रभृति वीररत्नों को पैदा किया; जिनके असीम और अतुलनीय साहस से मुस्लिमराज्य भारत से सदा के लिये विदा हो गया।

उनदिनों में हिन्दुओं की नैतिक स्थिति के सुधार का काय अधिकतया वीरवर वप्पा के ऊपर अवलम्बित था+। धार्मिकस्थिति का कार्य महामना कुमारिल ने सम्भाल लिया था। अतः ये दोनों महापुरुष हिन्दु–जाति के जीवनदाता हैं।

+ ऐतिहासिकों ने वप्पा की तुलना यूरोप के चार्लस मार्टल से की है। स्पेन को जीत कर जब इस्लामी फौंज फराँस की ओर बढीं तो पैरिस की प्रसिद्ध लड़ाई में उन्हें पराजित कर इस्लामी लहर से यूरोप की रक्षाकरनेवाले फरांस के जनरल देशभक्त चार्लस

## श्रीशङ्करस्वामी

कुमारिल के शेष कार्य को पूर्ण करने का सौभाग्य माननीय श्रीस्वामीशङ्कर को प्राप्त है। कुमारिल के अमितपरिश्रम से कर्मकाण्ड का प्रचार तो सर्वत्र हो ही चुका था। तब शङ्करस्वामी ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया। अतः यहाँ पर आपका परिचय देना भी आवश्यक है। हिन्दु-जाति के बड़े बड़े सुधारकों में आपभी प्रविष्ट हैं। बचपन से ही आप विद्यानुरागी थे। छोटी अवस्था में ही आपने समस्तशास्त्रों को हस्तामलकवत् कर लिया। जीवन के उच्चलक्ष्य ने आप को सांसारिकबन्धनों से दूर रक्खा। अतः कुमारिल के कार्यक्षेत्र को कमीकी पूर्त्ति ही आप के जीवन का ध्येय हो गया। आपने परममान्य अद्वैतसिद्धान्त की फिरसे प्राण-प्रतिष्ठा की। आप ने धर्मप्रचारार्थ कन्या-कुमारी से काश्मीरपर्यन्त भारतभ्रमण किया। आपने आवश्यकतानुसार कई एक ग्रन्थ भी लिखे। जिनमें प्रधान ये हैं-गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य और ब्रह्मसूत्रभाष्य। शास्त्रार्थों में आप की युक्तियों के आगे बड़े बड़े विद्वानों को हार माननी पड़ती थी। युक्तियों में आप विश्वविख्यात हो गये थे। कुमारिल के प्रधानशिष्य विद्वन्मणि मण्डनमिश्र ने अपने गुरु की अनुमति से धर्मप्रचार में आपका साथ दिया। प्रथम, मण्डनमिश्र का कर्मकाण्ड पर अधिकविश्वास था। आप के सहवास से उसकी अद्वैतवाद पर अनन्यश्रद्धा हो गई। आगे जाकर इन्हीं का नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। धर्मप्रचार के कार्य को स्थिररूप में लाने के लिये आपने एक अच्छा ढंग निकाला; वह यह कि भारत की चारों दिशाओं में चारमठों की स्थापना की। द्वारिका में शारदा, जगन्नाथ में गोवर्द्धन, मैसूर-राज्य में शृङ्गेरी, और उत्तराखंड में ज्योतिर्मठ की स्थापना की। आप के इस प्रशंसनीय उद्योग से भारतभर के वेदविरोधी मत सब के सब दुर्बल पड़ गये। बुद्धधर्म तो यहां से सदा के लिये विदा हो गया। चतुर्थाश्रम की दशनामशाखा आप को अपना आचार्य मानती है। आप का समस्त जीवन धर्मप्रचार में ही काम आया। ३२ वर्ष की अवस्था में आपका शरीर शान्त हो गया। भारत में वैदिकधर्म के प्रचारकों में आपका नाम श्रद्धा से लिया जाता है। आपके अनुपम उपकारों से हिन्दु-जाति आपकी यावच्चन्द्रदिवाकरौऋणी रहेगी। आपके बाद आपके उत्तरधिकारियों ने भी धर्म का प्रचार अपने प्राणपण से किया।

## कुमारिल और शङ्कर की कार्यसमता

कुमारिल और शङ्कर के कार्यों में प्रायः समानता देखने में आती है। जिस प्रकार कुमारिल ने आ-जीवन धर्म-प्रचार किया-ठीक यही बात हम शङ्कर के जीवन में पाते हैं। कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, प्रभृति निबंन्ध लिखे। आवश्यकतानुसार शङ्कर को भी निबन्ध लिखने पड़े। कुमारिल के प्रशंसनीय उद्योग से हिन्दुओं

मार्टल ही थे। ठीक इसीतरह सिन्ध की विजय के बाद जब खलीफा की फौजों ने सिन्ध से आगे राजस्थान की ओर बढना चाहा तो उन्हें राजपूतरियास्तों से टक्कर लेनी पड़ी। हिन्दु-जाति के सौभाग्य से सिन्ध के पास वे क्षत्रियवंश आ उपस्थित हुये जिन्होंने आक्रमणकारी अरबों से आगे बढ कर दो हाथ किये। अपने भुजाबल से उन्होंने इस्लाम की बढरही लहर को वहीं थाम दिया। इन राजपूतसैनिकों का जनरल वीरवप्पा ही था।

को धार्मिकस्थिति उस समय उन्नत दशापर पहुँच गई थी, और शङ्कर ने उसे और भी दृढ बना दिया। यदि उधर कुमारिल अपने शरीर को तुषाग्नि में दग्ध कर देते हैं, तो इधर शङ्कर का शरीरपात भी विपक्षियोंद्वारा खिलाए गये विष से होता है। तात्पर्य यह है कि शङ्कर और कुमारिल की जीवन-घटनाएँ प्रायः सब को सब मिलती जुलती ही हैं। कुमारिल का कार्य समाप्त होते ही शङ्कर का कार्य आरम्भ होता है। सम्भव है शङ्कर ने कुमारिल के जीवन को अपना आदर्श बना लिया हो।

## कुमारिलकालनिर्णय

कुमारिल का जन्म कब हुआ-यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। आमलोगों की यह धारणा है कि कुमारिल का जन्म ७ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। ऐतिहासिक लोग कुमारिल और शङ्कर के बीच का समय लगभग १०० वर्ष का स्वीकार करते हैं। शङ्कर का जन्मकाल इतिहासवेत्ताओं ने ७८८ ई० ( ८४५ वि० ) निर्धारित किया है। कुमारिल के शिष्य भवभूति जिस राजा ( यशोवर्मा ) के यहाँ राजकवि थे, काश्मीरनरेश ललितादित्य ने उसे ७४० ई० (७९७ वि०) में राज्यच्युत किया। उस समय राजकवि भवभूति कम से कम ३० वर्ष के होंगे। उक्त विचार के अनुसार कुमारिल से भवभूति का मीमांसादिशास्त्रों का शिक्षण उक्तघटना से १० या १५ वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा। अतः कुमारिल से भवभूति का मीमांसाशिक्षण उस की १५ वर्ष की अवस्था में हुआ होगा।

उक्त विचारों के अनुसार कुमारिल का जन्मकाल ७०० या ७०५ ई० मानना पड़ेगा। "शङ्कर दिग्विजय" में लिखा है कि जब शङ्कर कुमारिल से मिले तो उन्हों ने उन्हें एक श्लोक में यह कहा कि आप तो साक्षात् स्वयं कार्तिकेय बुद्धधर्म का नाश करने के लिये मानवदेह में अवतीर्ण हुये हैं। इस समय शङ्कर की अवस्था १६ वर्ष से कम किसी तरह भी नहीं कही जा सकती। अतः उक्त दोनों महापुरुषों के परस्पर मिलने का समय ८०४ ई० ( ८६१ वि० ) ही बन सकता है। कुमारिल की अवस्था उससमय १०० अथवा १०५ वर्ष की होगी। शङ्कर जब कुमारिल से मिले तो उससमय वे अपने शरीर को दग्ध कर रहे थे। इस से यह पता चलता है कि उस समय उनका शरीर वृद्धावस्था के कारण जर्जर हो गया था। अतएव वे उसका त्याग करना चाहते थे। शङ्कर की पूर्वोक्ति से यह भी प्रतीत होता है कि उससमय बुद्धधर्म का प्रभाव सर्वथा तिरोहित-सा हो चुका था। कुमारिल के धार्मिक-उपदेशों से प्रायः समस्तजनता वैदिकधर्मी हो चुकी थी। भारत में बुद्धधर्म की अन्तिम अवनति ८ वीं शताब्दी के अन्त में हुई। अतः बुद्धधर्म के विध्वंसक कुमारिल का कार्यक्षेत्र, ८ वीं शताब्दी के अन्ततक जारी रहा प्रतीत होता है।

महामुनि हारीत के आदर्शजीवन से यह निश्चित होता है कि वे अपने जीवनकाल में अभिलषित सफलता के दर्शन कर चुके थे। वैसे, प्रयत्न तो सारे मुनि अपने अपने समय पर करते ही आए हैं, परन्तु हारीत की सफलता सब से बढी चढी है। उदासीन महामुनि हारीत के बप्पा और कुमारिल-ये दो प्रबलबाहु थे।

## ( ९ तरङ्ग )

# " लोकप्रियमुनि "

महामुनि हारीत के आदर्शजीवन का परिचय दे देने के अनन्तर अब हम पाठकों को शुद्धस्वान्त लोकप्रियमुनि के अद्भुतजीवन की विलक्षणघटनाओं का दिग्दर्शन कराते हैं। यहाँ पर यह जानलेना आवश्यक है कि हारीत और लोकप्रिय के समय में लगभग ५०० वर्ष का अन्तर है। इतने काल में २६ उदासीन मुनि हो चुके। पर्य्याप्त प्रयत्न करने परभी इनका हमें इतिवृत्त न मिला, जिसका हमें हार्दिक खेद है। हम इसेभी अपना परमसौभाग्य समझते हैं कि लोकप्रियमुनि के जगदादरणीय जीवन की प्रायः प्रधान प्रधान घटनाएँ 'उदासरत्नाकर' और 'उदासीन-आदर्श' से हमें उपलब्ध हुईं। हारीत की भाँति हिन्दुओं के धार्मिक और नैतिक क्षेत्र में आपका भी पूर्ण प्रयत्न रहा है। अतः आपके जीवन की घटनाओं का परिचय दे देने से पूर्व, तत्कालीन भारतीय नैतिक और धार्मिक स्थिति का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

## सुखी भारत

पूज्य कुमारिल और श्रीशङ्कर के प्रशंसनीय प्रयत्न से भारत में बौद्धों का बल सर्वथा घट गया। अतएव हिन्दुधर्म की विजयपताका साभिमान फर्राने लगी। इधर वप्पा की वीरता से भारत का नैतिकक्षेत्र भी उन्नत हो उठा। इसके सेनापतित्व में अरवों की प्रतिद्वन्द्विता में राजपूतजातियों ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया। परिणाम यह हुआ कि इनके अनुपमबाहुबल का अरवों के मनपर विलक्षण प्रभाव पड़ा। उन्हें भारतपर आक्रमण करने की बात सर्वथा भूल गई। और वे वप्पावीर के बाहुबल से घबराकर अरब की परतन्त्रता के स्वप्न देखने लगे। सिन्ध में खलीफों का अस्तित्व सन्देहास्पद हो रहा था। उन्हें तब वहाँ के नाम मात्र के शासक कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। महामुनि हारीत की देखरेख में कर्मवीर कुमारिल और वीरवप्पा के आदरणीय और अनुपम, महान् कार्यों से भारतमाता का मुखकमल अभिमानमिश्रित-पूर्णप्रसन्नता से खिल उठा। तदनु लगभग २ शताब्दियाँ भारतभर में शान्ति रही। किसी विदेशी विजेता को यहाँ आने का साहस नहीं हुआ। राजपूतों की अजेयसेना की धाक विश्वभर में जम गई थी। यही कारण था कि इस्लाम को अपना भारतविजय का विचार दो सौ वर्ष के लिये स्थगित करना पड़ा। परमपिता परमात्मा की इच्छा से महामुनि हारीत और कर्मवीर कुमारिल अपने उच्च आदर्श के अनुसार हिन्दुजाति के उत्थान का महान् कार्य करते करते ब्रह्मलीन हो गये। उन्हीं के आदर्श पर चल रहे दूरदर्शी शंकराचार्य्य भी शीघ्र ही इस संसार से चल बसे। पीछे से आचार्य की शिष्यमण्डली ने भारतीय धार्मिकक्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। उस समय संस्कृत की उन्नति पर्य्याप्त हुई।

## धर्माचार्य और उनके उत्तराधिकारियों की अदूरदर्शिता

९४१ ई० (९९८ वि०) में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र हुये। आपने प्रायः

सारे दर्शनों पर भामत्यादि अमूल्य और अनुपम निवन्ध लिखे । ९०६ वि० में उदयनाचार्य हुये । आपने न्यायकुसुमाञ्जलि और आत्मतत्त्वविवेकादि लोकोत्तर ग्रन्थों की रचना की । साथ ही सामयिकस्थिति के अनुसार कुमारिलप्रभृति महापुरुषों से उपेक्षित बौद्धों के अनीश्वरवाद की कड़ी समालोचना की । आपने कर्कशतर्कजाल से नास्तिकों का मुखपिधान कर पूर्वपुरुषों के अधूरे कार्य को पूर्ण किया । आस्तिकजनता आपके इस चिरस्मरणीय उपकार से आपकी सदा के लिये ऋणी रहेगी । इसी समय औरभी अनेक अद्‌भुत विद्वान् हुये, जिनका उल्लेख यहाँ विस्तारभय से नही किया जा सकता ।

हमें यह लिखते समय खेद होता है कि भारत के धर्माचार्य जिस पवित्र उद्देश्य का लक्ष्य रखकर अद्‌भुत धार्मिक आन्दोलन का बीड़ा उठाते रहे । अधन्यता से उनके उत्तराधिकारियों ने उनके उस पवित्र-उद्देश्य की पूर्त्ति की ओर आँख उठाकर भी न देखा । हाँ ! यह अवश्य होता था कि आचार्य के नाम पर सम्प्रदाय की आड़ में पक्षपात की व्याधि का विस्तार हो जाता था । वे अपने प्रधान लक्ष्य को भूलकर साम्प्रदायिकजनसङ्ख्या वढाने में तत्पर हो जाते थे । इससे अपने आचार्य की व्यापकदृष्टि को कलङ्कित करने का पाप इन्हीं पर आश्रित था । स्वार्थ के वातावरण में परमार्थ और देश का नाता टूट जाता है । यही वात आचार्य के उत्तराधिकारियों में अक्षरशः सत्य पाई जाती है । देश और जाति की सेवा स्वार्थ वशात् सर्वथा भूल गये । निस्सन्देह, घरेलू धार्मिकसंघर्ष के कारण भारत को यूनानी, सिथियन, और हूणों द्वारा पददलित होना पड़ा । यदि ये लोग उक्त आक्रमणों से जाति अपमान का अनुभवकर शिक्षा ग्रहण करते तो इन्हें इस्लाम के वीभत्स दृश्य आंखों से देखने न पड़ते । भारत की आधुनिक दुर्दशा उस समय की अदूरदर्शिता पर अधिक अवलम्बित है । यदि उससमय कुछवुद्धि से काम लिया गया होता तो, संभव है आज हम अपनी मातृभूमी को किसी औरही रूप में देखते ।

## उदासीनमुनियों का अपूर्वत्याग और राष्ट्रहितचिन्तकता

हम यह कहे विना नही रह सकते कि राष्ट्रप्रेमी हमारे परमपूज्य उदासीन महात्मा हारीतादिकों की तपश्चर्य्या और देशसेवा से प्रसन्न होकर परमपिता परमात्मा ने हमें वुद्धधर्म की अवनति के वाद अपनी स्थिति सुधारने का पूर्ण सुअवसर दिया ! किन्तु; दुःख की वात है कि तदानीन्तन भारतीयजनता उससे अधिक लाभ न उठा सकी । यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि चतुर्थाश्रम की श्रौत-शाखा के मुनियों ने लगातार तीनवार वुद्धधर्म को धक्का पहुँचाया+ । उस समय की ऐतिहासिक घटनाएँ वतला रही हैं कि वौद्धकाल में उन वैदिकधर्मी मुनियों के त्याग का आदर्श वुद्धमतानुयायी भिक्षुओं से अधिक वढचढ कर था । उनके अपूर्व

+ (१) विक्रम से कुछसमयपूर्व रोचिष्णुमुनि ने शुङ्गवंश के प्रधानपुरुष पुष्पमित्र को वैदिकधर्म की सेवा के लिये खड़ा किया । (२) ईसा की चौथी शताब्दी में महेशमुनि ने गुप्तरत्न त्रयी को नैतिक स्थिति में आगे वढाया. (३) विक्रम की ८ वीं शताब्दी में महामुनि हारीत ने कुमारिल और वप्पा को वेदरक्षा में उपस्थित किया ।

त्याग ने तब यह सिद्ध कर दिया कि श्रौतधर्मी-त्याग बौद्धत्याग से अधिक महत्त्व रखता है। बुद्धमतानुयायी भिक्षुओं की भाँति वैदिकमुनि त्यागप्रधान होते हुये भी अकर्मण्यता से कोशों दूर भागते थे। वे नही चाहते थे कि लोगों में त्याग के भावों के साथ साथ आलस्य भी अपना आसन जमाले। उदासीनमुनि त्याग को बुराभला न कहते थे, हां ! यह अवश्य था कि वे ऐसे त्याग की कड़ी समालोचना अवश्य करते थे; जिसके द्वारा राष्ट्र अकर्मण्य होकर अपने जीवनाधार शौर्य को खो बैठे। आप पीछे पढ आए हैं, प्रत्येक उदासीनमुनि में उच्चकोटि का त्याग आरम्भ से अन्ततक रहा है। फिरभी वे राष्ट्र की उन्नति को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य समझते आए हैं।

इस प्रकार की लोकोत्तर राष्ट्रहितचिन्तकता भारत के इतिहास में हम केवल उक्तमुनियों के जीवन में ही पाते हैं। वास्तव में वे देश की व्याधि को पूर्णतया समझ गये थे। उन्हें यह भलिभाँति विदित होगया था कि अकेली धार्मिक अथवा नैतिक उन्नति देश के लिये अधिक लाभप्रद नही हो सकती। अतः धार्मिक और नैतिक कार्यक्षेत्रों में प्रायः समानता होनी चाहिये। केवल धर्म के प्रचार में लगजा ने से राष्ट्र की स्वतन्त्रता सुरक्षित नही रह सकती। अकेली नीति के राज्य में जनता ईश्वरीय गुणों को भूलकर मनुष्यता से कोशों दूर जा पड़ती है। अन्तिम परिणाम यह होता है कि संसार में अशान्ति बढ जाती है। परस्पर की रागद्वेषाग्नि में पड़कर जनसमाज अपना नाश अपने ही हाथों से कर बैठता है। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर "रोचिष्णु," "महेश," "हारीत" और "लोकप्रिय" प्रभृति उदासीन महापुरुषों को हम नैतिक और धार्मिक-इन दोनो तरह के क्षेत्रों में कर्मवीरों की भाँति डटे हुये पाते हैं। वे अपने उपदेशों में यह भी कहा करते थे कि राष्ट्रसेवा में तत्पर किसी त्यागी महात्मा के त्याग में कोई अन्तर नही आसकता; यदि वह अपने उच्च आदर्श का पूर्णतया उपासक है। "उदासधर्मकल्पतरु" में रोचिष्णुमुनि के उपदेशों में यह भी लिखा है कि प्रत्येक चतुर्थाश्रमी महात्मा को यह परमकर्तव्य है कि वह संसार को सत्य-मार्ग का उपदेश करे। क्योंकि संसारीजनता अपने शुभाशुभ कर्त्तव्यों को भलीभाँति नहीं जान सकती। अतएव धार्मिकजगत् को जाग्रत करने के लिये रोचिष्णुमुनि ने मुनिमण्डलियों की नीव डाली और नैतिक-क्षेत्र को जीवित रखने के लिये वीरशिरोमणि पुष्पमित्र को वीरता का उपदेश दिया। इससे धार्मिक और नैतिक-ये दोनों क्षेत्र उनके समय में पूर्णतया सुरक्षित रहे। यही परम्परा हम आगे के उदासीनमुनियों में पूर्णतया पाते हैं। आप महामना महेशमुनि के जीवन में पढ आए हैं, कि उन्हों ने बुद्धधर्म प्रचारक गुप्तदल के नेता वसुवन्धु के विविध यत्नों को विफल किया। अन्यथा; कह नही सकते वह गुप्तदल वेदमतानुयायियों को क्या क्या हानियाँ पहुँचाता। धार्मिकस्थिति की देखरेख के अनन्तर महामुनि जी ने नैतिकक्षेत्र को उन्नत बनाने के लिये गुप्तरत्नत्रयी को वहाँका पूर्ण रहस्य समझाया। इस ओर हारीतमुनि यदि कर्मवीर कुमारिल को धार्मिकजटिल-समस्याएँ समझा रहे हैं, तो उधर वीरवर वप्पारावल को राष्ट्रसेवा के आदर्श का पाठ पढा रहे हैं। धर्म की उन्नति के साथ साथ नैतिक क्षेत्र को भी विशाल बना देना ही श्रौतधर्म का महत्त्व है। क्योंकि वैदिकधर्म में नीति और धर्म को राष्ट्र का शरीर और प्राण कहा गया है।

हारीतमुनि के ब्रह्मलीन होने के अनन्तर चतुर्थाश्रम की श्रौतमुनिशाखा का बल धीरे धीरे घटने लगा। आठवीं शताव्दी से १५ वीं शताव्दी तक किसी श्रौतमुनि महापुरुष के जीवन की विशेषघटना दृष्टिगोचर नहीं होती। केवल १२ वीं शताव्दी में लोकप्रियमुनि का विचित्रचित्र हमारी आँखों के आगे अकस्मात् आ उपस्थित होता है। इसका विस्तृतवर्णन लिखने से पूर्व यहाँ तदानीन्तन ऐतिहासिक, धार्मिक और नैतिक आन्दोलनों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

## प्रवृत्ति और निवृत्ति

८०९ ई० ( ८६६ वि० ) में स्मार्त्तशैवशाखा की विज्ञमण्डली से विष्णुस्वामी के गद्दीधर विल्वमङ्गल पराजित हो गये। अतएव उस समय वैष्णवसम्प्रदाय छिन्न भिन्न हो गया। तब भारतभर में शैवसम्प्रदाय की प्रधानता हो गई। यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि उस समय स्मार्त्त शैवयतियों ने प्राण-पण से वेदभक्ति का सर्वत्र प्रचार किया। जनता को; वौद्धभिक्षुओं से अपना आदर्श ऊँचा दिखाने के लिये इन्होंने त्याग को इतना अपनाया कि जिसके आगे विपक्षिओं को हार माननी पड़ी। त्याग को इतना अधिक महत्त्व दे देने से उससमय इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि जनता को यह विश्वास हो गया, कि वैदिकधर्मियों में त्याग की महिमा वौद्धों से कहीं वढचढ कर है। परन्तु महती क्षति यह हुई कि त्याग की प्रधानता में आर्षधर्म के मुख्यगुण शौर्य की अवहेलना होगई। जिसका परिणाम भविष्य में बहुत ही भयङ्कर हुआ।

उससमय वौद्धभिक्षुओं से हमारे शैवयतियों में वेदभक्ति, अद्वैतनिष्ठा, और देवपूजनादिक ही भेदक रह गये थे। अकर्मण्यता की नीन्द में दोनों वरावर थे। परिणाम यह हुआ कि निवृत्तिप्रवाह में अधिक वहजाने के कारण हिन्दुधर्म भी वुद्धधर्म की तरह अकर्मण्यता का शिकार हो गया। अद्वैताचार्य शङ्करस्वामी का यह भाव न था कि निवृत्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया जाय, जिससे राष्ट्र के शौर्यपर आघात पहुँचे। वे तो यह कहते थे कि निवृत्तिमार्ग वास्तविक शान्ति का खुला हुआ द्वार है। शङ्कर के मत में निवृत्ति के मानी अकर्मण्यता के नहीं हैं। यह वात उनके उच्च एवं अनुकरणीय जीवन से सिद्ध होती है। वेदविरोधी सम्प्रदायों से शास्त्रार्थकरना और परमतदमनार्थ कई एक नरेशों को उत्तेजित करना-यह सिद्ध करता है कि आचार्य शङ्कर का समस्तजीवन धार्मिक-प्रचारात्मक प्रवृत्ति सङ्ग्राम में ही व्यतीत हुआ। इन्हीं की उपस्थिति में राजा सुधन्वा ने कापालिक वध किया। हिन्दुधर्म में वीरता का महत्त्व अधिक से भी अधिक है। इतिहासों में लिखा मिलता है, धर्मरक्षार्थ चतुर्थाश्रमी महात्मालोग भी वहुतवार समरभूमी में सशस्त्र अवतीर्ण हुये। मुगलों के समय, धर्मरक्षा के भाव से शैव और वैष्णव साधुओं का रणकुशलता का परिचय देना एक इतिहासप्रसिद्धघटना है। परमपूज्य उदासीनमुनि कृपालदास ने अपनी अजेय कुतक से वहुतसे यवनों को यमधाम पठाया था। तात्पर्य यह है कि हिन्दुधर्म की शिक्षा किसी भी आश्रम में अकर्मण्यता का पाठ नहीं पढाती। हां, यह अवश्य है कि प्रवृत्तिसंग्राम का अन्तिम लक्ष्य निवृत्ति ही है। अतएव हिन्दुओं के प्रत्येक धार्मिक और नैतिक निवन्ध में निवृत्ति की महिमा अधिक वर्णित है। पूर्णधर्म का स्वरूप भी यही है कि जिसमें

प्रवृत्ति और निवृत्ति की गति बराबर रहे और जिससे मनुष्य संसार में प्रवृत्तिधर्म के सहारे अपने जीवन को उन्नत बनाता हुआ परलोक में भी सर्वोच्च बन सके। पारलौकिक उन्नति में अधिक हाथ निवृत्तिधर्म का है। संसार के और धर्म हिन्दु-धर्म की प्रतिद्वन्द्विता इस लिये नहीं कर सकते कि उनमें केवल प्रवृत्ति का या निवृत्ति का महत्व अधिक पाया जाता है। उदाहरणार्थ, बुद्धधर्म और इस्लाम हैं।

## तुरुकपरिचय

१० वीं शताब्दी के अन्त में भारतपर तुरुकों के आक्रमण आरम्भ होते हैं। इस्लाम के आक्रमणों की यह दूसरी लहर भारत के लिये पहले से अधिक भयङ्कर सिद्ध हुई। ये तुरुक कौन थे – इस बात का यहाँ परिचय देना आवश्यक है। ८ वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इस्लाम की विजयपताका दूरदूर के प्रान्तों में लहराने लग गई थी, तब अरब के शासक एक खलीफे के स्थान में कईएक खलीफे पैदा हो गये। अरब में उमियावंशीय खलीफों के अनन्तर अब्बासियावंश ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। इस वंशपर ईरानियों की उच्चसभ्यता का पर्य्याप्त प्रभाव पड़ा। उनदिनों में ईरानी लोग शासनप्रबन्ध में अरबवालों से कोशों आगे बढ़े हुये थे। अतएव खलीफों ने ईरानियों को वहाँ का शासनप्रबन्ध सौंप दिया। ईरानियों ने वहाँपर स्वल्पसमय में ही अपनी व्यवहारकुशलता और नीतिनिपुणता से स्वतन्त्रराज्य स्थापित कर लिये। इन्हीं राज्यों में से एक राज्य का शासक समानियावंश था। "जेजों" दरिया के नज़दीक इस वंश का स्वतन्त्र राज्य था। ईरानियों के इस स्वार्थ ने खलीफों को दुर्बल बना दिया। तब कईएक स्वतन्त्रताप्रिय अरब घराने भी मौका देखकर खलीफों के विरुद्ध हो गये। ऐसी स्थिति में खलीफों को भयभीत होकर एक विशाल वैतनिकसेना रखने की आवश्यकता पड़ी। इस सेना में मध्यएशिया निवासी जातियों के मनुष्य भरती किये गये। ये लोग प्रायः लड़ाइयों में पकड़े जाकर गुलाम बना लिये जाते थे। बाद में इन्हीं का नाम तुरुक पड़ा।

## सुबुक्तगीन और पञ्जाबनरेश जयपाल

ईरानी समानीयावंश के पञ्चमशासक अब्दुलमुल्क का एक गुलाम अलप्तगीन नामक था। यह किस्से कहानियाँ सुनाकर और भानुमती के अद्भुत तमाशे दिखाकर बादशाह को हरसमय प्रसन्न रखता था। एकदिन बादशाह ने किसी खेलपर प्रसन्न होकर उसे खुरासान का शासक बना दिया। अब्दुलमुल्क की मृत्यु के बाद गुलाम अलप्तगीनने अपने अद्भुत शौर्य से ९३४ ई० (९९१ वि०) में गजनी को जीत लिया। और अपने आपको उसने एक स्वतन्त्र बादशाह घोषित किया। इसका शासन ३० वर्ष रहा। इसके पीछे कुछदिन बाद गजनी का शासक इसका गुलाम सुबुक्तगीन बना। सुबुक्तगीन को केवल गजनी का राज्य सन्तुष्ट न कर सका। अतएव उसने काबुल को जीतकर पञ्जाब की ओर मुख किया। सुबुक्तगीन के सैनिकोंद्वारा पञ्जाब के सीमाप्रान्तों में खूब लूटमार की गई। उनदिनों में पञ्जाब का राजा जयपाल था। इसकी राजधानी बठिण्डा थी। इस लूटमार का समाचार सुनते ही जयपाल उत्तेजित हो उठा। सुबुक्तगीन को उसके कुकर्म का कटुफल चखाने के लिये जयपाल ने उसपर चढ़ाई कर दी। काबुल के खुश्क पहाड़ों में, ठण्डक के दिनों में बर्फ पड़ने के

कारण शरदी अधिक होती है। जयपाल के सैनिकों ने सुबुक्तगीन की सेना को मार भगाया। राजा जयपाल के सैनिकों ने उनका काबुल तक पीछा किया। असह्य शरदी के कारण भारतीय सैनिक घबरा उठे। अतएव राजा जयपाल को सुबुक्तगीन से सन्धि करलेनी पड़ी। बठिण्डे में पहुँचकर मन्त्रियों की अनुमति से जयपाल ने संन्धि की शर्त्तों को मानहानिकारक समझकर उपेक्षित कर दिया। इससे असन्तुष्ट होकर सुबुक्तगीन ने फिर पञ्जावपर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में सुबुक्तगीन ने लमगान (यह काबुल और पिशावर के बीच के देशका नाम है) पर अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति में दूरदर्शी राष्ट्रभक्त राजा जयपाल ने तुरकों को दर्रा खैबर के उल्लङ्घन से पूर्व ही उन्हें वहाँ रोकने का विचार किया। तब जयपाल ने अजमेर, कालिञ्जर, कन्नौजादिकों के राजपूत नरेशों को इस आशय के पत्र लिखे :—

"मैंने स्वयं हिन्दुधर्मविरोधी तुरकों को भारत में प्रविष्ट होने से केवल रोका ही नहीं, बल्कि मेरे वीर सैनिकों ने उनका काबुलतक पीछा किया। असीम प्रयत्न करने पर भी मुझे सफलता प्राप्त न हुई, जिसका मुझे आजीवन हार्दिक दुःख रहेगा। अब फिर उन यवनों ने क्रोधान्ध होकर हमारे देश और धर्म को धूल में मिलाने के लिये चढाई कर दी है। धर्म की लाज, जातिसम्मान, और देशगौरव की रक्षाकरना प्रत्येक राजपूत का प्रथम कर्त्तव्य है। परमात्मा ऐसा न करे;अबके यदि लड़ाई के मैदान में हमारा पैर फिसल गया तो समझलो धर्मपर पानी फिर जायगा। वीर राजपूतजाति तुरकों की दासता की फौलादी जञ्जीरों में सदा के लिये जकड़ी जायगी। हिन्दुजाति के बालक और बालिकाएँ गज़नी के बाज़ारों में दो दो पैसों में विकेंगे। यह व्यक्तिगत कार्य नही है, समस्तभारत की रक्षा का प्रश्न है।" इन पत्रों के पहुँचते ही राजपूत-वीरों का खून जोश मारने लगा। तमाम के तमाम नरेशों की सेनाएँ जयपाल के झण्डे के नीचे आन खड़ी हुई।

## वीर राजपूतों के उतावलेपन से हानि

इससे जयपाल के उत्साह का ठिकाना न रहा, और बड़े समारोह से भारतीय सेनाएँ सुबुक्तगीन की प्रतिद्वन्द्विता में चल पड़ीं। पिशावर के नज़दीक का प्रान्त लड़ाई का मैदान बनगया। शत्रु के बल का निरीक्षण करने के लिये एकदिन सुबुक्तगीन ने एक पहाड़ी की चोटीपर चढकर देखा। भारतीय विशालसेना को देखते ही उसका मन काँप गया। फिरभी उसने शीघ्र ही अपने सैनिकों को लड़ने की आज्ञा दी। जहाद के सन्देश से उसने अपने सैनिकों को प्रोत्साहित किया। युद्ध में विजयलक्ष्मी उसी के गले जयमाला पहनाती है जो अधिक धैर्य से काम लेता है। हमारे वीरराजपूतों में वीरता की कमी न थी। केवल यह त्रुटि थी कि वे युद्ध को अधिकदिनतक जारी रखना मानहानि समझते थे। वे स्वल्पसमय में ही विजय या वीरगति – इन दोनों में एक को प्राप्त करना प्रशंसनीय समझते थे। इस उतावलेपन के कारण वे धैर्य को खोकर बने बनाए काम को बिगाड़ बैठते थे। इसके प्रतिकूल शत्रुओं की सेना में यह बात थी कि लड़ाई के मैदान में परमित सेना भेजी जाती थी। निरन्तर लड़ाई लड़ने के कारण जब पहले सिपाही श्रान्त हो जाते थे, तो उन्हें हटाकर उनकी जगह अन्य सैनिक भेज देते थे। इससे युद्ध का कार्य बड़ी निपुणता से होता रहता था। इधर राजपूतसैनिक एकबार ही अपना पूरा

बल खर्च कर देते थे। वे वारीवारी से लड़ना और श्रान्त होकर युद्धभूमि से लौट आना अपना जातीय अपमान समझते थे। राजपूतसैनिक विजय की अपेक्षा वीरगति को अधिक महत्त्व की वस्तु समझते थे। इस सङ्ग्राम में भी ऐसा ही हुआ। दिन-भर घोर सङ्ग्राम होता रहा। दोनों ओरके सैनिक गाजरमूली की भाँति कटते रहे। अन्त में राजपूत सैनिक युद्ध को समाप्त करने की अभिलाषा से उतावले होकर अपने शिकारपर भूखे सिंह की तरह तुरकसैनिकोंपर टूट पड़े। राजपूत सेना ने तुरक सेना का खूब दिल खोलकर संहार किया। राजपूत दिनभर के निरन्तर सङ्ग्रामपरिश्रम से थके हुये थे। अतः तुरकों की रणकुशलता के आगे हार गये। भारत के भाग्यपर वज्राघात हुआ। इस सङ्ग्राम में तुरका को सफलता से पिशावर पर उनका अधिकार हो गया। सुबुक्तगीन ने वहाँ अपना सेनानिवेश बनाकर १० हजार सैनिक छोड़ दिये। देश की अधन्यता से भारत के सीमाप्रान्तीय पर्वतस्थ किले तुरकों के हाथ चले गये। अतः पञ्जाब सदा के लिये मुसलमानों के आक्रमणों का आखेट बन गया।

## भारतपर महमूद के १७ आक्रमण

९९७ ई० (१०५४ वि०) में सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद गजनी का शासक महमूद नियुक्त हुआ। यह इस्लाम का परमभक्त था। धार्मिकजोश तो इसमें कूट कूट कर भरा था। बचपन से ही इसके मन में भारतकी अतुलसम्पत्ति के लूटने का विचार पुनः पुनः आता था। ज्यों ज्यों महमूद बड़ा होता गया साथ ही उस का उक्त विचार विस्तृत होता गया। गजनी की राज्यशक्ति उसके हाथ में आते ही उसका वह पूर्व विचार उसे फलता और फूलता दिखाई देने लगा।

महमूद ने भारतपर १७ आक्रमण किये। पञ्जाब ले लेने की इच्छा से उसने १३ आक्रमण किये। एक आक्रमण काश्मीर पर किया; परन्तु सफल न हो सका। शेष तीन कन्नौज, कालिञ्जर, और सोमनाथ पर किये।

१००१ ई० (१०५८ वि०) में महमूद का पहला आक्रमण पञ्जाब पर हुआ। उस समय राजा जयपाल ने पिशावर में जाकर उसका सामना किया। हतभाग्यता वश इसबार वीरकुलशिरोमणि राजा जयपाल सपरिवार बन्दी हो गया। महमूद ने उसकी अद्भुत वीरता से प्रसन्न होकर उसे छोड़ दिया। तत्कालिक वीर नरेशों के नियमानुसार, जो राजा तीनबेर रण में हार जाय वह राज्यसिंहासन पर नहीं बैठ सकता था। अतएव जयपाल ने अपने बेटे अनङ्गपाल ( आनन्द पाल ) को राज्य का उत्तराधिकारी बनाकर आप स्वयं पराजय की ग्लानि से जीतेजी चिता में जल गया।

यदि यहाँ पर विचारा जाय तो यह प्रतीत होता है कि जयपाल एक अद्वितीय वीर था। जो दोबार पराजित होने पर भी फिर तल्वार लेकर देश की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले लुटेरों का सामना करने जाता है। भारत की मानरक्षा के लिये जयपाल का अनुपम साहस इतिहास के पृष्ठों पर सुनहरी अक्षरों में लिखा रहेगा। जयपाल के प्रयत्न में कोई त्रुटि न थी। दोष था तो केवल यही कि उस समय भारत का भाग्य ही पलटा खा चुका था। देश का दुर्भाग्य हिन्दुजाति की

नौका को महमूद के असह्य और अमानुषीय अत्याचारों के नद में डुबोदेना चाहता था। चाहे जो कुछ हो: भारत निवासी उस राष्ट्रभक्त जयपाल को राष्ट्र सेवाओं को कभी भूल नहीं सकते।

" यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः "

( कृष्णमिश्र )

इसके बाद महमूद का चौथा आक्रमण हुआ। इस समय भी जयपाल के बेटे अनङ्गपाल ने अपने पिता की तरह भारतमाता को तुरकों के अत्याचारों से सुरक्षित रखने के लिये धार्मिकदृष्टि से आत्माभिमानी राजपूत नरेशों की आयोजना की। हिन्दुधर्म और राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये पञ्जाब की ओरसे यह चतुर्थ बृहत् प्रयत्न था। इसबेर भारतीय विशालसेना को देखते ही महमूद का दिल दहल गया। उसे आजतक ऐसी विशालसेना का सामनाकरना न पड़ा था। स्वदेश तथा धर्म की रक्षा के लिये इस समय पञ्जाब के लोगों में खून जोश मार रहा था। इस धार्मिकसङ्ग्राम में पञ्जाबी देवियों ने अपने आभूषणतक बेचकर सैनिकों की आवश्यक सामग्री की पूर्ति की थी। पिशावर का मैदान ही सङ्ग्राम का क्रीड़ास्थल बना। निरन्तर ४० दिनतक दोनो सेनाएँ शान्त रहीं, किसी ने भी आगे बढकर किसी को कुछ न कहा। इनदिनों में हिन्दुसैनिको की संख्या प्रतिदिन बढती ही जाती थी। वीरराजपूत भला कब दूर रहनेवाले थे। वे धार्मिकमैदान में आ डटे। अन्त में ३० हजार गक्कड़ों ने तुरकों पर धावा बोल दिया। अल्पकाल में ही हिन्दुवीर गक्कड़ों ने ४ हजार तुर्कों को तलवार के घाट उतार दिया। इस भयानक दृश्य से घबराकर महमूद भागने को ही था कि वहाँ अचानक एक अद्भुत घटना घट गई। जिससे मैदान महमूद के हाथ रहा। गक्कड़ों के अजेय आक्रमण से यह प्रतीत होने लगा था कि अब तुरक कभी भी भारतपर चढ आने का नाम तक न लेंगे; परन्तु किसी को क्या पता था कि भविष्य के गर्भ में क्या छिपा हुआ था। विधाता की इच्छा कुछ और ही थी। आनन्दपाल का हाथी किसी चीज से डरकर भाग निकला। सेना में कोलाहल-सा मच गया। राजा को रणक्षेत्र से भागा जानकर उसकी अदूरदर्शी और अधीरा सेना ने अकारण ही भागना आरम्भ किया। जो कुछदेर पहले भागने को ही था वह महमूद अनङ्गपाल की सेना का यह हाल देखकर अपने आपको विजयी समझने लगा। इस समय महमूद में असीम साहस आगया और थोड़े से सैनिकों की सहायता से उसने राजपूतों की इस विशालसेना का दो दिनतक पीछा किया। इस समय महमूद ने अनेकों गाँव और नगरों को उजाड़ कर धूल में मिला दिया। सहस्रों निरपराध प्राणी तलवार के घाट उतार दिये। सर्वत्र देवमूर्तियाँ खण्डित कर दीं। गगनचुम्बी देवमन्दिर मट्टी में मिला दिये। इस समय नगरकोट ( काङ्गड़े का ) का प्रसिद्धदुर्ग महमूद के अधिकार में हो गया। वहाँ की प्रसिद्ध देवी की मूर्त्ति तोड़ डाली गई। इस लूट मार में महमूद के हाथ बहुत-सा द्रव्य लगा। गजनी में जाकर महमूद ने इस लूट के माल की प्रदर्शिनी की। इसे देखकर और भी बहुत से तुरकों के मूँह से भारत को लूटने की लार टपक पड़ी।'

## सोमनाथमन्दिर.

महमूद का १६ वाँ आक्रमण गुजरात के प्रसिद्ध मन्दिर "सोमनाथ" पर हुआ। राजपूत वीरों ने अपने देवमन्दिर की रक्षा के लिये जीखोल कर लड़ाई की। उनके असह्य प्रहारों से महमूद की सेना तितर वितर होने लगी। इसे देख, महमूद ने ओजस्विनी भाषा में अपने सैनिकों को सम्बोधित कर कहा, "गजनी यहाँ से काफी दूर है। यदि भागोगे, फिर भी आप काफ़िरों के हाथों से बच नहीं सकते। अपमान की मौत से लड़कर मरना कहीं बढ कर है"? महमूद की इस चमत्कारिणी वीरवक्तृता से तुरक सैनिक फिर उत्साहित हो गये, और एकदम राजपूत सेना पर टूट पड़े। बहुत से राजपूत वहाँपर ही वीरगति को प्राप्त हो गये, और शेष जलमार्ग से नौकारूढ होकर भाग गये। महमूद मन्दिर में घुस गया। पुजारियों ने सादर प्रार्थना की कि चाहे जितनी सम्पत्ति ले लो परन्तु प्रतिमा को खण्डित मत करो। महमूद ने साभिमान कहा मैं मूर्ति बेचना नहीं चाहता, मैं तो इसे खण्ड खण्ड करके विश्व में अपने आपको मूर्तिभञ्जक प्रसिद्ध करना चाहता हुँ। तदनन्तर उस यवन ने जोश में आकर सोमनाथ की मूर्ति तोड़ डाली। भारतद्रोही महमूद १०३० ई० (१०८७ वि०) में इस संसार से चल बसा।

निरन्तर बारबार की विफलता से पञ्जाब हतोत्साह हो गया। पञ्जाब के दबते ही महमूद को रोकने का किसी के मन में विचार तक न हुआ। अतएव आगे बढने के लिये महमूद का मार्ग निष्कण्टक हो गया। तब उसने निर्भयता से मनमानी लूट की। सहस्रों नरनारियों को धर्मपतित कर दिया। यहां पर हमें हिन्दुओं की पराजय का इतना खेद नहीं है जितना कि उनकी हतोत्साहता का है। जय और पराजय तो भाग्य के उलटफेर पर अवलम्बित हैं। जिसकी आज पराजय है कल वही विजयी दीख पड़ता है। जो आज विजयी है, अगले दिन उसे मैदान छोड़कर भागना पड़ जाता है। अतः जयपराजय का तो दिनरात की तरह चक्र-सा है। हमें इस बात का पूर्ण अभिमान है कि भारत ने इस्लाम का पूरा मुकाबला किया। दुःख है तो केवल इस बात का कि जिसप्रकार स्पेनादि देश इस्लाम से एकबार पददलित होनेपर भी अवसर हाथ लगते ही स्वतन्त्र हो गये, उसीतरह भारत ने कईबेर सुअवसर हाथ लगने पर भी पुनरुत्थान की चेष्टा न की। महमूद के लौटनेपर उसके निर्बल सैनिक अनायास ही यहाँ से भगाए जा सकते थे। परन्तु कोई इस बात की ओर ध्यान देता तब न। महमूद के आक्रमणों के अनन्तर लगभग दो सौ वर्षतक भारत में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। महम्मूद की मृत्यु के बाद भारत कुम्भकर्णी निद्रा में सो गया। परिणाम यह हुआ कि इसे फिर विदेशियों के आक्रमणों का शिकार होना पड़ा। १२ वीं शताब्दी के अन्त में फिर भारतपर शहाब्बुद्दीन चढ आया। इसका विस्तृतविवर्णन आगे लिखा जायगा।

## "उडेरालाल"

अब यहाँ आवश्यकतानुसार उक्तसदियों की धार्मिकस्थिति का विवर्णन लिखा जाता है। ९५० ई० (१००७ वि०) में सिन्धहैदराबाद के अन्तर्गत नसरपुर ग्राम में

महात्मा उदयचन्द्र, उपनाम उडेरालाल या अमरलाल का जन्म हुआ। माता का नाम देवकी और पिता का नाम रत्नराय था। इनका शिष्य इन्हीं का चचेराभाई महात्मा पुगर हुआ। जिसने इनके विचारों का प्रचार जनता में किया। उडेरालाल के विचारों के अनुयायी लोग ठक्करसम्प्रदाय के कहलाते हैं। यह सम्प्रदाय सिन्ध में आजकल भी विद्यमान है। सिन्ध की हिन्दुजनता उडेरालाल को वरुणदेव का अवतार मानती है। इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध स्थान 'ज़िन्दापीर' "सक्खर" शहर में है। उडेरालाल के जीवन की विशेष घटनाएँ ये हैं।—ईसा की १० वीं शताब्दी के मध्य में सिन्ध का शासक मार्कशाह था। वह अपने मन्त्री की अनुमति से हिन्दुओं को बलात् इस्लामधर्म में लाना चाहता था। उसने नगर ठट्ठे के प्रधान प्रधान हिन्दुओं को बुलाकर कहा कि तुम इस्लामधर्म को स्वीकार करलो। हिन्दुओं ने एक सप्ताह की अवधि मांगी, शासक ने उसे स्वीकार कर लिया। वह सप्ताह धर्मप्रेमी हिन्दुओंने सिन्धुनदी के तटपर अनशनव्रत और ईश्वर की प्रार्थना में बिताया। सप्ताह के अन्तिमदिन प्रातःकाल जल से आवाज़ आई-"चिन्ता मत करो। हम तुम्हारी रक्षा के लिये नसरपुर में अवतार धारण करेंगे।" इस वाणी को सुनते ही हिन्दुओं की खुशी का ठिकाना न रहा। वे वापिस घर लौट आए और राजा के पास यह सन्देश भेज दिया कि हमें एक सप्ताह का अवकाश और दिया जाय। हमारा रक्षक नसरपुर में जन्म लेने वाला है। उडेरालाल के जन्म का समाचार मिलते ही बादशाह ने अपने वज़ीर को उसे मारडालने के लिये भेजा।

वज़ीर ने बालक को ज्यों ही जाकर देखा तो वह चकित हो गया। बालक क्षण क्षण में नये रङ्ग बदलता था। कभी बूढा हो जाता था और कभी बालक। किसी समय वह जलप्रवाह का रूप धारणकर लेता था। कभी भयङ्कर सिंह बनकर उसे खाने को दौड़ता था। वज़ीर डरकर वहाँ से भागा और सीधा राजा के पास पहुँचा, और कहा कि उसे वश में लाना कोई साधारण कार्य नहीं है। राजा सुनकर डरा, और उसको पकड़ने की आज्ञा वापिस लेली। उडेरालाल जब कुछ बड़ा हुआ तो राजा ने उसे वजीरद्वारा यह सन्देश भेजा कि वह दरबार में आकर दर्शन दे। वस्तुतः कैद करने के लिये वहाँ वह बुलाया गया था। उडेरालाल ने वजीर की प्रार्थना मानकर नगरठट्ठे जाना स्वीकार कर लिया। "तुम चलो हम जलमार्ग से आते हैं-" यह कहकर वजीर को वहां से विदा कर दिया। राजा की आज्ञानुसार सिन्धुनदी के तटपर वजीर उडेरालाल के स्वागत के लिये खड़ा हुआ था। कुछदेर बाद उडेरालाल ने वजीर को दर्शन दिया। उससमय उडेरालाल के साथ अश्वारोहियों की एक बृहत् सेना थी। यह दृश्य देखकर वजीर का मन काँप गया, और अपने कियेपर पश्चात्ताप करने लगा। अन्त में वजीर ने साञ्जलि कहा-महाराज! बादशाह ने तो आपको दर्शन देने के लिये बुलाया है, यह युद्ध के सामान का क्या अर्थ है? वजीर की इस अधीरता को देखकर उडेरालाल ने अपनी सङ्कल्परचित सेना को अदृश्य कर दिया। उडेरालाल का आगमन सुनकर नागरिक हिन्दुजनता उसपर पुष्प-वृष्टि करने लगी। हिन्दुधर्म की जय के नाहरे लगने लगे। मार्कशाह अपने तख्त से उठकर स्वयं उडेरालाल के समीप आया और उसे बड़े सम्मान से अपने महलों में ले गया। दुष्ट वजीर की दुष्टता अभी दूर नहीं हुई थी। राजमहलों में

राजा और उडेरालाल की परस्पर धार्मिकचर्चा चल रही थी। बादशाह प्रश्न करते थे और उडेरालाल उसका उत्तर दे देते थे। वजीर ने बादशाह को किसी सङ्केत से वहाँ से बाहर बुला लिया और उडेरालाल को पकड़ने की इच्छा से राजभवन के चारों ओर से ताले बन्द कर दिये। उनकी गिरफ्तारी की घोषणा सर्वत्र कर दी गई। उडेरालाल से साभिमान कहा गया कि, अब तो तुम्हें अवश्य ही मुसलमान होना पड़ेगा। बिचारे दुःखी हिन्दु ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। ठीक उसी समय उन्हें उडेरालाल ने जाकर दर्शन दिये। तब तो हिन्दुओं की खुशी का ठिकाना न रहा। योगिराज उडेरालाल के प्रकोप से सिन्धु का पानी इतना चढ आया कि राजमहल डूबने तक की नौबत आगई। वजीर के अपराध की निन्दा करता करता राजा सपरिवार उडेरालाल के चरणों में जा गिरा। शाह की इस दयनीय घबराहट को देखकर उडेरालाल ने उस का अपराध क्षमा कर दिया। तत्काल नदी का पानी अपने नियतरूप में बहने लगा। इस विलक्षण घटना से मुसलमानजगत् पर लोकोत्तर प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी उडेरालाल को अपना उपास्य समझने लगे। आजकल भी मुसलमान लोग उसे जिन्दापीर के नाम से पूजते हैं। उडेरालालके जीवन में लिखा है कि उसने किसी साधु से गुरुमन्त्र लिया था। उडेरालाल ने सिन्ध में हरिकीर्तन और कथाको प्रथा प्रचालित की। वह पूर्ववत् आजकल भी प्रचलित है। तब अन्त में उडेरालाल ने नसरपुर से १० मील की दूरी पर एक मन्दिर बनाया ताकि हिन्दु लोग यहाँपर इकट्ठे होकर हरिकीर्तनादि कर सकें। यह जमीन किसी एक मुसलमान की थी। उसने अपनी स्त्री की अनुमति से जमीन की कीमत लेने से इन्कार कर दिया। अतएव उदार हिन्दुओं ने मन्दिर की पूजा में से कुछभाग उसकी सन्तान के लिये नियत कर दिया। वह मन्दिर वहाँपर आजकल भी है। प्रतिवर्ष वहाँ एक बड़ा भारी मेला लगता है।

## रामानुजस्वामी.

१०१७ ई० (१०७४ वि०) में प्रसिद्ध वैष्णवोपदेशक रामानुज का जन्म मद्रास के पास "पेनमुतूर" ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम केशवाचार्य और माता का नाम कान्तिमती था। आप १२० वर्ष तक जीवित रहे। आपनें अपने मातुल यादवप्रकाश से वेद, वेदाङ्ग, और शङ्कर के ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त की। आप ईश्वर के अनन्य भक्त थे। एक दिन आप अपने गुरु से शङ्करभाष्य पढ रहे थे। अचानक यह पाठ आ गया —"तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेव मक्षिणी" (छान्दोग्य)। इस पंक्ति के शङ्करभाष्य का अर्थ यह है-वानर नितम्ब सोमा के समान रक्तकमल की भाँति उस परमात्मा की आँखें हैं। यह अर्थ सुनकर रामानुज के मन में असह्य दुःख हुआ। यहाँ तक कि उनकी आंखों में आंसू आ गये। गुरु ने रामानुज से रोने का कारण पूछा। कुछ देर तक तो रामानुज चुप रहे, जब गुरुदेव अधिक आग्रह करने लगे तो उन्होंने अपना भाव कह सुनाया। वह यह था कि जगन्नियन्ता प्रभु के कमलनयनों की वानर की पीठ से तुलना करना प्रभु का अपमान करना है। मैं इसको सहन नहीं कर सकता। तब गुरु ने कहा फिर इस पाठ का और अर्थ क्या हो सकता है? रामानुज ने उत्तर दिया—"कं जलं पिबन्ति ये ते कपयः=किरणास्ते आस्ते यत्र तत्कप्यासं, सूर्यमण्डल मित्यर्थः"। इस व्युत्पत्ति से जलाकर्षक रश्मियों

के आधार तेजोमय सूर्यमण्डल ही यहाँपर कप्यास का अर्थ है। उसकी तेजस्विता की तुलना भगवान् की आँखों से की गई है। तात्पर्य यह है कि भगवान् की आँखें सूर्य की तरह चमकीली हैं। इस व्याख्या को सुनते ही अद्वैतजगत् में उनकी विलक्षणप्रतिभा की सर्वत्र चर्चा होने लगी। किसी किसी के मन में यह भाव भी उत्पन्न हुये कि यह बालक भविष्य में अद्वैत का विरोधी होगा। यद्यपि रामानुज का अद्वैतवादियों से कोई विरोध न था। परन्तु फिरभी शङ्करानुयायी इसे टेढी आँख से देखने लगे। उस समय जनता अद्वैतवाद के वास्तविक रहस्य भूल चुकी थी। अद्वैतवादी, प्रभुभक्त शङ्कर के आदर्श से च्युत होकर अद्वैत के व्याज से प्रभुभक्ति के विरुद्धभावों का प्रचार करने लग गये थे। इस दोष को दूर करने के लिये रामानुज प्रभुभक्ति पर अधिक जोर देने लगे। उन्हों ने विशिष्टाद्वैत-मत की स्थापना की। ५० वर्ष की अवस्था में रामानुज चतुर्थाश्रमी हो गये। वेदविरोधी जैनियों का दमन उन के जीवन में एक अधिक प्रशंसनीय कार्य है। उनदिनों में "मैसूर" राज्य में जैनियों का पूर्ण प्रभुत्व था। रामानुज ने उन्हें वहाँ शास्त्रार्थ में हरा दिया। मैसूर का प्रतापी राजा 'विट्ठदेव' जैनधम को त्याग कर वैष्णव हो गया। तब राजा का नाम आपने विष्णुवर्धन रक्खा। यह घटना १११६ ई० (११७३ वि०) में हुई।

## रामानुज के मुख्यसिद्धान्त.

ब्रह्म अद्वितीय है, केवल नहीं किन्तु विशिष्ट है। सारा संसार ब्रह्ममय है। ब्रह्म के तीन अङ्ग है। चित्त, अचित्त, और हरि। हरि प्राणिमात्र में व्यापक है। उसी का नाम विष्णु है। चित्त (जीव) अचित्त (जड), ये दोनों परस्पर और ब्रह्म से भिन्न हैं। सारांस यह है कि ये तीनों चीजें एक दूसरे से भिन्न और स्वयं अद्वैत है। हरि या पुरुष सगुण है। वह लक्ष्मीपति और वैकुण्ठवासी है। रामानुज का कथन ह कि हरि अपने भक्त की सहायता के लिये अवतार धारण भी करता है। रामानुज ने विष्णु के अवतार भगवान् राम की उपासना को विशेष प्रधानता दी है। वे भगवान् कृष्ण को भी अपना आराध्य समझते थे। मुक्तावस्था में वे जीव का ब्रह्म से सान्निध्य मानते हैं। उस दशा में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। अन्तर इतना ही रह जाता है कि जीव सृष्टि उत्पन्न नही कर सकता। भगवत्धाम में भक्त निरन्तर सुखोपभोग करता है। भगवद्धाम प्राप्ति का प्रधान साधन पञ्चविध उपासना है। जिसका विवर्णन इस तरह है—१ अभिगमन=भगवन्मन्दिर का मार्जनादि करना। २ उपादान=पुष्पादि पूजा-सामग्री का आयोजन करना। ३ इज्या=भगवत्पूजा करना। ४ स्वाध्याय=वैष्णवसूक्तादि का पारायण करना। ५ योग=सर्वान्तर्यामी का ध्यान करना। योगयुक्त होते ही भक्त को भगवान् स्वधाम में ले जाते हैं।

## निम्बार्काचार्य्य.

११७१ वी० में वर्तमान निजाम राज्य में सिंहाद्रि के निकट "वेदर" ग्राम में इनका जन्म हुआ। इन्हीं का प्रथम नाम भास्कराचार्य्य है। आपने अपने पिता महेश्वर भट्ट से समस्त-संस्कृतग्रन्थों का अध्ययन कर अपूर्व योग्यता प्राप्त की। आप के "लीलावत्यादि" ग्रन्थ अद्यापि उपलब्ध हैं। आप के अनुयायियों का

कथन है कि आपने वेदभाष्यादि और भी कई लोकोत्तर निबन्ध लिखे थे जो औरङ्गजेवी अत्याचार के दिनों में लुप्त हो गये। आप मोक्षाश्रम ग्रहणकर वृन्दावन रहा करते थे। आप की गद्दी यमुना के तटपर मथुरा के निकट ध्रुव के क्षेत्र में है। आपके केशवभट्ट और हरिव्यास ये दो शिष्य थे। आप की सम्प्रदाय में गृहस्थ और त्यागी दोनों तरह के मनुष्य हैं। आप के निम्बार्क नाम पड़ने की विचित्र कथा भक्तमाल में इस प्रकार लिखी है—एकदिन आप के आश्रम में एक जैनसाधु आए। उन के साथ आप का जैनतत्वों पर विचार होता रहा। सूर्य अस्त होने लगा। आप अपने आश्रम से आतिथ्यसत्कार के लिये कुछ खाद्य वस्तुयें लाए। जैनोसाधु प्रायः रात्री को भोजन नहीं लेते। अतः उन्होंने आप का आतिथ्य स्वीकार न किया। आपने तब भगवान् भास्कर से कुछ ठहरने की प्रार्थना की। जबतक अतिथि भोजन करता रहा तबतक भगवान् सूर्य एक नीम के वृक्ष की ओट में ठहरे रहे। तब से आपका नाम निम्बार्क पड़ा। आप द्वैत-सिद्धान्त का अधिक आदर करते थे। आपने भी जैनों के खण्डन में कम भाग नहीं लिया। उत्तर भारत में वैष्णमत का प्रचार आपके द्वाराही हुआ।

## मध्वाचार्य.

+११७६ ची० में तूलव निवासी मोघिजी भट्ट के घर इनका जन्म हुआ। आपकी शिक्षा का कार्य अनन्तेश्वर मठ में हुआ। अच्युतप्रच धर्माचार्य से शंकरमतानुसार आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय आपका नाम आनन्दतीर्थ रक्खा गया। आप को न शङ्कर का अद्वैत ही आकृष्ट कर सका और न रामानुज का विशिष्टाद्वैत। आपने अपने पृथक् सिद्धान्त स्थिर किये। नारायण गुणातीत है। अत एव सर्वथा निर्दोष है। जीव कदापि ईश्वर के समान नहीं हो सकता। त्रिगुणमाया के संपर्क से ब्रह्मादिदेवगोचर में परिवर्तित होकर भगवान् संसार का सर्जन, पालन और संहरण करता है। वह वैकुण्ठधाम में लक्ष्मी, भूमि, नीला–इन तीन रमणियों के साथ अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करता रहता है। विष्णु आदि देवत्रयी अनित्य है। लक्ष्मी उनकी अपेक्षा नित्य है। नारायण उससे भी परे है। इसप्रकार नारायण के गुणात्मक विज्ञान या उसके प्रति प्रेम उदय होने से जीव सहज में मुक्त हो जाता है। जीवात्मा, और परमात्मा एक वस्तु नहीं है। हाँ, मुक्तावस्था में सूर्य के आगे तारों की भाँति नारायण महाचैतन्य के समक्ष जीवचैतन्य अभिभूत हो जाते हैं। अतएव भिन्न भिन्न प्रतीत नहीं होते। मोक्ष दशा में ब्रह्म में जीवलय-प्रतिपादक वाक्यों का निगूढ भाव यही है। मध्वाचारियों की उपासना के तीन अङ्ग हैं—अङ्कन, नामकरण और भजन। प्रथम का भाव यह है कि विष्णु के शंखादि चिन्हों से अपने अङ्गों को चिन्हित करना*। दूसरे का अर्थ है, अपनी सन्तान का नाम विष्णुवाचक रखना। तृतीय यह भाव रखता है कि, मानसिक, कायिक, वाचिक-इन भेदों से भजन तीन प्रकार का होता है। दया, स्पृहा (भगवद्दर्शनोत्कण्ठा),

+ यहाँ मिश्रबन्धु की ऐसी सम्मति है।

*तप्त मुद्राओं से शरीर का दागना भी उक्त उद्देश्य से किया जाता है।

श्रद्धा-ये तीन मानसिक भजन हैं। सत्यभाषण हितकथन, प्रियवचन और शास्त्रानुशीलन ये चार वाचनिक भजन हैं। दान. परित्राण ( शत्रु या व्याघ्रादि से भयभीत मनुष्य की रक्षा ) परिरक्षण (धनोपार्जनादि से स्वाश्रितों का पालन ) ये तीन कायिक हैं।

## स्मार्त्तशैव और शाक्ततान्त्रिक

१० वीं शताब्दी के अन्त में शिवपार्वता संवादात्मक तन्त्रग्रन्थों को रचकर वञ्चकतान्त्रिकों ने अनाचार फैलाने का कुचक्र चलाया। वञ्चकोंद्वारा-रचित तन्त्र-ग्रन्थों को शिव-आज्ञा मान कर सरल, आस्तिकजनता का उनकी ओर झुकाव हो गया। शाक्ततान्त्रिकों ने स्मार्त्त-शवों को यह कहना आरम्भ किया कि इष्टैक्य से हम और आप एक ही हैं। हमारी आपसे भी बढकर सदाशिव में अगाध श्रद्धा है। हो भी कैसे न, जब शिव हमारी उपास्य भवानी के पति है। तान्त्रिकों ने सरलशैवों को फँसाने के लिये अपनी पूजनपद्धति में भवानीपूजन से पहले शिव पूजन का नया नियम संमिलित कर लिया। दैनिककृत्यों में वैदिकक्रियाओं का अवलम्बन ले लिया। केवल इसलिये कि वैदिकजनता उनके असली रूप को पहचान न सके। वैदिकजनता में उस समय शैवसम्प्रदाय का ही अधिक प्रभाव था। शिवशक्ति के दाम्पत्य का टपला लगाकर तान्त्रिकों ने कतिपय सरल हृदय शैव नेताओं को अपनी ओर खैंच लिया। अब तो वे भी तन्त्रों की मर्यादानुसार मद्यादि हेय पदार्थों को शिवाज्ञा कहकर उड़ाने लगे। अपने विद्यावल से इसी मत का सर्वत्र प्रचार करने लगे। उस समय भारत में मद्यपानादि, मकारपञ्चक और साधनशक्ति (नारी) पूजनादि अनाचार का प्रबल प्रचार बल पकड़ गया। रामानुजादि वैष्णवों के प्रचार से इस मत का अधिक दमन हुआ। साथ ही शंकर के पवित्र अद्वैतसिद्धान्त को कलङ्कित करने वाले मृषाऽद्वैतदर्शियों के प्रभुभक्ति विरुद्ध विचारों का अन्त हो गया। यद्यपि वैष्णवसम्प्रदाय के प्रचार से भारत को असीम लाभ हुआ, परन्तु यह एक क्षति भी हुई कि हिन्दुजनता शैव और वैष्णव इन दो दलों में बट गई। परस्पर के मतभेद तब भयानक कलह के रूप में बदल गये। हिन्दुजाति की अजेय और लोकोत्तर प्रतिभा, जो कुछ दिन पहले वेदनिन्दकों के दबाने के लिये काम में लाई जाती थी, अब घर के ही दलों में एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये उपयोग में आने लगी।

## लोकप्रियमुनि के सदुपदेश

इस गृहकलह के शमनार्थ प्रभु की अपारदया से एक महापुरुष का जन्म हुआ। आपकी जन्मभूमि राजस्थान में जसलमेर थी। आपने १६ वर्ष की आयु में वि० ११८६ में पुष्करराज के पास एक आश्रम में सामप्रियमुनि से उदासीन दीक्षा ली। आपका प्रातःस्मरणीय नाम देवेन्द्रमुनि था। आप गुजरात में भ्रमणार्थ गये। वहाँ आपने महमूदद्वारा नष्ट किये हुये सोमनाथ के मन्दिर का हृदयविदारक दृश्य देखा। हिन्दुजाति के मुख्यधर्म शौर्य के ह्रास का यह एक ज्वलन्त निदर्शन देखकर आपकी आखों में आँसू आगये। भारत के पुरातनगौरव का स्मरण करके और उपस्थित-जातीय अपमान के दृश्य देखकर आप कुछ देर के

लिये स्तब्ध-से होगये। तब विदेशियों के आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने के लिये जातीय एकता के स्थापनकरने का विचार आपके हृदय में उत्पन्न हुआ। तबसे लेकर आप जहाँ कहीं जाते; यही उपदेश करते थे-" पारस्परिक विरोध को दूरकर समस्त हिन्दुओं को अनुपमप्रेमबन्धन में बद्ध हो जाना चाहिये। एकतारूपी अमृत का पान करने से ही हम मातृभूमि की रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।" उस समय मुनि के हृदय में ऐसे विचारों का उठना स्वाभाविक था। अपने देवमन्दिरों की महमूद-द्वारा की गई दुर्दशा को देखकर तब प्रत्येक हिन्दू का खून जोश मार रहा था। मुनि जी, शैव, :शाक्तिक, और वैष्णवप्रभृति समस्त हिन्दुसम्प्रदायों को समानदृष्टि से देखते थे। साथ ही पञ्चदेव-उपासना के रहस्य को बतलाकर उनके परस्पर भेदभाव को मिटाने के लिये यत्न करते थे। उनका कथन था कि,-मायापति, नारायण, और परमात्मा एक ही ईश्वर के नाम हैं। विष्णु, शिव, शक्त्यादि पञ्चदेव उसी के रूप हैं। प्राणी के शरीर की रचना पाञ्च-भूतों से हुई है। शरीरारम्भक पृथिव्यादिभूतों के तारतम्य से देहधारी प्राणियों का प्रकृतिभेद होना स्वाभाविक है। चतुरवैद्य, रुग्ण के पित्तादिदोषों की न्यूनता और अधिकता की 'अच्छी तरह आलोचना करके उसे तत्प्रकृत्यनुरूप औषधि देता है। ऐसा करने से वैद्य यश और रोगी आरोग्य लाभ करता है। प्रकृति के विप-रीत औषधि के सेवन से स्वास्थ्य लाभ तो दूर रहा बल्कि व्याधि उग्ररूप धारण कर लेती है। तात्पर्य यह है कि एक प्रकार की चिकित्सा से भिन्न भिन्न प्रकृति-वाले मनुष्यों का उपकार होना असम्भव है। अतएव कृपालु-महर्षिवृन्द ने सर्व साधारण जनता के अनुग्रह के लिये श्रौतपञ्चदेवोपासना का सर्वत्र प्रचार किया। वे भलिभान्ति जानते थे कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाञ्चों के क्रमशः शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य, विष्णु-ये पाञ्च अधिष्ठातृ देव हैं। जिस मनुष्य के शरीर में पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता है, उसकी पार्थिवप्रकृति समझनी चाहिये। उसके लिये पृथ्वी के अधिष्ठातृदेव शिव की उपासना ही लाभदायक हो सकती है। अन्य देवता की नहीं। इसी तरह अन्यप्रकार की प्रकृतिवालों के लिये भी प्रकृति के अनुसार ही देवपूजा उप-युक्त है। जगत्कल्याणार्थ प्रकृतिभेद से केवल एक परमात्मा की पाञ्चमूर्तियों की कल्पना हुई है। वस्तुतः सर्वत्र पूजन उसीका है। अतः उपास्यदेवनिबन्धन पारस्परिकविद्वेष करना निर्मूल है। शिवस्वरूप में हम जिस प्रभू का पूजन करते हैं, विष्णु-स्वरूपा-वलम्बन में भी वही आ जाता है। तात्पर्य यह है, प्रभु के पाञ्चस्वरूपों में से चाहे कोई किसी का पूजन करे, प्रत्येक उसकी कृपा का पात्र और उसके धाम का निवासी हो सकता है। मुनि के उक्त उपदेशों से हिन्दुजनता में कुछ कुछ एकता के भाव उत्पन्न हो गये। मुनि के ऐसे विशाल उद्गार और सर्व के साथ प्रेमभरे व्यवहार से मुनि का नाम "लोकप्रिय". प्रसिद्ध हो गया।

## लोकप्रियमुनि का श्रद्धालु, वीरशिष्य नरेश बीसलदेव

श्रुत्वा योगीन्द्रलोकप्रियमुनिवदितं श्रौतधर्मोपदेशम्,
आ विन्ध्यादा हिमाद्रेर्विरचितविजयो हिन्दुधर्मस्य पाता।

आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् मलेच्छविच्छेदनाभिः
सोऽयं वेदानुयायी जगति विजयते "वीसलः" क्षोणिपालः।

आप सम्बन्धी दो घटनाएँ उदासीनमञ्जरी और उदासधर्मदिवाकर में भिन्नभिन्न रूप में वर्णित हैं। उनमें प्रथम यह है कि दिल्ली के प्रतापी राजा अनङ्गपाल तोमर जब राज्य करते थे, तब लगभग ५० वर्ष तक अजमेर के चौहानों को तोमरवंश के प्रतापी नरेशों की आधीनता में रहना पड़ा। आना के पुत्र वीर वीसलदेव इस आधीनता को अपना अपमान समझते थे। अतएव वे सदा खिन्न-से रहते थे। वे दिल्ली की पराधीनता से मुक्तहोना अपना जातीय गौरव समझते थे। इस के दादा अज उपनाम अजयराज थे। इन्हों ने ही ११५० वि० में अजमेर का दुर्ग बनाकर 'अजमेर' शहर की नीव डाली। वृद्धावस्था में राजा अजय ने राज्य त्यागकर साम्प्रियमुनि से उदासीनधर्म की दीक्षा ले ली। अजमेर से दश मील, पश्चिम की ओर चतुर्थाश्रमी राजा अजय एक आश्रम में रहने लगे। कभी कभी लोकप्रियमुनि जी भी अपने गुरुभाई अजय मुनि से यहाँ पर मिलने आया करते थे। वहाँ पर कभी कभी अजय के बेटे आना भी अपने चतुर्थाश्रमी पिता के दर्शनार्थ आया करते थे। राजकुमार आना की लोकप्रियमुनि से इसी आश्रम में भेंट हुई। कुछ ही दिनों में लोकप्रियमुनि आना के परमश्रद्धेय बन गये। लोकप्रियमुनि की प्रेरणा से ही वीर आना ने पुष्करराज तीर्थ को नष्टभ्रष्ट करनेवाले, पञ्जाब की ओरसे आरहे मुसलमानों को, अजमेर के पास एक बृहत् संग्राम में पराजित किया। जहांपर यवनों का खून गिरा था, उसभूमि को शुद्ध करने के लिये वहाँ आना ने अपने नामपर एक विशाल सरोवर "आनासागर" बनवाया। गुरुभाई अजयमुनि के ब्रह्मलीन होजाने के बाद लोकप्रियमुनि उस आश्रम में कभी कभी आकर रहा करते थे। अजमेरनरेश पितृभक्त आना भी मुनि के दर्शनार्थ आया करते थे। मुनि से आना के अधिक स्नेह के दो कारण थे। एक तो, वे मुनि को अपने पिता के गुरुभाई समझते थे। दूसरा, मुनि की प्रेरणा से ही आना ने मुस्लमानों को पराजित किया था।

१२०६ वि० में, आना का पुत्र वीसलदेव मुनि के दर्शनार्थ आश्रम में आया। आगे कईबार इसने अपने पिता आना के साथ लोकप्रिय के दर्शन इसी आश्रम में किये थे। ये गर्मी के दिन थे। मुनि का विशालमुखमण्डल पसीने से तर हो रहा था। वीसलदेव स्वयं पङ्खा करने लगा। मुनि अकस्मात् उठकर चल दिये। राजकुमार ने साथ ही चलने की इच्छा प्रकट की। मुनि ने कहा-"बेटा! यहाँ ही बैठे रहो! मैं अभी लौटकर आता हूँ"। ऐसा कह कर, उसे वहाँ ही बिठलाकर मुनि चल दिये। वन की विलक्षण शोभा देखते देखते मुनि एक सघन और रम्य जङ्गल में जा पहुँचे। एक पवित्रस्थान देखकर मुनि बैठ गये और वहाँ ही सोऽहं का जाप करने लगे। जाप करते करते वे समाधिस्थ हो गये। इसीतरह वहाँपर ही तीनदिनतक समाधि में बैठे रहे।

इधर हमारे अनन्यमुनिभक्त राजकुमार मुनि की आज्ञा के बिना आश्रम से जाना अनुचित जानकर, उसी आश्रम में निरन्तर तीनदिन भूखेप्यासे ही लेटे रहे। अनुचरों की प्रार्थनाओं पर भी उन्हों ने कुछ ध्यान न दिया। अन्ततक अपने हठ में डटे रहे।

तीनदिन के बाद महामुनि की समाधि खुली तो वे वापिस आश्रम में आए। वीसलदेव उसी जगह पर बैठा था, जहाँ मुनि उसे जाते समय बिठला गये थे। मुनि ने उसकी शारीरिकशिथिलता को देखकर पूछा–बेटा वीसलदेव, तुम कुछ ढीले-से क्यों दिखाई देते हो ? राजकुमार ने कुछ भी उत्तर न दिया। आश्रमवर्त्ती प्रभुप्रसाद महात्मा ने अपने गुरु लोकप्रियमुनि को वीसलदेव का सब वृत्त कह सुनाया। यह सुनकर मुनि जी बड़े प्रसन्न हुये? और वीसलदेव से कहने लगे, "बेटा! वर मांग" प्रथम तो वीसल ने कुछ न कहा; जब मुनि ने उससे तीसरी बेर कहा तो उसने कहा–महाराज! यदि आप मुझ पर कृपा करना चाहते हैं तो मैं यही चाहता हूँ कि मैं दिल्लीविजय के मनोरथ में सफल हो जाऊँ! मुनि ने तथास्तु कह दिया। राजकुमार प्रसन्न होकर घर लौट आया। वि० १२०८ में वीसलदेव ने दिल्ली पर चढ़ाई की। दिल्लीनरेश तोमर ने बड़ी वीरता से सामना किया। अन्त में तोमर पराजित होकर भाग गया, और विजयलक्ष्मी ने वीसलदेव को वर लिया। तोमर को पराजित कर वीसल ने दिल्लीपर अधिकार कर लिया। इससे उसका अनन्त बल बढ़ गया। एक दिन वीसल को लोकप्रियमुनि ने यह उपदेश दिया—

## वीसल को मुनि का नैतिक–उपदेश

"वीसल! गजनी के तुरक पञ्जाब को अधिकृतकर, राजस्थान को अपने अधिकार में लाने का यत्न कर रहे हैं। यह भी सुना गया है कि वे रूपनगर (वर्त्तमान किशनगढ राजपूताना) तक आ पहुँचे हैं। भाइयों से लड़ना कोई वीरता का काम नहीं। वीरयोद्धा कहलाने का उसी को अधिकार है जो अपनी मातृभूमि को विदेशियों के हथकण्डों से प्राणपण से बचाए। क्या तुम अपनी कुलमर्य्यादा को भूल गये! आपके ही पूर्वजों ने विदेशियों को भारत से निकालने में अपने जीवन लगा दिये। चौहानवंश के १९ वें* राजा वीर्यराम ने, जो आपका ही पूर्वज था, महमूद का सामना बड़ी वीरता से किया। आपके ही पूर्वपुरुष, २२ वें राजा वीसलदेव ने महमूद के वंशधर मोदूद को पराजित किया। थानेश्वर, झाँसी प्रभृति नगरों को अपने अधिकार में कर उसने वहाँ के यवनोंद्वारा छिन्नभिन्न देवमन्दिरों को फिर से बनवाकर उन में फिर प्रतिमा-प्रतिष्ठाएँ करवाईं। दुर्लभराज, द्वितीय मुसलमानों से लड़ते लड़ते रणभूमि में ही वीरगति को प्राप्त होगये। आपके पितामह अजयराज और आपके पिता आना ने भी विधर्मिओं को भारत से निकालने की कम चेष्टा नहीं की। विदेशियों से मातृभूमि की रक्षा करना आपके पूर्वजों का प्रधान उद्देश्य रहा है। आपको भी उसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये अपनी जानतक लड़ा देनी चाहिये। पूर्वजों के उद्देश्य को पूर्णकरना ही सन्तान का मुख्य कर्त्तव्य है। हिन्दुशास्त्र पुत्र को पिता के उद्देश्य की पूर्ति का साधन बताता है। बस, तुम तो दिल्ली को जीतकर ही फूले नहीं समाते। क्या आपने अपने बाहुबल का प्रयोग स्वजातीय भाइयों पर ही करना सीखा है? हाँ! नैतिक एकता की स्थापनार्थ अपने जातिभाइयों

* चौहानक्षत्रियवंश के वीर सामन्तदेव ने साम्भर प्रान्तपर अपना अधिकार कर वहाँ अपनी राज्यसत्ता स्थापित की। इसके बाद वहाँ २० राजा हुये।

को एक पताका के नीचे ले आना बुरी बात नही। किन्तु भाईयों की आधीनता को कुलकलङ्क समझकर उनसे लड़ते रहना, और विधर्मिओंद्वारा की जारही राष्ट्र की दुर्गति को देखकर उसकी ओर ध्यानतक न देना कौनसी वीरता और बुद्धिमत्ता है? क्या राजपूतों ने यवन-शासन को कुलभूषण मान रक्खा है? अन्यथा, प्रतिदिन बढ रही शत्रुओं की शक्ति का प्रतिरोध क्यों नही करते! ऐसी स्थिति में परस्पर लड़-कर अपना ही बल घटाना विधर्मी-परतन्त्रता को सहर्ष स्वीकार करना नही तो और क्या है?"

मुनि के उक्तशब्दों का वीसलदेव के मनपर विलक्षण प्रभाव पड़ा। उसने मुनि के चरणों को छूकर कहा, 'आपके चरणों की शपथ लेकर कहता हूँ, अब मैं राजस्थान से विदेशियों को निकाले बिना सुख की निद्रा न लूँगा!! अतएव वीसलदेव ने अपने अद्भुतनीतिचातुर्य से समस्तराजपूत सेनाएँ एक झण्डे के नीचे खड़ी कर लीं। फिर क्या था, बात की बात में, राजपूतवीरों ने मुसलमानों को राजस्थान से मार भगाया। केवल इतना ही नहीं, उन्हों ने पराजितयवनों का पञ्जाबतक पीछा किया। इसप्रकार मुसलमानों को पराजितकर वीसलदेव अजमेर पहुँचे। विजय की प्रसन्नता से वीसलदेव का पाँव जमींपर न लगता था। दूसरे ही दिन मुनि के दर्शनार्थ आश्रम में गया। मुनि ने उसका विजयसमाचार प्रथम ही सुन रक्खा था। मुनि वीसलदेव को देखते ही गद्‌गद् होकर बोले-" आ प्यारे! जातिभक्त, राष्ट्ररक्षक, भारतमाता को तेरे जैसे सुपुत्रों का ही गर्व है। वीसल मुनि के चरणों से सप्रेम लपट गये। मुनि ने उसे उठाकर गले लगा लिया। तब मुनि ने धार्मिकनरेशों की कथाएँ सुनाकर उसके मन में धार्मिकभावों को और भी जाग्रत करदिया। मुनि ने उसे आजीवन देशसेवा करने का उपदेश किया। हिन्दुजाति की अधन्यता से वीसलदेव शीघ्र ही परलोक सिधार गये। यदि वे कुछदिन और जीवित रहते तो अवश्य ही देशका और महान् उपकार करते। अन्तसमय देशसेवा के अधूरे कार्यक्रम को वे अपने साथ ही लेकर चल बसे। अपने पूर्वपुरुष हारीतमुनि की तरह लोकप्रियमुनि ने भी हिन्दुधर्म की रक्षार्थ एक वीररत्न पैदा किया। निस्सन्देह, मेवाड़ी राजपूतों के पूर्वज, हारीतशिष्य - वीरबप्पा ने सिन्धपर अधिकार करलेनेपर भी जिसप्रकार मुसलमानों के आगे बढने से रोका था; उसीतरह लोकप्रिय के शिष्य वीसलदेव ने पञ्जाब को अधिकृतकर लेने के बाद मुसलमानों को इस लहर को भारत में आगे बढने से रोक दिया। इन देशभक्त दोनों वीरों और उनके उपदेशक मुनियों का भारत सदा के लिये ऋणी रहेगा। (उदासीनमञ्जरी)।

## पृथ्वीराज

दूसरी घटना इस तरह है-अपने पिता सोमेश्वर के साथ पृथ्वीराज मुनि के दर्शन करने बहुधा आया करता था। पृथ्वीराज मुनिका अनन्य भक्त बन गया। अतएव कभी कभी अकेला भी वहाँ आने लगा। उसकी श्रद्धा यहाँ तक बढी कि वह मुनि की सुश्रूषा अपने हाथों करने लगा। कभी कभी रात्री को भी पृथ्वीराज सेवा में उपस्थित रहने लगा। अनन्यश्रद्धा के कारण यह मुनि का कृपापात्र बन गया। एकदिन मुनि कहीं बाहर गये हुए थे; और उनके शिष्य प्रभुप्रसाद जी भी

आश्रम में न थे। पीछे से वहाँ दस, वीस साधुओं की एक मण्डली मुनि के दर्शनार्थ आई। पृथ्वीराज भी उसी समय अकस्मात् आश्रम में पहुँचा। वहाँ उसे मुनि और मुनि के शिष्य तो दिखाई न पड़े; और लौटरही साधुओं की एक मण्डली दीख पड़ी। राजकुमार ने आगे बढकर प्रणाम करके पूछा, "महाराज! आप किसलिये यहाँ पधारे थे, और अब लौट क्यों रहे हैं?

मण्डलेश्वर ने उत्तर दिया, "हम यहाँ लोकप्रियमुनि के दर्शनार्थ आए थे। वे यहाँ हैं नहीं, अतः हम निराश होकर लौट रहे हैं। क्योंकि उनके आगमन का कोई निश्चित समय तो है नहीं"। पृथ्वीराज ने मुनिमण्डली को प्रार्थनाकर ठहरा लिया। रातभर पृथ्वीराज मुनियों की सेवा में रहा। प्रातःकाल होते ही लोकप्रिय-मुनि भी वहाँ पहुँच गये। उनके शिष्य प्रभुप्रसाद जी तो रात्री को ही वापिस आगये थे। प्रभुप्रसाद ने अपनी आंखों से देखी पृथ्वीराज की मुनिसेवा लोकप्रिय को सुनाई। अपने मित्र आनन्देश्वरमुनि के दर्शन से लोकप्रिय बड़े प्रसन्न हुये। दोनों का परस्पर वार्तालाप आरम्भ हुआ। बातचीत में आनन्देश्वरमुनि ने पृथ्वीराज की अनन्यमुनि-श्रद्धा की प्रशंसा की। लोकप्रियमुनि हँसकर बोले-यह साधारण बालक नहीं, यह तो दिल्ली का सम्राट् है। साधुसेवा के पुरस्कार में लोकप्रियमुनि की स्वभावोक्ति कुछ ही दिनों में फलवती हुई। (उदासधर्मदिवाकर)।

दिल्ली के राजा अनङ्गपाल के यहाँ कोई सन्तान न थी। उसकी बेटी रूकावाई का विवाह अजमेरनरेश सोमेश्वर से हुआ। उसी राणी के गर्भ से सोमेश्वर का बेटा पृथ्वीराज जन्मा। अनङ्गपाल ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को दिल्ली का सिंहासन दे दिया। पृथ्वीराज अपने समय के अद्वितीय वीर थे। लोकप्रियमुनि की शिक्षा से धर्म, देश और जातिसेवा के भाव उसमें कूट कूट कर भरे हुये थे। इनके इन उच्चगुणों का परिचय उनकी सहाबुद्दीन के साथ युद्धसमय की ओजस्विनी वीर-वक्तृता से चलता है।

आधुनिकान्वेषण से 'पृथ्वीराज के मातामह अनङ्गपाल ने पृथ्वीराज को गोद लिया और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर दिल्ली का राज्य सौंप दिया-यह घटना अप्रमाणित सिद्ध हुई है। दिल्ली को तो पृथ्वीराज के दादा वीसलदेव ने ही तोमरों से छीन लिया था। यहाँ दूसरी बात यह है कि राजपूतजाति में गोदलेने की प्रथा न पहले कभी थी न आज है। वस्तुतस्तु, चेदीराज (जबलपुर) नृसिंहदेव की कन्या कपूरदेवी से अजमेरनरेश सोमेश्वर की शादी हुई। उस देवी के कोख से पृथ्वीराज का जन्म हुआ। वीसलदेव (विग्रहराज) को महाशय "स्मिथ" ने किसी काश्मीरी ग्रन्थ के आधार पर पृथ्वीराज का चचा लिखा है। यहबात विश्वसनीय नहीं हो सकती। चित्तौर से एक शिलालेख मिला है, उस से पृथ्वीराज वीसल के पौत्र प्रमाणित हुये हैं। चारणनिबन्धों की हम उन्हीं बातों को सत्य मान सकते हैं जे शिलालेखों से विरुद्ध न हों।

## हिन्दुओं की भारी भूल

अब यहाँ प्रकरणानुसार इस्लाम की तीसरी लहर का दिग्दर्शन कराना आवश्यक प्रतीत होता है। पाठकों को स्मरण होगा, भारतपर मुसल्मानों का प्रथम आक्रमण

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। उन दिनों में शताब्दियों से चल रहा बौद्ध-हिन्दु-संघर्ष अपने अन्तिम आन्दोलन में से गुजर रहा था। सिन्ध को पराजितकर मुसलमानों ने राजपूताने की ओर मुख किया ही था कि दूरदर्शी हारीतमुनि के शिष्य वप्पा ने उन्हें यहाँ से मार भगाया। वप्पा के शौर्य के आगे मुसलमानों को भागना ही पड़ा; यहाँतक कि गजनीपर भी वप्पा के सैनिकों ने अपना अधिकार जमालिया। इस्लाम की दूसरी लहर का समय १० वीं शताब्दी है। सुबुक्तगीन और महमूद के १७ आक्रमण इसी में शामिल हैं। महमूद का प्रथम आक्रमण पञ्जावपर और १६ वाँ सोमनाथ के प्रसिद्धमन्दिर पर हुआ। महमूद १०३० ई० में इस संसार से चल बसा। तबसे लगभग दो सौ वर्षतक कोई मुसलमानविजेता भारत में नहीं आया।

क्या ही अच्छा होता यदि भारतीयजनता इन शान्त दो शताब्दियों से अद्वितीय लाभ उठाती। बुद्धके अकर्मण्यता भरे उपदेशों से समाज में जो त्रुटियाँ आ-घुसी थीं, जनता उन्हें निकालकर फेंक देती और पुरातनगौरव का स्मरणकर फिर उसी शौर्य को पालेती। परस्पर सामाजिकवन्धनों में शिथिलता आते ही जातीयनाते रागद्वेषावृत्त होकर छिन्नभिन्न हो जाते हैं। समाज की शेषशक्ति घरेलू झगड़ों के दवाने में असमर्थ सिद्ध होती है, परिणाम यह होता है कि समाज विदेशीशक्ति का सामना करने में असमर्थ होकर सदाके लिये दासता का पुजारी वन बैठता है। ठीक यही वात तदानीन्तन हिन्दु-जनता में अक्षरशः घटती है-१३ वीं शताब्दी के आरम्भ में इस्लाम की तीसरीलहर का आरम्भ होता है। मुहम्मदगौरी ने भी महमूद का अनुकरण करके भारतपर आक्रमण किया। उस समय भारत की धार्मिक और नैतिक स्थितियाँ अपनी अच्छी दशा में न थीं। १० वीं और ११ वीं शताब्दी में तान्त्रिकों के मत का प्रचार प्रायः भारतीयजनता के हृदय पर अपना अधिकार जमा चुका था। अतएव लोग वैदिकसिद्धान्तों को भूलकर पथभ्रष्ट-से हो गये थे। नैतिक स्थिति भी आशाजनक न थी। अजमेरनरेश आना के बेटे वीसलदेव ने दिल्लीनरेश तोमर से दिल्ली खोसली थी। वीसलदेव चौहानवंश के थे और तोमरवंश से अधिक कुढते रहते थे; जिसका प्रधान कारण यह था कि अजमेर के चौहानों को कुछ दिन दिल्लीपति तोमरवंश के शासन में रहना पड़ा। यह वात आना के बेटे वीसलदेव को वहुतदिन से खटकती थी। शुभ अवसर हाथ लगते ही वीसलदेव ने तोमरनरेश को दिल्ली से निकाल दिया। अतएव तोमरवंश का वच्चा वच्चा चौहानों के विरुद्ध तल्वार उठाने को तैयार था। भारत की इस दयनीय दशा में इस्लाम की तीसरी लहर के असह्य आक्रमणों से देश वहुत दुर्बल होगया। अब पाठकों के मनोविदार्थ इस्लाम की तीसरी लहर का परिचय हम यहाँ देते हैं।

(६ तरङ्ग)

## इस्लाम की तीसरी लहर

### मुहम्मदगौरी और पृथ्वीराज

महमूद के परलोक सिधारने के अनन्तर उस के उत्तराधिकारियों की शक्ति प्रतिदिन घटने लगी। विपक्षीवर्ग तो महमूद के जाते ही इधर उधर उपद्रव करने लग गये थे। महमूद अभी जीता ही था जब कि वहाँ के पठानों ने वहाँ एक स्वतन्त्र

राज्य स्थापित कर लिया था। यद्यपि आरम्भ में इन लोगों ने महमूद की आधीनता स्वीकार करली, परन्तु उसकी मृत्यु होते ही वे स्वतन्त्र हो गये। ११५० ई० में गौरवंश के अलाउद्दीनहुसैन ने गजनीपर धावा बोल दिया। जगह जगह निरपराध नरनारी कत्ल किये गये। कत्लेआम के इलावा शहर अग्नि की भेंट कर दिया गया। शाही वंश की बड़ी बड़ी कबरें और विशालभवन खाक में मिला दिये गये। इस प्रकार गजनी महमूद के वंशधरों के हाथ से निकल गया। तदनन्तर गजनी का शासक मुहम्मदगौरी (सहाबुद्दीन) बना। इसने थोड़े ही दिनों में पर्य्याप्त शक्ति का संग्रह कर भारतपर आक्रमण कर दिया। उन दिनों में पञ्जाब का शासक खसरुमलिक था। यह महमूद का वंशधर था। मुहम्मदगौरी की विशाल सेना के आगे इसे भाग जाना पड़ा। मुहम्मदगौरी के सैनिकों ने इसे पकड़ कर कत्ल कर दिया। इस समय सिन्ध, मुलतान और पञ्जाब मुहम्मदगौरी के हाथ में आ गए। अब तक इसे मुसलमान शासकों से ही लोहा बजाना पड़ा था। इसके बाद मुहम्मदगौरी आगे बढा और अनायास से ही पञ्जाब की पुरातन राजधानी बठिण्डा को उसने हस्तगत कर लिया। इस से उसका साहस कैगुणा अधिक बढ गया।

एकदिन मुहम्मदगौरी दरबार में बैठा अपने सरदारों से वार्तालाप कर रहा था। इतने में वहाँ सरहन्द के सरदार का पत्र पहुँचा। उसमें लिखा था कि अजमेर नरेश पृथ्वीराज अपने भाई दिल्लीनरेश खाण्डेराय के साथ एक विशाल सेना को साथ लिये बठिण्डे की ओर बड़ी तेजी से आरहा है। उसकी यह तैयारी आप से बठिण्डा खोसने के लिये है। आप को चाहिये कि आप इस का सामना करने के लिये उद्यत हो जायँ, अन्यथा इस्लाम के लिये इस का परिणाम अच्छा न होगा। इस पत्र को पढते ही मुहम्मदगौरी ने सेना में यह घोषित कर दिया कि इस युद्ध का निपटारा किये बिना प्रत्येक सैनिक के लिये गजनी की ओर लौटना घोर पाप हैं। राजकीय आज्ञा के अनुसार तुर्कसेना थानेश्वर की ओर चल पड़ी। वहाँ पर थानेश्वर के निकट त्रावड़ी नामक स्थान में दोनों सेनाएँ परस्पर भिड़ गईं। युद्ध का मैदान बड़ा ही अद्भुत था। मुहम्मदगौरी स्वयं शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर घोड़ेपर सवार था। उधर हिन्दु-सेनापति हाथीपर बैठा हुआ दोनों सेनाओं का निरीक्षण कर रहा था। किसी विशेष घटना से हिन्दु सेनापति हाथी से उतर कर एक घोड़े पर सवार हो गया और हाथी पर उस का भाई जा बैठा।

**" आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः "।**

( श्रीहर्ष. )

हिन्दु-सेनापति ने इधर उधर अपनी सेना का निरीक्षण कर अपने सैनिकों को अधिक उत्साहित करने के लिये यह कहा, " राजपूत धर्मवीरो! ये विदेशी यवन आप के धर्म का नाश करने के लिये यहाँ आए हैं। अभी ये आप की सीमा पर ही हैं। कल को क्या होगा यह केवल परमात्मा जानता है। साधारण साहस से ही इनका नाश किया जा सकता है। इस समय यदि आप किञ्चन्मात्र भी आलस कर गये तो समझ लो आपका और आपके प्राणप्रिय धर्म का कोई ठिकाना नहीं। इस समय आपकी उन्नति और अवनति आपके साहस और आलस पर निर्भर है। इन

दुष्टों का सर्वनाश करके दम लो। सावधान हो जाओ! ये मलेच्छ हाथ से जाने न पाएँ।" पृथ्वीराज की ओजस्विनी वक्तृता अभी समाप्त न हुई थी कि तुर्कसेना आगे बढ आई। उत्तेजित राजपूतवीरों का अपूर्वसाहस यवनसेना का सर्वनाश करने के लिये उन्हें बाध्य करने लगा। राजपूतवीरों की तल्वारें स्वच्छजल में क्रीडा कर रहीं मछलियों की भाँति प्रतीत होने लगीं। देखते देखते रजपूतसेना तुर्कसैनिकोंपर भूखे बाघ की तरह टूट पड़ी। मुहम्मदगौरी के सैनिकों की राजपूतवीरों के साथ यह पहली ही लड़ाई थी। राजपूतों के रणकलाकौशल को देखकर तुर्कसैनिक चकित होगये। पृथ्वीराज के सैनिकों ने मुसलमान सिपाहियों को गाजरमूली की तरह काटना आरम्भ कर दिया। यह देख, पठान और खिलजी सैनिक मैदान से भाग निकले। पृथ्वीराज विजयी हुए और मुहम्मदगौरी कैद कर लिया गया। कुछ दिन बाद पृथ्वीराज ने उसे मुक्त कर दिया। यह उस की अदूरदर्शिता है या दया परन्तु नीति के नियमानुसार यह एक भारी भूल है। उक्त घटना ११९१ ई० ( १२४८ वि० ) की है।

बन्धन से मुक्त होते ही मुहम्मदगौरी गजनी चला गया। वहाँ पर उसने युद्ध से भागे हुये सरदारों को लज्जित करने के लिये उनके गले में तोबरे बान्धे, इस लिये कि ये मनुष्य नहीं बल्कि पशु हैं। उसी दिन से मुहम्मदगौरी ने विलासता को ठुकरा दिया और परिश्रमी जीवन विताना आरम्भ किया। उसने अपने कैद के वस्त्रों को भी बदलना अच्छा न समझा। राजभवन की तमाम विलासता की सामग्रियों से मूँह मोडकर अपने अपमान का बदला लेने की धुन में दिनरात रहने लगा। इसके प्रतिकूल पृथ्वीराज अब शत्रु के भय की ओरसे निश्चिन्त था अतएव आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगा।

मुहम्मदगौरी ११९२ ई० ( १२४९ वि० ) में फिर भारतपर चढ आया। इसने अपने दूत सय्यद रुकणदीन को पृथ्वीराज के पास यह सन्देश देकर भेजा कि मैं अपने भाई गयासुद्दीन की आज्ञा से एक विशालसेना लेकर आपके देशपर चढ आया हुँ। आप इस्लाम की आधीनता स्वीकारकर अपने जीवन पर दया करें तो अच्छा हैं। आप जानते ही हैं अन्यथा तल्वार के आगे सबकुछ मान लेना पड़ेगा। इस पत्र को पढते ही पृथ्वीराज के तनवदन में आग-सी लग गई और उत्तर दिया कि आप राजपूतों की तल्वारों की करामातें भूले हुये नहीं हैं। प्रत्येक राजपूत जानपर खेल जानेवाला वीर है। इनकी अजेयशक्ति के आगे ठहरनेवाला मुझे कोई दिखाई नहीं देता। क्यों नाहक रक्त की नदियाँ बहाना चाहते हो! जिन तुरुकों को तुम यहाँ लूटखसोट का लालच देकर ले आए हो, उनकी युवावस्था पर कुछ दया करो। हम आपको विश्वास दिलाते हैं—आप लोगों का पीछा न किया जायगा। हमारे सैनिकबल से आप पूर्णतया परिचित हैं, याद रक्खें! आप में से एक भी जीता वापिस न जायगा।" इस उत्तर को पढकर मुहम्मदगौरी कुछ नम्र होगया और कपटनीति से काम निकालनेका ढंग सोचने लगा। उत्तर में पृथ्वीराज को लिख भेजा कि आपको शतशः धन्यवाद है कि आपने मुझे उचित अनुमति देकर कृतार्थ किया। विदित हो, मेरे भाई ने मुझे भेजा है। मुझे उसकी आज्ञा शिरोधार्य है। यदि आप मुझे कुछ समय देने की उदारता दिखाएँ

तो मैं अपने भाई से स्वीकृति मँगवा लेता हुँ। उसका पत्र पहुँचते ही मैं आपसे सन्धि कर लूँगा।

**" व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः "**

( भारवि. )

पृथ्वीराज ने उसे मनमांगा अवकाश दे दिया और आप उसकी ओर से निश्चिन्त होरहा। राजपूत सेनाएँ यह समझने लगीं कि हम विजयी हो चुके हैं अतः आनन्द के वाजे वजाने लगीं। किसी भी राजपूत को मुहम्मदगौरी की कुटिलनीति का स्वप्नतक न आया। वे अपनी ही मस्ती की तरङ्गों में दिनरात मस्त रहने लगे। अतएव हिन्दु-जाति की अधन्यता से मुहम्मदगौरी की चाल अपना काम कर गई। यदि राजपूत भगवान् कृष्ण की नीति का* अवलम्बन करते तो यह दुर्दशा कदापि न होती। रातके समय, जबकि तमाम राजपूतसेनाएँ सो रही थीं, यवनसेनाओं ने अकस्मात् उनपर धावा वोल दिया। यद्यपि राजपूतसेनाएँ तव सावधान न थीं फिर भी तुरुकों का खूब सामना किया। राजपूतवीरों की तल्वारें ऐसी तेज़ी से चलीं कि शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये। मुहम्मदगौरी दुविधा में पड़ गया। वह पराजय के असह्य भय से वारम्वार घवराने लगा। अपने सैनिकों को अधिक उत्साहित और निर्भय करने के लिये उसने सिर से शाहीताज उतारकर कफ़न वाँधलिया। उसके सैनिकों ने भी उसका अनुकरण किया। मुहम्मदगौरी ने अपने सैनिकों के सामने अपनी तल्वार का म्यान तोड़कर कहा कि हम या तो शत्रुपर विजय पायँगे; अथवा यहाँपर ही लड़कर मर जायँगे। इससे तुरुकसेना में जोश का ठिकाना न रहा और वे राजपूतसेना पर विजली की तरह टूट पड़े। इधर पृथ्वीराज के सेनापति भी मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति देने के लिये आगे वढे। दोनो ओरसे घोरसंग्राम होने लगा और दोनों ओर के योद्धा गाजरमूली की तरह कटने लगे। पृथ्वीराज के वड़े वड़े सरदार इस धर्मयुद्ध में काम आए। प्रातः स्मरणीय वीरकेसरी मेवाड़पति समरसिंह और पृथ्वीराज के भाई वीर खाण्डेराय इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त होगये। हजारों राजपूत देश और जाति के नाम पर मर मिटे!!

अन्त में विजयलक्ष्मी ने प्रसन्न होकर जयमाला मुहम्मदगौरी के गले पहना दी। पृथ्वीराज वन्दी करलिये गये। जाते समय तुरुकसेनापति उसे अपने साथ गज़नी ले गया। वहाँ पर वड़ी निर्दयता से उनकी आँखें निकलवा दी गईं। मुहम्मदगौरी की आज्ञानुसार वे वेड़ियाँ पहनाकर कैद में डाल दिये गये।

### कविवर चन्द्रभट्ट का अपने स्वामी के लिये आत्मत्याग

इधर स्वामि-भक्त कविवर चन्द्रभट्ट यवनवेश में गजनी पहुँचा। वहाँ पर वह गौरी से अपने स्वामी का वदला लेने की चिन्ता में रहने लगा। एकदिन मुहम्मद-

* विधर्मी कालयवन को भगवान् कृष्ण ने युद्ध से भागकर मुचकन्द के द्वारा मरवा दिया था। इस घटना से वे हमें यह शिक्षा देते हैं कि विधर्मी से लड़ते समय क्षात्रयुद्धनियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है।

गोरी ने धनुर्धारियों की लक्ष्यवेधकुशलता देखने के लिये एक दरबार किया। यवनवेश में कविचन्द्र भी वहाँ जा निकले। चन्द्र ने बादशाह से कहा कि पृथ्वीराज अब थोड़े दिन का मिहमान है। उसकी लक्ष्यवेधनिपुणता देखने योग्य है। आँखे निकलवा देने के कारण यद्यपि वह देखकर लक्ष्यवेधन नहीं कर सकता, परन्तु शब्दवेधीविद्या में भी वह बड़ा निपुण है। यदि आप इसके धनुर्विद्या के चमत्कार देखना चाहें तो एक ओर लोहे के सात तवे रखदो और उनपर कंकड़ या पत्थर फेंक कर कुछ आवाज करो। इसके इलावा आप प्रोत्साहन के शब्दों से उसका उत्साह बढाएँ फिर देखें वे अपने तीखे तीर से इन सात तवों को किसप्रकार वेधते हैं। कविवर चन्द्रभट्ट के कथनानुसार मुहम्मदगोरी ने वैसा ही किया। लक्ष्यवेधोत्सवदिन निश्चित किया गया। पृथ्वीराज की बेड़ियाँ उतार दी गई और राजकोश की ओरसे इनके भोजनादिका समुचित प्रबन्ध करा दिया; ताकि वे अपने धनुर्विद्या के चमत्कार अच्छीतरह दिखा सकें। नियत समयपर पृथ्वीराज दरबार के चौक में लाकर खड़े कर दिये गये। उनकी दाहनी ओर कविवर "चन्द्र" उपस्थित थे। उनके नजदीक लोहे के सात तवे रख दिये गये। उनके ठीक सामने एक सुन्दर सिंहासनपर शाहबुद्दीन बैठ गया। चन्द्र के सङ्केतानुसार बादशाह ने शब्द करने के लिये तवों पर एक ढेला फेंक दिया। तब चन्द्रकवि ने अपनी भाषा में अपना मनोभाव पृथ्वीराज को समझाने के लिये यह कविता पढी।—

चारवंश चौबीस गज अङ्गुली अष्ट प्रमाण,
एते पर सुलतान है मत चूकिओ चौहान।
अब की चढै कमान को जाने फिर कब चढै;
जन चुकै चौहान याको मारे इक सर।

तब शाहबुद्दीन ने ऊँचे स्वर में 'शाबास' कहकर लक्ष्यवेधदेखने के लिये सिर ऊपर को उठाया। शाबास की आवाज के साथ ही पृथ्वीराज ने अपना तीर छोड़ दिया। तीर मुहम्मदगोरी के मस्तक को फाड़कर पार निकल गया। मुहम्मदगोरी का शव सिंहासन से नीचे धडम्म से जा गिरा।* उपस्थित राज्यकर्मचारी पृथ्वीराज और चन्द्र की ओर दौड़े परन्तु उनके पहुँचने के पूर्व, पृथ्वीराज और चन्द्र परस्पर तल्वारें चलाकर इस संसार से चल बसे। मलेच्छों के हाथ से मरने की अपेक्षा उन्हों ने एक दूसरे के हाथ से कटकर मरजाना अच्छा समझा। इसप्रकार वीरवर पृथ्वीराज और कविवर चन्द्रभट्ट शत्रु से बदला लेकर परलोक सिधारे। इधर भारतभूमि मलेच्छों की क्रीडास्थली बन गई।

## पृथ्वीराज के पतन के चार कारण

चन्द्रबरदाई ने पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज के पतन के दो कारण लिखे हैं। प्रथम, जयचन्द्र की बेटी संयुक्ता से विवाह होनेपर उसके अनुपम सौंदर्यपर मुग्ध हो, दिनरात

* अर्वाचीन अन्वेषकों का मत है कि १२६३ वि० (१२०६ ई०) में शहाबुद्दीन जब गज़नी को वापिस लौट रहा था, उस समय सिन्धुनदी के तीरपर गक्खड़जाति के राजपूतों ने उसके कैम्पपर आक्रमण किया और तमाम मालअसबाब लूटकर उसको क़तल कर दिया।

विलासता में रत रहना। दूसरे कारण के सम्बन्ध में वहाँ यह लिखा है कि जयचन्द पृथ्वीराज की माता की बड़ी बहन का बेटा था। अतएव वह अपने आपको अपने नाना अनङ्गपाल के राज्य का उत्तराधिकारी समझता था। जब अनङ्गपाल ने दिल्ली का राज्य पृथ्वीराज को देदिया तो जयचन्द इससे जलने लगा। उस समय दिल्ली का राजा महाराजाधिराज कहलाता था। जयचन्द ने अपने आप को महाराजाधिराज घोषित करने के लिये एक राजसूययज्ञ करना आरम्भ किया। साथ ही अपनी बेटी संयुक्ता का स्वयंवर भी रच दिया। भारतभर के राजामहाराजा आमन्त्रित किये गये। उस यज्ञ और स्वयम्वर के समय पृथ्वीराज के बहनोई चित्तौड़नरेश समरसिंह और पृथ्वीराज वहाँ नहीं गये। जयचन्द ने इन दोनों की पित्तल की प्रतिमाएँ बनवा-कर इनके अपमानार्थ एक को राजभवन के द्वारपर और दूसरी को पात्रमार्जन के स्थानपर रखवा दिया। स्वयम्वर के समय संयुक्ता फूलमाला लिये राजसभा में पहुँची। वह स्वयम्वर से पूर्व ही पृथ्वीराज के शौर्य्यादिगुणों का श्रवण-कर उसपर मुग्ध थी। अतएव संयुक्ता ने पृथ्वीराज की पीतल की प्रतिमा के गले में जयमाला पहना दी। यह बात जयचन्द को बहुत बुरी लगी; अतः उसने संयुक्ता को बुलाकर प्रेमपूर्वक समझा बुझाकर कर उसे पुनः वर चुनने के लिये सलाह दी। संयुक्ता ने दूसरीबार भी जयमाला पृथ्वीराज की मूर्त्ति के गले डाल दी। अब तो जयचन्द के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह तल्वार लेकर उसे कत्ल करने लिये दौड़ा, परन्तु मन्त्री ने उसे रोक दिया। पृथ्वीराज भी वहाँ पर ही वेश बदले हुये खड़े थे। संयुक्ता को झटिति अपनी घोड़े की पीठपर बिठाकर पृथ्वीराज बात की बात में चम्पत होगये। नगर से बाहर उनकी सेना तैयार खड़ी थी। उसके साथ पृथ्वीराज संयुक्ता को साथ लेकर देहली पहुँच गये। यद्यपि जयचन्द की सेना ने पीछा किया; परन्तु सफल न हो सकी। जयचन्द ने इसी बात से चिढ़कर मुहम्मदगौरी को यहाँ पर आमन्त्रित किया।

उक्त दोनों बातें (विवाह और आमन्त्रण) अप्रमाणित सिद्ध हो चुकी हैं। कुछ ऐसा मालूम होता है कि ये बातें चौहानपक्षपाती भाटों ने जयचन्द को कलङ्कित करने के लिये घड़ी हैं। यह स्पष्ट ही है कि पृथ्वीराज जयचन्द की मासी के बेटे थे। इस नाते से संयुक्ता पृथ्वीराज की भतीजी थी। भला यह कब संभव है कि एक हिन्दु-राजा अपने भाई की लड़की से शादी करे। प्रथम बात का खण्डन तो इस प्रकार होजाता है, बाकी रहा; जयचन्द का मुहम्मदगौरी को यहाँ बुलाना, वह भी किसी प्रामाणिक इतिहास में नहीं लिखा मिलता अतः असत्य और मनघड़न्त है। इतिहासानुशीलन से यह पता चलता है कि पृथ्वीराज के पतन का कारण अन्य राजपूतनरेशों का साथ न देना है। वे सब के सब इसकी विजय, शौर्य्य और कीर्तिपर ईर्षा करते थे। इसमें प्रमाण यह है कि पृथ्वीराज की दूसरी लड़ाई में १०८ के स्थान में केवल ६४ नरेश ही रह गये थे। दूसरी बात यह है कि उन-दिनों के राजपूतराजाओं में स्वयंवर की प्रथा बड़ी ही हानिकारक सिद्ध होचुकी थी। जब कभी किसी राजा के यहाँ कोई कन्या अधिक सुन्दर होती थी तो सब के सब उसे विवाहलेने की धुन में लग जाते थे। कन्या के पिता पर विपत्ति के

काले बादल छाजाते थे। उनदिनों में यह नियम था कि जो कन्या के पिता को युद्ध में हरा दे उसीसे कन्या का विवाह कर दिया जाता था। इस घातकप्रथा में सब से बड़ी हानि यह होती थी कि कन्या का पिता अपने जामाता को अपना हानिकारक समझकर उसके स्वागत के स्थान में उसका सर्वनाश करनेपर उतारू हो जाता था। पृथ्वीराज ने अपनी कन्या बेला के प्रणेता महोबा के राजकुमार ब्रह्मानन्द के दमन के लिये अपना समस्त बल लगा दिया था। इसी संग्राम में पृथ्वीराज के बड़े बड़े वीर और महोबा के प्रसिद्ध वीर आला ऊदल वीरगति को प्राप्त हो गये। पृथ्वीराज के ह्रास का तृतीय कारण यह भी था कि राजपूत नरेश मुहम्मद गौरी और पृथ्वीराज के संग्राम को जातीय संग्राम न समझकर व्यक्तिगत संग्राम समझते थे। चतुर्थ कारण यह था कि उन दिनों में जातीय और राष्ट्रीय गौरव की अपेक्षा व्यक्तिगत मान को अधिक महत्त्व देते थे। उक्त कारण ही भारत के पद्द-लित होने में सहायक हैं। कुछ भी हो, भारत की मानरक्षा के लिये पृथ्वीराज का आत्मत्याग चिरस्मरणीय रहेगा।

## देहली के छः राजवंश

मुसलमानों के पहले दो आक्रमणों से, तीसरे में हमें एक विशेषता मिलती है। वह यह कि पहले तो वे इधर आते और लोगों को लूटकर वापिस हो जाते थे। अबके तो वे यहाँ अपना घर बनाकर बैठ गये। मुहम्मदगौरी यहाँ से जाते समय अपने गुलाम कुतुबुद्दीन को अपना प्रतिनिधि नियुक्तकर गजनी लौट गया। कुतुबु-द्दीन ने कुछ महीनों में दिल्ली को सर्वथा हस्तगत कर लिया। ११९४ ई० (१२५१ वि०) में इटावा के पास लड़ाई में उसने जयचन्द से कन्नौज छीन लिया। जयचन्द गङ्गा में डूबकर मर गया। उसके वंशधर राठौरों ने भागकर जोधपुर में शरण ली और थोड़ेदिनों में शक्तिसंग्रह करके वहाँअपना राज्य स्थापित कर लिया। इधर मुस-लमानों ने स्वल्प समय में बङ्गाल और विहार को अपने आधीन कर लिया। इसके बाद १२०६ ई० (१२६३ वि०) से १५२५ ई० (१५८२ वि०) तक देहली में छे वंशों के ३२ बादशाह हुये*। इनमें से एक, दो के बिना शेष सब ने हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार

*पहला वंश दासों का था। १२६३ वि० से १३४५ वि० तक, इस वंश के ११ बादशाह हुये। उनके नाम और सम्वत् ये हैं:—

१ कुतुबुद्दीन, सहाबुद्दीन का गुलाम १२६२ वि०।
२ आराम शाह, कुतुबुद्दीन का बेटा १२६५ वि०।
३ शमसुद्दीन एलतमश, कुतुबद्दीन का गुलाम १२६८ वि०।
४ रुक्नुद्दीन, फीरोजशाह, शमसुद्दीन का बेटा १२९२ वि०।
५ रजिया, सुल्तान, शमसुद्दीन की बेटी १२९३ वि०।
६ मोअज्जुद्दीन बहरामशाह शमसुद्दीन का बेटा १२९६ वि०।
७ अलाउद्दीन मसअद शाह, फीरोजशाह का बेटा १२९९ वि०।
८ नासिरुद्दीन महमूद शाह, शमसुद्दीन का बड़ा बेटा १३०३ वि०।
९ गयासुद्दीन बलबन शमसुद्दीन का गुलाम १३३१ वि०।
१० मोअज्जुद्दीन केकुबादनासिरुद्दीन का बेटा १३३७ वि०।
११ शमसुद्दीन कैकाअस, कैकुबाद का बेटा १३४५ वि०।

किये। उनदिनों में हिन्दु-सूर्य अस्त-सा हुआ मालूम होता था। उसकी कुछ चमकीली किरणें अभी चित्तौड़ में शेष थीं। अल्लाउद्दीन ने चित्तौड़ पर दो आक्रमण किये परन्तु सफल न हो सका। स्वाधीनता की मातृभूमि, चित्तौड़ को जीतलेना कोई साधारण बात न थी। इसीके जीतने में शहाबुद्दीन के प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन को सूँह की खानी पड़ी थी। उस समय समरसिंह की धर्मपत्नी कर्मदेवी के हाथ से बुरीतरह घायल होकर वह बड़ी कठिनता से भागकर बचा था। लड़ाई के दिनों में राजपूतवीरों ने अलाउद्दीन को ऐसा तंग किया कि इसे लड़ाई का इरादा छोड़ कर दिल्ली को भागना पड़ा था।

---

दुसरा वंश खिलजी था। १३४७ वि० से १३७८ वि० तक इस वंश के पाञ्च वादशाह हुये। उनके नाम और सम्वत् ये हैं:—

१ जलालुद्दीन फिरोज खिलजी १३४७ वि०।

२ अलाउद्दीन खिलजी, फिरोजखिलजी का भतीजा १३५३ वि०।

३ शहाबुद्दीन उमर अलाउद्दीन का बेटा १३७३ वि०।

४ कुतुबुद्दीन मुबारिकशाह खिलजी अला १३७४ वि०।

५ खुसरोखां कुतुबुद्दीन का गुलाम १३७८ वि०।

तीसरा तुगलक्र वंश था। १३७८ वि० से १४५० वि० तक इस वंश के आठ बादशाह हुये। उनके नाम और सम्वत् ये हैं:—

१ गयासुद्दीन तुगलकशाह गयासुद्दीनवल १३७८ वि०।

२ मोहम्मदशाह तुगलक १३८२ वि०।

३ फीरोजशाह तुगलक १४०८ वि०।

४ गयासुद्दीन तुगलक्र, फतहखां का बेटा। १४४५ वि०।

५ अबूबक्र तुगलक, जफर खां का बेटा फीरोज १४४५ वि०।

६ नासिरुद्दीन, मोहम्मदशाह का बेटा १४४६ वि०।

७ सिकन्दर शाह, नासिरुद्दीन का बेटा १४५० वि०।

८ नासिरुद्दीन महमूद शाह नासिरुद्दीन १४५०।

१४७० वि० में चतुर्थ लोदीवंश का एक बादशाह हुआ। उसका नाम और सम्वत् यह है:—

१ दौलतखां लोदी, नासिरुद्दीन का नौकर १४७० वि०।

पाञ्चवाँ सैयदवंश था। १४७१ वि० से १५०२ वि० तक इसवंश के चार नरेश हुये। उनके नाम और सम्वत् ये हैं:—

१ खिजरखां, सुलतान फीरोज का नौकर १४७१ वि०।

२ मोअज्जुद्दीन अबुल फतह मुबारक शाह १४७७ वि०।

३ मुहम्मद शाह फरीदखां का बेटा खिजरा १४९० वि०।

४ सुलतान अलाउद्दीन मुहम्मद शाह का० १५०२

छठा पठानवंश था। १५०८ वि० से १५७४ वि० तक इस वंश के ३ बादशाह हुये। उनके नाम और सम्वत् ये हैं:—

१ वहलोल लोदी, मुहम्मदशाह का नौकर १५०८ वि०।

२ सिकन्दर लोदी, वहलोल का बेटा १५४५ वि०।

३ सुलतान इब्राहीम सिकन्दर लोदी का बेटा० १५७४ वि०।

## अलाउद्दीन और चित्तौरगढ

रवे रस्तं तेजः, प्रसुदयति खद्योतपटली,
मरालाली मूका कलकलपरोलूकपटली ।
इदं कष्टं दृष्ट्वा, चिरमसहमाना कमलिनी,
भ्रमद्भृङ्ग्याजात्कवलयति हालाहलमिव ।

( भर्तृहरि )

अलाउद्दीन ने फिर एक विशाल सेना एकत्रित कर चित्तौड़पर द्वितीय आक्रमण कर दिया । राजपूतवीर पीछे हटना तो कलंक समझते थे, अतएव अपने १२ बेटों के साथ लक्ष्मणसिंह देश और धर्म की रक्षा के लिये वीरगति को प्राप्त होगये । लक्ष्मणसिंह के चचा भीमसिंह की धर्मपत्नी का नाम पद्मिनी था ! इसी की प्राप्ति के लिये चित्तोरपर अलाउद्दीन ने दूसरीवार फिर चढाई की । जब सफलता की कोई आशा न रही तब सतीशिरोमणि पद्मिनी अपनी १३००० सखियों के साथ दुर्ग की गुहा में चिता बनाकर धक् धक् जल रही आग में प्रविष्ट हो गई । हिन्दु-जाति की मानरक्षा के लिये पद्मिनी का यह आत्मबलिदान चिरस्मरणीय रहेगा । पद्मिनी ने अपने फूल जैसे सुन्दरशरीर को जल रही चिता में खाक बना दिया। क्या यह कम आत्मत्याग है ? जाति की मानरक्षा के लिये बलिदान का एक अद्वितीय निदर्शन है ! संसार के इतिहास में एक हिन्दु-जाति ही है जिस का पुरावृत्त आत्मोत्सर्ग के ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है । स्वदेश-प्रेम-महामन्त्र से दीक्षित वीर राजपूतों के रक्त और सतियों की पवित्रभस्म के संमिश्रणन ने चित्तौर के प्रत्येक अणु को पवित्र बना दिया । प्रत्येकहिन्दू चित्तौर की पवित्रमट्टी को शिरोधारण करके अपना सौभाग्य समझता है । अलाउद्दीन के द्वितीय आक्रमण से चित्तौर सर्वथा नष्टप्रायः होगया । परमात्मा की असीमदया से राणावंश का दीपक, बालक अजयसिंह किसी तरह सुरक्षित रहा । जिस के वंशधर आगे शिवाजी हुये, जिन्हों ने मुस्लिम साम्राज्य को उखाड़ कर फेंक दिया ।

चित्तौर का सर्वनाश कर अलाउद्दीन १३०३ ई० ( १३६० वि० ) में दिल्ली वापिस आगया । चित्तौर की विजय इसे बहुत मँहगी पड़ी । वहां के राजपूतों के कठोर प्रहारों से निरुत्साह यवनसेना लड़ाई का नामतक न लेती थी । उनदिनों में अन्य मुसलमान सिन्ध और पञ्जाब को खूब लूट रहे थे । बहुत से लुटेरे लूटते २ दिल्ली तक आ-पहुँचे थे । अलाउद्दीन के सौभाग्य से वे आगे न बढकर पीछे ही लौट गये । अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को लूटकर कङ्गाल बना दिया । किसानों की सारी आमदन छीनली जाती थी । उन्हें केवल खाने और पहनने के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास रखने का अधिकार न था । उसके मन में यह कुटिलनीति काम करती थी कि हिन्दुओं को सर्वथा दुर्बल बनादिया जाय, जिससे वे पुनः जाग्रत न हो सकें। उसके शासन में हिन्दुलोग न अच्छा खापी सकते थे और न अच्छा पहन ही सकते थे । इस्लाम की तो शिक्षा ही यह है कि गैरमुस्लमानों को बलात् कुरान का भक्त

बनालिया जाय । जब ऐसे सिद्धान्तों के माननेवाला कोई शासक बनजाय तो गैर मुसलमानप्रजा सन्तुष्ट कैसे रह सकती है ।

### मुहम्मदतुगलक के अत्याचार

१३२५ ई० ( १३८२ वि० ) में दिल्ली का शासक मुहम्मद तुगलक हुआ । इसके अत्याचारों से प्रजा दुःखी हो उठी थी । गङ्गा और यमुना के मध्यवर्ती किसानों पर अधिक कर बढा दिया गया। कर वसूल करते समय बड़ी क्रूरता से काम लिया जाता था । लोग अधिक सताए जाने के कारण घर छोड़कर जंगल और पहाड़ों में जा घुसते थे । निर्दयशासक ने इन हतभाग्य लोगों को वन्यपशुओं की भाँति मारना आरम्भ किया । इनके सिर काटकर शहरों की दीवारोंपर लटकादिये जाते थे । शासकों की कठोरता के इलावा मुगललुटेरों ने भी लोगों का नाक में दम कर रक्खा था । १३९८ ई० ( १४५५ वि० ) में तैमूर भारतपर चढ आया । यह इस इरादे से यहाँ आया था कि भारत में एक भी हिन्दू जीता न छोड़ा जाय । देहली के पास इसने लाखों निरपराध हिन्दू कत्ल कर दिये । तीन दिन तक दिल्ली लुटती रही ।

पता नहीं परमात्मा की क्या इच्छा थी । इन तीन सदियों के दीर्घकाल में भारत में हम एक भी ऐसे प्रतापी वीर को नहीं देख पाते, जो विदेशियों के हथकण्डों से अपनी मातृभूमि की रक्षा कर सकता । हम देखते हैं, यदि किसीने विदेशी लुटेरों के विरुद्ध आवाज उठाई तो वह अकेला ही विधर्मियों की कोपाग्नि में पड़कर भस्मसात् होगया, परन्तु किसी और देशभाई ने उसका साथ न दिया । उनदिनों में जसलमेर और चित्तौर के इलावा हम समस्तभारतवर्ष को दासता की जञ्जीरों में जकड़ा हुआ पाते हैं । जब कोई भी नैतिक आन्दोलन भारत का हितकर सिद्ध न हुआ तो अन्त में चतुर्थाश्रमियों को ही देश और जाति की रक्षा के लिये उद्यत होना पड़ा ।

### महात्मा रामानन्द

१३ वीं शताब्दी के अन्त में तीर्थराज प्रयाग की पवित्रभूमि में एक ब्राह्मण की धर्मपत्नी सुशीलादेवी की कुक्षि से महात्मा रामानन्द का जन्म हुआ । आपने काशी में रहकर विद्याध्ययन किया । पूर्णविद्वता प्राप्त करलेने के अनन्तर, श्रीराघवानन्द गुरु से आपने मोक्षाश्रम की दीक्षा ली । हिन्दुजाति में जाग्रति पैदा करने के भाव तो आप में पहले ही से विद्यमान थे । अतएव चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही आपने कोई क्रियात्मक उपाय निकालना चाहा; जिससे लोग शीघ्र ही परस्पर संगठित होकर एक दूसरे के सहायक बन जायँ । एतदर्थ रामानन्द ने हरिकीर्तन करने की प्रथा निकाली । इस में लोग इकट्ठे होकर हरिकीर्तन करते थे । इस से जनता में परस्पर सहानुभूति बढने लगी । परिणाम यह हुआ कि लोगों में नवजीवन का सञ्चार हो गया । समयसमय पर चतुर्थाश्रमियों के ऐसे ऐसे उपायों से भारत का अधिक उपकार होता रहा है । ये उपाय अपने ढंग के निराले ही थे । जब राष्ट्र की सामाजिक दशा छिन्नभिन्न हो जाती है, और विदेशियों के आक्रमणों से जनता घबरा उठती है, तब नैतिक आन्दोलनों में भाग लेनेवाले मनुष्य बहुतकम मिलते हैं । धार्मिक-आन्दोलन ही ऐसी स्थिति में सफल होकर नैतिकस्थिति का सुधार किया करते हैं । धार्मिक-आन्दोलनों में अधिकमहत्ता यह होती है कि इन में सर्व-

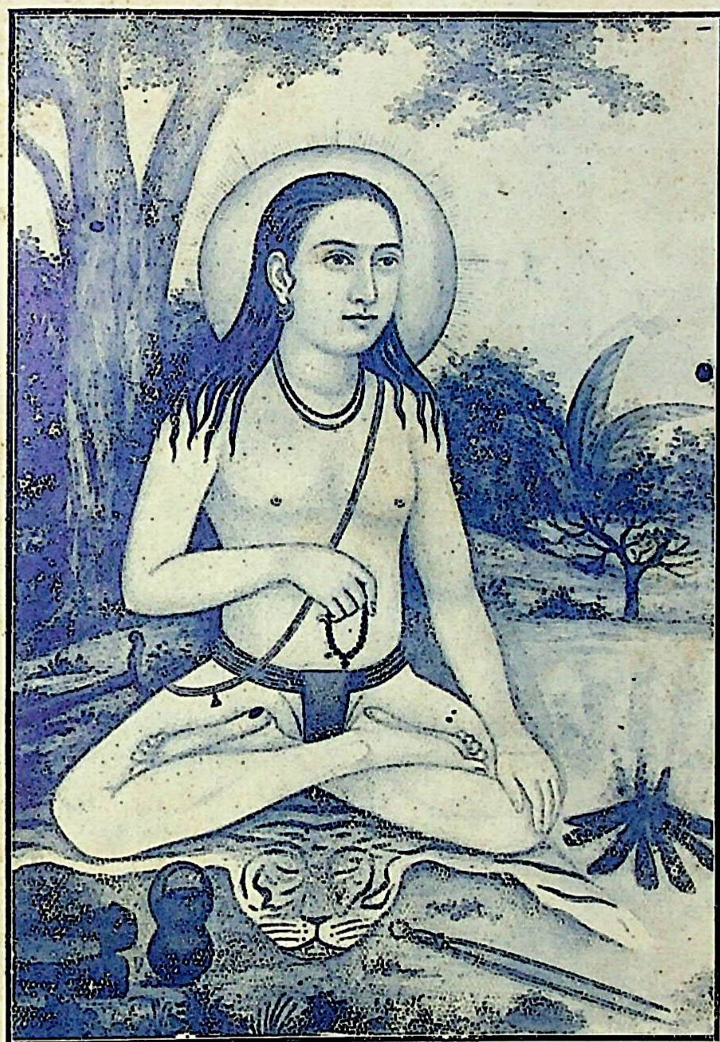
साधारण भाग लेने से नहीं हिचकता, चाहे कितनी भयङ्कर स्थिति क्यों न हो। दूसरी बात यह होती है कि इधर शासकवर्ग भी विशेष कोपदृष्टि से नही ताकते। अतः उस स्थिति में महात्मा रामानन्द का लोगों में हरिसंकीर्तन की प्रथा चलाना अधिक महत्त्व रखता था। राष्ट्रहितचिन्तक महापुरुषों के धार्मिक-आन्दोलनों की तह में नैतिकसुधार छिपा हुआ होता है। यही बात रामानन्दद्वारा प्रचालित हरिसंकीर्तन में अक्षरशः घटती है। इसी आन्दोलन को जीवित रखने के लिये उन्होंने कालक्रम से विलुप्तप्रायः वैरागी साधुसम्प्रदाय का पुनरुत्थान किया। यही कारण था कि उनदिनों के हिन्दुओं में भी जीवन के कुछ चिन्ह शेष थे। विदेशी विजेताओं के डर से यद्यपि तदानीन्तन हिन्दु-जनता अपना नैतिकसंगठन न कर सकी, परन्तु महात्मा रामानन्द के प्रशंसनीय उद्योग से लोगों में धार्मिकभाव इतने दृढ होगये थे कि वे अपने उनभावों की रक्षा के लिये अपने प्राणोंपर खेलजाने के लिये प्रतिपल तय्यार रहते थे। दाक्षिणात्य धर्माचार्य्यों की शिक्षा तीन वर्णों तकही परिमित थी। अतः उससे सारी हिन्दु-जनता को लाभ न होता था। आपकी असामदया से आपके भक्तिभावों के अधिकारी वे लोग भी बन गये जो चतुर्थवर्ण में उत्पन्न होने के कारण भगवद्भक्तिरूप अमृत से वञ्चित रहते थे। प्रभुकी अपारदया से आप दीर्घजीवी हुये। १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध प्रभुभक्त श्रीपीपा, श्रीरविदास, श्रीकबीर-प्रभृति आप ही के शिष्य माने जाते हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और नामदेव आप ही के समकालीन हैं।

## चैतन्यप्रभु और वल्लभाचार्य

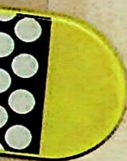
१६ वीं शताब्दी में प्रसिद्ध वैष्णव चैतन्यप्रभु और श्रीवल्लभाचार्य का जन्म वि० १५४२ और १५३५ में हुआ। चैतन्यप्रभु की सम्प्रदाय वङ्गाल में प्रचलित है। वल्लभाचार्यने पुष्टिमार्ग की स्थापना की। आपका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। आपका कथन है कि ब्रह्म एक है और समस्त संसार उसका परिणाम है। ब्रह्म इस परिणाम से विकृत नहीं होता। परिणाम के विकृत और अविकृत – ये दो भेद हैं। दधि दूध का विकृत परिणाम है और कटक सुवर्ण का अविकृत परिणाम है। कटिकाकार में बदल जाने से स्वर्ण में कोई विकृति नहीं आती। जगत् भी ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। ब्रह्मनिर्विकार है, यह बात सिद्ध करने के लिये माया की वृथा कल्पना करना भारी भूल है। सुवर्ण से कटकादि की तरह जगत् भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। अन्य वैष्णवों की भाँति आपकी सम्प्रदाय में भी भक्तिभाव का साम्राज्य है। लोक-रुचि के अनुसार आपने चित्ताकर्षक राजसभावों का भी भक्तिमार्ग में समावेश किया है।

शूराः सन्ति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकशः
सन्ति श्रीपतयो निरस्तधनदास्तेऽपि क्षितौ भूरिशः।
ये कर्मण्यनिरीक्ष्य वान्यमनुजं दुःखार्दितं यन्मनः,
ताद्रूप्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पूरुषाः पञ्चषाः।

(वाल्मीकि)



उदासीनाचार्य्य बालयति जगद्गुरु श्रीचन्द्र महाराज ।



# श्रौतमुनिचरितामृत

## उत्तरार्ध

### सातवाँ प्रवाह

### ( १ तरङ्ग )

### " अविनाशीमुनि "

पद्माकरं दिनकरः विकचं करोति,
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ।

( भल्लट )

संसार के आरम्भ से आजतक अनेक महापुरुष ऐसे हुये हैं, जिनका सारा जीवन देश और जाति की सेवा में व्यतीत हुआ है । उनमें से ऐसे महापुरुष बहुत कम हैं जिन के नाम और आदर्शजीवन से संसार का इतिहास सुशोभित है । अगणित महापुरुषों के नाम से संसार अपरिचित है । इसके कई कारण हैं । इतिहास लेखकों का प्रमाद या पश्चाद्भावी सन्तति की असावधानता । संभव है ये दोनों ही निर्दोष हों; परस्पर रागद्वेषादि के आधिक्य से भारत सदियों से विदेशी आक्रमणकारियों से पददलित होता चला आरहा है । ऐसी स्थिति में राष्ट्र के आगे साहित्य की रक्षा करना एक कठिन समस्या हो जाती है । विशेषतः ऐसी दशा में जब कि, आक्रमणकारी स्वयं विजित जाति के सर्वनाश पर तुला हुआ हो ।

लोकप्रियमुनि से अविनाशीमुनि पर्य्यन्त १६ उदासीनमुनि हुये हैं । इनका इतिहास उपलब्ध नहीं होता । यह बात हम पहले भी लिख आए हैं कि भारतीय इतिहास में धार्मिक महापुरुषों के लिये बहुतकम स्थान है, इस के कारणों पर भी हम वहाँ पर्य्याप्त प्रकाश पाचुके हैं । जब हम लोकप्रियमुनि के अद्भुतचरित पर दृष्टि डालते हैं तो, हमारा मन आनन्द से नाचने लगता है । इसीतरह अविनाशी मुनि का जीवन भी अद्भुत घटनाओं से परिपूर्ण है । उक्त दोनों महापुरुष चतुर्थाश्रमी होते हुये भी संसार की भलाई में सर्वदा तत्पर रहे । इन्हीं के आदर्शजीवन से हम अनुमान करते हैं कि इनके मध्यवर्ती १६ मुनियों ने भी इन्हीं की भाँति देश और जाति का कल्याण अवश्य किया होगा । यह हमारी अधन्यता है कि हम उनके पवित्र चरित्र से सर्वथा वञ्चित हैं । १६ वीं शताब्दी में वेदमुनि के शिष्य उदासीन अविनाशीमुनि हिन्दु-धर्म के प्रचार में तत्पर देखे जाते हैं । आपके जीवन की प्रधान २ घटनाएँ हमें "उदासधर्मरत्नाकर" और "उदासीनमञ्जरी" से उपलब्ध हुई हैं, जिन्हें हम यहाँ संक्षेपतः लिखते हैं ।

आपकी जन्मभूमि अजमेर है। आपका जन्म एक विद्वान् ब्राह्मण के घर हुआ था। बचपन से ही आप विद्यानुरागी थे। कुछ ही दिनों में आपने वेदवेदाङ्गविद्या प्राप्त करली। कभी कभी आपके मन में ऐसे अद्भुत प्रश्न उठते; जिनका समाधान बड़े बड़े विद्वानों से भी न होता था। आप जीवन और मृत्यु के वास्तविक तत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया करते थे। एकदिन आप यात्राके लिये घर से अचानक चल पड़े। इधर उधर घूमते घूमते आप आबू पर्वतपर पहुँचे। वहाँ पर आपको वेदमुनि के दर्शन हुये। आपने उनसे लौकिक और पारमार्थिक बहुत से प्रश्न पूछे। मुनि जी के मुखारविन्द से उचित उत्तर सुनकर आप उनके अनन्यभक्त बन गये। गृहस्थ की ओरसे आप प्रथम ही उदास थे। अतएव योग्यगुरु को पाकर १५३८ वि० में आपने वेदमुनि से उदासीनधर्म की दीक्षा लेली। इस समय आपकी अवस्था २४ वर्ष की थी। (उदासधर्मरत्नाकर)।

आबूपर्वत की यात्रा के सम्बन्ध में दूसरी घटना इसप्रकार है – आप जब आबूपर्वत पर गये तो वहाँ आपने उस अग्निकुण्ड के स्मारकचिन्ह देखे, जिसमें से वेदविद्ब्राह्मणों ने म्लेच्छों के विध्वंस के लिये 'प्रमार', 'सोलङ्की', परिहार और चौहान-इन चार क्षत्रियकुमारों को उत्पन्न किया। इन्हीं चारों के वंशधरों ने मलेच्छों से भारत की पर्य्याप्त रक्षा की। उसकुण्ड के दर्शन से आपके मन में विचित्र ही विचार उठने लगे। आपने अपने मनमें कहा कि दैवगति कैसी विचित्र है। हम उन्हीं भूसुरों के वंशज होते हुये भी आज एकभी ऐसे क्षत्रिय कुमार को उत्पन्न नहीं कर सकते जो म्लेच्छोंद्वारा पददलित होरही इस भारतभूमि की रक्षा का भार अपने कन्धों पर ले सके। बहुतदेर तक आप उक्त विचारों में निमग्न रहे। अन्त में यह निश्चित किया कि यद्यपि हम किसी क्षत्रियवीर के उत्पन्न करने में असमर्थ हैं; परन्तु देश और जाति को सेवा में अपना समस्तजीवन लगाने में तो सर्वथा समर्थ हैं। वहाँ पर ही आपने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर देश और जाति की सेवा करने के लिये शपथ लेली। महापुरुषों का कथन है कि "उत्साही के सहायक परमात्मा स्वयं होते हैं। यत्नकरना प्रत्येकपुरुष का परमकर्त्तव्य है"। इन्हीं विचारों के प्रवाह में बह रहे अविनाशीमुनि को वहाँ पर वेदमुनि के दर्शन हुये। उन्हीं से आपने गुरुमन्त्र लेकर चतुर्थाश्रम में प्रवेश किया। (उदासीनमञ्जरी)

## अविनाशीमुनि की मनोरथसिद्धि

तबसे लेकर आप हिन्दु-धर्म के प्रचार में जुट गये। आप अपने सच्चे हृदय से काम करते थे। अतएव शीघ्र ही जनता मे नव जीवन का सञ्चार होने लगा। किसी योग्यव्यक्ति के अन्वेषण में आप हर समय चिन्तित रहते थे। आपकी हार्दिक इच्छा यह थी कि प्रचारके कार्य को सुसंगठित करदेना चाहिये। धर्मप्रचार का कार्य इस ढंग से हो कि इसकी धारा बीच में रुकने न पाए। वे इस बात को भी अच्छीतरह से जानते थे के यह कार्य बिना किसी होनहारव्यक्ति के होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है।

अविनाशीमुनि इसी शुभवासना से बद्ध होकर प्रचार करते करते पञ्जाब में आ निकले। परमपिता परमात्मा की कृपा से चिर का शुभसंकल्प पूरा हुआ। जिस अमूल्यरत्न की खोज में अविनाशीमुनि वर्षों से इधर उधर घूम रहे थे, वह पञ्जाब

की पवित्रभूमि में मिल गया। सूर्यवंशी वेदीवंशावतंस क्षत्रियकुमार श्री श्रीचन्द्र महाराज को पाकर आप कृतकृत्य हो गये। जिसतरह की व्यक्ति आपको चाहिये थी ठीक वैसी ही मिल गई। उस समय आपके आनन्द का ठिकाना न था। संसार के समस्त राज्य को पाकर जितना एक याचक खुश होता है। आप उससे भी कईगुणा अधिक प्रसन्न हुये। भगवान् श्रीचन्द्र जी ने भी गुरुशिष्यपरम्परा की पवित्रप्रथा के परिपालन के लिये उनसे श्रौतचतुर्थाश्रम-उदासीनमत की दीक्षा ली। अविनाशीमुनि की आज्ञानुसार विधिपूर्वक मुनिवेष धारण कर लिया।

आप १६ वीं शताब्दी के महापुरुष हैं। अविनाशीमुनि के चरित के दिग्दर्शन के अनन्तर आपका चरित भलिभाँति लिखा जायगा। आप के चरित की प्रधान प्रधान घटनाएँ आज तक भी लोगों को स्मरण हैं। जिन दिनों में अविनाशीमुनि पञ्जाब में धर्मप्रचार का कार्य कर रहे थे, तव वे भारत के अन्य प्रान्तों के लोगों के धार्मिक भावों को पुनर्जीवित कर चुके थे। महापुरुषों के सत्संकल्प कभी वृथा नहीं जाया करते-इस नियम के अनुसार अविनाशीमुनि को योग्यशिष्य की प्राप्ति पञ्जाव में हो गई। अपने पूर्वजों की तरह अविनाशी मुनि के जीवन के भी प्रधान दो लक्ष्य थे - प्रथम जनता में धार्मिकभावों को पुनर्जीवित करना। द्वितीय, नैतिक स्थिति में उत्पन्न हुई त्रुटियों को दूरकरना। अविनाशीमुनि जब अपने धार्मिकप्रचार के कार्य्य की सुव्यवस्था करके नैतिकस्थिति के सुधार की ओर अपना रुख बद-लना चाहते थे, तो उन्हें इस बात की अधिक चिन्ता थी कि उनके धार्मिकप्रचार का कार्य कहीं रुक न जाय। उन दिनों में इस्लाम धर्म के प्रचारक मौलवी, मुल्ला और पीरों ने अपने छलवलोंद्वारा भोलीभाली जनता की रुचि इस्लाम की ओर आकर्षित कर रक्खी थी। पाठक आगे जाकर पढ़ेंगे, इन विधर्मियों को दबाने में और अपनी अलौकिक सिद्धियाँ दिखाकर केवल हिन्दुओं को ही नहीं वल्कि मुसलमानों को भी हिन्दु-धर्म की ओर आकर्षित करने में प्रातःस्मरणीय श्रीचन्द्रजी किस प्रकार सफल हुये।

## राणा सांगा पर अविनाशीमुनि की कृपा

ऐतिहासिक दृष्टि से अविनाशीमुनि ने धर्मप्रचार की तरह नैतिक क्षेत्र में भी बहुत कार्य किया। उन दिनों में राणा सांगा ( संग्रामसिंह ) अपने भाई पृथ्वीराज और जयमल की क्रूर नीति से त्रस्त होकर अपने विपत्ति के दिन बीहड़वनों में विता रहा था। वहाँ पर ही उसे उदासीन अविनाशीमुनि के दर्शन हुये। मुनिजी की सेवा सुश्रूषा में लगे रहने के कारण वह अपने विपत्ति के दुःख भूल गया। मुनि जी के मनोहर और लाभप्रद उपदेशों को सुनकर राणा सांगा के मन में यह निश्चय हो गया कि उसकी विपत् उस के भले के लिये है। मुनिमहाराज के सदुपदेश और प्रोत्साहन से उसमें नवजीवन का सञ्चार हो गया। मुनि जी की सत्सङ्गति में अधिक रहने के कारण उसका मन धार्मिक भावों का स्रोत बन गया। मुनि के उपदेशों से ही उस के मन में यह भाव उत्पन्न हो गया कि विदेशियों के आक्रमणों से यावत् भारतभूमि सुरक्षित नहीं हो जाती तबतक जीना वृथा है।

ईश्वर की दया और अविनाशीमुनि के शुभाशीर्वादों से महाराणा साँगा १५६६ वि० में पिता की मृत्यु के वाद चित्तौड़ का शासक बन गया। इसके विरोधी

दोनों भाई पहले ही मर चुके थे। राणा के सद्‌गुणों से तमाम रजपूतजाति इसे मन से चाहती थी। राणा का शौर्य विश्वविख्यात था। इसका उत्साह अद्वितीय था। सारे के सारे राजपूत योद्धा इसे अपना नेता मानते थे। अपने जीवन में इसने शत्रुओं से १८ लड़ाइयाँ लड़ीं। जिन दिनों में राणा वन में अपने विपत्ति के दिन विता रहा था, तव एकदिन नीति का उपदेश करते समय मुनि ने राणा को वताया था कि शत्रुपर विजय पाने के तीन ढंग है – प्रथम जव शत्रु आक्रमण करने की तैयारी में लगा हुआ हो उसी समय उसपर आक्रमण कर देना। जैसे, पञ्जाव के राजा जयपाल और अनङ्गपाल ने मुसलमानोंपर धावा वोल दिया था। द्वितीय, ऊपर आ चढे शत्रु को रोकने ले लिये आत्मरक्षार्थ सामना करना। जैसे, मुहम्मदगौरी का सामना पृथ्वीराज ने किया। विरोधी के वल को घटते देखकर अपने वल को वढाते रहना और उचित अवसर के हाथ लगते ही उसपर धावा वोल देना – इसी नीति का अनुसरण मेवाड़ ने किया। राणा हमीर से लेकर राणा सांगा पर्यन्त वे अपनी शक्ति का सञ्चय करते रहे। लोधियों के शासनकाल में देहलीराज्य की शक्ति क्षीण होते ही राणा सांगा ने भारतभूमि को मुसलमानों के पञ्जे से स्वतन्त्र करने का भार अपने ऊपर ले लिया। उस समय अविनाशीमुनि भी राजपूतों को मातृभूमि की रक्षा के लिये अपने ओजस्वी भाषणों से उत्साहित कर रहे थे। उनका उस समय का स्वार्थत्याग राणा सांगा की प्रशंसनीय सहायता कर रहा था। यदि उस समय वावर का आक्रमण भारत पर न हुआ होता तो, अवश्य ही देहली का साम्राज्य राणा के हाथ में आ गया होता।

### " अनागतं यः कुरुते स शोभते "

१५७६ वि० में अविनाशीमुनि अमरनाथ की यात्रा से लौट रहे थे। मार्ग में वावर द्वारा पीड़ित हिन्दुओं के आर्तनाद सुनकर मुनि का मन पिघल गया। इस वर्ष वावर ने सिन्धुनदी पारकर भेरा तक लूट मचा रक्खी थी। दूरदर्शी अविनाशी मुनि शीघ्र ही पञ्जाव से राजस्थान पहुँचे। भावी विपत् का सामना करने के लिये उन्हों ने राजपूतों को संगठित होजाने का उपदेश किया। मुनि जी उनदिनों में आम जनता में यह प्रचार करते फिरते थे कि प्रभु ने हमें अच्छा समय दिया है। देहली में लोधियों की शक्ति पहले ही क्षीण हो चुकी है। अतएव वावर के आगे वढने से पूर्व ही हमें देहलीपर अधिकार जमा लेना चाहिये; अन्यथा फिर हमें स्वतन्त्र होना कठिन हो जायगा। दूसरा ढँग यह भी है कि हम अपना वल वढाते रहें। जव वावर और इब्राहीम लोधी दोनों परस्पर लड़कर वल क्षीण हो जाँय तो उनपर धावा वोल दिया जाय; इस से भारत शीघ्र ही विधर्मियों से मुक्त हो जायगा। मुनि के इस नीतिपूर्ण उपाय से तमाम राजपूतराजा सहमत हो गये।

### भारतमें वावर की सफलता

१५२६ ई० ( १५८३ वि० ) में भारतपर वावर ने एक भारी आक्रमण किया। पानीपत के मैदान में इब्राहीमलोधी और वावर भिड़ गये। कई दिन लड़ाई होती रही। दोनों ओर के हजारों वीर काम आए। अन्त में युद्धक्षेत्र वावर के हाथ रहा। देहलीपर अधिकार होते ही वावर ने आगरे को भी अपने हाथ में कर लिया।

आगरे से बीस मील 'सीकरी' के समीप मुगल सेना राजपूतसेना के सामने २५ दिन पड़ी रही। उसे यह साहस नहीं हुआ कि वह उस पर आक्रमण करे। राजपूतों को देखते ही मुगलसेना भयभीत हो जाती थी। अन्तमें हताश होकर बाबर ने सन्धि का प्रस्ताव राजपूतों की सेवा में भेज दिया। उसमें यह लिखा था कि "देहली का प्रान्त अपने अधिकार में रखकर मैं राणा की आधीनता स्वीकार करने को तय्यार हूँ" राणासांगा की ओर से 'शिलादित्य' दूत का कार्य करता था। वह उभयवेतन होकर बाबर को कह आया कि घबराने की कोई बात नहीं। अन्त में दोनो ओर लड़ाई छिड़ गई और घमसान युद्ध होने लगा। शिलादित्य राणा का विश्वासपात्र था। अतएव वह सेना के अग्रभाग के संरक्षण में नियुक्त हुआ। यहाँ तो दैव की इच्छा ही कुछ और थी। शिलादित्य का अन्तःकरण मलिन हो चुका था। साधारण लालच के आगे उसको मनुष्यता ने पिशाचता स्वीकार करली। यह दुष्ट इधर की तमाम बातें मुगलसेना में पहुँचा देता था। इस से मुगलसेना का उत्साह द्विगुणित होता गया और दुर्बलस्थानोंपर प्रहार पर प्रहार होने के कारण राजपूत सैनिकों का उत्साह घटता ही गया। यद्यपि मातृभूमि की रक्षार्थ अगणित राजपूतों ने अपने प्राणों की आहुति विना किसी सङ्कोच के दी, तथापि शिलादित्य की कृतघ्नता के कारण जयलक्ष्मी बाबर के हिस्से में ही आगई। शिलादित्य का यह कुकृत्य भारत की दासता का निदान होकर ही रहा। राणा सांगा पराजित होकर चित्तौर नहीं गया। उसने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि "मुगलों के दर्पदलन के विना मैं चित्तौर के दर्शन न करूंगा। युद्धक्षेत्र ही मेरा निवासस्थान और लड़ना ही मेरे जीवन का प्रधानलक्ष्य होगा"। दैव उसकी इच्छा के अनुकूल न था। अतएव उसी वर्ष राणा इस असार संसार से चल बसे। यदि वे कुछदिन भी और जीवित रहते तो अवश्य ही अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर डालते; परन्तु यह ईश्वर को स्वीकृत न था।

## अविनाशीमुनि की प्रशंसनीय राष्ट्रसेवा

अविनाशीमुनि के प्रशंसनीय प्रयत्न से पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि चतुर्थाश्रमी होते हुये भी मुनिके पवित्र हृदय में देशके लिये कितना अपूर्वप्रेम और उसकी रक्षाके लिये कितना अद्भुत साहस था। वे चाहते तो आबू की ही उपत्यकाओं में अपना सारा जीवन शान्तिपूर्वक, ईश्वरभजन में बिता देते; परन्तु नहीं; उनके मनमें राष्ट्रप्रेम कूट कूटकर भरा हुआ था। वे अपने पूर्वजों की तरह इस सिद्धान्त के उपासक थे कि प्रत्येक चतुर्थाश्रमी निवृत्तिप्रधान होता हुआ भी राष्ट्र की सेवा कर सकता है। निष्कामसेवा से उसकी निवृत्ति में विकृति आने का कोई भी भय नहि यदि वह निवृत्तिदेवी का पूर्णतया उपासक है। उनके जीवन में हम उक्त सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप में पाते हैं। अमरनाथ की यात्रा से लौटते समय बाबर से पीड़ित प्रजा के आर्त्तनाद को सुनकर आप तत्क्षण राजस्थान पहुँचते हैं। राष्ट्र के हितके लिये आप गाँव गाँव में जाकर संगठन की भिक्षा मांगते है। आपके इस प्रयत्न से राजपूतजाति एक अजेयशक्ति बन जाती है। जिन राजपूतसैनिकों को लोधीसैनिक कुछदिन पहिले कुछ भी नहीं समझते थे, आपके इस संगठन से उन्हीं राजपूतों के आगे लोधियों के विजेता बाबर को घबराकर सन्धि का प्रस्ताव उपस्थित

करना पड़ा। आपके ही सतत उद्योग से राजपूतजाति में यह एक विचित्र परिवर्तन नहीं है तो और क्या है ?

राणा सांगा की मृत्यु से अविनाशीमुनि का उत्साह भंग हो गया। अब उन्हें ऐसा कोई वीर दिखाई न दिया जो मुगलों को यहां से मारभगाने का भार अपने कन्धोंपर ले सके। अतएव मुनि को संसार से ग्लानि हो गई और वे आबू पर्वत पर जाकर हर समय ब्रह्मचिन्तन में लीन रहने लगे। नैतिकस्थिति की असफलता से मुनि के मन में मूकवेदना होती रहती थी, परन्तु जिस समय वे अपनी धार्मिक सफलता की ओर ध्यान देते थे तो उनके आनन्द का ठिकाना न रहता था। मुनि जी को पूर्ण विश्वास था कि उनके पीछे उनके शिष्य श्रीचन्द्र जी अवश्य ही उन के सत्संकल्प को अधूरा न रहने देंगे। इसप्रकार आशा और निराशा के संमिश्रण से एक अद्भुत अवस्था में मुनिजी अपना कुछ समय बिताकर ब्रह्म में लीन हो गये।

## हिन्दुजाति पर उदासीन महात्माओं के अनुपम उपकार

पाठक इस बात से भलिभाँति परिचित हो गये होंगे कि महाभारत के संग्राम के बाद; अर्थात् युधिष्ठिर की प्रथम शताब्दी से लेकर विक्रमकी १६ वीं शताब्दी के अन्ततक उदासीन महापुरुष समय समयपर किसप्रकार देश और जाति की रक्षा करते आए हैं। साधनों की भिन्नता में भी लक्ष्य की एकता रही है। महाभारत के युद्धके बाद लोगों में कुछ दुर्बलता आने लग गई थी। इसको दूर करने के लिये उदासीन जयमुनि ने लोगोंको उनके पूर्वजों के इतिहास सुना सुनाकर उन्हें सावधान किया। इसी उपकार की कृतज्ञता में जनता ने उनके स्मारकभवन जगह जगहपर बनवाए। युधिष्ठिर की ८ वीं शताब्दी में वेदविरोधी चार्वाकों का दमनकर, पुनः वैदिकसिद्धान्तों पर लोगों,को विश्वास-दिलानेवाले पूज्यपाद पद्ममुनि थे। इन्हों ने ही रुद्रमन्त्र सिखाकर पाणिनि को लौकिक और वैदिक व्याकरण लिखने के लिये उत्साहित किया था। आप क्रियात्मकयोग के अद्वितीय ज्ञाता थे। श्रुतिसिद्धमुनि ने वैदिकशब्दसंग्रहात्मक निघण्टु की रचना करके वैदिकसाहित्य पर महान् उपकार किया। महर्षि यास्क ने आप से उस निघण्टु को लेकर उसपर अपना निरुक्तग्रन्थ लिखा। ईसा से साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व भारत में जब बुद्धधर्म के विचार अधिक बल पकड़ गये थे तब वैदिकसिद्धान्तों की रक्षाके लिये सुवेशमुनि ने स्थान स्थानपर वेदविद्यालय स्थापित करवाए। पञ्जावकी ओर भाग रहे चन्द्रगुप्त को सुयत्नमुनि का वीरता का उपदेश देना, और अभयमुनि की दिव्य शक्तियोंद्वारा अशोक के बेटे कुनाल की आखों का अच्छा होना ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ कम उपकार की चीजें नहीं हैं' विश्वविख्यात कविवर कालिदास के गुरु चन्द्रमुनि ने भारतीय काव्यकला पर अधिक उपकार किया है। विक्रम की ८ वीं शताब्दी में हारीतमुनि के अद्भुतचरित पर ध्यान देने से यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि वे भगवान् कृष्ण की तरह पूर्णकर्मयोगी थे। हम यहाँ से आगे के मुनियों के जीवन में एक विशेषता पाते हैं। वह यह है कि हारीत से पूर्व के मुनियां का कार्यक्षेत्र धार्मिकप्रचार तक परिमित था। संभव है उनके धार्मिक आन्दोलनों की तह में नैतिकसुधार भी छिपे हुये हों। परन्तु इस समयतक किसी मुनि ने नैतिक-क्षेत्र में खुल्लमखुल्ला भाग नहीं लिया था। महापुरुष समय की सूक्ष्मगति से अच्छी

तरह परिचित होते हैं। वे उसीके अनुसार जगदुपकारार्थ अपने कार्यक्षेत्र का रुख भी वैसा ही बना लेते हैं। विक्रम की आठवीं सदीतक भारतीयजनता का अपना घर का कलह था। बुद्धधर्म के अनुयायी भी अपने यहाँके ही थे। यदि कोई हिन्दु-राजा होता था, तो भी वह भारत का ही हितचिन्तक होता था और यदि कोई बौद्ध किसी प्रान्त का शासक बन बैठता था तो वह भी वहाँ की सम्पत्ति को उसी प्रान्त के हित में व्यय करता था। उक्त नैतिकस्थिति से भारत का अधिक अहित होने का भय न था। अतएव उससमय के श्रौतचतुर्थाश्रमियों ने स्थानीय नैतिक-स्थिति में हस्ताक्षेप करना उचित न समझा। हारीतमुनि के समय हम देश की स्थिति को किसी और ही रूप में पाते हैं। विदेशियों के आक्रमणों से जनता भयभीत हो रही थी, और विधर्मीलोग भारत को लूटकर कङ्गाल बनादेने पर तुले हुये थे। ऐसे समय में हारीतमुनि ने अपने कार्यक्षेत्र की सीमा को धर्म के दायरे से आगे बढा दिया। धर्मकी नैया का कर्णधारत्व कुमारिल को सौंप कर उदासीन-मुनि हारीत ने नैतिकक्षेत्र का सेनापतित्व वीरवर वप्पा को देदिया। धन्य है हारीत-मुनि की विचित्रमहिमा!! आप तटस्थ रहकर तमाशा देख रहे हैं और कुमारिल तथा वप्पा किसप्रकार राष्ट्के धर्म और धन की रक्षा में प्राणपण से लड़ रहे हैं। इधर कुमारिल, प्रचण्डपवन के आगे मेघो की भाँति बौद्धों को परास्त कर रहा है तो उधर वप्पा की तलवार अपने पराक्रम दिखा रही है। हारीतमुनि अपनी दिव्य-दृष्टि से दोनों वीरों के अद्भुत कार्यों को दूरसे ही देख रहे हैं। लोकप्रिय और अविनाशीमुनि के अनुकरणीयचरित भी भारतके इतिहास में कम महत्त्व नहीं रखते। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् सनत्कुमार के जीवन से लेकर अबतक हम जिस किसी मुनि के जीवन की ओर जरा ध्यान से देखते हैं; तो हमें उसके जीवन का लक्ष्य एक उच्च–आदर्श दिखाई देता है।

## दिव्यशक्तियाँ

हमें जहातक पता है, संसार की अन्यजातियों ने अपने महापुरुषों के गौरव बढाने में भरसक प्रयत्न किया है। यदि किसी ने थोड़ा–सा भी उपकार किया तो उसकी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसके उपकृत लोगों ने उसके नाम पर बहुत कुछ किया। यही कारण है कि आज बे जातियाँ उन्नत, स्वतन्त्र और धनधान्य से परिपूर्ण हैं। इसके प्रतिकूल भारत में अगणित महापुरुष हो चुके हैं। संभव है इतने किसी और देश में न हुये हों। भारतीयजनता, उनके आदर्शचरित तो दूर रहे, उनके नाम से भी सर्वथा अपरिचित है। क्या यह अधन्यता नहीं? संभव है, जिन महापुरुषों के उपकारों से हिन्दु–जनता आजतक जीवित है उन्हीं के उपकारों को भुलादेना ही इसके पतन का मुख्य कारण हो। हमें तो इस बातपर बड़ा खेद होता है कि ऐतिहासिकों की लेखनियों ने इतिहास पर सैंकड़ों ग्रन्थ लिखमारे परन्तु सिवाय लड़ाइयों की प्रधानता के उनके ग्रन्थों में और कुछ लिखा ही नहीं। संभव है ऐसे लेखकों को महापुरुषों की दिव्यशक्तियों पर विश्वास ही न होगा, क्योंकि वे तो स्थूलजगत् को ही सर्वेसर्वा मानकर उसीके कार्योंपर अपनी लेखनी को चलाते गये हैं। वे क्या जाने, स्थूलजगत् के इलावा कोई और जगत् भी है या नहीं। अतएव वे और उनके अनुयायी किसी महापुरुष की दिव्यशक्तिद्वारा घटित-

घटना पर उपहास करना आरम्भ करदेते हैं। वे नहीं चाहते कि जो घटना कुछ अलौकिक सी है उसे पुस्तक में स्थान दिया जाय। क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसी घटनाएँ हेय एवं निराधार होती हैं। अतएव धार्मिकजगत् का दिव्य इतिहास सूक्ष्मजगत् के ज्ञान से अपरिचित ऐतिहासिकों की अज्ञता एवं अनवधानता से भूत की तहके नीचे दबजाने के कारण हमारे ज्ञान से बाहर हो चुका है। यही कारण है कि आज हम महापुरुषों की दिव्यशक्तियों से सर्वथा अपरिचित हैं।

सिद्धियों के समझलेने का सरल उपाय यह है – प्रकृति के सत्त्व, रज और तम ये तीन विभाग हैं। रजोविभाग क्रियाशील है। तमोविभाग से स्थूलता उत्पन्न होती है। सत्त्वविभाग का कार्य परधर्मों को अपने में लाना है। जब योगी अपने सत्त्वगुण को बढाता ही जाता है तो वह प्रकृति पर विजयी होता हुआ अपने निजी सम्बन्ध को चेतन (ईश्वर) से जोड़ता जाता है। इसप्रकार चेतन के दिव्य ऐश्वर्य इस में प्रविष्ट होने लगते हैं। प्रकृति जड़ है। चेतन की सत्ता से ही यह अपने कार्य करती है। सत्त्वगुण के अधिक बढ जाने से जब चेतन के दिव्य ऐश्वर्य योगी में आ जाते हैं तो योगी सारे संसार की कर्त्री प्रकृति को अपनी दासी बना लेता है। अब उसके लिये कोई भी कार्य असंभव नहीं होता। पाञ्चभौतिक कार्यों का होना या न होना उस की इच्छा पर निर्भर होता है। उसके विचार ही दिव्यशक्तिओं के सञ्चालक हो जाते हैं।

योगशास्त्र के नियमानुसार सर्वसाधारण व्यक्ति संयम के द्वारा अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त कर सकती है। संयम शब्द में 'यम' धातु है। इसके साथ 'सम्' उपसर्ग लगाने से संयम शब्द बना है। यम धातु का अर्थ है निग्रह करना अर्थात् किसीपर अधिकार जमालेना है। संयम शब्द से यही अर्थ निकलता है कि किसी पदार्थपर या किसी विषयपर लगातार विचारों का स्फुरण होता रहे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि विचार वहाँ तन्मय होकर तदाकार हो जाय। विचार-संयम के द्वारा मनुष्य में अपूर्वशक्तियों का विकाश होने लगता है। निदर्शनार्थ हम गौतमबुद्ध, ध्रुव, सिकन्दर, नेपोलियन, रावण, हनुमान, व्यास, पाणिनि, कुमारिल – प्रभृतियों का नाम ले सकते हैं। कहने का भाव यह है कि ऋषिमुनियों ने अपने अनुभवों द्वारा ऐसे उपाय भी निकाल रक्खें हैं जिन से प्रत्येक जिज्ञासु संसार के तत्त्व को पहचानकर दिव्यैश्वर्य्य की प्राप्ति कर सकता है। संसार में जिन बातों को लोग असम्भव समझते हैं वेभी योगशक्तियों द्वारा सम्भव हो सकती हैं। जब सर्व-साधारण में ये शक्तियाँ योगद्वारा उत्पन्न हो सकती हैं तो अवतारों में इनके होने में किसी को सन्देह होना जानबूझ कर इन्कार करना है।

पाठकों को स्मरण होना चाहिये, अब हम शङ्करावतार भगवान् श्रीचन्द्र का चरित लिखनेवाले हैं। आपका जीवन आरम्भ से अन्ततक दिव्यघटनाओं से परिपूर्ण है। पूर्वमुनियों के जीवन भी ऐसी घटनाओं से रिक्त न थे। उदाहरणार्थ, अभयमुनि का अशोक के बेटे की आंखों का अच्छा करनाप्रभृति ऐतिहासिक घटनाएँ साफ लिखी मिलती हैं। मुनियों की दिव्यशक्तियों में और भगवान् श्रीचन्द्र की दिव्य शक्तियों में महान् अन्तर है। उनमें इन शक्तियों का विकाश योगके नियमानुसार संयम से हुआ था और इनमें यह दिव्य-ऐश्वर्य स्वाभाविक था, क्योंकि भगवान्

श्रीचन्द्रजी शिवके अवतार थे। अवतार में दिव्यादिव्य शक्तियों का होना स्वाभाविक है – यह विषय निर्विवाद सिद्ध हो चुका है। अतः इसपर यहाँ अधिक लिखना कुछ महत्त्व नहीं रखता। ईश्वर का, या किसी अन्य ईश्वरीयशक्ति का अवतार हो सकता है या नहीं इस विषयपर भी सप्रमाण लिखा जा चुका है*। अवतारवाद के महत्त्व को लगभग २१ करोड़ मनुष्य विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। अवतार का होना और उसमें दिव्या दिव्य शक्तियों का स्वाभाविक रहना आस्तिकजनता के मनमें कभी सन्देह उत्पन्न नहीं कर सकता।

## प्रयोजनपञ्चकम्

भगवान् श्रीचन्द्र जी महाराज शंकर के अवतार हुये हैं। अतः अणिमादिक सिद्धियों का उनमें होना स्वाभाविक है। १५ वीं शताब्दी में यवनों के अत्याचारों से भारतीय जनता त्राहि त्राहि कर उठी थी। अनुभवी लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अब वैदिकसिद्धान्तों की रक्षा का कार्य एक कठिन समस्या है। ऐसी स्थिति में परमात्मा की किसी शक्ति का मनुष्यरूपेण यहाँ पर पहुंचना अत्यावश्यक था। अतएव भगवान् शंकरजी महाराज १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में श्री श्रीचन्द्र के रूप में पञ्जाब में अवतीर्ण हुये। इस अवतार के प्रधान पाञ्च लक्ष्य थे – प्रथम, सदियों से सूख रही श्रौतचतुर्थाश्रमलता को पुनः हरीभरी करना। द्वितीय, इस्लामधर्मोपदेशक मौलवी, मुल्ला और पीरों के द्वारा भोलीभाली जनता के मनमें हिन्दुधर्म के लिये अश्रद्धा के और इस्लाम के लिये श्रद्धा के जो भाव जमादिये गये थे, अपनी अद्भुत सिद्धियाँ दिखाकर उन्हें दूर करना×। तृतीय, भारत की नैतिकस्थिति की दशा सुधारने के लिये कई एक अच्छे अच्छे दृढप्रतिज्ञ वीरों को उत्पन्न करना। तान्त्रिकों के अनाचार को हटाना और पञ्चदेवोपासना के रहस्य समझाकर शैववैष्णवकलह को मिटा देना चतुर्थ और पञ्चम पयोजन हैं। उक्त पाञ्चों में से प्रधानता प्रथम की ही है। शेष चार गौण हैं। भगवान् इस बात को भलिभाँति जानते थे कि श्रौत चतुर्थाश्रम के सुधार से भारतका भविष्य अधिक सुधर जायगा, अतएव आपने निवृत्ति को ही प्रधानता देते हुये प्रवृत्ति को अपनाया। उत्तरकाशी की यात्रा के विचार को छोड़कर विधर्मियों द्वारा पीड़ित एवं दुःखी हिन्दु जनता की रक्षा के लिये आपका सिन्ध में पहुँचना व्यक्त करता है कि आपके मनमें केवल निवृत्ति का ही राज्य न था। हां, यह अवश्य था कि आपका जीवन आरम्भ से अन्ततक निवृत्तिप्रधान ही रहा है। आपसे लगभग ८ शताब्दी पूर्व शंकराचार्य हुये। पाठकों को स्मरण होगा, उस समय की और इस समय की स्थितियों में आकाश पाताल का अन्तर है। उन दिनों में बौद्धों से सामना करना था। वे इतने छली, कपटी एवं अत्याचारी न थे जितने मुसलमान भारत के लिये सिद्ध हुये। तब तो केवल सिद्धान्तों पर कलह था। अतः शंकराचार्य की अपेक्षा

* पाठक इसे सनत्कुमार के जीवन में देख सकते हैं।

× विपक्षी लोग छल, कपट और पाखण्ड से हिन्दुजनता को सब्जबाग दिखाकर विधर्मी बना रहे थे। उनकी प्रतिद्वन्द्विता में आपको भी अपने अलौकिक चमत्कार दिखाने पड़े।

भगवान् श्रीचन्द्र को अधिक प्रयास करना पड़ा। क्योंकि इनका कार्यक्षेत्र विस्तृत एवं अधिक कण्टकाकीर्ण था। पाठक इस बात से भलिभाँति परिचित हैं कि महापुरुषों को तो योगशास्त्र के नियमानुसार संयम का सहारा लेकर दिव्यैश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। इधर भगवान् श्रीचन्द्रजी तो आरम्भ से ही तमाम अणिमादिक सिद्धियों पर अपना अधिकार रखते थे। अतएव आपका शैशव भी लोकोत्तर था। अवतार धारण करते समय शिवस्वरूप में प्रकट होना और जटा भस्मादिकों से भूषित होकर बचपन की लीलाओं से मातापिता और लोगों को चकित करना आपके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। श्री नानकदेव जी सिद्ध महात्मा थे। वे आपके शिवस्वरूप से पूर्णतया परिचित थे। बचपन में समाधि लगाकर बैठना और जङ्गलों में जाकर सर्प एवं सिंहादिक वन्यपशुओं को अपने प्रभाव से प्रभावित कर लेना, इस बात को सिद्ध करता है कि आप एक साधारण शिशु न थे। पठितलोगों को तो उसी समय विश्वास हो गया था कि अन्याय का नाश करने के लिये आपका अवतार हुआ है। यद्यपि आप समस्त शास्त्रों के ज्ञाता आरम्भ ही से थे फिरभी आपका काश्मीर में उच्चशिक्षा प्राप्त करने जाना केवल लोकमर्य्यादा की रक्षा के लिये था। बहुत से पाठकों के मन में यह बात जानने की जिज्ञासा होगी कि जब भगवान् समस्त सिद्धियों पर अपना पूर्ण अधिकार रखते थे तो उन्हों ने भारत में मुसलमानों का आना जाना सर्वथा बन्द क्यों नहीं कर दिया? इसका सीधे शब्दों में यह उत्तर हो सकता है कि किसी शक्ति का अवतार लोगों में नये भाव और जाग्रति उत्पन्न करने के लिये हुआ करता है। वह नहीं चाहता कि ईश्वर के नियमानुसार और जीवों के अदृष्टों के सहारे कार्य कर रही प्रकृति के अद्भुतयंत्र में हस्ताक्षेप किया जाय। ऐसा करने से संसार के सञ्चालक ईश्वरीयनियमों में गड़बड़ मच जाने का भय बना रहता है, अतएव भगवान् श्रीचन्द्र ने महाराणा प्रताप की पीठ तो ठोक दी कि उठो! अपने देशकी रक्षा के लिये, प्राणपण से लड़ने के लिये तय्यार हो जाओ! परन्तु स्वयं अपनी दिव्यशक्ति से किसी यवनविजेता को नष्टभ्रष्ट नहीं करते। इसकी तह में यह रहस्य छिपा हुआ है कि ऐसा करने से लोग अपने अदृष्टानुसार कार्य भी करते रहें और अवतारधारण का लक्ष्य भी सिद्ध हो जाय।

## ( २ तरङ्ग )

## " आचार्य श्रीचन्द्रमुनि "

औदास्यमार्गः सनकादिगीतः,
लुप्तः कलौ मे जगति प्रवर्त्यः।
सञ्चिन्त्य चेत्थं भुवि सम्बभूव,
"श्रीचन्द्र" नामा गुरु रादिदेवः (शङ्करः)।

अब यहाँ से भगवान् का चरित आरम्भ होता है। भारत के इतिहास के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, जब जब इस देश को किसी विशेष विपत्ति का सामना करना पड़ा तब तब किसी न किसी ईश्वरीय शक्ति ने इसका हाथ पकड़

कर इसे सङ्कटके समुद्र से पार उतार दिया। संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारतभूमि को इस बात का अधिक श्रेयः प्राप्त है कि इसने अधिक महापुरुषों को उत्पन्न किया है। भगवान् के आविर्भाव से पूर्व, देश की स्थिति निराशाजनक हो रही थी। यवनों के अत्याचारों ने इस पुण्यभूमि को नरक बना रक्खा था। अपने छल और कपटों से शासकों पर विजयी होकर ये लोलुप, लोगों को खूब लूट रहे थे। किसी भी देशी शासक की यह हिम्मत न होती थी कि वह इन दुष्टों का सामना कर सके। विदे ी लुटेरों के अत्याचारों के इलावा हिन्दुओं के घरेलू झगड़ों ने इन्हें खण्ड खण्ड कर रक्खा था। शैव वैष्णवों को और वैष्णव शैवों को सहानुभूति की दृष्टि से न दखते थे। यहाँ तक कि एक दूसरे के नाशपर तुला हुआ था। इधर तान्त्रिक लोग भी मनमाने ग्रन्थ घड़कर लोगों को अनाचार की ओर प्रवृत्त कर रहे थे। इनके प्रचार से भारतका भविष्य दूषित होने को था। मुसल्मान लोग अपने धर्म के प्रचारार्थ तरह तरह के षड्यन्त्र रच रहे थे। ऐसी स्थिति में किसी विशेष महापुरुष का आना अत्यावश्यक था। भक्त लोग दिनरात भगवान् शंकर के ध्यान में मग्न रहते थे। प्रत्येक भारतीय का हृदय परमात्मा को सहायता चाह रहा था। भगवान् भक्तों के कष्टों को आरम्भ से दूर करते आए हैं। अतः इस समय दुःखी भक्तों के आर्त्तनाद ने भगवान् को बुला ही लिया।

## श्रीचन्द्रजन्मोत्सव

सं. १५५१ वि० भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन तलवण्डी* ग्राम में श्री नानकदेवजी की धर्मपत्नी सुलक्षणी (सुलक्षणा) जी की पावन कुक्षि से भगवान् शङ्कर

* यह नगर लाहौर से ३० कोश पश्चिम में है। इसे आजकल ननकाना कहते हैं। पुरातन जन्मसाखी का (जो वजीरहिन्द प्रेस अमृतसर में प्रथमवार छपी है) ११ वाँ पृष्ठ देखने से यही जन्मस्थान ठीक निश्चित होता है। कई एक लेखकों ने जन्मस्थान सुलतानपुर (रियास्त कपूरथला) लिखा है; परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। महाराज की भूआ नानकी, जो आपसे अधिक स्नेह रखती थी, जन्म से एक दो दिन बाद का चित्र अपने सुसराल सुलतानपुर ले गई थी। उस चित्र को जिस स्थान में स्थापित कर श्रद्धालुभक्त पूजने लगे वही स्थान भगवान् के जन्मस्थान के नाम से सुलतानपुर में प्रसिद्ध हुआ। यही प्रसिद्धि लोगों की भ्रान्ति का कारण है। उक्त विषयपर अधिक विचार अन्यत्र किया जायगा। महाराज के अनुज लक्ष्मीचन्द के चार वंशधर तलवण्डी में रहे, पाञ्चवाँ वंशधर लाजपतराय इसको उजाड़ देखकर देहरा बाबानानक चला गया। तबसे आजतक उसके वंशधर वेदी वहीं निवास करते हैं। १७३८ वि० में साधु हनुमानदास तलवण्डी आए। अपने आचार्य भगवान् श्रीचन्द्र के जन्मस्थान को वीरान देखकर उन्हें बहुत कष्ट हुआ। अतः वे वहीं ठहर गये। वहाँपर उन्होंने एक मन्दिर बनवाया जिसे आजकल जन्मस्थान कहते हैं। हनुमानदासजी के पीछे उनके उत्तराधिकारियों ने इस स्थान को बहुत उन्नत बना दिया। आठवें उत्तराधिकारी महन्त साधुराम के समय तो यह स्थान बहुत सम्पत्तिशाली हो गया। दशवें उत्तराधिकारी (वर्तमान महन्त) नारायणदासजी हुये। इस धर्मवीर ने इस स्थान की रक्षा के लिये अपने प्राणोंतक की परवाह न की। विपक्षियों ने इस स्थानपर सन् १९२१ ई० (१९७८ वि०) में बलात् अधिकार जमा लिया। महन्तजी ने इसकी रक्षा के लिये बहुत यत्न किया परन्तु हिन्दुओं की अदूरदर्शिता और शासकों की कुटिल नीति और भीरुता के कारण वे सफल न हो सके। अपने जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा करते हुए निरपराध भी वे दश वर्ष के लिये जेल भेज दिये गये।

श्रीचन्द्ररूप में आविर्भूत हुये। आपकी जन्मघटनाएँ श्रीचन्द्रप्रकाश-प्रभृति ग्रन्थों में भली प्रकार वर्णित हैं। हम ग्रन्थ के बढने के भय से उन सब को यहां नहीं लिख सकते। उनमें से प्रधान प्रधान और आवश्यक घटनाएँ लिखी जाती हैं –

श्रीचन्द्रप्रकाश में लिखा है कि जन्मसमय भगवान् ने अपनी माता को शिव स्वरूप में दर्शन दिये। माता की प्रार्थना पर आप फिर शिशुरूप होकर माता की गोद में लेट गये। समस्त परिवार बालकजन्म की खुशियाँ मनाने लगा। लोग आकर बधाइयाँ देने लगे। आपकी भूआ नानकी आपके पिता जी के पास आपके जन्म की बधाई लेकर आई। श्रीनानक जी ने कहा "बहन! यह कोई साधारण शिशु नहीं है। यह तो साक्षात् भगवान् शंकर ने हमारे घर में जन्म लिया है। आपको स्मरण होगा, मेरी अनन्योपासना से प्रसन्न हो कर भगवान् ने यह कहा था – कि मैं आपके घर में पुत्ररूप में अवतीर्ण हूँगा"। संसार में दो ही महापुरुष ऐसे हुये हैं जो अपने भावी अनुष्ठेयधर्म के सूचक चिन्हों के साथ उत्पन्न हुये हों। एक तो प्रातःस्मरणीय क्षत्रियाग्रगण्य दानवीर कर्ण हैं।, ये क्षात्रधर्म के चिन्ह, कवच, कुण्डलादि लेकर पैदा हुये थे। दूसरे, उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्रजी हैं। ये जटाभस्मादि वैराग्य के चिन्ह लेकर अवतीर्ण हुये*।

## ज्योतिषी की भविष्यवाणी

ज्योतिर्विद् पण्डित हरदयालुशर्मा जी सम्मानपूर्वक बुलाए गये। पण्डित जी ने जन्मसमयानुसार ग्रहकुण्डली बनाकर फलादेश सुनाना आरम्भ किया। समस्त परिवार बड़ी उत्कण्ठा से पण्डित जी की कुण्डली की ओर देख रहा था। पण्डित जी ने कहा, कुण्डली के ग्रहानुसार यह बालक दिव्यशक्तियों से सम्पन्न एवं विश्वविख्यात महापुरुष होगा। यह आजीवन ब्रह्मचारी रहकर देश और जातिकी रक्षा में तत्पर रहेगा। शैव और वैष्णवों के परस्पर कलह को दूरकर यह जनता में पञ्चदेवोपासना का उपदेश देगा। इसीके द्वारा तान्त्रिकों के अनाचारों का नाश होगा। लुप्तप्रायः श्रौतचतुर्थाश्रम का पुनरुद्धार यही बालक करेगा। इसकी आयु बहुत बड़ी होगी। इसके दिव्यजीवन का प्रभाव मुसलमानशासकों पर बहुत पड़ेगा। इसीके पवित्र उपदेशों से हिन्दु-जाति में पुनः जीवन के चिन्ह दिखाई देंगे। इसीके उपदेशों से उत्पन्न हुई हलचल भविष्य में यवनराज्य की जड़ें उखाड़ने का कारण होगी। यह अपने जीवन में ही बहुत से वीरों को पैदा कर लेगा। इसके धर्मका प्रचार करने-वाले अगणित धर्मोपदेशक पैदा हो जायँगे। पण्डित जी का कथन आपके जीवन में अक्षरशः घटता है। आपके जीवन का अद्भुतवृत्त सुनकर परिवार के आनन्द का ठिकाना न था। प्रत्येक व्यक्ति भिन्नभिन्न धारणा से सानन्द हो रही थी। कईएक पण्डित जी के ज्योतिषशास्त्रद्वारा बतलाए हुये अद्भुत चमत्कारों पर आश्चर्य कर रहे थे। पण्डित जी के फलादेशकथनानुसार आपका जीवन ठीक वैसे ही दिव्यघटनाओं से परिपूर्ण हुआ। आपके बचपन की विचित्रलीलाओं ने ही लोगों को विश्वास दिला दिया था कि आप एक होनहार बालक हैं। आपके जीवन की विस्तृत घटनाएँ निबन्धान्तर में लिखी जायँगी। पाठकों के परिचयार्थ यहाँ पर संक्षेपतः कुछेक घटनाएँ लिखी जाती हैं।

* यह घटना नानकसूर्योदय-प्रभृति इतिहासग्रन्थों में स्पष्ट लिखी है।

## अद्भुतबाललीलाएँ

आपके शैशव की लीलाएँ विलक्षण ही हैं। शैशव में आपका मुखकमल सदा खिला ही रहता था। आपको कभी भी किसी ने रोते न देखा था। आपकी विलक्षण चेष्टाओं से घरके लोग चकित हो रहे थे। उन्हों ने आजतक ऐसे बालक को न देखा था। आपकी ओर जब कोई देखता तो आप झट हँस देते थे। इस से दर्शक के आनन्द का ठिकाना न रहता था। ग्रामभर में यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि कोई व्यक्ति किसी दुःख या शोक से कैसा भी उदास क्यों न हो; आप के दर्शन होते ही उसके सब दुःख और चिन्ताएँ दूर हो जाती थीं। बच्चों के साथ खेलते समय भी आप तटस्थ होकर उन्हें देखते रहते थे। आपकी अधिक रुचि खेलने में न थी। परस्पर लड़रहे बालकों को देखकर आप उन्हें शान्त करने का यत्न करते थे। उनके मुख से परस्पर के कलह में अपशब्द सुनकर आप उनको समझाते थे कि देखो गाली देना पाप में शामिल है। आपके सङ्गसे अन्य बच्चोंके मन भी पवित्र हो गये। कभी कभी आप उन्हें देवदर्शनार्थ देवमन्दिर में ले जाते। वहाँपर भगवान् रामकृष्ण के सम्बन्ध में पुजारी से उनकी पवित्र कथाएँ पूछते। इस से बालकों का रामकृष्ण के दर्शनार्थ प्रतिदिन स्नेह बढता ही जाता था। इसी से प्रेरित होकर बालमण्डली पण्डित हरदयालु जी से अवतारों की कथाएँ सुनने जाया करती थी। देवदर्शन के समय कभी कभी कोई बालक किसी अवतारके सम्बन्ध में कोई वार्ता पुजारी से पूछ बैठता तो पुजारी को उसका उत्तर न आता। इस से बालमण्डली बहुत ही खुश एवं मुदित होती। कभी कभी खेलने के व्याज से आप बालकों को किसी छायावाले वृक्षके नीचे ले जाकर आप स्वयं वक्ता बनते और उनको श्रोता बनाते। इसप्रकार उन्हें ऐसी कथाएँ सुनाते जो मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद होती थीं। कभी आप उनको साथ ले कर नगर के नजदीक जंगल में चले जाते। वहाँ पर जब अन्य साथी खेल रहे होते थे तो आप योगी की भाँति आसन लगाकर बैठ जाते। आँखें बन्दकर पता नही क्या सोचते या किसका ध्यान करते। भूख और प्यासकी आपको कोई परवाह न थी। बहुत देरतक आप वहाँ ही बैठे रहते थे। कभी कभी तो यह होता था कि घरवाले ढूँढते ढूँढते यहाँ पहुँचते और आपको उठाकर ले जाते। दूसरे बालकों के मातापिताओं ने अपने बालकों को इनके साथ जाने से रोका, क्योंकि आपका मन अधिक जंगल में ही लगता था।

## याचक को मोतीदान

उदासीनमञ्जरी में आपके जीवन की अद्भुत घटनाएँ विस्तार एवं और ही रूप में वर्णित हैं। प्रेमिपाठकों के ज्ञानार्थ हम उन्हें यहाँ संक्षेपतः लिखते हैं। एकदिन की बात है - आप घरके आंगण में खेल रहे थे। माता किसी घरके कार्य में दत्तचित्त थी। दूसरे घरों से मांगता मांगता एक याचक आपके घरके आगे आन खड़ा हुआ। शिशु श्रीचन्द्र दौड़कर एक चनों की मुठ्ठी भरलाया और उसे याचक की झोली में डालने का प्रयत्न करने लगा। याचक को वे चने मोती दीख पड़े, अतएव वह लेने से कुछ हिचकिचाने लगा। उसने सोचा कि बालक अपनी भूल से मुझे मोतियों को चने समझकर दे रहा है। यदि मैंने ले लिये तो घरवाले मेरा

बुराहाल करेंगे। भगवान् उसे देना चाहते हैं और वह लेने से डरता है। इसी वादविवाद में माता की दृष्टि उस ओर चली गई। बच्चेके हाथ में मोती देखकर माता के हर्ष एवं आश्चर्य का ठिकाना न रहा। माता को उसीसमय स्मरण आगया कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि यह शिशु तो साक्षात् भगवान् शंकर है। तब माता ने भिक्षुक को मोती ले लेने लिये कहा। भिक्षुक ने मोती ले लिये। "चिरञ्जीवरहो" यह आशीर्वाद देता हुआ वह आगे चला गया। माता का हृदय प्रियशिशु के वात्सल्यप्रेम से चञ्चल हो उठा। अतएव माता ने उसे गोद में ले लिया और वह अपने को धन्य धन्य समझने लगी।

## भगवान् के पास सांप और शेर को देखकर लोग चकित हो गये।

एकदिन भगवान् उस जङ्गल की ओर चल दिये जिस में एक भयानक शेर रहता था। उसने आगे कई मनुष्यों को मार दिया था। साथियों के रोकने पर भी भगवान् न रुके और सीधे वहां ही पहुँचे जहाँ सिंह की गुफा थी। साथी बालकों में इतना साहस न था कि वे आपका साथ निभा सकें। अतः वे सबके सब वापिस घरों को लौट आए और भगवान् आगे ही आगे बढते चले गये। साथियों ने घर आकर उक्त समाचार माता जी के कानोंतक पहुँचा दिया। सुनते ही माता जी के होश उड़ गये। लगी बारम्बार व्याकुल होने। नगरभर में यह समाचार बिजली की तरह दौड़ गया। नगर का बच्चा बच्चा इस दुःखद घटना पर हार्दिकखेद प्रकट करने लगा। बहुत से लोग बिना किसी को साथ लिये जङ्गल की ओर दौड़ पड़े। नगरभर में हाहाकार मच गया। भगवान् के पितामह कल्याणराय स्थानीय शासक रायबुलार के पास दौड़े दौड़े गये और उसे उक्त समाचार कह सुनाया। रायबुलार तो पहले से ही भगवान् पर श्रद्धा रखता था। अतः सशस्त्र सिपाहियों के साथ उसी जङ्गल की और वह स्वयं चल पड़ा।

ढूँढते ढूँढते क्या देखते हैं, एक स्थान पर भगवान् समाधि लगाए बैठे हैं। एक काला साँप भगवान् के गले में लिपटा हुआ है और दूसरा कुण्डलाकृति होकर उनके दक्षिण हाथ को सुशोभित कर रहा है। सिंह भी आँखे बन्द किये भगवान् के चरणों के समीप शान्त हुआ बैठा है। यह अद्भुत घटना देख कर रायबुलार और अन्य सब के सब चकित हो गये। किसी को चूँ-तक करने का साहस भी न हुआ। शासक रायबुलार स्वयं दुविधा में पड़ गया। इस समय वह न आगे बढ सकता है न पीछे हट सकता है, और नही शेर पर प्रहार ही कर सकता है। अन्त में वह किंकर्तव्यमूढ होकर भगवान् के ध्यान में रत हो जाता है। मन की स्थिरता के होते ही वह भगवान् के चरणों का दर्शन अपने हृदय में करने लगा। भगवान् भी अन्तर्यामी थे। उपस्थित घटना को अपनी दिव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष देख रहे थे। अतः लोगों की अनन्यश्रद्धा देखकर भगवान् ने समाधि खोल दी और रायबुलार को अपने पास बुलालिया। रायबुलार भगवान् के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके सिंह के नजदीक जा बैठा। अन्य दर्शकलोग जहाँ पर थे वहीं बैठ गये। शान्त सिंह भगवान् के चरणों में सिर झुका कर जङ्गल की ओर चल पड़ा और दोनो सांप भी वहां पर अदृश्य हो गये। कुछ देर चुप रहने के बाद रायबुलार ने हाथ जोड़ कर कहा "महाराज आपकी अद्भुत लीला के रहस्य को आप ही समझ सकते हैं। हम

जैसे अज्ञानी जीव तो इस के जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। भगवन्! प्रार्थना यह है, आप मुझे कृपाकर मेरे आत्मोद्धार का उपाय बतलाएँ"।

## रायवुलार को भगवान् का सदुपदेश।

भगवान् मुस्कराकर बोले, "रायवुलार! शासक के आत्मोद्धार का यही सरल मार्ग है कि वह अपने आपको ईश्वर की ओर से भेजा हुआ प्रतिनिधि समझे। जिस प्रकार माली अपने वगीचे की रक्षा पूरी सावधानता से करता है। ठीक वैसे ही शासक का कर्तव्य है कि वह गुणी विद्वानों का आदर करे और प्रजा में अशान्ति फलानेवाले नराधमों को देश के नियमानुसार उचित दण्ड दे। शासक को अपनी प्रजा की रक्षा एकही मन से करनी चाहिये। राज्यनियम सब के लिये एक-सा होना चाहिये चाहे अपराधी किसी भी जाति या धर्म का हो। शासक के आगे सारी प्रजा परमात्मा की मनोहारिणी वाटिका है। शासक उसका माली है। उसे सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि मैं इस वाटिका को अन्यायद्वारा किञ्चित् भी क्षति पहुँचाऊँगा तो ये अधिकार मुझ से छिन जायँगे। सर्वत्र न्यायकरना और प्रजापालन ही शासक के आत्मोद्धार का वास्तविक मार्ग है। अन्याय से प्रजा को दुखित कर देना ही शासक को सदा के लिये नरक में डालने का प्रधान साधन है। ईश्वर पर विश्वास करो; वही इस विशाल ब्रह्माण्ड का हर्ता कर्ता है। उसी के आदेश से यह विश्वप्रपञ्च चल रहा है। आप भी उसी के नियमों का पालन करें और जिस प्रकार वह अपने नियमों में त्रुटि नहीं आने देता उसी प्रकार आप भी सदा सावधान रहें। इसी से तुह्मारा आत्मोद्धार निश्चित है।"

रायवुलार भगवान् के उक्त उपदेश को सुनकर अपने आपको कृतकृत्य समझने लगा। उसने साञ्जलि होकर भगवान् से घरचलने को कहा। भगवान् शिशुरूप में होकर उसके साथ हो लिये। घर पहुँचते ही माता के आनन्द का ठिकाना न रहा। नगर के तमाम वाल, वृद्ध; भगवान् के दर्शनार्थ आए। जंगल की अद्भुत घटना नगर भर में फैल गई। लोगों का स्नेह श्रद्धा में बदल गया। सर्वत्र इन्हीं की चर्चा चलती थी। लोगों के परस्पर वार्तालाप का विषय भगवान् की अद्भुत लीलाएँ थीं। रायवुलार भगवान् को अपना शासक मानने लगा। ईश्वर की माया विचित्र है। एक दिन पहिले जो शासक था वह आज अपने को शासित और शसित को शासक बना रहा है। बहुत से श्रद्धालु वृद्ध और वृद्धाएँ प्रतिदिन भगवान् के दर्शनार्थ आने लगीं। रायवुलार को भी भगवान् के दर्शन किये बिना चैन न आती थी। शेर और साँप की घटना से परिवार के सब मनुष्यों को पूर्णविश्वास हो गया कि भगवान् साक्षात् शिव हैं। अतः भविष्य में उन्हें ऐसी घटनाओं की अधिक भीति न रही।

## बालमण्डल को भगवान् का सदुपदेश

भगवान् जब सात वर्ष के हुये तो इनके मातामह (नाना) मूलचन्द इनको माता सुलक्षणी और छोटे भाई लक्ष्मीचन्द समेत अपने ग्राम पक्खोके ले गया। इस से रायवुलार भगवान् के दर्शनों से वञ्चित रहने के कारण बड़ा दुःखी हुआ। उसने भगवान् के वहां जाने से पूर्व ही उनका एक मनोहर चित्र बनवालिया था। प्रतिदिन उस चित्र के दर्शन से उसे जरा कुछ चैन आती थी। भगवान् के उपदेशों

के अनुसार रायबुलार अपना जीवन बिता रहा था। प्रजापालन में वह एक धर्मात्मा शासक बन गया था।

उधर भगवान् तीनवर्ष तक अपने मातामह के यहाँ रहे। आपके शिक्षाप्रद एवं मनोहर और मीठे मीठे वचनों को सुन सुन कर वहाँ के लोग भी आप के भक्त और स्नेही बन गये। आपकी विलक्षण प्रतिभा तथा अन्य अद्भुत चेष्टाएँ देख कर लोग विश्वास करने लगे कि यह तो कोई योगिराज बालकरूप में इनके घर अवतीर्ण हुआ है। बालकों के साथ खेलते समय आप उनको प्रेम की शिक्षा दिया करते थे। एक दिन खेलते खेलते आप उनको श्रोता के रूप में समझकर उपदेश करने लगे–"प्रिय मित्रो, मनुष्य की बाल्य, यौवन, और वार्द्धक्य–ये तीन अवस्थाएँ हैं। इन तीनों में से बाल्यावस्था उत्तम है। बालक दुग्ध समान है। जैसे दूध से बहुत से स्वादु एवं उपयोगी पदार्थ तैयार किये जा सकते हैं, उसी प्रकार उच्चशिक्षा एवं सदुपदेशों से बालक भी पराक्रमी, वीर, तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी और भक्तादि उच्च कोटि का पुरुष बनाया जा सकता है। बालक का हृदय स्वच्छ और निर्मल होता है। उस पर सदुपदेशों का प्रभाव शीघ्र होता है। वह स्वच्छ और श्वेत वस्त्र के समान सद्‌गुणरत्नों को झटिति ग्रहण कर लेता है। साहसी बालक अपने ध्येय तक बहुत शीघ्र पहुँच जाते हैं। धर्मपुस्तकों में ध्रुव और प्रह्लाद इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। परमात्मा की भक्ति करना आवश्यक है। वही हमारी सर्वत्र रक्षा करता है। अन्य भक्त की अपेक्षा बालकभक्त को प्रभु के दर्शन बहुत शीघ्र हो जाते हैं। धन, यश, आयु और विद्या की प्राप्ति का मूल वृद्धजनों की सेवा है। वह हमें नियमपूर्वक करनी चाहिये। प्रातःकाल हमें माता-पिता और वृद्धजनों को प्रणाम कर उनसे शुभाशीर्वाद लेना चाहिये। माता-पिता की आज्ञा का मानना हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिये। पितृभक्त असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। उपनिषदों में कथा आती है – नचिकेता सदेह यमलोक पहुँचा। वहाँ पर यमराज से आत्मविद्या प्राप्तकर और जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होकर वह वापिस अपने पिता के पास चला आया। पितृभक्त नचकेता ने विराट् की उपासना और आत्म-विद्या के प्रचारद्वारा समस्त प्राणियों के लिये स्वर्ग और मोक्ष का द्वार खोल दिया। मातृभक्ति के प्रभाव से पाण्डव विश्वविजयी हुये। हमें तत्त्वग्राही होना चाहिये। भगवान् वेद की आज्ञा है कि हमें सदा सत्य बोलना चाहिये।"

## मौलवी नूरदीन की सन्देहनिवृत्ति।

भगवान् उपदेश कर ही रहे थे इतने में मौलवी नूरदीन बालकों की मण्डली का इस प्रकार बैठी देख कर वहाँ पहुँच गया। एक बालक से उसने पूछा–यह क्या हो रहा है? उत्तर मिला कि यहाँ पर हरिकथा हो रही है। मौलवी ने इसे उपहास समझा और बालकों के बीचमें उच्चासन पर विराज रहे बालक से उसने प्रश्न किया:—

मौलवी:—हरि किसे कहते हैं?

भगवान्—जिसे आप रहीम कहते हैं।

मौलवी—रहीम किसे कहते हैं?

भगवान्—ईश्वर दयालु है। वह दया करना जानता है। रहम नाम है दया का।

रहमवाला होने से वह रहीम कहलाता है। अपने भक्तों के पापों को दूर करता है इसलिये उसे हरि कहते हैं।

मौलवी—परमात्मा न्यायी है या अन्यायी?

भगवान्—वह न्यायशील है। मनुष्य के पुण्य और पापों के अनुसार उसे अनुगृहीत या निगृहीत करता है। विश्व की विचित्रता उसकी न्यायशीलता का निदर्शन है। प्रत्येक जीव के अदृष्टानुसार वह उसे जन्म, आयु और भोग देता है। क्या हम नहीं देखते? एक राजकुमार है, भोग की तमाम सामग्री उसके पास है। वह सदा नीरोग और प्रसन्न रहता है। वह दीर्घायु का उपभोग करता है। स्त्री, पुत्र, और भृत्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। हजारों प्राणियों के भाग्य का निर्णय उसके इशारे पर निर्भर है। इसके प्रतिकूल, एक अनाथ बालक है। माता पिता के मर जाने के बाद, दूधमिलना तो दूर रहा पेटभर भोजनमिलना भी कठिन हो जाता है। वह भूख से तङ्ग आकर रोता है, चिल्लाता है; परन्तु कोई उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। यह है उसकी महिमा की विचित्रता का दिग्दर्शन। इसी प्रकार संसार के अन्यपदार्थों की स्थिति जान लेनी चाहिये। ईश्वर समदर्शी है। वह किसी को उच्च या नीच नहीं बनाता। प्राणी के कर्मानुसार वह उसे सुख या दुख देता है। अतः उसकी न्यायशीलता में कोई सन्देह नहीं कर सकता।

मौलवी—( साश्चर्य ) भला यह तो बताइये, ईश्वर दयालु कैसे सिद्ध हुआ? दयालु किसी को कठोर दण्ड नहीं दे सकता। इधर परमात्मा यदि किसी के उग्रपाप का कठोर दण्ड नहीं देता, तो वह न्यायशील कैसे? अतः मानना होगा दयालुता और न्यायशीलता ये दोनो मिथः विरोधी धर्म हैं। इनका एकाधिकरण में भिन्न भिन्न काल में भी रहना सम्भव नहीं।

भगवान्—ईश्वर साधारण लोगों के लिये न्यायशील है और भक्तों के लिये दयालु है। गौगोबर से घृणा करती है और यदि गोबर का स्पर्श उसके घास से हो जाय तो वह उसे खाना पसन्द नहीं करती। इसके प्रतिकूल अपने नवजात वत्स को, चाहे वह गोबर से लिप्त भी क्यों न हो, अपनी जीभ से चाटती है। गौ में गोबर से घृणा और उसका अभाव दोनो पाए जाते हैं। ठीक इसी तरह जगदीश्वर जगत् के शासन में न्यायशीलता की रक्षा के लिये कठोर होता हुआ भी अपने भक्तों के लिये असीमदयाभाव रखता है। उनके पूर्वदुश्चरितों पर ध्यान न देता हुआ शीघ्र ही उन्हें अपनी गोद में बैठा लेता है। बछड़े को गौ के समान भगवान् भक्तों को बहुत शीघ्र अपना लेता है। अतएव भगवान् को भक्तवत्सल कहा है।"+

भगवान् की उक्तियों का मौलवी पर काफी प्रभाव पड़ा। वह इन्हें ईश्वरीय मनुष्य समझकर प्रणाम करने लगा, और जयजय करता हुआ अपने घर की ओर चला गया। मौलवी ने इधर उधर के तमाम मुसलमानों में भगवान् की कीर्ति का गान किया। आजतक तो हिन्दू ही उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे; परन्तु इस मौलवी की मानसिक प्रसन्नता के कारण अबतो मुसलमानलोग भी भगवान् के पवित्र

+ भक्ता वत्सा इवेति भक्तवत्सा स्तान् लाति=आददाति, स्वकीयत्वेन गृह्णाति स्वाङ्के स्थापयति—इति भक्तवत्सलः।

दर्शनों के लिये आने लगे। बहुत से मौलवी, जिनको अध्यात्म विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो जाता था वे भगवान् से अपना सन्देह निवृत्त कराने के लिये आने लगे।

## पण्डित विष्णुदास वैष्णव और सुखदयालु गद्गद् हो गये

भगवान् की अपूर्व प्रतिभा और दिव्यशक्तियों की चर्चा दूर, नजदीक सब जगह फैल गई। अतएव आपके यशोगान का श्रवण कर पण्डित विष्णुदास जी को आपके दर्शनों की उत्कट इच्छा हुई। वह अपनी शिष्यमण्डली समेत पक्खोके पहुँचा। ग्रामवासियों से पूछने पर पता चला कि भगवान् तो जङ्गल की ओर गये हुये हैं। पण्डित जी ने लोगों से अपने आने का प्रयोजन कह सुनाया। ग्राम के लोग और अपनी मण्डली के साथ पण्डित जी उसी ओर चल पड़े जिधर भगवान गयेहुये थे। ढूँढते ढूँढते सघन जङ्गल में पहुँच कर क्या देखते हैं, एक छायादार पेड़के नीचे भगवान् समाधि लगाए बैठे हैं। जनता के आगमन के कोलाहल से भगवान् की समाधि खुल गई। पण्डित जी ने श्रद्धापूर्वक प्रणाम की। भगवान् ने कुशल पूछने के बाद आगमन का कारण पूछा। पण्डित जी ने अपने मानसिकभावों को भगवान् के आगे निस्सङ्कोच कह दिया। भगवान् की आज्ञा होते ही हरिचर्चा आरम्भ हो गई।

पण्डित — ईश्वर को अप्रिय क्या है ?

भगवान् — कृतघ्नता और अभिमान।

पण्डित — नरक के तीन द्वार कौन कौन हैं ?

भगवान् — काम, क्रोध, और लोभ।

पण्डित — शीघ्रातिशीघ्र समाधिलाभ किस उपाय से हो सकता है ?

भगवान् — प्रणवजाप और अर्थचिन्तन से।

पण्डित — अविद्यापिशाची के पञ्जे से मुक्त होने के उपाय कौन कौन हैं ?

भगवान् — सांसारिक विषयों में दोषदर्शन, साधुसूक्तियों का अनुशीलन, अहर्निश भगवदाराधन और स्वात्मावलोकन।

पण्डित जी भगवान् के यथार्थ उत्तर सुनकर प्रसन्न हो गये और ऊँचे स्वर से भगवान् की स्तुति करने लगे। पण्डित जी ने कहा आजतक विद्वान् तो मैंने बहुत देखे थे; परन्तु आपकी तरह किसी ने भी इन प्रश्नों का हृदयग्राही उत्तर नहीं दिया। 'धन्य हो प्रभु, धन्य हो' यह कहकर पण्डित जी प्रेमानन्द में मग्न हो गये। उसी समय श्रोताओं में से एक भक्त* उठकर भगवान् से कुछ पूछने लगा।

सुखदयालु — वीर कौन है और ईश्वरप्राप्ति का मार्ग क्या है ?

भगवान् — वीर वही है जो कामशत्रु को जीत लेता है। सत्सङ्गति, गुरुसेवा, और गुरूपदिष्ट मन्त्र का निरन्तर जाप-ये ईश्वरप्राप्ति के प्रधान साधन हैं।

सुखदयालु अपने प्रश्नों के यथोचित उत्तर सुनकर गद्गद् हो गया। उस को यह विश्वास हो गया कि इस अवस्था में ऐसे आध्यात्मिक प्रश्नों का यथोचित उत्तर देना एक साधारण बालक का काम नहीं है। यह कोई अवतार या योगिराज है। पण्डित जी भगवान् के चरणो में सिर रखकर प्रणाम करने के अनन्तर, वापिस

* इसका नाम सुखदयालु था और यह सुलतानपुर के शासक नवाब दौलतखाँ का एक कर्मचारी था। इसने दो प्रश्न पूछे।

जाने के लिये आज्ञा माँगने लगे। भगवान् ने सब के लिये आज्ञा देदी। लोग अपने अपने घरकी ओर चल पड़े।

## भगवान् के मातामह की चिन्तानिवृत्ति

भगवान् उसदिन अधिकविलम्ब से घर पहुँचे। माता उनके अलौकिक चमत्कारों से अपरिचित न थी। फिरभी दर्शनों के विना व्याकुल हो रही थी। पुत्र में माता का स्नेह अनिर्वचनीय होता है। भगवान् को देखते ही माता ने उन्हें दौड़कर गले लगा लिया और चिर से दुखित हृदय को आनन्दित किया। इतने में इधर उधर ढूँढता ढूँढता भगवान् का मातामह भी घर पहुँचा और घर में भगवान् को देखकर डाटने लगा – 'हैं! पिताके समान तूभी अभी से जङ्गल और श्मशानों में बैठने लग गया है। बेटा! बाहर अधिक बैठना अच्छा नहीं। कोई काम भी तो सीखना चाहिये। बचपन में हरएक हुन्नर असानी से सीखा जा सकता है। श्मशानों में भूत और वनों में भयङ्कर सिंह रहते हैं। दाव लगते ही एकपल में ये मनुष्य को मार डालते हैं। देखना! आगे को अकेला बाहर मत जाना।' यह कहकर भगवान् के मातामह ने उनकी माता से यह कहना आरम्भ किया, "देखो बेटी, तुम भी इस को बाहरजाने से नहीं रोकती। भला बालक तो नासमझ होते ही हैं। इनको हिताहित का क्या पता होता है। आपको चाहिये कि इसे कभी बाहर मत जाने दें। मैं किसी अच्छे घराने की लड़की की तलाश में हूँ। कहीं मिल जाय तो इसका विवाह ही करदें। परन्तु इसका श्मशानों और जङ्गलों में फिरना सुनकर कोई भी इसे अपनी बेटी देना पसन्द न करेगा।

यह सुनकर भगवान् की माता ने कहा, "आप ऐसी चिन्ता न किया करें, यह कोई साधारण बालक नहीं है। यह तो साक्षात् शिव है। यह कहीं भी फिरे इसे मौतका कोई भय नहीं। मृत्यु इस से स्वयं डरती है। सिंहादि हिंसक जन्तु इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। आप इसके विवाह की चिन्ता भी मत करें। यह तो कामजित् योगीश्वर है। यह संसार के बन्धनों में फँसनेवाला नहीं है। ये बातें हो ही रही थीं, इतने में भगवान् की भूआ अपने पति जयराम के साथ वहाँ आ पहुँची। आठदिन वहाँ रहकर, जाते समय भगवान् को अपने साथ सुलतानपुर ले गई। कुछदिनों के बाद माता सुलक्षणी जी ने आप को फिर पक्खोके बुला लिया। वहाँ पर आप बालकों में तरहतरह के शिक्षाप्रद खेल खेलते और अपने से बड़ों को सांसारिक शिक्षाप्रद कहानियाँ सुनाते। अतएव वहाँ का बच्चा बच्चा आपका स्नेही, प्रेमी और श्रद्धालु बन गया।

## पितामही की प्रसन्नता

अब हम पाठकों को तलवण्डी का हाल सुनाते हैं। भगवान् की दादी तृप्ता आपके दर्शन विना अधिक खिन्न रहती थी। कारण यह था कि उनके बेटे श्री नानक जी तो पहिले ही संसार से विरक्त होकर विदेशभ्रमण के लिये चले गये थे। अब उनके मनबहलाने के लिये घर में ये दो पौत्र शेष थे। वे जब पक्खोके, अपने मातामह के यहाँ चले गये तो उस बिचारी वृद्धाके पास कुछ भी न रहा। अतएव

वह हरसमय उदास रहने लगी। भगवान् के दादा कल्याणराय जी जब श्रीमती तृप्ता जी की खिन्नता का कारण अच्छीतरह समझ गये तो वे अपने दोनों पौत्रों और उनकी माता को यहां लाने के लिये पक्खोके पहुँचे। भगवान् के मातामह मूलचन्दजी यह न चाहते थे कि उनके दौहित्र उनके घर से चले जायँ। भगवान् के दादा ने उन्हें घरकी दशा का वृत्त जब जरा खोलकर बताया तो वे उन से सहमत हो गये और कल्याणराय जी उन तीनों को तलवण्डी ले आए। इनके घर पहुँचते ही श्रीमती तृप्ता जी के आनन्द का ठिकाना न रहा। वह बारबार भगवान् को अपनी गोद में लेकर कहती थी, "बेटा! क्या तूभी अपने पिता की तरह अपने घर से उदास है।" भगवान् के मधुर वचनों से वृद्धा का समस्त दुःख दूर हो गया। इनकी उपस्थिति में यह विचारी अपने पुत्रके वियोग के दुःख को भूल जाती थी। किसी को क्या पता था, अपने पिता की भाँति भगवान् भी रमते योगी होनेवाले हैं। श्रीमती तृप्ता जी के मन में यह बात कभी स्वप्न में भी न आई थी कि उनके पुत्र के समान उनका पौत्र भी उन्हें छोड़कर चला जायगा। ऐसी घटनाएँ अवश्यम्भावी होती हैं। किसी के रोकने पर वे रुका नहीं करतीं। भगवान् अपनी दादी से बड़ी मीठी मीठी बातें किया करते थे। आप की दादी की यह हार्दिक इच्छा होती थी कि भगवान् प्रतिपल उनके पास ही रहें। भगवान् के भ्राता लक्ष्मीचन्द जी हर समय उनके संग रहते थे। श्रीचन्द्रप्रकाश में लिखा है कि आरम्भ से ही लक्ष्मीचन्द्र की भगवान् में अगाध श्रद्धा थी। आप कभी भी भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन न करते थे। भगवान् को यह भलिभाँति विदित था कि किसप्रकार उनके पिता संसार से उपरत होकर घर छोड़कर साधुओं में जा मिले। भगवान् की भी अन्तिम उत्कट इच्छा यही थी। वे इन विचारों को किसी के आगे व्यक्त न करते थे। वे जानते थे कि उनके पिताकी उपरति से घरवाले कितने दुःखी हो रहे हैं। यदि वे भी अभी से उन जैसे बनने का प्रयत्न करने लगेंगे तो इन विचारों के दुःख की सीमा न रहेगी। अतएव भगवान् चुप ही रहा करते थे।

## धार्मिक-शिक्षासमाप्ति

इस समय भगवान् की अवस्था ११ वर्ष की हो चुकी थी, भगवान् के पितामह ने पण्डित हरिदयालु जी को बुलाकर इनका यज्ञोपवीत संस्कार करवाया और इन्हें पण्डित जी के यहाँ पढने बिठा दिया। आप ने एक दो दिन में अक्षरज्ञान प्राप्तकर गीता पढनी आरम्भ कर दी। अन्य छात्रों की अपेक्षा आप पढने में अधिक मनोयोग देते थे। यही कारण था कि गुरु जी आप पर अधिक प्रसन्न रहते थे और आपको पाठशाला के समय के इलावा भी बड़े प्रेम और चाव से पढाते थे। कुछ ही दिनों में आपके अद्भुत स्वाध्याय से पण्डित जी को यह विश्वास हो गया कि आप एक अद्वितीय विद्वान् बनेंगे। पण्डित जी आपकी विलक्षण प्रतिभा की प्रशंसा करते न थकते थे। थोड़े ही दिनों में भगवान् ने पण्डित जी के तमाम ग्रन्थ पढ डाले। इसलिये पण्डित जी की यह उत्कट इच्छा थी कि इन्हें संस्कृत की उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये कहीं बाहर भेजा जाय। स्थानीय पाठशाला की शिक्षा इनके लिये पर्य्याप्त न थी। परन्तु पण्डित जी अपने इन विचारों को क्रियात्मक रूपदेना पसन्द न करते थे; क्योंकि भगवान् के पितामह की इच्छा इस बात के विरुद्ध थी। कल्याणराय यह

चाहते थे कि स्थानीय पाठशाला में कुछ धार्मिकशिक्षा दिलाकर इन्हें व्यावहारिक विद्या की ओर प्रवृत्त किया जाय। बहुत दिनतक तो पण्डित जी ने अपने उक्त विचारों को मन में दवा रक्खा। अन्त में उन्होंने एकदिन यह निश्चय किया कि कहदेने में क्या क्षति है। वे मानें या न मानें इस में उनका अपना ही हित या अहित है। दूसरे दिन प्रातःकाल ही पण्डित हरदयालु जी कल्याणराय जी से मिले और कहने लगे, "वेदीकुलवर्द्धन! परमात्मा की बड़ी दया है। आपके पौत्र की धार्मिकशिक्षा समाप्त हो चुकी है। इस शिक्षाप्राप्ति में इसने अपने आपको एक होनहार बालक सिद्ध करदिया है। वैसे तो आप अपनी इच्छा के स्वामी हैं; परन्तु मेरी अपनी सम्मति के अनुसार बालक को भविष्य में संस्कृत की उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये कहीं बाहर भेजदेना चाहिये। मेरा ख्याल है, यह सँस्कृत-साहित्य में बहुत उन्नति करेगा। इसकी चेष्टाएँ बता रही हैं, भविष्य में इसके द्वारा देश और जाति का महान् उपकार होगा। मैंने इसके जन्म के दिन ही आपसे कहा था कि जन्मकुण्डली में इसके ग्रह बहुत आशाजनक हैं। मेरा जहाँतक विश्वास है, उक्त बातें सर्वथा सत्य होंगी"। पण्डित जी यह कहकर चुप हो गये। कल्याणराय जी कुछदेर चुप रहकर बोले, "पण्डित जी! आपकी इस हितभरी सम्मति से मैं पूर्णतया सहमत हूँ और आपकी इस हितचिन्तकता का भी मैं कृतज्ञ हूँ। मुझे भी यही विश्वास है कि यह बालक एक होनहार व्यक्ति है। शैशव में ही इसकी उपरामता ने मेरे विचारों में परिवर्तन पदा करदिया है। मुझे इस बात का बड़ा ही भय है कि कहीं यह भी अपने पिता की तरह घर का त्याग न करदे। यदि ऐसा हुआ तो हमारी रही सही आशाएँ भी धूर में मिल जायँगी। आप जानते ही हैं। पुत्र के वियोग से हम किस तरह निराश और दुःखी रहते हैं। इस बालक के अच्छे लक्षणों से मुझे कुछ शान्ति प्राप्त होती है। मेरा विश्वास है, इसके पिता के बाहर चले जाने के कारण घर में जो त्रुटियाँ आ गई हैं, वे इसके युवा होने पर दूर हो जायँगी। पण्डित जी! आपने बुरा न मानना, भविष्य में इसकी शिक्षा के सम्बन्ध में मेरी अपनी राय कुछ और ही है। जो कुछ होना है वह अवश्य होकर रहेगा। आपकी और मेरी तो ये केवल बातें ही बातें हैं। जिसप्रकार आपने अपनी सम्मति मुझे विना सङ्कोच के कह दी है वैसे मुझे भी कहने का अधिकार है। मेरे विचार में इस बालक ने अब धार्मिकशिक्षा तो समाप्त कर ही ली है, अब इसे व्यावहारिक शिक्षा की ओर प्रवृत्त किया जाय तो अधिक हितकर होगा। इसके बचपन से हम देख रहे हैं, इसका अनुराग अधिक निवृत्ति में है। इसकी स्वाभाविक चेष्टाएँ एक शान्त महात्मा जैसी हैं। मुझे डर है, संस्कृत की उच्चशिक्षा पाने पर कहीं यह संसार से सर्वथा उपरत न हो जाय। परमात्मा न करे! पण्डित जी! यदि ऐसा हुआ तो हमारा कोई ठिकाना नहीं। मेरा विचार है। इसे फारसी पढने लगा-दिया जाय और इसका विवाह भी शीघ्र ही कर दिया जाय। कई एक अच्छे अच्छे अनुभवी वृद्धों की भी यही राय है। इस वार्तालाप के अनन्तर पण्डितजी निराश-से होकर अपने घर चले गये और कल्याणराय जी अपने किसी कौटुम्बिक कार्य में दत्तचित्त हो गये।

## श्रीमतीमाता जी की कृपा से कठिन समस्या हल होगई

अब भगवान् के आगे एक कठिन समस्या आ उपस्थित हुई। यह समस्या प्रायः प्रत्येक होनहार व्यक्ति के आगे आ उपस्थित हुआ करती है। इसे हलकरना एक बुद्धिमत्ता का कार्य होता है। भगवान् को तो इसकी चिन्ता ही क्या थी। व्यवहार दृष्टि से वे अवश्य इसे सिद्ध करने के लिये चिन्तित प्रतीत होते थे। अपने मानसिक भावों को व्यक्त करके अपने दादा और दादी को निराश और अप्रसन्न करना वे कदापि पसन्द न करते थे। दूसरी ओर सांसारिक बन्धनों में फँसजाने से भी वे कोशों दूर भागते थे। ऐसी कठिनस्थिति में उन्हों ने एक उपाय ढूँढ निकाला। वह किसी को बताया नहीं और मन ही मन उसको क्रियात्मकरूप में लाते गये। एक दिन जब कल्याणराय जी कहीं बाहर गये हुये थे, तो भगवान् ने श्रीमती वृद्धा जी से अपनी माता जी के पास जाने की आज्ञा माँगी। पहिले तो वृद्धा ने आज्ञा न दी, अन्त में भगवान् का अधिक हठ देखकर कह ही दिया कि यदि तुम एक दो दिन में वापिस आजाओ तो जा सकते हो। भगवान् एक मनुष्य के साथ पक्खोके पहुँच गये। परिवार के तमाम लोग आपके दर्शनों से अत्यन्त प्रसन्न हुये। नगर के तमाम नर-नारी, बाल, वृद्ध आपके दर्शनार्थ आए। वृद्धों को प्रणाम करने और छोटों से कुशलक्षेम पूछने के अनन्तर आप एकान्त में अपनी माता जी से मिले। माता जी ने भगवान् को वहाँ आने का कारण पूछा। भगवान् ने उत्तर में कहा, "माता जी! इस समय मेरे सामने एक विकट समस्या है। मुझे आपके सिवाय और किसी से भी उसमें सहायता मिलने की आशा नहीं। अतएव मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। दादा जी इस समय मुझे फारसी पढाकर किसी व्यवसाय में लगादेने का यत्न कर रहे हैं। वे मुझे शीघ्र ही विवाह देने की धुन में भी हैं। मेरी अन्तरात्मा इसके सर्वथा प्रतिकूल है। मैं सांसारिक बन्धनों में पड़ने से कोशों दूर भागता हूँ। यदि मेरी इच्छा के विरुद्ध उन्हों ने बलात् ऐसा करभी दिया तो किसी अन्य अनर्थ हो जाने की सम्भावना अवश्यम्भावी है। अविवाहित व्यक्ति का सम्बन्धक्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं होता। यदि वह अपने घर से किनारा करले तो इतनी आपत्ति की आशा नहीं हो सकती। परन्तु विवाहितव्यक्ति का घर से पृथक् होना बहुत व्यक्तियों के हार्दिक दुःख का कारण हो जाता है। विवाह होते ही मनुष्य के कन्धों पर सारे समाज का भार आपड़ता है। ऐसी दशा में मनुष्य का घर से भागना सामाजिक दृष्टि के इलावा शास्त्र दृष्टि में भी पाप का मूल ठहरता है। मेरे विचार दादा जी के विचारों से सर्वथा प्रतिकूल हैं। मैं अपने विचारों को उनके आगे व्यक्त करने से संकोच करता हूँ। मुझे यह तो पूर्ण विश्वास है कि किसी के समझाने पर भी मेरे विचारों में कोई रूपान्तर नहीं हो सकता। यदि मेरा विवाह कर भी दिया गया तो मैं प्रतिदिन घर के जञ्जालों से मुक्त होने का ही अवसर ढूँढता रहूँगा। जिस प्रकार निरन्तर बह रहा जल यदि बन्धादि से रोक लिया जाय तो वह अपनी पूर्व स्वच्छता खोकर प्रतिपल वहाँ से निकल जाने के लिये छिद्र अन्वेषण करता रहता है। वही अवस्था उस मनुष्य की होती है जिसकी इच्छा के विरुद्ध उसे घर के धन्धों में जोड़ दिया जाता है। अविवाहित रह कर निवृत्ति मार्ग में चले जाने से मुझे यह लाभ दीखता है कि मैं फिर भी

कभी आपके दर्शन कर सकता हूँ। विवाहित होने पर यदि खिन्नता की सहायता से मैं बाहर चला गया तो फिर कभी वापिस आने की सम्भावना नहीं हो सकती। मैंने अपने उक्त विचारों को आपके सामने इस लिये व्यक्त किया है कि आप मेरे विचारों को केवल जानती ही नहीं, बल्कि उनसे कुछ सहानुभूति भी रखती हैं।" भगवान् के उक्त शुद्ध विचारों को सुनते ही माता जी का स्वच्छ* हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। माता भगवान् के विचारों से अच्छीतरह सहमत होगई। माता ने अपने उच्च विचार और अपना सांसारिक अनुभव पुत्र को तरह तरह के दृष्टान्तों से अच्छीतरह समझा दिया। माता ने भगवान् को यह भी भलिभाँति बतादिया कि संसार में किस तरह लोगों से व्यवहार रखना चाहिये। माता और पुत्र के परस्पर विचारैक्य से दोनों के हर्ष का ठिकाना न था। इसके अनन्तर भगवान् ने संस्कृत की उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये बाहर जाने की इच्छा प्रकट की। माता जी ने इसे सहर्ष स्वीकार करलिया।

### उक्त विषय में दूसरी कथा

"उदासीनप्रबोध" में विद्याध्ययनार्थ माता से अनुमति-प्राप्ति का अन्य प्रकार लिखा है। भगवान् आठवर्ष के थे। एकदिन लक्ष्मीचन्द्र को साथ लेकर जङ्गल की ओर चल दिये। सूर्य्यास्त तक वहीं इधर उधर घूमते रहे। लक्ष्मीचन्द्र यह समझने लगे कि वे मार्ग भूल गये हैं। इधर तो मामला ही कुछ और था। भगवान् संसार बन्धन से मुक्त होने की आयोजना कर रहे थे। भोजन का समय हो चुका; परन्तु वे दोनों घर नहीं गये। सारा परिवार चिन्ता से व्याकुल हो उठा। उन के मातामह बहुत से आदमियों को साथ लेकर ढूँढने निकले; परन्तु सारा प्रयास विफल गया। कहीं पर भी पता न चला। यदि सचमुच खोए होते तो अवश्य मिल जाते। वे तो स्वयं जान बूझकर छिपे हुये थे। अतः उनका पता लगाना आसान काम न था। दोनो को सारी रात जङ्गल में ही बितानी पड़ी। भगवान् और श्रीलक्ष्मीचन्द्र जी एक पेड़ के नीचे पत्ते बिछाकर सो रहे। सोने से पहिले भगवान् ने उस की भूख की निवृत्ति के लिये कहीं से बेर ला दिये। ज्यों ज्यों रात बीतती जाती थी; साथ ही घरवालों की चिन्ता बढती जाती थी। आधीरात तक जब वे न आए और न ही उनके गमनागमन का कहीं पता ही चला तो घरवालों को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि वे तो अवश्य ही किसी हिंसक जन्तु के शिकार हो चुके हैं। इस से परिवार में शोक छा गया और प्रत्येक व्यक्ति का दिल दुखी हो रहा था। किसी की कोई पेश न चलती थी।

उन दिनों में अविनाशीमुनि अपनी मण्डली के साथ वहाँ ठहर रहे थे। लोगों की उन पर अनन्य श्रद्धा थी। आस पास के लोग आपके दर्शन करने आया करते थे। लोगों का यह विश्वास था कि आप सिद्धयोगी हैं। प्रातःकाल होते ही भगवान्

*माता सुलक्षणी जी गुरु नानकदेव जी के विदेशगमन के पीछे अपना अधिक समय ईश्वरचिन्तन में बिताती थीं। घरेलू धन्धों से अवकाश होते ही आप हरि कीर्तन या भक्ति-भावोपदेशक पुस्तकें सुना करती थीं। अपनी सखियों में भी आपके वार्तालाप का विषय प्रधानतया धार्मिककथाएँ होती थीं। इससे आपका अन्तःकरण स्फटिक की तरह स्वच्छ और समाहित हो चुका था।

की माता के साथ उनकी मातामही अविनाशी मुनि की सेवा में पहुँची। साञ्जलि होकर भगवान् की मातामही ने कहा, "मुनिमहाराज ! मैं एक अत्यन्त दुखिया आपकी शरण में आई हूँ ! आप दयालु हैं, मेरी प्रार्थना की ओर ध्यान दीजिये। आप योगिराज हैं और संसार में घटरही समस्त घटनाओं का ज्ञान आपको अच्छी तरह है। आपको विदित ही है, मेरे जामाता तो पहले से ही घर छोड़ कर विदेश भ्रमण कर रहे हैं। परमात्मा की कृपा और आप जैसे महात्मापुरुषों के शुभाशीर्वादों से उन के दो पुत्र हुये। मेरे जामाता के चले जाने पर वे ही हमलोगों के, विशेषतः मेरी बेटी के, जीवनाधार और भावी आशाओं के केन्द्र हैं। भगवन्! मैं आपसे क्या कहूँ, कहते समय कलेजा बाहर को आता है। वे मेरी बेटी की आँखों के सितारे कल से लापता हैं !! पता नही हमारे किस पाप का फल हमारे आगे आ रहा है ! मनमें तरह तरह की कल्पनाएँ उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। परिवार के मनुष्य और स्त्रियाँ इस घटना से निहायत दुखी हैं। भगवन् ! आप योगी हैं। आप अपनी दिव्य शक्ति से देख सकते हैं, वे इस समय कहाँ हैं। हम तो निश्चित कर चुके हैं, वे किसी हिंसक जन्तु का शिकार हो चुके हैं। आपके इस उपकार से हम आपके आजीवन कृतज्ञ रहेंगे।"

मुनिमहाराज बुढिया के इस आर्तनाद को सुन कर मुस्कराने लगे। "माताजी आप इतना घबराएँ नहीं, आपके बच्चे सकुशल घर पहुँच जायँगे; परन्तु यह तो बताओ; यदि बालक सकुशल घर लौट आए तो दोनों हमारे हुये-इस में आपको तो कोई आपत्ति नही होगी ?" यह सुनकर भगवान् की मातामही तो चुप रही, माता सुलक्षणी जो पास ही बैठी थीं, बोलीं, "भगवन्, इन दो बालकों का तो कहना ही क्या है, सारा संसार ही आपका है। संसार के अन्दर हम सब और वे दोनो बालक भी हैं। वे तो आरम्भ से ही आप के हैं। हम देनेवाले कौन हैं। घर पहुँचते ही हम उन दोनों को आपकी सेवा में भेज देंगे। इसमें एक विचार मन में अवश्य उठता है, वह यह कि आप जैसे शास्त्रज्ञ महात्मा ही कहा करते हैं कि वंशविच्छेद पाप में शामिल है। यही कारण था, महामुनि सन्तरेण जी ने मेरे प्राणनाथ को सन्तानोत्पत्ति से पूर्व साधु होने की अनुमति नहीं दी।" मुनि जी माता सुलक्षणी के सारगर्भित उत्तर को सुन कर बोले, "तो अच्छा दोनो में से एक तो हमारा हुआ न" माता सुलक्षणी और भगवान् की मातामही ने मुनि की उक्त माँग को स्वीकार कर लिया। यह वार्तालाप हो ही रहा था-इतने में घर से सन्देश मिला कि दोनो बालक सकुशल लौट आए हैं। अब मुनि जी ने कहा, "माता जी हमें कौनसा बालक कब दिया जायगा ?" माता जी इसका उत्तर देने लगीं, "मुनिजी महाराज ! दोनो आपके ही हैं, जिसे आप आज्ञा करेंगे उसी को सेवामें भेज दिया जायगा !" मुनि जी ने कहा अच्छा अब कहने सुनने की आवश्यकता दिखाई नहीं देती, जिस पर हमारा ध्यान है वह हमें स्वयं ढूँढ लेगा। इसके बाद वे दोनो मुनि जी के चरणों में प्रणाम करके घर चली गईं।

## उच्चशिक्षाप्राप्ति के लिये भगवान् की काश्मीरयात्रा

भगवान् ने जब संस्कृत-स्वाध्याय के लिये अनुमति माँगते समय माता के आगे संसार से कुछ उपरति दिखाई तो उसी समय मुनि के उक्तवचन उन्हें स्मरण आ

गये। माता जी को विश्वास हो गया कि यही बालक मुनि जी का अन्वेषण कर उनसे गुरुमन्त्र लेगा और मुनिवेष धारण करेगा। अतः इसे पढने की ओरसे रोकना नहीं चाहिये। माता तब मन ही मन सोच रही थी कि संभव है, वेद और शास्त्रों के पढने से और महापुरुषों की सत्सङ्गति से यह बालक एक अद्भुत व्यक्ति बन जाय। संभव है इसी के सद्गुणों और तपश्चर्य्याओं से ये दोनों कुल विश्वविख्यात हो जायँ। धर्मात्मा पुत्र एक भी सारी कुल को तार सकता है। अतः पठनार्थ जारहे इस बालक को रोकना मानों जानबूझकर अपना अहित करना है। अन्त में माता ने कह ही दिया. "बेटा! तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ अनुकूलता हो पढने के लिये जा सकते हो। मेरी इस बात का स्मरण अवश्य रखना होगा कि कभी कभी अपनी इस माता को दर्शन अवश्य देते रहना"।

भगवान् ने कहा, "नहीं माता जी, मैं आपको भूलनेवाला नहीं हूँ। आपके स्मरण करते ही मैं सेवा में उपस्थित हो जाया करूंगा। आपकी आज्ञा सुनकर मेरा मन निहायत खुश हुआ है। माता जी! अपने सारे परिवार में एक आपही हैं जो मेरे मन के भावों को खूब पहचानती हैं, और तो सब के सब अपने अपने स्वार्थों में लिप्त होने के कारण मेरे सम्बन्ध में अपनी पृथक् २ सम्मतियाँ घड़ते हैं। आपने काश्मीर गमनार्थ आज्ञा देकर मुझे कृतार्थ कर दिया है। पुत्र तो वैसे भी माता के उपकारों से कभी उऋण नहीं हो सकता; परन्तु इस उपकार ने तो मुझे और भी आपका ऋणी बना डाला है।"

अब भगवान् ने माता की आज्ञा लेकर वहाँ अधिक दिन ठहरना उचित न समझा। एकदिन प्रातःकाल बाह्ममुहूर्त्त में माता के चरणों को छूकर आप काश्मीर की ओर रवाना हो गये। जाते समय माता ममता भरी आखों से भगवान् की ओर निहार रही थी। भगवान् भी कभी कभी पीछे की ओर ताक कर माता के पवित्र दर्शन कर लेते थे। भगवान् की माता सांसारिक मोहजाल से सर्वथा स्वतन्त्र थी। भगवान् का तो कहना ही क्या है। फिर भी माता से पृथक् होते समय भगवान् की आँखों से अश्रुओं की धारा बह निकली। इधर माता जी मुख से कुछ पढ रही थीं और अबतो उन की आखें भी आंसुओं से भर आईं। जब तक वे आंखों से ओझल न हो गये तब तक माता उनकी ओर खड़ी देखती रही। इस प्रकार माता से पृथक हो कर भगवान् अकेले ही जम्मू होते हुये काश्मीर जा पहुँचे।

( ३ तरङ्ग )

## आदर्श विद्यार्थी

काश्मीर में भगवान् ने स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। आपकी प्रतिभा देखकर आपके अध्यापक पण्डित पुरुषोत्तम कौल जी आपसे अधिक प्रसन्न रहते थे। अन्य विद्यार्थी इन पर गुरु की इस कृपा से इन से द्वेष करने लगे। विद्यालय के छात्र और अध्यापक आपको श्रीचन्द्रमौलि कहकर पुकारते थे। कुछ शरारती छात्र आपकी झूठी शिकायतें गुरु जी के पास पहुँचाने लगे। गुरु जी का आप पर दृढ विश्वास था, अतएव शिकायत करनेवालों को ही गुरु जी झिड़क देते थे। आप गुरु जी से पाठ पढ कर जङ्गल में चले जाते। पुस्तक बन्द करके अलग रख देते और आप आंखें बंद करके समाधिस्थ हो जाते। एक दिन एक विद्यार्थी ने आपको ऐसा करते समय

१९

देख लिया। वह सीधा गुरु जी के पास पहुँचा और कहने लगा, कि श्रीचन्द्रमौलि तो आपसे पाठ पढते ही बाहर चला जाता है। यह दिन भर कभी पाठ याद नहीं करता। गुरु जी को तो विश्वास था कि यह बालक प्रमादी नहीं है। यह अपना पाठ अवश्य याद कर लेता होगा। कहीं अन्य विद्यार्थी यह न समझें कि गुरु जी श्रीचन्द्र से पक्षपात करते हैं, और उसकी शिकायतों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते, अतएव गुरु जी ने आपसे पाठ सुनाने को कहा। आपने सारा पाठ सुना दिया। लड़कों ने कहा यह पाठ तो आज का है। पीछे का पाठ पूछ कर देखें। गुरु जी के पूछने पर आपने पीछे का पाठ भी सुनादिया। आपके मुख से पीछे का सारा पाठ आनुपूर्व सुनकर विद्यार्थी और गुरु जी चकित हो गये। एक ने कहा कि केवल पाठ ही पाठ आपके कण्ठ है, आपको किसी पाठ के अर्थ का ज्ञान नहीं। अतएव आजकल चल रहे शावरभाष्य के तर्कपाद की कोई फक्किका तो पूछ कर देखें। गुरु जी ने "औत्पत्तिकः" इस पञ्चम सूत्र की व्याख्या सुनाने को कहा। भगवान ने इसकी विस्तृत व्याख्या सुना दी। इसी में श्लोक-वार्तिक के भाव भी आ गये। यह सुन कर गुरु जी बहुत प्रसन्न हुये और शिकायती छात्रों का मुख नीचे की ओर झुक गया। तदनु श्रीचन्द्रमौलि तो गुरु जी को प्रणाम कर छात्रावास में चले गये, पीछे से गुरु जी और छात्र इनकी विलक्षण बुद्धि और अद्भुत प्रतिभा की चर्चा करने लगे। वार्तालाप में यह बात भी आ गई कि जिस सूत्र की व्याख्या उन से पूछी गई थी उसका पाठ अभी गुरु जी ने पढाया ही न था। इस पर गुरु जी बोले—हमें भी तो आश्चर्य इसी बात का है। बिना पढे हुये सूत्र की उक्त व्याख्या करना एक असाधारण विद्वान् का काम है। सचमुच यह क्षत्रिय वटु बहुत ही पटु है। इसकी स्मरण शक्ति अलौकिक है। स्वल्प ही दिनों में इसने समस्त शास्त्र कण्ठ कर लिये हैं। धन्य है इस की प्रतिभा! इस में यह एक और विशेषता है कि यह न तो किसी छात्र की स्वयं शिकायत करता है और न ही इसकी शिकायत करनेवाले पर यह रुष्ट ही होता है।

## शास्त्रार्थयोग्यता—परीक्षा

भगवान् अभी काश्मीर में ही थे। काशी का एक प्रौढ पण्डित घूमता घूमता काश्मीर आ निकला। वहाँ के विद्वानों को उसने शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा। उन दिनों में काश्मीर की विद्वन्मण्डली के प्रमुख भगवान् के गुरुजी थे। अतएव उनका नवागन्तुक पण्डित के साथ शास्त्रार्थ होना अनिवार्य्य था। पुरुषोत्तम कौल एक अद्वितीय विद्वान् था, शास्त्रार्थ के नाम से वह भी जरा हिचकता था। प्रतिभट चाहे कितना भी दुर्बल क्यों न हो, जबतक उससे मुठभेड़ होकर कोई निर्णय न हो जाय तब तक शक्तिशाली भट भी जय और पराजय के हर्ष और चिन्ता की झञ्झट में पड़ा रहता है। इन्हीं विचारों में पुरुषोत्तम जी चिन्ताग्रस्त-से हो रहे थे। इसी समय श्रीचन्द्रमौली जी वहाँ आ गये और गुरु जी को प्रणाम कर बैठ गये। गुरु जी को इस प्रकार दुविधा में पड़े देखकर आपसे पूछे विना न रहा गया। उत्तर में गुरु जी तो चुप रहे, निकटस्थ छात्रों ने बताया कि काशी का प्रसिद्ध विद्वान् सोमनाथ त्रिपाठी आजकल यहाँ काश्मीर में आया हुआ है। वह भारत भर में दिग्विजय करता हुआ यहाँ पहुँचा है। यहाँ की पण्डितमण्डली को

भी उसने शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित किया है। विद्वन्मण्डली की ओर से यह कार्य गुरु जी पर सौंपा गया है। गुरु जी पण्डित मण्डली से कह आए हैं कि नवागन्तुक पण्डित से शास्त्रार्थ हमारा शिष्य श्रीचन्द्रमौलि करेगा। अब गुरु जी भी बोल उठे, हां! बात वास्तव में यही है, और शास्त्रार्थ का स्थान अपना विद्यालय ही निश्चित हुआ है। भगवान् सब की बातें चुप होकर सुनते रहे। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। परस्पर एक दूसरे की ओर ताकने लगे। कुछ देर के बाद गुरु और शिष्यों में परामर्श होने लगा। श्रीचन्द्रमौलि जी अब भी चुपचाप बैठे सुनते रहे। मुकुन्द बोला. "गुरु जी! काशी के एक प्रौढ विद्वान् से शास्त्रार्थ करना कोई साधारण बात नहीं। आप श्रीचन्द्रमौलि की दिनरात प्रशंसा करते नहीं थकते। पण्डित लोग इस से अधिक चिड़ते हैं। आप अच्छी तरह सोच विचार लें। कहीं इसको आगे करवा कर ये लोग आपकी हँसी करवाना तो नहीं चाहते? मेरी तुच्छ सम्मति के अनुसार शास्त्रार्थ का कार्य एक अनुभवी विद्वान् का होता है, विद्यार्थीयों का नहीं। मैं तो निस्संकोच कहता हूँ, कहीं इसके साथ उस प्रौढ-विद्वान् के शास्त्रार्थ में काश्मीर की पुरातन मान मर्य्यादा धूलि में न मिल जाय"।

कृष्ण ने कहा "तो हम इसकी घरमें ही परीक्षा क्यों न करलें! भगवान् अब भी शान्त बैठे सुनते रहे। मुकुन्द बोला, "मैं आपकी उक्त युक्ति से पूर्णतया सहमत हूँ। परीक्षा का प्रकार मेरी अपनी सम्मति के अनुसार हो तो, सम्भव है अच्छा हो। वह यह है कि हम सब इस से भिन्न २ विषयों के प्रश्न पूछें। यदि इस ने हमारे सारे प्रश्नों के यथोचित उत्तर दे दिये तो निस्सन्देह विजय हमारा है।"

अब भगवान् मुसकुराकर बोले, "गुरु जी! आप इसे इतना कठिन कार्य क्यों समझ रहे हैं। ऐसे एक साधारण कार्य को इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। आप की कृपा होनी चाहिये, हम सब में से प्रत्येक उस दिग्विजयी को शास्त्रार्थ में हरा सकता है। यह मेरा अपना विश्वास है। आप को जिस पर अधिक विश्वास हो उसी का नाम ले दें। इस में किसी सङ्कोच की आवश्यकता नहीं है।"

गुरु जी ने कहा हमारा मन तो श्रीचन्द्र मौलि पर-अधिक विश्वास रखता है। अतः यह काम इसी के लायक है। छात्रों के सन्देह निवारणार्थ गुरु जी ने कहा कि आप सब लोग अपनी २ रुचि के अनुसार भिन्न २ विषयों पर इन से प्रश्न पूछें। मेरा अपना विश्वास है, श्रीचन्द्रमौलि आपके सब प्रश्नों का उत्तर यथोचित रूप में दे देगा। यह सुनकर मुकुन्द प्रभृति छात्रों ने व्याकरणादि शास्त्रों के जटिल प्रश्न पूछे। भगवान् ने उनके सब प्रश्नों का उत्तर संक्षिप्त और सरल भाषा में स्वल्प समय में ही सुनादिया। इस से गुरु जी की भाँति सब विद्यार्थियों को यह दृढ विश्वास हो गया कि श्रीचन्द्रमौलि शास्त्रार्थ में पीछे रहनेवाले नहीं हैं। सब को इस बात की अधिक खुशी थी कि एक दिग्विजयी के साथ उनका सतीर्थ और गुरु जी का विद्यार्थी शास्त्रार्थ करेगा।

## आदर्शविद्यालय

इधर यह हो ही रहा था इतने में काश्मीर की विद्वत्परिषत् के तमाम सभासद सोमनाथ त्रिपाठी को साथलिये इस ओर आ रहे दिखाई दिये। छात्रों ने अपना

वार्तालाप बन्द कर दिया और आरहे पण्डित मण्डल के सत्कारार्थ झटिति सामान तय्यार करना आरम्भ कर दिया। इतने में पण्डित लोग वहाँ आपहुँचे। पण्डित पुरुषोत्तम कौल जी और इनके छात्रों ने गृहागत पण्डितों का सहर्ष स्वागत कर उनको यथोचित स्थान पर बिठा दिया। एक ओर पण्डित मण्डिली विराजमान थी और दूसरी ओर विद्यालय के छात्र बैठे हुये थे। दोनो के बीच में विद्यालय के प्रधानाध्यापक और काश्मीर की विद्वत्परिषत् के प्रधान पण्डित पुरुषोत्तम कौल जी एक शुभ्र उच्चासन को भूषित कर रहे थे। कमरे में सन्नाटा छा रहा था। प्रतीत होता था यहां कोई है ही नहीं। किसी २ समय पण्डितों की परस्पर कानाफूसी इस नीरवता में कुछ बाधा पहुँचाती थी। आए हुए पण्डित छात्रों की ओर गहरी निगाह से देख रहे थे।

फलादि से विद्वानों का यथोचित आतिथ्यसत्कार हो जाने के अनन्तर पण्डित पुरुषोत्तम जी ने कहा, "मैं आप लोगों का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ कि आपने यहाँ पर पधार कर अपने पवित्र चरणों से हमारे इस विद्यालय को पवित्र कर दिया। हमारे सुकृत का फल है कि हम आप जैसे विद्वानों का दर्शन कर रहे हैं।" सोमनाथ त्रिपाठी पण्डित जी की नम्रता, उदारता और निरभिमानता की प्रशंसा करने लगा। इतने में एक नवागन्तुक विद्वान् ने कहा, "मैं त्रिपाठी जी के साथ भारत के प्रायः प्रधान प्रधान नगरों में भ्रमण कर आया हूँ। विद्यालय भी देखे, अध्यापक भी बहुत से देखे और छात्रों के दर्शन भी हुये परन्तु यहां के छात्र और अध्यापक अपने ढंग के निराले ही हैं। मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यहाँ के विद्यालय की हरएक चीज आदर्श एवम् अनुकरणीय है।"

## श्रीचन्द्रमौलि का एक दिग्विजयी पण्डित से शास्त्रार्थ

पण्डित दिवाकर जी ने कहा, "समय पर्य्याप्त हो चुका है अब शास्त्रीय विचार चलना चाहिये। सोमनाथ त्रिपाठी एक ओर बैठा अपनी मूछों पर ताव दे रहा था। पता नहीं मन ही मन क्या सोच रहा था। पण्डित दिवाकर ने त्रिपाठी जी से पूर्वपक्ष करने के लिये सादर प्रार्थना की। त्रिपाठी जी परिष्कारों की वर्षा करने लग गये। त्रिपाठी जी की संस्कृत धाराप्रवाह चल रही थी। दो तीन घड़ी तक वे बोलते ही गये। अन्त में इति कह कर चुप हो गये। त्रिपाठी के अश्रुतपूर्व परिष्कारों को सुनकर स्थानीय पण्डितों के सिर में चक्कर आने लगे। पण्डित दिवाकर जी तो दान्तों तले अङ्गुली दबाए त्रिपाठी जी की ओर एक दृष्टि से देख रहे थे। कई एक पण्डितों को तो यह दृढ विश्वास हो गया कि त्रिपाठी के पूर्वपक्ष का समाधान करनेवाला कोई काश्मीर में है ही नहीं। पण्डित कौल जी भी जरा घबरा-से गये परन्तु अब क्या हो सकता था। विद्वानों के आगे जो कुछ कह बैठे थे उसे तो निभाना आवश्यक था। पण्डित जी का श्रीचन्द्रमौलि पर पूरा भरोसा था। त्रिपाठी के मुख से पूर्वपक्ष सुनने से पूर्व पण्डित जी ने यह सोचा था कि त्रिपाठी जी व्याकरण या न्याय का कोई खरड़ा पूछेंगे। इसका उत्तर हमारा श्रीचन्द्रमौलि आसानी से दे देगा। पण्डित जी का यह ख्याल न था कि त्रिपाठी ऐसे पत्थर फेंकेगा जिनका टूटना एक कठिन कार्य होगा। त्रिपाठी के पूर्वपक्ष को हम वेदवेदाङ्गादि समस्तशास्त्रों की खिचड़ी कह सकते हैं। नहीं तो अबतक कभी

के पण्डित जी श्रीचन्द्र को पूर्वपक्ष का उत्तर देने के लिये इशारा कर देते परन्तु उन्हें इस वात की अधिक चिन्ता हो रही थी कि पूर्वपक्ष अधिकतया ऐसे शास्त्रीय विषयों पर था जो आजतक कौल जी ने श्रीचन्द्रमौलि को नहीं पढाए थे। गुरु जी को इस दुविधा में पड़े देखकर भगवान् से न रहा गया और वोल ही उठे, "गुरु जी, आपकी क्या आज्ञा है ?"। गुरु जी ने कहा, "आप जानते ही हैं" भगवान् इतना ही कहाना चाहते थे। उधर पण्डितमण्डली निराश-सी हो रही थी। विशेषतया कौल जी की चिन्ता ने तो स्थानीयपण्डितों को और भी चिन्ता में डाल दिया था। छात्रों के चेहरों पर भी उदासीनता की झलक दिखाई पड़ती थी। त्रिपाठी जी और उनके साथियों का तो प्रतिपल खुशी से खून वढ रहा था। भगवान् यह सव कुछ तटस्थ बैठे देखते रहे। अव जव गुरु जी ने यह कह दिया कि आप जानते ही हैं तो श्रीचन्द्रमौलि के प्रसन्नवदन से शव्दरूपी मोतियों की वर्षा होने लगी। आप प्रत्येक वाक्य के अन्त में जरा मुसकुरा देते थे। इस से स्थानीय पण्डित मण्डली और छात्र तो हर्षित हो उठते थे और त्रिपाठी और उनके साथियों में यह आपकी मुसकुराहट वर्छी की भाँति काट कर जाती थी। आपके शुद्ध उच्चारण और भावप्रधान भाषा पर श्रोतागण मुग्ध हो रहे थे। ज्यों ज्यों श्रीचन्द्रमौलि वोलते वोलते त्रिपाठी के पूर्वपक्ष को खण्ड खण्ड करते जाते थे त्यों त्यों गुरु जी का हर्ष अपनी सीमा से वाहर होता चला जाता था। स्थानीय पण्डित और छात्र भगवान् के प्रसन्न वदन की ओर एक दृष्टि से देख रहे थे। किञ्चित् काल में ही भगवान् ने त्रिपाठी के पूर्वपक्ष को दुहराकर संक्षिप्त शव्दों में उसका उत्तर दे दिया। इस उत्तर को विद्वत्परिषत् ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, जिसमें त्रिपाठी जी के साथी भी शामिल थे। अव विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ भगवान् ने उस पूर्वपक्ष को अनुपपन्न ठैहराना आरम्भ किया। त्रिपाठी जी इसका विरोध करने लगे। पण्डित दिवाकर जी ने साञ्जलि कहा, "त्रिपाठी जी, आप क्षमाकरें, आप अपने समय में जो चाहें वोले परन्तु जवतक एक विद्वान् वोल रहा है तव तक आप का वोलना अनुचित है।" त्रिपाठी जी लज्जित-से हो कर बैठ गये। भगवान् की गीर्वाणवाणी का अविच्छिन्न धाराप्रवाह चल रहा था। श्रोताओं को अपनी भी सुध न थी। भगवान् की वक्तृता में श्रोताओं के ब्रह्मास्वाद-सहोदर आनन्द का अनुभव हो रहा था। अन्त में भगवान् त्रिपाठी के पूर्वपक्ष की धज्जियाँ उड़ाकर बैठ गये। इस समय फिर पूर्ववत् कुछ देर सर्वत्र सन्नाटा छागया। वडे वड़े पण्डितों का मन भगवान् के चरणों की ओर झुक गया। तमाम विद्वान् 'वरं वरम्' कह उठे। काश्मीर के वृद्ध पण्डित कमलाकान्त व्याकरण केसरी ने कौल जी से कहा, "पण्डित जी, इसे आप एक साधारण विद्यार्थी मत समझना। ये तो चतुर्दश विद्याओं के उपदेष्टा स्वयं भगवान् शङ्कर हैं"। इसके वाद सभा का कार्य समाप्त हुआ और विद्वान् लोग श्रीचन्द्रमौलि का गुणगान करते २ अपने २ घर चले गये।

## त्रिपाठी को स्वप्न में दर्शन

पाठकों को विदित ही होगा इस समय भगवान् की अवस्था १४ वर्ष की थी। इतनी कम उमर में इतने वड़े विद्वान् से टक्कर लेना साधारण वात न थी। पाठकों को इस वात से चकित न होना चाहिये; क्योंकि भगवान् तो काश्मीर में पढने

का एक वहाना वना रहे थे। हम पहिले वता आये हैं, श्रीचन्द्रमौलि साक्षात् शङ्कर थे। इन से कौनसा शास्त्र अपरिचित था। हमें यह बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि त्रिपाठी एक वार मुंह की खाकर भी न समझा। वह फिर भी शास्त्रार्थ के लिये उद्यत ही रहा। वात वास्तव से यह थी कि उसने वनारस में रह कर निरन्तर वहुत वर्ष सारे शास्त्रों का स्वाध्याय वड़े घोर परिश्रम से किया था। अतएव उन दिनों में उस जैसा सँस्कृत का कोई भी विद्वान् भारतवर्ष में न था। उसे अपनी विद्या पर पूर्ण भरोसा एवं अभिमान था। परन्तु विचारा करे तो क्या करे, यहां तो प्रतिद्वन्द्विता उससे थी जिससे इन शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। आखिर त्रिपाठी था तो एक मनुष्य ही, अतएव भगवांन् के स्वरूप को शीघ्र न पहचान सका।

त्रिपाठी के अधिक अनुरोध से दुवारा शास्त्रार्थ के लिये एक दिन और निश्चित हुआ। शास्त्रार्थ के दिन से पूर्व रात्री को सोते समय त्रिपाठी भगवान् विश्वनाथ से यह प्रार्थना करते करते सो गये कि कल को शास्त्रार्थ में हम विजयी हों। रात्रि के तीन वजे त्रिपाठी स्वप्न में काशी के विश्वनाथ के मन्दिर में पहुँचा। वह स्वप्न में ही भगवान् शङ्कर की मूर्ति के आगे नेत्र वन्द करके प्रार्थना करने लगा। अन्त में वह क्या देखता है, भगवान् विश्वनाथ के स्थान में भगवान् श्रीचन्द्रमौलि प्रसन्नवदन से मुसकुरा रहे हैं। इन्हें देखते ही त्रिपाठी को पसीना आ गया और मारे घवराहट के उसकी आंखें खुल गईं। निद्रा की स्वप्नावस्था दूर हुई और वे जाग उठे। उसी समय स्नान ध्यान करके पूजा करने वैठ गये। वास्तव में गतदिवस के प्रश्नोत्तर से त्रिपाठी जी समझ चुके थे कि काश्मीर पर विजय पाना वालकों का खेल न था। विशेषतः उन्हें इस वातका अधिक खेद था कि सारे भारत की दिग्विजय का यश काश्मीर के एक साधारण विद्यार्थी से परास्त हो जाने से धूर में मिल जायगा। अतएव श्रीचन्द्रमौलि का नाम सुनते ही वह घवरा उठता था। स्वप्नमें दर्शन के समय भी उसकी वही दशा हुई। भगवान दयालु थे। स्वप्न में दर्शन देकर उसे समझाना चाहते थे; परन्तु उसके अदृष्टों ने ऐसा न होने दिया। त्रिपाठी के मन पर रात्रि के स्वप्न का कोई प्रभाव न हुआ; क्योंकि उसने इसे एक साधारण स्वप्न जानकर भुला दिया।

## द्वितीय शास्त्रार्थ

### त्रिपाठी की मोहनिद्रानिवृत्ति और क्षमाप्रार्थना

प्रातःकाल नियत समय पर त्रिपाठी को साथ लेकर पण्डितमण्डली सभा-भवन में पहुँच गई। गुरु जी की आज्ञानुसार भगवान् श्रीचन्द्रमौलि जी भी सभा में आ पहुँचे। विद्यालय के शिष्टाचार के अनुसार भगवान् ने प्रथम गुरु जी के चरणों में साञ्जलि प्रणाम किया। फिर उपस्थित अन्यविद्वानों को यथोचित नमस्कारादि कर वे अपने नियत आसन पर जा वैठे। सभाभवन में श्रीचन्द्रमौलि का प्रवेश होते ही त्रिपाठी जी के तो होश ठिकाने न रहे। वह मन ही मन सोच रहा था कि यह तो वही है जो रात्रि का स्वप्न में काशी के विश्वनाथ के मन्दिर में भगवान् शङ्कर के स्थान पर वैठा हँस रहा था। अस्तु! इस वार भी त्रिपाठी की अकल पर पड़दा ही पड़ा रहा। वह साक्षात् देखता हुआ भी न पहिचान सका।

जबकभी भगवान् की और त्रिपाठी की परस्पर दृष्टि मिल जाती थी तो भगवान् झट मुसकुरा देते थे। त्रिपाठी के दुखित एवं निराश हृदय में भगवान् की मुसकुराहट भाले की तरह लगती थी। अगर विचारा जाय भगवान् का उससे कोई व्यक्तिगत द्वेष न था, वल्कि वह तो शङ्कर का उपासक होने के कारण उनका प्रेमी था। इस समय तो वह अपनी ही अज्ञता के कारण दुखी हो रहा था। भगवान् ने तो उसे समझाने के लिये अवसर दिया; परन्तु उसकी विद्वता के अभिमान ने उसे ऐसा समझने से रोक रक्खा—अर्थात् त्रिपाठी अवतक भी भगवान् को एक साधारण विद्यार्थी ही समझता रहा।

गतदिवसकी तरह आज भी कौलजी की ओर से फलादि से पण्डितों का सत्कार किया गया। इसके वाद पण्डित दिवाकर जी ने साञ्जलि प्रार्थना की कि सभा की कार्रवाई आरम्भ होनी चाहिये। यह सुनते ही त्रिपाठी जी वादी के सिंहासन पर जा विराजे। इधर गुरु की आज्ञा होते ही भगवान् ने भी प्रतिवादी के आसन को जा विभूषित किया। यह देखकर त्रिपाठी जी का मुँह सूख गया और सिर में चक्कर आने आरम्भ हो गये। इधर भगवान् अपने आसन पर सस्मित और प्रसन्नवदन वैठे रहे। विद्वन्मण्डली आपकी अलौकिक मुसकुराहट पर मुग्ध हो रही थी। उस समय भगवान् का मुखकमल किसी अलौकिक तेज से घिरा हुआ दीखता था। विशेषत: यही दर्शकों के आल्हाद का कारण था।

अव समय पर्य्याप्त हो चुकाथा। शास्त्रार्थ के मध्यस्थ पण्डित ने विप्रतिपत्ति की, "ईश्वरोऽस्ति नवा"। मध्यस्थ की ओर से त्रिपाठी जी को एक पक्ष ले लेने को कहा गया। त्रिपाठी जी को अपनी विद्या का वड़ा अभिमान था। अतएव उन को यह विश्वास भी था कि वे असत् को भी सत् सिद्ध कर सकते हैं। यही कारण था कि उस समय त्रिपाठी जी ने नास्तिपक्ष को चुन लिया। लगभग दो तीन घड़ी तक वे अपने पक्ष का उपपादन करते रहे। आज के शास्त्रार्थ में नई वात यह थी कि त्रिपाठी जी वीच में वोलते २ रुक जाते थे। कुछ ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई उनके कान में कह रहा हो, "क्यों वृथा अनधिकार चेष्टा कर रहे हो, क्या तुम भूल गये हो—" असन्नेव स भवति" इस पर त्रिपाठी जी भी एक वार तो घवरा उठते परन्तु फिर भी अपने विद्या के अभिमान से वोलते ही चले जाते थे। जव त्रिपाठी जी अपने वक्तव्य को समाप्त कर चुके तो श्रोताओं की दृष्टि एकदम भगवान पर पड़ी। यह देख भगवान् मुसकुराने लगे। मध्यस्थ ने भगवान् से अपना वक्तव्य आरम्भ करदेने को कहा। सस्मित और प्रसन्नवदन भगवान् अपनी मीठी आवाज से लगे सुधावृष्टि करने। भगवान् का वक्तव्य आरम्भ होते ही श्रोताओं के आह्लाद का ठिकाना न था। भगवान् का विषय दार्शनिक होने पर भी उन की भाषा नीरस न थी। पद पद से भाषासौंदर्य्य टपक रहा था। श्रोतालोग सद्यःपरनिर्वृत्ति का अनुभव कर रहे थे। भगवान् की सरस गीर्वाणवाणी सुनते २ उपस्थित विद्वानों को लोकोत्तर आनन्द आ रहा था। हृदय की गम्भीर और सात्त्विक भावुकताओं से लवालव भरे भगवान् के वाक्य श्रोताओं के हृदय में अद्भुत आनन्द का सञ्चार कर रहे थे। भगवान भी तो उस समय भावों की उपरि सतह को छोड़कर उनकी अन्तस्तल तह तक पहुँच रहे

थे। भगवान् की भाषा का स्वाभाविक सौंदर्य उनके ईषद्धास्य से अधिक चमक जाता था। कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रयोग उनके वाक्य विन्यास में कभी भूल कर भी न आता था। माधुर्य्य और प्रसाद ये दो गुण भाषा को सरस बनाने के कारण हैं। भगवान की भाषा में उक्त दोनों का ही साम्राज्य था। अतएव आपकी वक्तृता की सरसभाषा का श्रवण कर के काव्यमर्मज्ञ पण्डित लोग कभी आंखें वन्द कर सुनने लग जाते थे और कभी फिर उन्हें अपने नेत्र खोल लेने पड़ते थे। उनके नेत्र खोलने और वन्द करने में भी एक रहस्य था। यदि वे नेत्र वन्दकर भगवान की वक्तृता का रसास्वादन करने लग जाते थे तो वे उनके मनोहर दर्शन से वञ्चित हो जाते थे। जब आंखें खोल लेते तो भगवान् के अद्भुतदर्शनों की मस्ती में वे वक्तृता के आनन्द को खो बैठते थे। इस भावद्वय की साम्यावस्था में वे अपने आपको कृतार्थ समझ रहे थे। त्रिपाठी जी की तरह भगवान् की वक्तृता नीरस, और इतनी लम्बी न थी। भगवान् ने स्वल्पकाल में ही त्रिपाठी के पूर्वपक्ष का अनुवाद करके और उससे भी कम समय में उसका शास्त्रसम्मत और युक्तियुक्त उत्तर दे दिया*। उपस्थित विद्वानों ने भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। इतने बड़े पूर्वपक्ष का इतनी जल्दी और ऐसे सारगर्भित शब्दों में उत्तर सुनकर पण्डितलोग चकित हो गये। जब भगवान् त्रिपाठी के प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे तो त्रिपाठी जी मन ही मन पछता रहे कि कहाँ पर आकर दैव ने धोखा दिया है। भगवान् के चुप हो जाने के बाद वह फिर बोलने की धृष्टता करने लगा। इस वार पता नहीं उसे क्या हो गया, दो चार शब्दों के बोलते ही वह अपने आसन से उठकर भगवान् के चरण छूने के लिये दौड़ा+। विद्वानों की सभा में भगवान् ने उसकी यह चेष्टा मर्यादाविरुद्ध समझी। अतः वे उसके वहाँ पहुँचने से पूर्व ही अपने आसन से उठे और गुरु जी से आज्ञा ले जङ्गल की ओर चल दिये।

भगवान् के बाहर चले जाने पर त्रिपाठी जी वहीं पर नेत्र वन्द करके लगे ऊँचे स्वर से पढ़ने—

---

*अवच्छिन्नपूर्वजानुभव, कार्य्य, विश्वरचनाप्रकार (तरकीव) सन्निवेश (तरतीव) धृति, सूर्य्यादिनियन्त्रण, प्राणभृच्चरितसुकृतदुष्कृतफलवितरणादितः सिद्धं निष्प्रत्यूहं भगवदस्तित्व मनाशङ्कनीयम् ॥

+ बात दरअसल यह थी कि सभाभवन में अच्छे २ गुणी, विद्वान्, और रामकृष्णादिकों के चित्र चारों ओर लगे हुये थे। जहाँ पर पण्डित लोग बैठकर शास्त्रार्थ करते थे वह स्थान अधिकतर सरस्वती, ब्रह्मा, गणपति, शङ्कर और शक्ति आदि देवताओं के चित्रों से सुसज्जित था। दैवात् त्रिपाठी जी के सामने की दीवार पर भगवान् शङ्कर का चित्र था। भगवान् जब त्रिपाठी के प्रश्नों का उत्तर दे चुके थे तो त्रिपाठी फिर बोलने की अनधिकारचेष्टा करने लगा। अकस्मात् उसकी दृष्टि उस चित्र पर चली गई जिस को उसने एक बार पहिले भी देखा था। परन्तु इसबार उसकी दृष्टि वहाँ पहुँचते ही उसका अज्ञानावरण दूर हो गया। उस चित्र में उसने भगवान् शङ्कर के स्थान पर भगवान् श्रीचन्द्रमौलि को देखा। यह देखते ही उसके शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। रात्रि के स्वप्न का दृश्य भी उसकी आखों के आगे आकर नाचने लगा। अब उससे न रहा गया और अपनी धृष्टता के लिये क्षमाप्रार्थनार्थ वह भगवान् के चरणों की ओर बढ़ा ही था कि इतने में भगवान् स्वयं ही उठकर चलदिये।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वी,
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तदपि तव गुणानाम्— 'ईश, पारन्न याति।

यह श्लोक पढकर त्रिपाठी जी उस चित्र के आगे दण्डवत् लेट गये। बहुत देर तक वे कुछ मन ही मन पढते रहे और अन्त में ऊँचे स्वर से उन्हों ने यह तीनवार पढा—

देवदेव विरूपाक्ष नीलकण्ठ नमोऽस्तु ते।
तत्क्षमस्व महादेव! पाहि मां करुणानिधे!

जब त्रिपाठी जी उस चित्र के नीचे लेटे थे तो उस समय उपस्थित विद्वानों की दृष्टि का उस चित्र की ओर जाना स्वाभाविक था। उस चित्र में भगवान् श्री चन्द्रमौलि के प्रसन्नवदन की प्रतिकृति देखकर सब लोग चकित रह गये। अन्त में भगवान् के गुरु कौल जी ने सब को बताया कि श्रीचन्द्रमौलि तो भगवान् शङ्कर का अवतार हैं। यह सुनकर सब पण्डित जय २ कहते हुये और अपने आपको कृतार्थ समझते हुये अपने अपने घरों को चल दिये।

### "भगवान् भक्त के वश में होते आए"

सभाभवन बन्द होनेवाला था अतः त्रिपाठी जी भी जिस ओर भगवान् गये थे उसी ओर चल पड़े। बहुत देर तक जब भगवान् ढूँढने से न मिले तो त्रिपाठी जी भगवान् के पवित्र दर्शनों की पिपासा से व्याकुल होकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये और भगवान् का ध्यान करने लगे। त्रिपाठी जी शाम तक वहीं बैठे भगवान् का ध्यान करते रहे। मध्यान्ह के बाद त्रिपाठी जी के साथी उन्हें ढूँढते २ वहां आ पहुँचे। क्या देखते हैं, त्रिपाठी जी पद्मासनस्थ होकर नेत्रबन्द किये, हर, हर, महादेव, कद्रुद्राय प्रचेतसे, ओं साम्बाय शिवायनमः का निरन्तर जाप कर रहे हैं।

उनके साथियों ने आते ही सोमनाथ त्रिपाठी से पूछना आरम्भ किया—

एक—क स श्रीचन्द्रमौलिः? किमुपलब्धस्त्वया?

त्रिपाठी—स तु सर्वत्रास्ति। ममात्मैव सः, नहि मां विहाय शक्नोति क्वचिद्गन्तुम्। इस प्रश्नोत्तर के बाद वे इन्हें नगर में चलने के लिये बाध्य करने लगे त्रिपाठी ने कहा जबतक भगवान् स्वयं यहाँ आकर मुझे दर्शन नहीं दे देते; तबतक मेरा यहाँ से उठना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह निराशा जनक उत्तर सुन कर वे वापिस आ गये। त्रिपाठी जी फिर अपने ध्यान में मस्त हो गये। सूर्य्यास्त होगया और रात्रि का अन्धेरा चहुँ ओर फैलने लगा। आवासवृक्षोन्मुख पक्षियों के कलरव से दिशाएँ गूँज उठीं मानों वे परमात्मा का धन्यवाद कर रहे थे। शीघ्र ही उस सघन वन में चारों ओर नीरवता का निष्कण्टक राज्य स्थापित हो गया। कभी २ मृदु पवन के झकोरों से गगनचुम्बी वृक्षों के पत्तों से शां शां की आवाज आती थी।

त्रिपाठी भगवान के ध्यान में मस्त था। कभी २ वन्य जन्तुओं की भयानक आवाजें—सिंहों की गर्जना और हाथियों का चीत्कार त्रिपाठी के कानों में आ प्रविष्ट होता था। त्रिपाठी जी का मन भगवान् के चरणों में आसन जमाए बैठा था। उसे एक शेर तो क्या संसारभर के शेर भी डराने में तब असमर्थ थे। चन्द्रमा भी अपनी शुभ्रज्योत्स्ना से धरातल को सिञ्चित करता हुआ निकला। इसी समय भगवान् भी अपनी योग करने की गुहा से उसी मार्ग से लौट रहे थे जिसके एक ओर सोमनाथ त्रिपाठी मध्यान्ह के पूर्व से वहाँ बैठ रहा था। भगवान् जब चुपचाप आकर त्रिपाठी के पास खड़े हो गये तो त्रिपाठी के मन के भगवान् वहाँ से अदृश्य हो गये। अतः उसे नेत्र खोलने पड़े। वह देखता क्या है! जिनके दर्शनार्थ अबतक उसके मानसिक चक्षुओं ने घोर परिश्रम किया साक्षात् वे ही अब आगे आ उपस्थित हुये। सोमनाथ त्रिपाठी भगवान् के चरणों पर लेट गया और अपनी धृष्टता के लिये वह क्षमाप्रार्थना करने लगा। भगवान् ने कहा-इस से हमें कोई रञ्ज नहीं। क्योंकि हमें व्यावहारिक दशा में सब कुछ करना पड़ता है। देख! तू तो हमारा भक्त है, इस लिये हमने तेरे को समझाने लिये कई अवसर दिये। जब तुम स्वयं न समझे तो हमने भी यत्न करना छोड़ दिया। अब त्रिपाठी जी बोले 'मुझे तब विश्वास होगा कि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, यदि आप उसी स्वरूप में मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें जिसका मैं प्रतिदिन ध्यान करता हूँ'। भगवान् ने अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिये अपना वैसा ही रूप बना लिया। अब तो त्रिपाठी के आल्हाद की सीमा न रही। वह दौड़ कर भगवान् के चरणों को लिपट गया। भगवान्ने कहा, "देखो त्रिपाठिन्! अब देर मत करो' हमें भी पीछे जाना है। आप जाओ काशी लौट जाओ"। त्रिपाठी ने कहा, "भगवन्! अब जाना कहां है? मैं तो अपने ध्येय तक पहुँच चुका हूँ। मेरा आपकी सेवा से पृथक् होना अब असम्भव है। भगवान् ने कहा—नहीं; ऐसा करना उचित नहीं। हमें अभी यहां कुछ और काम है। जैसे हम कहते हैं, वैसे ही आपको करना उचित है। हम कुछ समय के बाद तीर्थयात्रा करते २ काशी पहुँचें गे। तबतक तुम भी अपने कौटुम्बिक भार से कुछ हलके हो जाओ गे। तब यदि तुम्हारी उत्कट इच्छा होगी तो हम आपको अपनी सेवा में रखलें गे" त्रिपाठी ने अपना हठ न छोड़ा, तब भगवान् वहाँ से अदृश्य हो गये। त्रिपाठी हाथ मलता २ उठ खड़ा हुआ और भगवान् के आदेशानुसार दूसरे दिन ब्राह्ममुहूरत में काशी की ओर चल दिया।

## एकान्तवास और मुनिप्रतीक्षा

इसके बाद भगवान् ने विद्यालय जाना छोड़ दिया और वे दिनभर जङ्गल में तप करते और रात्रि को अपने गुरु जी के यहां से कुछ खाद्य पदार्थ लेकर फिर वहीं वापिस चले जाते। इसका प्रधान कारण यह था कि दिन के समय यदि नगर के लोगों को भगवान् का पता चल जाता तो सहस्रों नर नारी उनके दर्शनार्थ वहां को चल पड़ते। इसे वे पसन्द न करते थे। दूसरे यह था कि अब वे वेद शास्त्रों का स्वाध्याय समाप्त कर चुके थे और घर की ओर जाने का उनका सँकल्प ही न था, अतः वे अब आश्रमपरिवर्तन की धुन में थे। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से देख लिया था कि कुछ दिनों में वहां पर अविनाशी मुनि आनेवाले हैं। अतएव वहाँ पर वे मुनि जी की प्रतीक्षा में रहने लगे।

महामुनि अविनाशी १५७९ वि० में अमरनाथ की यात्रार्थ काश्मीर पहुँचे। यह बात पाठक अविनाशी मुनि के जीवन में पढ ही आए हैं कि मुनि जी यात्रा में जहां कहीं ठहरते वहीं पर लोगों को धर्म्मोपदेश देते और उन्हें संगठन के महत्त्व को भी खूब समझाते। इस समय तक अविनाशी मुनि जी अटक से कटक तक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक पैदल भ्रमण करके भारत की धार्मिक और नैतिक स्थितियों का पूरा २ अध्ययन कर चुके थे। अतएव काश्मीरी जनता के आगे जो उनके सदुपदेश हुये वे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। काश्मीर में मुनि के दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लगी रहती थी। महामुनिजी प्रतिदिन सदुपदेश सुनाकर स्थानीय जनता को कृतार्थ करते थे।

एक दिन सायंकाल, जब भगवान् जङ्गल से लौटकर गुरु जी के घर पहुँचे तो गुरु जी ने उन्हें अविनाशी मुनि के आगमन का वृत्तान्त कह सुनाया। भगवान् सब कुछ जानते हुये भी मुनि के सम्बन्ध में गुरु जी से कई बातें पूछने लगे। गुरु जी ने कहा कि हमने तो आजतक ऐसा विद्वान् और देश तथा जाति का हित-चिन्तक चतुर्थाश्रमी महात्मा देखा ही नहीं। उनका सदुपदेश अपने ही ढंग का है। गुरु जी के मुख से मुनि जी की प्रशंसा सुनकर भगवान् भी अगले दिन अविनाशी मुनि के सदुपदेशश्रवणार्थ नियतसमय पर वहाँ पहुँच गये।

## काश्मीर में अविनाशीमुनि का धर्मोपदेश

लोगों की भीड़ काफी थी; परन्तु सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य था। मुनिने अपना उपदेश आरम्भ किया। "श्रोतृगण! आप यह सुन कर हर्षित होंगे कि भारतभूमि संसार भर में एक पवित्र स्थान है। संसार भर के विज्ञान की जन्मदात्री यही तो है। संसार के आदिम धर्मपुस्तक वेद प्रभु की प्रेरणा से यहां की पवित्र नदियों के तट पर तप कर रहे ऋषि मुनियों को ब्रह्मा जी की दया से प्राप्त हुये। मानव सभ्यता के विकास का केन्द्र यही भूमि है। यहां के महापुरुषों का सदाचार संसार भर के मानवसमाज का आदर्श रहा है। आदर्श में विकृति आते ही जनसमूह का अपने सन्मार्ग से विचलित होना एक नैसर्गिक बात है। अतएव समय समय पर भगवान् स्वयं इसकी देखरेख करते आए हैं। प्रकृति के नियमानुसार संसार की कोई भी वस्तु अपने उसी रूप में नहीं रह सकती। अतः इसी नियम के अनुसार हमारे यहाँ भी परिवर्तनों का होना स्वाभाविक है। परिवर्तन की तह में उन्नति और अवनति, ये दोनों छिपी हुई होती हैं। परिवर्तन के आते ही जीवों के अदृष्ट और राष्ट्र की परिस्थिति के अनुसार उन दोनों में एक, उन्नति या अवनति अपना सिर ऊँचा कर लेती है। हमने आप लोगों को कल के उपदेश में बताया था कि मानवसमाज नैतिक उन्नति के शिखर पर पहुँचकर भी वह अपने आप को सन्तुष्ट नहीं पाता। उसे वहां से पीछे हटकर अध्यात्मविद्या का श्रीगणेश करना पड़ता है। मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य इसी विद्याके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परम पुरुषार्थ ही हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इस तक पहुँचने के लिये हमें पूर्ण यत्न करना चाहिये। सौभाग्य की बात है, हमारे ऋषियों और मुनियों ने हमारे लिये यह मार्ग बहुत साफ कर दिया है। जिसके लिये हम और भावी

सन्तानें उनकी आभारी हैं। मनुष्य के लिये संसार में सब से बढकर यदि कोई उसके लिये हितकर कार्य है तो वह है आत्मोन्नति। आजकल बहुत से लोगों का विश्वास इस पर कम होने लगा है। इसका भी एक कारण है। प्रत्येक औषधि बीमार को अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रह सकती यदि वह उसके नियमानुसार देश, और काल के सहारे पर किसी चतुर वैद्य के द्वारा तय्यार की गई है। यही बात इधर भी ह। स्मरण रहे यदि कोई राष्ट्र आध्यात्मिक उन्नति में आगे बढना चाहता है तो उसे प्रथम भौतिक उन्नति के सिखर तक पहुँचना आवश्यक है। स्मरण रहे, किसी राष्ट्र के जीवित रहने में प्रकृति की ओर से जो जो चीज़ें परमावश्यक हैं, उनमें से किसी एक में भी किञ्चित् त्रुटि आते ही समाज पतन की ओर रुख कर लेता है। धीरे २ वह महामारी बढती बढती राष्ट्रकी नस नस में फैल जाती है। राष्ट्र के रुग्ण होते ही उसकी हरेक तरह की उन्नति बन्द हो जाती है। संसार की अन्य शक्तियाँ तब उसे कुचल देती हैं और वह इस संसार से सदा के लिये चल बसता है-अर्थात् वह अपनी पुरातन सभ्यता को खोकर किसी नये परिवर्तन में बह जाता है।

काश्मीरवासियो ! हमें यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि प्रकृति ने जिस प्रकार इस प्रान्त को अपने सौंदर्य का भण्डार बना डाला है, उसी प्रकार यहाँ के लोगों के स्वच्छ हृदयों को सद्गुणों का घर बना दिया है। हरिचिन्तन, सत्सङ्गति और अध्यात्मविद्या द्वारा आत्मोन्नति में अटल विश्वास ही हमारी वास्तविक उन्नतिका मूल है। इस समय हम भारत भर का भ्रमण कर के यहाँ आए हैं। आप को यह सुन कर खेद होगा कि इस समय इस पवित्र भारतभूमि की स्थिति डमाडोल हो रही है। बहुत सी अन्दरूनी बीमारियां दिनरात इसके बल का नाश कर रही हैं। परमात्मा ऐसा न करे इसका भविष्य भी कुछ और ही प्रकार का नज़र आ रहा है।

देशभर के भ्रमण से हमने इसकी परिस्थिति का अच्छीतरह अध्ययन कर लिया है। उसके अनुसार हमारी ओर से आप लोगों को यही सन्देश है कि आप लोग अपने श्रौतधर्म पर दृढ विश्वास रखते हुये पूर्ण ईश्वर भक्त बनें। परस्पर के घरेलू झगड़ों को जहाँतक हो सके शीघ्र ही मिटा दो। परमपिता परमात्मा से प्रतिदिन यह प्रार्थना किया करो कि वे पहले की तरह अब भी आपके देश और धर्म की रक्षा के लिये अपनी ओर से किसी महापुरुष को भेजें। समाज का विकार व्यक्तियों के नाश का कारण हो जाया करता है। अतः इस समय जातिविकार का नाश करके आपका कर्तव्य है कि आप लोग नैतिकसुधार की ओर भी यथाशक्ति बढें। तब आप आत्मोन्नति की ओर जा सकते हैं। और इस समय वास्तविक शान्ति या परमपुरुषार्थ पाने का केवल उक्त मार्ग है"। मुनि जी यह कह कर चुप हो गये। लोग जय जयकार करते हुये अपने अपने स्थान को चल दिये। भगवान् वहाँ से उठकर गुरु जी के घर से कुछ खाद्यपदार्थ लेकर अपने उसी जङ्गल में जा प्रविष्ट हुये।

## ( ४ तरङ्ग )

# गुरुशिष्यसंवाद

### चतुर्थाश्रमी और विराट्सेवा

अविनाशी मुनि के सदुपदेशों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता था। आज तो उनके उपदेश से भगवान् भी प्रभावित हो गये। मुनिके बहुत से शब्द भगवान् के कर्णविवर में अब भी चक्कर लगा रहे थे। दूसरे दिन भगवान् मुनिके उपदेश के समय तो न गये; परन्तु जब अविनाशी मुनि अपना उपदेश समाप्त करके अपने आसन पर जा विराजे तो झट भगवान् भी वहां जा पहुँचे और मुनि के चरणों में प्रणाम करके बैठ गये।

कुछ देर तक वहां भगवान् और मुनि दोनों चुपचाप बैठे रहे। एक दूसरे का पूर्व परिचित न होने के कारण परस्पर कोई वार्तालाप भी न हुआ। भगवान् ने इधर उधर देखा तो कुछ और महात्मा अपने २ आसनों पर शान्त एवं मौन बैठे हुये हैं। इतने में मुनि का एक शिष्य वहाँ आया और गुरु जी के चरणों में प्रणाम करके उनकी सेवा करने लगा। मुनि जी अपने ईश्वरचिन्तन में लगे हुये थे। कोई शब्द तक वहाँ सुनाई न पड़ता था। शिष्य सेवा करता २ गुरु जी से बोला, "महाराज जी; आज आपने अपने उपदेश में चतुर्थाश्रमियों के धर्म और कर्तव्य बतलाए थे। उनमें से मुझे यह बात समझ में नहीं आई कि एक चतुर्थाश्रमी के लिये प्रवृत्ति हितकर कैसे हो सकती है? मुनि जी बोले, "बेटा, चतुर्थाश्रमी और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। जिस प्रकार ब्रह्म अपने अन्तरजगत् की प्रेरणा से सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप है, इसी तरह चतुर्थाश्रमी को भी प्रेरणात्मक कार्य करने में कोई आपत्ति नहीं। चतुर्थाश्रमी के प्रधान कर्तव्यों में विराट्सेवा भी एक कर्तव्य है। दूसरी बात यह है कि चतुर्थाश्रमी की प्रवृत्ति के माने ये नही हैं कि वह फिर अपने समष्टिगत जीवन को किसी एक तङ्ग दायरे में बन्द करले। वह जब अपने आपको यह समझले कि मैं अब सांसारिक वासनाओं पर विजय पा चुका हूँ, उस समय उसका सर्वोत्तम कार्य यही है कि वह विराट् की सेवा में तत्पर हो जाय। स्मरण रहे, संसार के पदार्थ किसी के पतन का कारण नहीं हैं। उनकी आसक्ति ही नरक का मुख्य द्वार है। मानवसमाज का विकार विराट् के नियमों में विघ्नरूप बन बैठता है। उसके दूर करने में अधिकतया चतुर्थाश्रमी ही विराट् का साथ निभा सकते हैं। अतः उक्त प्रकार से चतुर्थाश्रमी विश्व के कल्याण में तत्पर होता हुआ अन्य प्राणियों की भाँति प्रवृत्तिद्वारा अपने मार्ग से विचल नहीं हो सकता"।

शिष्य,—"गुरु जी, यह तो मैं अच्छी तरह समझ गया, परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि जब हम संसार के तमाम झञ्झटों का परित्याग करके इस आश्रम में आए तो फिर उन्हीं सांसारिक झगडों की ओर हमें क्यों ध्यान देना चाहिये? विशेषतः वे लोग, जो कि संसार के पदार्थों को भोगते हैं, राष्ट्र के दुःखों का उपाय भी उन्हें ही करना चाहिये; क्यों कि उस आपत्ति का कारण तो वे ही हैं, न कि चतुर्थाश्रमी?

गुरुजी, " चतुर्थाश्रमियों के मन में ऐसे विचार आने ही नहीं चाहिये। संसारको सन्मार्ग में ले चलना विराट् को प्रसन्न करलेना है। जब हमें संसार के किसी भी पदार्थ की आसक्ति अपनी ओर नहीं झुका सकती तो चाहे हम विश्व के कार्यों में दिन रात भी लीन क्यों न रहें फिर भी हम अपने सत्पथ से गिर नहीं सकते। यह बात ठीक है, विकार का कारण संसारी लोग हैं, उन पर जो आपत्ति, अन्याय या अत्याचार होते हैं उनका कारण भी उनके अपने ही कर्तव्य होते हैं। तुम जानते हो, एक वीमार अपने ही किसी आहार विहार की भूल से वीमार हुआ है। और अब भी वह पथ्यापथ्य को न जानता हुआ मृत्यु के निकट पहुँचने की भूल कर रहा है। ऐसे समय पर वैद्यका कर्तव्य तो यही है कि जहाँतक हो सके किसी उचित पथ्य से उसे उस वीमारी से मुक्त करे। यदि वैद्य भी आपकी तरह यह सोचले कि वह स्वयं अपनी किसी भूल से वीमार पड़ा है। अतः अपनी वीमारी का उसे स्वयं इलाज करना चाहिये। उसकी वीमारी का उत्तरदायित्व उसी पर है न कि मुझ पर, तो भला क्या वह वीमार अपनी स्वयं चिकित्सा कर सकता है? कदापि नहीं। यदि उसे इतना ज्ञान होता तो वह वीमार ही क्यों पड़ता। उक्त उदाहरण से आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि मानवसमाज अपना पतन कभी पसन्द नहीं करता; परन्तु कुछ ऐसी भूलों से, जिन्हें वह पहचान भी नहीं सकता, वह पतित हो जाता है। वास्तव में चतुर्थाश्रमी महात्मा विश्व की रुग्णावस्था में इसको पथ्यापथ्य का ज्ञान करानेवाले एवं ईश्वर की ओर से नियत किये अनुभवी और दूरदर्शी चतुर वैद्य हैं।

विराट् की सेवा से जहां हम विश्व का कल्याण करते हैं; वहां पर कुछ हमें भी लाभ पहुँचता है। वह यह कि विराट् की विकृति से चतुर्थाश्रमियों में भी विकार का आ जाना स्वाभाविक है। विराट् की अच्छी या बुरी क्रियाएँ विराट् के प्रत्येक अंश पर अपना असर किये विना नहीं रह सकतीं। हम भी तो विराट् की सीमा के अन्तर्गत ही हैं। अतः यदि हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हमारे लिये हित-कर यही है कि विराट की सञ्चालन क्रिया में जो विघ्न आपड़े हैं हम अपने प्रेरणा-त्मक कार्य से उन्हें दूर करने का यत्न करें। यह हो सकता है कि एक चतुर्थाश्रमी संसार के किसी भी कार्य में क्रियात्मक भाग न ले। परन्तु प्रेरणात्मक भाग से ही हम विश्व की बाधाओं को दूर कर सकते हैं। आजकल के चतुर्थाश्रमी महात्मा अपने लक्ष्य में इतने सफल नहीं हैं जितने वे पूर्वकाल में हुआ करते थे। इसका कारण यही है कि वे अपने सुधार के साथ २ विश्व के सुधार की ओर भी कम ध्यान न देते थे। विश्वके निर्मल वायुमण्डल में वे शीघ्र ही कृतकार्य हो जाते थे। विशेषतः श्रौत-चतुर्थाश्रमी आरम्भ से आज तक अपने आत्मोद्धार के साथ २ विराट् के उपासक होते आए हैं। उदासीनमहामुनि नारद के जीवन में तो ये बातें साफ लिखी मिलती हैं कि वे विश्व की नस नस से परिचित थे। जब कभी विराट् के किसी भाग में कुछ विकृति आने लगती थी तो उन्हें अपनी समाधि से उठना ही पड़ता था। पुराणों में ऐसी बहुत सी कथाएँ मिलती हैं। हमारी इस श्रौतसम्प्रदाय में तो सनकादिक और नारदादिकों का वही पुरातन आदर्श आजतक चला आता है। आप उस दिन हमारे साथ न थे? बनारस के विद्वन्मण्डल में हमने जब 'श्रौत

चतुर्थाश्रमियों की विराट्सेवा" पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला था। हमें भी अपने पूर्वजों के आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का अनुसरण करना चाहिये'। यह कहकर मुनि जी चुप हो गये और शिष्य भी प्रणामकरके अपने आसन पर चला गया। अब फिर भगवान् और मुनि जी अकेले रह गये। समय पर्य्याप्त हो चुका था। भगवान् ने भी वहाँ से चलने का इरादा किया। अतः मुनि जी को प्रणाम करके भगवान् आज गुरु जी के घर की ओर न जाकर सीधे जङ्गल में अपनी गुहा की ओर चल दिये। इस गुहा में भगवान् की यह अन्तिम रात्रि थी।

### वास्तविक शान्ति की प्राप्ति का रहस्य

दूसरे दिन प्रातः स्नान ध्यान करके भगवान् कुछ फलफूल लेकर मुनि जी की सेवा में उपस्थित हुए और प्रणाम करके बैठ गये। गत दो दिनों की अपेक्षा आज मुनि जी अधिक प्रसन्न थे। मुनिजी हँस कर बोले, " बेटा प्रसन्न हो,

भगवान्,—" आपकी दया है।"

मुनिजी,—" बेटा आप काश्मीर के रहनेवाले हैं!"

भगवान्,—" जी नहीं! मेरा जन्मस्थान तो लाहौर के नजदीक है। परिचयार्थ आप मुझे स्थानीय संस्कृतमहाविद्यालय का एक छात्र समझें।"

मुनि जी—" बेटा! आपने कुछ शास्त्राध्ययन भी किया है।"

भगवान्—" आप जैसे महापुरुषों के आशीर्वाद से और गुरु जी की कृपा से कुछ किया ही है।"

मुनिजी—" आप रात्रि को भी आए थे न?"

भगवान्—" जी हां।"

कुछ देर चुप रहने के बाद भगवान् मुनि जी से बोले— " महामुने यदि आज्ञा हो तो मैं एक दो बातें आप से पूछकर अपने मन का सन्देह दूर कर सकता हूँ?

मुनि जी–बेटा, आप बड़े चाव से पूछ सकते हैं।

भगवान्– महाराजजी, वास्तविक शान्ति की प्राप्ति का उपाय क्या है? कोई ऐसा सरल मार्ग बताने की कृपा करें जिस में सर्व साधारण लोग भी भाग ले सकें।

मुनिजी—बेटा! शान्ति प्राप्तकरने के शास्त्रविहित मार्ग ये ही हैं-सत्-शास्त्रों का स्वाध्याय, महापुरुषों की सत्सङ्गति और योगशास्त्र के नियमानुसार संयमी रहते हुये योग की क्रियाओंद्वारा धीरे २ आगे बढते २ समाधि पर अपना अधिकार कर लेना।

भगवान्—मुनिराज जी! आप जैसे महात्माओं की कृपा से और विद्वानों की दया से मैंने सत्-शास्त्रों का स्वाध्याय यथाशक्ति किया है। ईश्वर की अपार दया से मैंने योगशास्त्र के नियमानुसार धीरे २ समाधिपर भी अपना अधिकार कुछ करही लिया है। यथासमय मैं दयालु महापुरुषों का सत्सङ्ग भी करता ही रहता हूँ। परन्तु मुझे वास्तविक शान्ति का लाभ न हुआ। संभव है, किसी पूर्ण गुरु के विना मैं उनके उपचारों को ठीक रूप में न ला सका हूँ। आपके दर्शन से ही मेरे चित्त में उस शान्ति की झलक पड़ने लगी है। मुझे पूर्ण विश्वास है, यह भिक्षुक आपके द्वार से खाली न जायगा"।

यह सुन कर मुनि समाहित हो गये और बहुत देरतक कुछ न बोले। भगवान्

भी चुपचाप बैठे मुनि जी की ओर देखते रहे। अन्त में मुनिजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले,–धन्य हो प्रभो ! भक्तों के ठगने का यह आपने अच्छा मार्ग निकाला है। आप तो साक्षात् शिवस्वरूप हैं। जिस शान्ति की प्राप्ति का उपाय आप मुझ से पूछते हैं वह तो आपके चरणों की दासी है। प्रभो ! यह प्रतारणा अच्छी नहीं। मुझे जबतक आपके वास्तविक स्वरूप का पता न चला तबतक मैं आपसे एक साधारण मनुष्य की भाँति बातें करता रहा। अब आगे को आप को खरी २ बातें सुनाए बिना न रहूँगा। कृपालो, देवदेवेश, आपही समस्त अध्यात्मविद्या के जन्मदाता हैं। आप सकल चराचर की प्रत्येक क्रिया से परिचित हैं। भगवन् ! आप सबकुछ जानते हुये भी जो मुझ से पूछ रहे हैं यह आप का मर्य्यादापालन का उपाय बहुत ही प्रशंसनीय है। अतएव उसी शिष्टाचार के लिहाज से यहां मैं कुछ आपसे कहता हूँ। आप जिस लक्ष्यपूर्ति के लिये यहाँ आए हैं, जबतक आप उधर प्रवृत्त नहीं हो जाते तबतक आपका उस वास्तविक शान्ति का पा लेना कठिन है। दयालो ! आप यदि मेरे ही मुख से कहाना चाहते हैं तो मैं कह ही देता हूँ–आप को विदित ही है इस समय जनता के मानसिक भावों में विकृति आ चुकी है। भविष्य में इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। आपके दर्शनों से मेरा हार्दिक दुःख जाता रहा। मुझे विश्वास है, जिस महान् कार्य की पूर्ति के लिये सदियों से उदासीन महात्मा निरन्तर परिश्रम करते आ रहे हैं; और जिस महान् कार्य के लिये घोर परिश्रम करने के कारण मैं भी वृद्ध हो गया हूँ; उसकी पूर्ति आपके हाथों से होती हुई मुझे दिखाई पड़ रही है।" यह कह कर मुनि जी भगवान् की ओर देख कर हँसने लगे।

## भगवान् का चतुर्थाश्रमप्रवेश

### दीक्षा के समय अविनाशीमुनि का उपदेश

यह आषाढ पूर्णिमा का दिन था, उसी दिन भगवान् ने अविनाशीमुनि से उदासीन श्रौत चतुर्थाश्रम की दीक्षा ले ली। गुरूपदेश दे देने के अनन्तर मुनि ने जो भगवान् को उपदेश दिया वह अत्यन्त महत्त्व पूर्ण था, "मुनि जी बोले, "बेटा ! यह जो कुछ हो रहा है, सब आपकी माया का ही खेल है। इस समय मैं जिस नियम का पालन करता हुआ आपको दीक्षा देकर आपको उपदेश कर रहा हूँ, वह नियम भी आपका ही बनाया हुआ है। मुझे पता है, मैंने जो कुछ कहना है, उसे आप भी पूर्णतया जानते हैं; परन्तु गुरुशिष्यसम्बन्ध से जो कुछ मुझे कहना चाहिये उसे मैं कहही डालता हूँ, 'जिस लक्ष्यपूर्ति के लिये श्रौत चतुर्थाश्रमी सदियों से प्रयत्न कर रहे हैं–वह है श्रौतचतुर्थाश्रम का पुनरुद्धार। आप जानते ही हैं, अब श्रौतचतुर्थाश्रम लता कुम्हलाकर सूखना ही चाहती है। यदि 'अब इसे सम्भाला न जायगा तो यह शीघ्र ही सूखकर संसार से लुप्त हो जायगी। मैं अधिक क्या कहूँ, इस समय यदि मैं वृद्ध न हुआ होता तो अवश्य ही आपका इसमें पूर्णतया साथ देता। खैर, आपतो अकेले भी सब कुछ करने में समर्थ हैं। श्रौतचतुर्थाश्रमियों तथा वैदिक सिद्धान्तों पर जो चारों ओर से प्रहार पर प्रहार हो रहे हैं; उनका रोकना भी मुझे एक आवश्यक कार्य दिखलाई देता है। यह भी आपके उक्त कार्य का एक अङ्ग ही

है। इसकी सफलता के लिये प्रथम यह आवश्यक है कि शैववैष्णवादिसम्प्रदाय भेद से हिन्दु-जाति में जो परस्पर वैमनस्य बढ रहा है, उसे पञ्चदेवोपासना के साम्यवाद के प्रचारद्वारा शान्त किया जाय। इससे जाति परस्पर संगठित होकर बलवती हो जायगी। भारत के कई प्रान्तों में तान्त्रिकलोग जनता को घृणित व्यभिचार की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं। वे ऊपर से अपने आपको वेदानुयायी बताते हैं। इससे शुद्ध श्रौतसिद्धान्तों का नाम बदनाम हो रहा है, और देशके भविष्य का मलिन होने का भारी भय है। उक्त दोनों समस्याओं का सम्बन्ध है अपने घर के लोगों से। इनके ठीक होते ही जाति में नवजीवन का सञ्चार हो जायगा और इन दोनों के ठीक हो जाने पर श्रौतचतुर्थाश्रम की उन्नति का मार्ग भी साफ हो जायगा। जाति का संगठन होने से देश की नैतिकस्थिति कुछ बल पकड़ सकती है। इससे आप विदेशी शासन की जड़ें खोखली करके भारत में प्रतिदिन बढ रहे इस्लाम के प्रचार को भी रोक सकते हैं। इस समय तक रामकृष्ण के लाखों वंशज इस्लामी पीरों की झूठी सिद्धियों के शिकार होकर धर्म से पतित हो गये और वे हिन्दु-जाति की गोद को रिक्त कर चुके हैं। मैं अधिक क्या कहूँ! आप स्वयं जानते हैं, यदि उक्त कार्य्य के अधूरा रहने का सन्देह मेरे मन से दूर न होता तो यह सत्य समझो, परलोक में भी मेरी आत्मा को शान्ति मिलना कठिन हो जाता।" इसके बाद दीक्षा का शेषकार्य समाप्त किया गया। जो जो कार्य आवश्यक थे वे भी विधिपूर्वक समाप्त हुये। आज अविनाशी मुनि के आल्हाद की सीमा न थी। मानो विश्वामित्र को भगवान् राम मिल गये। कुछ दिन गुरुचरणों में रहकर भगवान् ने गुरु जी से आवश्यक बातें सब सीख लीं। अविनाशी मुनि के अन्य शिष्य और यात्रार्थ साथ आए हुये महात्मा भी भगवान् के व्यवहार पर मुग्ध हो रहे थे।

अब भगवान् ने वहाँ से चलने का इरादा कर लिया। मण्डली के अन्य साधु महात्मा भगवान् के गमन को सुनते ही खिन्न होने लगे। भगवान् का भी उनसे लोकोत्तर भ्रातृस्नेह था; परन्तु भगवान् अपने कार्यक्रम के अनुसार वहाँ से चल देने के लिये विवश थे। अतः वे गुरु जी से आज्ञा लेकर वहाँ से भारतभ्रमण के लिये निकल पड़े।

(५ तरङ्ग)

# भगवान् की भारतयात्रा

## भक्त धनराय को भगवान् कृष्ण के दर्शन

भगवान् ने भारतभ्रमण का प्रथम कार्यक्रम ऐसा बनाया जो लगभग ११ वर्ष में पूरा हो सके। नैपाल, तिब्बत, भूटान-प्रभृति पर्वतीय प्रदेशों में ही घूमते घूमते उनके ५ वर्ष बीत गये। छठे वर्ष गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी, केदार, बद्रीनारायण होते हुये वे हरिद्वार आ निकले। हरिद्वार से दिल्ली होकर सं. १५८१ के कार्तिक शुक्ल द्वितीया को उन्होंने श्रीमथुरा जी में यमुनास्नान किया। तदनु भगवान् कृष्ण के क्रीडास्थल वृन्दावन, गोवर्द्धन, गोकुल बरसाना आदि स्थानों की यात्रा की। यहाँ पर आप भगवान् कृष्ण के प्रेम में मस्त होकर एक दो महीने इधर उधर घूमते रहे। इस यात्रा में तीर्थों के दर्शनों के इलावा आप देशकी दशा का भी स्वाध्याय करते जाते

थे। भगवान् विचरते विचरते माघ सङ्क्रान्ति के दिन इसी प्रान्त के तप्त ग्राम में जा पहुँचे। वहाँ पर गाँव से कुछ दूर बाहर एक कृष्णमन्दिर था। भगवान् ने वहाँ पर ही अपना आसन जमादिया। भगवान् कृष्ण के प्रेम की तरङ्गें तो प्रथम ही आपके मनसे उठती रहतीं थीं। इस मन्दिर में कृष्ण की मूर्ति देख कर आप वहाँ पर ही बैठ गये और गीता का पाठ आरम्भ कर दिया। गाँव के बालक प्रायः इधर ही गौएँ चराने आया करते थे। वे आते जाते भगवान् कृष्ण के दर्शनार्थ इस मन्दिर में जरा ठहर जाया करते थे। आज और बालक तो पीछे रह गये, उनमें से एक बालक मन्दिर में भगवान् के दर्शनार्थ आया। वह मन्दिर में एक महात्मा को बैठे देखकर मन ही मन प्रसन्न होने लगा। भगवान् कृष्ण को प्रणाम कर के उसने महात्मा के चरणों में प्रणाम किया और पास ही पीछे हटकर चुपचाप बैठ गया। भगवान् अपना गीता का पाठ करते रहे। बालक भी बड़े चाव से पाठ सुनता रहा और जबतक पाठ समाप्त न हुआ तबतक वहाँ से उठकर न गया। भगवान् ने पाठ समाप्त किया और इतने छोटे बालक का गीतापाठ में इतना प्रेम देख कर भगवान् बोले, "वत्स, तुम्हारा क्या नाम है? तू किस जाति का बालक है? इससमय तेरी उमर कितनी?

बालक, हाथ जोड़कर बोला, "महात्माजी महाराज! मेरा नाम धनराय है परन्तु घरके बड़े लोग मुझे धन्ना कहकर बुलाते हैं। मैं जाट जातिका बालक हूँ। मैंने अपने बड़ों से सुना है कि मेरा जन्म १५७१ वि० में माघशुक्ला पञ्चमी को हुआ था। इस समय मेरी उमर कितनी है, यह आप स्वयं अनुमान लगा लें" भगवान् ने कहा, "हां! अब तेरी उमर १० साल की है"। बालकने पूछा, "महाराज! आप यह तो बतायें अब आप किस पुस्तक का पाठ कर रहे थे?" भगवान् ने कहा—"ओ धनराय! तू जाट्ट (यादव) जाति में जन्म लेकर यह भी नहीं जानता कि यह कौन पुस्तक है। यह तो तेरे ही वंश के जगत्प्रसिद्ध भगवान् कृष्णचन्द्र की गीता है।" भक्त धनराय ने फिर हाथ जोड़कर पूछा महाराज! आपका शुभनाम क्या है? यह प्रश्न सुनकर भगवान् तो मुसकुराने लग गये और आपके पास ही बैठे हुये आपके शिष्य *कमलदासमुनि ने गुरु का नाम लेना भी उचित न समझा और बालक के प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक था। अतएव उसने बालक को भगवान् का नाम त्रिलोचन+ बताया। वहाँ कुछ देर ठहर कर भगवान् तो आगे को चल दिये; परन्तु धन्ने के मन में यह खटक गई कि महात्मा लोग सदा सत्य बोला करते हैं तो मैं हूँ भगवान् कृष्ण का वंशधर। अतः भगवान् कृष्ण को मुझ पर प्रसन्न होकर अवश्य दर्शन देने चाहिये। क्योंकि महात्माजी ने बताया था कि यादव शब्द से ही जाट शब्द बना है। अतः धन्ने ने प्रण किया कि यावत् भगवान् स्वयं आकर

* यह भगवान् का बालसखा और अनन्य भक्त था। विद्याभ्यासार्थ पक्खोके ग्राम से काश्मीर को भगवान् के चले जाने पर यह उन के पीछे वहां पहुँचा। काश्मीर से धर्मप्रचारार्थ, देशयात्रा के आरम्भसमय अधिक प्रार्थना करने पर इसे भगवान्‌ने शिष्य बना लिया। फिर तीर्थयात्रा समय यह भगवान् के साथ ही रहा।

\+ त्रिलोचन कथनसे श्रीचन्द्रमौलि समझा जाता है क्यों कि उक्त दोनों नाम शिवके हैं और भगवान् शिवस्वरूप ही थे।

मुझे भोजन करने की आज्ञा न दें तावत् मैं भोजन तो दूर रहा जलपान भी न करूँगा। अब धन्ना लगा मीठी आवाज से भगवान् कृष्ण की स्तुति करने-

अब दीजो दर्श गिरिधारी।
अब दीजो................।
दीनदयालु, दामोदर गोविन्द, सगलभक्त हितकारी,
गोकुल तारी सकल गोपिका तारी कुब्जानारी।
दुष्ट सभा में, पकड़ द्रौपदी नग्न करें अत्याचारी,
दीन अनाथ पाण्डव पत्नी रो रो कहे बेचारी –
अब मेरा नही कोई रक्षक–भ्रात, पिता महतारी।
तत्क्षण अनन्तवसन प्रभु दीने–उसकी पैज सवारी,
जन धन्ने को दर्श दिखावो पकड़ी ओट तुम्हारी।
अब दीजो दर्श गिरिधारी..............................।

लड़के गउएँ चराकर घर चले गये और धनराय वहीं भगवान् के मन्दिर में बैठा रहा। घरवालों ने अन्य लड़कों से पूछा कि धन्ना कहाँ है तो उत्तर मिला कि वह तो मन्दिर में आँखें वन्द किये बैठा है। भोजन का समय हो चुका था। माता भोजन लेकर वहीं पहुँची। वहुत देर तक माता समझाती रही परन्तु धनराय अपने हठपर डटा रहा। अन्त में भोजन वहीं रखकर माता घर को लौट आई। भगवान् के दर्शन किये विना मैं भोजन न करूँगा धन्ने की यह प्रतिज्ञा अटल रही। माता के ममताभरे शब्द उसे अपने हठसे विचलित न करसके। धन्ने की भूख प्रतिक्षण बढती ही जाती थी। उसने अपने मनमें यह निर्णय करलिया था कि यदि भगवान् ने दर्शन न दिये तो आगमें जल कर मर जाऊँगा। अन्त को यही नौवत आ पहुँची। धनपतराय जी आसन से उठ खड़े हुये और लकड़ियाँ इकट्ठी करने लगे। महात्मा त्रिलोचन जी की धूणी में अभी कुछ आग थी, उसे वह लाकर चिता जलाने लगा। जव चिता की आग धक् २ जलने लगी तो धनपतराय जी उसमें कूदने लगे। उसी समय एक आकस्मिक झञ्झावात के प्रवल झकोरे से वह जल रही चिता न जाने किधर लुप्तप्रायः हो गई। इस से धनपतराय और भी कुपित हो गये। अब उसे और तो कुछ न सूझा; उसने अपनी कटार से ही अपना अन्त कर देना चाहा। ज्यों ही धनपतराय जी अपनी तीखी कटार को अपने पेटकी ओर सीधी करने लगे त्योंही भक्तवत्सल भगवान् ने स्वयं आकर उसका हाथ पकड़ लिया। धन्ने ने कटार फेंक कर प्रभु के चरण पकड़ लिये। भगवान् ने भक्त को उठाकर छाती से लगालिया। धन्ने की भूख जाती रही। भगवान् ने धनपतराय+ से भोजन कर लेने को कहा। धन्ने ने प्रथम भगवान् को भोग लगाया, तदनु प्रसाद समझकर पीछे से वह भोजन खालिया।

+धनपतराय का पुत्र ज्ञानराय हुआ, यह पिताके समान पूर्ण भगवद्भक्त और साधुसेवी था। अतः इस के पास भगवान् श्रीचन्द्र के शिष्य उदासीनमुनियों का आना जाना बना ही रहता था, उन मुनियों

## काशी में सोमनाथ त्रिपाठी को भगवान् के दर्शन

अब पाठक भगवान् की यात्रा की ओर आ जायँ। भगवान् तप्त ग्राम से चलकर आगरा इटावा होते हुये अयोध्या पहुँचे। भगवान् राम के जन्मस्थान का दर्शन करके आप बड़े प्रसन्न हुये! यहाँ से आप प्रयाग गये। १५८२ वि० में शिवरात्री को आप काशी पहुँचे। इधर उधर के पवित्र स्थानों के देखने के बाद भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में पहुँचे। वहाँ पर तब पुजारी लोग भोग लगा रहे थे। वहाँ के नियमानुसार भोग लगते समय सिवाय पुजारी के मन्दिर में कोई नहीं जा सकता। भगवान् जब मन्दिर में जाने लगे तो पुजारियों ने उन्हें रोक दिया। वहाँ से कुछ दूर पीछे हटकर भगवान् एक ऊँचे स्थान पर बैठ गये और ऊँचे स्वर से ओम् ३ सोऽहम् का जाप करने लग गये। पुजारी भोग की सामग्री अन्दर रख आए और थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा तो सामग्री से भरे हुये थाल सब गुम हो गये। इस से मन्दिर के पुजारियों के आश्चर्य का ठिकाना न था। दूसरी बार फिर भोग की सामग्री लाई गई और फिर वैसे ही गुम हो गई। इतने में एक पुजारी को स्मरण आया कि हमने जो उस महात्मा को अन्दर जाने से रोका था, यह सब कुछ उसी की

---

के उस जगह वेदमहत्व के सम्बन्ध में प्रायः मनोहर उपदेश हुआ करते थे। क्यों कि उनके गुरु परम्परागत वेदभक्ति के विचार थे। उनके महत्त्वपूर्ण उपदेशों से प्रभावित होकर ज्ञानराय ने तप्त गाम में एक अति सुन्दर विशाल वेदमन्दिर बनवाया। इसी ज्ञानरायने जाटजाति में देश और जातिका प्रेम कूट कूटकर भरदिया था। इसी के उपदेश का फल था कि जाटजाति में चौधरी गोकुलचन्द्र जैसे वीरपुरुष हुये। गोकुलचन्द्र ने जाटजाति को संगठित करके एक महती शक्ति बना डाली थी। उस जाटशक्ति से औरङ्गजेब भी भय मानता था। उदयपुर के राना राजसिंह और शिवा जी मरहट्टा तो देहली से दूर रहते थे अतएव औरङ्गजेब को देहली पर उनके आक्रमण का इतना भय न था, जितना कि गोकलचन्द्र चौधरी का था। क्यों कि यह तो देहली की जड़ों में ही अपनी संगठित शक्ति से हर समय तय्यार रहता था। औरङ्गजेब इसके आक्रमण के भय से अधिक घबराता था। अतएव उसुने गोकुलचन्द चौधरी के पास सन्धिपत्र भेजा। गोकुलने कहा, "मैं तबतक किसी यवनराजा से सन्धि नहीं कर सकता जबतक मुझे किसी तरह यह विश्वास न दिला दिया जाय कि भारत के किसी भी भाग में हिन्दुओं पर यवनों के मनमानें अत्याचार न होंगे"। औरङ्गजेब को इसकी ओर से निरन्तर भय बना ही रहता था। अतएव जाटशक्ति का दमन करने के लिये उस की सेना इस से कई बार लड़ी। शाही सेना को इसके आगे मुँह की खाकर लौटना पड़ता था। गोकुल की शक्ति को प्रतिदिन बढते देख कर औरङ्गजेब की छातीपर सांप लेटता था। अतः लड़ाई के द्वारा उसे हाथ में आते न देखकर छल के प्रयोग से उसे पकड़ लेने का प्रबन्ध किया गया। हसनअलि एक बड़ा धोखेबाज मनुष्य था। इसने गोकलचन्द्र को अपने फँदे में फँसा लिया। गोकलचन्द्र पकड लिया गया और आगरे में ले जाकर उसका बन्द बन्द काट दिया गया। सम्भव है उसी समय विधर्म्मियों ने इस्लामी धार्मिक उतेजना से वह वेदमन्दिर गिरा दिया हो जिसे ज्ञानरायने बनवाया था। इसीलिये उसका अब कोई चिन्ह दिखाइ नहीं पड़ता। यह घटना १६६६ ई० (१७२३ वि०) की है। इसकी इस तरह मृत्यु की घटना सुनकर जाटजाति में बड़ा जोश फैल गया। भजासिंह जाट के पुत्र राजाराम ने भी जाटों की शक्ति को खूब संगठित किया। इसी का छोटा भाई चुड़ामणि बड़ा बुद्धिमान् था। भरतपुर के राज्य का संस्थापक यही था।

अवज्ञा का फल है। अब तो वे लगे भगवान् को ढूंढने। भगवान् मन्दिर के नज-दीक ही बैठ रहे थे। जब पुजारी बाहर आए तो क्या देखते हैं कि भोगकी सामग्री के थाल भगवान् के आगे पड़े हैं। अब तो पुजारी लोग भगवान् के चरणों में लेटने लग गये और भगवान् से बारम्बार क्षमा प्रार्थना करने लगे। भगवान् वहां से उठ कर अस्सीघाट की ओर चल दिये। यह घटना सारे नगर में फैल गई। सोमनाथ त्रिपाठी पहिले से ही भगवान् की प्रतीक्षा में बैठा था। उक्त घटना सुनकर वह समझ गया कि वे ही काश्मीरवाले भगवान् श्रीचन्द्रमौलि होंगे। भगवान् के अन्वे-षण में वह घर से तत्क्षण निकलपड़ा। उस समय उसका मानसमयूर आनन्द से नाच रहा था। उसकी चिरकी अभिलाषा गुरुदेव के दर्शन से पूरी होने को थी। वह पूछता पूछता वहीं जा पहुँचा जहां पर भगवान् बैठे हुये थे। दूर से दौड़ कर उसने भगवान् के चरण पकड़ लिये। भगवान् ने अपने श्रद्धालु भक्त को उठाकर गले लगा लिया। कुशल पूछने के अनन्तर प्रेममय वार्तालाप आरम्भ हुआ। सोमनाथ त्रिपाठी ने वहाँ की विद्वन्मण्डली में भगवान् के आगमन का समाचार पहिले से ही दे रक्खा था, अतएव वहां के विद्वान् भी भगवान् के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित थे। अब जब सोमनाथ त्रिपाठी के द्वारा उन्हें भगवान् के आगमन का पता चला तो वे भगवान् के दर्शनार्थ प्रतिदिन आने लगे। और भी बहुत से प्रेमी भक्त भग-वान् के दर्शन करके अपने जन्म को सफल करने लगे। भगवान् उनदिनोंमे अधिक मौन रहा करते थे। कभी कभी श्रद्धालु भक्तों के अधिक आग्रह से वे प्रसन्न होकर उपदेशामृत की वर्षा कर देते थे। भगवान् अपने उपदेशों में लोगों को यह सम-झाया करते थे कि विलासमय जीवन की अपेक्षा सादा और त्यागमय जीवन कहीं बढकर है। लोगों को संयमी बनाने के लिये वे अधिक यत्न किया करते थे। परस्पर भ्रातृस्नेह के उपदेशों के इलावा भगवान् यह भी कहा करते थे कि धर्म और जाति की रक्षा में यदि प्राणों की भी बाजी लगानी पड़े तो पीछे मत हटो। भगवान् अपने भक्तों को यह अच्छीतरह समझा देते थे कि राष्ट्र के पतन में धर्म का लोप हो जाया करता है। अतः राष्ट्र के पतन के कारणों को जड़ से उखाड़ देना धर्म की बड़ी भारी सेवा करना है। भगवान् के उपदेश अधिक भगवद्भक्तिमय होते हुये भी धार्मिक, सामाजिक और नैतिक भावों से रिक्त न होते थे। आपके उपपादन की परिपाटी आध्यात्मिक होती थी। भगवान् ने जब काशी छोड़ने की इच्छा की तो सोमनाथ त्रिपाठी ने काश्मीर के जङ्गल की बात याद दिलाई। भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ से भगवान् गया, पटना, राजगृह, आदि मगध-प्रान्तों में घूमते घूमते वैद्यनाथ होकर नवद्वीप चले गये। वहां से बङ्गाल और आसाम की यात्रा के बाद जगदीशपुरी (जगन्नाथ) पहुँचे। सं. १६८४ वि० में चैत्रशुक्ला पञ्चमी के दिन भगवान् ने वहां श्रद्धालु सोमनाथ को उदासीन मतकी दीक्षा देकर सोमदेव नाम रक्खा।

## जगन्नाथपुरी से पञ्जाब

### भक्त सुखदयालु और दौलतखां लोधी को उपदेश

पुरी में भगवान् के दर्शनार्थ जनता आने लगी। भगवान् उसे उपदेशामृत पिलाकर कृतकृत्य कर देते थे। वहाँ पर भक्तवर चैतन्य प्रभु से आपकी भेंट हुई। वहां की

जनता में धार्मिक भावों का खूब प्रचार करके भगवान् वहां से आगे चलना ही चाहते थे, इतने में माता सुलक्षणी जी ने भगवान् का स्मरण किया। अतः अपनी प्रतिज्ञानुसार भगवान् को वहांसे पञ्जाव की ओर आना पड़ा। पुरी में जहां पर वे ठहरे थे वहां पर पीछे से वालहास पद्धति के मङ्गुदास उदासी ने एक स्थान वनवाया जिसे अब मङ्गुमठ कहते हैं।

भगवान् पुरी से चलकर, जनकपुर, हरिहरक्षेत्र, गोरखपुर और नैमिषारण्य में होते हुये पञ्जाव में जालन्धर आ पहुँचे। आपका आगमन सुनते ही भक्त सुखदयालु, क्षत्रिय भगवान् को सुलतानपुर ले गया। सुखदयालु नवाव दौलतखाँ लोधी के पास भगवान् की बड़ी प्रशंसा किया करता था। अतएव नवाव भी भगवान् के दर्शनों का इच्छुक था। जब भगवान् सुलतानपुर पहुँच गये तो नवाव भगवान् के दर्शनार्थ प्रतिदिन आने लगा और उनके अमूल्य उपदेशों से लाभ उठाने लगा। ज्यों ज्यों वह भगवान् की सत्सङ्गति में आता था त्यों त्यों उसकी श्रद्धा भगवान् में बढती ही जाती थी। नवाव भगवान् का पक्का भक्त हो गया। एकदिन दानकी महिमा वर्णन करते समय भगवान् ने एक कञ्जूस की कहानी सुनाई, जो कि बड़ी शिक्षाप्रद है। अतः वह यहाँ सङ्क्षेपतः लिखी जाती है।

एक कृपण ने सारी उमर भूखा रहकर वहुत-सा धन इकट्ठा किया। धनसङ्ग्रह करने में ऐसा कोई पाप न था जिसे उसने न किया हो। वृद्धावस्था में जब मृत्यु का भय उसे दिखाई पड़ा तो लगा सोचने,-हाय मैंने क्या किया। जिस सम्पत्ति के बढाने में और जिसकी रक्षा में मैं दिनरात परिश्रम करता रहा और जिसकी रक्षार्थ मैंने अपने आप को बलिदान कर दिया वह अब मेरी मृत्यु के बाद सारी की सारी यहाँ ही रह जायगी।

अब वह लगा हाथ मलने; परन्तु अब उसका रोना और चिल्लाना व्यर्थ था। धन की चिन्ता में ही उसके आयु के तमाम दिन बीत चुके थे। मृत्यु अपना तीखा खड्ग लिये उसके पीछे पीछे घूमती थी। कञ्जूस के मन में अब तरह तरह के विचार उठने लगे। कभी वह सोचता था कि देवताओं को कुछ रिश्वत दे दी जाय जिस से वे प्रसन्न हो कर मुझे मौत से बचा दें। दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका। अन्त में उसने लक्ष्मीदेवी से प्रार्थना करनी आरम्भ की, " हे विश्वविजयिनि! आप पर मेरी अटलभक्ति को आप अच्छीतरह जानती हैं। मैं बचपन से लेकर आजतक किसतरह आप की रक्षा करता आया हूँ। आपकी ही पूजा में मेरा आत्मत्याग पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कल्याणि! अब मैं मृत्यु के असह्य प्रहारों से आप की सेवा से सदा के लिये पृथक हो रहा हूँ। इस समय मेरी रक्षिका आप ही हैं"। यह कह कर वह ऊँचे स्वर से रोने लगा। लक्ष्मीदेवी ने उसे धिक्कारकर कहा, " मूर्ख, तूने मेरी वास्तविक पूजा नहीं की। यदि ऐसा करता तो अब तेरी सहायता में मैं अवश्यमेव खड़ी होती। तूने मुझे पृथ्वी की सतह के नीचे गाड़ कर मेरे वास्तविक उपयोग को भुला दिया। तेरे उसी कुकर्म का फल है कि अब तू हाथ मल मल कर पछता रहा है। तुझे पता नहीं, मैं उसी पर अधिक प्रसन्न होती हूँ जो मुझे दीन और दुखियों की सेवा में व्यय करता है।" लक्ष्मीदेवी अपना कथन समाप्त करना न पाई

थी कि इतने में यमदूत वहाँ आ पहुँचे और उस कृपण को पकड़ कर धर्मराज के आगे ले चलने के लिये चलपड़े।

यह कथा सुन कर नवाब के मन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। वह तब से लेकर अपनी सारी सम्पत्ति को दीन, दुखियों और गरीबों की सेवा में खर्च करनेलगा। भगवान् के पवित्र उपदेशों से प्रभावित होकर वह विलासता के जीवन को त्यागकर अपना सारा समय प्रभुचिन्तन में विताने लगा।

## करतारपुर में मातापिता के दर्शन और धर्मचन्द्रदीक्षा

भगवान् सुलतानपुर से करतारपुर चले गये। उन्होंने नगर के बाहर आसन लगा दिया। पता चलते ही माता लक्ष्मीचन्द्र × को साथ लेकर वहां आ पहुँची। भगवान् ने उठकर माता को प्रणाम किया और अनुज को आशीर्वाद दिया। देरतक देश देशान्तरों के सम्बन्ध में वार्तालाप होता रहा। माता जी के कई एक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये भगवान् ने माताजीको वही शास्त्र-रहस्य सुनाया जिसको कपिल ने माता देवहूति को सुनाया था। इसके श्रवणानन्तर माता का मोह जाता रहा और वह आत्मविद्याके लाभ से कृतकृत्य हो गई। माताजी के अनुरोध से वहाँ पर भगवान् को कई मास ठहरना पड़ा। इन्हीं दिनों में भगवान् का अनुज लक्ष्मीचन्द्र इस लोक का परित्याग कर गया। इनके देवलोकगमन की विचित्र कथा* वेदी वंश में बहुत प्रचलित है।

× १५७५ वि० में इनका विवाह हुआ। १५८० वि० में इनके यहाँ एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम धर्मचन्द्र रक्खा गया।

*भगवान् श्रीचन्द्र जी की अनन्यभक्त, प्रसिद्धइतिहासलेखक वेदीवंशकल्पतरुमञ्जरी, श्रीलक्ष्मीदेवी ने स्वरचित लक्ष्मीविलास में यह कथा इस प्रकार लिखी है—

श्रीलक्ष्मीचन्द्र को आखेट में बहुत अनुराग था। १५८६ वि० वैशाख शुक्ल ३ को जब लक्ष्मीचन्द्र आखेट से वापिस आ रहे थे तो रास्ते में भगवान् मिल गये। लक्ष्मीचन्द्र घोड़े से उतर पड़े और प्रणाम करके उनके पास बैठ गये। उस समय धनुर्बाण उनके हाथ में थे। उसके अनुचर शिकार में वध किये मृगों को लिये जरा कुछ पीछे खड़े थे। अकस्मात् भगवान् की दृष्टि उनकी ओर भी चली गई। भगवान् ने सोचा कि यह सारा प्राणिवध इस धनुर्धारी का कृत्य है! भगवान् ने इसे बहुत बुरा मनाया और कहने लगे, "क्या आपने पिता जी की सत्सङ्गति से यही कुछ सीखा है? अकारण जीवहत्याकरना सत्पुरुषों का काम नहीं। केवल क्षत्रिय राजा को अधिकार है कि वह

(परिचयं चललक्ष्यनिपातने, भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणांच करोत्यसौ, तनुमतोऽनुमतः-सचिवै र्ययौ।)
(रघुवंश सर्ग ९ लो. ४९)

शारीरिक स्फूर्ति, चललक्ष्य के वेध में सिद्धहस्तता, तथा प्राणियों के भय और क्रोध की सूचक चेष्टाओं का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये आखेट करे। राजा को आखेट से अधिक लाभ होता है। शास्त्रों में भी उसका यह कर्म धर्म-रक्षा का अङ्ग होने से अधर्म नहीं कहा। शास्त्रसम्मत न होने पर भी आप अकारण प्राणि वध करते हो, अतः इस हत्या के पाप का कटु फल आप को अवश्य भोगना होगा।"

भगवान ने श्रावण मास की अमावस्या के दिन वेदिकुलकेतु श्रीधर्मचन्द्र जी को उदासीन [1]ऋषि की दीक्षा दी। इसी वर्ष ३२ वर्ष के बाद भगवान की पिता जी से भेंट हुई*। भगवान् तब तीन वर्ष के ही थे जब गुरु नानकदेव साधु बनकर देशाटन को चले गये थे। १५५४ वि० से ले कर १५८६ तक पितापुत्रका कभी मेल

यह सुनते ही लक्ष्मीचन्द्र जी ने भगवान् से कहा, "भगवन्! मैं इन पापों का बदला चुकाने के लिये अभी जाता हूँ-" यह कह कर वह अपनी धर्मपत्नी और पुत्र धर्मचन्द्र को साथ लेकर अश्वारूढ हो गया और आकाशमार्ग से ऊपर को चल दिया। भगवान् ने देखा कि यह तो अनर्थ हो गया और पीछे वेदीवंश के बढाने वाला कोई नहीं। एतदर्थ भगवान् ने अपनी भुजा पाञ्च योजन लम्बी बढाई और अपने पितृवंश रक्षक धर्मचन्द्र को घोड़े से उतार लिया। इस प्रकार भगवान् के अनुग्रह से वेदीवंश की रक्षा हुई।

कृतज्ञता प्रकाशनार्थ वेदीवंश में आजतक भी यह प्रथा प्रचलित है कि विवाह से पूर्व वे अपने कुमारों को भगवान् श्रीचन्द्र के वेश से भूषित करते हैं। शरीर में अखण्ड विभूति रमाते हैं और पाओं के लिये खड़ाऊँ तथा ओढने के लिये मृगशाला देते हैं। बालक त्याग का पूरा पूरा अभिनय करता है। कुछ देर के लिये परिवार में आनन्द की जगह शोक छा जाता है। लड़का बाहर जाने के लिये यत्न करता है। घरवाले घरके सारे द्वार बन्द कर देते हैं। यदि कोई बालक अपनी निपुणता से घर से बाहर चला भी जाय तो वह फिर गृहस्थाश्रम में प्रवे नहीं कर सकता। वेदी भगवान् श्रीचन्द्र को अपना गुरु मानते हैं।

नवीन सिक्खधर्म के प्रचार से पूर्व गुरु श्रद्धालु जनता भी श्रीनानकदेवजी के वंशधर वेदियों को गुरु माना करती थी। सोढी कुलभूषण श्रीरामदास जी आदिक ५०० रुपया और एक घोड़ा वेदियों के पूर्वज धर्मचन्द्रादि कों की सेवा में भेंट भेजते थे। सोढीवंशमणि श्रीगोविन्दसिंह जी ने वेदी साहिबजादों (गुरुकुमारों) के स्वांगधारी को भी अभ्युत्थानादि से सम्मानित किया था। कहाँ इस वंशका वह गौरव और कहाँ आजकल की शोचनीय एवं दयनीय दशा। आज वही वेदीवंश अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर कुलाचार से विपरीत दीक्षा से दीक्षित होकर अपने पुरातन गौरव को धूलि में मिला रहा है। यदि यह वंश अपने उस गौरव को फिर पाना चाहता है तो इसे उचित यही है कि यह अपने कुलरक्षक, वंशवृद्ध, गुरुदेव श्रीचन्द्र भगवान् के चरणों का सेवक बना रहे।

१ मुनिदीक्षा से ऋषिदीक्षा में यह भेद है कि ऋषिशिष्य मुनिकी भाँति गृहत्याग, कषायाम्बरधारणादि नहीं करता। उसे केवल अधिकारी जानकर मुनिके समान सप्रणवद्व्यक्षर अद्वैत मन्त्र का उपदेश किया जाता है। वह ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में रह सकता है। उसके जीवन में संयम के उत्कर्ष का होना आवश्यक है। महाराजा पृथु सनत्कुमार के ऋषिकोटि के शिष्य थे।

* यहां पर भगवान् के पिता श्रीनानकदेवजी का कुछ वृत्त सुनाना आवश्यक दिखाई देता है। क्योंकि यह आगेकी कई एक बातें समझने में सहायक होगा। श्रीनानकदेव जी १५७२ वि० में देशान्तरों के भ्रमण से वापिस गाँव पक्खोके आए। आप गाँव से बाहर ही आसन लगा कर बैठ गये। पता चलने पर आपके सम्बन्धी आप से मिलने आए। आपकी सास चन्द्रावती और श्वसुर मूलचन्द ने आपको बहुत उपालम्भ दिये। आप सब कुछ चुप बैठे सुनते रहे।

नहीं हुआ। श्रीनानक जी का श्रीचन्द्र जी में पुत्रभाव आरम्भ से ही न था। क्योंकि वे भलीभांति जानते थे कि श्रीचन्द्र जी भगवान् शङ्कर के अवतार हैं×। अबतो भगवान् चतुर्थाश्रमी हो चुके थे। अतः उनका पितापुत्र का बाह्य व्यवहार भी जाता रहा। पिता और पुत्र का बाह्य व्यवहार दो चतुर्थाश्रमी मुनियों के व्यवहार में बदल गया। इसका विस्तृतवर्णन अन्यत्र किया जायगा।

'श्रीचन्द्रप्रकाश' में श्रीलक्ष्मीदेवी यह भी लिखती हैं कि भगवान् के त्यागादि सद्गुण उनके पिता के त्यागादिकों से कहीं बढ चढ कर थे। अतएव लोगों की श्रद्धा गुरुनानक जी की अपेक्षा जगद्गुरु श्रीचन्द्र महाराज में अधिक थी। पिता के लिये इससे अधिक आल्हाद का कारण और क्या हो सकता है कि पुत्र पिता से अधिक प्रतापी और यशस्वी निकल आए। "सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्रादेकात् पराजयम्" अर्थात् पिता पुत्र से पराजित होने की इच्छा रक्खे। गुरु शिष्य को और पिता पुत्र को अपने से उत्कृष्ट देखना चाहते हैं। वीर पिता वीर पुत्र को और विद्वान् पिता विद्वान् पुत्र को देखकर अति प्रसन्न होता है; ठीक इसीप्रकार त्यागी पुत्ररत्न की प्राप्ति से श्रीनानक जी को अत्यन्त हर्ष हुआ।

---

पक्खोके गाँववासी अजीतारँधावा, एक जाट साधुभक्त था। उसको मूलचन्द के कटुवाक्य सुनकर बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत से जाटों को साथ लेकर एक क्षत्रिय जाति के कर्मचारी के साहाय्य द्वारा लाहौर के सूबे की आज्ञा प्राप्तकरके एक नया ग्राम बसाया, जिसका नाम करतारपुर रक्खा। भक्तलोगों की प्रार्थना से श्रीनानकदेव जी वहां रहने लगे। उनका सारा परिवार भी वहां बुलालिया गया और उसका भरण पोषण गाँव की आयसे होने लगा। नानकदेवजी गांव से बाहर एक पर्णकुटिया में रहते थे। श्रीलक्ष्मीचन्द उन्हें भोजनादि आवश्यक सामग्री वहाँ पर दे आता था। साधुकी यह स्थिति कुटीचक कहलाती है। श्रीनानकदेव जी ने किसी नये मत की स्थापना नहीं की। वे त्यागी महात्मा थे। उनके पास कोई सम्पत्ति न थी। उनके सेवकद्वारा बसाया गया गाँव-करतारपुर उनके जीवनकाल में ही उनके वंशजों के हाथ आगया था। अतएव उन्हों ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। हां, अपने आपको उनके उत्तराधिकारी घोषित करनेवालों ने गृहस्थ होने के कारण स्वार्थवशात् उनके पवित्र जीवन को आरूढ-पतन के आरोप से कलङ्कित किया है। श्रीनानकदेव जी के वैयक्तिक प्रभाव से लाभ उठानेवाले अगणित हुए, जिनके विषय में विशेष विचार किसी निबन्धान्तर में किया जायगा। श्रीनानकदेव जी करतारपुर बसने के बाद भी कभी कभी तीर्थयात्रार्थ बाहर चले जाते थे। उनकी अन्तिम तीर्थयात्रा १५८४ वि० में हुई। उसके बाद वे १२ वर्षतक करतारपुर में ही ईश्वरचिन्तन करते रहे। उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दु-धर्म के प्रचार में बिताया।

× भगवान् श्रीचन्द्रजी जब बहुत दिनतक घर न लौटे तो एकदिन श्रीतृप्ता जी ने गुरुनानकदेव जी से कहा-"पुत्र, श्रीचन्द्र को घर से गये कितने ही वर्ष बीत गये। अबतक उसका कोई समाचार भी नहीं मिला। इस से सारे सम्बन्धी चिन्तित रहते हैं। क्या किया जाय, कोई पेश भी तो नहीं चलती।" उत्तर में श्रीनानकदेव जी ने कहा-"माता जी, उनकी चिन्ताकरना व्यर्थ है। वे तो साक्षात् महादेव हैं।" इतना कहकर नानकदेव जी ने माता जी को उनके अवतार की सारी कथा सुनाई। तब से माता जी की चिन्ता दूर हो गई।

## काश्मीर में वेदभाष्यरचना

यहाँ से भगवान् फिर काश्मीर की ओर चल पड़े। इससमय भगवान् की सेवा का कार्य उनका शिष्य सोमदेव करता था। छोटेपुत्र लक्ष्मीचन्द्र की मृत्यु से शोकाकुलहृदया माता जी के अनुरोध तथा आग्रह से वृद्ध श्रीगुरुनानकदेव जी की सेवा और बालक धर्मचन्द्र की रक्षार्थ अपने शिष्य कमलदास× को जातेसमय भगवान् छोड़ गये।

भगवान् सात वर्षतक काश्मीर में रहे और वहीं वेदचतुष्टयपर भाष्य[1] रचा। इस पवित्र कार्य में भगवान का प्रियशिष्य सोमदेव उनका सहायक था। उक्तवृत्त सोमदेवरचित श्रीचन्द्रचूडचरित में लिखा मिलता है।

## पिशावर और काबुल में भगवान् की अध्यात्मविद्या के अद्भुत चमत्कार

१५९५ वि० में भगवान् काश्मीर से पिशावर चले गये। वहाँ आपके उपदेश से जनता में धार्मिक भावों का अच्छा प्रचार हुआ। वहाँ पर ही आपके एक सौदागर सेवक ने बहुत-सा धन आपकी भेंट किया। यह सौदागर विदेश से माल भरकर स्वदेश आ रहा था। रास्ते में समुद्र में भयङ्कर तूफान आ जाने के कारण जहाज डूबने लगा। भक्त ने अनन्य मन से भगवान् का ध्यान किया। तब जहाज डूबने से बच गया और व्यापारी को उस जहाज से लाखों का लाभ हुआ। भगवान् को भेंट देने के लिये वह उन्हें ढूँढता ढूँढता पिशावर आ पहुँचा। भक्त की ओर से भेंट किये गये धन से भगवान् ने वहाँ एक स्थान बनवाया जो आजतक पिशावर में श्रीचन्द्रधर्मशाला के नाम से प्रसिद्ध है। पिशावर के हिन्दु उस में इकट्ठे होकर हरिकीर्तन एवं धर्मचर्चा करते रहते हैं। इस स्थान में पांच घृतदीपक (ज्योतियां) अहर्निश जलते रहते हैं। आजकल यह स्थान वेदियों के अधिकार में है। भगवान पिशावर से उठकर काबुल चले गये। वहाँ जाकर उन्हो ने धूना[2] लगा दिया। जनता दर्शन को आती और उपदेशामृत का पानकर कृतकृत्य होकर चली जाती। भगवान् के उपदेशों और उनकी अध्यात्म विद्या के अद्भुत चमत्कारों से मुसलमानों

× यह पक्खोंके गाम का रहनेवाला एक यादव जाति का मनुष्य था। भगवान् ने इस को करतारपुर में शिष्य बनाया था। इससमय इसकी अवस्था १४ वर्षकी थी।

१ हमें एक वेदभाष्य के कुछ जीर्ण शीर्ण पत्र मिले हैं, इसका नाम "चन्द्रभाष्य" है। सम्भव है—यह वही हो। आद्यन्त के पत्र न मिलने से निश्चय नहीं किया जा सकता। अन्वेषण जारी है।

२ अफगानिस्थाननिवासी एक प्रेमी के पत्र से प्राप्त वर्तमानवृत्त

काबुल में आजकल भी भगवान् की स्मारक एक धर्मशाला है। उसमें भगवान् की धूनीं, मृगशाला, एक टोपी और खाट हैं। श्रद्धालु लोग उक्त वस्तुओं की पूजा करके भगवान् के कृपापात्र बनने का यत्न करते हैं। इस स्थानपर एक और अलौकिक चमत्कार आजतक भी मिलता है—इस स्थान में एक खाट है। इस पर कोई मनुष्य सो नहीं सकता। यदि कोई प्रमादी हठात् सो जाता है तो खाट स्वयं उछल कर उसे नीचे गिरा देती है। उदासीन बाबा प्रियतमदास और श्यामदास जी ने इस स्थान की बहुत उन्नति की। आजकल इस स्थान में स्वामी शङ्करदास जी निवास करते हैं। गत अकाली आन्दोलन में विपक्षियों ने इस स्थान को स्वाधिकार में लाना चाहा; परन्तु शङ्करशाह के सामने वे सफल न हो सके। काबुल में भगवान् का एक तृणकुटीर (छप्पर) भी है। वहां बैठकर भगवान् जनता को उपदेश दिया करते थे।

के मनोभाव बदल गये। वे अपने पड़ौसी हिन्दुओं को भाइयों की भाँति मानने लगे और उन्होंने पहिले की तरह उनपर मनमाने अत्याचार करने छोड़ दिये। काबुल में भगवान् अपने उपदेशों में अधिकतया राम और कृष्ण की महिमा का प्रचार करते थे। फल यह हुआ कि हिन्दु-जनता के इलावा बहुत से मुसलमान भी रामकृष्ण की भक्ति के पुजारी बन गये। वे अब इस्लामधर्म को अच्छा न समझते थे।

## भगवद्भक्त वजीरखां की रक्षा

उनमें से बड़ा रामभक्त एक वजीरखाँ नामक मुसलमान था। इसपर भगवान् के सदुपदेशों का ऐसा रङ्ग लगा, जिसे उतारना वहां के मुल्लांओं और मौलानाओं को कठिन हो गया। वजीरखाँ हाथ में खड़तालें लिये दिनभर गलियों और कूचों में भगवान् राम और कृष्ण के भक्तिभरे गीत गाता रहता। जबतक वहां के लोगों को इसके भगवद्भक्तिमय मीठे गीत समझ में न आए तबतक तो वे इन्हें बड़े चाव से सुनते रहे; परन्तु ज्योंही किसी मौलवी ने लोगों को बताया कि यह तो एक हिन्दु-फकीर के सिखाए भजनों को गाता है, तब तो वे इसे काफर समझकर मारने पर उत्तर आए। रास्ते में जहां कहीं वजीरखाँ मिलता लोग वहीं उसे फटकारना आरम्भ कर देते। इधर वह भगवद्भक्ति में इतना मस्त हो चुका था कि उसे अपने तनबदन की सुध न थी। वह सारे संसार को एक खिलौना समझता था। एक दिन वह गाता गाता अकस्मात् एक मस्जिद के आगे आ खड़ा हुआ। वहाँ आगे बहुत से लोग नमाज पढ़ रहे थे। इसकी खड़तालों की आवाज से वे सब भड़क उठे और इसे मार देने के लिये दौड़े। वजीरखाँ को तो मृत्यु से भय था ही नहीं; परन्तु उसके एक प्रेमी ने उसे झट भगवान् के छप्पर में पहुँचा दिया। पीछा करनेवाले वहाँ पर पहुँचे। मौलवी और मुल्लाओं के भड़काने से वे इतने उत्तेजित हो उठे कि वजीरखाँ को वे जीवित रहने देना नहीं चाहते थे। भीड़ जब छप्पर के नज़दीक पहुँची तो भगवान् के शिष्य सोमदेव ने बाहर आकर लोगों को समझाना और शान्त करना आरम्भ किया। भला वे कब मानने वाले थे। अन्त में वे लोग छप्पर में घुसकर वजीरखाँ को पकड़ लेने का यत्न करने लगे। ज्यों ही वे लोग थोड़ा आगे बढ़े तो उनके पाँव जमीं से चिपट गये और उनकी आँखों ने भी उनको जवाब दे दिया। यह देख उस झुण्ड के नेता हाथ जोड़कर भगवान् से क्षमा-प्रार्थना करने लगे। भगवान् ने कहा यह बात अब हमारे हाथ में नहीं रही। तुम लोग वजीरखाँ से क्षमा-भिक्षा मांगो। तब वे वजीरखां स क्षमा मांगने लगे। वह आगे से रामराम! कृष्णकृष्ण! करता हुआ उनके आगे आगया। वजीरखां के दर्शन होते ही वे लोग भी रामराम! कृष्णकृष्ण! करने लगे। तब वे मुक्त होकर वहाँ से वापिस चले गये। उसी दिन से वहां की जनता इस छप्पर को बड़ी श्रद्धा से मानने लगी।×

× स्थानीय जनता का यह दृढ विश्वास आजकल भी है कि छप्पर की शरण में आए हुये पर प्रहार करनेवाला मनुष्य वहीं पर जकड़ा जाता है; और उस की आंखें सदा के लिये बेकार हो जाती हैं। समय समय पर भयभीत लोग इसका आश्रय लेते हैं। पहिले यह छप्पर घास का था; अब श्रद्धालुओं ने इसे टीन का बनवा दिया है। जिस काबुलनिवासी सज्जन से उक्त वृत्त प्राप्त हुआ है; उसका कहना है कि वह छप्पर उसने स्वयं अपने नेत्रों से देखा है।

## कन्धार में शंखनाद

काबुल से भगवान् कन्धार पहुँचे। इन दिनों में भगवान् की सेवा में सोमदेव था। उदासीनमञ्जरी में लिखा है कि, उन दिनों में अफ़गानस्थान में रहनेवाले हिन्दुओं की दुर्दशा अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। बेचारे हिन्दु जगह जगह पर दुत्कारे जाते थे। मुसलमानों की धर्मान्धता के कारण वे अपने किसी भी धार्मिक रिवाज को पूरा न कर सकते थे। जाति के सामाजिक संगठन में शिथिलता आते ही जाति के छोटे छोटे अङ्ग विदेशी शक्तियों से सताए जाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जाति अपने आप को भी भूल जाती है। तब विदेश रहनेवालों पर जो गुजरती है उसे केवल वे ही जानते हैं। उन दिनों में अफ़गानस्थान में कोई भी हिन्दु अपने देवालय में भगवान् की पूजा के समय शंखादि नहीं बजा सकता था। यदि कोई बजा भी लेता तो उसे इस्लाम स्वीकृति ही मृत्यु के मुख से बचा सकती थी।

ऐसी ही एक कन्धार की घटना हम यहाँ लिखते हैं। कन्धार में एक लक्ष्मणदत्त ब्राह्मण रहता था। वह भगवान् कृष्ण का अनन्य भक्त था। उसने अपने घर में ही एक कृष्ण मन्दिर बना रक्खा था। वह चुपचाप और बिना शंखादि बजाए वहाँ भगवान् की पूजा कर लिया करता था। क्यों कि स्थानीय सरकार की ओर से कन्धार में शंखादि बजाना अपराध समझा जाता था। एक दिन लक्ष्मणदत्त तो कार्यवशात् कहीं बाहर गया हुआ था और उस का इकलौता बेटा रामरत्न घर के आंगण में खेल रहा था। वह खेलता खेलता मन्दिर में जा घुसा और वहां से एक शंख उठा लाया। वह उस के साथ खेलता खेलता उसे बजाने का यत्न करने लगा। भला बिना अभ्यास के वह कैसे बज सकता था। कुछ देर फूँक मारने से वह धीरे २ बजता था। रामरत्न ने गुस्से में आ कर एक ऐसी फूँक मारी कि शंखनाद से सारा घर गूञ्ज उठा। घर के पास ही एक मौलवी का घर था। वह दौड़ कर आया और उनके घर का द्वार खुलवानेके लिये किवाड़ों को खटखटाने लगा। दैवात् इतने में पण्डित लक्ष्मणदत्त भी बाहर से आ गया और मौलवी को अपने द्वार के आगे खड़ा देख जरा चकित-सा हो गया। आगे बढ़कर उसने और कहा, "क्यों जी क्या बात हैं?" मौलवी गुस्से से लाल पीला हो रहा था और कड़क कर बोला, "अब क्या क्या पूछने का समय नहीं हैं, शीघ्र द्वार खुलवा दो! नहीं तो अभी तख्ते तोड डालता हुँ।" पण्डितजी ने अब भी इस पहेली का अर्थ न समझा और रामरत्न से किवाड़ खोल देने को कहा। पिता की आवाज सुनते ही वह दौड़ा दौड़ा आया और उसने द्वार खोल दिया। इतने में और भी बहुत से मुसलमान वहाँ आ इकट्ठे हुये। मौलवी रामरत्न को पकड़ना चाहता था और पण्डित लक्ष्मण उस से यह प्रार्थना कर रहा था कि यह बच्चा है। इसे तो कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं। इस का यह अपराध तो अवश्य ही क्षन्तव्य है। पण्डितजी के नम्रताभरे शब्दों ने पाषाण हृदय मौलवी के मन पर कुछ भी असर न किया। बहुत वाद्‌विवाद के अनन्तर विवश होकर पण्डितजी को उनके हाथ रामरत्न सौंप देना पड़ा। मौलवी लोग यह निश्चय कर चुके थे कि रामरत्न का निर्णय उन के धर्मनियमानुसार होना चाहिये। प्रथम उन्हों ने रामरत्न को कामरान के दर्बार में जा खड़ा किया।

इधर लक्ष्मण के तनत्रदन में आग-सी लग रही थी। तब उसे अपनी भी सुध न थी। उसका इकलौता बेटा आज पाषाणहृदय मौलवी और मुल्लाओं के हाथ पड़ गया। लक्ष्मण को और तो कुछ न सूझा वह सीधा भगवान् की शरण में पहुँचा। भगवान् पहिले ही किसी से उक्त घटना सुन चुके थे। लक्ष्मण को भगवान् ने आश्वासन देकर कहा, "आप चिन्ता करना छोड़ दें। शीघ्र जाओ और रामरत्न के मस्तक पर इस विभूति का तिलक कर दो; सब काम ठीक हो जायगा।" यह कह कर भगवान् ने अपने अग्निकुण्ड से वेदमन्त्र पढ कर विभूति दे दी। लक्ष्मण इसे लेकर सीधा कामरान के दरबार पहुँचा।

वहां पर मौलवी लोग रामरत्न के लिये मनमाने फतवे दे रहे थे। कोई कहता था इस की आंखें निकलवा देनी चाहिये। दूसरे की राय यह थी कि इस के हाथ पाँव काट कर इसे बेकार कर देना चाहिये। तीसरा यह कहता था कि इसे कतल कर देना चाहिये। कुछ कह रहे थे, यह [1]सँगसार कर दिया जाय। कई एक उस अबोध बालक को इस्लाम स्वीकार कर लेने के लिये फुसला रहे थे और साथ ही उसे भाँति भाँति के लालच दिखा रहे थे। कामरान के मन में कुछ दया थी। वह उन से बोला; "यह अबोध बालक है। इस का यह अपराध तो अवश्य ही क्षन्तव्य है।" यह सुन कर सब के सब मौलवी बोल उठे, "इस की प्राणरक्षा इस समय केवल इस्लामस्वीकृति कर सकती है।" और बहुत से धर्मान्ध मुसलमानों ने उन का साथ दिया। एक वृद्ध मौलवी ने रामरत्न को समझाया कि क्यों नाहक जान गँवाता है। मुसलमान हो जा, मैं तुझे राजदरबार में सिफारिश से कोई उच्च पद दिलवा दूँगा। परन्तु रामरत्न के मन पर इन प्रलोभनों का कोई प्रभाव न हुआ। कामरान ने भी उसे समझाने का यत्न किया, परन्तु वह भी सफल न हो सका। रामरत्न सब को यही उत्तर देता था कि हमारे यहाँ धर्म के आगे ये शरीरादि वस्तुएँ कुछ भी मूल्य नहीं रखतीं। मृत्यु तो एक चोला बदल लेने का नाम है। मौत से डरकर धर्म से पतित होना हिन्दुबालक जानते ही नहीं। जो मुझे धर्म से पतित होने को कहता है, चाहे मन से वह मेरा हितचिन्तक ही हो, मेरे से शत्रुता करते है।

उपर्युक्त वादविवाद हो ही रहा था, इतने में लक्ष्मण वहां पहुँच गया। रामरत्न के समझाने के बहाने से वह मौलवी लोगों से आज्ञा लेकर रामरत्न को एकान्त में ले गया और उसके मस्तक पर उसने भगवान् की दी हुई विभूति का तिलक कर दिया। उसने उस से कह दिया कि "यह विभूति उसी महात्मा की दी हुई है जिस से हम उपदेश सुनने जाया करते थे।" पता नहीं इस विभूति में क्या दिव्य शक्ति थी। रामरत्न के मस्तकपर इस का तिलक होते ही उस में एक विलक्षण आत्मबल आ गया। जब रामरत्न लौटकर फिर दरबार में पहुँचा तो मौलवी लोग अपने अपने फतवे तय्यार किये बैठे थे। एक बार फिर किसी मौलवी ने कहा, रामरत्न अब भी समय है समझ जाओ। " रामरत्न ने कहा, "क्या क्या बार बार मुझ से पूछते हो जो तुम्हारी इच्छा है सो करो, मैं अपने अटल निश्चय से इधर उधर होनेवालों में से नहीं हुँ।"

---

[1] अपराधी को मैदान में खड़ा करके चारों ओर से पत्थर मार मार कर मारदेना संगसार कहलाता है। यह घृणित प्रथा आज कल भी अफगानस्थान में प्रचलित है। कुछ वर्ष हुये अमान्नुल्ला के शासनकाल में एक 'मिर्जई' मुसलमान संगसार किया गया था जिस की चर्चा समाचारपत्रों में चिरतक चलती रही।

मौलवी लोग और कामरान अपना निर्णय सुनाना चाहते ही थे कि इतने में सब की जिह्वाएँ स्तब्ध हो गईं। सब के हाथ पाँव जकड़े गये। जो जहां पर था वह वहाँ ही प्रस्तरप्रतिमा की तरह प्रतीत होने लगा। यह देखकर नगरभर में हाहाकार मच गया। कामरान का मित्र गुलअकबर एक उदार व्यक्ति और महात्माओं का सत्सङ्गी था। वह झट समझ गया कि यह तो उसी महात्मा का काम है जो कुछ दिन से बाहर उतरा हुआ है। वह तत्क्षण दरबार में गया और सब से कहने लगा कि तुम उन महात्माओं से क्षमा-प्रार्थना करने की प्रतिज्ञा करो जो आज कल नगर से बाहर ठहर रहे हैं। उन्हों ने वैसे ही किया तो वे सब के सब बन्धन से मुक्त हो गये।

कामरान की आज्ञा से लक्ष्मण अपने बेटे के साथ भगवान् की सेवा में गया। पीछे से बड़े बड़े प्रतिष्ठित हिन्दुओं को साथ लेकर कामरान भी भगवान् के पास पहुँचा। भगवान ने कहा " शासक को किसी पर अन्याय करना अनुचित है। उसे अपनी प्रजा के साथ समबुद्धि से व्यवहार करना चाहिये। पक्षपाती शासक अधिक दिन शासन नहीं कर सकता " कामरान के मन में भगवान के इस उपदेश का बड़ा असर हुआ। वह हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा, महाराज, आप के उपदेश से मैं भविष्य में अपने राज्य में ऐसे अन्याय न होने दूँगा। " भगवान ने कहा, यदि ऐसा करोगे तो आपके राज्य में सर्वदा शान्ति बनी रहेगी "। तब कुछ देर और वार्तालाप के अनन्तर सब लोग वापिस आगये।

## कन्धारनरेश कामरान के प्रमाद का बुरा परिणाम

एक दिन भगवान् जङ्गल में एक पर्वत की चोटी पर बैठे हुये थे। कामरान शिकार खेलता खेलता वहाँ आ निकला। ठीक उसी पर्वत की उपत्यका में, जहां भगवान् समाधिस्थ थे, उसने एक मृग को मारा। भगवान् तो समाधिस्थ थे। अतः सोमदेव यह दयनीय घटना को देखकर कामरान से बोला कि यह स्थान भगवान् के यहाँ बैठ जाने से पुण्याश्रम बन गया है, अतः यहाँ जीवहत्या करना उचित नहीं। कामरान ने कहा यदि आप के भगवान् इस मृग को पुनर्जीवित करदें तो मैं आपकी बात सहर्ष मानने को तय्यार हूँ।

सोमदेव कामरान को भगवान् के पास ले गया और भगवान् उसे उपदेश देने लगे, " देखो कामरान ये जितने वन्य जन्तु हैं, सब के सब परमात्मा को अपने पुत्रों की तरह प्यारे हैं। इनकी निरर्थक मौत से परमात्मा अप्रसन्न होते हैं। अतः हमें ऐसा काम कभी न करना चाहिये जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध हो। जिस हत्या से समाज को कुछ लाभ पहुँचता हो वह पाप का मूल नहीं होती। जो केवल अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये होती है वह अवश्य ही दुखदायी परिणाम में बदले बिना नहीं रहती। अतः इन निरपराध जन्तुओं को मारकर जगत् के नियन्ता ईश्वर के विरुद्ध जीव हत्याकरना आपके लिये श्रेयस्कर नहीं "। भगवान् के इस उपदेश का कामरान पर बहुत प्रभाव पड़ा और वह अपने पूर्वपापों के प्रायश्चित के विषय में भगवान् से पूछने की इच्छा करने लगा।

यहां पर यह भी जान लेना चाहिये कि कामरान ने उस मृग की आंखें निकाल ली थीं। अतः भगवान् ने भावी घटना को सूचित करने के लिये कह दिया था "जिसने इसकी आंखें निकाली हैं; उसकी आंखें भी किसी के द्वारा निकाल ली जायँगी "।

भगवान् की इस उक्ति का पता चलते ही कामरान थरथर कांपने लगा और इस अवश्यंभावी घटना से किसी तरह बचजाने का उपाय पूछने की इच्छा से वह भगवान् के चरणों के नज़दीक लेट गया। भगवान् तब समाधिस्थ थे। भावी दुःख की चिन्ता से वह भूख प्यास भी भूल गया। लागतार १५ घण्टे वह वैसे ही पड़ा रहा। जब भगवान् की समाधि खुली तो सोमदेव ने कामरान की दशा का सारा हाल भगवान् को सुनाया। उन्होंने कहा, "सोम! नियति का नियम अटल है। जो कुछ होना है, वह होकर ही रहेगा।" भगवान् के ये शब्द सुनकर कामरान बारंबार विनति करने लगा। तब सोमदेव के अधिक कहने सुनने पर भगवान् ने कहा, "अच्छा, कामरान! जबतक तू अकारण किसी को सताने एवं शासन के मद से निर्दोष जन्तुओं के व्यर्थवधादि पापों से अपने आप को दूर रक्खे गा, तब तक तुझे इस भावी घटना का कोई भय न होगा। परन्तु स्मरण रहे; प्रमादी होते ही तुझे यह दुःख भोगना पड़ेगा*।" भगवान् के उक्त शब्द सुन कर कामरान के हृदय में दया के भाव उत्पन्न हो गये। वह अपने किये पापों पर पश्चात्ताप करने लगा। उसने हाथ जोड़ कर कहा–" महाराज मेरे मन का कांटा तभी दूर हो सकता है, यदि आप इस मृत मृग को पुनः जीवित कर दें।' कामरान की प्रार्थना सुनकर भगवान् की अमृतमयी दृष्टि उस मृग पर पड़ी वह झटिति उठकर उछलता कूदता जंगल में जा घुसा। और कामरान भगवान् को प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया। यह घटना १५९७ वि० की है।

## पिता जी का परलोकगमन

भगवान् वहां पर कुछ दिन और ठहर कर वहां से शिवबुलान चले गये। उधर ही बलोचिस्तान होते हुये पिशावर पहुँच गये।

इधर भगवान् के पिता श्रीनानकदेव जी १५९६ की आश्विनवदि १० के दिन देवलोक पधार गये। अतएव भगवान् के शिष्य कमलदास और धर्मचन्द्र दोनो खिन्न रहने लगे। माता सुलक्षणी जी भी भगवान् के दर्शनों के लिये बहुत दिन से उत्कण्ठित थी। कारण यह था कि उनका प्रियपुत्र श्रीलक्ष्मीचन्द्र तो पहिले ही परलोक सिधार चुका था। अब आराध्यदेव पति भी जिन के दर्शन से अपने चित्त को आश्वासन दे लिया करती थी सदा के लिये अदृश्य हो गये, १६ वर्षका एक

* कामरान ने कुछ दिन तो भगवान् की शिक्षा को याद रक्खा और वह अच्छी तरह सन्मार्ग में चलता रहा। परन्तु अन्त में तो वह मनुष्य ही था अतएव प्रमाद का शिकार हो गया। पूर्ववत् मृगया में वह फिर अनन्त जीवों का वध करने लगा। भगवान् के वचनानुसार उसे मृग की आंखों के निकालने का पाप-फल अवश्य ही चखना था। अतएव, १६११ वि० में बाबर के बेटे हुमायूँ ने काबल पर आक्रमण कर दिया। लडाई में कामरान पकडा गया और कैद में उसकी आंखें निकलवा दी गई। कामरान हुमायूँ का छोटा भाई था। इस प्रकार कामरान को अपने कुकृत्य का कटु-फल अवश्य ही चखना पडा। इस असह्य दुःख में कामरान को भगवान् के उपदेश स्मरण आए और वह बारम्बर अपनी असावधानता के लिये अपने आपको धिक्कारने लगा।

बालक ही अब उनकी आशाओं का सहारा था परन्तु आजकल तो वह भी भगवान् के दर्शनों के बिना उदास रहता था। धर्मचन्द्र इनदिनों में भगवान् के चरणों के ध्यान में प्रायः मौन रहा करते थे। आते जाते यात्रियों से और भक्त लोगों से ये भगवान् के सम्बन्ध में कुछ न कुछ पूछते ही रहते थे। एक दिन एक भक्त ने बताया कि आजकल भगवान् पिशावर में हैं। धर्मचन्द्र और कमलदास देहराबाबानानक* से पिशावर पहुँचे और भगवान की सेवा मे जा उपस्थित हुये। धर्मचन्द्र को तो भगवान् के आगे बोलने का भी साहस न होता था परन्तु जब कमलदास ने पिता के परलोक गमन और माता की दर्शनार्थ उत्कट इच्छा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया तो धर्मचन्द्र को भी कुछ बोलने का साहस हो गया। वह बोला, "भगवन्, क्या इस दास की आशालता कृपाजल से सिञ्चित हो कर पल्लवित और पुष्पित न होगी? क्या प्रेमविह्वला माता को आप दर्शन देकर कृतार्थ न करें गे? यह तो आपका ही कार्य है। चाहे आप मुझे अपनी सेवा में रखलें या आप स्वयं चलकर मुझे पितामही की सेवा में नियुक्त कर दें। आप मेरी इन प्रार्थनाओं पर अवश्य ध्यानदें।" यह कहकर धर्मचन्द्र मौन हो गये। उन दिनों में पिशावर की जनता भगवान् के उपदेशों से लाभ उठा रही थी। हरसमय भगवान् के पास भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। जनता भगवान् का वियोग सहन न कर सकती थी। अतएव भगवान् को वहाँ कुछ दिन श्रद्धालुभक्तों की प्रसन्नतार्थ ठहरना पड़ा। आखिर भगवान् ने भक्तों को समझा बुझाकर वहाँ से प्रस्थान किया। गुजरात स्यालकोटादि होते हुये वे देहराबाबानानक आ पहुँचे। वहाँ गाँव से बाहर एक टाहली (शिंशपा) के पेड़के नीचे भगवान् ने आसन लगा दिया। समाचार मिलते ही श्रीमती माता जी भी शीघ्र वहाँ आ गईं। माता जी पुत्र के दुर्लभ दर्शनों से पतिदेव के वियोग को भूल गईं। गाँव के लोग भी भगवान् के दर्शनार्थ आने लगे और भगवान् के पास श्रद्धालुभक्त हरसमय उपस्थित ही रहते थे। भगवान् उपदेशामृत की वर्षा से अपने भक्तों को प्रसन्न करने लगे।

भगवान् ने काङ्गड़े के पर्वतीय प्रान्तों में धर्मचारार्थ अपने शिष्य कमलदास को भेज दिया। भगवान् स्वयं उस टाहली के नीचे से उठकर दूसरी टाहली के नीचे जा बैठे। उक्त दोनों स्थान देहराबाबानानक के समीप अबतक वर्तमान और प्रसिद्ध हैं। इसके बाद, नानकदेहरा से १९ कोश ईशानकोण में एक बारठग्राम है; वहाँ पर भगवान् कुछ दिन रहे। ग्राम नानकचक में भगवान् का एक वटसाहिब× स्थान है। ये चारों स्थान जिला गुरुदासपुर में वर्तमान हैं। इन स्थानों में रहकर भगवान् ने जो महत्त्व पूर्ण कार्य किये उनका ब्योरा किसी स्वतन्त्र निबन्ध में दिया जायगा।

* लक्ष्मीचन्द्र ने पकखोंके ग्राम में कुछ भूमि लेकर नानकपुर ग्राम बसाया। धर्मचन्द्र के साथ माता जी आजकल यहाँ निवास करते थे। करतारपुर के समान यहाँ पर भी श्रीनानकदेव जी का स्मारक देहरा बनवाया गया। इस लिये यह ग्राम देहराबाबानानक नाम से प्रसिद्ध हुआ।

× टाहली, बिल्व, पीपल, वट, आम्ला, इन पाञ्च वृक्षों की यहाँ भगवान् के समय पञ्चवटी थी-यह बात वहाँ आम जनता में प्रसिद्ध है।

## भगवान् की हरिद्वारयात्रा

१६०० वि० में भगवान् ने हरिद्वार की यात्रा आरम्भ की। मार्ग में भगवान् नगर और गाँवों में ठहर ठहर कर जाते थे। जिला जालन्धर के नया शहर से दो कोश पर दौलतपुर ग्राम में भगवान् कुछ दिन ठहरे। यहाँ पर भगवान् के बैठने से सूखा टाहली का पेड़ हरा हो गया।

भगवान् धीरे २ हरिद्वार जा पहुँचे। वहाँ पर वे अधिक कनखल में ही टिकते थे। क्योंकि वे उसे अपनी सम्प्रदाय का एक ऐतिहासिक स्थान समझते थे। उदासीनों के आदिम आचार्य श्रीसनत्कुमार जी अधिक कनखल में ही रहा करते थे। अतः भगवान् का गमनागमन अधिक वहाँ ही होता था। कनखल में उसी स्थानपर भगवान् का एक मन्दिर बना हुआ है।

भगवान्, सोमदेव, वीरदासादि शिष्यों के साथ उत्तरकाशी की ओर जाना चाहते ही थे कि इतने में एक भक्त भगवान् के दर्शनार्थ आया। यह सिन्धुदेश के रहनेवाला था। घर से वह यहाँ हरिद्वार की यात्रार्थ आया था। हरिद्वार में भगवान् की कीर्ति का श्रवण करके वह कनखल भगवान् के दर्शनार्थ आया। इसका नाम रामचन्द्र था। भगवान् सबकुछ जानते हुये वी उस से सिन्धुदेश की दयनीय दशा के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ करने लगे।

## सिन्ध की दुर्दशा का हाल सुनकर भगवान् नगरठट्ठा पहुँचे

रामचन्द्र ने अपने अभागे सिन्धुदेश की दशा का चित्र इसप्रकार खैंञ्चा, "भगवन्! आजकल सिन्धुदेश की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। मैं उसे सुनाकर आपके समाहित चित्त को विक्षिप्त करना नहीं चाहता। परन्तु; आपके आदेशभङ्ग की धृष्टता से भी घबराता हूँ। मनमें यह विचार भी आता है, संभव है, आप जैसे योगिराज की कृपा से सिन्धुदेश का उद्धार ही हो जाय। इस लिये आपके आगे उसके दुःखों का न रोना तो उसका बुरा चिन्तन है। अतः अब मैं कुछ कह ही डालता हूँ।

दयालो! अरबदेशनिवासी लङ्का में आदम के चरणचिन्ह[१] की यात्रार्थ चिर से आया जाया करते थे। सिन्ध उनके मार्ग में पड़ता था। अतः यात्रीलोग सिन्ध में ठहर कर आगे जाया करते थे। इस्लामधर्म का अरब में प्रचार होते ही वहाँ के निवासियों ने सिन्ध और मकरान के मध्य के देश को जीत लिया। तब उन्हों ने वहाँ इस्लामधर्म के प्रचार करने का पक्का इरादा करलिया। ७६९ वि० में समस्तसिन्ध पर इनका अधिकार हो गया। इससमय उन्हों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये निन्दित से निन्दित उपायों का सहारा लिया। लाखों हिन्दु बलात् विधर्मी बनाए गये। लगातार ८०० वर्ष से यह देश यवनों द्वारा पददलित होता आ रहा है। भारत के अन्य प्रान्त के किसी धार्मिक या नैतिक नेता ने उस की ओर कभी आंख उठाकर भी नहीं ताका। धर्मप्रचारक तो कोई उधर धर्म से पतित होने के भय से सिन्धुनदी से पार नहीं जाता। यदि कोई जाते हैं तो वे हैं तान्त्रिकलोग। वे उधर हिङ्गलाजदेवी की यात्रार्थ जाते हैं। वे स्वयं ही आचार में हमलोगों से बहुत पीछे होते हैं, अतः उनसे भी सिन्ध के उद्धार की कोई सम्भावना नहीं हो

१ बौद्ध इसे भगवान् बुद्ध का चरणचिह्न बताते हैं।

सकती। उनके आचारविचार से तो बल्कि देश की जनता में अनाचार और कदाचार बढते हैं। ऐसे लोगों के अधिक गमनागमन से सिन्धुसमीपवर्ती कच्छदेश अनाचार का मुख्यकेन्द्र बना हुआ है। इसी के संसर्ग से अब सिन्धवासी भी मद्य-मांसादि के सेवन में प्रवृत्त हो रहे हैं। अतएव सनातनधर्म के सँस्कार प्रतिदिन लुप्तप्रायः होते जा रहे हैं। प्रभो, यवनों के धर्मप्रचार और अत्याचार की इतनी अधिकता है कि वे अनौचित्य और अन्याय से जरा भी नहीं घबराते। यदि किसी हिन्दु से कुछ थोडा-सा भी अपराध हो जाता है तो वे उसे न्याय का ढोंग रचकर कह देते हैं कि या तो इस्लाम स्वीकार करो अन्यथा प्राणदण्ड सहने के लिये तय्यार हो जाओ। ऐसी परिस्थिति में दुर्बल हृदय तो अपने अमूल्य धर्म के बदले इन तुच्छ प्राणों को मोल ले लेते हैं। साहसी और वीर पुरुष प्राणों को तुच्छ समझकर अपने धर्म की रक्षार्थ हँसते हँसते मृत्यु का आलिङ्गन कर लेते हैं। भगवन्! क्या क्या बताऊँ,-यवनों की अत्याचार रूपी प्रचण्डाग्नि में हिन्दु-जाति रूपी चन्दनतरु प्रतिदिन दग्ध हो रहा है। कुछ अत्याचारी यवनों ने अपना दम्भजाल फैलाया हुआ है। वे अपनी करामातों के सब्जबाग दिखाकर सहस्रों हिन्दुओं को धर्म पतित कर रहे हैं। सरलहृदय आर्यरमणियों को पुत्रादिकों का प्रलोभन देकर उन्हें अपने जाल में फँसा लना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। श्रद्धालु लोग उनको अपना पीर मानते हैं। इन पीरों का अन्दरूनी प्रचार इस्लाम के प्रचार में तलवार से भी अधिक सहायक हैं। पीरों की कपटमय युक्तियाँ भोले भाले हिन्दुओं को शीघ्र ही इस्लाम का भक्त बना डालती हैं। इस लिये सिन्ध में हिन्दु-जाति का अस्तित्व सन्देहास्पद हो रहा है। अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि सिन्ध की इस दयनीय दशापर किसी महापुरुष का दयामय हृदय द्रवित हो उठे। और वह अपने आत्मत्याग से उसका उद्धार करे। इसके पीछे उद्धार करने की चेष्टा डूबकर मरे हुये को ढूँढकर बाहर निकालने के समान होगी। भगवन्! क्या बताऊं! दुर्दशा के चित्र का स्मरण आते ही मेरा तो हृदय विदीर्ण होने लगता है।" रामचन्द्र ने अपने देश की दुःखभरी कहानी इसतरह समाप्त की और वह भगवान् के चरणों पर सिर रखकर रोने लग गया।

भगवान् के दयामय हृदय में करुणा का स्रोत बह निकला। हिन्दुओं की इस दयनीय दशापर भगवान का मन मोम की तरह पिघल गया। कुछ देर तो भगवान चुप रहे, और कुछ मनही मन सोचते रहे। उन्हों ने आखिर अपने शिष्यों से कहा. "अब हमें उत्तरकाशी की यात्रा का विचार स्थगित कर देना चाहिये और यहाँ से सीधे सिन्ध की ओर चल देना अधिक हितकर होगा"। इन्हें यह कह कर भगवान् ने रामचन्द्र को आश्वासन देकर कहा, भक्तराज, मत चिन्ता करो। प्रभु हमारी अवश्य रक्षा करेंगे। यह जाति मिटनेवाली जातियों में से नहीं है। विश्वास करो! इसे मिटानेवाला स्वयं मिट जायगा। इसप्रकार भक्त रामचन्द्र को आश्वासन देकर भगवान् उसी दिन वहाँ से सिन्धु की ओर चल पड़े। हरिद्वार से बठिण्डा, मुलतान होते हुये भगवान् नगरठठ्ठा जा पहुँचे। वहाँ एक सघन जङ्गल में भगवान ने धूना लगा दिया।

## भक्तगिरि को देवी के दर्शन

नगरठठ्ठा उन दिनों में सिन्ध के प्रधान मुसलमानों का अड्डा बना हुआ था।

इसके इलावा हिङ्गलाजदेवी की यात्रा को जानेवाले तान्त्रिक लोग प्रायः नगरठट्टे होकर जाया करते थे। भगवान् का इस स्थान पर ठहरना यही तात्पर्य रखता था कि मुसलमानों की शक्ति का केन्द्र यही स्थान था और शाक्तों के आने जाने का यह रास्ता था। अतः मुसलमानों का मान-मर्दन और शाक्तलोगों का सत्पथ पर लाना इसी स्थान पर ठहर कर हो सकता था।

बाहर के शत्रुओं की अपेक्षा घर के द्रोहियों से अधिक भय रहता है। अतः भगवान् ने मुसलमानों को कुछ कहने सुनने से पूर्व तान्त्रिकों की ओर ध्यान दिया। तान्त्रिकलोगों के साथ यात्रा में बहुत से श्रौतस्मार्त्तधर्मावलम्बी भी होते थे। उन्हें ये लोग तन्त्रग्रन्थों की मनघड़न्त कहानियाँ सुनाकर अपने सिद्धान्तों से सहमत कर लेते थे। हिङ्गलाज देवी की पूजापद्धति में अवतक भी तान्त्रिकों का प्रभुत्व है। कच्छदेश में तान्त्रिकभावों के साम्राज्य के सूचक कुछ (पञ्चमकारादि) अनाचार अवतक भी प्रचलित हैं। आएगये यात्रियों से वार्तालाप भगवान् के शिष्य किया करते थे। उन दिनों में भगवान् मौन रहते थे। अपने पूर्वजों की प्रथानुसार, मगध-देश से महात्मा भक्तगिरि अपने ३६० शिष्यों के साथ हिङ्गलाजदेवी की यात्रार्थ आया और जब वह पञ्जाव पहुँचा तो अन्य साधु महात्माओं से उसने भगवान् श्रीचन्द्र का यशोगान सुना। तभी से भक्तगिरि के मनमें भगवान् के दर्शनों की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई। जब किसीसे यह सुना कि वे आजकल नगरठट्टा में हैं तो वह आनन्द से प्रफुल्लित हो गया। पाठक यह पीछे पढ आए हैं, उन दिनों में भगवान् के शिष्य नवागन्तुक तान्त्रिकों को सत्पथ में लाने का अधिक यत्न किया करते थे।

भक्तगिरि के साथ एक रामगिरि तान्त्रिक था। भक्तगिरि को वह तान्त्रिक-विचारों का भक्त बनाने के लिये यत्न करता रहता था। अन्यलोगों से सुनी हुई भगवान् श्रीचन्द्र की दिव्यशक्तियों की चर्चा जब कभी भक्तगिरि किसी के आगे करने लगता तो रामगिरि झट चिड़ जाता और सब को बुरा भला कहता कहता इधर उधर चला जाता। पता नहीं क्या बात थी, भगवान् की प्रशंसा का एक शब्द भी उसे दिन भर बेचैन करदेने में पर्य्याप्त था। वह भक्तगिरि को कहा करता था. "श्रीचन्द्र को जो लोग शक्तियों का भण्डार बताते हैं; वे भूलते हैं। ये तो भोले भाले भक्तों की उड़ाई हुई गप्पें हैं। कलियुग में केवल शक्तिपूजा ही पुरुषार्थ चतुष्टय के देनेवाली है। तान्त्रिकप्रक्रिया ही समस्त शक्तियों की जननी है। कलि में लोग योगाभ्यास करने में असफल हो जायँगे, एतदर्थ भगवान् शङ्कर ने तान्त्रिक-मत की रचना की है। आप लोग अभी से इतने उतावले क्यों हो रहे हो, तुम एकवार हिङ्गलाज देवी के भवन में तो पहुँचो। वहाँ पर हमलोग अलौकिक चमत्कारों को देखेंगे। इसके इलावा वहाँ पर बड़े बड़े शक्तशिरोमणि कौलों के दर्शन भी होंगे।"

जब यह वार्तालाप हो रहा था तो घूमता घूमता सोमदेव वहाँ आ निकला। भक्तगिरि और सोमदेव का परस्पर वार्तालाप आरम्भ हुआ। अन्त में भक्तगिरि ने भगवान् के दर्शन की इच्छा प्रकट की। सोमदेव उसे अपने साथ ले गया। भक्त-गिरि की भगवान् पर पहिले से ही अनन्य श्रद्धा थी। परन्तु अब दर्शनों से तो वह और भी कई गुणा बढ गई।

भगवान ने कुशल पूछने के अनन्तर पूछा, "महात्मन्, कहां से आगमन हुआ

और किधर प्रस्थान करने की इच्छा है " ? भक्तगिरि ने हाथजोड़ कर कहा, "महाराज ! दास मगधदेश से आरहा है, और आगे हिङ्गलाज के दर्शनार्थ जाने का विचार है। भगवान् बोले, "यदि देवी के दर्शन यहाँ ही हो जायँ तब ? भक्तगिरि ने कहा तब तो आपका बहुत ही अनुग्रह हो और मैं आ जीवन आपका आभारी रहूँगा।

भगवान्—अच्छा तो यदि यहाँपर देवी के दर्शन हो जायँ तो हिङ्गलाज तो न जाओगे ?

भक्तगिरि—जी, नहीं ! "अक्के चेन्मधुविन्देत् किमर्थं पर्वतम् व्रजेत्"। महाराज जी, प्रत्येक मनुष्य का प्रयत्न अपनी मनोरथसिद्धि के लिये होता है। यदि मुझे यहाँ पर ही भगवती के दर्शन हो जायँ तो मैंने वहाँ जाकर क्या लेना है। भगवान् की आज्ञा से वह रात्री भक्तगिरि ने वहाँ ही विताई। प्रातःकाल होते ही देवी ने उसे दर्शन दिया और उससे यह कहा, "भक्तगिरि, तू यदि अपना कल्याण चाहता है तो इन्हीं के चरणों का सेवक हो जा। ये साक्षात् भवानीपति शङ्कर हैं। त्यागी मुनियों के उच्च आदर्श स्थापित करने के लिये इस रूपमें भगवान् शंकर अवतीर्ण हुए हैं। दयालु शङ्कर ने दम्भियों के कपटजाल से दयाकर तुझे बचा-लिया है। अतः तुम्हारा कर्तव्य यही है कि तुम इनके चरणों के सेवक हो जाओ"। देवी यह कह कर अदृश्य हो गई। देवी के उपदेश से भक्तगिरि का अज्ञा-नान्धकार दूर हो गया। अतएव उसने सारी घटना भगवान् के आगे कह दी। इस समय भक्तगिरि के मन में चतुर्थाश्रम का रहस्य समझने की इच्छा उत्पन्न हुई और उसने इसे भी भगवान् के आगे प्रकट कर दिया।

### उपदेश सुनकर भक्तगिरि भक्तभगवान् बनगये

चतुर्थाश्रम का रहस्य बताने के लिये भगवान् ने उससे यह कहा, "वेद में प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म-दोनों उपदिष्ट हैं। प्रवृत्तिधर्म से स्वर्ग की और निवृत्ति-धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रवृत्तिधर्मानुष्ठान का क्षेत्र गार्हस्थ्य और निवृत्ति धर्मानुष्ठान का क्षेत्र औदासीन्याश्रम है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की शिक्षा के लिये क्रमशः प्रथम और तृतीयाश्रम का सर्जन हुआ। इस प्रकार, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और औदासीन्य-इन चार आश्रमों की रचना हुई। उक्त चारों आश्रम शास्त्रसम्मत हैं। आरम्भ में प्रथम निवृत्तिसेवी सनत्कुमारमुनि की कृपा से औदा-सीन्य चतुर्थाश्रम का विकास हुआ। इसका दूसरा नाम ब्रह्मसँस्था है। आश्रम-चतुष्टय प्रतिपादक, "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इस वाक्य के देखने से मोक्षा-श्रम का नाम ब्रह्मसंस्था और मोक्षाश्रमी का नाम ब्रह्मसंस्थ निर्णीत होता है। उदासीन शब्द का भी यही अर्थ है। इस शब्द में उद्-और आसीन ये दो भाग हैं। उद् का अर्थ ब्रह्म और आसीन का अर्थ संस्थ है। ऋग्वेद में मोक्षाश्रमी के लिये मुनि शब्द का प्रयोग किया गया है। मुनिका अर्थ ज्ञानवाला होता है। ज्ञान से ब्रह्मसाक्षात्कार ही लेना होगा। यतः साधारणज्ञान के ग्रहण से तो प्रत्येक ज्ञानवाला लिया जा सकता है। यदि ऐसा ही मानें तो दूसरों की अपेक्षा मुनि में विशेषता क्या हुई ? अतः मोक्षाश्रमियों के प्राथमिक नाम उदासीन, ब्रह्मसंस्थ और मुनि-ये तीन थे। पीछे से जब महामुनि सनत्कुमार के भृगु आदि नौ भाइयों के द्वारा गार्हस्थ्याश्रम का विकास हुआ, तद्नु आवश्यकतानुसार

प्रवृत्ति और निवृत्ति शिक्षणोपयोगी ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ-इन दोनों आश्रमों का विकास हुआ। विकाशापेक्षया मोक्षाश्रम प्रथम होने पर भी पश्चादाविर्भूत आश्रमत्रय की अपेक्षा से उनका स्थान आरोह की दृष्टि से चतुर्थ हुआ। व्यवहार निपुणता का पूरा अध्ययन करके ही मनुष्य प्रवृत्ति में भाग लेता है। प्रवृत्ति से उपरति होते ही निवृत्तिस्थ हो जाता है। निवृत्तिस्थ मनुष्य धीरें धीरे ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। आदिम श्रौत मुनियों में जगत्कल्याणकारी पञ्चदेवोपासना के भाव पाए जाते थे। दुर्दैवात्, अनन्यभाव का विपरीतार्थ समझकरके-पाञ्चों में से एक एक देवता को ही अधिक महत्त्व देने वाले सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इन्हीं में उपास्यभेद से शैव और वैष्णव-ये दो विशेष श्रेणियाँ हुईं। इन भावों के भिन्न भिन्न उपास्यदेव की भिन्नता को महत्त्व देने वाले मोक्षाश्रमी स्मार्त्त हुए। कारण, इन भावों का पोषण स्मार्त्त प्रमाणों के आधार पर किया गया। अतः श्रौतचतुर्थाश्रमी उदासीन ही हैं। इस समय तक मोक्षाश्रम की दो ही शाखाएँ थीं। इन दोनों में भेद था तो केवल इतना कि श्रौतमोक्षाश्रमी पञ्चदेवों को समभाव से पूजते थे। स्मार्त्त मोक्षाश्रमी अपने अपने एक एक देव की प्रधानता पर आश्रित थे। उक्त दोनों श्रेणियों में देवोपासननिबन्धन मतभेद रहने पर भी मोक्षाश्रम के मौलिक सिद्धान्त त्यागादि दोनों में समान थे। अर्थात् दोनों श्रेणियों में मोक्षाश्रम के सिद्धान्तों का पालन अच्छी तरह होता था।

समय ने पलटा खाया, बहुत से चालाक विषयलम्पटों ने मनमाने अनाचारों को स्वरचित पार्वतीशिवसंवादात्मक ग्रंथों के आधार पर शिव आज्ञा बताकर श्रौतधर्म की सदाचारभित्ति को गहरी चोट पहुँचाई। उनका प्रचार बड़े ढँग से होता था। अतएव कितने ही आस्तिक लोग उनके कपट का शिकार हो गये। उनके प्रचार का अधिक प्रभाव शैव चतुर्थाश्रमियों पर पड़ना स्वाभाविक था, क्यों कि वे अपने सारे सिद्धान्तों को शिवरचित बताते थे। इसलिये अब चतुर्थाश्रम तीन शाखाओं में विभक्त हो गया। वे शाखाएँ ये थीं-श्रौत, स्मार्त्त और आधुनिक। आरम्भ में श्रौतशाखा का ही सर्वत्र प्रचार था। स्मार्त्तशाखा ज्यों ज्यों बल पकड़ती गई, त्यों त्यों श्रौतशाखा घटती गई। आजतक चतुर्थाश्रम की स्मार्त्तशाखा भी आधुनिक (तान्त्रिक) शाखाद्वारा ग्रसित की जा रही है। गुरु देव अविनाशी मुनि की दया से अब श्रौतशाखा का फिर पुनरुत्थान हो रहा है। आशा है कि, अब शीघ्र ही देवोपासनाप्रयुक्त भेदभाव दूर हो जायगा और स्मार्त्त मोक्षाश्रमी भी श्रौत पथपर चलना आरम्भ कर देंगे। संभवतः श्रौत मुनियों के सदुपदेश सुदर्शनचक्र से तान्त्रिकमतराहुपराग का अन्त हो जायगा। दुःख की बात है, धर्मरक्षक शैवस्मार्त्त भी तान्त्रिकों के बहकाने में आकर, व्यर्थ ही विवेकभ्रष्ट हो रहे है।"

इसके बाद भगवान् ने भक्तगिरि को चतुर्थाश्रमियों के कुटीचकादि भेद और उनके दैनिकाचारादि बताए। भगवान् ने कहा "महात्मन्, पाञ्चों देव माया-शबल ब्रह्म की मूर्ति हैं। पाञ्चों के पूजन में एक ही का पूजन है। अनन्यभाव का यह अर्थ नहीं कि एक वैष्णव शिवका पूजन न करे। स्वप्रकृत्यनुसार जिस देवता का पूजन आरम्भ किया है, यदि उसके पूजन से अवकाश मिलता है तो उसे दूसरे का भी पूजन करने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये। इष्टदेव की मूर्ति में

अन्य देवका भाव न होकर उसी उपास्य देवका भाव बना रहना चाहिये। प्रभु भक्त भावना के राज्य में उन्नत होकर संसार की समस्त वस्तुओं में अपने इष्ट का ही दर्शन करते हैं। भावना के उत्कर्ष से विश्वभर में प्रभुदर्शन ही अनन्यभाव है। व्यर्थ भेदभाव को पारस्परिक कलह का निमित्त बना देना भक्ति नहीं"। यह कह कर भगवान् चुप हो गये।

भगवान के उक्त सदुपदेश से भक्तगिरि के अन्तःकरण में विचित्र परिवर्तन हो गया। अब उसके मन में भेदभावपूर्ण स्मार्त्तचतुर्थाश्रमशाखा के लिये कोई श्रद्धा न रह गई। यही कारण था कि भक्तगिरि ने तान्त्रिक रामगिरि को अपने टोले से पृथक् कर दिया। भक्तगिरि के निर्मल मनपर भगवान् के सदुपदेश की छाप लग गई। इस लिये उसने औदासीन्य चतुर्थाश्रम की दीक्षा ले लेने की इच्छा भगवान् के आगे प्रगट की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। भक्तगिरि को औदासीन्यमत की दीक्षा दी गई और उसका नाम भक्तगिरि से भक्त-भगवान् रक्खा गया। दीक्षा के समय भगवान् ने जो सदुपदेश अपने शिष्यों को दिया वह अत्यन्त महत्व पूर्ण था। पाठकों के लाभार्थ वह यहाँ संक्षेपतः लिखा जाता है।

## आदर्श उपदेश

"प्रिय शिष्यवर्ग, यह वही पवित्र सिन्धु नदी है, जिसके तट पर उदासीन विश्वामित्र मुनिने यज्ञ किया था। इसी नदी के समुद्रसङ्गम पर सर्वोत्तम तीर्थ नारायण सरोवर है। यह वही स्थान है जहांपर नारदमुनि से दक्ष के दश हजार बेटों (हर्यश्व-शबलाश्व) ने गुरुमन्त्र ले कर संसार में औदास्य धर्म का प्रचार किया। वेदादि सच्छास्त्रों के अवलोकन से पता चलता है, सिन्धु देश ही हमारे पूर्वजों की आदि [1]जन्मभूमि है। यहां से हिन्दुओं के अस्तित्व का मिटना क्या कम खेद का विषय है? उदासीन, सुवेष, महेष, और हारीत प्रभृति मुनियों के धर्म एवं जाति सेवा के आदर्श आप लोगों के आगे हैं। धर्म और जातिसेवा के लिये ही आप सांसारिक विषयोपभोग को जलाञ्जलि देकर साधु हुये हैं। अब समय आ गया है। आप अब सब धर्म की रक्षा के लिये कार्यक्षेत्र में कूद पड़ो। गार्हस्थ्य जीवन कोई पापमय नहीं, केवल कुटुम्बरक्षा में लगे रहने के कारण मनुष्य को जातिसेवा के लिये पर्य्याप्त समय नहीं मिलता। साधुमहात्माओं को इधर उधर की चिन्ताएँ नहीं सतातीं, अतः वे लोग देश और धर्म की रक्षा के पवित्र लक्ष्य तक पहुंचने के लिये अपने प्रण को पूरा निभाने में समर्थ होते हैं। धर्मप्रेमिमुनिवृन्द! धर्मसेवा के मैदान में उतर आओ, अपने सदुपदेशमन्दाकिनी के पवित्र प्रवाह से जनता के पापमय हृदयपटल को क्षालित कर दो। अपने समान त्यागी और धर्मसेवक व्यक्तियों को उत्पन्न करो। वीरों की वीरताग्नि को प्रज्वलित करदो। देशमें संगठन का शंखनाद सर्वत्र सुना दो। मृतप्राय हिन्दुजाति में उद्योग-महामन्त्र के उपदेश

१ सिन्धुनदी के तटपर निवास करने से हमारे पूर्वजों का नाम सिन्धु पड़ा। सकार के स्थान में हकार आजाने से सिन्धु से हिन्दु बना। सकार के स्थान में हकार का प्रयोग लोक और वेद-दोनों में होता है। वेद में सिरा शब्द के स्थान में हिरा शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में मिलता है जिसे सिरा शब्द बताता है। लोक में-सप्ताह-हप्ताह, साग-हाग, सासु-हाहु, दस-दह, आदि अनेक उदाहरण हैं।

से नवजीवन डाल दो। धर्म के अलौकिक महत्त्व को समझाकर प्रत्येक हिन्दु को दृढप्रतिज्ञ होने का और अपने देशकी रक्षा के लिये प्राणपण से काम करने का पाठ पढा दो। निर्भयता के साथ धर्मरक्षा के लिये हिन्दुओं का हँसते हँसते मृत्यु का आलिङ्गन करना अवश्य फल लायगा। तितिक्षा ही उन्नति का द्वार है। अरबों ने अपने इस्लामधर्म के प्रचारार्थ कितने कष्टों का सामना किया। उसी तितिक्षा का परिणाम है कि आज उन अरबों की विजयपताका भारत में फहरा रही है। हमारे लिये क्या यह लज्जा की बात नहीं? विदेशीलोग कितनी दूरसे आकर अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं। हम अपने घर में भी अपने धर्म का प्रचार करने में असमर्थ हो रहे हैं। हमारे ही सहधर्मी किसतरह पीरलोगों के षडयन्त्रों के शिकार होकर विधर्मी बन रहे हैं और फिर वे हमारे ही गले को दवाने के लिये तय्यार रहते हैं। क्या आप अमूल्य जातिभवन को यवनपीरों की कपटाग्नि से धक्धक् जलते देखकर भी चुपचाप खडे देखते रहोगे? सहस्रों हिन्दू-धर्म से बलात् पतित किये जा चुके हैं। रहे सहे पीरों के कपटों का शिकार हो रहे हैं। तान्त्रिकों के अनाचारप्रचार की महामारी के प्रकोप से हिन्दु-जाति के सदाचार का प्राणान्त हो रहा है। परमश्रद्धास्पद हिन्दु-धर्म को मनघडंत प्रथाओं के संमिश्रण से कलङ्कित एवं हास्यास्पद बनाया जा रहा है। हमारे सह-योगी स्मार्त्तमुनियों का विष्णुशिवनिवन्धन पारस्परिक विवाद भी हिन्दु-धर्म के हित में बाधक-सा हो रहा है। धर्मवीरो! धर्मक्षेत्र में आगे पाँव बढाओ। उत्साही के सहायक प्रभु स्वयं होते हैं। ईश्वर पर दृढ विश्वास करके कार्यारम्भ करदो! हमें विश्वास है, उस दयामय की कृपा से शीघ्र ही जाति के दुःखों का अन्त होने को है"। भगवान् के उपदेश से सुननेवालों के जीवन में पलटा आ गया। वे सबके सब धर्मप्रचारार्थ इधर उधर चल दिये। भगवान् के शुद्ध एवं दुखित हृदय से निकले हुये शब्द उनके शिष्यों पर अपना पूरा असर कर गये। उन सब शिष्यों ने अपने जीवन का लक्ष्य धर्मप्रचार ही बना लिया। इधर जब भक्तभगवान् ने उदासीनधर्म की दीक्षा ले ली तो मगध में भी श्रौतचतुर्थाश्रमी महात्मा बल पकड़ गये। श्रीमहन्त भक्तगिरि के अधिकार में जो ३६० मठ थे वे सब उदासीन मठ बन गये। ईश्वर की अपार दया से भगवान् के गुरु अविनाशीमुनि का सत्यसंकल्प खूब फला और फूला।

## धर्मप्रचार के पार्श्वकेन्द्र

सिन्ध, पञ्जाब, काश्मीर, अफगानस्थान और सीमाप्रान्त इन पार्श्वप्रान्तों में भगवान् ने स्वयं धर्म का प्रचार आरम्भ किया। काश्मीर में श्रीनगर, सिन्धु में ठठ्ठा, पञ्जाब में बारठ, सीमाप्रान्त में पिशावर और अफगानस्थान में काबुल, धर्मप्रचारार्थ, ये पार्श्वकेन्द्र बनाए गये। परमात्मा की दया से उससमय और भी कईएक महा-पुरुष पैदा हुये जिन्हों ने यथाशक्ति हिन्दु-जाति के उद्धार की चेष्टा की। वे सभी हमारे श्रद्धेय हैं। उनके उपकारों के लिये हिन्दु-जाति सदा के लिये उनकी आभारी है।

यहाँ पर हम यह लिखदेना आवश्यक समझते हैं कि अन्य महापुरुषों ने भारत के अन्य प्रान्तों में अपना काम किया लेकिन सीमाप्रान्त सिन्धकाश्मीरादि देशों में सिवाय भगवान् श्रीचन्द्रमहाराज के और कोई नहीं पहुँचा। भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा उनदिनों में सीमाप्रान्तीय देश ही अधिक विधर्मियों के आक्रमण और

धर्म-प्रचार के अड्डे हो रहे थे। अतः यहाँ पर काम करना कोई बच्चों का खेल न था। इन यवनप्रधान प्रान्तों में भगवान् का यह प्रचार का कार्य हिन्दु-जाति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। अतः यह मानना पड़ेगा कि मुगलशासन काल में विक्रम की १६वीं शताब्दी के महापुरुषों में भगवान् का आसन बहुत ऊँचा है। भगवान् की शिष्यमण्डली ने, विहार, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और महाराष्ट्र में खूब धर्मप्रचार किया। कईएक उड़ीसा, बङ्गाल और आसाम में भी जा पहुँचे। वैसे तो भारत के प्रत्येक प्रान्त में उदासीनमुनियों ने धर्म का प्रचार किया और उदासीन मठ भी स्थापित किये; परन्तु विशेषतः यवनपददलित देशों में ही इनका धर्मप्रचारकरना मुख्य लक्ष्य रहा है। उन्हों ने अपने धर्म की रक्षार्थ यवनों की तीखी तल्वारों की जरा भी परवाह नहीं की। वे अच्छीतरह जानते थे कि सीमाप्रान्त (फरण्टीयर) और सिन्धप्रभृतिप्रान्तों में यवनों की अत्याचाररूपी अग्नि धक्धक् जल रही है। परन्तु वे तो अपने धर्म की रक्षा के लिये मौत का डर भुलाए हुये थे। वहाँ पर उन्हों ने केवल प्रचार ही नहीं किया वल्कि अपनी दिव्यशक्तियों के अद्भुत चमत्कार दिखाकर विपक्षियों के पत्थर दिलों को भी मोम की तरह पिघला दिया। यही कारण है, कि सीमाप्रान्तादि-यवनप्रायःप्रदेशों के हिन्दु-लोग अबतक जीवित हैं। परमात्मा की दया से भारत के भिन्नभिन्न प्रान्तों में समय २ पर साधुसमाज जाति के उत्थान और इसके धर्म के प्रचार का कार्य करता रहा है। विहार ने बौद्धभिक्षु, संयुक्तप्रान्त ने वैरागी, दक्षिण ने दशनाम सन्यासी वीतराग धर्मसेवक उत्पन्न किये। पञ्जाब को इस बात का गौरव है कि वह इस बात में किसी से पीछे नहीं रहा। मुगलशासनकाल में स्वार्थत्यागी, साहसी, धर्मसेवक उदासीन श्रौतमुनिरत्न पञ्जाब-पयोनिधि से आविर्भूत हुये। सीमाप्रान्त और पञ्जाब में यवनराज्यकाल में हिन्दु-धर्म को बचालेने का गौरव इन्हीं को प्राप्त है।

## भगवान् द्वारिका से उदयपुर पहुँचे

भगवान् का अधिक निवास ठठ्ठा, वारठ, और श्रीनगर-इन तीन स्थानों में रहता था। भगवान् ने ठठ्ठा से द्वारिका की यात्रा का संकल्प किया। मार्ग में आपने कच्छ प्रदेश में अपने सदुपदेशों से वेदविरुद्ध प्रचलितप्रथाओं का निराकरण किया। भगवान् की असीम दया से सिन्धु तथा कच्छ देश से अनाचारियों के अड्डे उखड़ गये। लोग श्रौतपथके पथिक बन गये। द्वारिका से सुदामापुरी होते हुये भगवान् कुछ समय गुजरात प्रान्तमें भ्रमण करते रहे और अपने सदुपदेशों से जनता का कल्याण करते रहे।

भगवान् को आबुपर्वत के देखने की इच्छा हुई। क्यों कि यह स्थान उनकी दृष्टि में अधिक महत्त्व रखता था। भगवान् के गुरु अविनाशी मुनिने इसी की एक गुहा में रहनेवाले योगिराज वेदमुनि से इसी पर्वत पर उदासधर्म की मुनि-दीक्षा ली थी। भगवान् आबू होकर उदयपुर के समीप एक लिङ्ग महादेव की यात्रा के लिये चलदिये।

## राणा प्रताप को भगवान् का क्षात्रधर्मोपदेश

सिन्ध में भगवान् के हिन्दु-धर्म के प्रचार का समाचार प्रायः इधर उधर के प्रान्तों में भी पहुँचता ही रहता था। महाराणा प्रताप के मन्त्री भामाशाहने भगवान्

की कीर्ति अच्छीतरह सुन रक्खी थी अतएव भामाशाह को भगवान् पर अटल श्रद्धा थी। उस की प्रेरणा से राणा मन्त्री के साथ भगवान् की सेवामें जहां वे ठहरे थे उपस्थित हुये। भगवान् के दर्शन से दोनो आनन्दित हुये। कुछदेर इधर उधर की बातें करने के अनन्तर भगवान्ने कहा*-" तुम सूर्यवंशी उस राम के वंशधर हो; जिसने अकेले ही अपने बाहुबल पर विश्वास रखकर त्रिलोकी को भयभीत करने वाले महायोधा रावण पर विजय प्राप्त की। इस से रामने यह सिद्ध करदिया कि उत्साही पुरुष असंभव को भी संभव कर सकता है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या है, जङ्गली पशु और जड़ पदार्थ भी उत्साही के सहायक हो जाया करते हैं-यह बात राम के चरित से हम अच्छीतरह सीख सकते हैं। वीरवर बप्पा आपके ही वंश में हुये हैं। उनकी वीरता का सिक्का तमाम मुस्लिम जगतपर जम गया था। उनकी विजयपताका गजनी तक फहराती थी। फिर चिन्ता किस बातकी है; जब विश्वम्भर एकलिङ्ग मेवाड़भूमि के स्वयं अधीश्वर हैं। आप तो केवल उनके मन्त्री हैं। आप अपने धर्मका पालन करें। स्वकर्तव्यानुष्ठान ही सफलता देवी की प्रसन्नता का साधन है। मुगल दल की अधिक संख्या से घबराना भूल है। गजयूथ सिंह पर कभी विजय नहीं पा सकता। क्या तुम्हें उस कर्मदेवी का स्मरण नहीं है; जिसने कुतुबुद्दीन को रणभूमि में बुरीतरह पराजित किया था। उसदेवी में वीरता कूट कूट कर भरी हुई थी। दृषद्वती नदी के तीर पर जब महासंग्राम हुआ, तब इसके पतिदेव रावल समरसिंह वीरगति को प्राप्त हो गये। जब कुतुबुद्दीन चित्तौर पर चढ आया, तब इसने अपनी वीरता के जौहर दिखाए थे। कुतुबद्दीन उसकी वीरता को मरते दमतक न भूला। क्या आप अपने पूर्वज महाराणा लक्ष्मणसिंह को भूल गये। उसने अपने ११ बेटों सहित अपने आपको मातृभूमि की बलिवेदी पर बलिदान करदिआ। १३ हज़ार राजपूत बालाओं के साथ अपने सुन्दर शरीर को धकू २ जलरही चितावन्हि में एक तृण की तरह फेंककर जिस रमणी-रत्न ने हिन्दु-धर्म की पवित्रता का डङ्का समस्त संसार में बजाया वह प्रातःस्मरणीय श्रीमती पद्मिनी आप ही की प्रपितामही थी। क्या आपको अपने दादा राणा संग्रामसिंह की अनुपम वीरता का स्मरण नहीं? उसने केवल चित्तौर की स्वतन्त्रा के लिये ही नहीं बल्कि देहली को हस्तगत करके यवनों के राज्य के अस्तित्व को यहाँ से मिटाने के लिये अद्वितीय साहस किया था॥

मुनि के इन उत्साह वर्द्धक शब्दों को सुनकर प्रताप के हृदय में उत्साह और वीरता की तरङ्गें उठने लगीं। उसने भगवान् के आगे सहर्ष यह प्रतिज्ञा की कि "मैं बप्पारावल के पवित्र वंश को प्रतिष्ठित रखता हुआ, आ जीवन अपने देश तथा धर्म की रक्षा करता रहूँगा"। राणाकी उक्त प्रतिज्ञा सुनकर मुनि को अत्यन्त हर्ष हुआ। मुनि जब चलने लगे तो प्रतापने चरणस्पर्श कर कहा, "प्रभो मुझे स्मरण रखिये गा" मुनिने कहा, "वत्स! केवल तेरा ही स्मरण क्या मुझे तो इस सम्पू-

* पाठकों को स्मरण होगा, १६२९ वि० में भगवान् जिस स्थानपर बैठे राणा को उपदेश कर रहे हैं यह उनके पूर्वज हारीतमुनि का आश्रमस्थान है। ठीक इसी जगहपर हारीतमुनि ने बप्पारावल को क्षात्रधर्म का उपदेश दिया था। अब फिर वही दृश्य उपस्थित है। हारीतमुनि के वंशधर श्रीचन्द्रमुनि वीरबप्पा के वंशधर, वीरशिरोमणि राणा प्रताप को क्षात्रधर्म का उपदेश कर रहे हैं।

णे सूर्यवंश का सदा ही ध्यान रहता है। क्योंकि यह शरीर भी उसी वंशलता का एक फूल है।

## वंशपरिचय और भगवान् की भविष्यवाणी

यह सुनकर प्रताप को और भी हर्ष हुआ और मुनिजी से उनके वंश के सम्बन्ध में पूछने का उसके मनमें संकल्प हुआ। प्रताप ने कहा, "महाराज! यदि आज्ञा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ"। मुनि बोले, "वत्स, सहर्ष पूछिये।" प्रतापने कहा, "महाराज, मैं आपका वंशपरिचय चाहता हूँ।" मुनिने कहा, "भगवान् राम के दो पुत्र थे एक लव और दूसरा कुश। लव के वंशधर लाहौर में और कुश के कसूर में निवास करते थे। ये दोनों नगर पञ्जाव में हैं। आपके पूर्वज कनकसेन प्रथम लाहौर में रहते थे। पीछे से किसी कारण-वश गुजरात के वल्लभी नगर में जावसे। लवकुश के वंशधरो में परस्पर किसी तरह झगड़ा हो गया। लवके वंशधरों ने कुश की सन्तान को पञ्जाव से निकाल दिया। वे काशी जाकर वेद पढने लग गये। वे वेदपाठ में इतने निपुण हुये कि इनकी कीर्ति भारत के कोने कोने में फैल गई। लववंश के राजा मूलकराज उनके यश को सुनकर काशी पहुँचे। वहां पर उनके वेद पाठ से प्रसन्न होकर उसने अपना सारा राज्य उन्हें दे दिया। वे पञ्जाव में फिर आ गये। वेद पढने के कारण कुशवंशधरों का नाम वेदी पड़ा। इस वेदीवंश में हमारा जन्म हुआ है।"

वत्स! घबराना नहीं! अब यवनसाम्राज्य का अन्त समीप ही है। चन्द्र-वंश की शाखा यादवजाति की जाग्रति का यत्न धनराय कर रहा है। कुछ ही समय के अनन्तर किसी महापुरुष के आधिपत्य में यादवसंघ स्थापित होकर देहली नरेश से संग्राम करेगा। आपही का एक वंशधर भी उस समय पूर्ण परा-क्रमी होगा। आपके पूर्वज हमीरसिंह के चचा जयसिंह, अजयसिंह के पुत्र सुजनसिंह, जो अपनी भाग्य परीक्षा के लिये महाराष्ट्र चले गये थे, जिनका वंशविस्तार वहीं हुआ उनकी नवमी दशमी पीहड़ी में एक प्रतापी बालक होगा। मेरी प्रेरणा से एक साधु उसका सहायक होगा। काश्मीर में वह महापुरुष मेरे शिष्यों से मिलेगा। चन्द्रवंश और सूर्यवंश के तेज से यवनसाम्राज्य एक वार नष्टभ्रष्ट हो जायगा। पञ्जाव में एक वैरागी साधुद्वारा मुगल साम्राज्य की सत्ता दुर्बल हो जायगी। अन्त में मेरे अनुयायी एक साधु के वचन से उत्पन्न हुआ एक हिन्दु-बालक पञ्जाव का राज्य करेगा"। मुनि का वंश और भविष्यवाणी सुनकर राणा प्रताप को और उनके मन्त्री भामाशाह को अत्यन्त आनन्द हुआ। मुनि की आज्ञानुसार तव ये दोनो प्रणाम करके चले गये।

(६ तरङ्ग)

## श्रीगुरु अलिमत्तमुनि

वे भगवान् की सेवा में कैसे पहुँचे, वह घटना यहां लिखी जाती है। यहाँ से भगवान् राजस्थान के जोधपुर, बीकानेरादि प्रसिद्ध नगरों का भ्रमण करके पञ्जाव होते हुये काश्मीर जा पहुँचे। वहाँ हरिदत्त ब्राह्मण का पुत्र [1]कमलासन सं० १६३१

१ इनका जन्म देवी प्रभावती की कुक्षि से श्रीनगर में हुआ।

में भगवान् का शिष्य हुआ। यह बालक जन्म से ही ईश्वरभक्त और गम्भीरप्रकृति का था। दूसरे लड़कों की तरह इसे बच्चों के साथ खेलना रुचिकर न था। जब यह किसी से भी न बोलता तो दर्शकों को ऐसा मालूम होता था जैसे यह किसी का ध्यान कर रहा हो। इसकी चेष्टाएँ आरम्भ से ही महापुरुषों के समान थीं। इसके दिनभर का कार्यक्रम महात्माओं का सत्सङ्ग और ईश्वरचिन्तन था।

बहुत दिनतक भगवान् का दर्शन न पाकर काश्मीर की जनता व्याकुल हो रही थी। अब अकस्मात् भगवान् का आगमन सुनकर जनता प्रसन्नचित्त से उनके दर्शनार्थ आने लगी। भगवान् के सदुपदेशों और पवित्र दर्शनों से लोग अपना जन्म सफल कर रहे थे। कमलासन भी जनता के साथ भगवद्दर्शनार्थ आया। लोहे को चुम्बक की तरह भगवान् के उपदेशों ने उसे आकर्षित कर लिया। अतएव वह फिर लौट कर घर नहीं गया। दिनरात भगवान् के अग्निकुण्ड (धूणे) के पास वह बैठा रहता और उन्हीं के चरणों में रहकर अपने आपको सफल समझता। कभी कभी तो वह भगवान् के प्रेम में इतना मस्त हो जाता था कि उसे कईदिन तक खाने पीने तक की सुध न रहती थी। दिव्यशक्तियों के प्रभाव से और अखण्डब्रह्मचर्य की सहायता से भगवान् का शरीर सदैव बालकों का सा रहा। कभी कभी यह भगवान् को अपने कन्धों पर विठलाकर एक स्थान से दूसरे तक ले जाता था। भगवान् की कन्था (गोदड़ी) इसीके कन्धे पर रहती थी। यह स्वयं एक मोटा कम्बल रक्खा करता था। यह भगवद्ध्यान-मधुपान से भ्रमर की तरह मत्त रहता था। अतएव इस महापुरुष के गोदड़िया, (कन्थाधर[1]) कम्बलिया (कम्बलाम्बर) अलिमस्त[2], ये तीन नाम पड़े। भगवान् ने इसकी अनन्यभावमय सेवा से प्रसन्न होकर इसे वर दिया कि, "तू श्रौतमुनियों (उदासीनों) का नेता होगा, और सर्वत्रविजयी होता हुआ तू ब्रह्मनिष्ठा का लाभ करेगा। तुम्हारी शिष्यपरम्परा में ब्रह्मनिष्ठ, ईश्वरभक्त और सिद्धमहात्मा एवं लोकोत्तर विद्वान् उत्पन्न होंगे। समस्तसिद्धियाँ तेरी चरणसेविकाएँ होंगी"।

## श्रीगुरुबालहासमुनि

आप कमलासन के अनुज थे। आप का नाम बालकृष्ण था। आप उसी विद्यालय में पढते थे जिस में भगवान् ने वेदवेदाङ्गों का स्वाध्याय किया था। इस विद्यालय के छात्र भगवान् को स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। भगवान् के पास इनका आनाजाना प्रायः बना ही रहता था। एक दिन की बात है कि श्रीबालहास जी अन्यविद्यार्थियों के साथ एक बागीचे में बैठे हुये थे। परस्पर के वार्तालाप में शास्त्रीय विषय चल पड़ा। किसी छात्र ने किसी दार्शनिकविचार में ऐसा प्रश्न किया जिस का उत्तर देना सर्वसाधारण के लिये आसान न था। आपकी कुशाग्रबुद्धि में उसका उत्तर स्फुरित हो गया। आपने उसे सब को सुनाकर विद्यार्थियों को चकित कर दिया। विद्यार्थीलोग वहां से वापिस लौट आए और आप वहां पर ही कुछ देर बैठे

---

१ कई एक महात्माओं का कहना है कि इनका वास्तविक नाम कमलासन था परन्तु भगवान् प्रेम से इसे कम्बलिया कह दिया करते थे।

२ इस शब्द का अपभ्रंश अलमस्त है।

रहे। कारण यह था कि उक्त प्रश्न के समाधान ने अन्य छात्रों को तो सन्तुष्ट कर दिया परन्तु आपकी अन्तरात्मा ने इस समाधान को सन्तोषजनक न समझा था। पहिले भी बहुत वार शास्त्रीय विषयों के पूर्वपक्षों का समाधान आप स्वल्पकाल में ही करके बड़े २ विद्वानों को चकित कर देते थे। पीछे से उसी पर फिर अपनी विचारशक्ति दौड़ाते रहते थे। अतः एक ही पूर्वपक्ष के आप अनेकों समाधान सुनाकर गुरुजी को खूब प्रसन्न करते थे। कईवार आप किसी वात के चिन्तन में सारा २ दिन एक ही स्थान में खड़े रहते। एक दिन आप नदीपर स्नान करने गये, स्नान करके भीगी धोती ओढे वहीं पर ही आप दिनभर किसी प्रश्न का समाधान सोचते २ बैठ रहे। सायं काल को जब छात्रलोग वहां सन्ध्यावन्दनादि करने गये तो आपको वहाँ इसप्रकार समाहित बैठे देख वे सब चकित हो गये। आप जब किसी चिन्तन में तत्पर हो जाते थे तो सारे संसार को भूल कर तल्लीन हो जाते थे।

एक दिन आप एक ऊँचे मकान पर बैठे किसी गहनविषय पर विचार कर रहे थे। बहुतदेर बैठने के बाद आप उसी विचार की धुन में मकान की छत पर इधर उधर टहलने लगे। टहलते २ दुर्दैवात् मकान की दीवार से आपका पैर फिसल गया और आप धड़म से नीचे आगिरे। मकान बहुत ऊँचा था। आपके प्राण इस नश्वर शरीर से पृथक् हो गये। विद्यालय में छुट्टी हो गई। छात्रों के मन शोक से व्याकुल हो रहे थे। उन्हों ने आपकी मृत्यु का समाचार भगवान् के आगे जा सुनाया। उन को शीघ्र विश्वास न हुआ और उन्होंने कहा–नहीं, वह मरा नहीं। वह तो आपलोगों से उपहास करने के लिये श्वास रोके पड़ा होगा। विद्यार्थी कहने लगे "महाराज! यदि आप आज्ञा दें तो हम उस का शव यहां ले आते हैं, फिर तो आप विश्वास करेंगे न"। भगवान् ने आज्ञा देदी और वे उसे उठा लाए।

इधर इन की माता प्रभावती को जब इनके छात पर से अचानक गिर जानेका पता चला तो उसने मन में कहा कि यदि मेरे पुत्र को कोई घातक चोट न आए तो मैं इसे मुनिका सेवक बना दूँगी। वे तो बहुत दिन से भगवान् की सेवा में आना चाहते थे; परन्तु माता की आज्ञा के न मिलने से वे रुक रहे थे।

लड़कों ने शव को भगवान् के आगे रखकर कहा–"देखिये भगवन् इस का शरीर बिल्कुल ठण्डा हो चुका है"। इस समय विद्यालय के अध्यापक भी इनके साथ थे। भगवान् ने, कहा "क्यों वृथा ही ऐसा कहते हो! वाल तो तुम्हारी बातें सुन २ कर हँस रहा है। जरा इसके मुँह की ओर तो देखो"। अध्यापक और छात्रों ने भगवान् के वचनों पर विश्वास कर ज्यों ही उसके मुँह की ओर ध्यान से देखा तो वह सचमुच हँसता हुआ दिखाई दिया। वालहास का प्रथम नाम वालकृष्ण था। अब से उसे लोग वालहास कह कर पुकारने लगे। वालकृष्ण के पुनर्जीवन से उस की माता अध्यापक और सहपाठी खुशी से प्रफुल्लित हो उठे। अब माता जी ने भी उसे मुनि की सेवा में रह जाने की आज्ञा देदी। इस से वालहास जी का मार्ग साफ हो गया और उस का चिर का मनोरथ पूरा हुआ। अधिक प्रार्थना करने पर भगवान् ने उसे अपना शिष्य बनालिया।

# श्रीगुरुगोविंददेव और श्रीपुष्पदेवजी

भगवान् के दो[1] और शिष्य हुये – एक गोविन्ददेव,[2] दूसरे पुष्पदेव । पुष्पदेव हरसमय ब्रह्मानन्द रसास्वाद से पुष्प की तरह खिला रहता था । इसलिये उस का नाम पुष्पदेव पड़ा । भगवान् को तपोमय जीवन अधिक प्रिय था । अतएव जहाँ कहाँ वे अपना आसन लगाते वहाँ धूणा अवश्य प्रज्वलित किया जाता था । कभी २ भगवान् पञ्चाग्नि-तप भी तपा करते थे । भगवान् के अलिमत्तादि चारों शिष्य इनके धूणे की सेवा किया करते थे।* पञ्चाग्नितपश्चरण चारों दिशाओं में चार धूणियाँ लगाना है । वहाँ शास्त्रों के नियमानुसार पञ्चमाग्नि सूर्य माना जाता है । जब भगवान् पञ्चाग्नि तप किया करते थे तो इनके चारों ओर इनके चारों शिष्य बैठते थे और मध्य में भगवान स्वयं विराजमान होते थे । भगवान् के आसपास के चारों अग्निकुण्डों के पास स्थिति होने से इन चारों के शिष्यसंघ का नाम चार अग्निकुण्ड हुआ ।

उदासीनमञ्जरी में गोविन्ददेव और पुष्पदेव की घटना इसप्रकार वर्णित है,– श्रीनगर का प्रसिद्ध धनिक क्षत्रियकुलतिलक जयदेव, सन्तान न होने के कारण अधिक खिन्न रहा करता था । एक दिन वह अपनी धर्मपत्नी सुभद्रा को साथ लेकर पुत्र-कामना से भगवान् की शरण आया और इसप्रकार प्रार्थना करने लगा "भगवन् आप दयालु हैं । आपके दरबार में किसी भी वस्तु की कमी नहीं। हमारी आपके चरणों में सविनय प्रार्थना यही है कि आपके वरदान से हमारी मनोकामना पूर्ण हो । आप हमारे मानसिक कष्ट को पूर्णतया जानते हैं; फिर भी मैं उसे आपके आगे कह देता हूँ । प्रभो ! क्या कहूँ, हमारा शास्त्रोक्त गार्हस्थ्यजीवन का उद्देश्य पूरा होता नहीं दीख पड़ता । यही कारण है, मेरी धर्मपत्नी, असीम शोक-सागर में गोते खाती रहती है" ।

भगवान् ने उनकी श्रद्धाभरी प्रार्थना सुनकर उनकी मनो-कामनापूर्ण होने का वर दे दिया । तब सुभद्रा ने अपने मन में यह संकल्प किया कि यदि भगवान् के वरदान से मेरे यहाँ दो पुत्र हो जायँ तो प्रथम पुत्र को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दूँगी। उसी समय जयदेव यह सोच रहा था कि दोनों पुत्रों में छोटा बेटा मैं भगवान् की सेवा में दे दूँगा । दोनों ने अपने २ संकल्प को गुप्त रक्खा । समय पाकर भगवान् की कृपा से उनके दो पुत्र हुये । परस्पर सङ्कल्पों का भेद खुल जाने पर उन्हें पता चला कि दोनों बेटों पर उनका अधिकार नहीं है । इस पर उन्हों ने यह कह कर सन्तोष कर लिया कि प्रभु की इच्छा ही ऐसी है । जयदेव ने सुभद्रा को आश्वासन देते हुये कहा, "कल्याणि ! हमारे भाग्य में विधाता की ओर से पुत्र-सुख लिखा ही नहीं गया । अतः हमें विधाता की इस इच्छा पर किञ्चित् भी खेद प्रकट न करना चाहिये । पता नहीं हमारे मनमें एक दूसरे के विरुद्ध सङ्कल्पोत्पत्ति से विधाता क्या चाहता है । संभव है, हमारे दोनों बेटे भगवान् की सेवा में जा कर विशेष पुरुष ही बन जायँ । इस से तो हमारा और भी कल्याण निश्चित है ।

१ इन दोनों का जन्म श्रीनगर में हुआ था, माता का नाम सुभद्रा और पिता का नाम जयदेव था।

२ गोइन्दसाहिब । ३ फूलसाहिब ।

३ यही कारण है कि इन चारों महापुरुषों के शिष्यसंघ चारधूणा नाम से पुकारे जाते हैं।

हमें इनके लालन, पालनादि का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है, हमारे लिये वही पर्य्याप्त है। हमें विधाता के इतने अनुग्रह परभी प्रसन्न रहना चाहिये।" दृढप्रतिज्ञ माता पिताने अपनी उदारता का पूर्णपरिचय दिया। बालकों का लालनपालन पूर्णतया होने लगा। शैशव के बीतने पर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञानुसार दोनो बालकों को भगवान् की सेवा में जा उपस्थित किया। माता-पिता की उदारता का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। दृढ प्रतिज्ञा का यह एक उच्च आदर्श है। धन्य हैं, वे माता-पिता जिन के पुत्ररत्नों ने यवनात्याचार झञ्झावात के प्रचण्डप्रकोप द्वारा मूल से उखाड़े जा रहे हिन्दु-धम-तरु की अपने लोकोत्तर तपोबल के प्रभाव से प्रशंसनीय रक्षा की।

## महात्मा रामदेव जी

इन दोनो महापुरुषों की शिष्यपरम्परा में बड़े २ आदर्श महात्मा हुये। गोविन्द देव के पञ्चमस्थान में प्रतापी महात्मा रामदेव हुये। इनका जन्म बिलासपुर राज्य में हुआ। ये जाति के राजपूत थे। इनका गृहस्थ का नाम रामसिंह था। साधु होने के पीछे भी ये क्षात्रप्रकृति के अनुसार अश्वारोहण किया करते थे। इनकी दाहनी ओर इनके शिष्य एक निशान रक्खा करते थे। इनकी लोकोत्तर योगशक्ति से इनके आगे विना बजाए दुन्दुभि (नगारा) बजा करता था। इनमें और भी बहुत सी दिव्यशक्तियाँ विद्यमान थीं। एकबार किसी मदोन्मत्तने आपका नगारा छीनने की धृष्टता की। वह अपने साथियों सहित तत्क्षण अन्धा हो गया। बाद में अधिक क्षमाप्रार्थना करने पर आपने उसका अपराध क्षमा कर दिया "उस प्रमादी द्वारा किये गए गुरु के अपमान, से असन्तुष्ट हो कर आपके शिष्य मल्लदेव ने अपराधी का सिर काट लेने की प्रतिज्ञा करली। बाद में गुरुदेव के समझाने से उसने अपराधी की पागड़ी काट कर अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति की। अतएव इनके अनुयायी गद्दी-धरों में इस विचित्र-घटना के स्मारक चिन्ह अर्द्ध-पगड़ी का धारण करना अबतक प्रचलित है।

महात्मा रामदेव के राजसी ठाठ से चिड़कर किसीने इनके गुरु नन्दलाल के पास इनकी शिकायत की। इसका पता इन्हें भी लग गया। ये स्वयमेव गुरुजीकी सेवा में जा उपस्थित हुये। इन्हों ने अपने नगारादि सारे राजस चिन्ह गुरु जी के आगे रख दिये। महात्मानन्दलाल जी का अन्नक्षेत्र अहर्निश चलता रहता था। हजारों अनाथों की उदरपूर्त्ति इनके यहाँ से होती थी। रामदेव के इस विनीतभाव से प्रसन्न हो कर नन्दलाल जी ने अपने महानस की लोह (तवी) इन्हें दे कर यह वर दिया कि "तुम्हारे अन्नक्षेत्र में कभी त्रुटि न आए गी। जाओ संसार के अनाथों की रक्षा के लिये अन्नदान करते रहो।" साथ ही यह भी कह दिया कि "परोपकारी मुनि के लिये राजससमारोह रखना भी निषिद्ध नहीं।" रामदेव गुरु की प्रसन्नता पाकर पञ्जाब के, मालवा, दोआबा, और, माझा प्रान्त में विशेष-धर्म-प्रचार करते २ अनवरत अन्न-दान से अनाथों को सन्तुष्ट करते रहे।

आपका प्रसिद्ध नामान्तर मींहादेव भी है। इसके तीन कारण वृद्धमहात्माओं से सुने जाते हैं। प्रथम, आपकी सेवा में दुर्भिक्षपीड़ित कृषक आकर वृष्टि की प्रार्थना करते थे। आप दिव्य शक्तियों के भण्डार तो थे ही। इसलिये आपका वचन

होते ही आकाश में मेघघटाएँ छा जाती थीं। किशानों के सन्तप्त हृदय यथेष्ट वृष्टि द्वारा शान्त हो जाते थे। सरल-हृदय पञ्जाब की कृपकजनता आपको मींहा+ नाम से पुकारती थी। द्वितीय, काश्मीर तथा शिमलाकी तराई में और कछ-भुज देश में एक मोंहा नामक प्रतिष्ठित राजपूतजाति अवतक उपलब्ध होती है। महात्मा रामदेव उसी में उत्पन्न हुये थे। अतः पूर्वजाति की दृष्टि से लोगों में वे मीहां नाम से प्रसिद्ध हुये। तृतीय, आप अपूर्ववक्ता थे। अतः आपके उपदेशों के सम्बन्ध में लोग कहा करते थे कि महात्मा जी सदुपदेशों की झड़ी लगादेते हैं। अतः सदु-पदेशवृष्टि करने वाला-इस अर्थ में लोग उन्हें मींहादेव कहते थे।

इन्हीं की शिष्य परम्परा में प्रातःस्मरणीय उदासीन सम्प्रदाय के कर्णधार महात्मा प्रियतमदास जी हुये। आपके उद्योग से समस्त उदासीनों ने संगठित होकर "उदासीन पञ्चायती अखाड़ा" नामक सँस्था को विशेष रूप दिया। इसपर अधिक प्रकाश अन्यत्र डाला जायगा। श्रीनिर्वाण प्रियतमदास जी के पवित्र जातीय संगठन में पूर्णसहयोगी श्रीनिर्वाण सन्तोषदासजी थे। इन दोनों महापुरुषों को उदासीन सम्प्रदाय के आधार स्तम्भ समझना चाहिये।

## भगवान् की कृपा से सिन्ध में अत्याचारों का अन्त

भगवान् तव काश्मीर में ही थे जब समाधि द्वारा उन्हें सिन्ध के हिन्दुओं की दुर्दशा का पता चला। भगवान् इसे सहन न कर सके। अतः शीघ्र ही काश्मीर से सिन्धु की ओर चल पड़े।

भगवान् जब ठट्ठे से गुजरात की ओर चले गये थे तो पीछे से सिन्ध के पीरों को अपने कपट-जाल फैलानेका सुअवसर मिल गया। थोड़े ही दिनों में उनकी कृत्रिम शक्तियों का प्रभाव जनता पर जम गया। उनकी प्रसिद्धि यहां तक बढ गई कि सम्राट् अकबर भी उनके दर्शनार्थ सिन्ध पहुँचा। सिन्धु में पीरों के षड् यन्त्रों के इलावा हिन्दुओं पर एक और आपत् का पहाड़ टूटनेवाला था। श्रद्धालु मुस्लिम-जगत् का यह विश्वास था कि जहाँपर ७० शक्तिशाली पीर हो चुकें वहाँ की यात्रा का पुण्य मक्का के समान होता है। नगर ठट्ठा में ऐसे ६९ पीर हो चुके थे। त्रुटि केवल एक और पीर की थी। १६१४ वि० में मिरजा ईसातर खां का बेटा मिरजा बाकी ठट्टा का शासक बना। यह बड़ा दुराचारी, प्रकृति का कठोर और इस्लाम का कट्टर पक्षपाती था। इसने ठट्ठे का शासन हाथ में लेते ही हिन्दुओं को और अधिक तङ्ग करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों में उसने अपनी कन्या का विवाह देहली सम्राट अकबर से कर दिया जब वह लोगों के कहने सुनने से पीरोंको दर्शनार्थ सिन्धमें आया था। सम्राट् से सम्बन्ध होते ही मिरजा को हिन्दुओं पर और भी मनमाने अत्याचार करने का अवसर मिल गया। जो कुछ उसके मनमें आता था वह वही कर डालता। उसके शासन में हिन्दुओंकी धार्मिक-स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण कर लिया गया। कोई हिन्दु देव-पूजा न कर सकता था और न ही कोई अपने मस्तक पर तिलक ही लगा सकता था। देवालयों में शङ्खादिकों का बजाना तो दूर रहा किसीको मुखसे रामनामादि उच्चारण करने का अधिकार न

+ पञ्जाबी भाषा में मींह नाम वृष्टि का है। प्रतीत होता है कि मींहवाला इस अर्थमें लाघव से मींहां शब्द लोगों ने बोलना आरम्भ करदिया होगा।

था। कृत्रिम अभियोगों द्वारा सहस्रों हिन्दु पकड़ लिये जाते और कितने तो धर्म से पतित किये जाते और कुछ तल्वार के घाट उतार दिये जाते।

ऐसी भयङ्कर स्थिति में भगवान् ने सिन्धु में जाकर हिन्दु-धर्म की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। काश्मीर से भगवान् नगर ठट्टा पहुँचे। नगर में वहीं जाकर आसन लगादिया जहां पर वे पहले ठहरे थे। ठट्टे की जनता भगवान् का शुभागमन सुनकर प्रफुल्लित हो गई। लोग दर्शनार्थ आने लगे और अपनी २ करुणाकहानियाँ रो रो कर भगवान् को सुनाने लगे।

भगवान ने उन्हें धैर्य देकर उपदेश देना आरम्भ किया, "भक्तगण! धर्म के नियमों के पालन में त्रुटि मत आने दो। यदि इस में तुम्हारे प्राण जाते हैं तो जाने दो। प्राणों की अपेक्षा धर्म अधिक कीमती और स्थायी वस्तु है। यदि प्राणों के डर से धर्म खोकर जीते हो तो तुम्हारा जीना ही वृथा है। क्या तुम्हें यह विश्वास है कि तुम सर्वदा जीते रहो गे। यदि नहीं, तो क्यों राजडर से धर्मका पालन नहीं कर रहे। मृत्यु प्रत्येक के लिये अवश्यंभावी है। फिर क्यों न हम धर्म की वलिवेदी पर सहर्ष खड़े होकर इसका प्रसन्नवदन से आह्वान करें। हमारे धर्म में मरना तो एक रूपान्तर है। किसी रोग से पीड़ित होकर, डरते २ मृत्यु का शिकार होन. कायर मनुष्य का काम है। धर्मवीर अपने प्राणपण से धर्म की रक्षा में अपना सर्वस्व लुटा देते हैं। अतः जाओ और अपने २ मन्दिरों में देवपूजन आरम्भ करो।" भगवान् के इस ओजस्वी भाषण से लोगों के मनों में उत्साह का सञ्चार हो गया। सबके सब अपने २ मन्दिरों में गये और देवपूजन करने लगे। वे हिन्दू जो स्थानीय शासक के भय से अपने देव पूजनादि धार्मिककर्तव्यों को मृत्यु के भय से वर्षों से बन्द किये बैठे थे, आज वेही भगवान् के ओजस्वी भाषण से प्रभावित हो कर मृत्यु का भय भुलाकर फिर अपने धर्मका कार्य बड़े उत्साह से करने लगे। देवालयों में फिर पूजन होने लगा और शङ्खध्वनि से आकाश गूञ्ज गया।

यह सुनते ही नगर के मुसलमानों को आग सी लग गई। वे गुस्से से पागल हो गये और मिरजावाकी के दरवार में हिन्दुओं के विरुद्ध वे यह शिकायत लेकर गये। दरवार के कर्मचारी भी हिन्दुओं के प्रत्येक धार्मिक काम से चिढ़ते थे। अतः राजाज्ञा से नगर के प्रधान २ हिन्दु दरवार में बुलाए गये। मिरजावाकी ने उन से इस अपराध का कारण पूछा। हिन्दुओं ने यह कहा कि हमारे धर्म के अनुसार हमें अपने गुरुओं की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। आजकल हमारे धर्मगुरु एक चतुर्थाश्रमी महात्मा यहाँ पर पधारे हुये हैं। उन्हों ने हमें ऐसा करने को कहा है। हमारे लिये उनकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। मिरजावाकी ने कहा, क्यों एक फकीर के कहने से तुम अपनी जानें खोते हो। जिस फकीर की आज्ञा से तुम ऐसा कर रहे हो वह तो पागल है। पहले की तरह अब की वार मिरजा को हिन्दुओं को शीघ्र ही दण्डित करने का साहस न हुआ। यह भगवान् की दिव्य शक्तियों का ही प्रभाव था। अतः हिन्दु-लोग दरवार से अपने घरों को सहर्ष लौट आए।

दरवार के तमाम प्रश्नोत्तर भगवान् के पास भी पहुँच गये। भगवान् ने कहा, अच्छा, अभी पता चल जायगा कि पागल कौन है। भगवान् के मुख से ये शब्द

निकलते ही मिरज़ा पागल हो गया। इसने अपनी कटारी से अपने पापमय जीवन का अन्त स्वयमेव करलिया। उक्त घटना १६४२ वि० की है। इस प्रकार सिन्ध की दीन जनता ठट्टा के पापी शासक के अत्याचार से मुक्त हुई। भगवान् के सदुपदेशों से जनता में पीरों का प्रभाव भी कम हो गया। भगवान् के द्वारा चलाये हुये धर्मोपदेश के कार्य-क्रम से सिन्धु के हिन्दु-लोगों का धर्म सुरक्षित रहा। भगवान् की आज्ञानुसार उदासीन महात्मा आजतक सिन्ध में धर्म का प्रचार करते आरहे हैं।

## भगवान् के दर्शनार्थ महाराणा प्रतापका सिन्ध की ओर प्रस्थान

अब हम पाठकों को मेवाड़ की ओर ले चलते हैं। महाराणा प्रताप स्वयं ही दृढ-प्रतिज्ञ थे। भगवान के उपदेश से तो वे और भी अपने कर्तव्य पालन पर तुल गये। जयपुर नरेश मानसिंह की अदूरदर्शिता से १६३२ वि० में हल्दीघाटी का भयङ्कर सङ्ग्राम हुआ। मातृभूमि की स्वतन्त्रता और धर्म की रक्षा के लिये राणा और उसके साथी प्राणपण से लड़े। राजपूतों के कठोर प्रहारों से एकबार तो यवन-प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हुआ। राणा के तीक्ष्ण भाले के आघात से अकबर के पुत्र सलीम (जहांगीर) का महावत मारा गया। दैवात् सलीम के प्राण बच गये। महावत के मरते ही उसका हाथी उसे रणक्षेत्र से ले कर भाग गया। युद्ध करते २ राणा तीनवार शत्रुओं के घेरे में आए। परन्तु देश के सौभाग्य से वे बाल २ बच गये। एक बार उनकी रक्षा इस प्रकार हुई जब वे चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घेर लिये गये तो स्वामीभक्त झालाठाकुर ने उनके बचाने का एक निराला ही ढंग निकाला। शत्रुओं को धोखा देने के लिये उसने राणा के छत्र को अपने सिर पर रख लिया। शत्रु इसे ही राणा समझकर इस पर टूट पड़े। इस प्रकार इसने अपने प्राणों की आहुति देकर राणा के प्राणों की रक्षा की। जब शत्रु झाला को राणा समझकर उसकी ओर दौड रहे थे तो राणा को रणभूमि से बाहर आ जाने का अवसर हाथ लग गया। उनका घोड़ा चेतक तब बाहर तय्यार खड़ा था। राणा अपने उस घोड़े के असीम साहस एवं चातुरी से शत्रुओं की दृष्टि से शीघ्र ही ओझल हो गये।

महाराणा प्रताप मुगल सेना से ११ वर्ष तक लड़ते रहे। प्रताप के सारे आश्रय-स्थान शत्रुओं के हाथ चले गये। प्रताप के मुख्य योद्धा भी देश के दुर्दैव से वीरगति को प्राप्त हो गये। केवल इतना ही नहीं, खान पान की सारी सामग्री भी समाप्त हो गई। ऐसी निराशा-जनक स्थिति में राणा ने अपने कुछ सैनिकों के साथ सिन्ध* जाने की इच्छा की।

प्रताप मेवाड़ से चलकर अभी मरुभूमि की सीमा तक पहुँच न पाए थे कि उनके मन्त्री भामाशाह ने कई पीढ़ियों का संगृहीत धन उनकी सेवा में अर्पित कर

* किसी के द्वारा उन्हें यह पता चल चुका था कि उन दिनों में उनके परमाराध्य भगवान् श्रीचन्द्र जी नगर ठट्ठा में हैं, और उन्हीं की दिव्य शक्ति से वहां का शासक पागल हो कर मर गया। भगवान् श्रीचन्द्र जी की कृपा सेही सिन्ध के हिन्दुओं का धर्म बचाहै इस बात का पता भी प्रताप को पूर्णतया चल चुका था। अब प्रताप ने भगवान् के दर्शनो का सङ्कल्प पूरा करने के लिये सिन्ध की ओर प्रस्थान करने का विचार किया था। संभव है, प्रताप का ऐसी स्थिति में भगवान् के दर्शन करने लिये सिन्ध में जाना यह भाव रखता हो कि ऐसी विकट समस्या में भगवान् ही बताएँगे कि प्रताप को क्या करना चाहिये।

दिया। यह धन इतना था कि इस से १२ वर्ष पर्य्यन्त २५ हजार सैनिक अनायासतः रक्खे जा सकते थे।

## भामाशाह को भगवान् के दर्शन

उक्त घटना से एक दिन पूर्व रात्रि को भामाशाह ने स्वप्न में एक विचित्र दृश्य देखा। वह देखता है कि एक तेजस्वी महापुरुष उसके आगे खड़ा है। उसके तेज से दशों दिशाएँ प्रकाशित हो रही हैं। प्रथम तो भामाशाह ने इधर अधिक ध्यान न दिया। जब उसके कान में लगातार कुछ शब्द सा निरन्तर आता ही रहा तो उसने आँखें खोल कर सावधानता से देखा तो आगे एक महापुरुष खड़े दिखाई दिये। जब उसने और भी ध्यान से देखा झट पहचान लिया कि यह तो उसका परमाराध्य महापुरुष है। साञ्जलि प्रणाम कर उसने पूछा, प्रभो ! क्या आज्ञा है ?

महापुरुष ने कहा, "शास्त्रों में लिखा है कि वैश्य धनसंग्रह करे। लेकिन सङ्ग्रह के ये माने नहीं हैं कि वैश्य धन को पृथ्वी में गाड दे और उसे उसके सदुपयोग से दूर रक्खे। संग्रह के वास्तविक अर्थ ये हैं-कि वैश्य धन इकट्ठा करके समय पर उसके द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण कार्य्य करे। अब सुअवसर आ उपस्थित हुआ है। आपके राणा धर्म और देश के लिये लड़ रहे हैं। निरन्तर ११ वर्ष लड़ने के कारण अब उनकी आर्थिक स्थिति कुछ आशाजनक नहीं। अतः आपके संगृहीत धनका इस से बढ़कर और कोई सदुपयोग नहीं हो सकता कि तुम अपने सारे संगृहीत धन को अपने राणा की भेंट करदो-इस से देश और जाति की का भला होगा और आपको इस महादान का अनन्त फल होगा। आपके इस धन की सहायता से राणा अपने सैनिक-बल को बढाकर रण में शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे।" महापुरुष यह कह कर अदृश्य हो गये और भामाशाह ताकता ही रह गया। बाद में उस के मन में तरह २ के संकल्प उठने लगे। कभी वह उक्त घटना को स्वप्न ठहराता था और कभी उसे सत्य ही समझने लगता था। अन्त में उसने यह निश्चित किया कि वह स्वप्न न था, महापुरुष के सत्यादेश का उसे अवश्य पालन करना होगा। अतः प्रभात की प्रतीक्षा में भामा ने उस रात्रि को व्यतीत किया।

## भगवान् की सहायता से राणा की सफलता

उसी रात को राणा को भी कोई यह कहता हुआ सुनाई दिया कि "निराश क्यों होते हो, आप की परीक्षा हो चुकी है। कठोर तपश्चर्य्या का फल, विजयलक्ष्मी का लाभ शीघ्र ही होनेवाला है। जिस महापुरुष के दर्शनार्थ सिन्ध जाने का विचार कर रहे हो वह यहाँ भी तुम्हारे साथ ही है। वह रूपान्तर में मेवाड़ में सदा विद्यमान रहता है"। प्रताप इन शब्दों को सुनकर अति विस्मित हुआ। काफी देर सोचने पर भी राणा इस आकाशवाणी का रहस्य न समझ सका। जब दिन में भामाशाह ने पर्य्याप्त धनराशि राणा की भेंट की और रात्रि का सारा वृत्त कह सुनाया तब तो राणा की आँखें खुलीं और रात के वचन उसे स्मरण आए। अब उसे यह दृढ विश्वास हो गया कि चिरदृष्ट वह महापुरुष हर समय उसकी सहायता में रहता है और उसीकी कृपा से उसे वृहद्धनराशि की प्राप्ती हुई है। इन विचारों से राणा का उत्साह द्विगुणित हो गया। अब उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि

विजय अवश्य ही इसकी होगी। इन विचारों को लेकर प्रताप वापिस लौटा और बड़े उत्साह से सेना के संगठन में लग गया। पर्याप्त सैनिकबल के होते ही प्रताप ने मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। यवनों के कई सेनाध्यक्ष राणा के द्वारा मारे गये। अबकी वार राणा में विचित्र उत्साह था। अतः इसकी वीरता के आगे यवन सेना के पैर न जमे। १६४३ वि० में राणा ने उन ३२ दुर्गों पर अपना अधिकार जमालिया जो कुछ दिन पूर्व शत्रु के हाथ चले गये थे। उस समय प्रताप का उत्साह इतना बढ गया था कि इसने मानसिंह के राज्य में भी लूट मार की। तब अकबर का भी इतना साहस न होता था कि प्रताप पर चढाई कर सके।

## राणा का परलोकगमन

एक बात बडेही खेद की है कि राणा चित्तौर के दुर्ग को फिर न जीत पाए। राणा को अन्त तक इस बात का हार्दिक खेद रहा। राणा के जीवन की अन्तिम घड़ी बड़ी ही हृदयद्रावक है। प्रताप मृत्यु शय्यापर पड़े हुये हैं और उनके तमाम प्रधान २ सरदार शोकातुर आगे खड़े हैं। राणा को दीर्घ निश्वास लेते देख सोलम्बरा सरदारने हाथ जोड़कर पूछा, "महाराज! क्या व्यथा है? राणा ने गम्भीरता से कहा, "क्या मेरे अनन्तर मेरा देश फिर मुगलों के हाथ चला जायगा।? क्या ये सुन्दर कुटियाँ जो मुझे राजभवनों से भी अधिक प्रिय हैं; रमणीय प्रासादों में बदल जायँगी।?। क्या राजपूत वीर अपनी वीरता के गौरव को भूलकर आलसी और विलासी हो जायँगे? क्या राजपूतों की स्वतन्त्रता-लता, जो इनके खून से पुष्पित और पल्लवित हुई है, फिर सूख जायगी।"? राणा के इन हार्दिक दुःखभरे वचनों को सुनकर सबके सब राजपूत सरदार तड़फ उठे और एक स्वर से बोले कि "हम लोग आप के समक्ष में यह शपथ लेते हैं कि हम जीतेजी ऐसा कभी न होने देंगे। अपने विश्वासपात्र सरदारों के मुख से यह दृढप्रतिज्ञा सुनकर राणा को कुछ विश्वास हुआ और उसे कुछ मानसिक शान्ति भी मिली। इस प्रकार आश्वासन पाकर राणाने १६५३ वि० में इस नश्वर शरीर का त्याग शान्तिपूर्वक कर दिया। भगवान् श्रीचन्द्रजी की कृपा से मेवाड़ के राणा ने यवनों को जीता और [1]ठट्टा के हिन्दुओं का दुःख दूर हुआ।

## (७ तरङ्ग)

# काश्मीर में मुसलमानों के अत्याचार

इधर काश्मीर की दुर्दशा का वृत्त भी हम यहाँ लिखते हैं। १४०३ वि० से १६४३ तक काश्मीर के मुसलमान शासक शमसुदीन से याकूब पर्यन्त ३० हुये। उन्होंने लगभग २५० वर्षके लम्बे समय में हिन्दुओं को इस्लाम में लानेका भरसक यत्न किया। तलवार और लालच ये दोनो साधन इस्लाम के प्रचार में प्रधान रहे।

---

१ भगवान् का पवित्र धूना ठट्ठा में अबतक वर्तमान है। भक्त भगवान् की शाखा के उदासीन साधुओंने उस स्थान की खूब उन्नति की। इस स्थान के महन्त श्रीबालकदास और लक्ष्मणदास प्रभृति अब तक सिद्ध-पुरुष होते चले आए हैं। इस स्थान के अधिकार में कुछ भूमि भी है। यहाँ वर्ष में दो मेले होते हैं। यह स्थान नगर ठट्ठा से एक कोश बाहर है। श्रद्धालुओं की कामनाएँ अबतक पूर्ण होती चली आती हैं। उदासीन साधु और उनके सेवक हिङ्गलाज की यात्रार्थ प्रायः नहीं जाते। उनका विश्वास है, ठट्ठा की यात्रा से हिङ्गलाज की यात्रा का फल हो जाता है।

काश्मीर के शासकों ने भी इन दोनों की सहायता से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। जब इनके अत्याचारों से लोग अधिक तङ्ग आगये तो बहुतलोग तो काश्मीर छोड़कर भाग गये और कितने बलात् मुसलमान बना लिये गये। जो अपने धर्म पर डटे रहे वे कतल कर दिये। अन्त में वहाँ ११ घर ब्राह्मणों के शेष रह गये बाकी सारे कुछ धर्म-पतित हो गये और कुछ वहाँ से दौड़ गये। दूसरी जातियों की अपेक्षा वहां के ब्राह्मणों पर शासकों की अधिक आँख थी। क्योंकि ये उनके प्रचार में अधिक बाधक सिद्ध होते थे। इस्लाम के धर्मोपदेशकों ने याकूबशाह को यह समझा दिया, "जबतक हम यहां के ब्राह्मणों को मुसलमान नहीं बना लेते तबतक हमारे धर्म का यहाँ पूर्णप्रचार होना कठिन है। यह इन्हीं की शरारत है कि ये हिन्दुओं में उन के धर्म के कट्टर भाव भरदेते हैं; जिस से वे हमारे धर्म को तुच्छ समझ कर इसे स्वीकार नहीं करते। कभी २ तो वे संगठित होकर हमारे मूलोच्छेद पर भी तुल जाते हैं। अतः अब यह आवश्यक है कि येनकेन प्रकारेण इन्हें इस्लाम में लाया जाय। यदि इन्होंने अपनी शक्ति को संगठित कर लिया तो याद रक्खो ये फिर हमारे बल से दबने के नहीं। हमने यह अच्छी तरह देखा है कि इनके उपदेश में एक अपूर्व प्रभाव है। जो इसे सुनलेता है, वह मृत्यु को एक खिलौना समझने लगता है। हम चाहे उसे कितने ही लालच दिखलाएँ या भय की बातें सुनाएँ; परन्तु उसके मन पर कोई असर नहीं होता।" मौलवी और मुल्लाओं के उक्त कथनका याकूब पर पर्य्याप्त प्रभाव पड़ा। अतएव उसने यह निश्चय किया कि आज ही श्रीनगर के तमाम ब्राह्मणों को दरबार में बुलाकर यह कह दिया जाय कि तुम इस्लाम स्वीकार कर लो अन्यथा प्राणदण्ड दिया जायगा।

## काश्मीर में एक विचित्र घटना

समाधि में काश्मीर की दयनीयदशा देखकर भगवान् ठट्टा से काश्मीर पहुँच गये। काश्मीर की जनता उनके दिव्य चमत्कारों से पहिले से ही परिचित थी। वहाँ का विष्णुकौल ब्राह्मण एक विचित्र घटना से भगवान् का अनन्यभक्त बन गया। घटना इस प्रकार है-एक दिन वह शोकातुर हुआ बाहर जा रहा था तो अचानक उसकी दृष्टि भगवान् की ओर गई। शरीर में भस्मी रमाए, जटाधारी, तेजस्वी दिव्यव्यक्ति के दर्शन से उसे कुछ शान्ति प्राप्त हुई। वह अपने दुःख को भूल गया और प्रणाम करके भगवान् के पास आ बैठा। भगवान् ने उसके शोक का कारण पूछा। उसने हाथ जोड़कर कहा "भगवन, मैं क्या बताऊँ? महापुरुषों से कुछ छिपा हुआ नहीं हैं।" भगवान और विष्णुकौल में जब यह वार्तालाप हो रहा था तो कुछ लोग. एक शव की अर्थी लिये आगे से आते हुये दिखाई दिये। लोगों के पीछे एक शोक-विह्वला, वृद्धा जा रही थी। दयानिधि भगवान् उससे कुछ पूछने लगे। वह शोक-सागर में निमग्न थी अतः उत्तर देने के लिये असमर्थ थी। उसके ओष्ठ-स्पन्दन से यह पता चलता था कि वह अपनी मूकवेदना के सम्बन्ध में भगवान् से कुछ प्रार्थना करना चाहती है। इतने में समीपस्थ विष्णुकौल ने कहा-"महाराज, यह हमारी जाति की एक सुशीला और धर्मनिष्ठा विधवा है। इसका इकलौता बेटा ही इसके जीवनका आधार था। आज वह भी दुर्दैवात् इसके हाथ से छिन गया। भगवान् को उस वृद्धा के करुणाक्रन्दन पर बड़ी ही दया आई और विष्णुकौलसे बोले,

"तुमलोग भूल रहे हो, यह बालक मरा नहीं, सावधानता से देखो, यह तो सोया हुआ है। इसे क्यों वृथा ही श्मशान में ले आए हो। जाओ वापिस ले जाओ।" भगवान् के मुख से यह सुनकर विष्णुकौल साश्चर्य हो गया। उसने बालक के पास जाकर उसे हिलाया तो वह सचमुच राम २ करता २ उठ बैठा। यह देख सारे लोग चकित हो गये। ' यह सब कुछ इस महापुरुष की दया का फल है " विष्णु के मुखसे यह सुनकर लोग भगवान् की शरण में आ गये। वृद्धा ने अपने जीवित पुत्र को भगवान् के चरणों में रख दिया और उनके चरणों की धूलि को वारम्वार वह अपने मस्तक पर लगाने लगी। कुछदेर तक भगवान् का उपदेशामृत पानकर लोग अपने घरों को चले गये। श्रीनगर के घर घर में भगवान् के इस दिव्य-चमत्कार की चर्चा होने लगी। श्रीनगर[1] की जनता, अपने २ विचारानुसार भगवान् को योगिराज और साक्षात् विश्वम्भर समझने लगी।

## काश्मीरशासक याकूब को उसके पापों का दण्ड

कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम्।

(भारवी)

उक्त घटना से कुछ दिन बाद याकूब ने ब्राह्मणों को अपने दरबार में बुलाया। ब्राह्मणों ने राजकर्मचारियों से कहा कि हमें राजाज्ञा पर विचार करने के लिए कुछ समय मिलना चाहिए। राजकर्म-चारियों ने इसे स्वीकार कर लिया। इन्हीं दिनों में विष्णुकौल की सम्मति से ब्राह्मणों के प्रतिनिधिमण्डल ने भगवान् की शरण में उपस्थित होकर इस विकट समस्या से मुक्त होने का उपाय पूछा। भगवान् ने ब्राह्मणों से कहा, " चिन्ता की कोई बात नहीं, ईश्वर सब कुछ ठीक कर देगा। प्रभु के प्यारे हिन्दु-धर्म को मिटाने की सामर्थ्य किस में है। आप को स्मरण नहीं? जब २ इस धर्म पर विपत्ति के बादल छाए तभी प्रभु ने स्वयं आकर इस के दुःखों का अन्त किया। कभी कभी दयालु परमात्मा अपने किसी प्रतिनिधि-द्वारा इसे सङ्कटों से मुक्त करता है। हमें ईश्वरपर पूर्ण विश्वास रख कर कार्य करना चाहिये। अपने धर्म की रक्षा के लिये यदि सर्वस्व भी लुट जाय तो भी अहोभाग्य समझो। अत्याचारी शासक अधिक दिन नहीं टिक सकता। याकूब के शासन का अन्त अब नजदीक है। प्रभु चाहें तो वह समय भी आयगा। जब काश्मीर में हिन्दु-राज्य स्थापित होगा। और यवनराज्य यहाँ से सर्वथा नष्ट हो जायगा। जाओ याकूब से कह दो कि हमारे गुरुमहाराज आजकल यहाँ पधारे हुये हैं, आप किसी तरह उन्हें अपने धर्म में ले आएँ। हम तो फिर स्वयं ही तुम्हारी आज्ञा का पालन कर लेंगे।" ब्राह्मणों के प्रतिनिधिमण्डल ने वैसे ही किया। याकूब ने अपने मन्त्री को भगवान् को दरबार में ले आने के लिये भेजा। भगवान् के दर्शन करते ही मन्त्री के विचारों में परिवर्तन आ गया। उसने उन्हें तब एक विलक्षण स्वरूप में देखा। वह प्रणाम कर के भगवान् के पास बैठ गया। भगवान् ने अपने धूने से एक जलती हुई लकड़ी लेकर वजीर के देखते देखते जमीन में गाड दी। वह स्वल्प काल में ही

१ उस समय श्रीनगर का नाम रैणावाड़ी था।

एक हरेभरे वृक्ष[1] में परिणत हो गई। इसे देख कर आमात्य और भी भयभीत हुआ। याक़ूब ने जब आमात्य को उधर भेज दिया तो उसी समय उस के पेट में ऐसी पीड़ा उत्पन्न हुई कि उस का जीना कठिन हो गया। उसने उसी समय एक नौकर को वजीर के पीछे उसे बुलाने के लिये भेजा। नौकर को मार्ग में आमात्य न मिला अतः वह सीधा भगवान् के आश्रम में जा पहुँचा। आमात्य वहाँ से चला गया था अतः भगवान् ने उस भृत्य का सन्देश अपनी दिव्यशक्ति से आमात्य को सुना दिया। इस से आमात्य के मन में भगवान् के लिये और भी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसे यह भी विश्वास हो गया कि याक़ूब की पीड़ा का कारण उन की अवज्ञा है। अतः उस ने यह निश्चय किया कि शीघ्र ही उसे भगवान के चरणों में लाकर उस का अपराध क्षमा करवा देना चाहिये।

आमात्य ने याक़ूब के पास पहुँच कर उसे भगवान् के दिव्य चमत्कारों की चर्चा सुनाई और उसे उन की शरण में चलने को कहा। आमात्य ने याक़ूब को यह विश्वास दिलाया कि उसकी पीड़ा का उपाय सिवाय भगवान की शरण जाने के और कुछ नहीं हो सकता।

याक़ूब ने कहा "मैं भूला हुआ हुँ। यह मुझे भी विश्वास है कि उन्हीं की अवज्ञा से मेरी दुर्गति हुई है। अतएव मैंने आप को बुलाने के लिये आप के पीछे नौकर भेजा था। परन्तु अब तो मैं इतना असमर्थ हुँ कि चल भी नहीं चकता।

आमात्य ने कहा—" वे तो बड़े दयालु हैं। यदि आप यहाँ पर ही अपने शुद्ध मन सें उन से क्षमाप्रार्थना करें तो सम्भव है, वे आप के अपराध को क्षमा कर दें।

याक़ूब ने वैसा ही किया। भगवान की दया से उस का पेटदर्द उसी समय बन्द हो गया। व्यथा से मुक्त होते ही याक़ूब की श्रद्धा बढ़ गई और वह उसी दिन भगवान के दर्शनार्थ वहाँ आया। भगवान ने उसे यह उपदेश दिया। " प्यारे याक़ूब! परमात्मा को प्रतिक्षण अपने पास समझो। अपनी समस्त प्रजा को उसी का स्वरूप समझकर उस की सेवा में तनमन लगा देना सच्ची भक्ति है। किसी हिन्दु को बलात् इस्लाम में लाना सर्वशक्तिमान ईश्वर से विरोध करना है। संसार के सभी सन्मार्ग परमात्मा की प्राप्ति के उपाय हैं। अतः अपनी अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक को निजाभिलषित मार्ग का अवलम्बन करने दो। परमात्मा की ओर से शासक को जो अधिकार मिलते हैं; उन्हें उसे विचार कर उपयोग में लाना चाहिये। अयोग्यशासक प्रजा को दुःखित कर डालता है। तब आर्तजनता की दुःखभरी प्रार्थनाएँ सुनकर प्रभु उस अयोग्य शासक से अधिकार छीन लेता है। अतः स्मरण रक्खो। शासक के लिये न्याय जीवन और अन्याय मृत्यु है "। याक़ूब ने कहा, " महाराज! आप के सदुपदेश से मेरा अन्तःकरण साफ हुआ है। अब तक मुझे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न था। आप के इस उपदेश से मुझे सत्पथ का पता चला है। भविष्य में मैं इसी के अनुसार कार्य करूंगा। परन्तु आजतक अज्ञान से और प्रमाद से जो मैंने हजारों निरपराध प्राणियों के प्राण लिये हैं उन का स्मरण आते ही मैं भय से काँप उठता हूँ। महाराज! मुझे यह बात पूछने की बड़ी उत्कण्ठा है कि क्या इन भूलों का कोई प्रायश्चित्त भी है? "

१ यह चुनार का वृक्ष आधा हरा और आधा जला हुआ आज तक भी काश्मीर के नगर में विद्यमान है। वहां यह स्थान गुरुश्रीचन्द्रचुनार नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान ने कहा, "याकूब! जब किसी बीमार की बीमारी असाध्य हो जाती है तो उस समय अच्छी से अच्छी दवाई भी उसे लाभ नहीं पहुँचा सकती। इसी तरह आप के कुकर्म भी अपनी सीमा से बाहर हो चुके हैं। अतः इन की शान्ति किसी प्रायश्चित से नहीं हो सकती। प्रभु के न्यायालय में आप शासन के अयोग्य ठहराए जा चुके हैं। अतः काश्मीर का राज्य अब अधिक दिन तक आप के हाथ न रहेगा।" यह सुनते ही याकूब काँपता २ उठ खड़ा हुआ और प्रभु से प्रार्थना करता हुआ प्रणाम करके चला गया। दैवात् इसी वर्ष अकबर की सेना ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया और याकूब पराजित हुआ। तब काश्मीर देहली राज्य में मिला लिया गया*।

( ८ तरङ्ग )

## जहांगीर को भगवान् के दर्शन

काश्मीर से भगवान् पञ्जाब में [1]कादराबाद आगये। भगवान् के दिव्य-चमत्कारों की चर्चा जनकर्णपरम्परया जहांगीर के कान में भी पहुँची। उसने स्वयं कादराबाद में आकर भगवान् के दर्शन किये। बादशाहने भगवान् से लाहौर चलने की प्रार्थना की। भगवान् ने इसे स्वीकार न किया।

भगवान् के दर्शन के अनन्तर बादशाह जहांगीर की श्रद्धा बढती ही गई। वह लाहौर में रहता हुआ भगवान के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित रहने लगा। अतएव उसकी आज्ञा से उसके अनुचर भगवान् की सेवा में आते ही रहते थे। जहाँगीर की उत्कण्ठा ज्यों ज्यों बढने लगी, त्यों त्यों वह भगवान् को लाहौर ले आने के लिये अपने अनुचरों को लगातार भेजने लगा। अन्त में बादशाह का अनन्य प्रेम देखकर भगवान् लाहौर पधारे। भगवान् का आगमन सुनकर जहाँगीर को अत्यन्त आनन्द हुआ। वह बड़े चाव से भगवान् की सुश्रूषा करने लगा। एक दिन जहाँगीर ने एक खुला दरबार किया ताकि उसके राजकर्मचारी और आम जनता भगवान् के दर्शनों और उपदेशों से लाभ उठा सके। बादशाह की प्रार्थना स्वीकार करके निश्चित समय पर भगवान् ने दरबार में दर्शन दिये। उस सयम उनके शिष्य कमलासन उनके साथ थे। भगवान् की आज्ञा से कमलासन ने उनकी गोदड़ी को एक तरफ रख दिया। भगवान् को सिंहासन पर बिठलाकर जब सब लोग अपने २ स्थान पर बैठ गये तब सब सभासदों और बादशाह की दृष्टि उस कन्था की ओर गई। उस समय वह तरह तरहकी चेष्टाएँ कर रही थी। वह कभी काँपती थी, कभी सङ्कुचित हो जाती थी और कभी फैल जाती थी। कभी पृथ्वी

* आजकल काश्मीर में जो हिन्दु-राज्य है वह भगवान् की दया का फल है। उक्ताख्यान मृत-जीवित बालक के वंशधरों से सुनकर लिखा गया है। उस बालक की सन्तान के आजकल काश्मीर में ३०, ३५ घर हैं। यवनों के अत्याचार से काश्मीर में ब्राह्मणों के केवल ११ घर ही शेष रह गये थे। आज उन्हीं की सन्तान काश्मीर में हजारों की तादाद में है। यह सब भगवान् की दया का फल है।

१ यह स्थान जि० गुरुदासपुर में देहराबाबानानक के पास था। आजकल उजाड़ पड़ा है। उस जगह उसका परिचायक एक थेह शेष है।

से ऊपर उठती थी और कभी नीचे गिर पड़ती थी। दर्शकों को यह भ्रम हो रहा था कि कोई जन्तु इस में व्याकुल और दुखी हो रहा है। दरबार ने इस का रहस्य समझने की इच्छा भगवान् के आगे प्रगट की। भगवान् ने कहा कि महात्माओं की विचित्र धारणा होती है। संसारी मनुष्यों को उसका पता लगाने से विशेष लाभ नहीं। उनका परम कर्तव्य तों यही है कि वे उनकी सेवा से लाभ उठाएँ। जहाँ-गीर ने पुनः हाथ जोड़ कर पूछा, "महाराज कन्था में आपने क्या छोड़ रक्खा है।? यह बताने का अनुग्रह अवश्य करें ताकि हमारा कौतूहल दूर हो।"

भगवान् ने कन्थास्थ ज्वर से कहा, "भाई जरा बाहर आकर बादशाह को अपना परिचय दो" ज्वरने कन्था से निकल कर बादशाह को पकड़ लिया। उसके नेत्र लाल हो गये, शरीर काँपने लगा और मुख सूख गया। बादशाह ने दुःखी हो कर भगवान् से यह प्रार्थना की, "महाराज मुझे इस से छुड़ाइये; अन्यथा यह मेरे प्राण लिये विना न छोड़ेगा"।

भगवान् ने कहा; "हमने इसी लिये आपको रोका था। सभा में आने से पूर्व हमें ज्वर आनेवाला था। ज्वर आजाने से वार्तालाप में गड़बड़ मच जाने का भय था। एतदर्थ हमने इसको कुछ समय के लिये इस कन्था में रख दिया था। यहाँ से जाकर हम इसे संभाल लेंगे। ज्योंही भगवान् ने ज्वर को बादशाह को छोड देने की आज्ञा दी, उसी समय जहाँगीर पूर्ववत् स्वस्थ[1] हो गया।

तदनन्तर बादशाह और भगवान् के परस्पर ये प्रश्नोत्तर हुये।

जहाँगीर– आपने गार्हस्थ्य क्यों नहीं किया?

भगवान्—प्रजातन्तु की वृद्धि के लिये गार्हस्थ्य मनुष्य के लिये किसी अंशतक ठीक है; परन्तु यह इसका वास्तविक लक्ष्य नहीं है।

विषयवासना पूर्ति तो यह जीव अन्य पशु पक्षि आदिकों के जन्म में करता आया है, मनुष्य जन्मकी सफलता तो केवल इसी में है कि मनुष्य मायिकविषय जाल से विरक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करे। आपही बतलाएँ आपने सांसारिकविषयों से क्या लाभ उठाया है।?।

जहाँगीर—हिन्दू श्रेष्ठ हैं; या मुसलमान?

भगवान्—जिस में भूतदया है, वही श्रेष्ठ है[2]

जहाँगीर—परमात्मा कहां है? दिखाई क्यों नहीं देता?

भगवान्—वह सर्वव्यापक है। स्थानविशेष परिच्छिन्न वस्तु को ही निर्दिष्ट किया जा सकता है। क्या कोई आकाश का विशेष स्थान बतला सकता है? चक्षुरादि इन्द्रियाँ नश्वर पदार्थों को ही देख सकती हैं। परमात्मा के दर्शनार्थ दिव्यचक्षुओं की आवश्यकता रहती है।

बादशाह—दिव्यचक्षुओं की प्राप्ति कैसे होती है?

---

१ इस दिव्यचमत्कार का वर्णन सूर्यप्रकाश रास १ अंसु ६ में है।

२ भगवान् ने बचोभंगी से हिन्दु-धर्म को ही उत्तम कहा। क्यों कि भूतदया का होना, "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धान्त के माननेवालों हिन्दुओं में ही संभव हो सकता है न कि हिंसक यवनों में। विधर्मि के साथ एक चतुर्थाश्रमी की भाषणपरिवारी ऐसी ही उचित है।

भगवान्—परमात्मा की अनन्यभक्ति से।
वादशाह—भक्ति का उदय कैसे होता है?
भगवान्—साधु सत्सङ्गति से।
वा०,—साधु किसे कहते हैं?
भ०,—जिसे ईश्वर के अतिरिक्त और किसीकी परवाह न हो।
वा०,—फिर आप गृहस्थों के यहां क्यों जाते हैं?
भ०,—तेरे जैसे पागलों की चिकित्सा के लिये।
वा०,—यदि किसी का चिकित्साकराने का विचार न हो?
भ०,—फिर वलपूर्वक करेंगे। क्या पागल की चिकित्सा पूछकर की जाती है?

भगवान् के इन अपूर्वनिर्भीकतापूर्ण उत्तरों से वादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अतएव वह भगवान् की प्रशंसा करने लगा। वादशाह ने कहा, "महाराज! आप धन्य हैं! आपने सांसारिकवैभवों पर लात मार दी है। भगवान् ने कहा नहीं, आप हमारे से अधिक धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि आपने सांसारिक विषयों में फँसकर परलोक को लात मार दी है जो इस संसार के वैभवों से कहीं वढ़ चढ़ कर है। कुछ दिन वाद भगवान् ने लाहौर से प्रस्थान करना चाहा, वादशाहने अपरिमित धन भेंट किया। भगवान् ने इसे स्वीकार न करके लाहौर से प्रस्थान कर दिया। उक्त घटना १६६३ वि० की है।

## (९ तरङ्ग)

## कर्तांराय

इनका जन्म १६४५ वि० में लाहौर में हुआ। इनके पिता का नाम राजाराम और माता का नाम रत्नदेवी था। इन्हों ने भगवान् से चतुर्थाश्रम की दीक्षा ली। घटना इस प्रकार है-जहांगीर की अनन्यश्रद्धा से जव भगवान् लाहौर में थे तो जनता इनके उपदेशों का श्रवण करके इनकी अनन्य भक्त हो चुकी थी। अन्य लोगों के साथ युवक कर्तांराय भी भगवान के दर्शन करने और इनके सदुपदेश सुनने आता था। औरों की अपेक्षा इस पर भगवान् के वचनों का अधिक प्रभाव हुआ। अतः यह मन से संसार से विरक्त हो चुका था। सांसारिक वासनाएँ अव इसे न सता सकती थीं। इसके पिता ने इसका विवाह कर देने का सङ्कल्प किया। शीघ्र ही सगाई हो गई और विवाह संस्कार का दिन आ पहुँचा। इसका एक मित्र देशराज था। इनका परस्पर सच्चा प्रेम था। इसने उसे वरात में चलने को कहा। देशराज के पिता ने उसे वरात में जाने की आज्ञा न दी। अतः उसे एक सच्चे मित्र की वरात में भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका।

परमात्मा की गति विलक्षण है। पता नहीं क्षण में क्या हो जाने वाला है। किसी को क्या पता था कि देशराज के अपने मित्रकी वरात में न जाने की तह में यह छिपाहुआ था कि वह उससे सदाके लिये वियुक्त हो जायगा। अस्तु, कर्तांराय की वरात वड़ी सजधज कर निकली और नगरभर में मङ्गल हो रहा था। इधर देशराज भी अपनी दुकान वन्द करके किसी कार्य के लिये अपने घरकी ओर जा रहा था। मार्ग में अकस्मात् एक दीवाल के गिरजाने से देशराज की मृत्यु हो गई। घरवाले उसका शव लेकर श्मशान में पहुँचे। नगर के श्मशान उसी रास्ते में थे

जिस से कर्ताराय की बरात ने जाना था। जब बरात श्मशान के पास से गुज़र रही थी तो वहाँ देशराज के सम्बन्धी और अन्यलोग अपने हृदय-द्रावक-करुणा-क्रन्दन से पथिकोंको व्याकुल कर रहे थे। यह देखकर कर्ताराय से न रहा गया वह रथ से उतरा और उधर जाने लगा। दुलहा को श्मशान की ओर जाते देखकर उसके पिता और अन्य साथियों ने उसे अमङ्गलकारक श्मशानभूमि की ओर जाने से रोका; परन्तु वह रुकनेवाला कब था। उसके मनपर श्मशानभूमि के भयानकदृश्य का अमिटप्रभाव अपना आसन जमा चुका था। अत वह सीधा वहाँ ही पहुँचा जहाँ एक शव पड़ा हुआ था। वहाँ दूर से ही देशराज के पिता को रोते देखकर कर्ताराय के मन में भाँति भाँति के विचार उठने लगे। समीप पहुँचकर जब उसने अपने मित्र देशराज के शव को देखा तो उसके शोक और दुःख की सीमा न रही। कर्ताराय ने अपने बरातीवेश को वहीं फाड़ डाला और वह वहीं बैठकर बहुत देर तक रोता रहा। अब संसार उसे जलती हुई आग दिखाई देता था। उसके मनमें तरह तरह के विचार-तरङ्ग उठ रहे थे। अब उसने यही निश्चय किया कि दृष्टपूर्व मुनि की चरण-शरण के बिना मुझे शान्ति-प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव वह वहां से भगवान् के अन्वेषण में चल पड़ा। ढूँढता २ वह कादराबाद के जङ्गल में भगवान् के चरणों में जा पहुँचा। वह एक वर्षतक अनन्यमन से भगवान् की सेवा करता रहा। उसके पूर्णवैराग्यमय-व्यवहार से प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे १६६३ वि. में. अपना शिष्य बना लिया।

## श्रीगुरुसङ्गतदेव।

कर्ताराय के शिष्य श्रीसंगतदेव जी हुये। इन्हीं का दूसरा नाम सत्य-श्मश्रु था। इनका जन्म वि० १७०० में जिला फ़िरोजपुर के डरोली[1] ग्राम में उपल जाति के क्षत्रिय विनयराय के घर हुआ। इनका पहला नाम विजयराय था। बाल्यावस्था में ये ईश्वरभक्त एवं साधुसेवी थे। इनकी वाणी में अपूर्व शक्ति थी। समय पर इनकी बातें सुनकर विरोधीवर्ग भी इनके अनुकूल हो जाता था। जब ये गार्हस्थ्य में थे, तब भी इनका व्यवहार साधुओं का-सा था। लोगों की इन पर अपूर्व श्रद्धा थी। नगर के तमाम कलह और अभियोगों का निर्णय जनता इन से करवाती थी। लोग न्यायाधीश के पास न जाकर परस्पर के विवादों का निर्णय इन्हीं से करवा कर सन्तुष्ट होते थे। अतिदुराग्रही का भी मन इन की बातें सुनकर बदल जाता था। इसलिये लोग इन्हें फेरु कहते थे। (पञ्जाबी में फेरु का अर्थ दूसरे के चित्त को बदलदेनेवाले का है) क्यों कि इनकी युक्तियुक्त बातें सुनकर हठी लोग भी सत्पथ पर आ जाते थे। अतएव इनका नाम फेरु पड़ा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है,-ये अपने घरका काम छोड़कर भी दूसरों के हित में अधिक इधर उधर फिरा करते थे। संभव है इस बात से इनके सम्बन्धियों ने चिढ़कर इनका नाम फेरु रख दिया हो।

इनके जीवन की एक और विचित्र घटना है जो यहां लिखी जाती है-आपकी न्यायप्रियता का पूर्णप्रभाव जनता पर पड़चुका था, क्योंकि आप सत्यरक्षा के लिये किसी की भी परवाह न करते थे। एकवार आपके सम्बन्धियों का किसी एक

१ किसी २ ने प्रगनामीएँ के मोड़ में ग्राम अंबमाड़ी भी लिखा है।

जमींदार के साथ जमीन् के सम्बन्ध में कुछ विवाद हो गया। वास्तव में उस विवाद में इनके सम्बन्धी गल्त रास्ते पर थे। वार वार पञ्चायतें की गईं परन्तु परिणाम कुछ न हुआ। अन्तमें पञ्चायत के समक्ष विपक्षी ने विजयराय को ही इस विवाद का निर्णेता चुना, क्योंकि वह इनकी सत्यभक्ति से पूर्णतया परिचित था। इसके प्रतिकूल इनके सम्बन्धी यह न चाहते थे कि इस अभियोग का निर्णय विजयराय पर छोड़ दिया जाय क्योंकि उन्हें विजयराय से यह भय था कि वह तो अवश्य ही विवाद का निर्णय विपक्षी के पक्ष में देगा। अब पञ्चायत के बीचमें यह मामला तह हो चुका था, अतः वे इस के विरुद्ध कुछ न कर सके। यदि वे पञ्चायत के इस निर्णय के विरुद्ध कुछ आवाज उठाते तो लोग यह समझते कि झगड़े का मूल ये ही हैं। अन्तमें अभियोग विजयराय के आगे पहुँचा। वादी, प्रतिवादी के प्रश्नोत्तर और इधर उधर के अन्वेषण से विजयराय को यह पता चला कि उसके सम्बन्धी ही इस विवाद में अपराधी हैं। अतः उसने उनके विरुद्ध निर्णय कर दिया। घरवाले तो इस से चिड़ गये; परन्तु नगर की जनता इन पर मुग्ध होकर इन्हें सत्यश्मश्रु[1] (सच्ची दाहड़ी) कहने लगी।

उन दिनों में महात्मा कर्त्ताराय घूमते २ विजयराय के ग्राम पधारे और नगर से बाहर धूणा लगा कर बैठ गये। विजयराय इनके दर्शनार्थ आए। चिरपिपासु चातक को स्वातिविन्दु मिला। सौभाग्य से आज वही दिन आ उपस्थित हुआ जिसकी प्रतीक्षा में विजयराय बहुत दिन से थे। मुनि के उपदेश से विजयराय के धार्मिक भाव और भी जाग्रत हो उठे। अब उसे घरमें एक क्षण भी रहना कठिन हो गया। यह बात उसने पहिले ही समझ ली थी कि विवाहबन्धन मनुष्य के जीवन के दायरे को तङ्ग कर देता है। प्रतिदिन कुटुम्ब के भरणपोषण में लगे रहने के कारण मनुष्य किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में भाग नहीं ले सकता। पिता जी के आग्रह करने पर भी ये विवाहबन्धन से दूर रहे। मुनि जी तीन चार दिन रह कर जब चलने लगे तो विजयराय ने साथ चलने की इच्छा प्रकट की। मुनि ने उसे साथ ले चलने से साफ इन्कार कर दिया। गुरु से वियुक्त होते ही इन्हें असह्य कष्ट हुआ। उस समय ये प्रति पल व्याकुल होने लगे और अन्त में इन्हों ने गुरु जी के पीछे २ चलने का निश्चय किया। घरवालों को पता लगा तो वे इन्हें रोकने लगे। परन्तु ये किसी की कब सुनने वाले थे। इन्हें तो यह धुन लगी हुई थी कि कब गुरुजी की आज्ञा से उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो। विजयराय की गुरुभक्ति निराली ही थी। यह गुरु के पास इस लिये नहीं जाता था कि गुरु जी उसे साथ ले चलने से इन्कार कर चुके थे। अब उनकी आज्ञा के विना उनके पास जाना ये उनकी अवज्ञा समझते थे। और इस विचार से पीछा भी नहीं छोड़ते थे कि पुनः गुरुजी का मिलना कठिन

१ मुखवर्ती रोमसमूह का नाम श्मश्रु है। यह पुरुष के ही होता है। श्मश्रु शब्द पुरुष का चिन्ह होने से मनुष्यत्व का सूचक है। सत्य का वास्तविक अर्थ प्रसिद्ध ही है। सत्यश्मश्रु सत्यं वास्तविकम् श्मश्रु मनुष्यत्वम् यस्य सः–इस अर्थ में बहुव्रीही समास होकर सत्यश्मश्रु शब्द बना। अब सत्यश्मश्रु उसे कहा जायगा जिसमें वास्तविक मनुष्यत्व हो। न्यायशील, निर्भीक और दृढप्रतिज्ञ होना ही वास्तविक मनुष्यता है। विजयराय ऐसे ही थे। अतः जनता में सत्यश्मश्रु नाम से प्रसिद्ध हुये। एतदर्थक ही पञ्जाबीभाषा का सचीदाहड़ी शब्द है।

हो जायगा। अतः विजयराय मुनिजी के पीछे २ चलने लगे। जहां पर मुनिजी ठहर जाते थे उस स्थान पर वह भी अपना आसन जमा लेता था। परन्तु विशेषता यह थी कि वह अपने आगमन का पता मुनि जी को न लगने देता था। कई मास तक ऐसी स्थिति रही। मुनि जी विजयराय की तमाम चेष्टाओं से परिचित होने पर भी उसकी परीक्षा करने के लिये चुप थे।

विजयराय की गुरुभक्ति की परीक्षा करने के लिये एक दिन मुनि जी एक भयानक जङ्गल की ओर चल दिये। उस जङ्गल में हिंसक सिंह रहते थे। उन्हों ने अनेकों मनुष्यों को मारा था। लोगों ने मुनि जी को उधर न जाने को कहा। भला मुनि जी कब रुकने वाले थे। अब विजयराय की परीक्षा का समय आ पहुँचा। परन्तु वह कब घबरानेवाला था। वह तो अपने गाँव में गुरु जी के दर्शन करते ही अपना सर्वस्व उनके हवाले कर चुका था। गुरु जी के पीछे चलते २ जब विजयराय सघन वन में पहुँचे तो आगे उन्हें एक भयानक सिंह दिखाई दिया। शेर दहाड़ता हुआ इधर आ रहा था। ये अपनी गुरुभक्ति की मस्ती में आगे ही आगे बढ़ते गये; और शेर इनके पास से गुज़र गया। धन्य है अनन्यगुरुभक्ति। यह दृश्य देखकर मुनि के मन में विजयराय के लिये अपूर्वदया का भाव उदय हुआ। अब मुनि जी अपने आपको न रोक सके; दौड़कर विजयराय को–आओ बेटा सत्यश्मश्रु,–कह कर गले लगालिया। मुनि ने प्रसन्न होकर वर दिया कि जाओ आज से तुम सङ्गतदेव [1] हुये। तुम्हारे द्वारा उदासीन सम्प्रदाय की एक शाखा का सञ्चालन होगा। मुनि जी ने उसी दिन उसे उदासीन सम्प्रदाय की दीक्षा दी। यह बात १७३० की है। महात्मा संगतदेव जी एक वर्ष गुरु जी की सेवा में रह कर बाद में उनकी आज्ञासे जिला लाहौर में चूनियाँ नगर की ओर चले गये। कुछ दिन तक उसी [2] प्रान्त में धर्मप्रचार का कार्य करते रहे। दिव्यशक्तियों के प्रभाव से पञ्जाबभर में आपकी कीर्ति फैल गई। लोग दूर दूर से आप के दर्शनार्थ आने लगे। भक्तमण्डली की प्रार्थना से आपने जिला लाहौर में मीँएं के गाँव में एक आश्रम बनाया। वहां पर आप ने अतिथि और अनाथों के लिये अन्नक्षेत्र भी जारी किया.

आप एक समय अपने गुरुदेव के गुरुभाई श्री गुरुदत्ता जी की तपोभूमि के दर्शनार्थ कीर्तिपुर पधारे। आपकी प्रशंसा श्रीगोविन्दसिंह भी सुन चुके थे। अतएव आपके दर्शन के लिये उनके मनमें उत्कण्ठा बनी ही रहती थी। कीर्तिपुर में आपका आगमन सुनकर वहां वे स्वयं पधारे और आग्रहपूर्वक वे आपको आनन्दपुर ले गये। वहाँ पर श्रीगोविन्दसिंह ने आप की बड़ी श्रद्धा भक्ति से सेवा की। महात्मा संगतदेव जी उनका अपूर्व प्रेम देखकर कुछ दिन वहीं ठहरे रहे।

एक दिन श्रीगोविन्दसिंह अपने [3] मसन्दों को दण्ड दे रहे थे। क्यों कि वे उन्हें

---

१ पञ्जाबीभाषा में संगत नाम भक्तमण्डली का है। उसका देव अर्थात् अध्यक्ष या आराध्य देव। भावार्थ यह था कि अनन्तभक्तमण्डलियां तेरी सेवा में रहेंगी।

२ यह प्रान्त पञ्जाब में लम्मे नाम से प्रसिद्ध है।

३ मसन्द नाम उन का था जिन्हों को श्री गोविन्दसिंह ने गुरुनिमित्त निकाले हुए दशमांश एवं

धोखा दे चुके थे। कुछ मसन्द गर्म तेल डाल कर जलाये जा रहे थे और कुछ तल्वार के घाट उतारे जा रहे थे। कुछ मसन्द गुरु संगतदेवजी की शरण में इस अभिप्राय से आए कि श्रीगोविन्दसिंह की इन पर श्रद्धा है, अतः इन के कथन से वे उनके अपराध को क्षमा कर देंगे। मसन्दों की करुणा पूर्ण उक्तियाँ सुनकर संगतदेवजी को दया आई और उन्हों ने गोविन्दसिंह से उन का अपराध क्षमा करवा दिया। वहां से लंमेप्रान्त की एक भक्तमण्डली उन्हें आकर ले गई+।

( १० तरङ्ग )

## समर्थशिक्षण

कादराबाद के जङ्गल में कुछ वर्ष विताकर भगवान् ने दक्षिणभारत की यात्रा का विचार किया। भारत के अन्य प्रान्तों में तो भगवान् भ्रमण कर ही चुके थे और उन २ प्रान्तों के तीर्थों की यात्रा भी हो ही चुकी थी। बाकी केवल रामेश्वर की यात्रा शेष थी। एतदर्थ भगवान् पञ्जाव, से देहली, गवालियर जव्वलपुर, नागपुर रामगिरि, उढकमण्ड होते हुये रामेश्वर पहुँच गये। वहाँ कुछ दिन ठहर कर लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। रामेश्वर से लङ्का चले गये। लङ्का से लौट कर अपने शिष्य कमलासन के साथ भगवान् नीलगिरि होते हुए नासिक के समीप टाकली गाँव में पहुँचे। यहाँ पर समर्थ रामदास ने भगवान् के दर्शन कर अपने जन्म को सफल किया। यह बात १६८० वि० की है। इस समय समर्थ की अवस्था १८ वर्ष की थी। इन का प्रथम नाम नारायण था। आरम्भ से ही संसार में विरक्त था। अतएव वह विवाह-वन्धन में न पड़कर दिनरात भगवद्ध्यान में रत रहता था। उसने भगवद्भक्ति को ही पपने जीवन का लक्ष्य वना लिया था। नारायण किसी ऐसे शिक्षक की तलाश में था जो उसे विश्वास दिला देता कि वह ठीक मार्ग में जा रहा है। आज उस का चिरका सङ्कल्प पूरा हुआ। भगवान् के दर्शन होते ही उसे विश्वास हो गया कि ये महात्मा अवश्य ही उसके मन के सन्देह दूर करेंगे। जव भगवान् टाकली पहुँचे तो नारायण तपश्चर्या में तत्पर था। नारायण भगवान् को देख कर उठ

अन्यान्य भेंट सिक्खों से लाने के लिए नियुक्त कर रक्खा था। उन पर कोप का कारण यह था कि वे उस द्रव्य को हड़प कर जाते थे।

+ हमने उक्तकथा अमुद्रित गुरुसंगतदेवजन्मसाखी से ली है। और प्राचीन उदासीन महात्माओं से भी ऐसा ही सुना है। इन के गुरु का पूरा नाम कर्ताहरराय था। सुगमता के लिए लोग इन्हें कर्ताराय वा हरराय कह दिया करते थे। बड़े नाम को आम वोलचाल में अक्सर लोग छोटारूप दे दिया करते हैं। नामसमानता से भ्रान्त होकर कुछेक सिक्खलेखकों ने श्रीगुरुदत्ताजी के पुत्र हरराय जी से इनका समागम लिख दिया है। इतना ही नहीं बल्कि अन्धभक्ति की दासता में पडकर मनमानी कल्पना के सहारे पर महात्मा जी के जीवन को ही रूपान्तर में वदल डाला है जो निराधार होने से माना नहीं जा सकता। खेद का विषय है कि भारतीय लेखकों के पक्षपातपूर्ण दूषितभावों से महापुरुषों का सत्य इतिहास अन्धकार में ही रह जाता है। हमारे विचार में सिक्खलेखकों का ऐसा लिखना एक भारी भूल ही नहीं बल्कि गुरु के गौरव को धक्का लगाना है। अन्य सम्प्रदाय के सञ्चालकों की निन्दा लिखने से लेखक अपने महापुरुषों की निन्दा के लिये दूसरों को आमन्त्रित करता है। स्मरण रहे, पक्षपातपूर्ण लेख चरित्रनायक के गौरव को न बढ़ाकर अपकीर्ति के कारण हो जाते हैं।

खड़ा हुआ और उन के चरणों में प्रणाम कर के बैठ गया। कुछ देर चुप रह कर नारायण ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज ! आपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कर दिया मुझे पूर्ण आशा है, अब अवश्य ही मेरे मन के सन्देह दूर हो जायँगे। प्रभो ! मुझे यह बतलाकर कृतार्थ करें कि मेरा कर्तव्य क्या है ?।

भगवान्—नारायण, तेरा कर्तव्य वही है, जिस के लिये तू संसार में आया है।

नारायण—दयालो ! मुझे तो कुछ पता नहीं कि मैं यहां किस लिए आया हूँ। इतना अवश्य कह सकता हुँ कि मनुष्यजन्म का वास्तविक लक्ष्य भगवद्भक्ति है।

भगवान्—यह तो आप का कथन ठीक है, परन्तु हमें भक्ति का रहस्य अवश्य समझ लेना चाहिए। भगवान् का विराट् स्वरूप-समस्त जगत् उस से पृथक् नहीं है। अतः जगत्सेवा से बढ़ कर और भगवद्भक्ति क्या है ! संपूर्ण जगत् की सेवा करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। अब किसी एक, भगवदंश, देश की सेवा में लग जाना चाहिये। जब किसी देश में अत्याचारियों के अत्याचार अधिक बढ़ जाते हैं तो लोग सन्मार्ग से च्युत होकर कुमार्गगामी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जगत् के प्राकृतिक नियमों में विकृति आ जाने के कारण भगवान् के विराट्स्वरूप में कुछ उथलपथल मच जाती है। इस से परिणाम यह होता है कि जगत्का सात्त्विक वायुमण्डल तामसवायुमण्डल के रूप में बदल जाता है। संसार की इस स्थिति में महापुरुषों के सात्त्विक तपश्चर्यादि कार्य विघ्नित होने लग जाते हैं ! ऐसी दशा में महापुरुषों का सब से बड़ा कर्तव्य यही होता है कि वे देश की दयनीय दशा के सुधार में लग जायँ। इस से लोगों का सुधार होते ही एक सात्त्विक वायुमण्डल तय्यार हो जाता है जो महात्माओं के भगवद्ध्यान में सहायक होता है। इस समय अन्य देशों की अपेक्षा भारत की दशा अधिक चिन्तनीय हो रही है अतः आप का प्रधान कर्तव्य यही है कि आप तन मन से इसी के सुधार में तत्पर हो जायँ—यही सर्वोत्तम भक्ति है।

नारायण—महाराज ! इस समय भारत को क्या दुःख है ?

भगवान्—इस समय भारत के कोने कोने पर यवनों का अधिकार हो चुका है। वे यहां शासन करने की इच्छा से नहीं आए। आजकल वे लोगों को धर्म से पतित करने में लगे हुये हैं। वे नहीं चाहते कि भारत में हिन्दु-सभ्यता का नाम भी शेष रह जाय। उनके अत्याचार अब पराकाष्ठा तक पहुँच चुके हैं। स्थान स्थान पर मन्दिर तोड़े जा रहे हैं। धर्मपुस्तक जलाकर खाक में मिलाए जा रहे हैं। राम और कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा और अयोध्या अपवित्र की जा रही हैं। इस से बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है ?

नारायण—महाराज, मुझ में इतना सामर्थ्य कहां कि मैं देश और जातिसेवा जैसे महान् कार्य में प्रवृत्त हो सकूँ।

भगवान्—नहीं नारायण ! तुम राम के उपासक हो ! रामभक्त तो सदा से समर्थ होते आए हैं। उन के आगे असाध्य कार्य भी एक साधारण बात है। राम-भक्त हनुमान् का समुद्रोल्लङ्घन उक्त बात में दृढ प्रमाण है। विश्वास करो ! तुम अपने उपास्य के स्वरूप ही हो। अतः ऐसा कोई कार्य नहीं जो आप से न हो सके। राम के दास में हरेक कार्य करने का सामर्थ्य होना स्वाभाविक है।

नारायण—भगवन्, आप का आदेश मुझे शिरोधार्य है। आप के शुभाशीर्वाद ने मुझे समर्थ बना दिया है। अब से मैं अपने आप को समर्थ समझता हूँ। आप की आज्ञानुसार मैं यथाशक्ति देश के सुधार का कार्य करूँगा। परन्तु मैं प्रकृत्यनुसार रणक्षेत्र में शस्त्र उठा कर काम नहीं कर सकता, हां! किसी योग्य क्षत्रिय कुमार को ही इस काम में नियुक्त कर मैं उस का पथप्रदर्शक बन सकता हूँ।

भगवान्—नारायण, राम अपने दास को कभी नहीं भूलते। तुम भी तो रामदास हो! तुम्हें वे कैसे भूल सकते हैं। वे अवश्य ही तेरी मनोरथसिद्धि के लिये अपने किसी वंशधर को भेजने की धुन में होंगे।

भगवान् के उक्त वचन सुन कर नारायण अपने आप को समर्थ रामदास समझने लगा। मुनि अब वहां से प्रस्थान करना ही चाहते थे कि समर्थ ने पूछा महाराज, "मुझे क्या आज्ञा है? क्या मैं यहां तप ही करता रहूँ या किसी अन्य कार्य में भाग लेना आरम्भ करूँ?

भगवान्—अब तुम्हें तीर्थाटन करना चाहिये। पूर्वजों के पवित्र स्थानों के दर्शन से पुण्य होगा और तुम्हारे अन्तःकरण में पवित्रता बढ़ेगी। साथ ही देशाटन से देश और जाति की दुर्दशा का ज्ञान हो जायगा। धार्मिक केन्द्रों में जाकर ही धर्म के ह्रास या वृद्धि का पता लगाया जा सकता है।

समर्थ—मैं आप की पुण्य जन्मभूमि एवं वंश का परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ।

कमलासन, "महाराजजी की जन्मभूमि पञ्चनद है। रहना प्रायः काश्मीर में होता है। आप का जन्म भगवान् राम के वंश में हुआ है।" समर्थ कमलासन के मुख से यह बात सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ कि भगवान् का जन्म मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम के वंश में हुआ है। वैसे तो समर्थ इस समय प्रसन्न दिखाई देते थे परन्तु उन्हें इस बात का हार्दिक खेद हो रहा था कि उस के पथप्रदर्शक उससे जुदा हो रहे थे। कमलासन ने समर्थ के मनोभावों को समझ कर कहा "समर्थ! जब आप तीर्थ-यात्रा करते करते काश्मीर में पधारेंगे तब मैं आप से अवश्य मिलूँगा। काश्मीर के श्रीनगर में पहुँच कर आपने चुनार स्थान पूछना। वहां पर किसी कारणवश मैं न भी होऊँ तो मेरे गुरुभाई आप को बहुत मिलेंगे। अधिकतया आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन हम सब उदासीन वहाँ इकट्ठे होते हैं। महाराजजी भी उस दिन वहाँ दर्शन दिया ही करते हैं। उस दिन हम आप का पूजन करते हैं और आप की आज्ञानुसार वेद की स्थापना कर उस का पूजन करते हैं। तब जनता भी दर्शनार्थ आती है और एक दर्शनीय उत्सव मनाया जाता है। ऐसे मनोहर दृश्य का पता देखने से ही चल सकता है। जब कभी महाराज वहाँ नहीं होते तो हम आप के अग्निकुण्ड का पूजन करते हैं। भगवान् के स्मारक एक चुनार के वृक्ष की शाखाओं को फूलमालाएँ पहनाते हैं। इस के बाद दिन रात वेद का स्वाध्याय होता रहता है।"

समर्थ—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अब आगे को महाराजजी का कार्यक्रम क्या है? कमलासन कुछ कहना ही चाहते थे। इतने में भगवान् बोल उठे, "कृतंकृत्यम्" भगवान् के ये शब्द सुन कर कमलासन और समर्थ स्तब्ध-से हो गये। समर्थ ने साश्चर्य हाथ जोड़कर पूछा "फिर अब कहां क्या होगा महाराज! भगवान् ने ऊपर की

ओर देख कर कहा, "शीघ्र ही शिवनेर में शिवाजी"। समर्थ यह सुन कर चुप हो गये। मुनिजी समर्थ को योग की कुछ क्रियाएँ सिखाकर वहाँ से चल दिये। समर्थ वहां पर उन का अभ्यास करने लगा और भगवान् के कथनानुसार शिवनेर में शिवाजी के जन्म की प्रतीक्षा में रहने लगा।

## काश्मीर में अपने शिष्यों को भगवान् का उपदेश

टाकली से भगवान् इन्दौर, कोटाबून्दी, मथुरा देहली, कुरुक्षेत्र होते हुये बारठ पहुँच गये। यहां पर ही श्रीअङ्गद के उत्तराधिकारी अमरदास रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द इन चारों ने भगवान् के दर्शन किये। और यहां पर ही वि० १६८७ में हरगोविन्दके बड़े पुत्र गुरुदित्ताजी ने भगवान् से उदासधर्म की दीक्षा ली। यहां पर गुरुदत्ता जी एक वर्ष तक भगवान् की सेवा में रहे। भगवान के सत्सङ्ग में रह कर श्री गुरुदत्ता जी ने उन से योग की सारी क्रियाएँ शीघ्रही सीख लीं। वहां से भगवान गुरुदत्ताजी के साथ श्रीनगर पहुँच गये। अब भगवान इस संसार से अन्तर्द्धान होने का दृढ निश्चय कर चुके थे। अतएव इस आषाढी पूर्णिमा के दिन पूजनादि हो चुकने के बाद भगवान ने अपने शिष्यों को अपना सन्देश सुनाया। "महात्माओ! प्रभु की असीम दया से आप लोगों में अब ऐसे पुरुषों की कमी नहीं है जो आध्यात्मिक उन्नति के शिखर तक पहुँच चुके हैं और धर्म सेवा करने में परम उत्साह रखते हैं। अतः आप सब का यह कर्तव्य है कि आप उन के नेतृत्व में धर्म-प्रचार का कार्य जारी रक्खें। भारत के कोणे २ में घूम २ कर यवनपददलित हिन्दु-जाति के उत्थान का पूर्ण प्रयत्न करें। धर्मप्रधान हिन्दु-जाति का जीवन धार्मिक-भावों के निरन्तर प्रचार पर निर्भर है। अब मेरा विचार पञ्जाब के बारठ काश्मीर के श्रीनगर सिन्ध के ठट्टा सीमा-प्रान्त के पिशावरादि प्रसिद्ध केन्द्रों को छोड़कर कहीं एकान्त में रहने का है। संभव है भविष्य में आपकी और हमारी मुलाकात न होगी। आप लोगों को हमारा अन्तिम सन्देश यही है कि आपने इस धर्म-प्रचार को परम्परा को अटूट बनाए रखना।"

## भगवान् की सम्मति से पञ्चपरमेश्वर की स्थापना

भगवान का उपदेश सुनकर शिष्यमण्डली में कुछ शोक-सा छा गया। समस्त शिष्यमण्डल के परामर्श से कई एक प्रधान शिष्यों ने भगवान् से सविनय प्रार्थना की कि महाराज, आप तो अब हम से पृथक् हो रहे हैं परन्तु धर्म के प्रचार का कोई कार्यक्रम तो बता दीजिए। भगवान् ने उन की प्रार्थना सुन कर कहा "आप सब संमिलित हो पञ्चपरमेश्वर की स्थापना करें। इस में चार अनुभवी महात्मा मण्डलपति और पञ्चम उपास्य देव हों। इस द्वारा किये गये धर्मप्रचार से देश तथा जाति का अवश्य कल्याण होगा।" भगवान् के इस आदेश को सुनकर प्रातः स्मरणीय अनुभवी श्रीभक्तभगवान् की सम्मति से समस्त साधुओं ने एकमत हो। पञ्चपरमेश्वर[1] की स्थापना की कमलासन (अलमस्त) बालहास, गोविन्ददेव, पुष्पदेव[2]

१ भगवान् के समक्ष स्थापित पञ्चपरमेश्वर को १९ वीं शताब्दी के अन्त में सामयिक संगठित पूर्णरूप देनेवाले उदासीन संप्रदाय के प्राण पुण्यश्लोक श्रीनिर्वाण प्रियतमदासजी हुए।

२ भगवान् के सामने तो पुष्पदेव मौन रहे; परन्तु अधिक उपरत होने के कारण पीछे

इन चारों महा पुरुषो को मण्डलपति निर्वाचित किया । क्यों कि येही चिरकाल तक भगवान् की सेवा में रहने के कारण अधिक योग्य सब के प्रिय तथा श्रद्धेय थे। अपनी शिष्यमण्डली के पारस्परिक प्रेमपूर्ण तथा न्यायसंगत आयोजन से गुरुदेव (भगवान्) अति प्रसन्न हुए और वर दिया कि भविष्य में और भी उदासीन महात्मा, उन के जप, तप, आदि के प्रभाव तथा महत्व के कारण सम्प्रदायद्वारा मण्डलपद से संमानित किये जायँगे। जिनकी शिष्यपरम्परा उनके नाम से उदासीनसम्प्रदाय का विशेष प्रचार करेगी । [३]

इसके अनन्तर श्री नगर से भगवान् फिर बारठ आ गये । यहां पर कुछ समय ठहर कर गुरदित्ता के साथ चम्बा की ओर चल पड़े । मार्ग में ममून[१] गाँव के नजदीक एक चिरकाल से सूके हुये पीपल के नीचे आ बैठे । यह वृक्ष भगवान् के आसन लगते ही हराभरा हो गया । और आजकल भी यह वृक्ष वहाँ विद्यमान है।

( ११ तरङ्ग )

## भगवान् की चम्बा-यात्रा

आम जनता श्रद्धा पूर्वक इसका पूजन करती है । लोगों की मनोकामनाएँ इस से पूर्ण होती हैं । भगवान् ने चम्बा पहुँच कर गुरुदिता को वापिस लौट जाने को कहा । गुरुदिता ने सेवा में रहने की प्रार्थना की । अन्त में भगवान् ने उसे समझाकर वापिस कर दिया । वहाँ से गुरुदत्ता कीरत्तपुर की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे भूटाननिवासी भगवान् के शिष्य ब्रह्मकेतु जी के दर्शन हुये । ये भगवान् के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित हो रहे थे । और भगवान् के अन्वेषण में इधर उधर घूम रहे थे । अब गुरुदत्ता जी से यह सुनकर कि भगवान् चम्बा में हैं उसी ओर चल पड़े । गुरुदत्ता जी ने कीर्तिपुर पहुँचकर गाँव के पास एक पहाड़पर घोर तपश्चर्य्या आरम्भ +की। ये वहां पाञ्चवर्ष तक तप करते रहे ।

---

वहीं शीघ्र ही इस पद से स्वयं पृथक् हो गये । इस रिक्त स्थान के लिये समस्त साधुओं ने श्रीभक्त भगवान् से प्रार्थना की । उन्हों ने अन्य महात्माओं का अधिक अनुरोध देख कर यह पद स्वीकार कर लिया और श्रीपुष्पदेव की स्मृति तथा उन की शिष्यमण्डली के सम्मान के लिये ' उपास्यदेवही उन का मण्डलपति माना जाय ' की सर्व को सम्मति दी ।

३ उदासीन सम्प्रदायमें प्रथा है कि जो भगवान् के सम्मुख मंडलपति नियत हुए, उन की पद्धति के साधू ' अग्निकुण्ड ( धूणा ) के साधू ' और जो भगवान् के पीछे मण्डलपति नियत हुए वरप्राप्त पुरस्कार के कारण उन की पद्धति के साधु ' पुरस्कार के साधू ' ( बखशीश के साधू ) कहे जाते हैं।

१ यह गाँव जिला गुरुदासपुर, तहसील पठानकोठ में है ।

+ उसी पहाड़पर १५९३ वि० में इनका देहान्त हो गया । उदासीन सम्प्रदाय में चार मण्डलपतियों के समान इनका आदर है । कारण, चम्बा जाते समय ये भगवान् के साथ रहे । अतएव साधुओं में ये भगवान् के अधिक कृपापात्र समझे जाने लगे । महात्माओं में संयम का अधिक महत्त्व है । युवक गुरुदत्ता ने ऐसा अपूर्व संयम किया जिसे देख वृद्ध महात्मा भी चकित हो गये ।

एक लोकोक्ति यह भी है कि सिद्धों से सम्वाद करते समय श्री नानक देवजीने गोरख से यह कहा, " मुझसे अतिरिक्त कोई है ही नहीं, मैं किसे अपना गुरु बनाऊ !?! " गोरख ने उपहास से कह दिया कि तेरा गुरु वह होगा जो तेरे अङ्ग से उत्पन्न होगा। श्रीनानकदेवजीने विचारा कि अङ्ग

## भगवान् की आज्ञा से शिला रावी में तैरने लगी

इधर ब्रह्मकेतु जी भी धीरे २ चम्बा जा पहुँचे । भगवान् के दर्शन करके कृत-कृत्य हो गये । लगभग १२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मकेतु जी भगवान् की सेवा में रहे। वि० १७०० में कुछेक विचित्र घटनाएँ घटीं । एक दिन प्रातःकाल भगवान् समाधिसे उठकर ऐरावती (रावी) के तट पर आ उपस्थित हुये । भगवान् पार जाना चाहते थे। अभी दिन का प्रकाश अच्छी तरह फैला न था । अतः पार जाने वाले लोग इतने अधिक वहाँ न पहुँचे थे जिनके लिये नौका चलाई जाय । भगवान् की आज्ञा से ब्रह्मकेतु ने मल्लाह से किश्ती लाने के लिये कहा । इतने में वहाँ पर बैठे हुये एक आदमी ने कहा, "महात्मा जी, आपतो भगवान् राम के वंशधर हैं, रामने तो समुद्र पर बड़े २ पर्वतों को तार दिया था फिर आप एक छोटी सी शिलाको नहीं तैरा सकते जिस पर आप अब बैठे हुये हैं । यदि आप ऐसा नहीं कर सकते तो संभव है भगवान् राम के पत्थरोंका तैरना भी ऐसा वैसा ही होगा । यह सुनते ही भगवान् ने, अपने पूर्वपुरुषों के दिव्यजीवन को विश्वासनीय सिद्ध करने के लिये, उसशिला को नदी में फेंकदिया और स्वयं उस पर आसन लगा कर बैठ गये । शिला तैरती तैरती दूसरी ओर जा लगी । भगवान् शिला से उठ कर एक घाटी में प्रविष्ट हो गये । ब्रह्मकेतु जी देखते ही रह गये और भगवान् घाटी के सघनवन में अदृश्य हो गये । भगवान् के अदृश्य होने से ब्रह्मकेतु भी व्याकुल हो उठे और शीघ्र ही एक मल्लाह की तरणी पर बैठकर नदीके दूसरे तट पहुँचे । ब्रह्मकेतु जी के नदी पार करने में काफी समय लग गया । अतः भगवान् दूर निकल गये । ब्रह्मकेतु जीने पर्य्याप्त यत्न किया परन्तु भगवान् न मिले।

## अपने शिष्यों के नाम । भगवान् का अन्तिम सन्देश

अन्तमें ब्रह्मकेतु जीने एक स्थान पर बैठकर यह प्रतिज्ञा की कि यावत् भगवान् के दर्शन नहीं होते तबतक अन्नजल का ग्रहण न करूँगा । दो दिन और दो रातें ब्रह्मकेतु जी वहीं पर भूखे और प्यासे भगवान् की प्रतीक्षा में बैठे रहे । अन्त में

से तो पुत्र उत्पन्न होता है । पुत्र को गुरु बनाना लोक-प्रथा के विरुद्ध है । दूसरी बात यह है कि हम श्रीसन्तरेण जी को गुरु बना चुके हैं । यदि पुत्र को गुरु नहीं बनाते तो एक महापुरुष का वाक्य असत्य होता है । इस विचार से नानक देव जी गुरु दत्ता के रूप में अवतीर्ण हुये । इस तरह स्वात्मज श्रीचन्द्र को अपना गुरु बनाकर श्रीनानकजीने गोरख के वचन को सत्य किया । इस कथा का कुछ आभास पुरातन जन्मसाखी सूर्यप्रकाश आदि सिक्खों के ऐतिहासिक ग्रन्थों में पाया जाता है। जन्म समय माता दामोदरी को गुरुदत्ता का नानकरूप में दर्शन देना, बुडनशाह फकीर से चिरकाल से रक्खीहुई इमानत रूप दूधका नानकरूप धारण कर ग्रहण करना उक्त लोकोक्ति का ही पोषक है । गुरु श्रीचन्द्र के उपदेशों में कहीं २ पर गुरुदित्ता के लिये नानक शब्द का प्रयोग हुआ है । इस विषय में हमारी धारणा कुछ और ही है,-संभव है, गुरुदत्ता की आकृति श्री नानकदेव जी की आकृति से मिलती जुलती होगी । अतःलोग उन्हें नानककहने लग गये हों। या उनका दूसरा नाम ही नानक होगा। क्योंकि जिस प्रकार श्री नानक देवकी बहन का नाम नानकी रहने पर भी श्री हरिगोविन्द की धर्म पत्नीका नाम भी नानकी था, इसी तरह गुरुदत्ता का भी वास्तविक नाम नानक रख दिया होगा । पीछे से पूर्ववृद्ध पुरुष के नाम लेने के सङ्कोच से माता उन्हें गुरुदित्ता कह दिया करती होगी ।

ब्रह्मकेतु की इस प्रतिज्ञा से भगवान् को लौटना पड़ा। भगवान् को देखतेही ब्रह्मकेतु जी उठ खड़े हुये। और दौड़ कर चरणों पर लेट गये। परमाराध्यगुरु जी के दर्शन से उनकी सब भूख और प्यास जाती रही। भगवान् ने ब्रह्मकेतु को आश्वासन दे कर कहा, "अब हम एकान्त वास अधिक पसन्द करते हैं, अतः आपको हमारी आज्ञा यही है कि हमारा यह सन्देश तुम काश्मीर में जाकर अपने सब गुरु भाइयों को सुना दो। भगवान् ने संक्षिप्त शब्दों में अपना सन्देश कह कर ब्रह्मकेतु से कहा, 'देखो तुमने हमारी आज्ञा का पालन करना होगा। पहिले की तरह मुझ से फिर मिलने का हठ मत करना।" इन शब्दों के बाद भगवान् वहीं अन्तर्द्धान हो गये। यह घटना १७०० वि० पौषकृष्ण पञ्चमी की है। उदासीन साधु इसी दिनको निर्वाण तिथि मानते हैं। बहुत से महात्माओं की यह भी धारणा है कि भगवान् चिरञ्जीवी हैं और उन्हों ने अपने शरीर को नहीं त्यागा। अतएव कई महात्माओं को हिमालय की घाटियों में भगवान् के फिर भी दर्शन हुये।

अबकी बार ब्रह्मकेतु जी भगवान् के अदृश्य होने से व्याकुल न हुये और चम्बा में कुछ समय ठहरकर धीरे धीरे २ श्रीनगर (काश्मीर) की ओर चल पड़े। वे १७०१ वि० की अषाढपूर्णिमा से एकदिन पहले श्रीनगर पहुँचे। पूर्णिमा के दिन ब्रह्मकेतु जी भगवान् के सारे शिष्यों को मिले और पूजनादि हो चुकने के बाद उन्हों ने भगवान् का सन्देश उन्हें सुनाना आरम्भ किया। "महात्माओं! चम्बा के नजदीक एवी नदी के तटपर भगवान् ने अन्तर्द्धान होने से कुछ समय पूर्व मुझे एक सन्देश सुनाया था जिसे मैं उन्हीं की आज्ञानुसार आपलोगों को आनुपूर्व सुनाता हूँ।" "जीवन को तपोमय बना रखना प्रत्येकका कर्तव्य होना चाहिये। त्याग के उच्च आदर्श को लोकवासना की दासता में पड़कर कलङ्कित नहीं करना। आत्मा की स्वतन्त्रता के लिये भरसक यत्न करना सबका कर्तव्य है। स्वयं प्रकाश में पहुँच कर अन्धकार में पड़े हुये साथियों की अपेक्षा करना भारी भूल है। गुरु अविनाशी मुनि के पवित्र लक्ष्य को मतभुला बैठना। उसी की पूर्ति के लिये तीव्र यत्न करना आपलोगों का परमधर्म है। अहङ्कृति और फलवासना से कर्तव्य-पद्धति दूषित हो जाती है। इस से बचे रहना। योगक्रियाशिक्षणस्रोत कभी सूखने न पाए।" यह कह कर ब्रह्मकेतु जी मौन हो गये। समस्त शिष्य मण्डली ने भगवान् के जयकारों से आकाश गुञ्जादिया। उदासीन साधुओंने अपने आचार्य्य की आज्ञाका पालन अपने तनमन से किया इसपर कहीं अन्यत्र प्रकाश डाला जायगा।

## ( १२ तरङ्ग )

# हिन्दुजातिपर भगवान् के उपकारों का दिग्दर्शन

इस प्रकार १५० वर्ष पर्य्यन्त भगवान् यहाँ जीवों का कल्याण करके अब एकान्त निवास करने लगे। भगवान् के चरितावलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके सदुपदेशों से अनन्त जीवों का कल्याण हुआ। इनके जीवन में हम पाञ्च महान कार्यों की पूर्ति देखते हैं। प्रथम, चतुर्थाश्रम की लुप्तप्राय श्रौतशाखा का पुनरुज्जीवित करना। इसमें कितनी सफलता हुई इस पर कहीं अन्यत्र प्रकाश डाला जायगा। यहां पर इतना लिख देना ही पर्य्याप्त है कि भगवान् ने अपने जीवन में ही कितने एसे शिष्यों को पैदा कर लिया जिन्हों ने इनके पीछे इनके

उद्देश्यों की सिद्धि के लिये भरसक यत्न किया। श्रौत सम्प्रदाय को उन्नति के शिखर तक पहुँचाने का अधिक सौभाग्य भगवान् के चार शिष्यों को है। जिनके नाम अलिमत्त बालहास पुष्पदेव और गोविन्ददेव हैं। इन चारोंका विस्तृत परिचय पाठक किसी निबन्धान्तर में पढ़ें गे।

इस सम्प्रदाय को पुनरुज्जीवित करने में भगवान् का तात्पर्य्य यह था कि हिन्दु-समाज में प्रथम धार्मिक प्रचार का कार्य संगठित रूप से होना चाहिये। इस से समाज संगठित होकर अपनी नैतिक स्थिति को भी सुधार सकता है। एतदर्थ इन्हों ने धर्म प्रचारार्थ पाश्चकेन्द्र नियत किये। पञ्जाव में बारठ, काश्मीर में श्रीनगर, अफ़गानस्थान में काबुल, सीमाप्रान्तमें पिशावर, और सिन्ध में नगर ठट्टा। किसी समाज के धार्मिकभावों पर जब प्रहार होने लगते हैं तब वह कई भागों में विभक्त हो जाता है। समाजका विभाग उसके संगठन को नष्ट कर डालता है। संगठन के टूटते ही नैतिक स्थिति दुर्बल हो जाती है और समाज किसी अन्य शक्ति का दास हो जाता है। हिन्दु-जाति पर प्रकृति का उक्त नियम अक्षरशः घटता है। चतुर-वैद्यकी तरह भगवान् हिन्दु-समाज की इस घातक बीमारी को झट ताड़ गये और उन्होंने इसकी चिकित्सा का निराला ही ढंग निकाला। उस समय तीन चीजें थीं जो हिन्दु-धर्म को क्षति पहुँचा रही थीं। उनमें दो तो अपने यहां की थीं और एक बाहर की। शैव और वैष्णवोंकी परस्पर खींचातानी और कलह लोगों के मनों में धर्म से अरुचि उत्पन्न कर रहे थे। इधर तान्त्रिकों ने लोगों के सात्त्विकभावों के पतन का द्वार खोल रक्खा था। उधर मुसलमानों के पीर अपने तरह २ के उपायों से और झूठी सिद्धियों से विचारे भोलेभाले हिन्दुओं को इस्लाम के भक्त बना रहे थे। हिन्दुधर्मतरु की जड़को काटरहे इन तीन कीटों को मिटाना भगवान् ने अपना प्रधान कर्तव्य समझा।

शैववैष्णवकलह को शान्त करने के लिये भगवान् ने पञ्चदेवोपासना के रहस्य को लोगों के सामने रखा। इस से सफलता भी काफी हुई। तान्त्रिकों के अनाचार से समाजको सुरक्षित करने के लिये भी पञ्चदेवोपासना सहायक सिद्ध हुई। इनके अनाचारों की पोल खोलने के और इनके बढ़ रहे प्रचारको रोकने के लिये भगवान् को इनके प्रधान केन्द्र कच्छ और सिन्ध में काफी दौड़ धूप करनी पड़ी। भक्तगिरि जैसे सरल एवं शुद्ध हृदयों को इनके कपट जाल से बचा लेना भगवान् का ही काम था।

मुसलमानों के पीरों के दान्त खट्टे करना हिन्दु-धर्म के इतिहास में भगवान् का एक महत्व पूर्ण कार्य है। पीर यदि किसी को एक सिद्धि दिखाते तो भगवान् अनेकों दिखा देते थे। इस से लोगों को यह विश्वास हो गया कि सिद्धियों का होना केवल इसलाम में ही नहीं, हिन्दुधर्म में भी ये बहुत हैं। यदि भगवान् के दिव्य चमत्कार लोगों के ध्यान को इधर आकर्षित न कर लेते तो निस्सन्देह हिन्दु-धर्म इस्लाम के गर्भ में विलीन हो गया होता।

भगवान् के प्रचार से पूर्व इस्लाम के प्रचारक और मुसलमान विजेताओं के मनमें हिन्दु-धर्म के लिये बहुत तुच्छ विचार थे। परन्तु इनके अलौकिक चमत्कारों से उनको अपनी धारणा बदल देनी पड़ी। इतना ही नहीं उनके मन पर हिन्दु-

धर्म का सिक्का जम गया और वे भलीभाँति समझ गये कि अव हिन्दुओं को हड़प कर लेना लोहे के चने चवाना है।

भगवान् के साधारण वार्तालाप में और उपदेशों में चुम्बक की भाँति एक आकर्षण शक्ति थी। जिस किसी ने इन का थोड़ा साभी उपदेश सुन लिया झट वही इनका अनन्य भक्त वन गया चाहे वह हिन्दु हो या मुसलमान। अपने शैव-शव में ये गाँव पक्खोंके में वालक्रीड़ा करते समय अपने साथ खेल रहे वच्चों को कुछ उपदेश कर रहे थे। इतने में वहां एक मौलवी आगया। मौलवी ने दो चार प्रश्न किये और यथोचित उत्तर सुन कर वह अवाक् रह गया। सुलतानपुर के नवाव दौलतखां लोधी ने इनका उपदेश सुन कर अपनी सारी सम्पत्ति गरीवों के दुःख दूर करने के लिये लगा दी। काबुल में इनके मुख से कुछ उपदेश सुनकर वज़ीरखाँ कृष्ण और राम के प्रेम में मतवाला हो गया। वालक धनराय ने इनके दो शब्दों पर विश्वास करके अपनी हठप्रतिज्ञा से भगवान् कृष्ण को वुला कर ही छोड़ा। आपने अपने दिव्य चमत्कारों से काबुल के शासक कामरानको, ठट्ठे के शासक वाकी को और काश्मीर के या्कूव को अपने चरणों के सेवक वनाए। ये तीनों ही हिन्दु-धर्म को तुच्छ एवं हेय समझते थे। परन्तु भगवान् की दया से इन तीनों को ही एक हिन्दु धर्म के रक्षक के चरणों में मस्तक रखना पड़ा। कहने का भाव यह है कि भगवान् ने ऐसी पतितावस्थामें भी हिन्दुधर्म के महत्व को सर्वसाधारण के मन में उच्च वना दिया। इस तरह शैव और वैष्णवों के परस्पर कलह को दूर करने के लिये पञ्चदेवोपासना का प्रचार करके भगवान ने तान्त्रिकों की खवर ली। पीछे से पीरों की करामातों को अपनी सिद्धियों के आगे फीका पादिया। इस तरह हिन्दु धर्म का मार्ग साफ हो गया और लोगों में कुछ संगठनशक्ति आने लगी। धर्म का कार्य कुछ सुधरा हुआ देखकर इन्हों ने नैतिक दशा की ओर ध्यान दिया। द्वारिका की यात्रा के वाद भगवान् आवू होते हुये उदयपुर में ठहरे थे। वहाँ के राजकुमार प्रताप को वे उसी समय ताड़ गये थे कि इसके हाथ से कोई महत्व-पूर्ण कार्य होगा। अतएव लौटते समय उसे अपने उपदेश से और भी पक्का कर आए थे। मुगल सेना से निरन्तर गयारह वर्ष लड़ते लड़ते राणा जव आर्थिक दशा के ठीक न रहने से सर्वथा निराश हो चुके तो उनको इनका स्मरण आया और वे झट सिन्ध के ठठ्ठा नगर की ओर चल पड़े। उन दिनों में भगवान् भी ठठ्ठा में ही थे। राणा और मुगलों के संघर्ष का सारा समाचार इनके पास जाता ही था। राणा को रणभूमिसे हटकर इधर आते देख इन्हों ने मार्ग में ही उसके मनोरथ को पूरा करके उसे फिर रणाङ्गणमें पूर्ववत खड़ा कर दिया। अवकीवार राणा विजयी हुआ और हिन्दुओं को सदियों से निराशा के गाढे अन्धकार में आशा की किरण दिखाई दी।

इस प्रकार उक्त शैव वैष्ण कलह को मिटाकर तान्त्रिकों का दमन करना और पीरों के दम्भों की पोल खोलकर उन पर अपने धर्म का प्रभाव डालना इनके महत्व पूर्ण कार्य हैं। पञ्चदेवोपासना के रहस्य समझाकर लोगों में धार्मिक भावों को दृढ़ करना और श्रौत सम्प्रदाय को पुनः जन्म देना आपके और भी महत्वपूर्ण कार्य हैं। उक्त चार महान कार्योंके अतिरिक्त पञ्चमकार्य नैतिक स्थिति की रक्षाके लिये

समय समय पर राणा को उत्साहित करना है। समर्थ रामदास पर आपकी शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपना सारा जीवन देश की सेवा में लगा दिया। शिवाजी जैसे शिष्य को उत्पन्न कर उन्हों ने भारत से यवनसाम्राज्य के उखाड़ने में काफी यत्न किया।

इस प्रकार इनका सारा ही जीवन देश और जाति की सेवा में व्यतीत हुआ। धर्मप्रचारकों के आगे निर्भयता का एक आदर्श रखने के लिये आपने एकवार भारत सम्राट् जहांगीर के यह पूछने पर कि संसार में धर्म कौन सच्चा है, हिन्दु-धर्म को अच्छा और सत्य बताया था। जाति के दुःखों को सुन कर आप घण्टों तक कुछ मन ही मन सोचते रहते थे। आपके जीवन में एक विशेषता यह भी थी कि आप चाहे अपने किसी भी आवश्यक कार्य में दत्तचित्त हों; परंतु जाति के भले के लिये आपके आगे वह साधारण हो जाता था। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र (सिन्ध निवासी) के मुख से सिन्ध की दुर्दशाका हाल सुनकर आपने अपनी उत्तरकाशी की आवश्यक यात्रा को स्थगित करके सिन्ध की यात्रा की थी।

इस प्रकार जीवनभर गुरु अविनाशी की आज्ञाओं का पालनकरके उनके लक्ष्य की पूर्ति की। आपके इस महोपकार से हिन्दुजाति कभी उऋण नहीं हो सकती। यवन अत्याचारभँवर में पड़ी हुई हिन्दु-जाति के सच्चे कर्णधार! आपको हमारा वारम्वार प्रणाम है—





## ( समाप्तिः )

( १ )

आजीवनम् मुनिवरस्य[1] पवित्रलक्ष्य-

पूर्तिं विधाय कृतदेशमहोपकार !

म्लेच्छार्त्तहिन्दु-जनता-तरि कर्णधार !

तुभ्यं नमोऽस्तु सततं गिरिशावतार !

( २ )

आचार्ये वसनं वनेनिवसनन्तुर्य्याश्रमोद्धारणम्[3],

स्मार्त्तानाञ्च मिथः विवादहरणं श्रीपञ्चदेवार्चनम्[4] ।

शाक्तानां शमनं विधर्मिदमनं राणारणोत्साहनम्[5],

श्रीश्रीचन्द्रमुनेर्विशुद्धचरितं भव्याय भूयाद्भृशम् ।

( ३ )

नानानिबन्धसिन्धुनां सारं यत्नसमुद्धृतम् ।

एतदुपहृतं प्रीत्या, गृह्णातु शशिशेखरः ॥

( ४ )

## ( विज्ञप्तिः )

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्न निर्दोषं न निर्गुणम् ।

आवृणुध्वमतो दोषान्विवृणुध्वं गुणान्बुधाः ।

( ५ )

## ( आशीर्वचनम् )

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुःखभाग्भवेत् ।

---

१ अविनाशिमुनेः, २ जाग्रति, ३ श्रौतचतुर्थाश्रमोद्धार. ४ पञ्चदेवोपसनोपदेशद्वारा शैव वैष्णवकलहनिवृत्ति. ५ तान्त्रिकों का शमन. ६ यवनधर्मोपदेशक और शासकों को नीचा दिखाना ७ भारत में हिन्दुधर्मरक्षक वीरों को उत्साहित करना. ८ भगवान् के अवतारधारण करने के उक्त पाञ्च लक्ष्य थे ।

२१

सम
का
शि
में

धर्म
सम्र
अच
मन
चाहे
आप
के
श्यव

की
यव
बार





